CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

110543

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

1105-43

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

वर्ष 3 अंक 1 जनवरी-मार्च 1971

20
10-3-72
पुस्तकालय

लोकतंत्र समीक्षा

110543

सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन-संस्थान
नई दिल्ली

लोकतंत्र समीक्षा

वर्ष 3 अंक 1

जनवरी-मार्च, 1971

"लोकतंत्र समीक्षा" सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान का त्रैमासिक मुख-पत्र है। पत्र में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के निजी विचार हैं। वे न तो किसी तरह संस्थान के विचार हैं और न संस्थान उनके लिए उत्तरदायी है। लेखों, पांडुलिपियों तथा समीक्षाओं आदि के सम्बन्ध में सारा पत्र-व्यवहार **सम्पादक के नाम से** किया जाना चाहिए, किसी अन्य के नाम से नहीं।

लेखकों से निवेदन है कि वे प्रकाशनार्थ रचनाओं की दो टंकित प्रतियाँ भेजें। केवल कार्बन प्रतियो पर विचार नहीं किया जायेगा। अन्यत्र भेजे गये लेखों पर भी विचार नहीं किया जायेगा।

"लोकतंत्र समीक्षा" में प्रकाशित सभी रचनाओं पर संस्थान का पूर्ण प्रतिलिप्यधिकार रहता है और सस्थान की लिखित अनुमति के बिना उनका कोई अंश प्रकाशित नहीं किया जा सकता। विज्ञापनों और पत्रिका की सदस्यता के बारे में पत्र-व्यवहार हमारे वितरक **मीनाक्षी प्रकाशन, बेगम ब्रिज, मेरठ** के नाम से किया जाना चाहिये। "लोकतंत्र समीक्षा" का वार्षिक शुल्क 15 रुपये है। एक प्रति का मूल्य चार रुपये है। संस्थान के सदस्यों को यह निःशुल्क प्रदान किया जाता है।

सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन-संस्थान

18, विट्ठल भाई पटेल हाउस,
रफी मार्ग,
नई दिल्ली–1

संपादन-मण्डल

अध्यक्ष

डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

सदस्य

सेठ गोविन्द दास
श्री डी० के० कुन्ते
श्री गंगाशरण सिंह
श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा
डा० रामधारी सिंह 'दिनकर'
श्री प्रकाशवीर शास्त्री
डा० नगेन्द्र

सम्पादक

डा० सुभाष काश्यप

सहायक सम्पादक

विश्व प्रकाश गुप्त
ओमप्रकाश चावला

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

110543

विषय-सूची

लेख	पृष्ठ
1. भारत का संविधान : पुनर्विचार —लक्ष्मीमल्ल सिंघवी	1
2. संसद तथा दलबन्दी —परिपूर्णानन्द वर्मा	9
3. राजनीतिक दलों का ध्रुवीकरण —जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी	15
4. जनसंघ और भारतीय राजनीति —चन्द्र प्रकाश भांभरी व मोहन लाल शर्मा	21
5. संविधान-सभा और संविधान का निर्माण —सुभाष काश्यप	45
6. मन्त्रिमण्डल में प्रवेश के लिए गुप्त द्वार —एस० एम० सईद	73
7. संघ-राज्यों के सम्बन्धों में गवर्नर की भूमिका —परमात्मा शरण	79
8. भारतीय संविधान में समता अधिकार —विश्व प्रकाश गुप्त	84
9. सांवि ानिक तथा संसदीय घटना-क्रम —जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी	122
10. राजनीतिक पंचांग —ओम प्रकाश चावला	134

लोकतंत्र
समीक्षा

वर्ष 3 अंक 1

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

हमारे लेखक

1. **डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी** —कार्याध्यक्ष, सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली ।
2. **श्री परिपूर्णानन्द वर्मा** —संचालक, अखिल भारतीय अपराध निरोध समिति, बिहारी निवास, कानपुर ।
3. **श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी** —वरिष्ठ पत्रकार, नई दिल्ली ।
4. **डा० चन्द्र प्रकाश भांभरी** —रीडर, राजनीति विज्ञान विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ।
5. **श्री मोहन लाल** —राजनीति विज्ञान विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ।
6. **डा० सुभाष काश्यप** —निदेशक, सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली ।
7. **डा० एस० एम० सईद** —व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ ।
8. **डा० परमात्मा शरण** —अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, मेरठ कालिज, मेरठ ।
9. **श्री विश्व प्रकाश गुप्त** —उप-निदेशक, सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली ।
10. **श्री ओम प्रकाश चावला** —सहायक निदेशक, सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारत का संविधान : पुनर्विचार

डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

इस समय भारतीय संविधान के क्रियान्वय का इक्कीसवाँ वर्ष चल रहा है। संविधान के इतिहास में बीस वर्ष का समय कोई लम्बा समय नहीं होता लेकिन आधुनिक संविधानों और राजनीतिक प्रक्रियाओं के तेजी से बदलते परिप्रेक्ष्य में यह उचित प्रतीत होता है कि हमने गत दो दशकों में जो कुछ अनुभव प्राप्त किया है, उसके आलोक में सांविधानिक प्रलेख के क्रियान्वय का मूल्यांकन किया जाये। न्यायमूर्ति होम्स के **मिसोरी बनाम हालैण्ड** के मुकदमे (252 यू० एस० 416, 433, 1920) में अमरीकी संविधान के सन्दर्भ में यह ठीक ही कहा था—

> "जब हम उन शब्दों पर विचार कर रहे हों, जो संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान की भाँति ही संविधानमूलक हों, तब हमें यह समझ लेना होगा कि उन्होंने एक ऐसे प्राणी को जन्म दिया है जिसके विकास का उसके योग्य से योग्य जन्मदाता भी पहले से पूरी तरह से अनुमान नहीं कर सकते थे। उनके लिए यह समझ लेना और आशा करना पर्याप्त था कि उन्होंने एक जीव का निर्माण किया है। उनके उत्तराधिकारियों को यह प्रमाणित करने में कि उन्होंने एक राष्ट्र का निर्माण किया था, एक शताब्दी लग गयी है और काफी खून-पसीना बहाना पड़ा है। हमारे सामने जो मुकदमा है, उस पर हमें अपने समूचे अनुभव के आधार पर विचार करना चाहिए, सौ वर्ष पूर्व कही गयी किसी बात के आधार पर नहीं।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत की संविधान सभा ने राष्ट्र को एक विलक्षण और विस्तृत अधिकार-पत्र प्रदान किया था, पर हमारे लिए यह उचित है कि हम अपने संविधान को वर्तमान की वास्तविकताओं तथा भविष्य की आशाओं और आकांक्षाओं के सन्दर्भ में समझने का प्रयास करें। हमारे संविधान में अब तक तेईस संशोधन हो चुके हैं, पिछले बीस वर्षों में सरकार की ओर से इससे कहीं अधिक संशोधनों का प्रस्ताव किया गया था, लेकिन उन्हें किसी न किसी कारण से त्याग दिया गया था। इस बीच गैर-सरकारी सदस्यों के विधेयकों के माध्यम से जिन संशोधनों का प्रस्ताव किया गया, उनकी तो संख्या ही अनगिनत है। भारतीय संविधान के क्रियान्वय की सतत सावधानी से समीक्षा करते रहना आवश्यक है—कुछ तो इसलिए कि हमारे विशाल और विकासशील राष्ट्र के जीवन में अनेक जटिलताएँ हैं और कुछ इसलिए कि संविधान में प्रशासन की छोटी-छोटी बातों का भी विस्तार से उल्लेख किया गया है। अमरीकी संविधान के बारे में न्यायमूर्ति बेन्जामिन एन० कार्डोजो ने कहा था—"संविधान की सामान्य विशेषताओं में भी ऐसा तत्त्व और महत्त्व होता है जो विभिन्न युगों में अलग-अलग होता है।"

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

यह बात भारतीय संविधान के बारे में भी सही है—हालांकि वह कोई संक्षिप्त प्रलेख नहीं है।

सांविधानिक वाद-विवादों के उत्पन्न होने का पहला कारण तो यह है कि सांविधानिक प्रलेख में प्रयुक्त शब्दों की विभिन्न सन्दर्भों में विभिन्न व्याख्याएँ हो सकती हैं। अन्ततः संविधान एक सजीव सत्ता है जो सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों के संघात से नियंत्रित होता है। स्वर्गीय प्रोफेसर चार्ल्स ए० बियर्ड ने इसी तथ्य का अपनी सशक्त और प्रांजल शैली में निम्नलिखित शब्दों में निरूपण किया है—

> "इनमें से प्रत्येक शब्द और शब्द-बन्ध में यथार्थता और न्याय का कुछ न कुछ केन्द्रीय अंश विद्यमान है जिसके सम्बन्ध में व्यापक मतैक्य हो सकता है। लेकिन केन्द्रीय अंश के चारों ओर दूर-दूर तक छाया फैली हुई है जिसमें भले और बुद्धिमान् व्यक्ति "विधि" के आदेश के सम्बन्ध में किसी समझौते पर पहुँचे बिना अनिश्चित काल तक घूमते रह सकते हैं। जब से संविधान बना है या विशेष संशोधन किये गये हैं तब से निश्छल भावना और तीव्र मेधा के व्यक्तियों के मन में इन धूमिल शब्दों और शब्द-बन्धों के अर्थ के बारे में मतभेद रहा है। अस्तु, इन अस्पष्ट शब्दों और शब्दबन्धों की व्याख्या उन स्त्री-पुरुषों को करनी चाहिए जो सरकार के सदस्यों के रूप में उनका प्रयोग करते हैं अथवा नागरिकों के रूप में सरकार से कुछ विशेष नीतियों के प्रवर्तन का आग्रह करते हैं। शब्द और शब्दबन्ध संविधान से उठकर अपनी व्याख्या अपने आप नहीं कर सकते। मानवीय आवेगों और विशेषताओं से युक्त किसी मानव प्राणी को पूरक विधियों और व्यवहार में उन्हें अर्थ प्रदान करने का उत्तरदायित्व ग्रहण करना होगा।"

संविधान के जो भाग वाद-योग्य हैं, उनकी व्याख्या से सम्बद्ध वाद-विवादों को अपेक्षाकृत आसानी से सुलझाया जा सकता है। उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय उपयुक्त मामलों में सन्देहों का निवारण कर सकते हैं। लेकिन, जब संविधान द्वारा निरूपित राजनीतिक संस्थाओं के क्रियान्वय और इन संस्थाओं की रक्षा के लिए अनिवार्य समझे जाने वाले सांविधानिक रीति-रिवाजों, परिपाटियों और प्रथाओं के पालन का प्रश्न उठता है, तब "संघर्ष समाधान" की समस्याएँ असाध्य तो नहीं लेकिन कठिन अवश्य हो जाती हैं। दूसरी ओर सांविधानिक सुधारों और पुनर्निर्माण के प्रस्तावों के विश्लेषण, मूल्यांकन और निरूपण का कार्य जितना दुष्कर होता है, उतना ही चुनौती भरा भी। हमारे देश में सांविधानिक सुधारों के सम्बन्ध में विचारों का तो कोई अभाव नहीं है, लेकिन उनमें से अधिकांश हैं बेतरतीब। सार्वजनिक वाद-विवादों में राष्ट्र के पुनर्निर्माण और संविधान के पुनरालेखन के बारे में अनेक व्यक्तियों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं लेकिन दुर्भाग्यवश हमारे पास ऐसी सामग्री और विश्लेषण का अभाव है जिससे कि हमें कुछ निश्चित दिशा मिल सके। आज हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम पर्याप्त सत्ता, उपयुक्त संसाधनों और व्यापक निर्देश मदों से युक्त एक सांविधानिक सुधार आयोग अथवा सांविधानिक सुधारों के सम्बन्ध में एक अध्ययन दल की स्थापना करें जो हमारे संविधान के क्रियान्वय का गहन और विस्तृत अध्ययन कर सके।

जब तक कोई राष्ट्रीय आयोग इस प्रकार का व्यापक अध्ययन और सर्वतोमुखी जाँच नहीं करता, तब तक इस गहन अध्ययन के लिए कुछ क्षेत्रों की टोह लगायी जा सकती है और उनका अभिज्ञान किया जा सकता है। इस तरह के अध्ययन के बिना यह निर्णय दे देना

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उतावलेपन का काम होगा कि सुदूरव्यापी सांविधानिक परिवर्तनों की आवश्यकता है। परिवर्तन की खातिर परिवर्तन न केवल निरर्थक होगा बल्कि वह हानिकारक भी हो सकता है। कुछ भी हो, इस समय मतैक्य का वह वातावरण विद्यमान नहीं है जो किसी बड़े सांविधानिक परिवर्तन की पहली शर्त है। फिर भी प्रस्तुत लेखक के विचार से सांविधानिक सुधारों के सम्बन्ध में कुछ छानबीन करना उपयोगी होगा।

संविधान का भाग एक भारतीय संघ में राज्यों की पद्धति से सम्बद्ध है। अनुच्छेद 3 ने संसद को व्यापक शक्ति दी है कि वह साधारण विधि द्वारा नये राज्यों का निर्माण कर सकती है और वर्तमान राज्यों के क्षेत्रों, सीमाओं या नामों को बदल सकती है। भारतीय संघ-वाद, उसका संरचनात्मक सन्तुलन और कार्यात्मक बल राज्यों के संगठनात्मक प्रतिरूप पर निर्भर है।

यद्यपि भाषायी आधार पर राज्यों का पुनर्गठन साधारण संसदीय विधि द्वारा किया गया था, लेकिन वह था सुदूरव्यापी सांविधानिक महत्त्व का कार्य। भारत संघ के राज्यों, उनके निर्माण, आधार, आकार और उनकी आर्थिक स्थिति का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी होगा। समय-समय पर राज्यों की सीमाओं में अनेक परिवर्तन किये गये हैं। अनेक नये राज्यों का निर्माण तो हो चुका है, अनेक का होने वाला है। सम्भवतः अब यह विचार करने का समय आ गया है कि क्या भारत संघ के विभिन्न राज्यों के बीच जनसंख्या, राज्य-क्षेत्र और संसाधनों का प्रायः समानता के आधार पर वितरण न हो। इस प्रश्न पर गहराई से और सभी दृष्टियों से विचार करने की आवश्यकता है।

संविधान का भाग तीन मूल अधिकारों के सम्बन्ध में है। इस अध्याय में समाज के हितों तथा व्यक्ति के अधिकारों के बीच में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। भाग तीन में जिन मूल अधिकारों की प्रतिष्ठा की गयी है, वे हमारे देश में विधि-शासन के आधार-स्तम्भ हैं। मूल अधिकारों विषयक इस प्रकरण में उन कुछ आधारभूत मानकों का निर्धारण किया गया है जिनके सन्दर्भ में मानव अधिकारों को सिद्ध किया जा सकता है। साथ ही उन कुछ आदर्शों तथा मर्यादाओं का भी उल्लेख कर दिया गया है जिनके आलोक में विधानांग तथा कार्यांग को अपनी शक्तियों का प्रयोग करना चाहिए। यह ध्यान रखने की बात है कि भारतीय संविधान में दिये गये मूल अधिकार केवल नैतिक आकांक्षा अथवा पवित्र आशा मात्र नहीं हैं। मूल अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायिक उपचार की व्यवस्था अपने आप में एक मूल सांविधानिक अधिकार है। संविधान के एक प्रसिद्ध टीकाकार और महाराष्ट्र के महाधिवक्ता श्री एच० एम० सीरवई ने लिखा है—

> "पन्द्रह वर्षों में संविधान के वास्तविक क्रियान्वय से यह प्रकट हो जाता है कि संविधान में मूल अधिकारों का समावेश सर्वथा उचित रहा है। विधि प्रतिवेदनों से यह बात सिद्ध हो जाती है कि न्यायालयों ने मूल अधिकारों के क्षेत्र में विधानमण्डल और कार्यपालिका के हस्तक्षेप को कारगर ढंग से रोका है। लेकिन, विधि प्रतिवेदनों से तो बहुत थोड़े मामलों का ही पता चलता है क्योंकि जहाँ एक मुकदमा न्यायालय में जाता है, वहाँ सौ मामले ऐसे होते हैं जिनमें मूल अधिकारों के उल्लंघन की कार्यवाही इस जानकारी के कारण रुक जाती है कि उनके परिपालन के लिए सस्ता और कारगर उपचार विद्यमान है। जिन लोगों को राज्य या स्थानीय प्राधिकारियों को

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

परामर्श देना पड़ता है, उनका अनुभव है कि मूल अधिकारों का उल्लेख करने से जो कुल मिलाकर स्वतन्त्रता, न्याय तथा औचित्य पर आधारित हैं न्याय तथा ईमानदारी की राह पर चलने का उनका परामर्श अधिक सार्थक हो जाता है।"

गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य के प्रसिद्ध मुकदमे में उच्चतम न्यायालय के इस निर्णय के फलस्वरूप व्यापक वाद-विवाद उत्पन्न हो गया है कि संविधान का भाग तीन जिसमें मूल अधिकारों का निरूपण है, संविधान के अनुच्छेद 368 में निर्धारित अधिदेशात्मक प्रक्रिया से शासित नहीं है। उच्चतम न्यायालय का निर्णय अनुच्छेद 13 की भाषा पर आधारित है जिसमें कहा गया है कि जो विधि इस भाग द्वारा दिये गये अधिकारों को छीनती या न्यून करती हो, वह शून्य होगी। उच्चतम न्यायालय का निर्णय था कि संविधान का संशोधन करने वाली विधि अनुच्छेद 13 के अर्थ के अन्तर्गत विधि है और यदि वह संविधान के भाग तीन का उल्लंघन करती है, तो वह शून्य होगी। इसका परिणाम यह है कि जब तक गोलकनाथ के मुकदमे का निर्णय प्रभावी है, तब तक संविधान के संशोधन द्वारा मूल अधिकारों में किसी प्रकार की कमी नहीं की जा सकती। इस वाद-विवाद को सुलझाने के उद्देश्य से श्रीनाथ पै ने संविधान के अनुच्छेद 368 में संशोधन करने के लिए संसद में एक संविधान संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया था जिस पर संसद ने विस्तार से चर्चा की थी। तथापि, यह वाद-विवाद अभी तक नहीं सुलझ सका है। यह चर्चा है अधिकतर शैक्षिक ही, परन्तु यह कुछ मूलभूत सांविधानिक प्रश्नों को खड़ा करती है।

पिछले कुछ समय से अनुच्छेद 19 (1) (च) और अनुच्छेद 31 में दिये गये सम्पत्ति-अधिकार को समाप्त करने के लिए संविधान के भाग तीन में संशोधन करने का आग्रहपूर्वक सुझाव दिया गया है। सम्पत्ति-अधिकार के उन्मूलन का समर्थन करने वालों का तर्क है कि भारत जैसे निर्धन देश में सम्पत्ति-अधिकार का आश्वासन अनावश्यक और अप्रासंगिक है। जो लोग मूल अधिकारों में से सम्पत्ति-अधिकार को हटा देना चाहते हैं, वे न्यायमूर्ति मोहम्मद हिदायतुल्ला के निम्नलिखित विचारों से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। श्री हिदायतुल्ला ने ये विचार गोलकनाथ के मुकदमे में व्यक्त किये थे—

"हमारे संविधान ने यह सिद्धान्त स्वीकार किया कि सम्पत्ति-अधिकार एक मूल अधिकार है। मेरे विचार से उसे इस श्रेणी में रखना भूल थी। प्रारूप संविधान विधेयक के मूल अनुच्छेद 16 में समूचे देश में व्यापार, वाणिज्य और आने-जाने की स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया गया था, लेकिन बाद में उसे हटा दिया गया था। इसी प्रकार, सम्पत्ति-अधिकार को भी भिन्न अध्याय में रखा जाना चाहिए था। यह अधिकार मूल अधिकारों में सबसे कमजोर है।"

न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला को सन्देह था कि अन्य मूल अधिकारों के प्रतिकूल सम्पत्ति-अधिकार में धीरे-धीरे कमी की जायेगी और इसीलिए शायद वे इस अधिकार को हटाने के लिए तैयार हो गये थे जिससे अन्य अधिकारों की रक्षा हो सके। इसके विपरीत कुछ अन्य व्यक्तियों का विचार है कि सम्पत्ति-अधिकार अन्य अधिकारों के लिए बुनियादी अधिकार है क्योंकि इन अन्य अधिकारों की शून्य में रक्षा नहीं हो सकती। यह सच है कि न्यायिक निर्णय सम्पत्ति-अधिकार के पक्ष में रहे हैं और उनके कारण अनेक असंगतियाँ उत्पन्न हुई हैं तथा बहुत से सांविधानिक संशोधन करने पड़े हैं। तथापि, सम्पत्ति-अधिकार निरपेक्ष अधिकार नहीं है और

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उसके ऊपर उचित प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। राज्य उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीयकरण कर सकता है और कारबार कर सकता है—इस विषय में सविधान ने उसके ऊपर कोई प्रतिबन्ध आरोपित नहीं किया है। इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि संविधान में संशोधनों के द्वारा सारे भूमि-सुधारों की विधि-न्यायालयों में दायर की गयी सांविधानिक चुनौतियों से रक्षा की गयी है। लगता है कि सम्पत्ति-अधिकार के उन्मूलन के प्रस्ताव के मूल में एक ओर तो सैद्धान्तिक उत्साह है और दूसरी ओर यह चिन्ता है कि विधि-न्यायालय आर्थिक नीतियों के मामले में कोई हस्तक्षेप न कर सकें।

सम्भवतः हमको विचार करना चाहिए कि क्या हमारे निर्वाचकीय अधिकार जो लोकतन्त्रात्मक पद्धति के लिए बुनियादी हैं, उसी आधार पर प्रतिष्ठित नहीं किये जाने चाहिएँ, जिस पर कि मूल अधिकार हैं। इस समय भारतीय नागरिकों के निर्वाचकीय अधिकार मुख्यतः विधानमण्डलों द्वारा निर्मित विधियों पर आधारित हैं। सम्भवतः उन्हें मूल अधिकारों वाले अध्याय में जोड़ना उपयुक्त रहेगा।

कुछ व्यक्तियों के विचार से निःशुल्क वैधिक सहायता और परामर्श का अधिकार और काम का अधिकार भी संविधान के भाग तीन में जोड़ा जा सकता है। निःशुल्क वैधिक सहायता और परामर्श के अधिकार से नागरिक विधि-न्यायालयों तक पहुँच सकता है और अपने मूल तथा अन्य वैधिक अधिकारों पर आग्रह कर सकता है तथा उन्हें कार्यरूप में परिणत करा सकता है। काम के अधिकार से राज्य के ऊपर यह जिम्मेदारी आ जायेगी कि वह शारीरिक दृष्टि से सक्षम प्रत्येक वयस्क नागरिक को उपयोगी रोजगार दे जिससे कि उसे निर्धनता तथा असहायता का सामना न करना पड़े। इसमें कोई सन्देह नहीं कि काम करने के अधिकार का आश्वासन देना और उसे प्रवर्तनीय बना देना एक क्रान्तिकारी कदम होगा। तथापि, इसकी व्यावहारिकता की परीक्षा करना उपयोगी है।

संविधान के भाग चार में कुछ ऐसे सिद्धान्तों की चर्चा की गयी है जिन्हें किसी न्यायालय द्वारा बाध्यता नहीं दी जा सकती किन्तु तो भी वे देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाने में उनका प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य है। विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या इनमें से किन्हीं सिद्धान्तों को संविधान के भाग तीन में रखा जा सकता है जिससे कि वे भी मूल अधिकारों की भाँति ही प्रवर्तनीय हो सकें। इन सिद्धान्तों को कहाँ तक कार्यान्वित किया गया है या किया जा रहा है, इसका मूल्यांकन होना चाहिये। कुछ निदेशक सिद्धान्त ऐसे हैं जिन्हें निश्चित रूप से मूल अधिकारों का दर्जा दे दिया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, इस सिद्धान्त का कि पुरुषों और स्त्रियों दोनों को समान कार्य के लिए समान वेतन प्राप्त हो अथवा इस सिद्धान्त का कि बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न किया जाये, सकारात्मक शब्दावली में आश्वासन दिया जा सकता है। संविधान के अनुच्छेद 40 ने राज्य को यह जिम्मेदारी सौंपी है कि वह ग्राम-पंचायतों का संघटन करने के लिए अग्रसर होगा तथा उनको ऐसी शक्तियाँ और अधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हों। अब वह समय आ गया है जबकि अनुच्छेद 40 को कार्यान्वित करने के लिए किये गये उपायों का मूल्यांकन किया जाये और हम विचार करें कि हमारे देश में लोकतन्त्रात्मक विकेन्द्रीकरण की जो व्यवस्था आरम्भ की गयी है क्या पंचायतों विषयक उपयुक्त उपबन्धों को संविधान में स्थान देकर और पंचायत-व्यवस्था को देश की राज-

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

नीतिक संरचना में स्वीकृत कर उसे सांविधानिक आधार पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। संविधान के अनुच्छेद 44 में निदेश दिया गया है कि भारत के समस्त राज्य-क्षेत्र में नागरिकों के लिए राज्य एक समान व्यवहार-संहिता प्राप्त कराने का प्रयास करेगा। सरकार संविधान के इस अध्यादेश का पूरी तरह पालन नहीं कर सकी है और वह इस बारे में कुछ न कुछ बहाना देती रही है। विचारणीय प्रश्न यह होगा कि क्या संविधान को इस बारे में कोई सुनिश्चित आदेश देना चाहिए कि यह कार्यक्रम अमुक समय तक पूरा हो जाये। मद्यनिषेध और गौहत्या की रोकथाम से सम्बद्ध निदेशक सिद्धान्तों का भी पुनरवलोकन और मूल्यांकन होना चाहिए। सम्भवतः कोई ऐसा संगठन स्थापित करना आवश्यक है जो इस बात की रिपोर्ट देता रहे कि राज्य-नीति के निदेशक सिद्धान्तों को कहाँ तक कार्यान्वित किया गया है जिससे कि ये सिद्धान्त केवल नेक इरादों की घोषणाएँ बनकर न रह जायें।

भारत में सांविधानिक सुधार का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव यह है कि देश में संसदीय शासन-पद्धति के स्थान पर राष्ट्रपतीय शासन-पद्धति की स्थापना की जाये। कुछ लोगों का विचार है कि यदि राष्ट्रपति संविधान द्वारा दी गयी व्यापक शक्तियाँ धारण कर ले और उनका प्रयोग करने लगें, तो इस प्रकार का परिवर्तन वर्तमान संविधान के ढाँचे में ही हो जायेगा। इस प्रकार का दृष्टिकोण संविधान के मूल स्वर तथा अभिप्राय के अनुकूल नहीं है क्योंकि संविधान ने मन्त्रिमण्डलीय शासन के सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्तों के आधार पर एक ऐसी कार्यपालिका का निर्माण किया है जो संसद के प्रति उत्तरदायी है। जो लोग भारत के लिए राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली के पक्ष में हैं, उनका विचार है कि इससे प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों को शासन में स्थान मिल सकेगा और कार्यपालिका तथा विधानमण्डल दोनों सुदृढ़ हो सकेंगे। अन्य कुछ व्यक्तियों का विचार है कि केन्द्रीय सरकार को तो इंग्लैण्ड के संसदीय शासन के ढंग पर चलते रहना चाहिए लेकिन राज्यों की राजनीतिक व्यवस्था को अमरीका के ढंग पर ढालना उचित होगा। दावा किया जाता है कि इससे राज्यों में अस्थिरता दूर हो सकेगी और शक्तिशाली सरकार की स्थापना हो सकेगी। इस दृष्टिकोण का अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों ने समर्थन किया है और हमारी सांविधानिक पद्धति की समीक्षा के समय इस प्रश्न पर विस्तार से तथा सभी दृष्टियों से विचार होना चाहिए। लेकिन हमें बिना सोचे-समझे, जल्दबाजी में और किसी नये विचार के प्रति आकर्षण के कारण यह नहीं समझ लेना चाहिए कि भारतीय परिस्थितियों में राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली अपनाने से हमारी सारी समस्याएँ सुलझ जायेंगी। संयुक्त राज्य अमरीका की राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली अनेक दृष्टियों से अद्वितीय है और उसे सफलतापूर्वक भारत में लागू करना आसान नहीं है। अमरीका की राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली शक्ति-पार्थक्य और शासन के तीनों अंगों के बीच सहयोग-सौजन्य के सिद्धान्तों पर आधारित है। राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली में तो असामंजस्य और गतिरोध की संसदीय शासन-प्रणाली की अपेक्षा अधिक आशंका रहती है। इस सम्बन्ध में मुख्य न्यायाधिपति टाफ्ट ने एक्सपार्टे ग्रासमैन के मुकदमे में जो शब्द कहे थे, उन्हें स्मरण करना उपयोगी होगा—

> "निषेधाधिकार के द्वारा निश्चित कार्यवाही करके कार्यपालिका और किसी भी सदन के एक तिहाई सदस्यों से एक अधिक सदस्य समस्त विधान को विफल कर सकते हैं। सदन के आधे सदस्य और सीनेट के दो-तिहाई सदस्य न्यायपालिका के सदस्यों पर

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

महाभियोग लगा सकते हैं और उन्हें हटा सकते हैं। राष्ट्रपति समस्त अपराधों को क्षमा कर सकता है और प्राणदण्ड देना रोक सकता है। नकारात्मक रूप से कांग्रेस का एक सदन समस्त विनियोगों को रोक कर सरकार की सारी कार्यवाही को ठप्प कर सकता है। संविधान अथवा संविधि के अनुसार जिन नियुक्तियों अथवा अनुसमर्थनों के लिए सीनेट की सहमति की आवश्यकता होती है, सीनेट उन्हें रोक सकता है और इस प्रकार राष्ट्रपति को उन आवश्यक प्रतिनिधियों से वंचित कर सकता है जिनके माध्यम से उसे देश की विधियों का निष्ठापूर्वक पालन कराना होता है..... सच तो यह है कि शासन-संचालन के लिए कांग्रेस, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका तीनों ही शासन के शेष दोनों अंगों के सहयोग पर निर्भर हैं।"

अमरीका की शासन-पद्धति के अलावा फ्रांस की शासन-पद्धति में भी ऐसे अनेक तत्त्व मिलते हैं जिनके आधार पर भारत में नयी सांविधानिक संस्थाएँ स्थापित की जा सकती हैं।

जिन लोगों का मत है कि भारत की राजनीतिक पद्धति राजनीतिक दलों के असन्तुलन के कारण विफल हो गयी है, उनका सुझाव है कि केवल दल-बदल की घटनाओं को रोकने के लिए ही नहीं बल्कि राजनीतिक दलों की संख्या कम करने के लिए भी सांविधानिक उपबन्ध किये जाने चाहिएँ। कुछ लोगों का विचार है कि भारत को परोक्ष निर्वाचन-पद्धति स्वीकार करनी चाहिए और कुछ सानुपात प्रतिनिधित्व-पद्धति के पक्ष में हैं।

सन् 1967 के बाद राज्यों में द्वितीय सदनों के अन्त की माँग उठी है और लगता है कि वह जोर पकड़ती जा रही है। अच्छा यह होगा कि द्वितीय सदनों का निर्माण और विनाश राज्यों की मर्जी पर न छोड़ा जाये बल्कि उस पर समान अखिल भारतीय आधार पर विचार किया जाये। सांविधानिक सुधार आयोग को राज्य-सभा की भूमिका के पुनर्गठन के उपायों पर भी विचार करना होगा।

संस्था के रूप में संसद कितनी कारगर है, यह प्रश्न भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हमारी संसदीय संस्थाओं के क्रियान्वय से सम्बद्ध एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या संसद कार्यपालिका की गतिविधियों पर सचमुच नियन्त्रण रख सकती है। संसद की प्रभाविता बनाये रखने के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि समिति व्यवस्था को सुदृढ़ बनाया जाये और संसदीय सुधारों के द्वारा विधान प्रक्रिया को व्यवस्थित किया जाये। सांविधानिक सुधार आयोग को वित्त आयोग की स्थिति पर भी विचार करना चाहिए और योजना आयोग तथा लोकपाल संस्था को सांविधानिक स्थिति देने के प्रश्न पर भी। हमें इस सुझाव पर भी विचार करना चाहिए कि क्या हमारे संविधान के ढाँचे के भीतर ही प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की एक समन्वित व्यवस्था तथा फ्रांस की राज्य परिषद् जैसी किसी संस्था की स्थापना की जा सकती है या नहीं।

भारतीय संघवाद के क्रियान्वय के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न ऐसे हैं जिन पर पुनर्विचार करने और जिनका पुनर्मूल्यांकन करने की आवश्यकता है। भारतीय संघवाद का एक सबसे प्रमुख प्रश्न यह है कि केन्द्र तथा राज्यों के बीच कर लगाने की शक्तियों तथा राष्ट्र के संसाधनों का किस आधार पर वितरण हो। राज्यों ने वर्तमान पद्धति के प्रति निरन्तर ही असन्तोष व्यक्त किया है। तमिलनाडु सरकार ने अभी हाल में न्यायमूर्ति पी० वी० राजमन्नार की अध्यक्षता में एक आयोग नियुक्त किया है जो भारतीय संघवाद के सांविधानिक पक्ष पर

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विचार करेगा और कुछ ऐसे सुधारों की संस्तुति करेगा जिनसे राज्यों को अधिक स्वायत्तता प्राप्त हो सके। राज्यों की शिकायत यह है कि संविधान ने उन्हें जो जिम्मेदारी सौंपी हैं, उसे देखते हुए उनके पास संसाधन तथा आय के स्रोत कम हैं। संविधान ने उनकी आय के स्रोत सीमित ही रखे हैं। राज्यों की इस युक्ति को चुनौती दी गयी है। इससे भी अधिक महत्त्व-पूर्ण बात यह है कि यदि आबकारी जैसी मद को केन्द्रीय सूची से हटाकर राज्य-सूची में रख दिया जाये तो इसका परिणाम यह होगा कि पश्चिमी बंगाल और महाराष्ट्र जैसे राज्य अन्य सारे राज्यों के मूल्य पर समृद्ध हो जायेंगे और इन राज्यों के बीच आर्थिक विषमताएँ बढ़ जायेंगी। आर्थिक संसाधनों के वितरण के सम्बन्ध में सांविधानिक उपबन्धों तथा प्रतिमान की सावधानी से पुनःपरीक्षा भारतीय संघवाद के वित्तीय पहलुओं को समझने के लिए उपयोगी होगी। अन्तर्राज्य व्यापार, वाणिज्य और सम्पर्क के लिए किसी सांविधानिक प्राधिकरण अथवा संविधान के अधीन किसी स्थायी अन्तर्राज्य वाणिज्य आयोग की स्थापना के सुझाव पर भी विचार किया जाना चाहिए।

पिछले कुछ वर्षों में केन्द्र तथा राज्यों के प्रशासनिक सम्बन्ध निरन्तर बिगड़ते जा रहे हैं और अब वे विस्फोट की स्थिति में पहुँच गये हैं। राज्यपाल का पद पर्याप्त आरोपों-प्रत्यारोपों का स्रोत रहा है। उत्तर प्रदेश का हाल का घटना-क्रम इसका एक उदाहरण मात्र है। इस समय राज्यपाल केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किया जाता है। यह माँग जोर पकड़ती जा रही है कि राज्यपाल के पद को केन्द्रीय सरकार के राजनीतिक दबावों से परे रखा जाये। कुछ लोगों का सुझाव है कि राज्यपाल के मार्गदर्शन के लिए एक आदेश-पत्र होना चाहिए। कुछ अन्य लोगों का विचार है कि यदि राज्यपाल अनुचित आचरण करे, तो उस पर महाभियोग चलाया जाना चाहिए। कुछ के विचार से राज्यपाल की नियुक्ति की पद्धति में परिवर्तन होना चाहिए। एक मत यह भी है कि राज्यपाल के पद को ही समाप्त कर देना चाहिए। केन्द्र तथा राज्यों में प्रशासनिक सम्बन्धों विशेषकर अनुच्छेद 356 के क्रियान्वय का अध्ययन भावी संविधान सुधारक के लिए उपयोग की वस्तु होगा। संविधान सुधारक संविधान के अनुच्छेद 263 द्वारा निर्दिष्ट अन्तर्राज्य परिषद् की स्थापना के प्रश्न पर भी विचार कर सकता है। अन्तर्राज्य परिषद् भारत के संघात्मक समीकरण को सन्तुलित रखने और अधिक सामंजस्य तथा समन्वय के उन्नयन के लिए अनेक युक्तियों की व्यवस्था कर सकती है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संसद तथा दलबन्दी

परिपूर्णानन्द वर्मा

प्रजातन्त्र

प्राचीन काल के भारतीय, यूनानी अथवा रोमन प्रजातन्त्र की बात काफी पुरानी हो गयी। भारतीय पौर-जानपद तथा लिच्छवियों के गणतन्त्र की गौरव गाथा अथवा उनके सैकड़ों साल बाद, पाँचवीं शताब्दी में, पेरीक्लीज के जमाने में यूनानी प्रजातन्त्र की महिमा यहाँ देने से लाभ न होगा। हम इस समय आधुनिक प्रजातन्त्र की पहेली पर विचार कर रहे हैं। हमारा तात्पर्य उस प्रजातन्त्र से है जिसमें जनता के प्रतिनिधि निश्चित काल के लिए चुने जाते हैं और उनको जनता अधिकार देती है कि वे उस पर शासन करें।

ऐसे प्रजातन्त्र का उदय सन् 1642 तथा सन् 1688 की भीषण ब्रिटिश राज्य क्रान्ति, सन् 1776 का रक्त-रञ्जित अमरीकी स्वाधीनता युद्ध तथा सन् 1789 की फ्रेंच राज्य क्रान्ति से हुआ है। सन् 1905 में, रूस की महान् शक्ति को जापान द्वारा गहरा धक्का लगने के बाद के काल से प्रथम महायुद्ध में जर्मनी की पराजय तथा जर्मन सम्राट के पदच्युत होने के उपरान्त यानी सन् 1806 से 1919 के काल में यूरोप में अनेकों उथल-पुथल के बाद आधुनिक प्रजातन्त्र की भावना तथा सत्ता दृढ़ता के साथ स्थापित हो गयी। सन् 1917 में राष्ट्रपति विल्सन (संयुक्त राज्य अमरीका) ने नारा लागाया था कि "संसार में प्रजातन्त्र की सत्ता को अक्षुण्ण कर दो।"

किन्तु, आज तक प्रजातन्त्र की उपयोगिता तथा उपादेयता विवादास्पद विषय बना हुआ है। उसकी परिभाषा भी अभी तक स्पष्ट रूप से सर्वमान्य नहीं है। यों तो कहा जाता है कि सबसे संक्षिप्त तथा मार्के की परिभाषा अमरीका के स्वातन्त्र्य संग्राम के एक नायक बेंजामिन फ्रांकलिन की है। "प्रजातन्त्र उस शासन-व्यवस्था को कहते हैं जिसमें शासित को शासक से असहमति प्रकट करने की स्वतन्त्रता हो।" अर्थात्, विरोध करने की आजादी हो। फ्रेंच विद्वान् मांटेस्क्यू ने लिखा है कि "समानता से प्रेम ही प्रजातन्त्र से प्रेम है।" इतिहास पण्डित कार्लाइल का कथन है कि "प्रजातन्त्र के द्वारा ही क्रमशः एक नये सुखी संसार की रचना हो सकेगी।"

किन्तु प्रजातन्त्रीय शासन एकदम निष्कलंक होगा तथा निर्दोष होगा, ऐसा कोई भी नहीं कहता। उसके गुण-दोष दोनों ही हैं। यूनानी विद्वान् प्लूटार्क ने लिखा है कि जब शासक लाइसर्जस से पूछा गया कि तुम मानव मात्र के समान अधिकार के उत्कट हिमायती होते हुए भी शुद्ध प्रजातन्त्रीय शासन क्यों नहीं अपना रहे हो, तो उसने जवाब दिया—जरा अपने घर में ही प्रजातन्त्र चला कर देखो, तो क्या होता है ? स्वाधीनता, समानता तथा

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

बन्धुत्व का डंका पीटने वाले फ्रेंच दार्शनिक रूसो ने भी कहा है कि "एकदम निर्दोष प्रजातन्त्रीय शासन मानव की योग्यता के बाहर की बात है।"

संसदीय प्रणाली में, राजा की इच्छानुसार नहीं, बल्कि जनता के द्वारा बहुमत से चुने गये प्रतिनिधियों का नेता ही प्रधानमन्त्री बने, यह सिद्धान्त संसदों की रानी, ब्रिटिश पार्लियामेन्ट (लोकसभा) में सन् 1841 के आम चुनाव से प्रस्थापित हुआ और बहुमत के नेता, सर रावर्ट पील प्रधानमन्त्री बने। उन्होंने भी प्रजातन्त्र के कतिपय दोषों को स्वीकार करते हुए कहा था—"किसी भी गाँव में ऐसे बदमाश पैदा हो सकते हैं जो अपने को जनता (उसका प्रतिनिधि) कहकर घोर से घोर अत्याचार कर सकते हैं।" विरोध करने वाले, शासन की अवज्ञा करने वालों की सबसे तीव्र भर्त्सना लार्ड बायरन नामक महाकवि ने की है। वे लिखते हैं, "सबसे पहला प्रजातन्त्रीय व्यक्ति **शैतान** था।" इसलिए कि शैतान ने ईश्वर के आदेशों के विरुद्ध विद्रोह किया था।

प्रजातन्त्र और संसद

आधुनिक प्रजातन्त्र में बिना संसदीय शासन-प्रणाली के प्रजातन्त्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती। डा० ब्राण्ड व्हिटलॉक ने लिखा है कि आज के प्रजातन्त्र में लाखों, करोड़ों व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के लिए चुनाव का पेचीदा रास्ता अपनाना पड़ता है। चुनकर आने वाले लोग मनुष्य-स्वभाव से ऊपर नहीं उठ सकते। प्राचीन काल से चला आने वाला स्वार्थ तथा महत्त्वाकांक्षा का संघर्ष, भिन्न दृष्टिकोण तथा विचार, शिक्षा के प्रचार के कारण साधारण जनता में जागृति, अपने सपनों को साकार करने की इच्छा तथा संकल्प आदि के कारण चुने हुए प्रतिनिधियों में विचार-साम्य नहीं हो सकता। इसलिए जिन लोगों का विचार सामान्यतः एक प्रकार का होगा, यदि उनका बहुमत हुआ तो वे अपने हाथ में शासन लेंगे, फिर वे अपने विरोधी को दबाने, यहाँ तक कि कुचलने का भी प्रयत्न कर सकते हैं। प्रजातन्त्रीय संसदीय प्रणाली में, डा० ब्राण्ड व्हिटलॉक के अनुसार सबसे बड़ा खतरा यह है कि बहुमत अल्पमत को कुचलने की चेष्टा कर सकता है। इसलिए प्रजातन्त्री शासन तभी सफल होगा जब अल्पमत, अर्थात् विरोधी दल के भी अधिकार सुरक्षित रहें तथा विरोधी दल "बहुमत के अत्याचार" का शिकार न हो। यह बात किसी विशेष अल्पमत या दल के लिए नहीं है। आज का अल्पमत कल बहुमत होकर वही हथकण्डे अपना सकता है जिसका वह शिकार हुआ हो। डा० व्हिटलॉक ने सावधान किया है—

> "अट्ठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में प्रजातन्त्र के सम्बन्ध में जो मानवीय तथा उदार भावना थी वह आज समाप्त हो गयी है। आज औद्योगिक प्रजातन्त्र का युग है। आज जन-समूह हरेक वस्तु का "स्टेन्डर्ड"—निश्चित मापदण्ड—चाहता है, वस्त्र, खान-पान, भाषण, यहाँ तक कि विचार में भी पुरानी ऊँची भावनाएँ अब शिथिल पड़ गयी हैं। विचार का स्तर गिर गया है। यह नहीं भूलना चाहिए कि **प्रजातन्त्र का अर्थ है नागरिकों की निरन्तर, लगातार शिक्षा।** नागरिक तथा उनके प्रतिनिधि, दोनों बराबर ऊँचे उठकर समझें, सोचें, काम करें। वोट देने वाला भी बुद्धिमानी बरते तथा वोट लेने वाला भी बुद्धिमान तथा विचारशील हो। स्वतन्त्रता का अर्थ है जीवन की उचित तथा सामूहिक सुख-शान्ति देने वाली महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

.....कितनी भद्दी बात है कि मनुष्य आज भी अपनी हेय कामनाओं का दास बना हुआ है। अभी तक उसका अज्ञान समाप्त नहीं हुआ है। प्रजातन्त्र की तभी विजय होगी जब मानव के अन्तस्तल में प्रजातन्त्र की आत्मा स्थान कर लेगी। बिना इसके तो प्रजातन्त्र से क्या लाभ ? निरंकुश शासन का स्थान कतिपय परिवारों के हाथ में पड़ जाये तथा उनके अत्याचार का स्थान 'बहुमत के शासन' का अत्याचार ले ले तो यह प्रजातन्त्र नहीं हुआ। अमरीका के राष्ट्रपति लिंकन ने जिस मन्त्र को हमें दिया है वह उसी संसद से चरितार्थ होगा जिसमें न केवल जनता का शासन हो, जनता के द्वारा शासन हो, बल्कि **जनता के लिए** भी शासन हो।"

डा० ब्रांड व्हिटलॉक के विचार का अति संक्षिप्त निचोड़ ऊपर दिया गया है। सब बातों का तत्त्व इतना ही है कि केवल बहुमत की राय से ही जन-समूह की इच्छा तथा आवश्यकता का अनुमान नहीं लग सकता। अल्पमत यानी विरोधी दल की मर्यादा भी नितान्त आवश्यक है।

ब्रिटिश संसद और विरोधी दल

सन् 1226 में, इतिहास में पहली बार ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के विरोध के कारण ब्रिटिश सम्राट एडवर्ड द्वितीय को गद्दी छोड़नी पड़ी ओर उनका लड़का एडवर्ड तृतीय गद्दी पर बैठा। इस समय तक ब्रिटिश संसद के तीन अंग थे—पादरी वर्ग, जागीरदार अथवा लार्ड वर्ग तथा साधारण जनता। एक ही भवन में तीनों की अलग-अलग बैठकें होती थीं। राजा द्वारा भेजे गये आदेशों पर तीनों अलग-अलग विचार करते थे और फिर तीनों के निर्णय मिलाकर एक सामूहिक उत्तर नरेश को भेज दिया जाता था। उन दिनों आज की तरह लम्बे अधिवेशन नहीं होते थे। केवल नरेश द्वारा भेजे गये विषयों पर विचार करना होता था। ज्यादा समय नहीं लगता था। अतएव एक ही सभा-भवन में अलग-अलग बैठकें हो सकती थीं।

एडवर्ड तृतीय के शासन काल में दो 'हाउस' बाकायदा बने। सरदार सभा अथवा हाउस ऑफ लार्ड्स तथा लोकसभा अथवा हाउस ऑफ कॉमन्स। बड़े पादरी (बिशप) हाउस ऑफ लार्ड्स में चले गये। सभा-स्थल भी पृथक् हो गये। पर सन् 1832 के सुधार अधिनियम के पूर्व यह जरूरी नहीं था कि प्रधानमन्त्री लोकसभा का ही सदस्य हो तथा लोकसभा के बहुमत के विश्वास का पात्र हो। प्रधानमन्त्री को राजा नियुक्त करता था और जब तक वह राजा का विश्वासपात्र बना रहे, वह अपने पद पर रह सकता था। इससे एक लाभ यह जरूर था कि प्रधानमन्त्री को बहुमत को प्रसन्न करने के लिए भाग-दौड़ नहीं करनी पड़ती थी और वर्षों तक काम करने की आजादी रहती थी। पर बहुमत की उपेक्षा भी प्रजातन्त्र के लिए बड़ा भारी खतरा है। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री विलियम पिट सन् 1784 के बाद कई बार लोकसभा में पराजित हुए। विदेशी तथा घरेलू नीति के बारे में उनके कितने ही प्रस्ताव ठुकरा दिये गये। पर न तो उन्होंने त्यागपत्र दिया और न उनसे त्यागपत्र देने की माँग की गयी।

सन् 1835 का आम चुनाव सन् 1832 के कानून के अनुसार हुआ और वास्तविक लोकसभा का आविर्भाव हुआ। किन्तु उस समय भी 'जनता का सबसे अधिक विश्वासपात्र' प्रधानमन्त्री नियुक्त नहीं हुआ। ऐसा पहली बार सन् 1841 के चुनाव के बाद हुआ, जब जननायक तथा बहुमत के नेता सर राबर्ट पील प्रधानमन्त्री हुए और विरोधी दल तथा विरोधी पक्ष

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

के नेता को सरकारी मान्यता प्राप्त हुई। सन् 1870 से 1872 के बीच में, ऐस्क्विथ के प्रधान मन्त्रित्व-काल में एक अत्यावश्यक सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ। वह यह कि राष्ट्र के हित के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मसले पर केवल बहुमत का निर्णय ही पर्याप्त नहीं है। शासक दल का निर्णय उचित है या नहीं, इसका फैसला, उसी मसले को लेकर, आम चुनाव द्वारा कराना चाहिए। विरोध तथा विरोधी दल को यह इतिहास-प्रसिद्ध महान अधिकार प्राप्त हो गया। विरोध की मर्यादा सदा के लिए स्थापित हो गयी।

'दल' का कर्त्तव्य

संसद-प्रणाली में विरोधी दल की मर्यादा स्वीकार कर लेने से उसके कर्त्तव्य तथा उसका अनुशासन भी निर्धारित होने लगा। शासन का प्रथम कर्त्तव्य है व्यवस्था कायम रखना। आज जो विरोध में है, कल वही शासक बन सकता है। अतएव, व्यवस्था तथा अनुशासन के बन्धन में वह भी बँधा रहेगा। दलबन्दी के उलट फेर में अल्पमत के हाथ में भी शासन आ सकता है जैसा कि अल्पमत में होते हुए भी मजदूर दल के प्रधानमन्त्री रेमजे मैकडॉनेल्ड के लिए इंग्लैण्ड में हुआ। सन् 1925 में अल्पमत के कारण शासन न चला सकने के कारण उन्होने सम्राट से अनुरोध किया कि पार्लियामेन्ट भंग की जाय तथा आम चुनाव हो। उस समय एस्क्विथ ने इसका विरोध किया था। उनका कहना था कि अल्पमत वाले चुनाव की धमकी नहीं दे सकते। पर, ब्रिटेन में इसकी परिपाटी सन् 1858 की 15 मई को पड़ चुकी थी जब लार्ड ऐबरडीन ने महारानी विक्टोरिया को सलाह दी थी —कानूनी सलाह— कि प्रधानमन्त्री चाहे अल्पमत का हो या बहुमत का, यदि संसद भंग करने के लिए कहता है तो नरेश को उसकी बात माननी पड़ेगी। इसलिए मैकडॉनेल्ड की बात मान ली गयी। विरोधी अल्पमत की यह एक और विजय थी। सर जे० एच० मार्गन ने लिखा है कि 'वैधानिक रूप से विरोधी दल जो भी माँग पेश करता है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।'

किन्तु, दल के लोगों का कर्त्तव्य क्या है, इस विषय में बड़ा मतभेद है। जानसन साहब के अनुसार अन्ध-विश्वास की पराकाष्ठा है दलबन्दी की भावना। पता नहीं क्यों, कुछ निश्चित संख्या के लोग, जो एक दल में हैं, अपने नेताओं के विरुद्ध कोई बात सुनने, देखने या समझने के लिए तत्पर नहीं हैं।

सी० साइमन्स उपर्युक्त कथन से भी आगे बढ़ गये। वे लिखते हैं—

'दलबन्दी की भावना है क्या झूठ बोलना, बकवास करना, उद्यत तथा उच्छृङ्खल होना, स्पष्टवादिता से दूर रहना, सत्य पर पानी फेरने के लिए तत्पर रहना, बहुत नीचे उतरकर बेईमानी से वह सब कुछ करना जिसमें दल की विजय हो।'

प्रश्न उठता है कि प्रजातन्त्र में यदि पार्टी या दलबन्दी का होना अनिवार्य है तो नीचे उतरकर बेईमानी से कार्य करने वाले दल जनता का कल्याण कैसे करेंगे ?

सिद्धान्त और दल

यदि किसी दल के सदस्य अपने मन तथा विचार के अनुसार कार्य करने को स्वतन्त्र हों तो दल बनाने से लाभ भी क्या होगा ? फ्रेंच लेखक विचारक सेविले ने साफ लिखा है कि 'किसी दल के सदस्य को केवल अपने दल के सिद्धान्त को ही प्रतिपादित करने की आजादी है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अन्यथा संसार में बड़ी से बड़ी दासता से बढ़कर वह अपने दल का गुलाम है ।'

बिना अनुशासन के पार्टी नहीं चल सकती । सब लोग अपनी-अपनी राय पर चलना चाहें तो प्रजातन्त्र में काम नहीं चल सकता । इसीलिए राजनीति के प्रकाण्ड पण्डित स्वर्गीय प्रोफेसर हेरल्ड लास्की ने लिखा है कि 'संसदीय प्रणाली की सफलता के लिए विरोधी दल आवश्यक है तथा किसी भी दल की सफलता के लिए आवश्यक है कि दल के बहुमत की राय मानकर अनुशासन में चला जाये ।' स्वर्गीय ब्रिटिश प्रधानमन्त्री विन्स्टन चर्चिल ने लिखा है कि 'दल के सदस्यों को सर (मस्तिष्क) नहीं चाहिए । उनके पैरों की (वोट की) आवश्यकता है ।' सीसिल ने और भी साफ शब्दों में कहा है कि दल का बनाना जरूरी है । एक ही सिद्धान्त के मानने वालों को अधिक से अधिक संख्या में मिलकर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करना चाहिए ।

किन्तु दलबन्दी केवल अधिकार प्राप्त करने के लिए न हो । फ्रेंच विचारक दि तौकविले के अनुसार—

> 'मैं उन्हीं राजनीतिक दलों को महान समझता हूँ जो अपने सिद्धान्त से चिपके रहते हैं, परिणाम की परवाह नहीं करते । जो किसी एक मसले को लेकर नहीं चलते अपितु आम मसले 'सर्वकल्याण' को लेकर चलते हैं, वे व्यक्ति से अधिक सिद्धान्त का आदर करते हैं—ऐसे ही दल अन्य दलों से अधिक उदार, सुशील, शिष्ट, सुधरे हुए तथा साहसी होते हैं ।'

फिर भी, व्यक्तिगत सिद्धान्त तथा मत के आगे दल का कोई महत्त्व नहीं है, ऐसा विचार होरेस मान जैसे विख्यात विचारक ने भी प्रकट किया है । उनका मत है—

'ऐसा मैं कभी नहीं कर सकता कि अपने दल की खातिर मैं अपने सिद्धान्त तथा संकल्प को बदल दूँ जैसे मालिक के कहने से घुड़सवार अपनी वर्दी बदल देता है ।'

शायद इसी भावना से प्रसिद्ध कवि पोप ने कहा है कि 'कुछ के लाभ के लिए अनेकों के पागलपन का नाम पार्टी है ।'

दल का विरोध

अमरीकन प्रजातन्त्र के संस्थापक जार्ज वाशिंगटन दलबन्दी के घोर विरोधी थे । उनके विचार संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

(1) कठिनाई से प्राप्त स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए दलबन्दी के शैतान को पनाह नहीं मिलनी चाहिए ।

(2) दलबन्दी के झगड़े में, विजय की कामना से सत्य विचारों को कोई पूछता नहीं ।

(3) यह आम भावना है कि प्रजातन्त्र में, स्वाधीन देशों में, शासन पर रोक रखने के लिए विरोधी दल का होना जरूरी है । कुछ अंश तक यह बात सही भी है । पर जनता द्वारा चुने गये लोगों के हाथ में शासन होने पर दलबन्दी को सीमा से अधिक बढ़ावा देने के कारण विरोधी दल को काम बिगाड़ने का मौका मिलता है । जनमत को स्वयं विरोधी दलों पर काफी नियन्त्रण रखना चाहिए । अन्यथा विरोधी दल की आग आवश्यक गर्मी न पहुँचाकर भस्म कर देगी । दल के सम्बन्ध में आज ये विचार असंगत समझे जा सकते हैं ।

आज के युग में दल तो रहेंगे ही और वे कोरे सिद्धान्त की लड़ाई नहीं लड़ सकते । 75 वर्ष पूर्व मैकाले ने सही लिखा था कि मनुष्य किसी व्यक्ति के संकट को देखकर उससे

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सहानुभूति प्रकट करता है पर अपने विरोधी दल के पतन तथा ह्रास पर प्रसन्न होता है।

मानव-स्वभाव ही दल में बँधकर रहने का है। जे० पी० सेन का कथन सत्य है कि "जो यह कहता है कि मैं किसी पार्टी (दल) में नहीं हूँ, वह बकवास करता है। वह कहीं का नहीं है।"

अनिश्चित स्थिति

किन्तु, राजनीतिशास्त्र आज तक निश्चय नहीं कर पाया है कि दल में रहते हुए क्या अपनी आत्मा की आवाज को इतना कुचल देना चाहिए कि अपने विश्वास के प्रतिकूल भी काम करना पड़े तो सर झुका कर दल की आज्ञा का पालन करे। सोवियत रूस के लेखक स्वेतलोव की सलाह है—

'हमको यह मूल्यवान प्रतिभा प्राप्त करनी चाहिए कि संसार में जो कुछ हो रहा है उसको दूसरों की आँखों से ही न देखे बल्कि अपनी आँखें से भी देखें तथा जो कुछ संसार में हो रहा है, उसके प्रति निजी जिम्मेदारी भी महसूस करें।'

इसी सन्दर्भ में पश्चिमी जर्मनी के गणतन्त्र के भूतपूर्व राष्ट्रपति (चांसलर) डा० ऑडेनार की एक रोचक उक्ति है। एक बार वे अपनी पार्टी में कुछ ऐसा विचार प्रकट कर रहे थे जो पहले के विचार से भिन्न था। एक सदस्य ने प्रश्न किया :

'कल आपने जो राय जाहिर की थी आज उससे बिल्कुल विपरीत बोल रहे हैं।'

चांसलर ने उत्तर दिया :

'बात आप ठीक कह रहे हैं। पर नित्य प्रति अधिक बुद्धिमान होने से मुझे कौन रोक सकता है ?'

अस्तु, अन्ततोगत्वा स्वर्गीय विंस्टन चर्चिल की उक्ति ही आजकल दल के विकास तथा स्थिरता के लिए सर्वमान्य है कि दल के लोगों का सर (मस्तिष्क) नहीं चाहिए। उनका पैर (वोट) चाहिए। प्रजातन्त्र के लिए यदि दल (पार्टी) आवश्यक है तो पार्टी के लिए अनुशासन भी अनिवार्य है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

राजनीतिक दलों का ध्रुवीकरण

जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी

कांग्रेस में विभाजन के पश्चात् यह धारणा बलवती रही है कि भारत में राजनीतिक दलों का ध्रुवीकरण हो जायेगा। इसके साथ ही यह छिपा हुआ विश्वास भी रहा है कि ध्रुवीकरण देश की राजनीति के लिए लाभकारी होगा। देश में दो या तीन दल होंगे और जनता उनमें से किसी एक को चुनकर अपना मनमाफिक शासन प्राप्त कर सकेगी। इस सम्बन्ध में भारतीय राजनीतिज्ञों को ब्रिटेन और अमरीका के उदाहरण बड़े समीचीन लगते हैं। वे समझते हैं कि यदि ब्रिटेन में जनतन्त्र सफल हुआ है तो उसका कारण यह है कि वहाँ मुख्यतः दो दल हैं और विरोधी दल भी अपने उत्तरदायित्व को समझता है। अमरीका में भी केवल दो ही दल सक्रिय हैं और शायद इसीलिए अमरीका भी जनतन्त्र की एक सही प्रणाली अपना रहा है। इसके विपरीत फ्रांस का उदाहरण दिया जा रहा है जहाँ पर बहुत दलों के कारण सरकारें अस्थिर रहीं और जहाँ पर द गाल प्रशासन ने देश को स्थिरता प्रदान की।

प्रजातन्त्र की सफलता, या यों कहिये कि किसी शासन की सफलता इस बात पर निर्भर नहीं करती कि वह शासन दूसरों को कैसा लगता है, उसकी सफलता इस बात पर निर्भर है कि उस देश के निवासी उस प्रणाली को कैसा समझते हैं। क्या वह उससे सन्तुष्ट हैं अथवा वह किसी अन्य विकल्प की कामना करते हैं। जब हम इस कसौटी को अपना लेते हैं तब हमारे सामने किसी भी प्रणाली को जाँचने से पहले उस देश की जनता के मनोभावों, परिस्थितियों तथा उन परिस्थितियों में जनता के कार्यकलापों को देखना आवश्यक हो जाता है। उस दृष्टि से यदि हम विचार करें तो ऐसा लगता है कि भारत जैसे देश में सम्भवतः राजनीतिक ध्रुवीकरण अथवा दो दलों द्वारा संसदीय प्रणाली में शासन की कल्पना यदि कठिन नहीं तो असम्भव अवश्य है। इससे पहले कि हम इस तथ्य का विशद विश्लेषण करें, दो बातें कहना काफी है। यदि भारत की जनता दो दलों में बँटना पसन्द करती और यहाँ के नेताओं को ऐसा मालूम होता कि भारत की जनता इसका स्वागत करेगी, तो 1969 में कांग्रेस के दो भाग होने के पश्चात् ध्रुवीकरण की गति तीव्र हो जाती और जब संगठन कांग्रेस ने सभी राष्ट्रवादी, प्रजातान्त्रिक तथा समाजवादी दलों को एक होने का आह्वान किया और उसके लिए वार्ता भी प्रारम्भ की तो कम से कम एक सी विचारधारा को मानने वाले लोग अवश्य ही एकत्र हो जाते। लेकिन स्वयं संगठन कांग्रेस में इस प्रश्न पर जो मतभेद हुआ, उसने संसद तक में इस प्रकार के ध्रुवीकरण की कल्पना को समाप्त कर दिया और फिर जब 28 और 29 जुलाई, 1970 को मार्क्सवादी साम्यवादी दल ने स्वतन्त्र दल और जनसंघ के साथ सत्तारूढ़ कांग्रेस के विरुद्ध

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अविश्वास के प्रस्ताव में सहयोग दिया तब तो यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया कि आर्थिक नीतियों के आधार पर अथवा राजनीतिक कार्यक्रम के आधार पर इस देश में ध्रुवीकरण की बात करना असम्भव है। इस देश में तो गठबन्धन केवल व्यक्तिगत वैमनस्य, क्षेत्रीय कुण्ठाओं अथवा वर्गीय संत्रास के आधार पर ही सम्भव दिखाई देता है और निश्चित है कि इस प्रकार का वर्गीकरण देश के लिए हितकर नहीं है। हमने चण्डीगढ़ में जनसंघ की प्रतिनिधि सभा में न केवल संघ के अध्यक्ष श्री अटल बिहारी वाजपेयी बल्कि संघ के बड़े-बड़े नेताओं द्वारा इस प्रश्न की जोरदार वकालत सुनी थी कि किस प्रकार देश को साम्यवादी प्राधान्य से खतरा है, किस प्रकार वर्तमान सरकार साम्यवादियों के साथ सांठगांठ करके इस देश को अधिनायकवाद की ओर ले जा रही है और फिर जब हमने देखा कि उसी जनसंघ के और उस जैसे ही विचार रखने वाले स्वतन्त्र दल के नेता, मार्क्सवादी साम्यवादी दल के नेता श्री गोपालन या श्री पी० राममूर्ति के सहयोग का स्वागत कर रहे हैं तो ऐसा लगा कि हम कितनी बड़ी प्रवंचना में थे। यदि किसी प्रकार उस अविश्वास के प्रस्ताव से वर्तमान सरकार अपने पद से हट जाती तो क्या संगठन कांग्रेस, जनसंघ, स्वतन्त्र जैसे दल अपने नये सहयोगी मार्क्सवादी साम्यवादी दल को अपने पास बैठने से मना कर देते, क्या उनको सरकार में सम्मिलित नहीं किया जाता और फिर क्या उनको सरकार में सम्मिलित करने के पश्चात् उनके किसी कार्यक्रम को नहीं अपनाया जाता और यदि अपनाया जाता तो फिर क्या इस बात को ईमानदारी से कहा जा सकता था कि देश के इन राष्ट्रवादी शक्तियों को साम्यवादियों के एकाधिकार अथवा तानाशाही से बचाने के लिए एकत्र होना जरूरी है ?

जहाँ तक साम्यवादियों का सम्बन्ध है, देश में तीन साम्यवादी दल हैं। यह भी सम्भावना है कि एकाध और हो जाये। स्पष्ट है कि जो साम्यवाद का सिद्धान्त एक समय यूरोप और एशिया के बहुत से राष्ट्रों और सारे संसार के बहुत से लोगों को केवल एक विचारधारा के अन्तर्गत ही नहीं, बल्कि एक सुस्पष्ट दल के रूप में संगठित करने में सफल हुआ, जिसने कौमिनटर्न और कौमिनफार्म, जैसे दृढ़ अनुशासनबद्ध संगठनों को जन्म दिया वह आज भारत के सारे साम्यवादियों को एक झण्डे के नीचे एकत्र करने में समर्थ नहीं है। इसके दो ही कारण हो सकते हैं। एक यह कि साम्यवाद में जो एकत्रित करने वाली शक्ति थी, वह अब नष्ट हो गई है और दूसरा यह कि भारत की भूमि में विभाजन या फूट को पैदा करने की एक उर्वरा शक्ति है, वह उस संयोजक शक्ति से अधिक शक्तिशाली है, जिसका परिणाम यह होता है कि भारत सदैव नये-नये संगठनों को जन्म देता है और उनके अन्दर से विभाजक भी पैदा करता जाता है।

भारत की इस प्रवृत्ति को समझे बिना हम भारत की राजनीति को हृदयंगम नहीं कर सकते। किसी देश के आरोपित आदर्श यहाँ पर सफल नहीं हो सकते। यूरोप से अलग-अलग एक छोटे से द्वीप ब्रिटेन ने जिस प्रकार अपने लिए दो या तीन दलों के संगठनों को आदर्श मान लिया अथवा यूरोप के निष्कासित और अपने को त्रस्त समझने वाले अमरीकियों ने एक बहुत बड़े देश के विकास तथा अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दो दल काफी मान लिये उसका यह अर्थ नहीं कि यह आदर्श संसार के अन्य देशों पर भी सही उतरे। आज भले ही ब्रिटेन और अमरीका बौद्धिक विचारधारा में अग्रणी माने जायें, परन्तु उनका अधिकांश ज्ञान आयातित रहा है और इसीलिए भौतिक स्वार्थों ने बौद्धिक विचारभेदों को पीछे रखा। उनकी

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

आर्थिक समस्याएँ एक सी थीं चाहे वह इंग्लैण्ड जैसा छोटा देश हो या अमरीका जैसा बड़ा और आज भी यदि हम मूल प्रश्नों पर अमरीका की रिपब्लिकन और डेमोक्रेटिक पार्टी में भेद करना चाहें तो बड़ी कठिनाई होगी। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह दोनों दल राष्ट्रपति वाशिंगटन के दो साथियों, उनके मन्त्रिमण्डल के दो सहयोगियों, श्री जैफर्सन और श्री हैमिल्टन के परस्पर विरोधी विचारों के प्रतिनिधि हैं और उसी से अनुप्राणित हैं। जब ऐसे प्रश्न आते हैं जिनमें वास्तव में सार्वजनिक भावनायें जागृत होती हैं तब यह दोनों दल टूट जाते हैं, चाहे दक्षिणी राज्यों में रंगभेद का प्रश्न हो या उत्तरी विश्वविद्यालयों में वियतनाम युद्ध का विरोध और इस परिप्रेक्ष्य में सारे युद्ध का विरोध। रंगभेद के प्रश्न को लेकर पिछले वर्ष ब्रिटेन की मजदूर दलीय सरकार ने अनुदार दल की अपेक्षा किसी भी उदार अथवा प्रगतिशील दृष्टि-कोण का परिचय नहीं दिया। ब्रिटेन की कोई भी सरकार हो; उसने यह रुख प्रकट किया कि जो चीज यहाँ के स्थानीय निवासियों के हित या मनोभावना के अनुकूल नहीं है, उसका विरोध किया जाये चाहे वह ब्रिटेन की समस्त प्राचीन मान्यताओं और व्यवहार के प्रतिकूल क्यों न हो। यही दृष्टिकोण संयुक्त राज्य अमरीका के दक्षिणी राज्यों, टेक्सास, अरीजोना और न्यू मैक्सिको के विधायक दिखाते हैं, क्योंकि उन्हें स्थानीय परिस्थितियों में अश्वेत अमरीकियों के प्राधान्य का डर है। रंगभेद का समर्थन अमरीका की समस्त राजनीतिक मान्यताओं के विपरीत हैं, पर चूँकि उसे बहुसंख्यक सत्ताधारी वर्ग का क्षेत्रीय समर्थन प्राप्त है, इसलिए वहाँ के कोई भी राजनीतिक दल क्यों न हों, उन भावनाओं के विपरीत नहीं जा सकते।

राष्ट्रीयता अथवा क्षेत्रीय भावनाओं का प्राधान्य उन देशों में भी दिखाई देता है, जहाँ एक ही दल की सरकार है! उदाहरण के लिए सोवियत संघ और चीन का सारा विरोध सैद्धान्तिक कम और क्षेत्रीय स्वार्थों, हितों या महत्त्वाकांक्षाओं के ऊपर अधिक आधारित है। जब रूमानिया या यूगोस्लाविया जैसे राष्ट्र जो लेनिन द्वारा प्रतिपादित साम्यवाद में विश्वास रखते हैं, रूस के नेतृत्व को मानने से इन्कार करते हैं और जब हंगरी, चैकोस्लोवाकिया या पोलैण्ड में भी यह भावनायें जोर करती हैं तो हमें यह मान लेना पड़ेगा कि आज बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में एक ऐसी स्थिति आ गई है, जबकि जागृत जनता अपने क्षेत्रीय हितों, आकांक्षाओं या गौरव को बहुउद्देशीय, बहुवर्गीय उपलब्धियों के ऊपर महत्त्व देती है।

जब हम अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इस प्रक्रिया को देखते हैं तो भारत में क्षेत्रीय आधार पर जन्मे हुए विविध दलों की स्थापना अथवा यहाँ के राजनीतिक दलों में जो क्षेत्रीय खिंचाव हैं, उनसे हम विमुख नहीं हो सकते। इस पर यह भी ध्यान देने की आवश्यकता है कि भारत इतना बड़ा देश है कि वहाँ स्वाभाविक रूप से एक विचारधारा सम्भव नहीं है। हजारों वर्षों से विभिन्न भौगोलिक, राजनीतिक अथवा जातिगत विशेषताओं के कारण विभिन्न प्रकार की धारणाएँ बन गयी हैं, जो जनमानस को प्रेरित करती रहती हैं और उनसे ऊपर उठना राजनीतिक दलों के लिए सम्भव नहीं है। पर यदि भारत के लोगों में यह बात न होती तो सम्भवतः भारत का इतिहास अधिक सुसंगठित होता पर उसमें वह विविधता न होती, वह रंगीनी न होती जिसका नाम भारत है।

राजनीतिक उद्देश्यों को लेकर विचार-भेद होना स्वाभाविक है, परन्तु यह तो ऐसा देश है जहाँ धर्म को लेकर भी एकमत नहीं हो सका। वैदिक धर्म वेदों के ऊपर आधारित है, जिसका अर्थ यह हुआ कि प्रारम्भ से ही ज्ञानवादी, कर्मवादी, मायावादी और विज्ञानवादी

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

चार विभिन्न तत्त्वों का पृथकत्व स्वीकार कर लिया गया। उपनिषदों ने उनकी व्याख्या कर नये-नये सिद्धान्त स्थापित किये और प्रत्येक सिद्धान्त के पीछे एक मतवाद खड़ा हो गया। जब इन सबको समन्वित करने के लिए और दैनिक चर्या को संगठित करने के लिए स्मृतियों का प्रतिपादन हुआ तो स्थान-विशेष की मान्यताओं के आधार पर मनु-स्मृति, आपस्तम्भ स्मृति अथवा याज्ञवल्क्य स्मृति ने विभिन्न दिशा-निर्देश किये और श्रीकृष्ण ने तो श्रीमद्भगवद् गीता में कुछ ऐसे सिद्धान्त प्रतिपादित किये जो उस समय की अनेक विचारधाराओं से पृथक थे। पर यह विविधता शास्त्रीय हिन्दू धर्म तक ही सीमित नहीं है। महात्मा बुद्ध ने हिन्दू धर्म का सुधार करने के लिए बौद्ध संघ की स्थापना की और उनकी मृत्यु भी न हो पायी थी कि उनके सबसे निष्ठावान भक्त और आज की दृष्टि से सबसे सुयोग्य अधिकारी आनन्द को संघ से निकालने के प्रस्ताव ही नहीं, आन्दोलन खड़े हो गये। इसके बाद बौद्ध धर्म महासांघिक, स्थविरवादी (थेरवादी) अथवा महायान और हीनयान तथा उनकी अनेकानेक शाखाओं में विभाजित हो गये। इनके इतिहास पर हम जब जाते हैं तो पता लगता है कि बावजूद इन विभेदों की व्यापकता के, प्रत्येक गुट के पीछे कुछ क्षेत्रीय मान्यता थी। महासांघिक सम्प्रदाय के नेता, महादेव अगर मथुरा के थे तो उनके विरोधी शास्त्रीय बौद्ध धर्म के परिघोषक रेवतक गया के थे। कालान्तर में महायान या महासांघिक सम्प्रदाय उत्तर भारत, अफगानिस्तान, तुर्किस्तान, चीन और जापान का धर्म बन गया और हीनयान दक्षिण भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया का। जब दक्षिण-भारत में शंकराचार्य ने, जो बौद्ध धर्म के विरुद्ध थे, हिन्दू धर्म को पुनः स्थापित करने की चेष्टा की तो बावजूद इसके कि शंकराचार्य ने कन्याकुमारी से लेकर कश्मीर तक अपनी पताका फहरा दी, पर उनके जो उत्तराधिकारी हुए, उनमें आज तक केरल के लोग पाये जाते हैं। इसी प्रकार श्री माधवाचार्य अथवा रामानुजाचार्य ने सारे देश को प्रभावित करने के बाद भी क्षेत्रीय प्रभाव छोड़ा और जब एक अन्य आन्ध्र, श्री स्वामी बल्लभाचार्य गोकुल में आकर बस गये तो वे ब्रज क्षेत्र के ऐसे प्रतिनिधि बन गये थे कि आज उनकी सन्तान ही प्राचीन ब्रजवासी समझी जाती है और उनका प्रभाव कन्नौज से लेकर द्वारिका तक फैल गया।

भारत के जो राजनीतिक दल हैं, वे भी अपने जन्मदाताओं के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सके हैं और 1969 में जब कांग्रेस का विभाजन हुआ तो उसका आधार भी आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों पर कम, क्षेत्रीय अधिक था। कश्मीर, पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश और बिहार के बहुत बड़े भाग ने श्रीमती गाँधी का नेतृत्व स्वीकार किया और तमिलनाडु, मैसूर, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल तथा गुजरात ने संगठन कांग्रेस का। दूसरा दल स्वतन्त्र है जिसका क्षेत्रीय आधार बम्बई नगर, गुजरात, राजस्थान तथा उड़ीसा है। जहाँ तक साम्यवादी दलों का सम्बन्ध है, कोई भी साम्यवादी दल उत्तर भारत की मुख्य भूमि पर अपना स्थान नहीं बना सका है। उसका परिणाम यह हुआ है कि साम्यवादी दल का नेतृत्व पश्चिमी बंगाल, महाराष्ट्र, आन्ध्र या तमिलनाडु के हाथ में रहा है और साम्यवादी दल उत्तर भारत में स्थापित सरकार के विरुद्ध एक क्षेत्रीय दल के रूप में अधिक संगठित है। खास तौर पर दिल्ली के शासन की विरोध की जो भावना बंगाल में अथवा तमिलनाडु में राजनीतिक दलों द्वारा उपयोग में लायी जाती है, उसके पीछे यह ज्ञान भी है कि यहाँ की जनता चाहे वह जरासंध का काल रहा हो अथवा शशांक का, दिल्ली और कन्नौज में स्थापित राज्यसत्ता का उसी प्रकार विरोध करती रही है, जिस प्रकार सातवाहनों से

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

लेकर विजयनगर बहमनी अथवा पेशवाओं के काल तक महाराष्ट्र और आन्ध्र का एक हिस्सा दिल्ली या कन्नौज की सरकार को चुनौती देने की सोचता रहा है। कांची के चोल राजाओं और मान्यखेट के सम्राटों की यह इच्छा रही है कि उनके हाथी घोड़े गंगा और यमुना का पानी पियें और आज भी उनके उत्तराधिकारी चाहे वे इण्डीकेट में हों, सिण्डीकेट में हों, चाहे स्वतन्त्र दल में और चाहे अन्य किसी दल में अपने-अपने क्षेत्रों में इन ऐतिहासिक सन्दर्भों और उनसे जनित भावनाओं का यदि शोषण नहीं, तो पोषण अवश्य करते रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि तमिलनाडु में द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम को शक्ति मिली, महाराष्ट्र में शिवसेना का प्रादुर्भाव हुआ और बंगाल तथा आन्ध्र में मार्क्सिस्ट साम्यवादी दल बंगालियों और आन्ध्रों के उत्तर भारत विरोध का एक प्रतीक बन गये। पश्चिमी बंगाल के आन्दोलनों में समाचारपत्रों में जब ऐसे प्रसंग आते हैं तो पता लगता है कि इन दलों की अपील आर्थिक है अथवा क्षेत्रीय।

यदि दक्षिण भारत व बंगाल के क्षेत्रीय आन्दोलन उत्तर भारत के तथाकथित प्राधान्य के प्रति असन्तोष से अनुप्राणित हैं तो स्वयं उत्तर भारत में जातिगत विषमताओं ने अन्तर्द्वन्द्व पैदा कर दिये हैं और यह सारे अन्तर्द्वन्द्व विभिन्न राजनीतिक दलों में परिलक्षित होते हैं। भारतीय क्रान्ति दल के उदय को पश्चिमी उत्तर प्रदेश के परिप्रेक्ष्य में समझने के साथ-साथ इस दृष्टि में भी समझना आवश्यक है कि इस दल को उन जातियों जैसे अहीरों, जाटों, गूजरों और मुसलमानों का समर्थन प्राप्त हुआ, जो यह समझती थीं, कि हमारी कांग्रेस में अथवा जनसंघ में उपेक्षा हो रही है। संयुक्त समाजवादी दल की उत्तर प्रदेश और बिहार में सफलता का एक बड़ा आधार यह था कि उन्होंने इन वर्गों की उपेक्षा की शिकायत की। डा० लोहिया की इलाहाबाद जिले के अहीरों से यही अपील होती थी कि जब तक वर्तमान सरकार कायम है, नौकरी कश्मीरी पण्डित के लड़के को मिलेगी, अहीर के लड़के को नहीं और इस बल पर उन्होंने उस वर्ग का जो देहात में, सामाजिक दृष्टि से उपेक्षित रहा है, पर जिसके अब अर्थ-बल भी है और जन-बल भी, उसकी सहानुभूति प्राप्त की। बिहार की राजनीति में तो जातियों का बड़ा हिस्सा रहा है। संगठन कांग्रेस यदि वहाँ भूमिहारों और राजपूतों की सम्मिलित शक्ति का प्रतीक बन गयी तो अन्य दल अन्य जातियों के केन्द्र बन गये। यहाँ तक कि साम्यवादियों ने भी इन जातिगत विशेषताओं से लाभ उठाया। इन जातिगत जोरों का यह प्रभाव पड़ा है कि संसोपा में श्री जोशी और श्री मधु लिमये जैसे नेताओं को पिछली सीट लेनी पड़ी क्योंकि अपने समस्त इतिहास, बौद्धिक योग्यताओं तथा त्याग के पश्चात् भी वे उन जातियों का प्रतिनिधित्व नहीं करते, जिनका संयुक्त समाजवादी दल में बहुमत है। यह प्रक्रिया हरेक दल में किसी न किसी रूप में दिखाई देती है। हरियाणा की राजनीति में श्री बंसीलाल की विजय और श्री भगवतदयाल शर्मा की पराजय इसका प्रतीक है। पंजाब में साम्प्रदायिक अनुपात ने तो जाति समस्या को पीछे डाल दिया है, लेकिन अकाली दल और जनसंघ की राजनीति ही सम्प्रदायों की राजनीति हो गयी है। कांग्रेस की यह विडम्बना हो गयी है कि नगर में उसे हिन्दुओं का और गाँवों में सिखों का सहयोग लेना पड़ता है और इस द्वैत्य के कारण उसकी शक्ति क्षीण हुई है। कभी उसे अकाली दल का विरोध और कभी उसका समर्थन करना पड़ा है।

उपर्युक्त घटनाएँ इस बात का पर्याप्त प्रमाण हैं कि केवल राजनीतिक अथवा आर्थिक आधार पर चलने वाले राजनीतिक दल इस देश में कठिनाई अनुभव करेंगे। यद्यपि जनसंघ एक विशिष्ट राजनीतिक दृष्टिकोण को प्रकट करता है और उसके समर्थकों में उत्तर भारत,

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

पंजाब तथा महाराष्ट्र के लोग काफी संख्या में हैं, फिर भी उसे सारे देश में स्थान नहीं प्राप्त हो सका है। इसी प्रकार से उत्तर भारत में साम्यवादी समर्थक तो लोकप्रिय हैं पर स्वयं साम्यवादियों को समर्थन नहीं मिला है। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि जिस उत्तर भारत की कांग्रेसी सरकार के विरुद्ध जनभावना का लाभ उठाकर द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम ने तमिलनाडु में अपना स्थान बनाया है, वह आज उत्तर भारत के ब्राह्मण प्रधानमन्त्री के अधिक निकट है और मद्रास के तमिल कामराज नाडार और उनके संगठन के सबसे अधिक दूर है। स्पष्ट है कि भारत जैसे विभिन्न प्रवृत्तियों वाले देश में एक सामान्य आधार पर राजनीतिक संगठन सम्भव नहीं है। यह सब जानते हैं कि सत्तारूढ़ कांग्रेस और संगठन कांग्रेस के आर्थिक और राजनीतिक सिद्धान्त एक हैं परन्तु इस समय देश में इन दोनों दलों से बढ़कर कोई एक दूसरे का विरोधी नहीं है। दूसरी ओर स्वतन्त्र और जनसंघ जैसे दल भी जनता को आकर्षित करने के लिए अपने आर्थिक कार्यक्रमों को वैसा ही करने जा रहे हैं, जैसा कांग्रेस का कार्यक्रम है। जहाँ तक रक्षा नीति का सम्बन्ध है, देश में इस दिशा में सबसे कट्टर नीति जनसंघ की ही कही जायेगी। वे अणु बम का निर्माण चाहते हैं परन्तु जनसंघ के अध्यक्ष, श्री अटलबिहारी वाजपेयी को यह विश्वास है कि चुनावों से पहिले श्रीमती गाँधी स्वयं अणु बम बना लेंगी और आज यह नौबत आ गयी है कि श्रीमती गाँधी को इससे इन्कार करना पड़ा। परन्तु उनके दल के अत्यन्त सक्रिय सदस्य श्री कृष्णकान्त और श्री विभूति मिश्र इस विचार के समर्थक हैं। कांग्रेस विदेशी सम्बन्धों में वार्ताओं की समर्थक है और अब श्री अटलबिहारी वाजपेयी भी कहने लगे हैं कि श्री याहिया खाँ से बुलाकर बातचीत की जाय। दो वर्ष पहले अगर उनके मुँह से ऐसी बात सुनी जाती तो यह कुफ्र माना जाता। जनसंघ ने भूमि की न्यूनतम सीमा निर्धारित करने की माँग की हैं। अब उसके इस कार्यक्रम को साम्यवादियों की माँग से कैसे भिन्न किया जाये ?

भारत, ब्रिटेन की दो पार्टियों की स्थिति में तो नहीं आ रहा है पर वह अमरीका की इस स्थिति में जरूर ही आ गया है जबकि प्रायः हरेक राजनीतिक दल के एक से ही आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रम होंगे और दल के समर्थन का आधार उसके कार्यक्रमों की विशेषता न होकर यह रह जायगा कि उस दल का नेतृत्व और दल के साधारण कार्यकर्त्ता किस क्षेत्र के हैं और किस वर्ग की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, किन-किन लोगों को अपने साथ ले जाने में समर्थ हैं। हम चाहे इसे पसन्द करें या न करें, भारत की राजनीति आज गिरते-गिरते इस मोड़ पर पहुँच गयी है और जब तक कि भारत के राजनीतिक जीवन में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं आता, इसी प्रकार की चाल जारी रहेगी।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

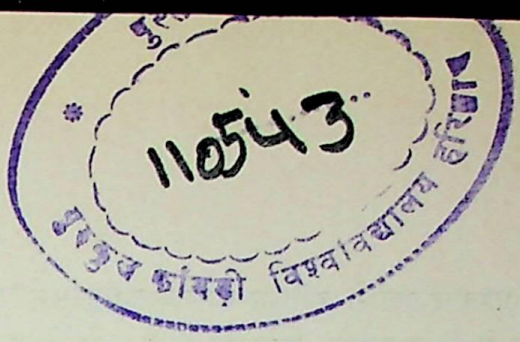

जनसंघ और भारतीय राजनीति

चन्द्र प्रकाश भांभरी व मोहनलाल शर्मा

जन आकांक्षाओं एवं आदर्शों को शासन तन्त्र के माध्यम अथवा सहयोग से मूर्त्त रूप देने के प्रयासों में दलीय शासन व्यवस्था की अनिवार्यता अन्तर्निहित है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि राजनीतिक दल जन आकांक्षाओं (मुखर तथा प्रतिभासित) की प्रकृति के अनुरूप ही संगठन व्यवस्था की सृष्टि या विस्तार करते हैं। अपितु कोई राजनीतिक दल किसी चिन्तक या कुछ कर्मशीलों के ऐसे आदर्शों व महत्त्वाकांक्षा का परिणाम भी हो सकते हैं जिनके अनुरूप ढली सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था में ही मानव समाज की सार्थकता एवं मांगल्य की सम्भावना प्रतीत होती हो। उक्त सन्दर्भ में राजनीतिक दल एक प्रबोधक के रूप में भी प्रस्तुत हो सकते हैं, जो जन शिक्षा के आधार पर जन-आकांक्षाओं एवं आदर्शों को पूर्व निश्चित आदर्शों के अनुरूप ढालने के प्रयास द्वारा संगठन का विस्तार करते हैं। इस व्यापक जन-समर्थन के बल पर शासन को भी अपने आदर्शों के अनुरूप बनाने का ऐसे दलों का प्रयास होता है।

इस दृष्टि से राजनीतिक दलों के अध्ययन में केवल संगठन एवं कार्य-प्रणाली का ही नहीं अपितु विचारधारात्मक परिप्रेक्ष्य में घोषित कार्यक्रमों और तदनुसार अपनायी गयी समस्त नीति एवं तकनीकों का अध्ययन भी समाविष्ट हो जाता है।[1] क्योंकि अन्तिम रूप से समर-नीति और तकनीक ही यह निर्धारित करते हैं कि किसी दल की विचारधारा जनता के किस वर्ग तक और कितनी व्यापकता के साथ पहुँच पायी है और उनका समर्थन कर पायी है।

इस सन्दर्भ में यह भी द्रष्टव्य है कि दलीय व्यवहार कहाँ तक विशुद्ध विचारधारा से प्रेरित है, एवं कहाँ तक सामाजिक, राजनीतिक यथार्थ से साक्षात्कार एवं तज्जन्य प्रतिक्रिया का परिणाम हैं। वस्तुतः राजनीतिक दल अपनी विचारधारा के प्रसारण हेतु संगठन का ही प्रयोग नहीं करते, अपितु सत्तारूढ़ होने के लिए भी सचेष्ट रहते हैं। उनकी दृष्टि में शासन के माध्यम

---

[1] राजनीति शास्त्र वेत्ताओं में विचारधारा के अध्ययन की उपयुक्तता के बारे में काफी मतभेद रहा है। पश्चिम में राजनीति शास्त्र वेत्ताओं का एक वर्ग विचारधारा का अध्ययन अप्रासंगिक मानता रहा है। डेनियल बेल ने 'द एण्ड ऑफ आइडियालाजी' में यहाँ तक मत अभिव्यक्त किया है कि औद्योगीकरण के बढ़ते हुए प्रभाव ने विचार-धारा को दलीय-व्यवस्था के सन्दर्भ में निरर्थक करार दिया है।

परन्तु विकासोन्मुख राष्ट्रों में राजनीति शास्त्र वेत्ता इस मत से असहमत रहे हैं। स्वयं पश्चिम में पुनः विचारधारा की अनिवार्यता स्वीकारी जाने लगी है। इस सन्दर्भ में विस्तार के लिए देखिये—डा० सी० पी० भाम्भरी, 'आइडियालॉजी एण्ड द स्टडी ऑफ पोलिटिकल पार्टीज इन इण्डिया,' इकानॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, 30 अप्रैल, 1968।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

से अधिक प्रभावी रूप में वांछित समाज-रचना सम्भव हो सकती है। इस प्रयास में जन समर्थन के विस्तार के लिए बहुधा समझौते किये जाते हैं तथा समरनीति व तकनीक बदली जाती है। इसका निश्चित प्रभाव कार्यक्रमों व दल की प्राथमिकताओं पर होता है।

प्रस्तुत लेख इन्हीं उपर्युक्त आधारों पर भारतीय जनसंघ के अध्ययन का एक प्रयास है। यहाँ द्रष्टव्य यह है कि जनसंघ के उद्‌भव व इसकी विचारधारा का सन्दर्भ क्या रहा है? विचारधारा के स्रोत व प्रकृति क्या है? उनके प्रसार हेतु जनसंघ किस रूप में व कहाँ तक सचेष्ट रहा है? या दूसरे शब्दों में उसकी समरनीति, तकनीक क्या रही है तथा दोनों की प्रभावशीलता क्या रही है? भारतीय दल-व्यवस्था में, चारों आम चुनावों में अपनी सतत प्रगति के साथ ही जो अन्य किसी भी अखिल भारतीय दल के लिए सम्भव नहीं हुआ है[2], जनसंघ का अपना विशिष्ट स्थान रहा है।

जनसंघ ने संगठन पक्ष पर भी उतना ही ध्यान दिया है।[3] भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं व मर्यादा के प्रकाश में राष्ट्र का निर्माण और विकास इस दल का विचारधारात्मक आधार रहा है।

डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी द्वारा हिन्दू महासभा व केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल की सदस्यता

---

[2] निम्न तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि चारों आम चुनावों में विभिन्न अखिल भारतीय राजनीतिक दलों की लोकसभा व विधानसभा में क्या स्थिति रही है--

राजनीतिक दल	1952		1957		1962		1967	
	वि० सभा	लोकसभा	वि० सभा	लोकसभा	वि० सभा	लोकसभा	वि० सभा	लोकसभा
कांग्रेस	2207	364	2008	371	1938	381	1685	279
जनसंघ	30	3	48	4	116	14	267	35
भारतीय साम्यवादी	106	16	176	27	186	29	122	23
मार्क्सवादी साम्यवादी							126	19
स्वतन्त्र	—	—	—	—	166	18	258	44
प्र० सो० पा०	77	8	208	19	159	12	105	13
स० सो० पा०	123	12	—	—	79	6	179	23

स्रोत--आर० चन्डीदास आदि (सम्पादित), 'इण्डिया वोट्स', (पोपुलर प्रकाशन, बम्बई, 1968)।

[3] संगठन की दृष्टि से जहाँ मण्डल और स्थानीय समितियों का विस्तार हुआ है, वहीं सामान्य सदस्य-संख्या भी काफी बढ़ी है। निम्न तालिका से यह स्पष्ट है--

वर्ष	सदस्य-संख्या	स्थानीय समितियाँ	मण्डल समितियाँ
1957	74863	889	243
1958	209702	1787	455
1959	202837	2495	458
1960	215370	2551	494
1961	274907	4313	584
1968	1100000	—	—

स्रोत--मोतीलाल ए० झांगियानी, जनसंघ एण्ड स्वतन्त्र : ए प्रोफाइल ऑफ दी राटिस्ट पार्टीज इन इण्डिया, (मानकतलास, बम्बई 1967) पृष्ठ 38।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

से त्याग-पत्र और उदार भारतीय दृष्टिकोण अपनाने वाले राजनीतिक दल की आवश्यकता की प्रतीति, कांग्रेस से गाँधी, सरदार पटेल, टण्डन आदि भारतीय दृष्टिकोण के प्रतिपादकों का विछोह और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ द्वारा निजी संरक्षण हेतु राजनीतिक मंच की आवश्यकता की प्रतीति, ये कुछ प्रमुख कारण रहे थे, जिन्होंने जनसंघ की स्थापना के लिए उपयुक्त वातावरण की सृष्टि की।[4] इसी आधार पर परस्पर एक दूसरे की आवश्यकता महसूस करते हुए डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के प्रमुख नेताओं (बसन्तराव ओक, बलराज मधोक, आदि) के माध्यम से गुरु गोलवलकर के साथ सम्पर्क स्थापित कर एक नये दल की स्थापना का प्रस्ताव किया। इस समझौते के आधार पर कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एक सांस्कृतिक संगठन है व राष्ट्र के सांस्कृतिक जीवन के पुनर्निर्माण के कार्यक्रमों में यह किसी दल की कठपुतली नहीं बनेगा, व बदले में नये राजनीतिक दल की अपनी सीमाओं का सम्मान करेगा, एक नये दल के गठन का निर्णय लिया गया। 21 अक्तूबर, 1951 को भारतीय जनसंघ नाम से दल की स्थापना की गई।

जैसा कि दल के संविधान से स्पष्ट है, दल का संगठनात्मक ढाँचा अन्य दलों के ढाँचे से विशेष भिन्न नहीं है। राष्ट्रीय स्तर पर दल के चार मुख्य घटक हैं : राष्ट्रीय सम्मेलन, भारतीय प्रतिनिधि परिषद्, कार्य-समिति व केन्द्रीय संसदीय मण्डल। राज्य स्तर पर प्रदेश सम्मेलन, प्रदेश प्रतिनिधि परिषद्, प्रदेश कार्य-समिति व प्रदेश संसदीय मण्डल होते हैं। इनके अतिरिक्त जिला स्तर पर जिला समितियाँ, विकास खण्डों के स्तर पर मण्डल समिति व एक निर्वाचन केन्द्र के क्षेत्र में एक स्थानीय समिति होती है। निम्न-स्तरीय समितियाँ उच्च-स्तरीय समितियों में अपने प्रतिनिधि भेजती है। ये प्रतिनिधि राज्य-स्तर पर जहाँ जिला समितियों द्वारा निर्वाचित होते हैं, केन्द्रीय स्तर पर जिला समितियों के अध्यक्ष और मन्त्री स्वयं प्रतिनिधित्व करते हैं। विभिन्न स्तरीय प्रतिनिधि सभायें अपनी कार्यसमिति का गठन करती हैं, सिवाय इसके कि राष्ट्रीय प्रतिनिधि परिषद् केवल अध्यक्ष का चुनाव करती है व राष्ट्रीय कार्य-समिति के अन्य सदस्यों (अधिकतम 31) का मनोनयन अध्यक्ष द्वारा होता है। यह इसलिए कि दल में अनुशासन बना रहे व कार्य प्रणाली अधिक सुविधाजनक हो सके। केन्द्रीय कार्य-समिति को वह मनोनीत ही नहीं करता है, अपितु उसके निर्णयों को मानने को वह बाध्य भी नहीं है। इस प्रकार कांग्रेस या अन्य दलों के प्रधानों की तुलना में जनसंघ अध्यक्ष काफी शक्तिशाली होता है।

अन्य दलों के संविधानों से भिन्न एक और अन्य विशेषता यह रही है कि जनसंघ की राज्य शाखाओं को काफी स्वायत्तता होती है। यद्यपि केन्द्रीय कार्य-समिति उन्हें निर्देशित व नियन्त्रित करती है, परन्तु वह किसी प्रादेशिक कार्य-समिति को भंग नहीं कर सकती है। राज्य समितियाँ अपने कार्यक्रम व नीति-निर्धारण कर सकती हैं व दल के मूल सिद्धान्तों से विपरीत न होने तक उन्हें क्रियान्वित भी कर सकती हैं, भले ही केन्द्रीय समिति को वे अरुचिकर हों।

दल की साधारण सदस्यता एक निश्चित शुल्क देने पर प्राप्त हो सकती है व एक वर्ष तक दलीय कार्यक्रमों की क्रियान्विति में सक्रिय रहने पर सक्रिय सदस्यता प्राप्त हो सकती है। जैसा कि हमने प्रारम्भ में ही देखा, जनसंघ ने संगठन पक्ष का काफी तेजी से विस्तार किया है, और 1968 में यह सदस्य-संख्या बढ़कर 11 लाख हो गई है। इनमें से अधिकांश सदस्य उत्तर

[4] विस्तार के लिए देखिये उक्त पुस्तक, मुख्यकर प्रथम अध्याय।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, राजस्थान आदि उत्तरी भारत के राज्यों में रहे हैं। 1967 के चुनावों के बाद जनसंघ ने दक्षिण में भी संगठन के विस्तार का प्रयास किया है। जनसंघ का यद्यपि अभी तक तेजी से प्रसार हुआ है, परन्तु नवीनतम सूचनाओं के अनुसार 1969 में संगठनात्मक पहलू में कुछ शिथिलता रही है, परिणामस्वरूप सदस्य-संख्या घटकर नौ लाख के लगभग रह गई है। इसमें से 50000 के लगभग अकेले उत्तर प्रदेश में सदस्य-संख्या कम हुई।

जनसंघ की सदस्य-संख्या सभी वर्गों के लिए खुली है। परन्तु प्रायः हिन्दू ही मुख्यतः इसके सदस्य रहे हैं। इसका प्रमुख कारण हिन्दू साम्प्रदायिक दल के रूप में जनसंघ की अपनी तस्वीर है। परन्तु चौथे आम चुनावों से दल ने जन मानस में अपनी तस्वीर को बदलने का प्रयास किया है। परिणामतः सिक्ख, मुस्लिम आदि अल्पमत समूह भी इसके सदस्य बनने लगे हैं।[5] कई मुस्लिम जनसंघ जिला कार्य समिति में पदाधिकारी हैं, व कई ने जनसंघ टिकट पर चुनाव भी लड़ा है। अकेले देहली में नगर परिषद् के लिए जनसंघ टिकट पर तीन मुस्लिम प्रत्याशी खड़े हुए थे।

व्यावसायिक तौर पर इसके समर्थकों में मध्यम वर्ग के व्यापारी, छोटे व्यापारी, भू-स्वामी, जागीरदार व कुछ महाराजा हैं। अपनी सहयोगी शाखाओं, भारतीय मजदूर संघ और भारतीय विद्यार्थी परिषद् के माध्यम से जनसंघ मजदूरों व विद्यार्थियों में भी समर्थन प्राप्त कर पाया है—विशेषकर उत्तर प्रदेश, राजस्थान एवं पंजाब में (जैसा मध्यावधि चुनावों से प्रकट है) जहाँ उसे भूस्वामी वर्ग का समर्थन मिल सका है। जनसंघ ग्रामीण क्षेत्रों में भी पहुँचा है। परन्तु वहाँ भी नेतृत्व अभी भूस्वामियों व व्यापारिक वर्ग का ही है। यही कारण है कि जहाँ भी कृषक नेतृत्व उभरा (जैसे महाराष्ट्र व एक सीमा तक उत्तर प्रदेश)[6] जनसंघ को वहाँ अपना प्रभाव खोना पड़ा हैं। इसने बिहार में आदिम जनजातियों में भी अपना अच्छा आधार किया है। राज्य कर्मचारी व शरणार्थी वर्गों में भी काफी संख्या में व्यक्ति जनसंघ के साथ रहे हैं।

समर्थकों की विविधता को देखने से स्पष्ट है कि आर्थिक दृष्टि से जनसंघ का आधार किसी एक वर्ग में नहीं है। स्पष्टतः इसका प्रभाव कार्यक्रमों पर भी पड़ना चाहिए, जो स्वभावतः वैसे होंगे कि समर्थक वर्ग कोई अप्रसन्न न हो।[7] जहाँ समर्थक वर्गों का वैविध्य साम-

---

[5] राष्ट्रीय स्तर पर निश्चित संख्या में सामान्य सदस्यों की संख्या या संगठन में अल्पमतीय पदाधिकारियों की संख्या यद्यपि उपलब्ध नहीं है, परन्तु प्रकाशित विभिन्न समाचारों के अनुसार यह स्पष्ट है कि अल्पमत समूह भी सदस्य बनने लगे हैं। जैसे अकेले चाँदनी चौक में 1967 में 2000 मुस्लिम सदस्य थे। दिसम्बर, 1969 में पटना में आयोजित वार्षिक अधिवेशन में पंजाब से सिक्ख प्रतिनिधि व उत्तर प्रदेश तथा काश्मीर से मुस्लिम प्रतिनिधि काफी बड़ी संख्या में थे। इन्हीं अल्पमतीय समूहों को अप्रसन्न न करने के लिए जनसंघ अध्यक्ष वाजपेयी ने पटना अधिवेशन में 'भारतीयकरण' पर बोलते हुए कहा था कि 'मुस्लिम बहुमत' राष्ट्रवादी है परन्तु अभी भी एक बड़े वर्ग की निष्ठा अन्य राष्ट्रों के प्रति है। (द स्टेट्समेन, 31–12–1969)।

[6] उत्तर प्रदेश में जहाँ कि जनसंघ ग्रामीण क्षेत्रों में पहुँचा है, जनसंघ का समर्थन आधार काफी अस्थिर है जो मध्यावधि चुनावों से स्पष्ट है। जनसंघ ने 1967 में प्राप्त 98 स्थानों में से 54 कांग्रेस को व 10 भा० क्रां० द० को खोये।

[7] इसकी चर्चा वैसे आगे विस्तार से होनी है, पर यहाँ यह देखा जा सकता है कि क्यों जनसंघ के आर्थिक कार्यक्रम अस्पष्ट रहते हैं व उसमें हर वर्ग के लिए आश्वासन होते हैं, भले ही वे परस्पर विरोधी हों। देखिये—दिलीप मुकर्जी, व जनसंघ डायलेमा : ग्रोपिंग फॉर ए वायेबल पोलिसी, द टाइम्स आफ इण्डिया, 10–10–1969।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

यिक व्यापक जन समर्थन प्रदान करवा सकता है, वहीं यह किसी दल की कमजोरी भी है। परस्पर एक सूत्र में पिरोये रखने वाला कार्यक्रम न होने पर थोड़े से झटके से सारी मणियाँ बिखर सकती हैं। विशृङ्खलता व बिखराव का यह सिलसिला चतुर्थ आम चुनाव के बाद के काल में हुई कांग्रेस की स्थिति से स्पष्ट है।

नेतृत्व की प्रकृति—जनसंघ का नेतृत्व अपेक्षाकृत उच्च-वर्गीय जातियों से आया है। केन्द्रीय नेतृत्व ही नहीं अधिकांश राज्यों के लिए भी यह कहा जा सकता है। व्यावसायिक दृष्टि से यह नेतृत्व व्यापारिक वर्ग और व्यावसायिक वर्ग से है। यहाँ तक कि व्यापक आधार वाली राष्ट्रीय प्रतिनिधि सभा भी व्यापारिक वर्ग के प्रभाव में है। सन् 1966 की प्रतिनिधि-सभा के बारे में जो सूचना प्राप्त है, उससे यह स्पष्ट है :

तालिका—3

राष्ट्रीय प्रतिनिधि-सभा के सदस्यों का व्यावसायिक वर्गीकरण

व्यवसाय	संख्या	प्रतिशत
व्यापारिक वर्ग	129	40·4
कृषि वर्ग	76	23·9
सेवा कर्मी	31	9·7
व्यावसायिक वर्ग	83	26·0
योग	319	100·0

स्रोत : एम० एम० संखधर, जनरल इलेक्शन इन देहली, पोलिटिकल साइन्स रिव्यू (राजस्थान विश्व-विद्यालय, जयपुर), अंक 6, संख्या 3–4, अंक 7, संख्या 1–2।

मुख्यतः नेतृत्व राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से निकला हुआ है या इसके प्रभाव में है। नवम्बर, 1954 में जबकि तत्कालीन अध्यक्ष मौलिचन्द्र शर्मा ने इस आधार पर त्याग-पत्र दिया था कि दल पर आर० एस० एस० का प्रभुत्व है पार्टी में आर० एस० एस० बनाम गैर-आर० एस० एस० का विवाद उठा। जनसंघ कार्य समिति ने यद्यपि इसका तत्काल प्रतिरोध किया।[8] परन्तु यह स्पष्ट है कि अब तक यह प्रभाव चला आ रहा है। गत वर्ष बलराज मधोक की अपनी यह शिकायत रही थी कि गैर-आर० एस० एस० को महत्त्व नहीं दिया जाता है।[9] परन्तु बलराज मधोक जैसे वरिष्ठ नेता की प्रताड़ना[10] से स्पष्ट हो जाता है कि जनसंघ अभी इस प्रकार के किन्हीं प्रभावों को सहन करने को तैयार नहीं है। इससे यह भी स्पष्ट है कि दल किसी तरह के आंतरिक विद्रोह या मत-वैविध्य की अभिव्यक्ति को सहन करने को तैयार नहीं है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सहयोग व प्रभाव का ही यह परिणाम है कि जहाँ जनसंघ एक विशाल संगठन तैयार कर सका है, वहीं इसे अनुशासित व सुदृढ़ भी रख सका है।

---

[8] मोतीलाल ए० झांगियानी, पूर्व उल्लिखित, पृष्ठ 190–91।

[9] द टाइम्स ऑफ इण्डिया, 11–9–69।

[10] द स्टेट्समैन, 18–9–69।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

इसका तात्पर्य यह नहीं कि जनसंघ में पारस्परिक विरोध न उठा हो। जैसा कि हमने ऊपर देखा, केन्द्रीय नेतृत्व में तनाव रहे हैं। ये ही तनाव देहली[11] व राजस्थान की प्रादेशिक शाखाओं के बारे में भी सुनने में आये हैं। उत्तर प्रदेश में सन् 1968 में विधानसभा क्षेत्र के राज्य-सभा के जनसंघ प्रत्याशी के विरुद्ध दल के सदस्यों का मतदान भी इसी को इंगित करते हैं। इसके अतिरिक्त दल-बदल के रोग से भी सख्त अनुशासन के बावजूद यह दल अछूता नहीं रह सका है यद्यपि यह दल-बदल उतने व्यापक स्तर पर नहीं रहा, जितना कांग्रेस या स्वतन्त्र दल में।

विचारधारा

दल की मुख्य वैचारिक प्रेरणा 'भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं व मर्यादाओं' के प्रकाश में राष्ट्र का निर्माण व विकास करना रहा है। जैसा कि स्पष्ट करते हुए पं० दीनदयाल उपाध्याय ने कहा है, 'हमारा विचार है कि भारतीय परम्पराओं, संस्कृति और विरासतों की उपेक्षा कर भारतीय राजनीति को विदेशों से आयातित विचारों की दिशा में मोड़ने का प्रयास किया गया है। अतः (जनसंघ के रूप में) राष्ट्र के अन्दर से ही वैचारिक प्रेरणा प्राप्त करने वाली पार्टी आवश्यक हो गयी थी।'[12]

स्पष्ट है कि जनसंघ का वैचारिक प्रेरणा स्रोत भारत का गौरवमय अतीत है। दल के अनुसार भारतीय राष्ट्र का निर्माण व इसकी प्रगति की कुंजी पाश्चात्य पूँजीवादी या साम्यवादी विचारों में नहीं, अपितु भारतीय जीवन-दर्शन और भारतीय संस्कृति में निहित है। इसका स्पष्ट अभिप्राय है कि राष्ट्र की प्रगति और राष्ट्र के कल्याण का मूल तत्त्व पश्चिम की भौतिकवादी चकाचौंध में नहीं अपितु आध्यात्मिक परम्पराओं के अनुसरण में है। बाद के वर्षों में जनसंघ ने इस मान्यता को और भी स्पष्ट करते हुए माना कि इसका तात्पर्य आर्थिक कार्यक्रमों की उपेक्षा नहीं है। वस्तुतः भौतिक समृद्धि के बिना आध्यात्मिक मुक्ति सम्भव नहीं है।[13]

सशक्त एवं एकात्मक राष्ट्र का गठन जनसंघ का एक अन्य प्रमुख लक्ष्य रहा है। दल के विचार में भाषा, धर्म एवं क्षेत्रीयता एक राष्ट्र की सामूहिक शक्ति को विभाजित करते हैं। इसी प्रकार संघीय संविधान भी राष्ट्रीय एकता की भावना के प्रतिकूल माना गया है क्योंकि इससे केन्द्र व राज्यों में प्रतिद्वन्द्विता पनपती है व केन्द्र कमजोर होता है। परन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'एक संस्कृति' की धारणा है। चूँकि प्रेरणा स्रोत अतीत है, अतः अतीत के प्रति निष्ठावान ही सच्चे भारतीय हैं। इसी से विचारों की एकरूपता व क्रियाओं की एकरूपता सम्भव है। इसी परिप्रेक्ष्य में जनसंघ के 'भारतीयकरण' के नारे को समझा जा सकता है। इसके अनुसार सम्प्रदाय विशेष, जिनकी निष्ठा के केन्द्र भारत की सीमाओं से बाहर हैं, वे राष्ट्र के प्रति समग्र निष्ठा नहीं रख सकते। यह एकात्मक निष्ठा एक संस्कृति के प्रमाणीकरण से

---

[11] द स्टेट्समैन, 12-4-69 व 17-9-69।

[12] मोतीलाल ए० झांगियानी, पूर्व उल्लिखित, पृष्ठ 9।

[13] सिद्धान्त और नीतियाँ, सन् 1964 शीर्षक से जनसंघ के विजयवाड़ा अधिवेशन में स्वीकृत नीतियों सम्बन्धी विज्ञप्ति, पृष्ठ 3।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

ही सम्भव है। यह संस्कृति भारतीय संस्कृति या दूसरे अर्थों में हिन्दू संस्कृति है।[14] इस प्रकार सक्षम राष्ट्र के निर्माण हेतु जहाँ एक संस्कृति के प्रति निष्ठा आवश्यक है, वहीं संविधान की एकात्मकता भी आवश्यक है। इसी सन्दर्भ में चीन व पाकिस्तान के प्रति कड़ा रुख, सीमा-सुरक्षा के प्रति शासकीय प्रयासों की शिथिलता के प्रति असन्तोष व कश्मीर के विशिष्ट दर्जे के विरोध की जनसंघ की नीति देखी जा सकती है।

जनसंघ देश में जनतन्त्रात्मक व्यवस्था का समर्थक है। यह व्यवस्था राजनीतिक अभिप्राय में ही नहीं अपितु सामाजिक व आर्थिक अभिप्राय में भी है। वस्तुतः जनतन्त्र पर विभाजित रूप में न तो विचार किया जा सकता है और न उसे क्रियान्वित ही। व्यक्ति को जहाँ मत-अभिव्यक्ति, प्रतिनिधियों को चुनने व स्वयं चुने जा सकने के अधिकार चाहिएँ वहीं आर्थिक अभिप्राय में व्यावसायिक व उपभोग सम्बन्धी स्वतन्त्रता भी आवश्यक होती है। सामाजिक अभिप्राय में जनतन्त्र में बिना कार्य विचार के सबको समान स्थान प्राप्त हो। प्रयास यह होना चाहिए कि उक्त सभी अधिकार परस्पर पूरक रहें न कि विरोधी। परन्तु यह तभी सम्भव है जबकि पूँजीवादी जनतान्त्रिक अथवा समाजवादी जनतान्त्रिक विचारधारा से परे रहा जा सके।

आर्थिक जनतन्त्र की विचारधारा के अन्तर्गत जनसंघ राष्ट्रीय आयोजन को स्वीकार करता है परन्तु सार्वजनिक क्षेत्र को दिये जाने वाले महत्त्व व समाजवादी ढाँचे की वार्ताओं के प्रति यह उतना ही सशंकित है, क्योंकि इससे आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण व दुरुपयोग पर रोक नहीं लगती अपितु केवल स्वरूप परिवर्तित होता है। राज्य का स्वामित्व उतना ही दोषपूर्ण है, जितना वैयक्तिक। इसके निराकरण हेतु सामाजिक नियन्त्रण व औद्योगीकरण के स्वरूप में परिवर्तन वांछनीय है। इसके लिए पूँजी विनियोग वाले उद्योगों की अपेक्षा श्रम विनियोग उद्योग का महत्त्व अधिक होता है। इसी में बेकारी समस्या का हल सम्भव है।[15]

इसी कारण जनसंघ राष्ट्रीय आयोजन की अनिवार्यता को स्वीकारते हुए भी इसके वर्तमान स्वरूप का आलोचक रहा है। आलोचना का एक अन्य आधार कृषि है। वर्तमान राष्ट्रीय आयोजन जनसंघ के मत में कृषि क्षेत्र के मुकाबले औद्योगिक क्षेत्र को महत्त्व देता है। इसका परिणाम खाद्यान्न का अभाव ही नहीं अपितु बेकारी व कर भार में वृद्धि के रूप में स्पष्ट है। भूमि सुधार कृषि के विकास का अनिवार्य अंग माना गया है। परन्तु यहाँ जनसंघ भूस्वामी व कृषक दोनों के समान सम्बन्धों को स्पष्ट करने के स्थान पर दोनों को सन्तुष्ट रखने के लिए अधिक सचेष्ट प्रतीत होता है। तदनुसार जहाँ यह सीलिंग के पक्ष में है व 'जमीन जोतने वाले की' के सिद्धान्त से सहमत है, वहीं जमींदारों को उचित मुआवजे के सिद्धान्त को स्वीकारता है। जनसंघ कृषकों के मनमाने विस्थापन arbitrary ejection के भी विरुद्ध है।[16] परन्तु मनमाने विस्थापन से क्या अभिप्राय है इसे अस्पष्ट ही छोड़ दिया गया है।

जनसंघ व समाज व्यवस्था

जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है जनसंघ समाज के विभाजित स्वरूप को नहीं स्वीकार

---

14 दीनदयाल—द कान्फ्लिक्ट ऑफ कल्चर्स, डा० के० एल० कमल द्वारा उद्धरित, पार्टी पोलिटिक्स इन एन इण्डियन स्टेट, (एस० चन्द एण्ड कम्पनी), पृष्ठ 151।

15 दीनदयाल उपाध्याय—पोलिटिकल डायरी, (जेको प्रकाशन, 1968), पृष्ठ 33।

16 जनसंघ चुनाव घोषणा-पत्र, सन् 1967।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

करता है यद्यपि कहा जाता है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ वर्णाश्रम धर्म को मानता है व इसी आधार पर जातिव्यवस्था को भी उचित ठहराता है।[17] जनसंघ को आर० एस० एस० की राजनीतिक शाखा के रूप में माना जाकर इस दल पर भी वही आरोप लगाया जाता रहा है। परन्तु अटल बिहारी वाजपेयी व दल के अन्य नेताओं ने संसद में व संसद के बाहर इसका प्रतिवाद किया हैं।[18] उनके अनुसार जनसंघ जातीय भेदभाव या नारियों के प्रति भेदभाव को अस्वीकारता है।

समाज के संस्कारीय संस्तरण (रिचुअल हाइरार्की) को अस्वीकारने से भी आगे जनसंघ की माँग शिक्षा के समस्त नवीनीकरण की है। शिक्षा में चरित्र-निर्माण व मूल्यों के प्रसार की उपेक्षा ने राष्ट्र के समक्ष शोचनीय स्थिति प्रस्तुत की है। इतनी ही शोचनीय स्थिति दल के अनुसार राष्ट्रभाषा की उपेक्षा के कारण हुई है। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने से जहाँ शिक्षा का स्तर प्रभावित हुआ है, वहीं भावात्मक एकता के मार्ग में भी बाधाएँ खड़ी हुई हैं।

जनसंघ व अल्पमत समूह

जनसंघ की विचारधारा का सर्वाधिक विवादग्रस्त स्थल अल्पमत समूहों का भारतीय समाज में स्थान को लेकर रहा है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, जनसंघ के एकात्मक राष्ट्र के स्वरूप में संस्कृति भी एकात्मक ही है। परिणामतः महापुरुष, मूल्य व्यवस्था आदि सर्वमान्य व एक होने आवश्यक हैं। यद्यपि डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी के हिन्दू महासभा से अलग होने का आधार ही अल्पमतों के लिए महासभा के दरवाजे खुले रहने की माँग का ठुकराया जाना रहा है तथा जनसंघ की स्थापना के समय भी भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं के दल को वैचारिक आधार होने पर भी अल्पमत समूहों के अस्तित्व को नकारने जैसी कोई भावना नहीं रही है। उन्हें पूजा व विश्वास की स्वतन्त्रता तथा अन्य राजनीतिक अधिकार समान रूप से देने के लिए जनसंघ सहमत है, परन्तु राष्ट्रीय सांस्कृतिक जीवन में अलग विशिष्ट स्थान के लिए नहीं, क्योंकि एक राष्ट्र में एक ही संस्कृति सम्भव है। अतः दुर्योग से आये इस अलगाव को दूर कर एकात्मक संस्कृति का निर्माण जनसंघ का उद्देश्य है। इसी दृष्टि से यह दल सभी वर्गों के लिए एक सिविल कोड को आवश्यक मानता है।

जनसंघ के नेता इस तथ्य के कटु आलोचक रहे हैं कि अन्य दल विभिन्न वर्गों की एक-रूप संस्कृति के विकास के स्थान पर उन वर्गों की अपनी विशिष्ट संस्कृति बनाये रखने व उसे बढ़ावा देने की ओर अभिमुख हैं।[19] फलतः अराष्ट्रीय या राष्ट्र-विरोधी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन

---

[17] लिंक, 24 मई, 1970।

[18] इस सन्दर्भ में दल की मूल नीति की विवेचना करते हुए पं० दीनदयाल उपाध्याय ने लिखा है—इन दो दलों में (रामराज्य परिषद् व भारतीय जनसंघ) रामराज्य परिषद् अधिक पुरातनवादी दल है व सभी प्रकार के सामाजिक व आर्थिक सुधारों का विरोधी है। जनसंघ दयानन्द और तिलक की सुधारवादी परम्पराओं का जिनमें सामाजिक व आर्थिक दोनों ही क्षेत्रों का सुधार सम्मिलित है, समर्थक है। पं० दीनदयाल उपाध्याय, पूर्व उल्लिखित, पृष्ठ 131।

[19] उदाहरणार्थ, देहली में सन् 1961 में आयोजित मुस्लिम सम्मेलन को प्राप्त विभिन्न दलों के समर्थन के बारे में जनसंघ नेता अटल बिहारी वाजपेयी ने कहा था—कांग्रेस, साम्यवादी दल, प्रसोपा सभी ने अपने सदस्यों

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

मिलता है क्योंकि राष्ट्र के प्रमुख समुदाय से अलग रहकर ये वाह्य तत्त्वों के प्रति अपनी निष्ठा अभिव्यक्त करते हैं।

उक्त विचारधारा के प्रतिपादन के कारण समय-समय पर होती रही आलोचनाओं के बावजूद संघ की अपनी यह मान्यता दृढ़तर होती गयी है। अक्तूबर 1969 में पटना में आयोजित संघ के सोलहवें अधिवेशन में भारतीयकरण के नारे के रूप में इसे एक निश्चित स्वरूप दिया गया। अधिवेशन में आन्तरिक स्थिति पर पारित प्रस्ताव में कहा गया कि राष्ट्र में व्याप्त सम्प्रदायवाद व साम्यवाद जन्य अराजकता को दूर करने के लिए (1) राष्ट्रवाद की सही परिप्रेक्ष्य में परिभाषा व (2) भारतीयकरण जिसके अन्तर्गत सर्वप्रथम व सर्वोपरि राष्ट्र के लिए निष्ठा हो, आवश्यक है। भारतीयकरण को स्पष्ट करते हुए कहा गया कि किसी भी नागरिक की निष्ठा भारत के प्रति हो न कि किसी क्षेत्र, भाषा या धर्म के प्रति हो। उक्त प्रस्ताव में प्रारम्भ में मुस्लिम वर्ग का स्पष्ट उल्लेख था जिसका औचित्य यह स्पष्टीकरण था कि 93 प्रतिशत मुसलमानों ने पाकिस्तान निर्माण से पूर्व मुस्लिम लीग के पक्ष में मत दिया था।[20] परन्तु प्रस्ताव पर विचार के समय कुछ मुस्लिम सदस्यों के विरोध के कारण मुस्लिमों के स्पष्ट उल्लेख को हटा दिया गया। अध्यक्ष पद से वाजपेयी ने और भी स्पष्ट किया कि हमारे मत में अधिकांश मुसलमान राष्ट्रवादी हैं। परन्तु उन्होंने साथ ही यह भी कहा कि हम किसी को धर्म के नाम पर राष्ट्र की सुरक्षा को खतरे में डालने नहीं देंगे।[21]

भारतीयकरण ने इस नारे में मुस्लिम ही नहीं साम्यवादी जो रूस या पेकिंग से प्रेरणा प्राप्त करते हैं तथा उपराष्ट्रवादी (क्षेत्र, भाषा आदि के आधार पर) भी सम्मिलित किये गये हैं, क्योंकि राष्ट्र की शक्ति इससे और कमजोर होती है।

इस नारे के कारण जनसंघ दल को अन्य राजनीतिक दलों की विशेषकर कांग्रेस (इन्दिरा) व वामपंथी दलों की कटु आलोचना का भागी वनना पड़ा है। कइयों ने इसे फैनेटिक व फासिस्ट व्यवहार की संज्ञा दी है। इससे अल्पमत भी सशंकित हुआ है। दूसरे अतीत से प्रेरणा प्राप्त करने व भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं के निर्वहन की घोषणाओं से दल को पुरातनपंथी व प्रतिक्रियावादी के विशेषण प्राप्त हुए हैं। जनसंघ इन्हें स्वीकार नहीं करता है। पार्टी के अनुसार संघ का 'धर्म राज्य' महात्मा गाँधी के 'राम राज्य' जैसा ही है। तथा यदि गाँधी जी रहे होते या उनकी विचारधारा कांग्रेस ने अपनायी होती तो जनसंघ की आवश्यकता न हुई होती।[22] यद्यपि यह सत्य है कि गाँधी जी भी रामराज्य की स्थापना चाहते थे। परन्तु उनके व जनसंघ के दृष्टिकोण में दो बिन्दुओं पर स्पष्ट मतभेद है। प्रथम, पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए महात्मा गाँधी जितने आतुर व सचेष्ट थे जनसंघ के विचारों में वह

को इस सम्मेलन में भाग लेने भेजा था। इस सम्मेलन में आरोप लगाये गये कि मुस्लिमों को द्वितीय श्रेणी का नागरिक माना जाता है व शासन, शिक्षा, व्यापार में उनके साथ सुनियोजित रूप से भेदभाव बरता जाता है। मेरा गृह मन्त्री से प्रश्न है—क्या सम्मेलन में दिये गये भाषण व निर्णय राष्ट्र में साम्प्रदायिक भावना का प्रसार नहीं करते ? यदि हाँ, तो क्यों नहीं अभी तक उनके खिलाफ कोई कदम उठाया गया। मोतीलाल ए० झांगियानी, पूर्व उल्लिखित, पृष्ठ 101।

[20] दी टाइम्स ऑफ इण्डिया, 29 अक्टूबर, 1969।

[21] दी स्टेट्समैन, 31 अक्टूबर, 1969।

[22] मोतीलाल ए० झांगियानी, पूर्व उल्लिखित, पृष्ठ 210।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

आतुरता कहीं नहीं झलकती है। द्वितीय, भारतीय समाज में अल्पमतों के स्थान के बारे में गाँधी जी स्पष्ट थे कि मुस्लिम इसी समाज के अभिन्न अंग हैं और कि पूजा, उपासना पद्धति अलग होने से उनकी निष्ठा पर शंका नहीं की जा सकती। जनसंघ का दृष्टिकोण इससे भिन्न है यद्यपि कि इतना भिन्न नहीं जितना अन्य राजनीतिक दल प्रस्तुत करते हैं। (जनसंघ अध्यक्ष वाजपेयी ने जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, मुस्लिमों के एक वर्ग को ही बाह्य शक्तियों के प्रति निष्ठावान् माना है।)

जनसंघ की विचारधारा में सन् 1967 के आम चुनावों के बाद स्पष्ट नये मोड़ प्रतीत होते हैं। किन स्थितियों के दबावों से ये मोड़ आये उनकी विवेचना यद्यपि आगे की जाती है, यहाँ यह पर्याप्त है कि ये मोड़ सर्वप्रथम दिसम्बर 1967 में कालीकट में आयोजित वार्षिक अधिवेशन से दृष्टिगत हुए।[23] जनसंघ के अध्यक्ष पद से पण्डित दीनदयाल उपाध्याय ने हिन्दी के प्रति आग्रह यहाँ तक सीमित किया कि गैर-हिन्दी भाषियों पर हिन्दी न थोपी जाये। सन् 1969 के पटना अधिवेशन में ये मोड़ और भी स्पष्ट हुए, जबकि वाजपेयी ने 'मध्यम मार्ग' पर चलने की घोषणा की।[24] छोटी जोतों वाले कृषकों को ऋण सहायता, सीलिंग कानूनों की क्रियान्विति, फसल व पशु बीमा योजनाओं की घोषणा, मजदूरों के लिए औद्योगिक प्रबन्ध, व लाभ में हिस्से की माँग, ग्रामीण व निर्धन वर्गों को आवास की सुविधा आदि कार्यक्रमों की स्वीकृति द्वारा जनसंघ का प्रयास रहा है कि अपने को पूँजीपतियों व भूस्वामियों के हितों का प्रेषक होने के आरोपों की सम्भावनाओं से अलग रहे।[25]

(4)

अपने समर्थक सामाजिक समूहों के हित साधन और विचारधारा के प्रसार में उपयोगी विभिन्न साधनों में सत्ता का अपना महत्त्व होता है। इसीलिए प्रत्येक राजनीतिक दल विभिन्न निर्वाचनों में भाग लेता है। बहुमत प्राप्त होने पर वह सरकार का गठन करता है, अन्यथा विरोधी दल के रूप में व्यवस्थापिका के मंच से शासकीय नीतियों व निर्णयों को प्रभावित करने का उपक्रम करता है। शासकीय निर्णयों को प्रभावित कर सकने की यह क्षमता ही, जो यद्यपि पूर्णतः नहीं फिर भी प्रमुखतः दल की व्यवस्थापिकाओं में प्राप्त प्रतिनिधित्व के अनुपात पर निर्भर है, किसी राजनीतिक दल की एक राजनीतिक व्यवस्था में पहल को निर्धारित करते हैं।

इस तथ्य को स्वीकार करते हुए जनसंघ ने भी अपनी स्थापना के साथ ही चुनाव क्षेत्र में उतरने का निर्णय लिया। निर्णय पर टिप्पणी करते हुए दल के प्रथम अध्यक्ष डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी ने स्पष्ट किया था कि चुनाव मुख्यतः जनता तक हमारी विचारधारा

---

[23] दी स्टेट्समैन, 29–12–1967 तथा 31–12–1969।

[24] टाइम्स ऑफ इण्डिया, 27–12–1969।

[25] वही 30–12–1969। विभिन्न विषयों पर अपनाये गये जनसंघ के अधिकृत रुख से यह और भी स्पष्ट हो जाता है। 19 सितम्बर, 1968 की केन्द्रीय कर्मचारियों की हड़ताल का समर्थन, बैंक राष्ट्रीयकरण का सैद्धान्तिक आधार पर नहीं अपितु उसके राजनीतिक कारणों से प्रेरित होने के कारण विरोध, राज्यों के अस्तित्व की स्वीकृति, निश्चित रूप से जनसंघ विचारधारा में आये परिवर्तन की द्योतक है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

पहुँचाने व एक दृढ़ आधार पर अखिल भारतीय स्तर पर दल के विकास में सहायक होंगे।[26]

चुनाव परिणाम, जैसा कि हम तालिका नं० 1 में देख चुके हैं, जनसंघ की सतत वृद्धि के द्योतक हैं। प्रथम आम चुनाव में जहाँ जनसंघ ने कुल 3 स्थान लोकसभा में व 34 स्थान विधान-सभा में प्राप्त किये थे, चौथे आम चुनाव में यह संख्या बढ़कर क्रमशः 35 व 268 हो गयी जो लोकसभा व विधानसभा में कुल स्थानों का क्रमशः 6·8% व 7·8% है। मतों की दृष्टि से जनसंघ का हिस्सा 9·4% व 8·8% रहा है। राष्ट्र की विशालता व सांस्कृतिक विविधता के विचार से यह प्रगति यद्यपि सराहनीय है। परन्तु फिर भी यदि इस गति से भी जनसंघ की शक्ति बढ़ती रहे, जिसकी सम्भावनाएँ उत्तर प्रदेश व हरयाणा के मध्यावधि चुनाव परिणामों ने धूमिल ही की है, जनसंघ को सत्ता तक पहुँचने के लिए एक लम्बी मंजिल तय करनी है। एक अन्य दृष्टि से चुनाव परिणाम देखें जो निम्न तालिका से स्पष्ट है, तो प्रतीत होगा कि जनसंघ मुख्यतः उत्तरी भारत में ही अपना प्रभाव जमा पाया है।

तालिका 4

चारों आम चुनावों में जनसंघ को विधान सभाओं में प्राप्त स्थान

राज्य	1952		1957		1962		1967	
	(1)	(2)	(1)	(2)	(1)		(1)	(2)
बिहार	—	—	—	—	3	2·6	26	9·7
हरयाणा	—	—	9	19·6	8	6·9	12	4·5
पंजाब							9	3·3
राजस्थान	8	23·5	6	13·0	15	12·9	15	8·1
मध्य प्रदेश	4	11·8	10	21·7	41	35·3	78	29·1
उत्तर प्रदेश	2	5.9	17	37·0	49	42·3	98	32·8

स्रोत--चुनाव आयोग द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट।

नोट—(1) चूँकि विधानसभा व लोकसभा के चुनाव परिणामों में प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की दृष्टि से विशेष अन्तर नहीं है, अतः केवल विधानसभा के चुनाव परिणाम ही यहाँ दिये गये हैं।

(2) प्रत्येक कालम में 1 के नीचे के अंक प्राप्त स्थान के द्योतक हैं। 2 के नीचे के अंक कुल प्राप्त स्थानों का प्रतिशत निर्देशित करते हैं।

स्पष्ट है कि जनसंघ प्रथम आम चुनावों को छोड़कर[27] शेष तीन आम चुनावों में मुख्यतः उत्तरी भारत में ही अपना प्रभाव गठित कर पाया है। इनमें भी दो राज्यों—उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश—में जनसंघ का विशेष प्रभाव है व दोनों में यह प्रमुख विरोधी दल के रूप में उभर सका था। इनके अतिरिक्त देहली में जनसंघ ने बहुमत प्राप्त किया है। शेष

---

[26] मोतीलाल ए० झंगियानी द्वारा उद्धृत, पूर्व उल्लिखित, पृष्ठ 137।

[27] प्रथम आम चुनाव में जनसंघ को पश्चिमी बंगाल में भी काफी समर्थन मिला था। परन्तु यह प्रभाव पूर्णतः निजी रहा है, क्योंकि डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी की मृत्यु के साथ ही वहाँ जनसंघ का प्रभाव भी समाप्त हो गया।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

राज्यों में जनसंघ का प्रभाव नगण्य है। अपनी स्थापना के लगभग उन्नीस वर्ष बाद भी सन् 1967 में बंगाल, असम, महाराष्ट्र, गुजरात, मैसूर, आन्ध्र प्रदेश आदि में से प्रत्येक में 2–3 स्थान से अधिक स्थान पार्टी को नहीं प्राप्त हो सके थे।

अभी तक चुनावों के जो अध्ययन हुए हैं, उनके आधार पर उत्तरी भारत में ही जनसंघ के विशेष प्रभाव के कारणों में साम्प्रदायिक राजनीति व इसी से सम्बन्धित विभाजन की राजनीति का प्रभाव[28], हिन्दी के प्रति आग्रह[29], उत्तरी भारत का पिछड़ापन[30] आदि कारण माने जाते रहे हैं। परन्तु एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण है राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का जनसंघ को समर्थन देना। निष्ठावान् व अनुशासित स्वयंसेवक प्रायः अपने प्रभाव में आये हर क्षेत्र में स्थानीय चुनाव प्रचार समितियों के गठन व वैयक्तिक सम्पर्क के आधार पर जनमत को जनसंघ के समर्थन में लाने के लिए सतत सचेष्ट रहते हैं। इस सुसंगठित प्रचार व्यवस्था के कारण जनसंघ जहाँ दलनिष्ठा युक्त मतदाताओं को संगठित कर पाता है वही असम्बद्ध मतदाताओं को भी अपने पक्ष में ला पाता है।

वस्तुतः चुनावों के दौरान व अतिरिक्त समय में भी जनसंघ कांग्रेस विरोध को अपना प्रभाव बढ़ाने के रूप में काफी प्रयोग करता रहा है। द्वितीय आम चुनाव तक कांग्रेस विरोध का मुख्य आधार भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं की उपेक्षा, चतुर्थ आम चुनाव तक गोवध, सीमा-सुरक्षा की उपेक्षा व मुस्लिम सम्प्रदायवाद को बढ़ावा एवं चतुर्थ निर्वाचन के साथ ही मुस्लिम सम्प्रदायवाद को बढ़ावा और आर्थिक विकास की उपेक्षा के आरोप रहे हैं। ये बदलते हुए आधार भारतीय सामाजिक व आर्थिक जीवन में आते रहे परिवर्तनों व जन चेतना के स्तरों में आए परिवर्तनों से अनुकूलन की दृष्टि से लाये गये स्पष्ट रूप से प्रतीत होते हैं।

स्थिति से लाभ उठाने के अपने प्रयासों के संदर्भ में चुनाव-संधियों के प्रति जनसंघ का अपना दृष्टिकोण सभी दलों से भिन्न रहा हैं। प्रथम आम चुनाव में यद्यपि डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी

---

[28] दल द्वारा चुनावों में उठाये जाने वाले मसलों में मुस्लिम साम्प्रदायिकता व उसे प्राप्त पाक-समर्थन की काफी चर्चा रहती रही है। साथ ही जहाँ (उदाहरणार्थ देहली) शरणार्थी बसाये गये वहाँ जनसंघ का विशेष प्रभाव बढ़ा है। उत्तरी भारत में ही नहीं दक्षिण में भी जहाँ-जहाँ साम्प्रदायिक तनाव रहा है, जनसंघ को व्यापक समर्थन मिला है। हैदराबाद के चारमीनार, याकूटपुरा आदि चुनाव क्षेत्रों में इसी आधार पर मुख्य संघर्ष मजलिस-इत्तेहाद-उल-मुसलमीन व जनसंघ के बीच रहा है। देखिये—इकबाल नारायण व मोहन लाल—इलैक्शन पौलिटिक्स इन इण्डिया, एशियन सर्वे, अंक 1 संख्या 2 (मार्च, 1969) पृष्ठ 216–217 प्रो० पी० एन० मसालदान, इलैक्शन्स इन उत्तर प्रदेश—सम आसपेक्ट्स, पोलिटिकल साइन्स रिव्यू, अंक 6, संख्या 3–4 तथा अंक 7, संख्या 1–2।

[29] एम० एम० संखधर ने एक जनमत सर्वेक्षण को उद्धृत करते हुए हिन्दी क्षेत्र में जनसंघ के बढ़ते प्रभाव में से एक कारण माना है। एम० एम० संखधर : जनरल इलैक्शन्स इन देहली, पोलिटिकल साइन्स रिव्यू, वही, इसके अतिरिक्त चौथे आम चुनावों में बड़ी संख्या में विद्यार्थियों के कांग्रेस के विरुद्ध प्रचार-कार्य में संलग्न होने का भी प्रमुख कारण शासकीय दल द्वारा हिन्दी को शिक्षा का माध्यम न बनाया जाना रहा है।

[30] जमींदार, पटेल साहूकार, आदि पारस्परिक नेतृत्व का प्रभाव अशिक्षित व आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी जनता पर अधिक रहता है, क्योंकि आर्थिक निर्भरता के साथ ही सम्पर्क साधनों के अभाव में जनता इन वर्गों का प्रतिरोध न तो कर पाती है व न वह करना ही चाहती है। देखिये—मोतीलाल ए० झांगियानी, पूर्व उल्लिखित, पृष्ठ 197, तथा पोल ब्रास, उत्तर प्रदेश, मायनर वीनर (सम्पादित), स्टेट पोलिटिक्स इन इण्डिया (प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, न्यू जरसी, 1968)।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

ने अन्य दलों से चुनाव संधि का असफल प्रयास किया था,[31] परन्तु बाद के चुनावों में सैद्धान्तिक तौर पर जनसंघ नेतृत्व ने चुनाव संधियों को अमान्य घोषित कर दिया।[32] चतुर्थ आम चुनाव व कुछ राज्यों में हुए मध्यावधि चुनावों में भी (पंजाब को छोड़कर) जनसंघ की यही नीति रही है, यद्यपि चतुर्थ आम चुनाव के संदर्भ में एक अन्य व्यावहारिक दृष्टिकोण भी जनसंघ के सामने रहा है। वह यह कि तृतीय आम चुनावों ने यह प्रमाणित कर दिया था कि बहुकोणीय संघर्ष में कांग्रेस ही नहीं जनसंघ भी विभक्त मतों का लाभ उठा सकता है। अतः जनसंघ को कांग्रेस विरोधी मतों के बंटने से स्थान खोने की कोई सम्भावना नहीं लगती थी।[33]

सैद्धान्तिक तौर पर चुनाव-संधि विरोधी रुख के बावजूद जनसंघ समान-धर्मी दलों से विभिन्न स्थानों पर चुनाव समझौते करता रहा है। प्रारम्भ में हिन्दू महासभा, रामराज्य परिषद् आदि साथी रहे व चतुर्थ आम चुनाव में गुजरात व उत्तर प्रदेश में स्वतन्त्र दल से समझौते किये गये।

(5)

वर्तमान राजनीतिक स्थित व जनसंघ

उत्तर चतुर्थ आम चुनावीय काल ने देश की राजनीति में जबरदस्त परिवर्तन महसूस किए हैं। 1967 में एक-दलीय प्रभुत्व की समाप्ति के बाद संयुक्त दलीय सरकारों के गठन, भारी पैमाने पर दल-बदल व सत्ता के लिए जोड़-तोड़ के बीच सं० वि० द० सरकारों की असफलता, मध्यावधि चुनावों में क्षेत्रीय दलों के हाथों राष्ट्रीय दलों की हार, कांग्रेस का विभाजन व उसके बाद सत्ता-संघर्ष में राजनीतिक दलों की तीव्र सरगर्मियाँ, आदि ने एक ओर जहाँ जन-मानस में एक व्यापक स्तर पर राजनीतिक व आर्थिक चेतना का संचार किया है, दूसरी ओर वहीं बढ़ते हुये राजनीतिक अंतःक्षोभ ने दलीय अनुशासन व गठन तथा इस माध्यम से राजनीतिक व्यवस्था के स्थायित्व पर सवाल खड़े किये हैं। ऐसी स्थिति में कोई भी दल अप्रभावित नहीं रह सकते। भारतीय जनसंघ यद्यपि इन स्थितियों में दलीय अंतर्विरोधों[34] को नियन्त्रित करते हुये अविभाजित रह सका है, परन्तु फिर भी नीतियों व राजनीतिक समरनीति की दृष्टि से इसमें काफी परिवर्तन आ गये हैं। इन परिवर्तनों को हम उत्तर चतुर्थ निर्वाचन काल से अब तक के तीन वर्ष के समय को दो भागों में विभक्त कर देख सकते हैं। ये हैं फरवरी, 1967 से फरवरी, 1969 तक व मार्च, 1969 से अब तक। इन दोनों ही कालों में दोनों निर्वाचनों ने जनसंघ

---

[31] मोतीलाल ए० झांगियानी, पूर्व उल्लिखित, पृष्ठ 141।

[32] इस संदर्भ में दीनदयाल उपाध्याय का यह कथन उल्लेखनीय है कि संसदीय जनतन्त्र में विभिन्न नीतियों व कार्यक्रमों पर जनमत जानना आवश्यक होता है, परन्तु चुनाव संधियाँ चुनावों का उक्त उद्देश्य ही समाप्त कर देती हैं। अन्त में चुनाव सन्धियाँ अवसरवादी तत्वों द्वारा सत्ता के लिऐ संघर्ष का साधन बन जाती हैं जो अवसर-वादिता के कारण ही हुए होते हैं। वही, पृष्ठ 144।

[33] दीनदयाल उपाध्याय, रामसेवक यादव द्वारा उद्धृत 'एप्रोच टू फोर्थ जनरल इलेक्शन्स' अमृत बाजार पत्रिका, 10–9–1966।

[34] आधुनिकीकरण के दबाव, विस्तार के प्रयत्न में आये नीतियों में संशोधन, आर० एस० एस० बनाम गैर आर० एस०, एस० आदि, को लेकर उत्पन्न विभिन्न अन्तर्विराधों की समय-समय पर काफी चर्चा रही है। देखिये— बृजमोहन तूफान, जंनसंघ इन पर्सपेक्टिव, मेन स्ट्रीम, अप्रैल 20, 1968, पृष्ठ 9–11।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

को अपनी स्थिति व शक्ति का अलग-अलग रूप में आभास करवाया है, व इसी रूप में उसमें परिवर्तन आये हैं।

फरवरी 1967 से फरवरी 1969 तक

जैसा कि चुनाव परिणामों के विश्लेषण में देखा जा चुका है, 1967 के चुनावों में जनसंघ उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश में प्रमुख विरोधी दल के रूप में उभर सका व देहली में इस ने महानगर परिषद् के चुनावों में बहुमत प्राप्त किया, परन्तु कांग्रेस में फूट व सं० वि० द० सरकारों के गठन ने जनसंघ को भी सत्ता में भागीदार बना दिया, यद्यपि यह किसी चुनाव संधि में शामिल नहीं था। सं० वि० द० सरकारों के घटक के रूप में अपना नया दायित्व यद्यपि जनसंघ ने बेमन से ही स्वीकार किया, परन्तु इससे सत्ता के प्रति जनसंघ के दृष्टिकोण में काफी परिवर्तन आया है। अब तक संगठन के माध्यम से सत्ता प्राप्त करना जनसंघ का लक्ष्य रहा था, परन्तु अब दल के विस्तार व संगठन में व अन्य रूपों में दलीय हित-साधन की सम्भावनाएँ देख चुकने के बाद संगठन के साथ ही राजनीतिक समरनीति पर भी उतना ही महत्त्व दिया जाने लगा।

सं० वि० द० सरकारों के घटक के रूप में जनसंघ को कांग्रेस-विरोध वाद के दबाव में साम्यवादी दल के साथ-साथ कार्य करना पड़ा था, परन्तु शीघ्र ही जनसंघ ने महसूस किया कि बिना न्यूनतम कार्यक्रम के अकेले विरोधवाद की पतवार पर्याप्त नहीं हो सकती, क्योंकि उर्दू का स्थान, अल्पमतों के अधिकार, सार्वजनिक क्षेत्र का राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में स्थान, भूमि-सुधार, अनिवार्य धान्य-उगाही आदि पर अन्य घटकों, विशेषकर साम्यवादी दल, से मत-भेद बुनियादी व गहरे हैं। जनसंघ ने यह भी महसूस किया कि जिसका आभास वैसे पूर्व चतुर्थ निर्वाचन काल में भी था, परन्तु आमना-सामना नहीं हुआ था,[35] दल को साम्यवादी दलों से भी उतना ही संघर्ष करना होगा जितना कि कांग्रेस से या सम्भवतः उससे भी अधिक। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि बलराज मधोक ने सं० वि० द० सरकारों के गठन के साथ ही जनसंघ, स्वतन्त्र व कांग्रेस के सिण्डीकेट समूह के साथ संयुक्त मोर्चे के गठन के रूप में ध्रुवीकरण की चर्चा उठाई थी, ताकि साम्यवाद के बढ़ते प्रभाव को रोका जा सके।[36] इस प्रकार इस काल में जनसंघ की समरनीति में कांग्रेस विरोध व मुस्लिम लीग विरोध के साथ ही साम्यवाद विरोध भी उतना ही सक्रिय स्थान पा गया व त्रिकोणात्मक संघर्ष की रूपरेखा स्पष्ट उभरने लगी।

साम्यवादी दलों के प्रति दृष्टिकोण और उग्र होने के अतिरिक्त शेष दलों के साथ सम्बन्धों के बारे में इस काल में जनसंघ अधिकृत रूप से विशेष चिन्तन नहीं कर पाया। यद्यपि

---

[35] तृतीय लोकसभा में जनसंघ दल के नेता यू० एम० त्रिवेदी ने साम्यवादी खतरे को स्पष्ट स्वीकार किया था व इससे बचाव के लिए कांग्रेस विरोधवाद के बावजूद कांग्रेस को केरल व बंगाल में साम्यवादियों के विरुद्ध समर्थन देने का प्रस्ताव किया था। अमृत बाजार पत्रिका, 28–12–67। दीनदयाल उपाध्याय ने भी ऐसी ही चेतावनी दी थी कि प्रत्येक राष्ट्रभक्त भारतीय का कर्त्तव्य है कि वह यह प्रयास करे कि स्वतन्त्रता व सुरक्षा को गम्भीर खतरा पैदा न बन सके। पोलीटिकल डायरी, पृष्ठ 66।

[36] द स्टेट्समैन।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

बलराज मधोक ने जनसंघ व स्वतन्त्र दल के एक होने की चर्चा उठाई थी व स्वतन्त्र दल के एक वर्ग ने भी प्रस्ताव के प्रति कुछ उत्सुकता दिखाई थी, परन्तु जनसंघ के अधिकारी वर्गों में इस प्रस्ताव के प्रति कोई उत्सुकता नहीं थी। इससे भी अधिक उदासीनता जनसंघ की राज्य शाखाओं ने दिखाई थी।[37] सं० सो० पा० के साथ यद्यपि कोई विशेष अनुरक्ति जनसंघ को नहीं रही है, परन्तु राजभाषा विधेयक के प्रतिकार या महंगाई के विरोध में दोनों दल इस काल में भी उतने ही साथ-साथ रहे जितने कि पहले कच्छ समझौते के प्रतिकार या कच्छ न्यायाधिकरण के निर्णय के विरोध में रहे थे।

शेष अन्य दलों को, जिनमें प्र० सो० पा० व भा० क्रां० द० सम्मिलित हैं, जनसंघ ने कभी गम्भीरता से नहीं लिया। वस्तुतः जनसंघ की नीति अब तक 'अकेला चलो' की रही है। दल के नेताओं का यह विचार रहा है कि एक-दलीय प्रभुत्व की समाप्ति व कांग्रेस के बिखराव-के युग में वही दल सर्वाधिक लाभ उठा सकता है, जिसके पास सशक्त संगठन हो व जनता के लिए निश्चित वैचारिक कार्यक्रम हो। इस दृष्टि से जनसंघ को काफी आत्म-विश्वास रहा है।[38]

इसके साथ ही दल के विस्तार को महत्त्वाकांक्षी के परिणामस्वरूप दल की विचार-धारा में अन्य विषयों पर भी परिवर्तन स्पष्ट है, जैसे दक्षिण में प्रभाव बढ़ाने के लिए भाषायी नीति में संशोधन,[39] कांग्रेस विरोधवाद व अन्य कार्यक्रमों में भाषा, सुरक्षा आदि "दिमागी" विषयों के साथ ही खाद्यान्न, महंगाई, बेकारी आदि आदि "उदर" के विषयों को भी समान महत्त्व, आदि जनसंघ के दृष्टिकोण में आये अन्य परिवर्तनों के उदाहरण हैं।

मध्यावधि चुनावों से जनसंघ के दृष्टिकोण और समरनीति में परिवर्तन और भी द्रुत व स्पष्ट रहे हैं। इसके मूलतः दो कारण रहे हैं। प्रथम, मध्यावधि चुनावों ने महत्त्वाकांक्षाओं को बुरी तरह ध्वस्त किया है। उत्तर प्रदेश में जनसंघ को 1967 के 94 स्थानों के मुकाबले 49 स्थान ही प्राप्त हुये। दल ने कांग्रेस को 64 व भा० क्रां० द० को 10 स्थान खोये जबकि कांग्रेस से यह 20 ही स्थान प्राप्त कर सका। हरियाणा में भी इसके स्थान 12 से घटकर 7 रह गये। पंजाब में अकाली समर्थन के बावजूद उसे 1967 के 9 स्थानों के मुकाबले 8 ही स्थान प्राप्त हुये। प्रकट में इसके लिये जहाँ जनसंघ ने यह स्पष्ट किया कि जातिवाद, शासकीय तन्त्र का दुरुपयोग व सं० वि० द० सरकारों की असफलता का दुष्प्रभाव इसके लिए उत्तरदायी हैं, वहीं जनसंघ ने अन्दर ही यह भी महसूस किया कि एक-दलीय प्रभुत्व की समाप्ति के बाद भी कांग्रेस की जड़ें इतनी नहीं हिली हैं कि वह अकेले इसका प्रतिकार कर सके।

दूसरा प्रमुख कारण रहा है, कांग्रेस का विभाजन। इससे जनसंघ को जहाँ अपने

---

[37] जनसंघ— स्वतन्त्र मर्जर फाइंड्स नौ बायर : ए स्टेट्समैन सर्वे, द स्टेट्समैन, 15–2–68।

[38] इस संदर्भ में उत्तर प्रदेश में हुए 1969 के मध्यावधि चुनावों के ठीक पूर्व नानाजी देशमुख का यह कथन द्रष्टव्य है, "भारतीय क्रान्ति दल के गठन के रूप में ईश्वर ने जनसंघ पर विशेष मेहरबानी दिखाई है। क्रान्ति दल का अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है। यह हतोत्साहित कांग्रेसियों का ही एक समूह है। परिणामतः यह दल कांग्रेस के ही मतों को यहाँ तक बँटवाएगा कि जनसंघ की विजय आसान होगी। एक विशेष संवाददाता द्वारा अपने लेख, थ्री लीप्स इन्टू द डार्क में उद्धृत, मेनस्ट्रीम, 19–4–1969।

[39] अब जनसंघ राष्ट्र में हिन्दी की प्रतिष्ठापना के स्थान पर गैर हिन्दी भाषियों की इच्छा पर ही हिन्दी के राष्ट्रभाषा रूप में प्रतिष्ठापित करने पर बल देने लगा है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सहयोगी ढूँढने का अधिक स्पष्ट अवसर मिला है, वहीं राजनीतिक प्रवृत्तियाँ व मोड़ों के अधिक स्पष्ट होने से दलीय कार्यक्रम व समरनीति को पुनसंशोधित करने में भी सहयोग मिला है। वस्तुतः अपनी कमजोरियों का एहसास व कांग्रेस विभाजन से प्राप्त अवसरों का लाभ उठाने की चेष्टा दोनों ने अलग-अलग रूप से कम तथा सामूहिक रूप से अधिक नीतियों को प्रभावित किया है।

उक्त कारणों से सबसे प्रमुख परिवर्तन जो स्पष्ट दृष्टिगत होता है, वह अन्य दलों के सम्बन्धों की समीकरण बिठाने में रहा है। मध्यावधि चुनावों से पूर्व तक अकेला चलने की जनसंघ की जो नीति रही है, उस पर चुनावों में असफलता के बाद गम्भीर रूप से जनसंघ में विचार हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न दलों के साथ संयुक्त मोर्चे की सम्भावनाओं को अपरिहार्य मानते हुये मध्यावधि चुनावों के बाद ही दल ने अपने सहयोगियों की खोज प्रारम्भ कर दी थी। इस संदर्भ में बलराज मधोक के विचार अन्तिम स्वरूप ग्रहण करने लगे। स्वतन्त्र दल के साथ ही दक्षिण-पंथी कांग्रेसियों से समझौते की सम्भावना पर विचार होने लगा। चुनाव परिणामों के प्रकाशन के लगभग दो महीने बाद ही अप्रैल 1969 में बम्बई में आयोजित दल के वार्षिक अधिवेशन में सम्भावित सहयोगियों की खोज हेतु 6 सदस्यीय समिति का गठन अटल बिहारी बाजपेयी की अध्यक्षता में किया गया था। इसी के प्रकाश में जनसंघ ने स्वतन्त्र व भा० क्रां० द० के साथ मई, 1969 में वार्ता भी प्रारम्भ की थी, परन्तु प्रारम्भ में ही यह दौर बन्द कर देना पड़ा।[40]

राष्ट्रपति के चुनावों को लेकर कांग्रेस में बढ़े अन्तर्विरोध व नवम्बर, 1969 में पूर्ण विभाजन के साथ ही इन्दिरा गांधी कांग्रेस व साम्यवादियों के दक्षिण पंथी दलों के व विशेषकर जनसंघ के प्रति उग्र आक्रमणात्मक रूप से बोखलाये जाने पर जनसंघ को अपने राजनीतिक अस्तित्व की सुरक्षा के लिए सहयोगियों की आवश्यकता और भी तीव्रतर महसूस हुई। यद्यपि दल की कुछ राज्य शाखाओं में शंका बनी रही, परन्तु पटना में दिसम्बर, 1969 में हुए वार्षिक अधिवेशन में[41] व बाद में जुलाई, 1970 में चण्डीगढ़ में हुई राष्ट्रीय परिषद की बैठक में[42] समझौता प्रयासों का स्वागत किया गया व संसद में स्वतन्त्र व कांग्रेस (संगठन) के साथ न्यूनतम कार्यक्रमों के आधार पर संयुक्त मोर्चा बनाने का प्रस्ताव पारित किया गया[43]।

जनसंघ के इन प्रस्तावों का स्वतन्त्र दल व संगठन कांग्रेस के नेताओं ने भी स्वागत किया था। स्वतन्त्र नेता 'राजगोपालाचारी' ने इन्दिरा कांग्रेस व साम्यवादियों की नीतियों से

---

[40] वार्ता भंग होने का प्रमुख कारण जनसंघ अध्यक्ष अटल बिहारी बाजपेयी के शब्दों में भा० क्रां० द० के नेता चरणसिंह की अपरिपक्वता व बिना शर्त उक्त तीनों दलों के विलयन के प्रति आग्रह रहा है जबकि जनसंघ का आग्रह मुख्यतः संसद में संयुक्त मोर्चे से न्यूनतम कार्यक्रमों के आधार पर सहयोग प्रारम्भ करने के प्रति रहा है। द टाइम्स आफ इण्डिया, 30–5–69।

[41] वही, 26–12–69।

[42] नवभारत टाइम्स, 24–7–70।

[43] यद्यपि जनसंघ के प्रमुख नेता दलीय सन्धि की अनिवार्यता की दृष्टि से सोचने लगे थे, परन्तु फिर भी दल का एक वर्ग इस प्रकार के प्रयासों की वांछनीयता व उपादेयता के प्रति अभी दक सशंकित रहा है। जो पटना व चण्डीगढ़ में दिये गये उनके भाषणों से प्रकट है। स्वतन्त्र दल को संगठनहीनता के अभाव में व्यर्थ का भार माना जाता है व संगठन कांग्रेस को असन्तुष्ट कांग्रेसियों का समूह, जिससे विचारों का कोई साम्य नहीं। वही।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

जनतन्त्र व राष्ट्र की सुरक्षा के लिए जहाँ तत्काल "वृहद् सन्धि" पर बल दिया[44], संगठन कांग्रेस अध्यक्ष निजलिंगप्पा ने इस प्रयास की सफलता के लिए ए० आई० सी० सी० के दस सूत्री कार्यक्रमों में जनसंघ के संशोधन की मांग भी स्वीकार कर ली [45]।

सं० सो० पा०, प्र० सो० पा० व भा० क्रां० द० आदि दलों से भी उक्त उद्देश्य की पूर्ति हेतु जनसंघ सहयोग करने को तत्पर है, परन्तु यह स्पष्ट है कि प्रथम दो दलों के साथ अधिक गहरा सहयोग सम्भव नहीं है। राष्ट्र सुरक्षा या विदेश नीति के कुछ स्थलों पर सहयोग की नीति-रबात सम्मेलन में घटित घटना-चक्र पर संसद में 17 नवम्बर, 1969 को प्रस्तुत काम रोको प्रस्ताव से या सोवियत मानचित्रों में भारत का कुछ भू-भाग चीनी क्षेत्र में दिखाये जाने पर प्रकट किये गये आक्रोश से स्पष्ट है। महंगाई आदि अन्य कुछ कार्यक्रमों पर भले ही सहयोग हो, परन्तु सार्वजनिक क्षेत्र के विकास के प्रति आग्रह, भूमि हथियाओ आन्दोलन, प्रिवी-पर्स समाप्ति, सम्पत्ति-विषयक मूल अधिकारों में संशोधन आदि विषयों पर जनसंघ कभी इन दलों के साथ चलने को तैयार न होगा। दूसरे स्वयं सं० सो० पा० व प्र० सो० पा० भी इस प्रकार के मोर्चे के लिए, यदि उसमें साम्यवादी न हों, तैयार नहीं होंगे। अन्यथा स्पष्टतः उन्हें प्रतिक्रियावादियों के सहयोगी होने के आरोपों का सामना करना होगा।

इस प्रकार जनसंघ से सीधी टक्कर के लिए राष्ट्र व जनतन्त्र को समाप्त करने पर तुले साम्यवादी, "साम्प्रदायिक मुस्लिम दल" व इन दोनों को बढ़ावा देने वाली "इन्दिरा कांग्रेस" ये तीन दल बच रहे हैं। 1 सितम्बर, 1969 को अपनी बैठक में पारित राजनीतिक प्रस्ताव में जनसंघ ने साम्यवादी खतरे के प्रति चेतावनी दी थी कि "कोई इस तथ्य की ओर से अपनी आँखें न मूँद ले कि दोनों साम्यवादी दल इन दोनों आधारभूत मूल्यों में से (राष्ट्रवाद व जन-तन्त्रवाद) किसी के भी प्रति निष्ठावान नहीं है और ये संविधान को ही समाप्त करने पर तुले हुए हैं।[46] पटना अधिवेशन में जहाँ वक्ताओं ने मुस्लिम वर्ग के भारतीयकरण की आवश्यकता पर बल दिया था, वहीं, साम्यवादियों के भारतीयकरण की भी आवश्यकता जाहिर की गई थी।[47] इसी अधिवेशन में पारित राजनीतिक प्रस्ताव की भाषा दोनों वर्गों के समान रूप से भारतीय-करण की मांग करती है।[48] इन्दिरा कांग्रेस व मुख्यतः प्रधानमन्त्री स्वयं भी अपने आप में राष्ट्र के लिए खतरनाक हैं, क्योंकि वे साम्यवादियों व सम्प्रदायवादियों के साथ मिलकर भ्रष्ट तरीकों के प्रयोग से सत्तारूढ़ बने रहना चाहती हैं।

वस्तुतः इन समूहों के साथ जनसंघ का संघर्ष स्वाभाविक है और काफी पुराना है, परन्तु 1967 के आम चुनावों से, जबकि जनसंघ व साम्यवाद को एक साथ संयुक्त सरकारों में रहना हुआ, व साथ ही कई मुस्लिम साम्प्रदायिक संगठन स्थापित हुये, जनसंघ का इनके प्रति विरोध और तीव्र हो गया है। कांग्रेस विभाजन की प्रक्रिया में इन्दिरा गुट का उक्त दो गुटों

---

[44] राजगोपालाचारी ने इस आशय का प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुये कहा था, "इस लड़ाई में विजय के लिए हमें अवश्य एक होना चाहिये ताकि सरकारी सर्वाधिकार से मुक्ति पाकर जन सरकार की स्थापना की जा सके।" द हिन्दुस्तान टाइम्स, जुलाई 22, 1970।

[45] द हिन्दुस्तान टाइम्स, जुलाई 25, 1970। विस्तार के लिए देखिये—लिंक, जुलाई 12, 1970।

[46] द टाइम्स आफ इण्डिया, 2–9–1969।

[47] द स्टेट्समैन, 31–12–1969।

[48] वही।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

के साथ आना जनसंघ को राजनीतिक दृष्टि से भारी पड़ सकता है। साम्यवादी, लीग, इन्दिरा काँग्रेस इनका अपना जनसंघ के प्रति कड़ा रुख रहा है। साम्प्रदायिक दंगों के अवसर पर साम्प्रदायिक दलों पर प्रतिबन्ध की मांग पर या आर्थिक क्षेत्र में प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के रूप में यह दल अकेले इनके आक्रमण का शिकार होता है। मध्यावधि चुनावों में इन्दिरा गांधी के उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब में चुनाव प्रचार में यह दल अकेले आलोचना का केन्द्र रहा, जबकि भा० क्रां० द० या अकाली दल जैसे प्रतिद्वन्द्वियों का नाम से या उनकी विचारधारा के आधार पर कहीं उल्लेख नहीं था।

स्पष्ट है कि भारतीय राजनीति में जनसंघ का सहयोग संगठन कांग्रेस या स्वतन्त्र दल से ही हो सकता है व राजनीति में अकेले पड़ जाने व अस्तित्व के खतरे में होने के भय ने इसी-लिये जनसंघ को 1967 के बाद के काल में सहयोगी ढूँढने को विवश किया था। जनसंघ ने "विशाल सन्धि" की योजना बनाई थी। यद्यपि इसके लिए एकरूप सिद्धान्त बनाने की कठिनाई थी (कि राष्ट्रीय स्तर के अलावा राज्यों में कौन से दल सहयोगी बनाये जायें[49]) व दूसरे कुछ राज्य शाखाएँ इस दिशा में विशेष उत्साहित भी नहीं रही है, फिर भी इसके लिए प्रदर्शित उत्सुकता व तैयारियाँ स्पष्ट करती हैं, कि जनसंघ इनके प्रति पूर्णतः तैयार था, परन्तु यहाँ जनसंघ को निराशा ही हाथ लगी। वैसे प्रयास अभी भी जारी है व सीमित समझौते की बातें चल रही हैं।

राजनीतिक विरोध को न्यूनतम रखने व साथ ही संगठन के विस्तार की लालसा होने के कारण जनसंघ का हिन्दी के प्रति आग्रह जहाँ कम हुआ है (आर्य समाजियों का सहयोग खो कर भी) व प्रादेशिक भाषाओं के प्रोत्साहन की जहाँ चर्चा की जाने लगी है, वहीं अल्पमत समूहों के प्रति जनसंघ का रुख परिवर्तित हुआ है।

इतना ही महत्त्वपूर्ण परिवर्तन जनसंघ के राष्ट्र के स्वरूप की तस्वीर में आया है। अब एकीकृत राष्ट्र को नहीं, बल्कि संघवाद को स्वीकृति मिली है, यद्यपि "राज्यों के लिए और अधिक स्वायत्तता" की मांग को जनसंघ ने स्वीकार नहीं किया है।[50] हिमाचल प्रदेश को अलग राज्य का दर्जा दिये जाने की मांग का जहाँ जनसंघ ने स्वागत किया है, वहीं मणिपुर को भी राज्य का दर्जा देने और दिल्ली के लिए अलग विधानसभा की मांग की गई है। इससे भी अधिक विचित्र स्थिति चण्डीगढ़ को लेकर सामने आई, जबकि हरियाणा व पंजाब शाखाएँ परस्पर विरोधी उद्देश्यों को लेकर आन्दोलन कर रही थीं और क्षेत्रीयता सम्बन्धी आन्दोलनों का विरोधी केन्द्रीय नेतृत्व इनके बारे में मौन था।

जनसंघ की समर नीति में एक और अन्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तन "मसलों की प्राथमिकता" पर उभर कर सामने आया है। यद्यपि सोवियत मानचित्रों में भारत का कुछ भू-भाग चीन में दिखाये जाने के प्रति यह दल अभी भी प्रदर्शन आयोजित करता है, परन्तु निश्चित ही बल अब राष्ट्र की अपेक्षा राष्ट्रवाद और बाह्य सुरक्षा की अपेक्षा आंतरिक विघटन से सुरक्षा पर अधिक है। प्राथमिकताओं में एक अन्य परिवर्तन जिसे 1967 से 1969 के काल में भी देखा जा सकता था, व अब और अधिक स्पष्ट हुआ है, वह है आर्थिक मसलों पर बल। महंगाई के विरुद्ध

---

[49] द टाइम्स आफ इण्डिया, 26–12–1969।

[50] द स्टेट्समैन, 13–4–1969।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्रदर्शन, बेकारी के प्रति चिन्ता व्यक्त करना व इसके विरुद्ध आन्दोलन का निर्णय, सीलिंग एक्ट लागू करने के प्रति आग्रह, फसल बीमा, पशु बीमा की मांग, अधिक स्पष्ट है। देश में बढ़ती हुई चेतना (राजनीतिक व आर्थिक) के साथ आर्थिक विषयों को प्राथमिकता दिया जाना अस्वाभाविक नहीं है पर अस्वाभाविक यह है कि एक साथ जनसंघ भूस्वामी व भूमिहीन, उद्योग-पति व मजदूर, कर-भार में कमी महंगाई-भत्ते और नागरिक सुविधाओं की वृद्धि की मांग आदि में व्याप्त परस्पर अन्तर्विरोधों को उपेक्षित कर दोनों को प्रसन्न करना चाहता है।

जनसंघ की "सुरक्षित" खेल खेलने की नीति सभी वर्गों की मांगों को कार्यक्रमों में समाविष्ट कर लेने की प्रवृत्ति व मध्यम मार्ग पर चलने का दावा दल को कांग्रेस की प्रकृति की श्रेणी में रख देती है। कांग्रेस के लिए यह सब कुछ चल सकता था, जब तक कि कृषक व मजदूर वर्ग राजनीतिक व आर्थिक दृष्टि से प्रबुद्ध नहीं थे व किसी दल के कार्यक्रमों व वादों पर अक्षरशः विश्वास कर लेते थे। परन्तु एक बार जब जनता में जागृति आई व असन्तोष की लहर उठी, तो कांग्रेस ने अपना असली रूप ही प्रकट नहीं किया, बल्कि यह अवसरवादिता उसके बिखराव का भी कारण बनी। "असम्भव को सम्भव बनाने की कला ही राजनीति है" मानने वाले जनसंघ के नेता शासन से दूर रहने तक भले ही सुरक्षित रह कर खेल खेल लें, परन्तु किसी भी राज्य में शासनारूढ़ होने के बाद उनके कार्यक्रम क्या होंगे व अपनी स्थिति के प्रति असन्तुष्ट व उत्तेजित जन-समूह को वे कहाँ तक शान्त रख सकेंगे। इस प्रश्न की वे उपेक्षा नहीं कर सकेंगे।

परन्तु आज की स्थिति में शासन में आकर ही नहीं, अपितु शासन के बाहर भी कोई राजनीतिक दल बढ़ते जन असन्तोष को बिना सही दिशा दिये व ठोस रूप में प्रभावशाली स्वरूप दिये जन-समर्थन प्राप्त करते रहने में अधिक सफल नहीं हो सकता। इसका अभिप्रायः यह नहीं कि कोई दल केवल जन प्रकृतियों का अनुकरण करे। इसका अभिप्राय यह है कि वह दल जनता को आश्वस्त रखकर विश्वास प्राप्त करे और उसके हितों का सही प्रतिनिधित्व करे। इस रूप में जनता अब केवल आश्वासनों और वादों से आगे उसके क्रियान्विति पक्ष को स्पष्ट रूप से परखेगी। हरियाणा व उत्तर प्रदेश के मध्यावधि चुनावों में जनसंघ की भारी पराजय से यह स्पष्ट हो जाता है। महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश आदि राज्यों की भाँति उक्त राज्यों में भी क्रमिक विकास के परिणामस्वरूप नया कृषक नेतृत्व गाँवों में उभरा है, जो ग्राम्य स्तर पर ही नहीं, राज्य की राजनीति में भी, पारस्परिक नेतृत्व का, वह भले ही सामन्ती हो या उच्च जातीय या गैर कृषक, प्रबल प्रतिद्वन्द्वी है। इस नेतृत्व की चुनौती स्वीकार करने वाले किसी भी दल को कृषक वर्ग, जो देश में कुल जनसंख्या का तीन चौथाई है, के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क रखना होगा। सामन्ती तत्त्वों के सहारे, जनसंघ का प्रयास आज भी विभिन्न राजा महाराजाओं या भूस्वामियों को अपने दल में मिलाने का है। अब इस वर्ग का समर्थन प्राप्त करना दुरुह ही होगा। हरियाणा व उत्तर प्रदेश के चुनावों का यह महत्त्वपूर्ण सबक है।

यही नहीं क्रमशः मजदूर वर्ग भी औद्योगिक प्रबन्ध में व लाभ में अपने हिस्से की माँग करता है। जनसंघ इस अधिकार को मानता है, परन्तु मानने से अधिक इनकी प्राप्ति के लिए प्रभावी प्रयास आवश्यक है। केवल प्रदर्शन व धरने से यह पूरे न होंगे (वैसे जनसंघ ने इन्हें तकनीक रूप में मान लिया है व इस सीमा तक यह स्वतन्त्र दल से भिन्न है)। यह आशा बहुत अधिक सीमा तक वर्तमान शासन या उद्योगपतियों के व्यवहार से नहीं रह पाती है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

और, अन्त में जब जनरोध की तकनीकों पर विचार हो रहा है, तो यह भी देखा जाना आवश्यक हो जाता है, कि किन प्रकार के मसलों को जनसंघ पतवार के रूप में प्रयोग करेगा, ताकि अखिल भारतीय समर्थन प्राप्त कर सके। भारतीय संस्कृति का प्रतिष्ठापन, राष्ट्र-रक्षा, हिन्दी के प्रति आग्रह आदि जब तक अपनाये गये मसले समूचे उत्तरी भारत को रुचिकर हो सके थे, परन्तु दक्षिणी भारत में जहाँ इनके प्रति उदासीनता है व तमिलनाडु में तीव्र विरोधी प्रतिक्रिया रही है, ये विशेष सहायक होंगे, यह अनिश्चित ही है। जनसंघ का साम्यवाद विरोध पूरे भारत में कुछ महत्त्व का हो सकता है, पर वह तभी, जब कि, यह दल जनतान्त्रिक तरीकों से जन-असन्तोष के कारणों को दूर कर सके। एतदर्थ प्रभावी कदम के साथ ही, जिनकी सद्भावना की चर्चा अभी ऊपर की है, अखिल भारतीय स्तर पर आर्थिक विचारधारा प्रस्तुत करनी होगी। यह विचारधारा ही जहाँ अखिल भारतीय समर्थन को सम्भव बना सकेगी, वहीं क्षुद्र मसलों पर बँटे क्षणभंगुर व बड़ी संख्या में विद्यमान दलों से भारतीय राजनीति को मुक्त कर सकेगी, व राजनीतिक खण्डीकरण को भी नियन्त्रण में रख सकेगी। परन्तु वर्तमान में अपनाये गये कार्यक्रम जनसंघ में जनता की क्षणिक रुचि भले ही जगा दें, अखिल भारतीय स्तर पर स्थायी समर्थन दिलवा सकेंगे, यह अधिक सम्भव नहीं है।

(6)

जनसंघ के कार्यक्रमों व समरनीति को यदि राज्य स्तर पर देखें तो विभिन्न दलों के पारस्परिक सम्बन्ध, जन-सम्पर्क की तकनीकें व जन-समर्थन की व्यापकता की सीमाएँ और भी अधिक स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आती हैं। यहाँ एक 'केस स्टडी' के रूप में राजस्थान को ले रहे हैं।

राजस्थान में जनसघ की स्थापना के प्रयास अखिल भारतीय स्तर पर दल की स्थापना के प्रयासों के साथ ही प्रारम्भ हो गये थे। 12 सितम्बर, 1951 को राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों के 60 प्रतिनिधियों की जयपुर में एक बैठक हुई, जिसमें दल के संगठन का निर्णय लिया गया। तत्पश्चात् 13–14 अक्तूबर को जयपुर में दल का प्रथम अधिवेशन हुआ, जिसमें नयी कार्यकारिणी का गठन किया गया। इसके अध्यक्ष श्री चिरंजीलाल मिश्र चुने गये थे।

अपनी स्थापना काल से ही जनसंघ क्रमशः अपनी शक्ति बढ़ाता रहा है, जो विधान-सभा में प्राप्त स्थानों से स्पष्ट है।

तालिका 5

चारों आम चुनावों में जनसंघ को विधानसभा में प्राप्त स्थान व प्रतिशत मत

साल	प्रत्याशियों की संख्या	प्राप्त स्थानों की संख्या	प्रतिशत प्राप्त मत
1952	50	8	5·9
1957	47	6	5·5
1962	—	15	9·2
1967	52	22	11·1

स्रोत—चुनाव आयोग द्वारा चारों आम चुनाव पर प्रकाशित रिपोर्ट।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

जनसंघ को प्रथम आम चुनावों में 8 स्थान प्राप्त हुए थे व सभी विजेता प्रत्याशी जागीरदार थे। वस्तुतः यह चुनाव सामन्ती तत्त्वों के समर्थन पर लड़ा गया था। यद्यपि अधिकांश सामन्ती तत्त्व रामराज्य परिषद् के साथ थे[51] तथापि इन तत्त्वों का जनसंघ के दलीय अनुशासन में रह सकना बड़ा दुरूह सिद्ध हुआ। परिणामतः 'पन्त-एवार्ड' की घोषणा के बाद भैरोसिंह शेखावत व जगतसिंह झाला, दो ही जनसंघ के सदस्य बचे रह गये थे।[52] द्वितीय चुनावों में जनसंघ को जागीरदारों का विशेष समर्थन न रहा था, फिर भी कुछ क्षेत्रों में संगठन सुदृढ़ कर लेने के कारण जनसंघ को पिछली संख्या (8) के मुकाबले दो स्थान ही कम मिले। तीसरे आम चुनावों तक जनसंघ ने अपनी संगठन शक्ति का और भी विस्तार किया था। दूसरे, जयपुर में हाईकोर्ट बेंच की स्थापना की माँग आदि क्षेत्रीय मसले भी उठाये गये थे, जिससे जन-समर्थन और व्यापक हुआ। यह इससे स्पष्ट है कि जयपुर में जनसंघ नेता भैरोसिंह शेखावत ने तत्कालीन गृह मन्त्री, रामकिशोर व्यास, को 10,000 से भी अधिक मतों से पराजित किया था। परन्तु दूसरी ओर जनसंघ को कांग्रेस से ही नहीं, स्वतन्त्र दल से भी—जिसके साथ चुनाव समझौता वार्ता भंग हो गयी थी—कड़ा संघर्ष करना पड़ा। परन्तु चौथे चुनावों के सन्दर्भ में जनसंघ और स्वतन्त्र पार्टी के बीच पुनः चुनाव समझौता हो गया। इसके साथ ही गौवध निषेध आन्दोलन, आर्थिक अभाव के विरुद्ध आन्दोलन, आदि ने भी जनसंघ को अतिरिक्त समर्थन प्रदान किया। फलतः जनसंघ को 22 स्थान प्राप्त हो सके।

परन्तु क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की दृष्टि से देखा जाये तो स्पष्ट हो जाता है कि जनसंघ का आधार मुख्यतः कोटा व जयपुर संभाग रहे हैं। उदयपुर संभाग में दल का आधार बड़ा अनिश्चित व अस्थिर रहा है। दूसरे आम चुनाव में जनसंघ के सारे स्थान खोने का कारण जहाँ सामन्ती तत्त्वों द्वारा अपने समर्थन को वापिस लिया जाना था, वहीं चौथे आम चुनाव में

तालिका 6

विधानसभा में जनसंघ का संभागीय प्रतिनिधित्व

स्थान	1952	1957	1962	1967
जयपुर/अजमेर	1(12·5)	4(61·7)	5(33·3)	9(40·9)
जोधपुर	—	—	—	1(4·5)
उदयपुर	7(87·5)	—	1(26·7)	—
बीकानेर	—	—	—	1(4·5)
कोटा	—	2	6(40·0)	11(50·0)
योग	8(100)	6(33·3)	15(100·0)	22(100·0)

स्रोत—इकबाल नारायण एवं मोहनलाल, राजस्थान पौलिटिक्स आफ्टर 1967 : ट्रेंड्स एण्ड प्रोजेक्शन्स, इकानामिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, अंक–4, संख्या 51 (दिसम्बर 20, 1969)।

[51] डा० के० एल० कमल, पूर्व उल्लिखित, पृष्ठ 159।

[52] वही, पृष्ठ 160।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कांग्रेस के द्वारा अधिक कुशल प्रचार व शासन सत्ता के दल हित में प्रयोग के कारण जनसंघ को स्थान खोने पड़े हैं।[53]

साथ ही यह भी दृष्टव्य है कि जनसंघ को जोधपुर व बीकानेर संभागों में विशेष सफलता नहीं मिल पायी है। चौथे आम चुनाव में यह दल पहली बार एक-एक स्थान प्राप्त कर सका है। इस सन्दर्भ में यह देखा जाना उपयुक्त हो सकता है (जैसा कि हमने भारतीय राजनीति के सन्दर्भ में भी पाया) कि क्या यह प्रभाव शून्यता इन क्षेत्रों में उदित नये जाट नेतृत्व के कारण है, जिसकी कृषि आवश्यकताओं की प्रकृति जनसंघ के कार्यक्रम से भिन्न है। इसकी पुष्टि इससे भी होती है, कि जनसंघ को कोटा, जयपुर व उदयपुर सम्भागीय क्षेत्रों में सफलता का आधार काफी सीमा तक जागीरदारों व राज-घरानों का सहयोग रहा है।

नेतृत्व की प्रकृति

जनसंघ में प्रभावी नेतृत्व आर० एस० एस० से आये कार्यकर्ताओं का रहा है। इस नेतृत्व द्वारा दलीय अनुशासन को बनाये रखने के प्रयास प्रारम्भ से ही एक समूह द्वारा ना-पसन्द किये जाते रहे हैं। प्रथम विधानसभा में अधिकांश सदस्यों के जनसंघ छोड़ने के पीछे यह भी एक कारण रहा है।[54] वर्तमान में भी आर० एस० एस० व गैर आर० एस० एस० के बीच यह संघर्ष विद्यमान है जो जैसलमेर में दल के एक कार्यकर्ता की पिटाई को लेकर प्रदेश जनसंघ अध्यक्ष द्वारा की गयी भूख हड़ताल, जगदीश प्रसाद माथुर को राज्य सभा का टिकिट दिया जाना, आदि मसलों पर स्पष्ट सामने आया है। जातीय सदस्यता की दृष्टि से जनसंघ नेतृत्व मूलतः उच्च जातीय रहा है। अब तक निर्वाचित प्रदेश दो महाजन आदि अन्य सवर्ण जातियों से है। प्रथम तीन विधान सभाओं में सवर्ण जाति के सदस्यों की संख्या क्रमशः 100–100% व 40% रही है। व्यावसायिक दृष्टि से बहुमत जागीरदारों, महाराजाओं समाज-सेवी वर्गों का रहा है।[55]

अन्य दलों से सम्बन्ध

राजस्थान के सन्दर्भ में अखिल भारतीय चित्र से बिल्कुल भिन्न प्रकार के सम्बन्ध जनसंघ के अन्य दलों से है। सम्भवतः यह तथ्य सही उतरता है, कि जिन दलों के क्षेत्र एक हों उनमें अधिक राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता होती है, बनिस्वत उनके, जिनकी विचारधारा में काफी अन्तर हो। राजस्थान में जनसंघ व स्वतन्त्र दल की यही स्थिति प्रतीत होती है। जनसंघ सम्भवतः यह विस्मृत नहीं कर सका है कि स्वतन्त्र दल के अभ्युदय ने उसके विकास की सीमाओं को काफी सीमित किया है। वह अब कोई ऐसा प्रयास नहीं करना चाहता, कि मरणोन्मुख स्वतन्त्र दल को पुनः बल मिले व कांग्रेस के साथ ही स्वतन्त्र दल के प्रति भी राजनीतिक मोर्चा खोलना पड़े। सन् 1968 में चांमू व दासा के उप-चुनावों में और सन् 1970 में आयो-

---

[53] भानुकुमार शास्त्री द्वारा उदयपुर क्षेत्र से विजेता मोहनलाल सुखाड़िया के खिलाफ दायर रिट याचिका पर राजस्थान उच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय से यह स्पष्ट है।

[54] डा० के० एल० कमल, पूर्व उल्लिखित, पृष्ठ 160।

[55] वही।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

जित नसीराबाद व टोंक के उप-चुनावों में स्वतन्त्र दल की ओर से जनसंघ का सहयोग न मिलने की शिकायतें इस बात की पुष्टि करती हैं। सन् 1967 के चुनावों के ठीक बाद सं० वि० द० सरकार के गठन में भी स्वतन्त्र के साथ सरकार बनाने में जनसंघ ने विशेष रुचि का प्रदर्शन नहीं किया था। इसके अतिरिक्त जनसंघ राजस्थान विधानसभा में भी स्वतन्त्र दल के साथ न्यूनतम कार्यक्रम के आधार पर सहयोग स्थापित नहीं कर सका है।

भा० क्रा० द० के प्रति भी जनसंघ विशेष उत्साहित नहीं है। जनसंघ के नेता यह भी नहीं चाहते थे कि कुम्भाराम और राजा हरिश्चन्द्र कांग्रेस से अलग होकर नयी राजनीतिक पार्टी का गठन करें। भा० क्रा० द० द्वारा गंगानगर जिले में आयोजित किसान सत्याग्रह में भी जनसंघ की विशेष दिलचस्पी नहीं रही थी।

दूसरी ओर अखिल भारतीय स्तर पर वामपंथी दलों और जनसंघ के बीच जो संघर्ष दृष्टिगोचर होता है, राज्य की राजनीति में वह उतना तीव्र नहीं है। जनसंघ मुखपत्र 'ऑरगेनाइजर' में नारी विषयक सम्पादकीय पर विधानसभा में जनसंघ को लेकर आलोचना की जा सकती है, परन्तु वैचारिक स्तर पर या आन्दोलन के रूप में यह संघर्ष अधिक गहरा नहीं है, अपितु डा० सम्पूर्णानन्द के सुखाड़िया को सरकार के गठन के लिए दिये निमन्त्रण के विरोध, बेरी आयोग की रिपोर्ट की क्रियान्विति की माँग, आदि विषयों पर सहयोग भी देखने को मिलता है। जनसंघ के 'चक्का जाम' आन्दोलन (रोडवेज द्वारा बढ़ाये हुए यात्री किराया के विरोध में) और सं० सो० पा० व दोनों कम्यूनिस्ट पार्टियों के भूमि हथियाओं आन्दोलन आदि कुछ मसलों पर परस्पर उदासीनता भी है। इस संघर्ष के अभाव के मुख्यतः दो कारण हैं—प्रथम, वामपंथी दलों की शक्ति काफी क्षीण होना व द्वितीय, दोनों के प्रभाव-क्षेत्र अलग-अलग होना।

शासकीय दल (इन्दिरा कांग्रेस) से भी जनसंघ के सम्बन्ध राज्य की राजनीति में उतने कटे नहीं हैं, यद्यपि सार्वजनिक स्तर पर परस्पर आरोप-प्रत्यारोप विधानसभा के मंच पर व बाहर चलते रहते हैं व जनसंघ द्वारा जहाँ विभिन्न मन्त्रियों के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोप लगाये जाते हैं, कांग्रेस नेता जनसंघ पर साम्प्रदायिकता के आधार पर आलोचना करते हैं, तो भी कई मसलों पर एक-दूसरे के निकट रहने का वे प्रयास भी करते हैं। जयपुर जिला देहात कांग्रेस की शिकायत ही यह रही है, कि उनकी माँग पर जयपुर में कार्य नहीं होता है, परन्तु जनसंघ द्वारा कोटा व जयपुर क्षेत्रों के सम्बन्ध में उठायी गयी माँगें पूरी करवायी गयी हैं।[56] परन्तु यह सहयोग आगे चलता रह सकेगा, इसके बारे में अनिश्चितताएँ अधिक बढ़ रही हैं। प्रथमतः, जगदीश प्रसाद माथुर की भारतीय जनसंघ कार्य-समिति में सचिव पद पर नियुक्ति और राज्यसभा के लिए चुन लिए जाने के बाद, आर० एस० एस० का प्रभाव जनसंघ संगठन पर और अधिक बढ़ने की सम्भावना है। दूसरे, अखिल भारतीय स्तर पर विद्यमान, प्रतिद्वन्द्विता के प्रभाव से बहुत सीमा तक राज्य की राजनीति भी ज्यादा अप्रभावित न रह सकेगी। आर० एस० एस० पर प्रतिबन्ध की माँग राज्य कर्मचारियों के संघ की शाखाओं में भाग लेने पर प्रतिबन्ध आदि इसके उदाहरण हैं।

---

[56] विस्तार के लिए देखिये, लिंक, जून 7, 1970।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

(7)

1967 के बाद भारतीय राजनीति में काफी मोड़ व नई प्रवृत्तियाँ आई हैं। एक-दलीय प्रभुत्व के अन्त और विशेषकर कांग्रेस विभाजन के बाद से देश में जहाँ राजनीतिक स्थायित्व पर प्रश्न चिन्ह उठने लगे हैं, वहीं राजनीतिक बिखराव की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हुई है। मध्यावधि चुनावों में राष्ट्रीय दलों के स्थान पर क्षेत्रीय दलों को मिली जन प्राथमिकता से इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन ही मिला है। इससे स्पष्ट है कि जनता दीर्घकालीन अभूत विचारधारा की अपेक्षा अल्पकालीन ठोस वादों और राष्ट्रीय कार्यक्रमों की अपेक्षा क्षेत्रीय कार्यक्रमों को वरीयता देने लगी है।

मध्यावधि चुनावों के परिणामों में स्पष्ट इस प्रवृत्ति ने उत्तर प्रदेश और हरियाणा में जनसंघ को काफी झकझोड़ा है। तदपि यह दल अभी इसे अतिरिक्त आत्म-विश्वास का परिणाम मानकर सहन कर गया है तथा आत्म-बोध के मूड में अब 'अकेला चलो' के स्थान पर सहयोगियों के साथ चलने को तैयार है।

परन्तु अब प्रश्न सहयोगियों की अपेक्षा जनता के साथ चलने का अधिक है—उस जनता के साथ, जो राजनीतिक दृष्टि से काफी सचेत है, व विकास के पथ पर तेजी से बढ़ने के लिए अधीर है। इस जनता से प्रत्यक्ष सम्पर्क के सहारे ही कोई दल इस विशाल शक्ति पुंज को संगठित कर राष्ट्रहित में लगा सकता है। संगठन के लिए एक विचारधारा की कसौटी पर कसे ठोस कार्यक्रम एवं उनकी क्रियान्विति कर सकने वाला दल ही यह कार्य कर सकेगा। इन कार्यक्रमों का जितना अखिल भारतीय स्वरूप होगा संगठन उतना ही व्यापक होगा। इसके लिए जनसंघ को धर्म, सम्प्रदाय से ऊपर उठना होगा। तभी यह स्वयं को संगठित रख कर जनता को राजनीतिक शिक्षा के आधार पर ले चल सकेगा, अन्यथा भारतीय दल-व्यवस्था में यह भी एक दल मात्र रहेगा।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संविधान-सभा और संविधान का निर्माण*

डा० सुभाष काश्यप

"आइये, इस देश में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने का संकल्प करें—

जब प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र होगा और उसे अपनी प्रतिभा के पूरे विकास के तथा अपनी पूरी सामर्थ्य तक ऊँचा उठने के साधन उपलब्ध होंगे ,

जब गरीबी और गन्दगी, अज्ञान और बीमारी दूर हो गई होंगी ,

जब ऊंच और नीच के बीच, गरीब और अमीर के बीच भेद मिट गया होगा ,

जब न केवल धर्म के विश्वास, प्रतिपादन और व्यवहार की पूरी स्वतन्त्रता होगी, बल्कि धर्म ऐसी संयोजक शक्ति बन जायेगा जो अशान्ति और विच्छेद, विभाजन और अलगाव पैदा करने के बजाये मनुष्य को मनुष्य के साथ जोड़े ,

जब मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का अन्त हो जाएगा ,

जब भारत की आदिमजातियों को, तथा उन सबको, जो पिछड़े हुये हैं और सबको बराबरी में लाने के लिए विशेष सुविधाओं का आयोजन किया जायेगा ,

जब इस देश में न केवल करोड़ों भारतीयों का पेट भरने के लिए पर्याप्त अन्न होने लगेगा, बल्कि एक बार फिर दूध की नदियाँ बहने लगेंगी ,

जब देश के नर-नारी खेतों और कारखानों में हँसते-हँसते काम किया करेंगे ,

जब हर झौंपड़े और पल्ली में घरेलू धन्धों का मधुर संगीत गूँजता होगा और साथ-साथ युवतियाँ अपने मीठे सुर अलापती होंगी ,

जब सूरज और चन्द्रमा इस देश के सुखी घरों और हँसते हुये चेहरों पर चमकेंगे ।"

—राजेन्द्र प्रसाद
15 अगस्त, 1947

संविधान-सभा

लोकतन्त्र की एक विशेषता यह है कि इसमें जनता अपने मनोनुकूल शासन-विधान की व्यवस्था कर सकती है । लोकतन्त्रात्मक राष्ट्रों में जहाँ भी लिखित संविधान है उनका निर्माण जनता ने प्रायः संविधान समाजों के माध्यम से किया है । संविधान-निर्माण के लिए गठित प्रतिनिधिक सभा को ही संविधान-सभा की संज्ञा दी जाती है । आधुनिक युग में संसार का सर्वप्रथम

* इस लेख में अभिव्यक्त विचारों और तथ्यों के लिए लेखक महोदय व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी हैं ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

लिखित संविधान संयुक्त राज्य अमरीका का माना जाता है। उसका निर्माण 1787 में फ़िला-डेल्फिया सम्मेलन ने किया था। इसी तरह फ्रांसीसी क्रान्ति के पश्चात् वहाँ की राष्ट्रीय सभा (1789–91) ने फ्रांस का संविधान बनाया। इन दो संविधान-सभाओं के आदर्श पर यूरोप के अनेक देशों में संविधान-सभाओं की स्थापना हुई और उन्होंने अपने लोगों के लिए संविधानों की रचना की। स्पष्ट है कि लोकतन्त्र और राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के विकास में संविधान-सभा का अपना महत्त्व है और जहाँ भी किसी देश ने स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया है वहाँ किसी न किसी रूप में संविधान-सभा की मांग अवश्य हुई है।

राष्ट्रीय आन्दोलन और संविधान-सभा की मांग

भारत में संविधान-सभा के सिद्धान्त का राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। भारत का संविधान उस भारतीय क्रान्ति की उद्भावना है जिसका लक्ष्य था राष्ट्र की विदेशी शासन से मुक्ति और आत्म-निर्माण तथा आत्म-विकास के नवयुग का उन्मेष। अतः यह स्वाभाविक है कि संविधान-सभा और संविधान-निर्माण की कहानी कहने में हमें भारतीय स्वाधीनता संघर्ष तथा गत कुछ दशकों के सांविधानिक इतिहास की कुछ बातों का उल्लेख करना पड़े। भारत में जब से स्वतन्त्रता-आन्दोलन प्रारम्भ हुआ है, तब से ही स्वशासन और स्वराज्य की मांग के पीछे यह विचार भी किसी-न-किसी रूप में निहित था, कि अपनी वैधानिक व्यवस्था के निर्माण का भारतीयों को अधिकार होना चाहिये, और यह व्यवस्था बाहर की किसी शक्ति द्वारा आरोपित नहीं होनी चाहिये।

ब्रिटिश सरकार ने अपनी 20 अगस्त, 1917 की घोषणा में भारत के प्रति ब्रिटेन की भावी नीति की घोषणा करते हुये वचन दिया था कि ब्रिटिश-नीति का अन्तिम ध्येय भारत में क्रमशः उत्तरदायी शासन की स्थापना करना है। लेकिन घोषणा में यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि इस दिशा में कब और कितनी प्रगति होगी, इसका निर्णय विदेशी सरकार ही करेगी। 1919 के भारत शासन अधिनियम की प्रस्तावना में इस घोषणा के शब्दों को ज्यों-का-त्यों दोहराया गया था। भारतीय लोकमत ने ब्रिटिश सरकार की इस नीति का विरोध किया। कांग्रेस तथा कुछ अन्य दलों ने 1919 के अधिनियम में सुधारों की माँग की। कांग्रेस ने इस अधिनियम को "अपर्याप्त, असन्तोषजनक और निराशाजनक" बताया और आग्रह किया कि भारत में शीघ्र ही आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के आधार पर पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना की जाये। 1922 में महात्मा गांधी ने पहली बार स्पष्ट शब्दों में स्वयं भारतीयों द्वारा भारत का संविधान बनाये जाने की बातें कहीं। यद्यपि उन्होंने संविधान-सभा शब्दबन्ध का प्रयोग नहीं किया, फिर भी उनकी बात में एक ऐसी प्रतिनिधिक संस्था का बीज निहित था। गांधी जी ने कहा था—

> "स्वराज्य ब्रिटिश संसद् का उपहार नहीं होगा। वह भारत की पूर्ण आत्माभिव्यक्ति की घोषणा होगा। यह सच है कि उसे संसद् के एक अधिनियम द्वारा व्यक्त किया जायेगा पर यह तो भारत के लोगों की घोषित इच्छा की औपचारिक पुष्टिमात्र होगी। यह पुष्टि ..... एक संधि की होगी जिसमें ब्रिटेन भी एक पक्ष होगा .... जब समझौता हो जायेगा तब ब्रिटिश संसद् भारत के लोगों की इच्छा की पुष्टि कर

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

देगी। यह इच्छा भी नौकरशाही द्वारा नहीं, बल्कि भारतीय जनता के स्वतन्त्रतापूर्वक चुने हुये प्रतिनिधियों द्वारा व्यक्त होगी।"

इसी वर्ष श्रीमती एनी बेसेन्ट के सुझाव पर शिमला में केन्द्रीय विधानमण्डल के दोनों सदनों के सदस्यों की एक सभा हुई, जिसमें संविधान-निर्माण के लिए एक सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया। 1923 में फिर एक सभा की गई, जिसमें केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान-मण्डलों के सदस्य उपस्थित थे। इस सभा ने संविधान के आवश्यक तत्त्वों की एक रूपरेखा तैयार की जिसके अनुसार भारत को अन्य स्वशासित उपनिवेशों (डोमिनियनों) के साथ बराबरी का दर्जा दिया गया था। एक वर्ष बाद, फरवरी 1924 में इस सभा ने एक 'राष्ट्रीय सम्मेलन' बुलाया। सम्मेलन के अध्यक्ष थे सर तेज बहादुर सप्रू। इस सम्मेलन की बैठक हुई अप्रैल 1924 में। बैठक में एक भारतीय कामनवेल्थ विधेयक (कामनवेल्थ ऑफ इण्डिया बिल) का प्रारूप तैयार किया गया। दिसम्बर 1924 में सम्मेलन की बम्बई बैठक में विधेयक पर आगे विचार हुआ। कुछ संशोधनों के बाद विधेयक जनवरी 1925 में देहली में हुए सर्वदलीय सम्मेलन के सामने रखा गया। सर्वदल सम्मेलन महात्मा गांधी की अध्यक्षता में हुआ। आगे और भी विचार-विनिमय, संशोधनों और परिमार्जन के बाद विधेयक को ब्रिटिश संसद् के सामने प्रस्तुत कराने का प्रयास किया गया। विधेयक को श्रमिक दल के एक सदस्य के पास एक पत्रक के साथ भेजा गया। पत्रक पर 43 प्रमुख भारतीय नेताओं के हस्ताक्षर थे। श्रमिक-दल ने कुछ संशोधनों के साथ विधेयक को स्वीकार कर लिया। दिसम्बर 1925 में विधेयक हाऊस ऑफ कॉमन्स में पुरःस्थापित किया गया तथा उसका प्रथम वाचन हो गया। बाद में आम चुनावों में श्रमिक-दल की हार के साथ इस विधेयक का भाग्य भी सो गया, किन्तु नितान्त सांविधानिक और शान्तिपूर्ण ढंग से भारत को स्वशासन का अधिकार दिलाने तथा ब्रिटिश-संसद् के माध्यम से उसका नया संविधान लागू करने का यह एक महत्त्वपूर्ण प्रयास था।

इसी बीच 1924 में केन्द्रीय विधान-सभा में स्वराज दल के नेता, पं० मोतीलाल नेहरू ने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जो आगे चलकर राष्ट्रीय माँग के नाम से विख्यात हुआ। इस प्रस्ताव में कहा गया था—

"यह सभा सपरिषद् गवर्नर जनरल से संस्तुति करती है कि वे भारत में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना करने के उद्देश्य से भारतीय शासन अधिनियम में संशोधन करने के लिए कार्यवाही करें और इस प्रयोजन के लिये निम्नलिखित उपाय करें :—

(क) वे जल्दी ही एक प्रतिनिधि गोलमेज सम्मेलन बुलायें जो महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक वर्गों के अधिकारों और हितों की रक्षा को ध्यान में रखते हुये भारत के लिए एक संविधान की योजना की संस्तुति करे, और

(ख) केन्द्रीय विधानमण्डल का विघटन करने के बाद यह योजना नव-निर्वाचित भारतीय विधानमण्डल के सामने प्रस्तुत करें और फिर उसे एक संविधि के रूप में लेखबद्ध करने के लिए ब्रिटिश संसद् के पास भेज दें।"

प्रस्ताव भारी बहुमत से सरकार की इच्छा के विरुद्ध पास हो गया। सितम्बर 1925 में फिर विधान सभा ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें पिछले साल की राष्ट्रीय मांग को अधिक विस्तृत रूप में दोहराया गया था। "राष्ट्रीय मांग" सम्बन्धी प्रस्तावों का ऐतिहासिक महत्त्व है, क्योंकि उनके द्वारा पहली बार केन्द्रीय विधान-सभा ने इस मांग का समर्थन किया, कि भारत

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

का भावी संविधान स्वयं भारतीयों द्वारा बनाया जाये ।

ब्रिटिश सरकार ने नवम्बर, 1927 में सर जॉन साइमन की अध्यक्षता में एक भारतीय संविधि-आयोग (साइमन कमीशन) की स्थापना की ओर उसे यह पता लगाने का काम सौंपा कि क्या भारतीय उत्तरदायी शासन की दिशा में और अधिक प्रगति करने योग्य हो गये हैं ? साइमन आयोग के सातों के सातों सदस्य अंग्रेज थे । आयोग में एक भी भारतीय सदस्य न होने की देश में कड़ी प्रतिक्रिया हुई और इस बात पर भारी क्षोभ प्रकट किया गया कि अपने ही देश का संविधान बनाने के काम में भारतीयों को भाग नहीं लेने दिया जा रहा । 1927 में हुये कांग्रेस के बम्बई और मद्रास अधिवेशनों में एक प्रस्ताव के द्वारा कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधानमण्डलों के निर्वाचित सदस्यों तथा विभिन्न दलों के नेताओं के सहयोग से एक स्वराज्य संविधान बनाने के लिए कहा गया । भारत सचिव का कहना था कि भारतीय स्वयं अपने लिये संविधान बनाने में सर्वथा असमर्थ थे, क्योंकि साम्प्रदायिक मतभेदों के कारण वे कोई सर्वमान्य संविधान बना ही नहीं सकते थे । इसी चुनौती के उत्तर में तथा कांग्रेस के बम्बई और मद्रास अधिवेशनों में पारित प्रस्तावों के सन्दर्भ में फरवरी 1928 में देहली में एक सर्वदल सम्मेलन हुआ । बाद में, मई 1928 में बम्बई में हुई एक बैठक में सम्मेलन ने पं० मोतीलाल की अध्यक्षता में भारत के संविधान के सिद्धान्तों का निर्धारण करने के लिए एक समिति नियुक्त की । समिति की रिपोर्ट नेहरू रिपोर्ट के नाम से विख्यात हुई । यह भारतीयों द्वारा अपने देश के संविधान-निर्माण की पहली चेष्टा थी । कुछ संशोधनों के साथ नेहरू रिपोर्ट को सर्वदल सम्मेलन ने सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर लिया ।

1929–32 में लन्दन में तीन गोलमेज सम्मेलन हुए । इन सम्मेलनों के फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने कुछ विस्तृत सुझाव प्रस्तुत किये, जो मार्च 1933 में एक श्वेत-पत्र में प्रकाशित किये गये । ब्रिटिश संसद के दोनों सदनों की एक संयुक्त समिति ने श्वेत-पत्र की योजना का परीक्षण किया और कुछ परिवर्तनों के साथ उन्हें स्वीकार किया । संसद ने यह संशोधित योजना 1935 के भारतीय शासन अधिनियम के रूप में पास की । जहाँ तक भारत के इस दावे का सम्बन्ध था, कि उसे अपने संविधान को बनाने का अधिकार मिलना चाहिए, संसदीय संयुक्त समिति ने कहा कि भारतीयों को "संविधान बनाने का अधिकार देना इस समय व्यावहारिक नहीं है ।" 1935 के अधिनियम की धारा 110 में यह भी कहा गया था, कि भारत के संघीय और प्रान्तीय विधान-मण्डलों को स्वत: संविधान में संशोधन करने का अधिकार न होगा ।

1934 में स्वराज्य पार्टी में आत्म-निर्णय के अधिकार की माँग की और एक प्रस्ताव द्वारा घोषणा की, कि आत्म-निर्णय के अधिकार को क्रियान्वित करने का एकमात्र उपाय देश का संविधान बनाने के लिए भारतीय प्रतिनिधियों की एक संविधान-सभा बुलाना होगा । कांग्रेस ने भी इस माँग का समर्थन किया और कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने जून 1934 में, श्वेत-पत्र के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास किया, जिसमें कहा गया था, कि श्वेत-पत्र का एकमात्र सन्तोष-जनक विकल्प यह होगा कि वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित भारतीय प्रतिनिधियों की संविधान सभा एक संविधान का निर्माण करे । भारत की ओर से संविधान-सभा की माँग निश्चित रूप से प्रस्तुत करने का यह पहला अवसर था । इसके बाद यह माँग बार-बार और अधिकाधिक आग्रहपूर्वक प्रस्तुत की जाती रही । अप्रैल 1936 के लखनऊ अधिवेशन तथा दिसम्बर 1936 के फैजपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने प्रस्ताव पास करके 1935 के अधिनियम

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

को पूरी तरह अस्वीकार कर दिया और कहा कि बाहर की किसी सत्ता को यह अधिकार नहीं है कि वह भारत के लिए राजनीतिक और आर्थिक संगठन का निर्माण करे। प्रस्तावों में यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि कांग्रेस भारत में एक ऐसे सच्चे लोकतन्त्रात्मक राज्य की स्थापना करना चाहती है जिसमें राजनीतिक शक्ति समूची जनता को हस्तान्तरित कर दी गई हो और सरकार उसके कारगर नियन्त्रण में हो। इस तरह का राज्य केवल ऐसी संविधान-सभा द्वारा ही उत्पन्न हो सकता था जो मताधिकार द्वारा निर्वाचित की गई हो और जिसे देश के लिए संविधान बनाने का अन्तिम अधिकार हो। फैजपुर अधिवेशन में अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए पण्डित नेहरू ने स्पष्ट घोषणा की कि वयस्क मताधिकार द्वारा निर्वाचित संविधान-सभा की माँग "आज की कांग्रेस की नीति का आधार-स्तम्भ है।"

एक अन्य प्रस्ताव द्वारा फैजपुर अधिवेशन ने निश्चय किया कि 1935 के भारत शासन अधिनियम के अन्तर्गत शीघ्र ही होने वाले प्रान्तीय विधान-सभाओं के निर्वाचनों के बाद, केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान-मण्डलों के कांग्रेसी सदस्यों का एक सम्मेलन किया जाये जो संविधान-सभा की माँग पर बल दे। निर्वाचनों में निर्णायक सफलता पाने के बाद कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने देहली में, 18 मार्च, 1937 को अपनी बैठक में एक प्रस्ताव द्वारा इस बात पर जोर दिया कि चुनावों के परिणामों से संविधान-सभा की माँग की जनता द्वारा पुष्टि सिद्ध होती है। जनता चाहती है कि 1935 का अधिनियम वापस ले लिया जाये तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आधार पर भारतीयों को अपनी संविधान-सभा में अपना संविधान स्वयं बनाने का अवसर दिया जाये। अगले दो दिन अर्थात् 19 और 20 मार्च, 1937 को देहली में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान मण्डलों के कांग्रेस सदस्यों का राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ जिसमें संविधान-सभा की माँग को दृढ़तापूर्वक दोहराया गया। अगस्त–अक्तूबर, 1937 के बीच केन्द्रीय विधानसभा में उन सभी प्रान्तों में जहाँ कांग्रेस सरकारें थीं तथा सिन्ध में विधान सभाओं ने ऐसे प्रस्ताव पास किये जिनमें भारत के निमित्त एक नया संविधान बनाने के लिए संविधान-सभा की माँग का जोरदार समर्थन किया गया था। फरवरी, 1938 में सुभाषचन्द्र बोस की अध्यक्षता में हुए कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन में भी 1935 के अधिनियम की संघीय व्यवस्था की आलोचना की गई तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आधार पर संविधान-सभा द्वारा बनाये जाने वाले संविधान में विश्वास प्रकट किया गया।

दूसरा विश्वयुद्ध आरम्भ होने पर भारतीय स्वतन्त्रता का प्रश्न और उसके साथ ही संविधान-सभा का विचार भी प्रमुख रूप से उभर कर सामने आया। कांग्रेस ने 14 सितम्बर, 1939 के अपने ऐतिहासिक प्रस्ताव में अपनी संविधान-सभा की माँग फिर दोहराई और कहा कि भारतीय लोगों को बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के संविधान-सभा द्वारा अपने विधान का निर्माण कर आत्म-निर्णय का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। कांग्रेस की इस माँग का सरकार ने सिर्फ यह उत्तर दिया कि "भारत में ब्रिटिश नीति का अन्तिम उद्देश्य देश में डोमीनियन स्टेटस की स्थापना करना है और युद्ध समाप्त होने पर ब्रिटिश सरकार भारत की विभिन्न जातियों, दलों और हितों के प्रतिनिधियों से तथा देशी नरेशों से विचार-विनिमय करेगी, जिससे कि 1935 के अधिनियम में आवश्यक संशोधन करने के लिए उनकी सहायता और सहयोग प्राप्त किया जा सके।" सरकार का यह उत्तर कांग्रेस को नितान्त असन्तोषजनक लगा और कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने नवम्बर, 1939 में एक अन्य प्रस्ताव पास किया, जिसमें उसने

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारत के लिए संविधान-सभा की स्थापना पर जोर दिया। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि—

> "समिति फिर यह घोषणा करना चाहती है कि ब्रिटेन की नीति से साम्राज्यवाद का धब्बा दूर करने के लिए और कांग्रेस को आगे सहयोग के सम्बन्ध में प्रेरित करने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि भारतीय स्वतन्त्रता को मान्यता मिले और उसके लोगों का यह अधिकार स्वीकार किया जाये कि वे एक संविधान-सभा द्वारा अपने संविधान का निर्माण कर सकते हैं। उसका मत है कि किसी स्वतन्त्र देश के संविधान का निर्धारण करने के लिए संविधान-सभा ही एक लोकतन्त्रात्मक उपाय है। समिति का यह भी विचार है कि संविधान-सभा ही साम्प्रदायिक तथा अन्य कठिनाइयों को सुलझाने का उपयुक्त साधन है।"

19 नवम्बर के हरिजन में "एक ही रास्ता" शीर्षक से एक लेख में महात्मा गाँधी ने भी संविधान-सभा की राष्ट्रीय माँग पर सविस्तार विचार किया और इस निष्कर्ष की घोषणा की कि वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित संविधान-सभा ही देश की साम्प्रदायिक तथा अन्य समस्याओं को सुलझाने का एकमात्र रास्ता है। गाँधी जी ने लिखा—

> "और बहुत सी बातों के साथ, पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने मुझे इस बात के लिए भी मजबूर किया कि मैं संविधान-सभा के निहितार्थों का अध्ययन करूँ। जब उन्होंने पहली बार इसका कांग्रेस के प्रस्तावों में समावेश किया तो मैंने इसे यह सोचकर मान लिया कि उन्हें प्रजातन्त्र की बारीकियों का मुझ से अधिक ज्ञान है। वैसे मैं सन्देहों से मुक्त नहीं था। किन्तु अब कठोर तथ्यों ने मुझे संविधान-सभा के विचार का जवाहरलाल से भी अधिक उत्साही समर्थक बना दिया है क्योंकि जवाहरलाल को शायद ऐसा न लगता हो जैसा मुझे लगता है कि व्यापक राजनीतिक और दूसरे प्रकार की शिक्षा का माध्यम होने के अतिरिक्त संविधान-सभा हमारी साम्प्रदायिक तथा अन्य विषमताओं का हल भी बन सकती है।"

इसी बीच देश की साम्प्रदायिक समस्या में एक नया मोड़ पैदा हो गया। मुस्लिम लीग कहने लग गई कि मुसलमान एक जाति नहीं है बल्कि एक राष्ट्र है और इसलिए उन्हें राजनीतिक आत्म-निर्णय का अधिकार प्राप्त है। इतना ही नहीं, मुस्लिम लीग का यह भी दावा था कि उसकी स्वीकृति के बिना देश की सांविधानिक उन्नति नहीं हो सकती। मुस्लिम लीग की कार्यसमिति ने 17–18 सितम्बर, 1939 को एक प्रस्ताव में सरकार से यह आश्वासन माँगा कि अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की सहमति और स्वीकृति के बिना न तो भारत की सांविधानिक प्रगति के सम्बन्ध में कोई घोषणा की जायेगी और न ब्रिटिश सरकार अथवा संसद कोई संविधान बनायेगी या स्वीकारेगी।

ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस की इस माँग को कि भारतीयों को अपना संविधान स्वयं बनाने का हक है पहली बार अधिकृत, यद्यपि परोक्ष रूप से, 1940 के अगस्त प्रस्ताव में स्वीकार किया। वाइसराय लॉर्ड लिनलिथगो ने 8 अगस्त, 1940 को भारत की सांविधानिक व्यवस्था के बारे में अपने वक्तव्य में कहा—

> "भारत में इस बात का प्रबल आग्रह रहा है कि सांविधानिक योजना के निर्माण की जिम्मेदारी मुख्यतः भारतीयों की ही होनी चाहिए और यह योजना भारतीय जीवन के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संगठन के सम्बन्ध में भारतीयों की

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संकल्पनाओं पर आधारित होनी चाहिए। सम्राट की सरकार को इस इच्छा से सहानुभूति है और वह इसे पूरी तरह व्यावहारिक रूप से कार्य रूप में परिणत करना चाहती है। इसमें सिर्फ एक ही शर्त है—भारत के ग्रेट-ब्रिटेन के साथ दीर्घकालीन सम्बन्धों के फलस्वरूप ग्रेट-ब्रिटेन के ऊपर जो दायित्व आ गये हैं उनकी उचित रूप से पूर्ति होनी चाहिए। सम्राट की सरकार युद्ध समाप्त होने के बाद यथाशीघ्र एक ऐसी प्रतिनिधिक सभा के निर्माण की सहर्ष अनुमति देगी जिसमें भारत के राष्ट्रीय जीवन के प्रमुख तत्त्वों का प्रतिनिधित्व हो और जो नये संविधान का निर्माण कर सकें।"

मार्च, 1942 में सर स्टेफर्ड क्रिप्स भारत की सांविधानिक समस्या के समाधान के लिए जो प्रस्ताव लाये थे उसमें युद्ध की समाप्ति के बाद संविधान-सभा की स्थापना का विचार-स्पष्टतः स्वीकार किया गया था। इस संविधान-सभा में ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित होते। योजना में बताया गया था कि संविधान-सभा के निर्माण के लिए प्रान्तीय विधानमण्डलों के निम्न सदनों के सारे सदस्य एक निर्वाचक मण्डल के रूप में गठित होंगे और आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर संविधान-सभा का निर्वाचन करेंगे। संविधान-सभा की सदस्य-संख्या इस निर्वाचक मण्डल की सदस्य-संख्या का दशांश होगी। देशी राज्य इस संविधान-सभा में अपने प्रतिनिधि अपनी जनसंख्या के अनुपात से नियुक्त करेंगे। ब्रिटिश सरकार संविधान-सभा द्वारा तैयार किया गया संविधान तभी स्वीकार करेगी जबकि दोनों शर्तें पूरी होती हों—(क) यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रान्त नये संविधान को स्वीकार न करना चाहे तो उसे वर्तमान सांविधानिक स्थिति को कायम रखने का अधिकार है। यदि किसी प्रान्त की विधानसभा 60 प्रतिशत बहुमत से संघ में रहने का निश्चय नहीं करती, तो उसकी संघ में प्रविष्टि का अन्तिम निर्णय जनमत-संग्रह के द्वारा होना चाहिए। नये संविधान में सम्मिलित न होने वाले प्रान्तों को ब्रिटिश सरकार नया संविधान देने के लिए तैयार होगी और (ख) ब्रिटिश सरकार तथा संविधान-सभा के बीच एक सन्धि हो। भारतीयों की संविधान-सभा की माँग के सम्बन्ध में क्रिप्स प्रस्ताव अगस्त प्रस्ताव से काफी आगे था, क्योंकि इसमें नये संविधान के निर्माण का अधिकार मुख्यतः भारतीयों का नहीं बल्कि पूर्णतया भारतीयों का मान लिया गया था। किन्तु, क्रिप्स प्रस्ताव में प्रस्तावित संविधान-सभा कार्य-रूप में परिणत न हो सकी और क्रिप्स मिशन असफल रहा।

1942 के 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव में कांग्रेस ने यह भी घोषणा की थी कि स्वाधीनता के बाद अस्थायी राष्ट्रीय सरकार एक संविधान-सभा का आयोजन करेगी जो देश के लिए एक सर्वमान्य संविधान बनायेगी। इस प्रस्ताव के तुरन्त बाद ही कांग्रेस नेता गिरफ्तार कर लिये गये और फिर भारत की सांविधानिक समस्या के समाधान का मई, 1945 में युद्ध की समाप्ति तक अन्य कोई प्रयत्न नहीं किया गया। 1945 में प्रकाशित सप्रू समिति की रिपोर्ट में भी भारत का सांविधानिक गतिरोध दूर करने के लिए संविधान-सभा की स्थापना का सुझाव दिया गया था तथा उसके संगठन की एक योजना भी दे दी गई थी।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् इंग्लैण्ड में साधारण निर्वाचन हुए और इनके फलस्वरूप वहाँ श्री एटली के नेतृत्व में श्रमिक-दल की सरकार बनी। हाऊस ऑफ कामन्स में बोलते हुए श्री एटली ने कहा—

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

"चालीस करोड़ लोगों का देश भारत अपने बेटों को दो बार स्वतन्त्रता के नाम पर मर मिटने के लिए भेज चुका है, यदि अब वह अपने भविष्य का स्वयं निर्माण करने की स्वतन्त्रता चाहता है तो इसमें अनुचित क्या है ?"

इसी बीच भारत में लॉर्ड लिनलिथगो की जगह लार्ड वेवेल वाइसराय बनकर आ गये और 19 सितम्बर, 1945 को वाइसराय लार्ड वेवेल ने घोषणा की कि सरकार यथाशीघ्र संविधान-सभा बुलाना चाहती है, लेकिन इसके पहले केन्द्रीय और प्रान्तीय विधानमण्डलों के लिए निर्वाचन हो जाने चाहिए जिससे कि भारतीय निर्वाचकों की इच्छा ज्ञात हो सके। तदनुसार, 1945 के अन्त में केन्द्रीय सभा और 1946 की पहली तिमाही में प्रान्तीय विधान-मण्डलों के लिए निर्वाचन पूरे हो गये। कांग्रेस ने 8 प्रान्तों में पूर्ण बहुमत प्राप्त किया। उसने मुस्लिम-बहुल उत्तर-पश्चिम-सीमा-प्रान्त में भी निरपेक्ष बहुमत प्राप्त किया। शेष तीन प्रान्तों, बंगाल, पंजाब और सिन्ध, में वह सबसे बड़े राजनीतिक दल के रूप में अवतरित हुआ। मुस्लिम लीग ने केन्द्रीय सभा के सभी आरक्षित स्थानों पर विजय प्राप्ति की। उसे प्रान्तीय सभाओं के 492 आरक्षित स्थानों में से 428 स्थानों पर अधिकार प्राप्त हो गया लेकिन लीग किसी भी प्रान्त में पूर्ण बहुमत न पा सकी।

मन्त्रि-मिशन योजना और संविधान-सभा की स्थापना

24 मार्च, 1946 को तीन सदस्यों का मन्त्रि-मिशन नई दिल्ली पहुँचा। मिशन ने 16 मई, 1946 को अपनी योजना प्रकाशित की। इस योजना में भारत के भावी संविधान के निर्माण के सिद्धान्तों और प्रक्रिया दोनों का विस्तार से उल्लेख किया गया था। मिशन ने यह स्पष्ट कर दिया था कि उसका यह उद्देश्य नहीं था कि वह संविधान के विवरण तैयार कर दे, उसका उद्देश्य तो केवल "एक ऐसी व्यवस्था को आरम्भ कर देना था जिसके द्वारा भारतीय भारतीयों के लिए संविधान बना सके।" संविधान-निर्माण के प्रस्तावित संगठन के बारे में मिशन का विचार था कि इसका सबसे अधिक सन्तोषजनक उपाय तो यही होगा कि वयस्क मता-धिकार के आधार पर निर्वाचन हो, पर यदि इस समय ऐसी कार्यवाही की गई तो नये संविधान की रचना में बहुत अधिक देरी हो जायेगी। इसलिए, मिशन के अनुसार एकमात्र व्यावहारिक उपाय यह था कि प्रान्तीय विधान-सभाओं का निर्वाचनकारी संस्थाओं के रूप में उपयोग किया जाये। इस सम्बन्ध में मिशन की सिफारिश थी कि संविधान-सभा में प्रान्तों का प्रति-निधित्व जनसंख्या के आधार पर हो और प्रायः दस लाख व्यक्तियों के ऊपर एक सदस्य निर्वाचित हो। प्रान्तों के लिए जो स्थान निर्धारित किये जायें, उन्हें मुख्य सम्प्रदायों के बीच बाँट दिया जाना चाहिए और इस प्रयोजन के लिए उनके विभिन्न सम्प्रदायों के जनसंख्या के आधार पर तीन वर्ग कर देने चाहियें—सिक्ख, मुसलमान और सामान्य सिक्खों और मुसलमानों के अलावा बाकी सब। प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रतिनिधि प्रान्तीय सभा में उस सम्प्रदाय के प्रति-निधियों द्वारा चुने जायें। मतदान एकल संक्रमणीय मत द्वारा सानुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर हो। देसी राज्यों के प्रतिनिधियों की संख्या भी उनकी जनसंख्या के आधार पर निर्धारित की जानी थी पर उनके चुनाव की पद्धति बाद में विचार-विनिमय द्वारा तय की जाती। आरम्भिक अवस्था में राज्यों का प्रतिनिधित्व एक नेगोशिएटिंग कमेटी अथवा वार्ता-समिति द्वारा होना था। संविधान-सभा की कुल सदस्य-संख्या 385 होनी थी। इन सदस्यों में

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

से 292 तो ब्रिटिश भारत के ग्यारह गवर्नरों के प्रान्तों से चुने जाने थे और 93 प्रतिनिधि देशी राज्यों के होने थे।

मन्त्रि-मिशन ने जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व की निम्न तालिका प्रस्तुत की थी—

विभाग (क)

प्रान्त	सामान्य	मुसलमान	कुल
मद्रास	45	4	49
बम्बई	19	2	21
संयुक्त प्रान्त	47	8	55
बिहार	31	5	36
मध्य प्रान्त	16	1	17
उड़ीसा	9	0	9
कुल	167	20	187

विभाग (ख)

प्रान्त	सामान्य	मुसलमान	सिख	कुल
पंजाब	8	16	4	28
उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त	0	3	0	3
सिन्ध	1	3	0	4
कुल	9	22	4	35

विभाग (ग)

प्रान्त	सामान्य	मुसलमान	कुल
बंगाल	27	33	60
असम	7	3	10
कुल	34	36	70

ब्रिटिश भारत के लिए कुल स्थान	292
देशी राज्यों के लिए अधिकतम स्थान	93
कुल	385

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों में चार प्रतिनिधि मुख्य आयुक्तों के प्रान्तों के होने थे। विभाग (क) में एक दिल्ली का, एक अजमेर-मेरवाड़ा का और एक कुर्ग का प्रतिनिधि होना था। जहाँ कुर्ग के प्रतिनिधि का निर्वाचन वहाँ की विधान परिषद् करती, दिल्ली और अजमेर-मेरवाड़ा के प्रतिनिधि केन्द्रीय विधानसभा में इन क्षेत्रों के प्रतिनिधियों द्वारा चुने जाने थे। विभाग (ख) में ब्रिटिश बलुचिस्तान का एक प्रतिनिधि सम्मिलित किया जाना था। इस प्रकार संविधान सभा में ब्रिटिश भारत के कुल प्रतिनिधियों की संख्या 296 हो जानी थी।

मन्त्रिमण्डल-मिशन की योजना में कुछ विस्तार से संविधान-सभा की प्रक्रिया का भी निरूपण कर दिया जाना था और कहा गया था कि संविधान-सभा की प्रारम्भिक बैठक के बाद में जिसमें सभापति तथा अन्य पदाधिकारियों का निर्वाचन होगा और 'नागरिकों के अधिकारों, अल्पसंख्यकों तथा कबाइली और वर्जित क्षेत्रों' के बारे में एक परामर्श समिति की स्थापना की जायेगी। प्रान्तीय प्रतिनिधि तीन विभागों में विभक्त हो जायेंगे—वर्ग (क) जिसमें तमिलनाडु, बम्बई, संयुक्त प्रान्त, बिहार, मध्य प्रान्त और उड़ीसा सम्मिलित होंगे, वर्ग (ख) जिसमें पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त और सिन्ध सम्मिलित होंगे और वर्ग (ग) जिसमें असम तथा बंगाल सम्मिलित होंगे।* इसके बाद प्रत्येक प्रान्त-समूह अपने अंगभूत प्रान्तों के संविधान तय करेगा और यह भी तय करेगा कि क्या इन प्रान्तों के लिए कोई समूह संविधान तय किया जाना चाहिए और यदि हाँ तो प्रांत समूह के पास क्या-क्या विषय रहने चाहिएँ। इन विषयों को तय करने के बाद तीनों समूहों तथा देशी राज्यों के प्रतिनिधि संघ-संविधान का निर्माण करने के लिए फिर एकत्रित होंगे। यदि संघ-संविधान समिति में ऐसा कोई प्रस्ताव उपस्थित हो जो मन्त्रिमण्डल-मिशन की योजना में निर्धारित संविधान के मूल स्वरूप में परिवर्तन करना चाहे या कोई 'प्रमुख साम्प्रदायिक प्रश्न' उठाये, तो उसका निर्णय दोनों प्रमुख जातियों में से प्रत्येक के उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के बहुमत से होगा। 'प्रमुख साम्प्रदायिक प्रश्न' क्या है, इसका निर्णय संविधान-सभा का सभापति करेगा और यदि प्रमुख सम्प्रदायों में से किसी के भी प्रतिनिधियों का बहुमत उससे प्रार्थना करे, तो वह इस सम्बन्ध में अपना निर्णय देने से पहले संघीय न्यायालय से सलाह कर सकेगा। प्रान्तों के वर्गीकरण के बारे में व्यवस्था की गयी थी कि जैसे ही नयी सांविधानिक व्यवस्था कार्यान्वित होगी, वैसे ही किसी भी प्रान्त को इस बात की छूट मिल जायेगी कि उसे जिस प्रान्त समूह में रखा गया है, वह उसमें से निकल जाये। प्रान्त का विधानमण्डल इस तरह का निर्णय नये संविधान के अधीन पहले सामान्य निर्वाचन हो जाने के पश्चात् करेगा।

मन्त्रि-मिशन योजना में ब्रिटिश भारत के लिए जो 296 स्थान निर्धारित किये गये थे, उनके लिए निर्वाचन जुलाई-अगस्त 1946 में सम्पन्न हुए। कांग्रेस ने कुल 208 स्थानों पर विजय प्राप्त की। 223 सामान्य स्थानों और चार मुख्य आयुक्तों के प्रान्तों के लिए आरक्षित स्थानों में से उसे 202 स्थान, 78 मुस्लिम स्थानों में से 3 स्थान और 3 सिक्खों के स्थान प्राप्त हुए। मुस्लिम लीग ने 78 मुस्लिम स्थानों में से 73 स्थानों पर विजय प्राप्त की। उसे

---

* दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा और कुर्ग के प्रतिनिधि वर्ग (क) में बैठने को थे और ब्रिटिश बलुचिस्तान का प्रतिनिधि वर्ग (ख) में। इस तरह वर्ग (क) में वे क्षेत्र सम्मिलित थे जिनका पाकिस्तान के लिए दावा नहीं किया गया था और वर्ग (ख) तथा (ग) में वे क्षेत्र थे जिनका पाकिस्तान के लिए दावा किया गया था।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अकेले बंगाल में ही 32 स्थान प्राप्त हुए। कांग्रेस ने तमिलनाडु (तब मद्रास) (45), मध्य प्रान्त (16), बम्बई (19) और असम (7) में सभी सामान्य स्थान जीत लिए। उसने बंगाल में 27 सामान्य स्थानों में से 25, बिहार में 31 में से 28, संयुक्त प्रान्त में 47 में से 44, उड़ीसा में 9 में से 8, पंजाब में 8 में से 6 और सिन्ध, कुर्ग, दिल्ली तथा अजमेर-मेरवाड़ा में एकमात्र सामान्य स्थान प्राप्त किये। उसने संयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में 8 मुस्लिम स्थानों में से 1 और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में 3 मुस्लिम स्थानों में से 2 पर विजय प्राप्त की। शेष स्थानों में से 1 कृषक प्रजा पार्टी, 3 यूनियनिस्ट पार्टी, 1 अनुसूचित जाति संघ, 1 साम्यवादी दल और 8 स्वतन्त्र उम्मीदवारों ने जीते। कांग्रेस के टिकट पर चुनाव जीतने वालों में केवल कांग्रेस के सदस्य ही सम्मिलित नहीं थे, बल्कि भारत की विभिन्न अल्पसंख्यक जातियों के सदस्य भी सम्मिलित थे। कांग्रेस ने जिन 208 स्थानों पर विजय पायी उनमें से 29 अनुसूचित जातियों के सदस्य, 6 भारतीय ईसाई, 3 आंग्ल-भारतीय, 3 पारसी और 4 कबाइली जातियों के सदस्य थे।

संविधान-सभा के लिए निर्वाचित सदस्यों में भारतीय जनजीवन के प्रत्येक क्षेत्र की उत्कृष्टतम विभूतियाँ सम्मिलित थीं। उनमें भारत के विभिन्न दलों के प्रमुख नेता और अध्यक्ष थे। उदाहरण के लिए, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (नेहरू), अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ (जगजीवन राम), अखिल भारतीय मुस्लिम लीग (जिन्ना), अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ (अम्बेदकर), अखिल भारतीय महिला सम्मेलन (हंसा मेहता), अखिल भारतीय जमींदार संघ (महाराजा दरभंगा), अखिल भारतीय हिन्दू महासभा (श्यामा प्रसाद मुकर्जी), आंग्ल-भारतीय (फ्रेंक एन्टनी) इन सारे दलों और सस्थाओं के अध्यक्ष संविधान-सभा में विराजमान थे। इनके अतिरिक्त अन्तर्कालीन केन्द्रीय सरकार के 12 सदस्य, कांग्रेस के 5 भूतपूर्व अध्यक्ष, कांग्रेस कार्य-समिति के 7 सदस्य, कांग्रेस कार्य-समिति के 7 भूतपूर्व सदस्य, अखिल भारतीय मुस्लिम-लीग की कार्य-समिति के 8 सदस्य, प्रान्तीय कांग्रेस समितियों के 11 अध्यक्ष, प्रान्तीय मुस्लिम-लीग के 2 अध्यक्ष, वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् के 4 भूतपूर्व सदस्य, प्रान्तों के 8 मुख्य-मन्त्री, प्रान्तों के 10 मन्त्री, प्रान्तों के 6 भूतपूर्व मुख्यमन्त्री और 17 भूतपूर्व मन्त्री या गवर्नरों की कार्यकारिणी परिषदों के सदस्य, केन्द्रीय विधानमण्डल के 34 सदस्य, केन्द्रीय विधानमण्डल के 3 भूतपूर्व सदस्य, प्रान्तीय विधानमण्डलों के 155 सदस्य, प्रान्तीय विधानमण्डलों के 4 भूतपूर्व सदस्य, प्रान्तीय विधानमण्डल के एक अध्यक्ष और प्रान्तीय विधानमण्डल के एक भूतपूर्व अध्यक्ष भी संविधान सभा के सदस्य थे। संविधान सभा के सदस्यों में प्रसिद्ध वकील, चिकित्सक, शिक्षाविद्, जिनमें उपकुलपति भी थे, उद्योगपति तथा व्यापारी, श्रमिकों के प्रतिनिधि, लेखक और पत्रकार आदि सभी थे। इन सदस्यों में देश की गण्यमान्य महिलाएँ भी थीं जैसे श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित और राजकुमारी अमृतकौर आदि।

20 नवम्बर, 1946 को वायसराय ने निर्वाचित प्रतिनिधियों को आमन्त्रण किया कि वे 9 दिसम्बर, 1946 को संविधान-सभा की पहली बैठक में उपस्थित हों। मुस्लिम-लीग ने मिशन योजना को पहले तो स्वीकारा लेकिन फिर बाद में वह न केवल उससे पीछे हट गयी अपितु उसने असहयोग और सीधी कार्यवाही शुरू कर दी। ब्रिटिश सरकार ने 6 दिसम्बर, 1946 को एक वक्तव्य जारी किया जिसमें उसने प्रान्तों के वर्गीकरण के बारे में मन्त्रि-मिशन के पूर्ववर्ती वक्तव्य की पुष्टि की और कहा कि 'जिस संविधान-सभा में भारतीय जनता के एक

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

बड़े भाग का प्रतिनिधित्व न हुआ हो, अगर उसने कोई संविधान बनाया तो सम्राट की सरकार उसे देश के किन्ही अनिच्छुक भागों पर बलपूर्वक लागू करने का विचार नहीं करेगी।' इस वक्तव्य के सुदूरव्यापी परिणाम निकले। इसमें स्पष्ट ध्वनि थी कि ब्रिटिश सरकार किसी न किसी रूप में पाकिस्तान की योजना को सफल बनाने में सहयोग देगी।

9 दिसम्बर, 1946 को संविधान-सभा का विधिवत् उद्घाटन हुआ। यह एक ऐतिहासिक अवसर था। देश का भावी संविधान बनाने के लिए जनता के प्रतिनिधि पहली बार एकत्रित हुए थे। यद्यपि मुस्लिम-लीग के प्रतिनिधि संविधान-सभा में शामिल नहीं हुए थे, फिर भी वह एक अत्यन्त भव्य सभा थी। उसमें कांग्रेस के प्रमुख नेता तथा अन्य क्षेत्रों के लब्ध-प्रतिष्ठित व्यक्ति उपस्थित थे। कांग्रेस ने अपने दल से बाहर के अनेक विख्यात व्यक्तियों को निर्वाचन में खड़ा किया था जो सार्वजनिक सेवा, ज्ञान-विज्ञान और विधि आदि क्षेत्रों से थे। इस तरह सभा के पास ज्ञान और अनुभव पर्याप्त था। संविधान-सभा की पहली बैठक में 207 सदस्यों ने भाग लिया। सभा के सबसे पुराने सदस्य और बिहार के एक प्रमुख राजनीतिक नेता डा० सच्चिदानन्द सिन्हा सभा के अस्थायी सभापति बने। डा० सिन्हा ने सभा की पहली बैठक में सबसे पहले विदेशों से प्राप्त कुछ सद्भावना सन्देश पढ़कर सुनाये और इसके बाद अपना उद्घाटन भाषण दिया। अन्त में सदस्यों ने अपने परिचय-पत्र प्रस्तुत किये और रजिस्टर में हस्ताक्षर किये।

संविधान-सभा का प्रतिनिधिक स्वरूप

संविधान-सभा का जब से अधिवेशन आरम्भ हुआ तभी से मुस्लिम-लीग के प्रतिनिधियों के अलावा और सभी निर्वाचित प्रतिनिधियों ने उसकी बैठक में सक्रिय भाग लिया लेकिन दिसम्बर, 1946 में ब्रिटिश संसद मे भारतीय मामलों के बारे में जो वाद-विवाद हुए हैं, उनमें कुछ इस तरह के वक्तव्य दिये गये जिनसे ध्वनि निकली थी कि संविधान-सभा प्रतिनिधिक संस्था नहीं है। उदाहरण के लिए श्री चर्चिल ने कहा था कि 'संविधान-सभा में देश की एक बड़ी जाति का ही प्रतिनिधित्व हुआ है।' लार्ड साइमन ने कहा कि सभा 'हिन्दुओं की एक संस्था है' और पूछा कि 'क्या सरकार दिल्ली में सवर्ण हिन्दुओं की इस बैठक को संविधान-सभा कह भी सकती है।' संविधान-सभा के अध्यक्ष डा० राजेन्द्र प्रसाद ने 20 जनवरी, 1936 को एक वक्तव्य में इन विचारों को तथ्यों के प्रतिकूल बताया और कहा कि इनसे बड़े 'दुष्टतापूर्ण निष्कर्ष' निकल सकते हैं। उन्होंने सही तथ्यों का विवरण देते हुए कहा—

> 'प्रारम्भिक अधिवेशन में कुल 296 सदस्यों को भाग लेना था। इनमें से 210 सदस्य उसमें उपस्थित हुए। इन 210 सदस्यों में कुल 160 हिन्दू सदस्यों में से 155, अनुसूचित जातियों के कुल सदस्यों में से 30, पाँचों सिख सदस्य, 7 भारतीय ईसाइयों में से 6, पिछड़ी जनजातियों के पाँचों प्रतिनिधि, तीनों आंग्ल-भारतीय, तीनों पारसी और 80 मुसलमान सदस्यों में से 4 उपस्थित थे। मुस्लिम-लीग के प्रतिनिधियों की अनुपस्थिति निश्चित रूप से उल्लेखनीय है और इसका हम सबको बहुत खेद है। लेकिन, मैंने जो आँकड़े दिये हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि मुस्लिम-लीग के प्रतिनिधियों के अलावा भारत की प्रत्येक अन्य जाति का संविधान-सभा में प्रतिनिधित्व हुआ है चाहे उसके प्रतिनिधि किसी भी जाति के सदस्य हों। इसलिए, संविधान-सभा के बारे में

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

यह कहना कि उसमें "भारत की केवल एक प्रमुख जाति" का प्रतिनिधित्व हुआ है, या वह "हिन्दुओं की सभा" है या वह "सवर्ण हिन्दुओं की बैठक" है, तथ्यों के बिल्कुल विपरीत है।'

संविधान-सभा का प्रभु-स्वरूप

सभा के सामने आरम्भ से ही एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह था कि वह प्रभुता-सम्पन्न संस्था थी या नहीं। 11 दिसम्बर, 1946 को श्री गोपालस्वामी आयंगर ने संविधान-सभा में भाषण देते हुए कहा था कि जिस काम के लिए संविधान-सभा समवेत हुई थी, उसके लिए वह पूरी तरह प्रभुता-सम्पन्न थी। उन्होंने अपने दृष्टिकोण की निम्नलिखित शब्दों में व्याख्या की थी—

'मैं मन्त्रि-मिशन के वक्तव्य को "इस सभा के संविधान की विधि" कहूँगा। इस संविधान सत्ता का स्रोत यह नहीं है कि इसके निर्माता सम्राट की सरकार के तीन सदस्य थे, बल्कि यह कि इसके प्रस्तावों को जनता ने स्वीकार कर लिया है। वक्तव्य में इस सभा की शक्तियों पर जिन सीमाओं का उल्लेख किया गया है, ये सीमाएँ हमने अपनी मर्जी से इस सभा के ऊपर आरोपित की हैं और प्रलेख में तथा बाद में इसके लेखकों ने इसकी जो व्याख्या की है, उनसे यह स्पष्ट हो गया है कि इस सभा को यह संविधान बदलने की संविधायी शक्ति प्राप्त है। इस प्रलेख में जो कुछ कहा गया है, संविधान-सभा उसमें फेर-बदल कर सकती है, उसमें अपनी ओर से कुछ जोड़ सकती है, वह उसके मूल तत्त्वों तक को बदल सकती है।

'इस सभा के संविधान की विधि ने इसके किन्हीं उपबन्धों की व्याख्या का अधिकार बाहर की किसी न्यायिक या अन्य सत्ता को नहीं सौंपा है। इसके अन्तर्गत केवल एक ही स्थिति ऐसी है जिसमें सभापति को सभा में प्रतिनिधित्व प्राप्त प्रमुख जातियों में से किसी एक जाति के बहुमत की प्रार्थना पर प्रश्न का निर्णय करने से पहले संघीय न्यायालय का परामर्श प्राप्त कर लेना चाहिए। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि इस सभा के संविधान की विधि की व्याख्या से सम्बद्ध समस्त प्रश्नों का निर्णय सभापति के हाथों में रहेगा और वह केवल उन निदेशों के अधीन होगा जो वह सभा अपने आप दे सकती है।'

संविधान-सभा के अध्यक्ष डा० राजेन्द्र प्रसाद का मत था कि संविधान-सभा के जन्म के समय ही उस पर कुछ मर्यादाएँ आरोपित कर दी गयी थीं और संविधान-सभा के लिए यह उचित था कि वह अपनी कार्यवाही के दौरान या निर्णय करते समय इन मर्यादाओं को न भूलें और उनकी उपेक्षा न करें। किन्तु इन मर्यादाओं के बावजूद संविधान-सभा 'एक स्वशासी, स्व-निर्णायक स्वतन्त्र संस्था थी' और बाहर की किसी शक्ति को यह अधिकार न था कि वह उसकी कार्यवाही में हस्तक्षेप करे या उसके निर्णयों को बदले। संविधान-सभा को यह शक्ति भी प्राप्त थी कि उसके जन्म के समय उसके ऊपर जो मर्यादाएँ आरोपित कर दी गयी थीं, वह उन्हें भी नष्ट कर दे।

श्री नेहरू ने यह भी स्वीकार किया था कि जिस समय संविधान-सभा का निर्माण हुआ उस समय उसके ऊपर कुछ शर्तें लगी हुई थीं, लेकिन उनका मत था कि संविधान-सभा के

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

पीछे असली शक्ति जनता की है और जनता जहाँ तक चाहेगी, संविधान-सभा बराबर काम करती जायेगी। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा—

> 'सरकारें राजकीय-पत्रों से पैदा नहीं होतीं। वास्तव में वे जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है कि हम आज यहाँ इसलिए एकत्रित हो पाये हैं क्योंकि हमारे पीछे जनता की शक्ति है और जहाँ तक जनता कोई दल या वर्ग नहीं बल्कि समूची जनता चाहेगी, वहाँ तक हम जायेंगे। इसलिए हमें भारत के लोगों के दिलों की आशा-आकांक्षाओं को अपने ध्यान में रखना चाहिए और उन्हें पूरा करने का प्रयत्न करना चाहिए।'

श्री पुरुषोत्तम दास टण्डन ने भारतीय संविधान-सभा की फ्रांस की संविधान-सभा से तुलना की। फ्रांस की संविधान-सभा राजा के निमन्त्रण पर समवेत हुई थी लेकिन उसने अपनी कार्यवाही अपने आप आरम्भ की और जब राजा ने उसे विसर्जित होने की आज्ञा दी, तब उसने राजा का यह आदेश अस्वीकार कर दिया।

इस प्रकार, संविधान-सभा के प्रभुता-सम्पन्न स्वरूप के बारे में संविधान-सभा में आम राय यह थी कि यद्यपि 16 मई, 1946 के वक्तव्य ने उसके ऊपर कुछ मर्यादाएँ आरोपित कर दी थीं, पर इन मर्यादाओं को स्वीकार करना या न करना सभा की अपनी मर्जी पर निर्भर था। कुछ भी हो, संविधान-सभा इसी धारणा को लेकर चली और उसने अपने नियमों का अपने आप निर्माण किया। एक नियम में स्पष्ट रूप से कहा गया था, 'सभा का विघटन केवल तभी हो सकेगा जबकि उसके कुल सदस्यों के कम से कम दो-तिहाई सदस्य इस आशय का एक प्रस्ताव पास कर दें।' श्री नेहरू के अनुसार इस नियम का उद्देश्य यह था कि 'बाहर की कोई सत्ता सभा को भंग न कर सके और थोड़ा-सा बहुमत भी यह काम न कर सके।'

पहले जो भी स्थिति रही हो, 15 अगस्त, 1947 को स्वतन्त्रता के साथ ही संविधान-सभा पूर्ण रूप से प्रभुता-सम्पन्न संस्था हो गयी।

3 जून, 1947 की योजना और संविधान सभा का गठन

3 जून, 1947 की योजना के फलस्वरूप मुस्लिम-बहुल क्षेत्र भारत से निकल गये और इसके कारण जिस योजना के आधार पर संविधान-सभा अपनी प्रथम बैठक के समय से काम करती रही थी, उसके प्रक्रियागत और सारभूत दोनों भागों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया।' अब मन्त्रि-मिशन की योजना के कई महत्त्वपूर्ण भाग प्रभावी नहीं रहे। जैसा कि संघ-समिति (यूनियन पावर्स कमेटी) ने अपनी 5 जुलाई, 1947 की रिपोर्ट में कहा कि देश के विभाजन का फैसला हो जाने के बाद संविधान-सभा उन मर्यादाओं को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं रही, जो मन्त्रि-मिशन योजना केन्द्रीय सत्ता के क्षेत्र पर आरोपित की गयी थी। सभा ने इस मर्यादा को मुस्लिम-लीग को सन्तुष्ट करने के लिए समझौते के रूप में स्वीकार किया था हालांकि वे देश की प्रशासनिक आवश्यकताओं के प्रतिकूल थीं। इसी तरह, अब संविधान-सभा के लिए यह भी आवश्यक नहीं रहा कि वह विभागों में विभक्त हो और प्रान्त-समूहों के प्रश्न पर विचार करे। संक्षेप में श्री के० एम० मुन्शी के शब्दों में, 16 मई की योजना ने संविधान-सभा के ऊपर जो भी प्रतिबन्ध लगाये थे, वे अब सब समाप्त हो गये।

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947 के फलस्वरूप भारत, भारत और पाकिस्तान

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

नामक दो डोमिनियनों में विभाजित हो गया। पाकिस्तान के लिए अलग से संविधान-सभा की व्यवस्था की गयी। दोनों देशों की संविधान-सभाओं को अपने-अपने डोमिनियन के लिए विधानमण्डल का भी कार्य करना था और इस क्षमता में उन्हें अपने-अपने क्षेत्रों में ब्रिटिश संसद की सारी शक्ति प्राप्त हो गयी थी। 15 अगस्त, 1947 तक अधिकांश देशी राज्यों के प्रतिनिधि भी संविधान-सभा में आ गये।

मन्त्रि-मिशन की योजना में 93 स्थान देशी राज्यों के लिए निर्धारित किये गये थे। योजना के पैरा 19 (2) में इन प्रतिनिधियों के चुनाव की पद्धति का निरूपण किया गया था। इस सम्बन्ध में व्याख्या की गयी थी कि नरेशमण्डल एक वार्ता-समिति की स्थापना करेगा और इसी के अनुरूप एक राज्य-समिति की स्थापना संविधान-सभा करेगी : ये दोनों समितियाँ मिलकर देशी राज्यों के प्रतिनिधियों के चुनाव की पद्धति तय कर सकती थीं। फलतः इन दोनों समितियों की स्थापना की गयी और उन्होंने कई बैठकों के बाद स्थानों के वितरण के सम्बन्ध में एक योजना का अनुमोदन किया।

ब्रिटिश भारत की भाँति ही जिन बड़े राज्यों की जनसंख्या अधिक थी, उनके लिए उनकी जनसंख्या के आधार पर अलग से स्थान निश्चित किये जाने थे। 10 लाख की जनसंख्या के लिए एक स्थान निर्धारित किया जाना था। यदि जनसंख्या इससे तीन-चौथाई या अधिक होती तो उसके लिए एक स्थान निश्चित किया जाना था और यदि जनसंख्या इससे कम हो तो उसकी उपेक्षा की जा सकती थी। छोटे राज्यों को दो वर्गों में बाँट दिया गया था—सीमा-वर्ती वर्ग और अन्तर्वर्त्ती वर्ग। इन वर्गों के सन्दर्भ में 5 लाख या इससे अधिक जनसंख्या के लिए एक स्थान निर्धारित किया जाना था। इससे कम जनसंख्या की उपेक्षा की जा सकती थी। यह भी तय हुआ कि यदि कोई राज्य चाहे तो व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से अपनी जनसंख्याओं का प्रतिनिधित्व की दृष्टि से समेकन कर सकते हैं। शर्त यह थी कि राज्यों अथवा राज्य-समूहों के लिए कुल जितने स्थान निर्धारित किये गये थे उन पर कोई प्रभाव न पड़े। जनसंख्या के इस समेकन में भौगोलिक आसन्नता, जातीय, सांस्कृतिक और भाषायी समानता तथा आर्थिक तत्त्वों को भी ध्यान में रखना जरूरी था।

प्रतिनिधियों के चुनाव की पद्धति के सम्बन्ध में दोनों समितियाँ इस बात पर सहमत हो गयीं कि राज्यों के कुल प्रतिनिधियों के कम से कम 50% सम्बद्ध राज्यों के विधानमण्डलों के निर्वाचित सदस्यों द्वारा निर्वाचित होने चाहिएँ और जहाँ इस तरह के विधानमण्डल न हों वहाँ के निर्वाचक मण्डलों द्वारा निर्वाचित किये जाने चाहिएँ। यह भी तय हुआ कि राज्य इस बात की कोशिश करेंगे कि निर्वाचित प्रतिनिधियों की संख्या कुल सदस्य-संख्या की 50 प्रतिशत हो जाये।

उपर्युक्त वितरण के आधार पर बड़ौदा, कोचीन, उदयपुर, जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, रीवाँ और पटियाला ने अपने प्रतिनिधियों का चुनाव कर लिया और ये प्रतिनिधि 28 अप्रैल, 1947 को संविधान-सभा में उपस्थित हो गये। अन्य राज्यों के प्रतिनिधि भी धीरे-धीरे संविधान-सभा में आते गये। एक हैदराबाद ही ऐसा राज्य था जिसने अन्त तक अपने प्रतिनिधि नहीं भेजे। इसके बाद घटनाचक्र बड़ी तेजी से आगे बढ़ा और लगभग सभी देशी राज्य एक के बाद एक करके भारत-संघ में मिल गये। कुछ राज्यों के संघ बनाये गये, कुछ पड़ोस के प्रान्तों में विलय किये गये और कुछ की पृथक् सत्ता बनी रही। इस परिवर्तन के फलस्वरूप देशी राज्यों

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

के लिए निर्धारित स्थानों का स्वतन्त्रता से पहले और स्वतन्त्रता के बाद जनसंख्या के अनुपात में अनेक बार बँटवारा हुआ।

3 जून, 1947 की योजना के अनुसार देश का बँटवारा हो जाने के बाद भारतीय संविधान-सभा की कुल सदस्य-संख्या 324 रह गयी थी जिसमें 235 स्थान प्रान्तों के लिए और 89 देशी राज्यों के लिए थे। पंजाब और बंगाल के जो भाग भारत में रह गये थे उनके लिए नये सिरे से निर्वाचन हुए और उनके निर्वाचित सदस्यों ने 14 जुलाई, 1947 को संविधान सभा में स्थान ग्रहण किया। नवम्बर, 1947 में जब संविधान-सभा ने अपना संविधान-निर्माण का महान् कार्य पूरा किया तो उसकी सदस्यता के विभिन्न प्रान्तों और राज्यों अथवा राज्य-संघों में वितरण प्रारूप इस प्रकार था —

प्रान्त	सामान्य	सिख	मुस्लिम	कुल
मद्रास	45	—	4	49
बम्बई	19	—	2	21
पश्चिमी बंगाल	16	—	5	21
संयुक्त प्रान्त	47	—	8	55
पूर्वी पंजाब	8	4	4	16
बिहार	31	—	5	36
मध्य प्रान्त और बरार	16	—	1	17
असम	6	—	2	8
उड़ीसा	9	—	—	9
कुल	197	4	31	232
दिल्ली	—	—	—	1
अजमेर-मेरवाड़ा	—	—	—	1
कुर्ग	—	—	—	1
	—	—	—	235

राज्य	सदस्य-संख्या
हैदराबाद	16
मैसूर	7
कश्मीर	4
बड़ौदा	3
कोल्हापुर	1
मयूर भंज	1
कूच-बिहार	1
त्रिपुरा, मणिपुर और खासी राज्य	1
रामपुर, बनारस	1
उड़ीसा के राज्य	4
मध्य प्रान्त और बरार के राज्य	1
मद्रास के राज्य	4
बम्बई के राज्य	12

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

हिमाचल प्रदेश और विलासपुर	4
काठियावाड़ का संयुक्त-राज्य (सौराष्ट्र)	7
राजस्थान का संयुक्त-राज्य	—
विंध्य प्रदेश का संयुक्त-राज्य	1
ग्वालियर-इन्दौर-मालवा का संयुक्त राज्य (मध्य भारत)	1
पटियाला और पूर्वी पंजाब राज्य-संघ	1
त्रावणकोर और कोचीन का संयुक्त-राज्य	1
कच्छ	—
भोपाल, जूनागढ़	—
अवशिष्ट राज्य	—
योग	89

कुल योग 235 + 89 = 324

संविधान-सभा की विशेषता और कार्य

यद्यपि संविधान-सभा एक सामान्य प्रतिनिधिक संस्था थी लेकिन उसने आरम्भ से ही अत्यन्त उदात्त धरातल पर कार्य करना प्रारम्भ किया। इसके अनेक कारण थे। संविधान-सभा के सदस्यों ने युग की चुनौती को समझा और उसका उत्तर देने का प्रयत्न किया। संविधान-सभा के सामने जो प्रश्न थे वे अपने आप युगान्तरकारी थे और उनके सही समाधान पर देश का समूचा भविष्य निर्भर था।

संविधान-सभा के गठन से यह स्पष्ट था कि यद्यपि वह वयस्क मताधिकार के आधार पर आम जनता द्वारा नहीं चुनी गयी थी फिर भी वह निस्सन्देह पूरे अर्थों में भारतीय जनता की प्रतिनिधि संस्था थी। उस समय की राजनीतिक स्थिति का स्मरण करने मात्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि वयस्क मताधिकार के आधार पर जनता संविधान-सभा का सीधे निर्वाचन करती तब भी परिणाम लगभग बिल्कुल वही होता। सभा के गठन के अतिरिक्त यह बात भी ध्यान देने की है कि भारत के राष्ट्रीय नेता स्वयं ही अल्पसंख्यक वर्गों के हितों की रक्षा करने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे। संविधान-सभा ने मन्त्रिमण्डल-मिशन के 16 मई, 1946 के वक्तव्य के पैरा 20 के अनुसार जिस परामर्श-समिति का निर्माण किया, उसकी रचना से भी यही बात सिद्ध होती थी। इस समिति में कुल 50 सदस्य थे जिनमें से 38 सदस्य विभिन्न अल्पसंख्यक वर्गों के थे और बाकी 12 सदस्य ही सामान्य स्थानों के प्रतिनिधि थे। संविधान-निर्माण में कांग्रेस दल केवल दलगत हितों से प्रभावित नहीं था। इसका एक उदाहरण यह था कि कांग्रेस के नेताओं ने अनुसूचित जाति संघ के अध्यक्ष और कांग्रेस के कटु आलोचक डा० भीमराव अम्बेदकर को न केवल संविधान की प्रारूप-समिति का सदस्य ही बनाया बल्कि बाद में उसका अध्यक्ष भी निर्वाचित किया। प्रारूप-समिति के 7 सदस्यों में से केवल एक सदस्य ही कांग्रेस दल का था। उसमें एक सदस्य मुस्लिम-लीग का था और बाकी सारे स्वतन्त्र सदस्य थे। अल्पसंख्यक वर्गों की आशंकाएँ दूर करने का इससे अच्छा और क्या नमूना पेश किया जा सकता था ?

संविधान-सभा ने दो वर्ष, ग्यारह महीने और सत्रह दिन में अर्थात् तीन वर्ष से भी

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कम समय में भारतीय संविधान के निर्माण का महान् अनुष्ठान पूरा कर लिया। इस बीच कुल मिलकर संविधान-सभा के ग्यारह सत्र हुए और 165 बैठकें। 165 में से 114 दिन सभा की बैठकें संविधान के प्रारूप पर विचार करने में लगीं। प्रारूप-समिति की 141 दिन बैठकें हुई जिनमें संविधान का प्रारूप तैयार किया और सँवारा गया। यह कोई मामूली बात नहीं थी कि देश के विभिन्न क्षेत्र और वैविध्यपूर्ण तथा विशाल जनसंख्या के बावजूद संविधान-सभा एक ऐसे संविधान का निर्माण करने में सफल हुई जो देश के एक छोर से दूसरे छोर तक लागू हो, तथा देश की कितनी ही प्राकृतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक विविधताओं के बीच एकता का स्वर्ण-सूत्र ढूँढ़ निकालने और पुष्ट करने में सफल हो। संविधान-सभा ने यह सब काम किस प्रकार पूरा किया स्वयं में एक शिक्षाप्रद, प्रेरणादायक और प्रभावशाली कहानी है।

संविधान का निर्माण

प्रथम अधिवेशन और औपचारिक कार्य

संविधान-सभा का प्रथम अधिवेशन 9 दिसम्बर, 1946 को नई दिल्ली में वर्तमान संसद-भवन के केन्द्रीय कक्ष (सेण्ट्रल हाल) में प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम आचार्य कृपलानी खड़े हुए और उन्होंने संविधान-सभा के अस्थायी अध्यक्ष पद के लिए सदन के सबसे वयोवृद्ध सदस्य डा० सच्चिदानन्द सिन्हा का नाम पेश किया। डा० सिन्हा को सर्वसम्मति से अस्थायी अध्यक्ष चुन लिया गया। उसके बाद पहले तीन-चार दिनों में सदस्यों ने अपने प्रत्यय-पत्र पेश किये तथा रजिस्टर पर हस्ताक्षर किये। संविधान-सभा के स्थायी अध्यक्ष के निर्वाचन के लिए प्रक्रिया तय की गयी। डा० राजेन्द्र प्रसाद अध्यक्ष निर्वाचित हुए, एक प्रक्रिया-नियम समिति बनायी गयी तथा जब तक संविधान-सभा के अपने नियम बनें तब तक काम चलाने के लिए केन्द्रीय विधानसभा के प्रक्रिया तथा कार्य-संचालन सम्बन्धी नियमों को स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार संविधान-निर्माण का कार्य प्रारम्भ करने से पहले संविधान-सभा ने अधिकांश औपचारिक कार्य निपटा लिये। श्री जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में ये काम कुछ इस तरह के थे जैसे कि किसी भू-भाग पर विशाल और भव्य-प्रासाद का निर्माण करने के लिए वहाँ के झाड़-झंखाड़ साफ कर दिये जायें और उस भूमि को समतल और सपाट कर दिया जाये।

उद्देश्य प्रस्ताव

संविधान-निर्माण की दिशा में सबसे पहला काम था जवाहरलाल नेहरू द्वारा 13 दिसम्बर को संविधान-सभा में प्रस्तुत उद्देश्य प्रस्ताव। संविधान-सभा के लिए यह आवश्यक था कि संविधान-निर्माण की ऐतिहासिक यात्रा प्रारम्भ करने से पूर्व वह अपने ध्येय और लक्ष्य देश की जनता के तथा संसार के अन्य देशों के सामने स्पष्ट कर दे। संसार की सभी संविधान-सभाओं ने संविधान-निर्माण का श्रीगणेश करते समय अपने लक्ष्यों की घोषणा करना आवश्यक समझा था। भारतीय संविधान-सभा के लिए ऐसा करना और भी अधिक आवश्यक था क्योंकि जिस समय 9 दिसम्बर, 1946 को सभा की पहली बैठक आरम्भ हुई, देश के राजनीतिक वातावरण में जहाँ एक ओर अभूतपूर्व उत्साह, दृढ़-संकल्प और नव-निर्माण की अदम्य आकांक्षाओं से जागृत राष्ट्र-मानस था, वहाँ दूसरी ओर अनिश्चय, सन्देह और असमंजस के बादल भी घिरे

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

हुए थे। प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुए श्री नेहरू ने कहा—

'यह उचित मालूम पड़ता है कि आगे बढ़ने से पहले हम स्पष्ट रूप से यह समझ लें कि हम किधर जा रहे हैं और हम क्या निर्माण करना चाहते हैं। स्पष्ट है कि इस तरह के अवसरों पर विस्तृत विवरण अनावश्यक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इमारत बनाते समय आप प्रत्येक ईंट का अच्छी तरह सोच-विचार करने के बाद उपयोग करें। सामान्य रूप से जब कोई इमारत बनाना चाहता है तब उसके लिए जरूरी हो जाता है कि वह उस इमारत का नक्शा तैयार करे और फिर जरूरी साज-सामान जुटाये। बहुत समय से हम स्वतन्त्र भारत के बहुत से नक्शे अपने मनों में बनाते आ रहे थे किन्तु अब जब हम वास्तविक कार्य प्रारम्भ कर रहे हैं, आप मानेंगे कि यह आवश्यक है कि हम अपने सामने, देश के सामने तथा विस्तृत-विश्व के सामने इस नक्शे का एक स्पष्ट चित्र रखें। मैं आपके सामने जो प्रस्ताव प्रस्तुत कर रहा हूँ उसमें हमारे उद्देश्यों की व्याख्या की गयी है, योजना की रूपरेखा दी गयी है और बताया गया है कि हम किस रास्ते पर चलने वाले हैं।'

जवाहरलाल नेहरू का यह ऐतिहासिक भाषण उनके जीवन के सबसे महत्त्वपूर्ण, सुन्दर एवं प्रभावशाली भाषणों में से है। अतीत की स्मृतियाँ जैसे उनके मन में उमड़ आयी थीं, भावी के स्वप्न जैसे साकार हो आये थे और इस सबके साथ ही उन्हें बोध था वर्तमान के धर्म का, उस समय की कितनी ही जटिल समस्याओं के बोझ का, अपने भारी कर्तव्य और उत्तरदायित्व का। उन्होंने आगे कहा—

'यहाँ बोलते हुए मैं चतुर्दिक व्याप्त कृतियों और समस्याओं के बोझ से अपने को बोझिल अनुभव करता हूँ। हम लोग एक युग को समाप्त कर सम्भवतः बहुत शीघ्र ही एक नये युग में प्रवेश करने वाले हैं। मेरा ध्यान आज भारत के महान् अतीत की ओर, उसके पाँच हजार वर्ष के इतिहास की ओर जाता है। उसके इतिहास के प्रारम्भ से—जो मानव-इतिहास का प्रारम्भ माना जा सकता है—आज तक का सारा इतिहास हमारी आँखों के सामने है। वह समस्त अतीत आज हमारे चतुर्दिक हैं और हमें आनन्द और जीवन प्रदान कर रहा है, पर साथ ही साथ उससे, यह सोचकर मुझे कुछ वेदना भी होती है कि क्या हम उस अतीत के योग्य हैं। शक्ति-शाली अतीत तथा और भी अधिक शक्तिशाली भविष्य के बीच स्थित वर्तमान की तलवार की धार पर खड़े होकर जब मैं भविष्य की सोचता हूँ, उस भविष्य की, जो मुझे विश्वास है कि अतीत से भी महत्तर है तो अपने महान् कार्यभार से अभिभूत और भयभीत हो जाता हूँ। भारतीय इतिहास के अद्भुत अवसर पर हम यहाँ सम-वेत हुए हैं। इस परिवर्तन-क्षण में, प्राचीन युग से नवीन युग में प्रविष्ट होने के इस परिवर्तन-काल में मुझे कुछ विस्मय सा मालूम होता है, वैसा ही विस्मय, जैसा रात से दिन होने में मालूम होता है। हो सकता है दिन मेघाच्छन्न हो, पर है तो आखिर दिन। बादल फटेंगे और प्रकाश अवश्य होगा।'

जिस उद्देश्य प्रस्ताव के माध्यम से भारतीय क्रान्ति के जनकों ने देश को यह बताने का प्रयास किया कि उनके लक्ष्य क्या हैं, वे देश को किस साँचे में ढालना चाहते हैं, किस ओर

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

ले जाना चाहते हैं, उसका मसौदा जवाहरलाल नेहरू ने स्वयं तैयार किया था।* यह प्रस्ताव एक प्रकार से प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक भारतीय गणराज्य की जन्म-पत्री था। प्रस्ताव में कहा गया था—

'(1) यह संविधान-सभा अपने इस दृढ़ और गम्भीर संकल्प की घोषणा करती है कि वह भारत को एक स्वतन्त्र प्रभुसत्ता-सम्पन्न गणराज्य घोषित करेगी और उसके भावी शासन के लिए एक ऐसे संविधान की रचना करेगी,

(2) जिसके अन्तर्गत वे राज्य-क्षेत्र जो ब्रिटिश भारत के अन्तर्गत आते हैं, वे राज्य-क्षेत्र जो अब देशी राज्यों के अन्तर्गत आते हैं और भारत के ऐसे अन्य भाग जो ब्रिटिश भारत के बाहर हैं और ऐसे राज्य तथा राज्य-क्षेत्र जो स्वतन्त्र प्रभुत्व-सम्पन्न भारत के भीतर सम्मिलित होने के लिए प्रस्तुत हैं, आपस में मिलकर एक संघ के रूप में गठित होंगे,

(3) जिसके अन्तर्गत उपर्युक्त राज्य-क्षेत्र जिनमें चाहें तो उनकी वर्तमान सीमाएँ सम्मिलित हों या अन्य ऐसी सीमाएँ सम्मिलित हों जिनका संविधान-सभा भविष्य में संविधान की विधि के अनुसार निर्णय करे, स्वायत्तशासी एककों की सत्ता से सम्पन्न होंगे और उसे बनाये रखेंगे। उनके पास अवशिष्ट शक्तियाँ होंगी और वे सरकार तथा प्रशासन की सारी शक्तियों का प्रयोग करेंगे तथा उनके सारे कार्य करेंगे। इसके अपवाद केवल वे शक्तियाँ और कार्य होंगे जो संघ में विहित हों या संघ को सौंपे गये हों,

(4) जिनके अन्तर्गत प्रभुत्व-सम्पन्न और स्वतन्त्र भारत की, उसके अंगभूत भागों और शासन के अंगों की समूची शक्ति और सत्ता जनता से प्राप्त हुई हो,

(5) जिसके अन्तर्गत विधि तथा सार्वजनिक नैतिकता के अधीन रहते हुए भारत के सभी लोगों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की स्थिति और अवसर की तथा विधि के सम्मुख समानता की, विचार-अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म, उपासना, व्यवसाय और कार्य की गारण्टी दी जायेगी और उन्हें प्राप्त किया जायेगा,

(6) जिसके अन्तर्गत अल्पसंख्यकों, पिछड़े हुए और कबाइली क्षेत्रों तथा दलित और

---

* पंजाब के सिख स्थानों को छोड़कर और देश भर से सारे स्थानों के लिए जुलाई, 1946 में संविधान-सभा के निर्वाचन हो चुके थे। कांग्रेस चाहती थी कि संविधान-सभा शीघ्र ही अपना काम शुरू करे तथा संविधान-निर्माण के मामले में बिल्कुल भी देरी न की जाये। अतः जुलाई में ही जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेस अध्यक्ष की हैसियत से एक विशेषज्ञ समिति नियुक्त की और उसे यह काम सौंपा कि यह संविधान-सभा के लिए सामग्री जुटाये और संविधान का प्रारूप तैयार करे। इस समिति के अध्यक्ष स्वयं जवाहरलाल नेहरू थे और अन्य सदस्य थे—आसफअली, कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी, हुमायुन कबिर, के० सन्तानम, डी० आर० गाडगिल, के० टी० शाह और एन० गोपालस्वामी आयंगर। इस समिति की बैठकें 20 जुलाई से 22 जुलाई तक और 15 अगस्त से 17 अगस्त तक हुईं। इन बैठकों में संविधान-सभा के कार्य-संचालन के लिए आवश्यक प्रक्रिया तय की गयी। इसके अनुसार सबसे पहले अस्थायी या कार्यवाहक अध्यक्ष का निर्वाचन होना था, फिर विभिन्न विषयों पर कुछ समितियाँ बनायी जानी थीं और उसके बाद संविधान के उद्देश्यों का निर्णय किया जाना था और उन्हें एक प्रस्ताव के रूप में रखा जाना था। यह सब प्रारम्भिक कार्य पूरा किये जाने के बाद विशेषज्ञ समिति से श्री नेहरू ने कहा कि यह किसी प्रारूप संविधान के बारे में चिन्ता न करे बल्कि प्रारूप-नियमों और संविधान-सभा के उद्देश्यों के सम्बन्ध में प्रारूप प्रस्तावों को, जो उन्होंने स्वयं तैयार किये थे, अन्तिम रूप दे।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अन्य पिछड़े हुए वर्गों के लिए उपयुक्त परित्राणों की व्यवस्था की जायेगी, और

(7) जिसके अन्तर्गत न्याय तथा सभ्य राष्ट्रों की विधि के अनुसार गणराज्य के राज्य-क्षेत्रों की अखण्डता की और जल, समुद्र तथा आकाश पर उसके प्रभुता-अधिकारों की रक्षा की जायेगी, और

(8) यह प्राचीन देश संसार में अपना न्यायपूर्ण और सामान्य स्थान प्राप्त करेगा और विश्वशान्ति तथा मानव-जाति के कल्याण के उन्नयन के लिए अपना पूर्ण तथा सहर्ष योग देगा।'

प्रस्ताव ने तथा जवाहरलाल नेहरू के प्रेरणादायी भाषण ने संविधान-सभा पर जादू का सा असर किया तथा उनके मानस क्षितिज पर भविष्य के प्रति दुविधा और किंकर्तव्य-विमूढ़ता का जो कुहरा छाया हुआ था, वह एकबारगी छँट गया तथा उसके स्थान पर आशा, उल्लास तथा संकल्प की प्रकाशमयी किरणें जगमगा उठीं।

जवाहरलाल नेहरू ने सभासदों से जोरदार शब्दों में अपील की कि "वे प्रस्ताव पर कानूनी शब्दजाल की संकुचित भावना से विचार न करें, अपितु उसके मूल में जो भावनाएँ हैं—जिनसे किसी को भी मतभेद नहीं हो सकता—उन्हें सामने रखकर विचार करें और श्रद्धाभाव से प्रस्ताव को स्वीकार करें तथा यह स्पष्ट कर दें कि हम स्वाधीन भारत के संविधान का निर्माण करने के लिए कृतसंकल्प हैं और चाहे जितनी भी बाधाएँ और कठिनाइयाँ आयें, कितना ही लम्बा संघर्ष हो और कितने ही नये संघर्ष सामने आयें, हम अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते ही जायेंगे—चाहे इस भवन में हो या अन्यत्र, मैदान में, बाजार में कहीं भी समवेत होकर तब तक अपना काम करते जायेंगे, जब तक कि उसे पूरा न कर लें।"

13 दिसम्बर से 19 दिसम्बर, 1946 तक संविधान-सभा ने उद्देश्य प्रस्ताव पर कुल आठ दिन विवाद-विचार किया। प्रस्ताव के सम्बन्ध में अनेक संशोधन प्रस्तुत किये गये लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण संशोधन डा० एम० आर० जयकर का था जो उन्होंने 16 दिसम्बर, 1946 को प्रस्तुत किया था और जिसमें कहा गया था कि जब तक मुस्लिम-लीग और देशी राज्यों के प्रतिनिधि संविधान-सभा में शामिल न हो जायें तब तक इस प्रस्ताव पर विचार उठा रखा जाये। 21 दिसम्बर, 1946 को प्रस्ताव पर अगले अधिवेशन तक के लिए विचार स्थगित कर दिया गया। मुस्लिम-लीग को इस प्रस्ताव पर विचार करने के लिए एक महीना मिल गया पर उसने संविधान-सभा में सम्मिलित होना पसन्द नहीं किया। इस स्थिति में संविधान-सभा ने और आगे प्रतीक्षा करना निरर्थक समझा तथा 22 जनवरी, 1947 को बड़ी संजीदगी के साथ संविधान-सभा में सदस्यों ने खड़े होकर सर्वसम्मति से इस प्रस्ताव को पास किया। इससे पहले 20 नवम्बर, 1946 को सारतः यही प्रस्ताव कांग्रेस के खुले मेरठ अधिवेशन में पास हो चुका था।

समितियों का निर्माण

उद्देश्य प्रस्ताव की स्वीकृति के बाद ही संविधान-सभा में संविधान-निर्माण की समस्या के विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में अनेक समितियाँ नियुक्त कीं। प्रमुख समितियाँ थीं—(1) संघ संविधान-समिति (यूनियन कांस्टीट्यूशन कमेटी), (2) प्रान्तीय संविधान-समिति (प्रोविन्शियल कांस्टीट्यूशन कमेटी), (3) संघ शक्ति-समिति (यूनियन पावर्स कमेटी), (4)

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

मूल अधिकारों, अल्पसंख्यकों आदि से सम्बन्धित परामर्श-समिति, (5) प्रारूप-समिति आदि। सभा ने तीसरे और छठे अधिवेशनों के बीच में मूल अधिकारों, संघ-संविधान, संघ-शक्तियों, प्रान्तीय संविधान, अल्पसंख्यकों और अनुसूचित क्षेत्रों तथा अनुसूचित जनजातियों के सम्बन्ध में नियुक्त की गयी समितियों के प्रतिवेदनों पर विचार किया। सभा को मुख्य आयुक्तों के प्रान्तों, संघ तथा राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों और जनजाति क्षेत्रों से सम्बद्ध समितियों के प्रतिवेदनों पर विचार करने का और उनके सम्बन्ध में निर्णय करने का समय नहीं मिला पर बाद में इन समितियों की सिफारिशों पर प्रारूप-समिति ने विचार किया। संविधान-सभा के कार्यकाल की परामर्श शाखा ने 17 मार्च, 1947 को संविधान की मुख्य विशेषताओं के सम्बन्ध में एक प्रश्न-सूची विभिन्न प्रान्तीय विधानमण्डलों और केन्द्रीय विधानमण्डलों के सदस्यों के पास भेजी ताकि वे प्रस्तावित संविधान के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कर सकें। प्रश्न-सूची बाद में सघ-संविधान और प्रान्तीय संविधान-समितियों के सदस्यों के पास भी भेजी गयी। मई, 1947 के अन्त तक प्रश्न-सूची के बहुत ही थोड़े उत्तर आये थे। अतः परामर्श-शाखा ने स्वयं ही दो पत्रक तैयार किये, एक संघ संविधान के मूल सिद्धान्तों के बारे में और दूसरा एक मानक प्रान्तीय संविधान के मूल सिद्धान्तों के बारे में। ये संघ संविधान और प्रान्तीय-संविधान-समितियों के सदस्यों को 2 जून, 1947 को भेजे गये। इसके अगले ही दिन ब्रिटिश सरकार की 3 जून की योजना आ गयी जिससे सारा नक्शा ही बदल गया। देश का विभाजन होना था, दो डोमिनियन बननी थीं, दोनों की अलग-अलग संविधान-सभाएँ होनी थीं। मन्त्रि-मिशन योजना के अन्तर्गत होने वाले वर्गीकरण और समूहों के संविधान-निर्माण के लिए अलग-अलग बैठने आदि का अब कोई प्रश्न नहीं रहा। विभाजन-योजना की संविधान-निर्माण के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रिया यह हुई कि तुरन्त ही संघ संविधान और प्रान्तीय संविधान-समितियों ने निर्णय किया कि भारत एक शक्तिशाली केन्द्र वाला संघ होगा। सन् 1935 के भारत शासन अधिनियम की तरह तीन विधायी सूचियाँ होंगी किन्तु अवशिष्ट शक्तियों का वास केन्द्र में होगा।

संविधान का प्रथम प्रारूप

संविधान का पहला प्रारूप सांविधानिक परामर्शदाता बेनेगल नरसिंह राव की देख-रेख में संविधान-सभा के सचिवालय की परामर्श-शाखा ने अक्तूबर, 1947 में तैयार किया। इस प्रारूप के तैयार होने के पहले संविधान-सभा के सचिवालय ने तीन जिल्दों में संसार के विभिन्न संविधानों के पूर्व दृष्टान्त एकत्र कर उन्हें संविधान-सभा के सदस्यों में वितरित कर दिया। इन पूर्व दृष्टान्तों में संसार के प्रायः 60 देशों के संविधानों के कार्यकारी, विधायी प्रक्रिया सम्बन्धी और प्रशासनिक तथा कुछ अन्य उपबन्धों को तुलनात्मक रूप में संकलित किया गया था। पूर्व दृष्टान्तों का यह संकलन मुख्य रूप से दो समूहों में बँटा हुआ था। एक समूह में आस्ट्रेलिया, कनाडा, आयरलैण्ड जैसे ब्रिटिश राष्ट्रमण्डलीय देशों की सांविधानिक रूप-रेखा दी गयी थी तथा दूसरे समूह में कुछ अन्य देशों, जैसे डेजिक (स्वतन्त्र नगर), जर्मनी (तीसरा गणराज्य), स्विट्जरलैण्ड, संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के सांविधानिक उपबन्ध दिये गये थे। इस सामग्री के साथ ही विभिन्न देशों में राज्य के प्रधान, मूल अधिकारों, अल्पसंख्यकों को दिये जाने वाले परित्राणों, प्रतिनिधित्व पद्धतियों और

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

द्वितीय सदनों के बारे में सहायक सामग्री भी दी गयी थी।

जब भारत के संविधान का पहला प्रारूप तैयार हो गया, तब संविधान-सभा के अध्यक्ष ने सांविधानिक परामर्शदाता बेनेगल नरसिंह राव को संसार के प्रमुख संविधान-शास्त्रियों से भारत के भावी संविधान की प्रमुख विशेषताओं के सम्बन्ध में विचार-विनिमय करने के लिए अमरीका, कनाडा, आयरलैण्ड और ब्रिटेन भेजा। उन्होंने अक्तूबर और दिसम्बर, 1947 के बीच में इन देशों की यात्रा की और अपने विचार-विमर्शों के परिणामों के सम्बन्ध में एक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया।

प्रारूप-समिति

29 अगस्त, 1947 को संविधान-सभा ने प्रारूप-समिति की नियुक्त की। प्रारूप-समिति के अध्यक्ष चुने गये डा० भीमराव अम्बेदकर। अन्य सदस्य थे कन्हैयालाल माणिक-लाल मुन्शी, मोहम्मद सादुल्ला, बी० एल० मित्र, अल्लादी कृष्णस्वामी अय्यर, एन० गोपाल-स्वामी आयंगर तथा डी० पी० खेतान। बाद में मित्र और खेतान के स्थानों पर एन० माधव-राव तथा टी० टी० कृष्णमाचारी को नियुक्त किया गया। प्रारूप-समिति का काम यह था कि वह संविधान-सभा की परामर्श शाखा द्वारा तैयार किये गये संविधान की परीक्षा करे और फिर संविधान-सभा में संविधान के बारे में जो निर्णय हो चुके थे, उन्हें प्रारूप-संविधान में समाविष्ट करे और फिर संविधान को विचार के लिए संविधान-सभा के सम्मुख प्रस्तुत करे।

30 अगस्त, 1947 को प्रारूप-समिति की पहली बैठक हुई। इसके बाद उसकी 141 दिन तक बैठकें होती रहीं जिसमें उसने संविधान के विविध उपबन्धों की रचना की। प्रारूप तैयार करते समय इस बात का प्रयत्न किया गया कि जहाँ तक हो सके वह संविधान-सभा अथवा उसकी विविध समितियों के निर्णयों को कार्यान्वित करे। लेकिन कुछ मामले ऐसे थे जिनके बारे में प्रारूप-समिति को कुछ परिवर्तन करने आवश्यक मालूम दिये। प्रारूप-समिति ने जो प्रारूप-संविधान तैयार किया उसमें इन सारे परिवर्तनों को या तो रेखांकित कर दिया गया था या उन्हें हाशिये में लिख दिया गया था। इस बात का भी ध्यान रखा गया था कि जो भी परिवर्तन किये जायें उनका पाद-टिप्पणियों में स्पष्टीकरण कर दिया जाये। प्रारूप-समिति के अध्यक्ष को ही समिति के सदस्यों की ओर से प्रारूप पर हस्ताक्षर करने का अधि-कार दिया गया था। लेकिन उन्होंने अपने प्रतिवेदन में यह स्पष्ट कर दिया कि यद्यपि सभी बैठकों में सभी सदस्य उपस्थित नहीं थे पर जिस किसी बैठक में कोई निर्णय लिया गया उसमें आवश्यक गणपूर्ति थी और निर्णय या तो सर्वसम्मति से किये गये या उपस्थित सदस्यों के बहुमत से।

प्रारूप संविधान

प्रारूप समिति ने भारत का जो प्रारूप संविधान तैयार किया वह 25 फरवरी, 1948 को संविधान-सभा के अध्यक्ष की सेवा में प्रस्तुत किया गया। प्रारूप संविधान के प्रकाशित होने के बाद प्रारूप संविधान में संशोधन करने के लिए संविधान-सभा के कार्यालय में अनेक टिप्पणियाँ, आलोचनाएँ और सुझाव प्राप्त हुए। संविधान-सभा के अध्यक्ष ने प्रारूप समिति को आदेश दिया कि वह इन सब सुझावों पर विचार करे। उन्होंने एक विशेष समिति की

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भी स्थापना की जो विभिन्न सुझावों और टिप्पणियों पर तथा उनके सम्बन्ध में प्रारूप-समिति की सिफारिशों पर विचार करती। इस विशेष समिति में अधिकतर संघ संविधान-समिति, प्रान्तीय संविधान-समिति और संघ शक्ति-समिति के सदस्य मौजूद थे। विशेष समिति द्वारा परीक्षण और सिफारिशों के फलस्वरूप प्रारूप समिति ने कुछ ऐसे संशोधन चुने जो उसे स्वीकार्य थे। इसके अतिरिक्त उसने कुछ ऐसे संशोधनों का भी सुझाव दिया जिनकी वह सिफारिश करने के लिए तैयार थी। इस तरह के संशोधनों के अध्ययन को सुगम बनाने के लिए प्रारूप समिति ने प्रारूप संविधान का एक पुनर्मुद्रित संस्करण प्रकाशित किया। यह संस्करण 26 अक्तूबर, 1948 को संविधान-सभा के अध्यक्ष को दिया गया। बाद में इसकी प्रतियाँ संविधान-सभा के सदस्यों को भी बाँट दी गयीं। जिस समय संविधान-सभा ने प्रारूप संविधान पर विचार किया उस समय प्रारूप संविधान के इसी पुनर्मुद्रित संस्करण का उपयोग किया गया। इस पुनर्मुद्रित संस्करण की विशेषता यह थी कि प्रारूप-समिति ने जिन संशोधनों की संस्तुति की थी उनको मूल अनुच्छेदों या धाराओं के बिल्कुल सामने दूसरे कॉलम में दिखाया गया था।

संविधान-सभा ने केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों के बारे में और केन्द्र तथा प्रान्तों के वित्तीय सम्बन्धों के बारे में प्रतिवेदन देने के लिए दो समितियाँ नियुक्त की थीं। प्रारूप समिति ने इन समितियों के जिन प्रस्तावों को स्वीकार नहीं किया उन्हें प्रारूप संविधान के पुनर्मुद्रित संस्करण में एक परिशिष्ट में वैकल्पिक उपबन्धों के रूप में दिखा दिया गया था।

डा० अम्बेदकर ने 4 नवम्बर, 1948 को प्रारूप संविधान-सभा के विचार के लिए प्रस्तुत किया; इस अवसर पर डा० अम्बेदकर ने प्रारूप संविधान की सामान्य आलोचनाओं का, विशेषकर इस आलोचना का, कि संविधान मौलिक नहीं था, उत्तर दिया। उन्होंने कहा—

> 'प्रश्न यह है कि क्या संसार के इतिहास में इस समय निर्मित किसी संविधान में कोई नवीनता हो भी सकती है? संसार के पहले लिखित संविधान की रचना को डेढ़ सौ साल से अधिक का समय हो चुका है। अनेक देशों ने अपने संविधानों को लिखित रूप देने में इसका अनुकरण किया है। संविधान का क्षेत्र क्या होना चाहिए, यह बात बहुत पहले तय हो चुकी है। इसी प्रकार, यह बात भी सारे संसार में मान ली गयी है कि संविधान के मूल तत्त्व क्या होते हैं? इन तथ्यों के सन्दर्भ में सभी संविधान एक जैसे प्रतीत होंगे। आज बनाये गये किसी संविधान में यदि कोई नयी चीज हो सकती है तो यही कि उसमें पुरानी संविधान की गलतियों को दूर कर दिया जाये और उसे देश की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला जाये। यह आरोप कि हमारा संविधान दूसरे देशों के संविधानों का अन्धानुकरण है संविधान के अपर्याप्त अध्ययन पर आधारित है। मुझे इस आरोप के बारे में भी कोई क्षमा-याचना नहीं करनी कि प्रारूप संविधान में भारतीय शासन अधिनियम, सन् 1935 के अधिकांश उपबन्धों को ज्यों-का-त्यों ले लिया गया है। उधार लेने में किसी तरह की साहित्यिक चोरी नहीं है। संविधान के मूल सिद्धान्तों के बारे में किसी का कोई एकाधिकार नहीं होता।'

वाद-विवाद और स्वीकृति

15 नवम्बर, 1948 को प्रारूप संविधान पर धारावार विचार आरम्भ हुआ। ब्रिटिश

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

हाउस ऑफ कॉमन्स में विधेयकों के सम्बन्ध में जो प्रक्रिया अपनायी जाती है, उसका अनुसरण करते हुए निश्चय किया गया कि प्रस्तावना पर प्रारूप संविधान की सभी धाराओं पर विचार करने के बाद विचार किया जाये। संविधान-सभा के सातवें, आठवें, नवें और दसवें अधिवेशनों में 17 अक्तूबर, 1947 तक प्रारूप संविधान की विभिन्न धाराओं पर विस्तृत विचार-विनिमय हुआ। संविधान-सभा के सचिवालय को प्रारूप संविधान पर लगभग 7–8 हजार संशोधनों की सूचना मिली थी। इनमें से लगभग ढाई हजार संशोधनों पर संविधान-सभा में विधिवत् वाद-विवाद हुआ। इस बीच ऐसी अनेक धाराओं पर पुनर्विचार हुआ जिन्हें एक बार पहले स्वीकारा जा चुका था। 17 अक्तूबर, 1949 को संविधान-सभा के अध्यक्ष ने कहा कि संविधान-सभा प्रारूप संविधान की विविध धाराओं पर विस्तृत रूप से विचार कर चुकी है और अब नये संशोधन प्रस्तुत कर उन पर फिर से विचार करना उचित नहीं होगा, इसके बाद संविधान-सभा ने प्रस्तावना पर विचार किया और उसे स्वीकार कर लिया। इस प्रकार संविधान-सभा के दसवें अधिवेशन में संविधान का दूसरा वाचन पूरा हो गया। इस अधिवेशन को स्थगित करने के पूर्व संविधान-सभा के अध्यक्ष ने घोषणा की कि सदन ने अभी हाल में एक नियम पास करके उन्हें जो शक्ति प्रदान की थी, उसके अनुसार वे प्रारूप संविधान को फिर से प्रारूप समिति को सौंपेंगे जिससे कि प्रारूप समिति प्रारूप संविधान में संशोधनों, वर्तनी, विराम-चिन्हों आदि के सारे आवश्यक परिवर्तन समाविष्ट कर सके।

संविधान-सभा के अध्यक्ष ने प्रारूप संविधान को जिस रूप में प्रारूप समिति के विचारार्थ सौंपा, प्रारूप समिति ने उस पर विचार किया और 3 नवम्बर, 1949 को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। प्रारूप समिति ने प्रारूप संविधान में जो परिवर्तन किये थे, वे मुख्य रूप से निम्नलिखित भागों में बाँटे जा सकते थे—

(क) अनुच्छेदों, धाराओं और उप-धाराओं की क्रम-संख्या में परिवर्तन;

(ख) कुछ औपचारिक परिवर्तन जैसे अंग्रेजी के कैपिटल अक्षरों में परिवर्तन, 'शासक' की जगह 'राजप्रमुख' शब्द का प्रयोग तथा 'इस संविधान के' शब्दों का लोप,

(ग) कुछ अनुच्छेदों का अर्थ स्पष्ट करने के लिए उनमें शाब्दिक परिवर्तन, तथा

(घ) कुछ अन्य आवश्यक संशोधन जैसे कि कुछ नये अनुच्छेद रखना या वर्तमान अनुच्छेदों के दोषों का परिहार।

प्रारूप समिति के प्रतिवेदन पर तथा विभिन्न संशोधनों पर संविधान-सभा के ग्यारहवें अधिवेशन के पहले दिन अर्थात् 14 नवम्बर, 1949 को विचार आरम्भ हुआ। इस अवस्थान को संविधान का दूसरा 'द्वितीय वाचन' कहा जा सकता है। संशोधनों पर विचार करने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में एक सदस्य के अनुसार इस तरह का वाचन संसार के किसी भाग में किसी सांविधानिक या विधायी इतिहास में नहीं हुआ। सभा के अध्यक्ष का विचार था कि इस वाचन में कोई भी संशोधन नियमानुकूल नहीं होगा जो प्रारूप समिति की ओर से प्रस्तावित किसी संशोधन पर आधारित न हो। परन्तु, उन्होंने विश्वास दिलाया कि वे अपने विवेक का प्रयोग करेंगे तथा यदि कोई तर्कसंगत तथा आवश्यक संशोधन प्रस्तुत किये गये तो उन पर यह सामान्य नियम लागू नहीं करेंगे।

16 नवम्बर, 1949 को संविधान का दूसरा 'द्वितीय वाचन' समाप्त हो गया और उसके अगले दिन संविधान-सभा ने संविधान का तीसरा वाचन किया। डा० अम्बेदकर द्वारा

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्रस्तुत प्रस्ताव में कहा गया था कि "सभा द्वारा निर्णीत संविधान को पास किया जाय।" यह प्रस्ताव 26 नवम्बर, 1949 को स्वीकृत हुआ और प्रस्तावना के शब्दों में, इस दिन भारत के लोगों ने, अपनी संविधान सभा में, सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न, लोकतन्त्रात्मक भारतीय गणराज्य के संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्म-अर्पित किया।

संविधान-निर्माण की प्रक्रिया

संविधान-निर्माण के सम्बन्ध में संविधान-सभा ने जिस प्रक्रिया का अनुसरण किया वह संक्षेप में यह थी—कि सबसे पहले उसने उद्देश्य-प्रस्ताव के रूप में अपने 'विचारार्थ विषय' निर्धारित किए। यह उद्देश्य-प्रस्ताव ही आगे चलकर प्रस्तावना का आधार बना। इसके बाद संविधान-सभा ने सांविधानिक समस्या के विविध पहलुओं के सम्बन्ध में विभिन्न समितियाँ नियुक्ति कीं। इनमें से अनेक समितियों के अध्यक्ष या तो श्री नेहरु थे या सरदार पटेल।* संविधान-सभा के अध्यक्ष के अनुसार इन दो महारथियों ने ही संविधान के मूल सिद्धान्त तय किए थे। सभी समितियों ने बड़ी निष्ठा से कार्य किया और महत्त्वपूर्ण प्रतिवेदन प्रस्तुत किए। संविधान-सभा ने इन प्रतिवेदनों पर विस्तार से विचार किया और इन प्रतिवेदनों की सिफारिशें प्रारूप संविधान के लिए आधार बनीं। प्रारूप संविधान की सतर्क छान-बीन प्रारूप समिति के सदस्यों ने ही नहीं की बल्कि संविधान-सभा के अन्य सदस्यों ने भी प्रारूप संविधान के एक-एक अनुच्छेद का गहराई से विवेचन किया। प्रारूप संविधान की इस विशद् परीक्षा का परिणाम यह हुआ कि उसका आकार बहुत बढ़ गया। संविधान-सभा सचिवालय की परामर्श शाखा ने प्रारूप समिति के विचार के लिए संविधान का जो पहला प्रारूप तैयार किया था, उसमें 243 अनुच्छेद और 13 अनुसूचियाँ थीं। संविधान-सभा की प्रारूप समिति ने जो पहला प्रारूप संविधान तैयार किया उसमें 305 अनुच्छेद और 8 अनुसूचियाँ थीं। जब प्रारूप संविधान का दूसरा वाचन समाप्त हुआ तब अनुच्छेदों की संख्या 386 हो गई। दूसरे वाचन के बाद जब संविधान अन्तिम रूप में स्वीकार हुआ तब उसमें 395 अनुच्छेद और 8 अनुसूचियाँ थीं।

संविधान-निर्माण की समस्याएँ

स्वतन्त्र भारत के संविधान-निर्माण की कुछ समस्याओं का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। संविधान-निर्माताओं का एक विस्तृत भूखण्ड और विशाल जनसंख्या के लिए एक नई राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्था का निर्णय करना था। देश में बहुत सी जातियाँ बसती थीं, विभिन्न धर्मावलम्बी रहते थे, अनेक भाषाएँ बोली जाती थीं। संविधान को इन सबको एकसूत्र में बाँधना था। यह भी आवश्यक था कि संविधान विभिन्न पिछड़े हुए वर्गों तथा जनजातियों के लिए समुचित प्रावधान करे। यह कम सन्तोष और श्रेय की बात नहीं थी कि स्वतन्त्र भारत का जो संविधान बना उसमें कितने ही दशकों से देश के राजनीतिक-सामाजिक जीवन को विषाक्त करने वाले और अन्ततः देश का विभाजन कराने वाले सामुदायिक निर्वाचन-मण्डलों को

---

* श्री नेहरु देसी राज्यों के प्रतिनिधियों से बातचीत करने के लिए नियुक्त की गई समिति संघीय-विषय समिति तथा संघ संविधान-समिति के अध्यक्ष थे। सरदार पटेल अल्पसंख्यक परामर्श-समिति, मूल अधिकार-समिति और प्रान्तीय संविधान-समिति के अध्यक्ष थे।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

त्याग दिया गया, अनुसूचित जातियों और जनजातियों जैसे आर्थिक और शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े हुए तथा दलित वर्गों को छोड़कर और किसी वर्ग, जाति अथवा सम्प्रदाय के लिए आरक्षण भी आवश्यक नहीं रहे और जिन्हें पहले ऐसे आरक्षण प्राप्त थे उन्होंने स्वतः ही उन्हें अनावश्यक करार दे दिया।

एक कठिन समस्या जिसे सुलझाने में संविधान-सभा को काफी समय लगा, देश के लिए राजभाषा की थी। आखिर में, संविधान-सभा, देश में सबसे अधिक लोगों द्वारा बोली और समझी जाने वाली भाषा, हिन्दी को स्वतन्त्र भारत की राजभाषा के रूप में सर्वसम्मति द्वारा स्वीकार करने में सफल हुई।* साथ ही व्यावहारिकता के आधार पर यह भी जरूरी समझा गया कि संक्रान्ति काल में अंग्रेजी का प्रयोग जारी रहे।

एक और विकट समस्या लगभग 600 देसी रियासतों की थी। देश की भूमि का लगभग एक-तिहाई तथा जनसंख्या का एक-तिहाई भाग इन रियासतों के अन्तर्गत आ जाता था। 1947 के भारत स्वतंत्रता अधिनियम के अनुसार सभी देशी रियासतों पर से ब्रिटिश संप्रभुता (पैरामाउन्ट्सी) समाप्त हो गई थी और एक प्रकार से यह सारी रियासतें स्वतन्त्र हो गई थीं। इन रियासतों में कुछ तो बहुत ही छोटी थीं और कुछ जैसे कश्मीर, हैदराबाद और मैसूर ब्रिटिश भारत के प्रान्तों के समान बड़ी। उन सबकी अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न परम्पराएँ थीं और उनसे बातचीत करना तथा उनके प्रतिनिधियों को संविधान-सभा में ला सकना कोई साधारण बात नहीं थी। किन्तु 15 अगस्त, 1947 को जब सत्ता का हस्तान्तरण हुआ और भारत स्वाधीनता अधिनियम लागू हुआ, तब तक कश्मीर और हैदराबाद को छोड़कर सभी रियासतें भारत में शामिल हो चुकी थीं और जब 26 नवम्बर, 1949 को संविधान-सभा ने नया संविधान स्वीकार किया तब तक यह सम्भव हो गया था कि ब्रिटिश भारत के प्रान्तों और देसी रियासतों सहित भारत संघ के सभी एककों को एक ही 'राज्य' नाम से सम्बोधित किया जा सके।

संविधान-सभा की कार्य-प्रणाली की प्रारम्भ से अन्त तक एक प्रमुख विशेषता यह रही कि सभी सदस्यों को अभिव्यक्ति का पूरा अवसर दिया गया तथा विभिन्न मतों को सभी स्तरों पर पूरी गम्भीरता और सच्चाई के साथ विचारा गया। प्रारूप समिति की ओर से डा० अम्बेदकर, अल्लादी कृष्णस्वामी, टी० कृष्णमाचारी, के० एम० मुन्शी, आदि ने कटु से कटु आलोचनाओं का बड़े धैर्य और सन्तुलन के साथ उत्तर दिया तथा विभिन्न अनुच्छेदों की आवश्यकतानुसार विशद व्याख्या की और उनके निहितार्थों को साफ-साफ समझाने का प्रयास किया। संविधान-सभा में नेताओं की बराबर कोशिश यही रही कि समझौते और समन्वय की भावना से काम हो तथा निर्णय बहुमत के आधार पर नहीं, बल्कि आम राय के आधार पर लिए जाएँ। इसी का परिणाम था कि जो संविधान बना उसे संविधान-सभा की ही नहीं अपितु विस्तृत जनमत की भी भारी सहमति और स्वीकृति प्राप्त थी।

जैसा कि संविधान-सभा के अध्यक्ष, डा० राजेन्द्र प्रसाद ने 26 नवम्बर, 1949 को

---

* कई भारतीय और विदेशी विद्वान अज्ञानवश अथवा जान-बूझ कर अपनी संकीर्ण प्रवृत्तियों के वशीभूत, बार-बार आग्रह करते हैं कि हिन्दी केवल एक ही मत से देश की राजभाषा बनी। यह सर्वथा मिथ्या है। संविधान-सभा ने हिन्दी को सर्वसम्मति से देश की राजभाषा स्वीकार किया था।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अपने समापन भाषण में कहा था, संविधान-सभा, कुल मिलाकर, एक ऐसे संविधान का निर्माण करने में सफल हुई थी जो देश के व्यापक हित में था। जब प्रश्न था इस संविधान के समुचित कार्यकरण का। संविधान-सभा की कार्यवाही समाप्त करते हुए डा० राजेन्द्र प्रसाद ने जो अन्तिम शब्द कहना उचित समझे, वे, देश के पिछले दो दशकों के इतिहास और आज की परिस्थितियों के सन्दर्भ में विशेष रूप से स्मरणीय हैं तथा भारत की संविधान-सभा और संविधान-निर्माण की कहानी का उपसंहार करने के लिए उनसे अधिक उपयुक्त शब्द मिलना सम्भवतः, असम्भव होगा।

"भारत का संविधान लोकतन्त्रात्मक है किन्तु लोकतन्त्रात्मक संस्थाओं के सफल कार्य-करण के लिए यह आवश्यक है कि वे जो इसका क्रियान्वय करें दूसरे के दृष्टिकोण को आदर-पूर्वक देखने तथा समझौते और समायोजन के लिए तत्पर हों। बहुत कुछ जो संविधान में लिखा नहीं जा सकता, स्वस्थ परम्पराएँ डालकर अभिसमयों के द्वारा किया जाता है। संविधान में कुछ भी प्रावधान हों या न हों देश का कल्याण इस पर निर्भर करेगा कि उसका शासन कैसा हैं। और शासन निर्भर होगा शासकों पर। कहा जाता है कि किसी देश को वैसी ही सरकार मिलती है जिसका वह अधिकारी हो। अगर जिन लोगों को चुना गया वे योग्य, ईमानदार तथा चरित्र और निष्ठा वाले व्यक्ति हुए तो वे त्रुटिपूर्ण संविधान को भी सर्वोत्तम बना देंगे। यदि उनमें इसकी कमी हुई तो संविधान देश को नहीं बचा सकता। अन्ततः विधान समशीन की तरह एक निर्जीव चीज है। इसमें प्राण पड़ता है उनके द्वारा जो इसे चलाते और नियन्त्रित करते हैं और आज भारत को किसी चीज की इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कि कुछ ईमानदार व्यक्तियों की जो अपने सामने देश का हित रखें। हमारे राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न अंगों से विघटनकारी प्रवृत्तियाँ उठ रही हैं। हमारे यहाँ कितने ही सामुदायिक, जातिगत, भाषा-सम्बन्धी, प्रान्तीय तथा अन्य मतभेद हैं। अतः आवश्यकता ऐसे लोगों की है जो चरित्र के पक्के हों तथा सूक्ष्म-दृष्टि रखते हों, जो छोटे-छोटे समुदायों और क्षेत्रों के हित के लिए पूरे देश के हितों की बलि न दें और जो विभिन्नताओं से जन्मे पूर्वाग्रहों से ऊपर उठ सकें। हम केवल यह आशा ही कर सकते हैं कि देश में ऐसे व्यक्ति प्रचुर संख्या में उभरेंगे।.....जिन्होंने पहले देश की सेवा की है उन्हें अपनी पुरानी सफलताओं के सहारे अब आराम नहीं करना चाहिए और न यह सोचना चाहिए कि वे तो अपना काम पूरा कर चुके और अब तो फल भोगने का समय है। किसी भी ऐसे व्यक्ति के लिए जिसकी अपने काम में सच्ची निष्ठा हो ऐसा आराम का समय कभी आता ही नहीं। भारत में तो जो काम अब हमारे सामने है वह स्वाधीनता-संघर्ष से भी अधिक कठिन है। उस समय हमारे सामने विभिन्न भागों में सामंजस्य स्थापित करने की समस्या नहीं थी, बाँटने के लिए पद-स्थानों के प्रलोभन नहीं थे, साझे के लिए हमारे हाथों में कोई शक्ति और सत्ता नहीं थी। अब हमारे पास यह सब कुछ है और सचमुच प्रलोभन बहुत बड़े हैं। ईश्वर हमें इतनी बुद्धि और बल दे कि हम इन सब प्रलोभनों से ऊपर उठ सकें और उस देश की सेवा कर सकें जिसे स्वाधीन कराने में हम सफल हुए हैं।"

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

मन्त्रिमण्डल में प्रवेश के लिये गुप्त द्वार

एस० एम० सईद

भारत के संविधान ने देश में संसदीय सरकार की स्थापना की है। तदनुसार केन्द्र तथा राज्यों में मन्त्रिमण्डल के निर्माण की व्यवस्था की गयी है और उसे विस्तृत कार्यकारिणी तथा विधानीय अधिकार प्रदान किये गये हैं। मन्त्रिमण्डल की रचना के सम्बन्ध में संविधान में यह कहा गया है कि "प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा से ही की जायेगी।"[1] संविधान ने प्रधान-मन्त्री तथा अन्य मन्त्रियों के चयन के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से किसी भी शर्त का उल्लेख नहीं किया है और यह कार्य क्रमशः राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री के ऊपर छोड़ दिया है। तथापि मन्त्रिमण्डल के संगठन के सम्बन्ध में संविधान ने यह प्रतिबन्ध अवश्य लगाया है कि "कोई मन्त्री जो निरन्तर छः मास की किसी कालावधि तक संसद के किसी सदन का सदस्य न रहे, उस कालावधि की समाप्ति पर मन्त्री न रहेगा।"[2]

संविधान का उपर्युक्त प्रावधान एक ओर तो यह व्यवस्था करता है कि मन्त्रिमण्डल का निर्माण केवल विधानमण्डल के सदस्यों में से ही होना चाहिए किन्तु दूसरी ओर यही प्रावधान मन्त्रिमण्डल में बाहरी व्यक्तियों के प्रवेश का माध्यम बन सकता है और इसके द्वारा प्रधानमन्त्री/मुख्यमन्त्री ऐसे व्यक्तियों को भी आसानी से मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित कर सकता है जो निर्वाचन में पराजित हो गये हों अथवा जिन्होंने निर्वाचन लड़ा ही न हो। संविधान के अनुसार कोई भी व्यक्ति छः मास तक विधानमण्डल का सदस्य हुए बिना मन्त्रिमण्डल में नियुक्त किया जा सकता है। इसलिए यदि प्रधानमन्त्री/मुख्यमन्त्री किसी ऐसे व्यक्ति को मन्त्री बनाना चाहता है जो विधानमण्डल का सदस्य भी नहीं है, तो वह अनुच्छेद ७५ (५) के आधीन उस व्यक्ति को मन्त्री पद पर नियुक्त कर सकता है और छः मास की अवधि समाप्त होने से पहले या तो उसे उच्च सदन का सदस्य मनोनीत करा देगा अथवा अपने दल के किसी विधायक से त्याग-पत्र दिलवा कर उस निर्वाचन क्षेत्र से इस नये मन्त्री को चुनाव लड़ाकर विधानमण्डल का सदस्य बनवा देगा। इस प्रकार प्रधानमन्त्री/मुख्यमन्त्री थोड़े से राजनीतिक हेर-फेर के द्वारा संविधान के उपर्युक्त प्रावधान के माध्यम से एक बाहरी व्यक्ति को भी मन्त्रिमण्डल में नियुक्त कर सकता है। परन्तु मन्त्रिमण्डल में यह गुप्त द्वार-प्रवेश एक प्रतिनिधि सरकार की मर्यादा

---

[1] अनुच्छेद 75 (1)।

[2] अनुच्छेद 75 (5), (राज्यों में मन्त्रिमण्डल के संगठन के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का प्रावधान अनुच्छेद 164 (4) में किया गया है)।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

के विपरीत तथा एक जनतन्त्रीय संस्था की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल प्रतीत होता है ।

यह ठीक है कि बाहरी व्यक्तियों को उपर्युक्त विशेषाधिकार केवल छः मास के लिए ही पर्याप्त हो सकेगा और इस बीच यदि वह विधानमण्डल के सदस्य नहीं बन पाते तो उन्हें मन्त्री पद को छोड़ना पड़ेगा । परन्तु प्रश्न यह है कि किसी भी बाहरी व्यक्ति को छः मास के लिए भी मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित होने का अवसर ही क्यों दिया जाये और क्यों न यह प्रतिबन्ध लगा दिया जाये कि मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की नियुक्ति केवल विधानमण्डल के सदस्यों में से ही की जाये ? यह प्रश्न संविधान निर्मात्री सभा में भी उठाया गया था और कुछ सदस्यों ने विचाराधीन प्रावधान का विरोध करते हुए यह सुझाव भी दिया था कि मन्त्रिमण्डल की सदस्यता केवल विधानमण्डल के सदस्यों तक सीमित कर दी जाये । सभा के एक सदस्य, श्री मोहम्मद ताहिर ने वर्तमान प्रावधान के विरुद्ध संविधान-निर्मात्री सभा के समक्ष यह संशोधन प्रस्ताव रखा था कि "एक मन्त्री अपनी नियुक्ति के समय संसद का सदस्य होगा ।"[3] इस अवसर पर बोलते हुए उन्होंने कहा था कि "यह सोचा भी नहीं जा सकता कि संसद के तीन-चार सौ सदस्यों में से राष्ट्रपति तथा सदन नेता कुछ ऐसे उपयुक्त व्यक्तियों को भी न पा सकेंगे, जिन्हें मन्त्री बनाया जा सके और उन्हें संसद के बाहर से मन्त्रियों को चुनने की आवश्यकता होगी । विचार में जनता द्वारा निर्वाचित संसद-सदस्यों में से मन्त्रियों को न चुनकर बाहरी व्यक्तियों को मन्त्रिमण्डल में नियुक्ति करना जनतन्त्र की आत्मा के प्रतिकूल ही नहीं, वास्तव में स्वयं जनतन्त्र का हनन करना होगा ।"[4]

संविधान निर्मात्री सभा के एक अन्य सदस्य, श्री आर० के० सिंघवी ने उपर्युक्त दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए कहा था कि "विचाराधीन प्रावधान 1935 के अधिनियम से लिया गया है । मैं चाहता हूँ कि इस उपबन्ध को हमारे संविधान में न रखा जाये क्योंकि हमारे नये विधानमण्डल में लगभग 500 सदस्य होंगे और यह कहना कि इतने सदस्यों में मन्त्री बनाने के लिए विशेष योग्यता तथा ज्ञान रखने वाले कुछ थोड़े से सदस्य भी न मिल सकेंगे, स्वयं विधानमण्डल पर एक प्रकार का लांछन लगाना होगा ।"[5]

उपर्युक्त प्रावधान का विरोध करते हुए संविधान-निर्मात्री सभा के एक और सदस्य श्री शिब्बन लाल सक्सेना ने कहा था कि "संविधान की इस धारा के अनुसार ऐसे व्यक्ति भी मन्त्रिमण्डल में नियुक्त किये जा सकेंगे, जो मतदाताओं द्वारा निर्वाचित नहीं हो सके हैं । यह व्यवस्था पूर्णरूप से जनतन्त्रीय सिद्धान्तों के प्रतिकूल है ।"[6]

संविधान-निर्मात्री सभा के अनेक सदस्यों के घोर विरोध के बाद भी श्री मोहम्मद ताहिर का उपर्युक्त संशोधन प्रस्ताव स्वीकृत न हो सका और सभा के बहुमत ने न जाने क्यों मन्त्रिमण्डल में प्रवेश पाने के लिए इस गुप्त द्वार को खुला रखना ही उचित समझा । यह बात भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि सभा के अधिकांश सदस्यों ने मन्त्रिमण्डल की रचना से सम्बन्धित अनुच्छेद पर विचार करते समय इस उपबन्ध पर कोई भी ध्यान नहीं दिया और उन्होंने

---

[3] संविधान-निर्मात्री सभा की कार्यवाही, खण्ड 7, पृष्ठ 1172; खण्ड 8, पृष्ठ 505 ।

[4] वही ।

[5] वही, पृष्ठ 1181; खण्ड 8, पृष्ठ 516 ।

[6] संविधान-निर्मात्री सभा की कार्यवाही, खण्ड 7, पृष्ठ 1174 ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

बिना कोई तर्क दिये हुए उपर्युक्त संशोधन के विपक्ष में अपना मत दिया। संविधान-निर्मात्री सभा की कार्यवाही से पता चलता है कि केवल डाक्टर अम्बेडकर ने इस विषय पर अपने विचार स्पष्ट रूप से व्यक्त किये थे। वर्तमान प्रावधान का समर्थन करते हुए उन्होंने कहा था कि "यह पूरी तरह सम्भव है कि एक व्यक्ति से, जो हर प्रकार से मन्त्री पद के योग्य है, किसी कारण-वश एक निर्वाचन-क्षेत्र के लोग अप्रसन्न हो गये हों और वह व्यक्ति निर्वाचन में पराजित हो गया हो। लेकिन यह कोई ऐसा कारण नहीं है जिससे कि उस योग्य व्यक्ति को मन्त्रिमण्डल में नियुक्त न किया जाये और यह न माना जाये कि वह व्यक्ति उसी या किसी अन्य निर्वाचन क्षेत्र से निर्वाचित हो सकता है। इसके अतिरिक्त यह सुविधा जो विचाराधीन प्रावधान द्वारा प्रदान की जा रही है, केवल छः मास की अवधि के लिए होगी और इससे किसी भी व्यक्ति को निर्वाचित हुए बिना विधानमण्डल में बैठने का स्थायी अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता।[7]

डाक्टर अम्बेदकर के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट होता है कि अनुच्छेद ७५ में धारा (५) को जोड़ने का मौलिक उद्देश्य यह था कि इस प्रक्रिया से उन योग्य व्यक्तियों को मन्त्रि-मण्डल में सम्मिलित किया जा सके जो किसी कारण निर्वाचन में पराजित हो गये हों परन्तु प्रधानमन्त्री/मुख्यमन्त्री उन व्यक्तियों को मन्त्रिमण्डल में लाना आवश्यक समझता है। लेकिन यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि मन्त्रिमण्डल को निर्वाचन में हारे हुए व्यक्तियों को शरण देने का स्थान क्यों बनाया जाये और ऐसे व्यक्तियों को जिन्हें एक बार जनता अस्वीकृत या रद्द कर चुकी है मन्त्रिमण्डल में नियुक्त करने के उपरान्त पुनः अपने भाग्य-परीक्षण का अवसर क्यों दिया जाये ?

विचाराधीन व्यवस्था के पक्ष में केवल यह तर्क दिया जा सकता है कि इसके द्वारा विशेष योग्यता रखने वाले ऐसे व्यक्तियों तथा राजनीतिक दल के उन महत्त्वपूर्ण नेताओं की सेवाओं से लाभ उठाया जा सकता है जो किसी कारण निर्वाचन में पराजित हो गये हों, या जो निर्वाचन में भाग न ले सके हों। लेकिन इस तर्क को उस दशा में स्वीकार किया जा सकता था, यदि संसद का आकार छोटा होता और उसके सदस्यों की संख्या 50 या 100 होती। परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में जबकि संसद के दोनों सदनों में लगभग आठ सौ सदस्य हैं योग्य सदस्यों के अभाव की बात करना कुछ उचित प्रतीत नहीं होता। इतनी बड़ी संख्या वाले विधानमण्डल में बहुमत दल का आकार भी स्वभावतः बड़ा होगा। अतः प्रधानमन्त्री उसमें से मन्त्रिमण्डल के लिए थोड़े से योग्य सदस्यों को आसानी से चुन सकता है। इसलिए योग्यता के नाम पर हारे हुए व्यक्तियों को मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित करना किसी भी तरह प्रशंसनीय नहीं हो सकता। वास्तव में जनता के द्वारा निर्वाचन में अस्वीकृत किये गये व्यक्तियों को, चाहे वह कितने ही योग्य क्यों न हों, मन्त्रिमण्डल में नियुक्त करना जन-सम्प्रभुता के सिद्धान्त का अतिक्रमण और निर्वाचन प्रणाली का मखौल करने के समान होगा। सत्य तो यह है कि एक जनतन्त्रीय प्रणाली में विधानमण्डल की सदस्यता के उम्मीदवारों की योग्यता अथवा अयोग्यता का निर्णय करने का अन्तिम अधिकार जनता को होता है। इसलिए यदि किसी व्यक्ति को निर्वाचकगण अस्वीकृत कर चुके हैं तो फिर उस व्यक्ति को (वह चाहे कितना बड़ा विद्वान ही क्यों न हो) शासन में एक उच्च स्थान देकर उसे विधानमण्डल में लाना जन-इच्छा के साथ

[7] वही, पृष्ठ 1186।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

खिलवाड़ करना नहीं तो और क्या है ?

उपर्युक्त प्रावधान को अपनाने से एक ओर जन-इच्छा का अतिक्रमण होगा और दूसरी ओर इससे विधानमण्डल की प्रतिष्ठा को भी धक्का पहुँचेगा। जैसा कहा जा चुका है, इस उपबन्ध के अधीन नियुक्त किये गये मन्त्री को विधानमण्डल का सदस्य बनाने के लिए प्रधान-मन्त्री/मुख्यमन्त्री को अपने दल के किसी सदस्य से त्याग-पत्र दिलवाकर उस मन्त्री के लिए एक निर्वाचन-क्षेत्र खाली करना पड़ेगा। इस प्रकार एक ऐसे सदस्य को जिसे एक निर्वाचन क्षेत्र की जनता ने चुनकर भेजा था, निर्धारित समय से पूर्व प्रधानमन्त्री/मुख्यमन्त्री द्वारा विधान-मण्डल की सदस्यता से वंचित कर दिया जायेगा और उसके स्थान पर सामान्यतः एक ऐसे व्यक्ति को उस निर्वाचन क्षेत्र पर लादने का प्रयत्न किया जायेगा जिसे कुछ ही दिन पहले किसी अन्य निर्वाचन क्षेत्र के मतदाता अस्वीकृत कर चुके हैं। यही नहीं, इस प्रावधान के अधीन नियुक्त किये गये मन्त्री को विधानमण्डल के अन्य सदस्यों के समान सदन की कार्यवाही में भाग लेने तथा अन्य विशेषाधिकारों के प्रयोग करने का पूरा अधिकार होगा। इस प्रकार एक बाहरी व्यक्ति को जनता द्वारा निर्वाचित सदस्यों के समान ही अधिकार प्राप्त हो जायेंगे और इससे संसद के प्रतिनिध्यात्मक स्वरूप को आघात पहुँचना स्वाभाविक है।

संविधान की इस व्यवस्था का एक दोष यह भी है कि इससे एक ओर तो सरकारी धन का अपव्यय होगा और दूसरी ओर भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलेगा। यह तो निश्चित ही है कि विधानमण्डल का कोई भी वर्तमान सदस्य सदन की सदस्यता से उस समय तक त्याग-पत्र न देगा जब तक कि उसे उसकी इच्छानुसार धन अथवा कोई अन्य लाभप्रद राजनीतिक पद न दिया जाये। ऐसी अवस्था में प्रधानमन्त्री/मुख्यमन्त्री को एक बाहरी व्यक्ति को मन्त्रिमण्डल तथा विधानमण्डल में स्थायी स्थान देने के लिए त्याग-पत्र देने वाले सदस्य की शर्तों को पूरा करना पड़ेगा और सम्बन्धित सदस्य को "मुँह माँगे दाम" देना पड़ेगा। इस राजनीतिक सौदे-बाजी के परिणामस्वरूप उस निर्वाचन-क्षेत्र में उप-निर्वाचन कराना पड़ेगा जिसके वर्तमान सदस्य ने त्याग-पत्र दिया है और इस प्रकार के एक निर्वाचन पर लाखों रुपये का खर्च होगा जिसे किसी भी तरह न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता।

यही नहीं, ऐसे वातावरण में होने वाला निर्वाचन भी पूर्णतः न्यायपूर्ण ढंग से नहीं हो सकता, क्योंकि इस निर्वाचन में उम्मीदवार के रूप में एक ओर तो वह नव-नियुक्त मन्त्री होगा जो विधानमण्डल का सदस्य न होते हुए भी एक उच्च राजनीतिक पद पर आसीन है और दूसरी ओर साधारण नागरिक। यह स्वाभाविक है कि सम्बन्धित मन्त्री विभिन्न प्रकार की आर्थिक तथा राजनीतिक शक्तियों के प्राप्त करने के बाद सरकारी धन तथा साधनों का भरपूर प्रयोग करके छः मास के अन्दर एक निर्वाचन क्षेत्र को अपने अनुकूल बना सकता है और वह उस निर्वाचन क्षेत्र के प्रभावशाली लोगों को सरकारी साधनों का दुरुपयोग करके हर प्रकार का लाभ पहुँचाकर अपने पक्ष में कर सकता है। इन परिस्थितियों में साधारणतः एक कमजोर से कमजोर उम्मीदवार को भी किसी निर्वाचन क्षेत्र से विजयी बनाया जा सकता है क्योंकि एक साधारण उम्मीदवार एक मन्त्री के मुकाबले में जिसके पास आर्थिक तथा राजनीतिक सत्ता हो, बिरले ही सफल हो सकता है।

विचाराधीन प्रावधान का दुरुपयोग एक और तरह से भी किया जा सकता है। एक प्रभावशाली प्रधानमन्त्री/मुख्यमन्त्री यह भी कर सकता है कि वह किसी गैर सदस्य को मन्त्रि-

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

मण्डल में नियुक्त करने के बाद उसे निर्वाचित कराये बगैर ही मन्त्रिमण्डल का सदस्य बनाये रखे। ऐसा करने के लिए आसान तरीका यह होगा कि वह उस व्यक्ति की छः मास की अवधि स्वतः समाप्त हो जाने के दूसरे ही दिन उसे पुनः मन्त्रिमण्डल में नियुक्त करा दे और इस प्रकार प्रत्येक छः मास के बाद उस व्यक्ति की पुर्ननियुक्ति कराके उस वर्षों तक मन्त्रिमण्डल में बनाये रख सकता है। प्रधानमन्त्री/मुख्यमन्त्री का यह कार्य पूर्णरूप से सांविधानिक होगा, क्योंकि संविधान ने केवल यह प्रतिबन्ध लगाया है कि कोई भी व्यक्ति लगातार छः मास से अधिक बिना विधानमण्डल के सदस्य बने हुए मन्त्री नहीं रह सकता, लेकिन संविधान में यह रोक कहीं पर नहीं लगायी गयी है कि उस मन्त्री को छः मास की अवधि पूरी कर लेने के बाद विधान-मण्डल के सदस्य हुए बिना मन्त्रिमण्डल में पुनः नियुक्त न किया जाये।

संविधान का यह अनुच्छेद (७५–५) एक और तरह से भी अस्पष्ट प्रतीत होता है और उससे अनुचित लाभ उठाया जा सकता है। वर्तमान प्रावधान के अनुसार ऐसे मन्त्री को, जो विधानमण्डल का सदस्य नहीं है, छः मास के अन्दर विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य हो जाना चाहिए। मान लीजिए, कि वह मन्त्री अपनी नियुक्ति के कुछ दिनों बाद किसी निर्वाचन-क्षेत्र से चुनाव लड़ता है और उसमें हार जाता है। संविधान के अनुसार इस पराजय के बाद भी उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह छः मास की अवधि के पूरे होने से पूर्व मन्त्रिमण्डल से त्याग-पत्र दे। इसलिए वह मन्त्री एक बार पराजित होने के बाद भी त्याग-पत्र देने के बजाय किसी अन्य निर्वाचन क्षेत्र से पुनः चुनाव लड़ सकता है। संविधान में किसी भी प्रतिबन्ध के न होने के कारण वह छः मास की अवधि में कई बार चुनाव लड़ सकता है और सम्भवतः किसी न किसी बार सफल हो ही जायेगा। परन्तु पराजित व्यक्तियों को इस प्रकार मन्त्री पद पर बनाये रखना और उन्हें बार-बार चुनाव लड़ने का अवसर देना एक ओर तो जनतन्त्रीय परम्पराओं के प्रतिकूल है और दूसरी ओर इससे निर्वाचन प्रणाली में जनता की आस्था का अन्त हो जायेगा।

उपर्युक्त प्रावधान का दुरुपयोग उस समय और भी अधिक उच्च स्तर पर किया जा सकता है जबकि प्रधानमन्त्री/मुख्यमन्त्री एक ऐसे मिश्रित मन्त्रिमण्डल का नेतृत्व कर रहा हो जिसका जीवन अनिश्चित हो। ऐसी अवस्था में प्रधानमन्त्री/मुख्यमन्त्री यह सोचकर कि उसे कुछ ही दिनों इस पद पर रहना है, अपने समस्त मित्रों तथा सहयोगियों को मन्त्रिमण्डल में नियुक्त कर सकता है और इस तरह उन्हें शासन करने तथा आर्थिक लाभ उठाने का अवसर दे सकता है। ऐसा करना इस कारण और भी आसान होगा क्योंकि संविधान ने मन्त्रिमण्डल के लिए अधिकतम सदस्य-संख्या निश्चित नहीं की है। प्रधानमन्त्री/मुख्यमन्त्री द्वारा अपने अधिकार के इस प्रकार दुरुपयोग किये जाने को कैसे रोका जा सकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

संविधान के विचाराधीन प्रावधान में उपर्युक्त दोषों के निहित होते हुए भी यदि यह मान लिया जाये कि इस प्रकार की व्यवस्था असाधारण योग्यता रखने वाले राजनीतिज्ञों को मन्त्रिमण्डल में लाने के लिए आवश्यक है, तो भी यह प्रश्न उठता है कि ऐसे किसी व्यक्ति को मन्त्री पहले क्यों बनाया जाये और विधानमडण्ल का निर्वाचन वह बाद में क्यों लड़े ? क्यों न इसके विपरीत प्रक्रिया को अपनाया जाये और उसे पहले विधानमण्डल का सदस्य निर्वाचित कराने के बाद ही मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित किया जाये ? यदि प्रधानमन्त्री/मुख्यमन्त्री किसी

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

गैर सदस्य को उसके योग्य तथा अनुभवी होने के कारण मन्त्रिमण्डल में नियुक्त करना ही चाहता है, तो उसका तरीका यह होना चाहिए कि वह एक निर्वाचन-क्षेत्र को खाली कराके उस व्यक्ति को पहले चुनाव लड़ने को कहे और यदि निर्वाचन में वह व्यक्ति सफल हो जाये तो उसे मन्त्री पद पर नियुक्त कर दे। इस प्रकार वह प्रक्रिया जो प्रधानमन्त्री/मुख्यमन्त्री को वाद में अपनानी पड़ती है, उसे पहले अपनाकर मन्त्रिमण्डल के जनतन्त्री स्वरूप को बनाये रखा जा सकता है।

वास्तविकता यह है कि संविधान के अनुच्छेद ७५ (५) तथा १६४ (४) जनतन्त्रीय सिद्धान्तों से मेल नहीं खाते और उन्हें आर्थिक तथा नैतिक दृष्टि से भी न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता। भारत में केन्द्र तथा राज्य-मन्त्रिमण्डलों में इस प्रकार से जो नियुक्तियाँ अब तक की गयी हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस प्रावधान के माध्यम से मन्त्रिमण्डल में गैर-सदस्यों की नियुक्तियाँ केवल राजनीतिक कारणों से की जाती हैं और उनका आधार योग्यता कदापि नहीं होता। इसलिए अच्छा यह होगा कि मन्त्रिमण्डल में प्रवेश पाने के लिए इस चोर दरवाजे को सदैव के लिए बन्द कर दिया जाये और इस प्रावधान का पूर्ण रूप से अन्त कर दिया जाये। केवल ऐसा करने से ही मन्त्रिमण्डल की मर्यादा को सुरक्षित रखा जा सकता है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संघ-राज्यों के सम्बन्धों में गवर्नर की भूमिका

परमात्मा शरण

सन् 1967 के पूर्व श्री श्रीप्रकाश जी ने, जो तीन राज्यों में गवर्नर रह चुके थे, गवर्नर की गिरती हुई स्थिति के बारे में लिखा था : 'समय बीतने पर प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करने लगेगा कि गवर्नर शक्तिहीन व्यक्ति होता है जिसका प्रयोजन समारोहों और मनोरंजन के स्थानों पर प्रदर्शन है। परन्तु इससे पूर्व केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच अधिकांश वार्ता गवर्नरों के द्वारा ही होती थी। मुख्यमन्त्री विभिन्न मामलों में उनकी सहायता पाने के लिए उत्सुक रहते थे। वे केन्द्र को अपने सन्देश गवर्नरों के द्वारा ही भेजा करते थे। किन्तु क्रमशः केन्द्र ने राज्य सरकारों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखना प्रारम्भ किया। वह गवर्नरों को, जिनकी उसने रचना की थी, भूल गया।'[1]

श्रीमती सरोजिनी नायडु ने, जिस समय वह उत्तर प्रदेश की गवर्नर थीं, अपने को 'सुनहरे पींजड़े में चिड़िया' बताया था। श्री वी० वी० गिरी ने आरम्भ में गवर्नर बनने में अनिच्छा प्रकट की थी और डा० हरि कृष्ण मेहताब ने सन् 1956 में उड़ीसा का मुख्यमन्त्री बनने के लिए गवर्नर के पद को त्यागा था। श्रीमती विजय लक्ष्मी पण्डित ने तो सन् 1964 में संसद का सदस्य बनने के लिए बम्बई राज्य के गवर्नर पद से त्याग-पत्र दिया था। 9 अक्तूबर, 1969 को भूतपूर्व गवर्नर, श्री धर्मवीर ने एक पत्रकार सम्मेलन में कहा : 'स्वतन्त्रता के उपरान्त प्रारम्भिक काल में, जबकि सम्पूर्ण देश में एक दल की स्थायी सरकारें थीं, गवर्नर के दायित्व केवल एक सांविधानिक अध्यक्ष के थे। परन्तु वर्तमान सन्दर्भ में, जबकि राजनीतिक निष्ठाएँ तेजी से बदल रही हैं और जब बहुदलीय सरकारें तथा ऐसी सरकारें जो राजनीतिक दृष्टि से केन्द्रीय सरकार से भिन्न हैं, राज्यों में कार्य कर रही हैं, गवर्नर के दायित्वों में बड़ी वृद्धि हुई है।'[2]

स्वयं श्री धर्मवीर द्वारा 21 नवम्बर, 1967 को पश्चिमी बंगाल में संयुक्त मोर्चे के मन्त्रिमण्डल को अपदस्थ किये जाने तथा डा० पी० सी० घोष के नये मुख्यमन्त्री बनाये जाने ने गवर्नर की ठीक भूमिका के बारे में एक अभूतपूर्व प्रवाद को जन्म दिया। पहले पश्चिमी बंगाल में और उसके बाद पंजाब में विधान सभा के अध्यक्ष ने अपनी शक्तियों का प्रयोग इस प्रकार किया कि विधान सभा अपनी सत्ता का प्रयोग न कर सकी। पंजाब विधान सभा के अध्यक्ष ने अपना निर्णय ऐसे प्रश्न पर दिया था जिसका सम्बन्ध सदन के सत्रावसान तथा उसके पुनः आहूत किये

---

[1] श्रीप्रकाश, स्टेट गवर्नर इन इन्डिया (मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1966) पृष्ठ 20–21।

[2] हिन्दुस्तान टाइम्स, 10 अक्तूबर, 1966।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

जाने के बारे में गवर्नर द्वारा निकाले गये अध्यादेश से था। उसके निर्णय के विरुद्ध पंजाब सरकार ने उच्च न्यायालय में अपील की और वहाँ अपील असफल होने पर सरकार ने उच्चतम न्यायालय में अपील की। न्यायालय की सांविधानिक पीठ ने 30 जुलाई 1968 को सर्व-सम्मति से यह निर्णय दिया कि विधान-सभा की कार्यवाही वैधानिक थी तथा उसके द्वारा पारित और गवर्नर द्वारा प्रमाणित विनियोग अधिनियम वैध थे।

राजस्थान (1967 के आम चुनाव के बाद) में गवर्नर ने कांग्रेस दल के नेता को मन्त्रि-मण्डल का निर्माण करने के हेतु आमन्त्रित किया, जबकि 183 सदस्यों वाले सदन में विरोधी पक्ष को 92 स्थान प्राप्त हुए थे। गवर्नर द्वारा कांग्रेसी नेता, श्री मोहन लाल सुखाड़िया को आमन्त्रित किये जाने का राज्य-भर में व्यापक विरोध हुआ। स्थान-स्थान पर विरोध प्रदर्शन और सभाएँ हुई, जयपुर में तो दफा 144 लागू कर दी गयी और पुलिस को प्रदर्शनकारियों पर गोली वर्षा भी करनी पड़ी। मार्च, 1969 में मध्य प्रदेश के गवर्नर ने सत्तारूढ़ दल के नेता श्री जी० एन० सिंह द्वारा त्याग-पत्र देने के बाद नव-निर्वाचित नेता, राजा नरेश चन्द्र सिंह को मन्त्रिमण्डल के निर्माण हेतु आमन्त्रित करने में इतनी देरी की कि उसकी गैर-कांग्रेसी क्षेत्रों में बड़ी आलोचना हुई और कांग्रेस संसदीय दल के कुछ सदस्यों तक ने भी उसकी आलोचना की। यहाँ यह भी उल्लेख करना उचित होगा कि जब बिहार में श्री महामाया प्रसाद सिन्हा के मुख्य-मन्त्रित्व काल में संयुक्त मोर्चे की सरकार पदासीन थी तो भारत सरकार ने मुख्यमन्त्री से मन्त्रणा करने के उपरान्त श्री नित्यानन्द कानूनगो को, जो उड़ीसा के पुराने कांग्रेसी नेता हैं, गवर्नर मनोनीत किया। मुख्यमन्त्री ने उस समय माँग की कि नये गवर्नर अपना पद कुछ माह बाद ग्रहण करें, जिसे भारत सरकार ने नहीं माना। इस पर मुख्यमन्त्री ने नये गवर्नर से असहयोग करने की बात कही, परन्तु स्वराष्ट्रमन्त्री, श्री वाई० बी० चह्वाण ने उन्हें चेतावनी दी कि इसे राज्य में सांविधानिक शासन की विफलता समझा जायेगा। फलतः बिहार में कोई गतिरोध या संघर्ष पैदा न हुआ।

गवर्नर के कार्यों और शक्तियों से सम्बन्धित संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों का ध्यान-पूर्वक अध्ययन करने के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि गवर्नर को दो रूपों में कार्य करना पड़ता है—साधारणतः वह राज्य की कार्यपालिका के अध्यक्ष के रूप में कार्य करता है, परन्तु उसे कभी-कभी संघ सरकार के प्रतिनिधि के रूप में भी कार्य करना पड़ता है। 'उसकी भूमिका में यह द्वैधता उसकी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और निश्चित ही सबसे अधिक अनोखी विशेषता है। .....अधिकतर प्रयोजनों के लिए तो गवर्नर राज्य के शासनतन्त्र का अंग है; परन्तु साथ ही वह केन्द्र से सम्बन्ध जोड़ने वाली कड़ी भी है। यह कड़ी और केन्द्र के प्रति उसका उत्तरदायित्व संविधान से निकलते हैं, मुख्यतः संविधान के इस प्रावधान से कि उसकी नियुक्ति और पदच्युति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। यह उल्लेखनीय है कि जबकि संविधान ने राष्ट्रपति की नियुक्ति हेतु निर्वाचन और पदच्युति के लिए महाभियोग की विधियाँ विहित की हैं, गवर्नरों के लिए संविधान ने नियुक्ति व पदच्युति की शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित की हैं। इस प्रकार संविधान ने विशिष्ट रूप में कठोर संघात्मक सिद्धान्त से हटने की व्यवस्था की है और ऐसा सोच समझकर किया गया है।'

गवर्नर की भूमिका के इस दूसरे पहलू का राष्ट्रीय एकीकरण के लिए बड़ा महत्त्व है, जिसे सन् 1967 से पूर्व काफी मान्यता न मिली थी। अतीत में इसके लिए उत्तरदायी कारण

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

को 'केन्द्र व राज्यों में एकात्मक (एक दलीय) शासन' में ढूँढना चाहिए। ऐसे राज्य में जहाँ मन्त्रिमण्डल उसी दल का था जो केन्द्र में पदासीन था, गवर्नर का महत्त्व बहुत ही कम रह गया था। ऐसी स्थिति में गवर्नर पद पर नियुक्त किये जाने वाले व्यक्ति को उसकी योग्यता की बजाए अन्य बातों का विचार करके छाँटा जाता था, जिनमें से यह मुख्य थी कि वह अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका को त्यागने के लिए उद्यत रहे। परन्तु अब यह परिदृश्य पूर्णतया बदल गया है और फिर कभी भी वही न रहेगा। अब केन्द्र व राज्यों में विभिन्न दलों का शासन है और यह बहु-दलीय स्थिति कायम रहने वाली है।

केन्द्र द्वारा नियुक्त अधिकारी के रूप में गवर्नर को अपने विवेक में दो महत्त्वपूर्ण कार्य करने पड़ते हैं—अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति को राज्यों के शासन के बारे में समय-समय पर रिपोर्टें भेजते रहना और अनुच्छेद 200 के अन्तर्गत किसी विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए रोक रखना। गवर्नर की विवेकीय शक्तियों को दो शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—सांविधानिक और स्थितीय। दोनों प्रकार की शक्तियों का क्षेत्र सीमित है, परन्तु वर्तमात परिस्थितियों में दूसरे प्रकार की विवेकीय शक्तियों का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। इनमें हम इन्हें सम्मिलित कर सकते हैं—(1) विधानसभा का सत्र आहूत करना तथा उसका सत्रावसन आयोग करना; (2) मन्त्रिमण्डल को अपदस्थ करना; (3) अपनी दृष्टि से यह निर्णय करना कि बहुमत प्राप्त दल की शक्ति कितनी है; (4) अनुच्छेद 209 के अन्तर्गत अध्यादेश जारी करना; (5) ऐसे विधेयकों पर भी हस्ताक्षर करना (अनुमति प्रदान करना) जिन्हें उपाध्यक्ष ने ही प्रमाणित किया हो और (6) राष्ट्रपति को आपातकालीन उद्घोषणा लागू करने का परामर्श देना।[3]

गवर्नर के कार्यों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होगा कि उसे विभिन्न प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं, जिन्हें मोटे रूप में दो समूहों में रखा जा सकता है—ऐसे कार्य जिनमें उसे अपने व्यक्तिगत निर्णय या विवेक का प्रयोग करना पड़ता है और अन्य। अतः यह निश्चित है कि गवर्नर की भूमिका केवल निष्क्रिय अथवा औपचारिक नहीं है, उसे विशेष परिस्थितियों में अपने निर्णय और विवेक का प्रयोग करना पड़ता है और वह राज्य की राजनीति में बड़ा ही निर्णायक सिद्ध हो सकता है। अतएव यह अति आवश्यक है कि गवर्नर अपने कार्यों को बहुत सोच-समझकर, न्यायपूर्वक, निष्पक्षता और कार्यकुशलता से करे। परन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं कि विभिन्न अवसरों पर गवर्नरों ने भिन्न-भिन्न निर्णय लिये। अतएव यह आवश्यक और उचित समझा गया कि उनके मार्गदर्शन हेतु कुछ अभिसमय स्थापित हों और मार्गदर्शक रेखाएँ निर्धारित की जायें। इस विचार से स्वराष्ट्र मन्त्री ने दिसम्बर, 1967 में ही विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं और विशेषज्ञों की बैठक बुलायी थी, किन्तु उसमें इतने विरोधी मत अभिव्यक्त किये गये कि कोई अभिसमय या मार्गदर्शक रेखाएँ स्वीकृत न हो पायीं। प्रशासन सुधार अयोग के अध्ययन समूह ने भी सिफारिश की कि गवर्नरों को सांविधानिक अथवा प्रशासनिक गतिरोध की परिस्थितियों का सामना करने के लिए कानून द्वारा शक्तियाँ प्रदान की जाएँ।

---

[3] प्रशासन सुधार आयोग, स्टडी टीम की केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के बारे में रिपोर्ट (सितम्बर, 1967) खण्ड 1, पैरा 18·1 व 2।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

गवर्नर की उचित भूमिका के सम्बन्ध में प्रशासन सुधार आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि 'गवर्नर को राज्य के अध्यक्ष के रूप में राजनीतिक पक्षपात से स्वतन्त्र होना चाहिए और दलों के बीच निष्पक्ष एवं न्यायपूर्ण रुख अपनाना चाहिए, जिससे कि उसे राज्य के सभी दलों का आदर प्राप्त हो।'[4] जहाँ तक केन्द्र और राज्यों के बीच सम्बन्ध जोड़ने वाली कड़ी का सम्बन्ध है, उपराष्ट्रपति श्री जी० एस० पाठक के अनुसार गवर्नर अपनी शपथ से 'संविधान के परिरक्षण और प्रतिरक्षण हेतु सांविधानिक दायित्व के अन्तर्गत है। अतएव यह स्वाभाविक है कि ऐसे किसी मामले में मन्त्रि-परिषद् को कोई परामर्श नहीं देना चाहिए जिसमें कि उसे अपनी शपथ का अतिक्रमण करना पड़े।'[5]

अब हम इस प्रश्न पर आते हैं कि किस व्यक्ति को गवर्नर नियुक्त किया जाये। एक मत यह है कि पद से निवृत्त नागरिक सेवकों को गवर्नर नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि वे केन्द्रीय सरकार की कृपा से यह पद पायेंगे और उसी के इशारे पर कार्य करेंगे। यह आक्षेप पद से निवृत्त उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों पर भी लागू होता है। दूसरा मत यह है कि पुराने कांग्रेसी जनों, विशेषकर निर्वाचनों में पराजित नेताओं, को गवर्नर नहीं बनाना चाहिए। वे चाहे कितनी भी निष्पक्षतापूर्वक कार्य करें, उनके प्रति विरोधी दलों का यही भाव बना रहेगा कि वे अपना कार्य स्वतन्त्रता व निष्पक्षतापूर्वक नहीं कर सकते। संसद के कुछ सदस्यों ने यह माँग प्रस्तुत की कि गवर्नरों की नियुक्ति का संसद द्वारा पुष्टिकरण किया जाये। एक सुझाव यह भी आया है कि संघ सरकार को प्रत्येक गवर्नर की नियुक्ति के पूर्व लोकसभा में विरोधी पक्ष के नेता से अनौपचारिक रूप में मंत्रणा करनी चाहिए। तीसरा सुझाव यह आया है कि राष्ट्रपति को गवर्नर की नियुक्ति अपने विवेक में करनी चाहिए। अन्त में, हम इस सम्बन्ध में प्रशासन सुधार आयोग के अध्ययन समूह की निम्नलिखित सिफारिशें देना उपयुक्त समझते हैं—

'गवर्नरों की नियुक्ति के बारे में हमारी प्रथम और मुख्य सिफारिश यह है कि इन नियुक्तियों के प्रति केन्द्र के रुख में उग्र परिवर्तन होना चाहिए। इन पदों को दायित्वहीन पद समझने के बजाए भारतीय प्रशासन के संघात्मक तन्त्र में अति महत्त्वपूर्ण पद मानना चाहिए। गवर्नरों के चयन में संरक्षण व राजनीति का स्थान फलतः योग्यता को मिलना चाहिए। यद्यपि गवर्नर में असाधारण रूप से उच्च वैयक्तिक गुणों का होना आवश्यक है तथापि हम यह विश्वास नहीं कर सकते कि इस बड़े देश में 17 राज्यों के लिए ठीक चरित्रबल वाले व्यक्ति नहीं मिल सकते। हम सिफारिश करते हैं कि श्रेष्ठ व्यक्तियों का पता लगाने के लिए क्रमबद्ध ओर ध्यान-पूर्ण तलाश करनी चाहिए। हम यह तो नहीं कहेंगे कि जिन व्यक्तियों ने राजनीति में भाग लिया हो उन्हें न छाँटा जाये; परन्तु हम यह सुझाव देंगे कि छाँट केवल केन्द्र में पदारूढ़ दल के व्यक्तियों तक ही परिमित नहीं रहनी चाहिए और वास्तव में इस प्रकार की तलाश शासक दल के बाहर तक ही नहीं, वरन् राजनीतिक क्षेत्र के बाहर तक विस्तृत की जानी चाहिए।' (पैरा 18.13)।

'जहाँ तक नियुक्ति की प्रक्रिया का सम्बन्ध है, वर्तमान प्रथा यह है, कि गवर्नर के

---

[4] इन्डियन रिकार्डर एण्ड डाइजेस्ट, जुलाई 1969, पृष्ठ 12।

[5] द हिन्दुस्तान टाइम्स, 12 सितम्बर, 1969।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

चयन का अन्तिम निर्णय करने से पूर्व राज्य के मुख्यमन्त्री से मन्त्रणा की जाती है। कुछ व्यक्ति यह तर्क देते हैं इस प्रकार की मन्त्रणा का अन्त करना चाहिए, क्योंकि इसके लिए कोई सांविधानिक दायित्व नहीं है और इससे भी बढ़कर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शक्तिशाली मुख्यमन्त्री को ऐसा गवर्नर मिल जाता है जो कि उसके आज्ञाधीन रहे। इस तर्क का इस बात से भी समर्थन होता है कि गवर्नर की अवधि पाँच वर्ष है, जबकि मुख्यमन्त्री राजनीतिक उलट-फेर के अनुसार आते हैं और चले जाते हैं। रिक्त पद भरने के समय उस व्यक्ति से मन्त्रणा करना, जो कि मुख्य-मन्त्री हो, इस सन्दर्भ में काफी अर्थपूर्ण नहीं है। बावजूद इन सभी तर्कों के, नियुक्ति से पूर्व मुख्यमन्त्री से मन्त्रणा करना अच्छा है, क्योंकि ऐसा न करने पर गवर्नर का कार्य और भी कठिन हो जायेगा। अतएव हम गवर्नर की नियुक्ति से पूर्व मुख्यमन्त्री से मन्त्रणा करने सम्बन्धी प्रथा में परिवर्तन की सिफारिश नहीं करते। फिर भी हम इस बात पर बल देंगे कि गवर्नर पद पर योग्य और सक्षम व्यक्तियों को नियुक्त करने का प्राथमिक उत्तरदायित्व केन्द्र पर है और यह भी कि मुख्यमन्त्री से मन्त्रणा करने की प्रथा से इस उत्तरदायित्व को हल्का नहीं होने देना चाहिए अथवा इन नियुक्तियों के गुणों को नीचे नहीं गिराना चाहिए।' (पैरा 18.14)।

'संविधान द्वारा विहित किया गया है कि गवर्नर अपने पद पर पाँच वर्ष तक रहेगा और वह अपना पद तब तक नहीं त्यागेगा जब तक कि उसका उत्तराधिकारी पद ग्रहण न कर ले। हम सिफारिश करते हैं कि एक ऐसा अपरिवर्तनशील नियम बने कि किसी गवर्नर को पाँच वर्ष से अधिक अवधि प्राप्त न हो। अधिक से अधिक यह विहित किया जा सकता है कि असाधारण परिस्थितियों में उसकी अवधि को केवल तीन माह तक बढ़ाया जा सकता है। किसी व्यक्ति को उसी राज्य का पाँच वर्ष की अवधि पूरी होने के बाद पुनः गवर्नर नहीं बनाना चाहिए अथवा अन्य किसी राज्य में भी उस अवधि के बाद उसे गवर्नर नहीं बनाना चाहिए। इस प्रतिबन्ध से गवर्नर मुख्यतः संघ अथवा केन्द्रीय संरक्षण के अधिकार क्षेत्र से बाहर निकल जायेगा।' (पैरा 18.15)।

'गवर्नरों के लिए पर्याप्त सूचना पद्धति की व्यवस्था करने के उद्देश्य से (1) सभी राज्यों में अनुच्छेद 166 के अन्तर्गत कार्यवाही के नियमों का पुनरावलोकन किया जाना चाहिए, जिसका लक्ष्य गवर्नर को भली प्रकार से सूचित रखने के लिए प्राविधानों को कड़ा बनाना हो, (2) अपने-अपने राज्य-क्षेत्र में गवर्नरों के कहीं भी आने-जाने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए और उसमें बाधा डालने वाले नियम, अभिसमय या प्रथा में परिवर्तन किया जाना चाहिए; और प्रत्येक गवर्नर के साथ एक काफी कर्मचारियों वाला सचिवालय रहना चाहिए, जिसमें प्रमुख पद पर भारतीय प्रशासन सेवा का कोई सदस्य नियुक्त होना चाहिए। इसके अतिरिक्त गवर्नर द्वारा राष्ट्रपति को पाक्षिक रिपोर्ट भेजने की प्रथा जारी रहनी चाहिए और पाक्षिक तथा समय-समय पर भेजी गयी रिपोर्टों के अतिरिक्त वार्षिक रिपोर्ट भेजने के लिए भी व्यवस्था की जानी चाहिए।'[6] (पैरा 18–22–3)

---

[6] प्रशासन सुधार आयोग—केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के बारे में रिपोर्ट, खण्ड 1।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारतीय संविधान में समता-अधिकार

विश्वप्रकाश गुप्त

समता-अधिकार का अभिप्राय

राजनीति-दर्शन में समता का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि सब मनुष्य सभी स्थितियों में एक-दूसरे के समान हैं। दार्शनिक क्षेत्र में जीव-मात्र की एकता भले ही सत्य हो, लेकिन सामाजिक धरातल पर शारीरिक, मानसिक और आर्थिक क्षमताओं की दृष्टि से सब मनुष्य न तो कभी एक-दूसरे के समान रहे हैं और न हो सकते हैं। सामाजिक-राजनीतिक जीवन में समता का अभिप्राय यही हो सकता है कि अपनी-अपनी अन्तर्निहित क्षमताओं के विकास करने का सब मनुष्यों को समान अवसर उपलब्ध हो।

समता-सिद्धान्त के अनेक पहलू हैं—वैधिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक। वैधिक रूप से विधि के समक्ष सब नागरिकों को समान होना चाहिए। सामाजिक संदर्भ में समता का आशय यह है कि धन, जाति, बिरादरी और वंशादि के आधार पर मनुष्य-मनुष्य में कोई अन्तर नहीं होना चाहिये। राजनीतिक क्षेत्र में समता का अर्थ यह है सभी नागरिकों को, अपराधियों और पागलों को छोड़कर, देश के शासन में समान भाग मिलना चाहिए। लिंग, नस्ल अथवा धन के आधार पर राजनीतिक अधिकारों के निषेध से समता-अधिकार का उल्लंघन होता है। आर्थिक संदर्भ में समता का अभिप्राय यह नहीं है कि सब की आय अथवा सबके वेतन समान हों। इसका अभिप्राय है कि समान योग्यता और समान श्रम के लिए पारिश्रमिक भी समान हो। आर्थिक समता में यह बात भी आ जाती है कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का तथा एक वर्ग दूसरे वर्ग का आर्थिक शोषण न करे।

समता-अधिकार का विकास

पश्चिम में समता सिद्धान्त के क्षेत्र में सबसे प्राचीन देन एथेन्स के सोलोन की हैं। सोलोन के कार्य के जो अभिलेख प्राप्त होते हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि उसका उद्देश्य सामाजिक और राजनीतिक जीवन में मर्यादा और संयम की शिक्षाओं को लागू करना और धन-सम्पदा के उपयोग पर प्रतिबन्ध लगा कर राज्य की एकता स्थापित करना था। अमीरों और गरीबों के विवाद से जर्जरित राज्य में सोलोन ने सामाजिक समता के आदर्श की प्रतिष्ठा का प्रयास किया।[1] उसने प्रयत्न किया कि सबल अपनी धन-सम्पदा की शक्ति का निर्बाध

---

[1] सर अनस्ट बार्कर, यूनानी राजनीति-सिद्धान्त—प्लेटो और उसके पूर्ववर्ती (अनु० विश्वप्रकाश गुप्त), दिल्ली, 1967, पृ० 63।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उपभोग न करने पाएँ। उसने गरीबों की उन्नति की भी भरपूर चेष्टा की। सोलोन की करुण कविताओं से पता चलता है कि उसका उद्देश्य संतुलित समानता (समाधिकार) की स्थापना करना था जिसके अन्तर्गत न तो कोई वर्ग सामाजिक प्रवक्ता के दावे का दम्भ कर सके और न अनुचित राजनीतिक विशेषाधिकारों का उपभोग।[2]

एथेनी जनतन्त्र के नेता पेरीक्लीज ने अपने अन्त्येष्टि-भाषण में, जो उसने यूनानी जगत के महाभारत पेलोपोनेशियाई युद्ध में खेत रहे ऐथेनी शहीदों के सम्मान में दिया था, समता के सिद्धान्त का गौरव-गान किया है। पेरीक्लीज युग के प्रत्येक समर्थ नागरिक से यह आशा की जाती थी कि वह अपने व्यक्तिगत कार्यों को करने के साथ-साथ अपने नागरिक और सार्वजनिक कर्त्तव्यों को भी निभाए। जहाँ यूनानी के मन में यह धारणा बद्धमूल थी कि सार्वजनिक जीवन में सब लोगों को भाग लेना चाहिए, वहाँ यह आदर्श भी उनका जीवन-मन्त्र बना हुआ था कि स्थिति अथवा धन के बाहरी भेदों के आधार पर किसी भी व्यक्ति को सार्वजनिक जीवन से वंचित नहीं रखा जा सकता।

> "जब कोई नागरिक किसी प्रकार विशिष्ट होता है, तब उसे सार्वजिनक पद पर विशेषाधिकार के तौर पर नहीं, बल्कि योग्यता के पुरस्कार के रूप में नियुक्त किया जाता है। दरिद्रता रुकावट नहीं है। किसी नागरिक की कैसी भी हालत क्यों न हो, वह अपने देश की भलाई कर सकता है"।

पेरीक्लीज़ के गौरव-गान के बावजूद यूनानी समाज समता के आदर्श से बहुत पीछे रह गया था। यूनान की दास-प्रथा उसके समता आदर्श पर सबसे बड़ा कलंक थी। इसके अतिरिक्त यूनानी जीवन में स्त्रियों का महत्त्व भी अपेक्षाकृत नगण्य था। यूनान के तीनों सर्व-श्रेष्ठ विचारक सुकरात, प्लेटो और अरस्तू समता-सिद्धान्त के विरोधी हैं।[3]

समता का सिद्धान्त रोम-युग में दबा-सा रहा। आधुनिक काल में पुनर्जागरण के पश्चात् लॉक और रूसो आदि विचारकों की रचनाओं ने और फ्राँसीसी क्रान्ति तथा अमरीकी क्रान्ति की घटनाओं ने समता के विचार को प्रोत्साहन दिया। फ्रांसींसी क्रान्ति के जनकों द्वारा स्वीकृति "मानव तथा नागरिकों के अधिकारों की घोषणा" में समता के आदर्श का प्रशस्ति-गान किया गया है।

"अधिकारों की दृष्टि से मनुष्य समान और स्वतन्त्र उत्पन्न होते हैं तथा बने रहते हैं। सामाजिक भेद-भावों का एक ही आधार हो सकता है—सार्वजनिक उपयोगिता····विधि सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है····वह सबके लिए एक-सी होनी चाहिए चाहे वह रक्षक बने या भक्षक। चूँकि सभी नागरिक विधि की दृष्टि में समान होते हैं, इसलिए वे अपनी-अपनी क्षमताओं के अनुसार समस्त सार्वजनिक गौरवों, स्थानों और रोजगारों के अधिकारी होते हें और इस सम्बन्ध में उनके साथ गुण तथा प्रतिभा के अतिरिक्त अन्य किसी आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए"।[4]

---

[2] वही, पृ० 64।

[3] विश्वप्रकाश गुप्त, यूनानी लोकतन्त्र सिद्धान्त और व्यवहार, लोकतन्त्र समीक्षा, वर्ष 1, अंक 4, अक्तूबर-दिसम्बर 1969, पृ० 105–112।

[4] सुभाष काश्यप, संविधान की आत्मा : प्रस्तावना, लोकतन्त्र समीक्षा, वर्ष 1, अंक 2, अप्रैल-जून, 1969, पृ० 123।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

मार्क्स का वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त समता-सिद्धान्त के निषेध पर आधारित है। इस सिद्धान्त का बीज प्लेटो के "रिपब्लिक" ग्रन्थ में मिलता है जहाँ कहा गया है, "प्रत्येक राज्य चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, वास्तव में दो राज्यों में बँटा होता है, एक अमीरों का राज्य और दूसरा गरीबों का राज्य और ये दोनों राज्य एक दूसरे से लड़ते रहते हैं।" मार्क्स के अनुसार वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि समाज की एक अवस्था से दूसरी अवस्था की ओर प्रगति उत्पादन-प्रणाली के आधार पर संगठित समाज के दो मुख्य वर्गों के बीच सत्ता के लिए संघर्ष द्वारा हुई है। मनुष्य समाज सदैव से ही दो वर्गों में विभाजित रहा है। इनमें से एक वर्ग थोड़े से विशेषाधिकार युक्त व्यक्तियों का वर्ग रहा है और उसके हाथों में उत्पादन के साधन रहे हैं। दूसरा वर्ग उन बहुसंख्यक श्रमजीवियों का रहा है जो अपने श्रम से कच्चे माल को, जो प्रथम वर्ग की सम्पत्ति होता है, तैयार माल में परिणत करते हैं। इन दोनों वर्गों के हित एक-दूसरे के प्रतिकूल रहे हैं।[5] इतिहास के अन्यान्य युगों की भाँति वर्तमान काल में भी दो परस्पर विरोधी वर्ग दिखाई देते हैं—पूँजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग। पूँजीपति वर्ग श्रमिक वर्ग का शोषण करता है। श्रमिक क्रान्ति द्वारा ही उत्पीड़न और शोषण से छुटकारा पा सकते हैं। जब समाज से पूँजीपतियों का नाश हो जाएगा तब समाज में सच्ची समता की स्थापना हो सकेगी जिसमें "सबके स्वतन्त्र विकास का आधार प्रत्येक का स्वतन्त्र विकास होगा" और इसमें प्रत्येक व्यक्ति "अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करेगा तथा प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुरूप मिलेगा"।

समता के सिद्धान्त का गुणगान करने के बावजूद व्यवहार में साम्यवादी देशों में समता की स्थापना नहीं हो सकी है। राजनीतिक शक्ति वहाँ साम्यवादी दल के कुछ शीर्षस्थ नेताओं के हाथों में केन्द्रित है और निर्वाचन दिखावा मात्र है। रूस में यद्यपि उत्पादन और वितरण के साधनों पर व्यक्तिगत नियन्त्रण समाप्त होकर राजकीय नियन्त्रण स्थापित हो गया है फिर भी देश में आर्थिक समता नहीं है और विभिन्न श्रेणियों के कर्मचारियों की वेतन-दरें अलग-अलग हैं।[6]

भारत में दार्शनिक धरातल पर मानव की एकता का विचार अवश्य विकसित हुआ पर वह सामाजिक, राजनीतिक अथवा आर्थिक क्षेत्र में समता के आदर्श को कभी नहीं पा सका। वर्ण-व्यवस्था के आधार पर संगठित हिन्दू समाज में समता के सिद्धान्त का निषेध था।[7]

---

[5] इस सम्बन्ध में मार्क्स और एंगिल्स ने अपने साम्यवादी घोषणा-पत्र में लिखा है। "मालिक और गुलाम पेट्रिशियन और प्लेबियन, गिल्ड मास्टर और जर्नीमेन, लॉर्ड और सर्फ यानि शोषक और शोषित सदा एक दूसरे के विरुद्ध रहे हैं। उनमें बराबर-बराबर कभी छिपकर कभी खुलकर संघर्ष जारी रहा है और इस संघर्ष के परिणाम-स्वरूप या तो सारे समाज का क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण होता आया है या युद्धग्रस्त वर्गों का सर्वनाश हो गया है।"

[6] सामाजिक संरचना में वर्ग-भेद की भावना—उच्च, मध्य, निम्न वर्गों का विचार समता-सिद्धान्त के प्रतिकूल पड़ता है। सामाजिक पद-सोपान में किसी वर्ग-विशेष की स्थिति का निर्धारण करने के लिए जो कसौटी अपनायी जाती है, वह इस बात का प्रतीक है कि काल-विशेष में हमारा मूल्यों का प्रतिमान क्या है, हम किस चीज को क्या महत्त्व देते हैं? विशेष विवेचन के लिए देखिए, आर० एन० कौल, ए क्रिटिकल इन्ट्रोडक्शन टु सोशल फिलॉसफी, इलाहाबाद (तीसरा संस्करण), 1957, अध्याय 5, प्रॉपर्टी एण्ड सोशल ग्रेडेशन।

[7] आधुनिक काल के अनेक चिन्तकों ने हिन्दुओं की वर्णाश्रम व्यवस्था को सामाजिक श्रम-विभाजन का श्रेष्ठ उदाहरण माना है। डा० भगवान दास इस व्यवस्था के अन्यतम पोषक थे। (भगवानदास, सोशल रिकंस्ट्रक्शन, आर० एन० कौल द्वारा उद्धृत, उपर्युक्त)। महात्मा गाँधी वर्ण को "धर्म" मानते थे, "अधिकार" नहीं। उन्होंने

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

मध्य काल के सन्तों ने अपने उपदेशों द्वारा सामाजिक भेदभावों को दूर करने का अवश्य प्रयास किया था और उन्हीं की कड़ी में उन्नीसवीं शताब्दी के समाज-सुधार आन्दोलनों ने और फिर महात्मा गाँधी ने अपने रचनात्मक कार्यक्रम द्वारा देश में समता-युक्त समाज की स्थापना के लिए स्वस्थ वातावरण तैयार किया जिसे संविधान के समता-अधिकार के रूप में मूर्त रूप प्राप्त हुआ। आधुनिक भारत में समता-अधिकार की धारणा मूल अधिकारों की धारणा के साथ विकसित हुई है और जहाँ कहीं मूल अधिकारों का उल्लेख हुआ है, वहाँ समता अधिकार का भी उल्लेख हुआ है।[8] इस सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि आधुनिक भारतीय विचारकों ने आर्थिक समता पर बल देते हुए निरपेक्ष समता का प्रतिपादन नहीं किया है, उन्होंने संयत और सापेक्ष समता पर ही जोर दिया है।[9] इस सम्बन्ध में तीन प्रतिनिधि भारतीय चिन्तकों के विचार उद्धृत किये जा सकते हैं।

महात्मा गाँधी ने आर्थिक समानता के सम्बन्ध में लिखा था : 'मेरा आदर्श समतायुक्त वितरण है लेकिन मैं जहाँ तक देख सकता हूँ, यह व्यावहारिक नहीं है। इसलिए, मैं न्याययुक्त वितरण के लिए कार्य कर रहा हूँ।'[10]

गाँधी जी यह नहीं चाहते थे कि अमीर लोग अधिक धन संचय करना बन्द कर दें अथवा उनके अतिरिक्त धन का अपहरण कर लिया जाये। वे चाहते थे कि धनिकों के पास जो अतिरिक्त धन है उसके वे ट्रस्टी बन जायें। इस सिद्धान्त के अनुसार धनिकों को चाहिए कि उन्हें जितने धन की आवश्यकता हो, वे अपने पास उतना ही धन रखें, उससे एक रुपया भी ज्यादा नहीं। शेष धन का वे इस प्रकार उपयोग करें मानो वे उसके ट्रस्टी हों।[11] जवाहरलाल नेहरू लोगों के लिए समान अवसरों की व्यवस्था करना चाहते थे। उनका विचार था कि समाज में धन की थोड़ी-बहुत विषमताएँ तो रहेंगी ही। उन्होंने कहा था—

> 'इसमें कोई सन्देह नहीं कि लोग योग्यता, शक्ति और कार्य-क्षमता में समान नहीं होते परन्तु प्रत्येक व्यक्ति को काम करने तथा आगे जाने का समान अवसर प्राप्त होना

लिखा था "वर्ण असल में धर्म है, अधिकार नहीं। इसलिए वर्ण का अस्तित्व केवल सेवा के लिए हो सकता है, स्वार्थ के लिए नहीं। इसी कारण न तो कोई उच्च है, न कोई नीच। ··· यहाँ यह भी समझ लेना आवश्यक है कि वर्ण धर्म में ऐसी कोई बात नहीं कि शुद्र ज्ञान का संचय अथवा राष्ट्र की रक्षा न करे। हाँ, शूद्र अपने ज्ञान के विनिमय को अथवा राष्ट्र-रक्षा को अपनी आजीविका का साधन न बना ले। ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय परिचर्या न करे यह भी बात नहीं है, परन्तु परिचर्या के द्वारा आजीविका न चलाए। इस सहज स्वाभाविक धर्म का यदि सर्वथा पालन किया जाए तो समाज में जो उपद्रव आज हो रहे हैं, एक-दूसरे के प्रति जो द्वेषपूर्ण प्रतिस्पर्धा बढ़ रही है, धन इकट्ठा करने के जो कष्ट उठाए जा रहे हैं, असत्य का जो प्रचार हो रहा है और जो युद्ध के साधन तैयार किये जा रहे हैं वे सब शांत हो जायें" (हरिजन सेवक 21/4/33)। डा० सुभाष काश्यप मनुस्मृति, श्रीमद्भागवत और अर्थशास्त्र के साक्ष्य की परीक्षा करने के उपरान्त इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्राचीन भारत की वर्ण-व्यवस्था में मूलतः कर्त्तव्यों की भावना थी विशेषाधिकारों की नहीं। हाँ कालान्तर में यह व्यवस्था दोषपूर्ण हो गई (दे० सुभाष काश्यप, द अननोन नीत्शे, दिल्ली, 1970, पृ० 30–37।

[8] दे० विश्व प्रकाश गुप्त, मूल अधिकारों की धारणा और उसका भारत में विकास, लोकतन्त्र समीक्षा, वर्ष 2, अंक 1, पृष्ठ 140–46।

[9] ए० अप्पादोराइ, टुवर्डस ए जस्ट सोशल ऑर्डर, एस० चाँद एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1967, पृष्ठ 29।

[10] यंग इण्डिया, 17 मार्च, 1927, पृष्ठ 86।

[11] हरिजन, 25 अगस्त, 1940, पृष्ठ 260–61।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

चाहिए। कुछ भी हो, भारत में आय-सम्बन्धी जो बड़ी-बड़ी विषमताएँ रही हैं, उनका कोई औचित्य नहीं हैं। व्यापक रूप से हमारा उद्देश्य समाजवादी ढंग के समाज से युक्त लोक-हितकारी राज्य की स्थापना करना है जिसमें आय-सम्बन्धी बड़ी-बड़ी विषमताएँ न हों और सबको समान अवसर प्राप्त हों।'[12]

विनोबा भावे ने विवेकयुक्त समता के आदर्श को काम्य माना है। उन्होंने लिखा है—'मैं अंक गणितीय समानता नहीं चाहता। लेकिन मैं समदृष्टि चाहता हूँ। मैं उस तरह की समानता चाहता हूँ जैसी हाथ की पाँचों उँगलियों में पायी जाती है। इन पाँचों उँगलियों की लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई बराबर नहीं होती लेकिन वे सब सहयोग से काम करती हैं और आपस में मिलकर असंख्य काम निबटा डालती हैं। उनमें असमानता भी बहुत अधिक नहीं पायी जाती अर्थात् इस प्रकार की भी स्थिति नहीं है कि सबसे छोटी उँगली तो सिर्फ एक इंच लम्बी हो और सबसे बड़ी एक फुट लम्बी। शिक्षा यह है कि यदि पूरी समानता न हो तो अनुपातहीन असमानता भी नहीं होनी चाहिए। पाँचों उँगलियों में भिन्न-भिन्न शक्ति होती है, इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न क्षमता होती है। प्रत्येक व्यक्ति को इन समस्त अन्तर्निहित क्षमताओं का विकास किया जाना चाहिए।'[13]

नवम्बर, 1952 में विनोबा जी ने अपनी समता-धारणा की निम्नलिखित शब्दों में व्याख्या की थी—

'हम विवेक से युक्त समानता चाहते हैं। माँ अपने बच्चों को भोजन गणितीय समानता के आधार पर नहीं बाँटती। सबसे छोटे बच्चे को वह केवल दूध देती है, उससे अगले बच्चे को वह थोड़ा-सा दूध और थोड़ी-सी रोटी देती है, बड़ों को वह केवल रोटी देती है। इसी प्रकार हम समाज में विवेक से काम लेंगे और अन्न का वितरण करते समय इस बात का ध्यान रखेंगे कि किसको कितनी भूख है, किसका कैसा हाजमा है।'[14]

भारतीय संविधान में समता-अधिकार के उपबन्ध

भारतीय संविधान में अनुच्छेद 14 से 18 तक समता-अधिकार का निरूपण करते हैं। अनुच्छेद 14 में विधि के समक्ष समता की घोषणा की गयी है और कहा गया है कि भारत राज्य-क्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता से अथवा विधियों के समान संरक्षण से राज्य द्वारा वंचित नहीं किया जा सकता।[15] अनुच्छेद 15 ने धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म के स्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध किया है[16] और व्यवस्था की है कि

---

[12] जवाहरलाल नेहरूज स्पीचेज, जिल्द। (दिल्ली, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1966), पृष्ठ 150–52।

[13] हरिजन, 26 जनवरी, 1952, पृ० 407–8।

[14] हरिजन, 20 दिसम्बर, 1952, पृ० 368।

[15] अनुच्छेद 14।

[16] अनुच्छेद 15 (1)।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई नागरिक दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश के अथवा पूर्ण या आंशिक रूप में राज्यविधि से पोषित अथवा साधारण जनता के उपयोग के लिए समर्पित कुओं, तालाबों, स्नान घाटों, सड़कों तथा सार्वजनिक समागम स्थानों के उपयोग के बारे में किसी भी निर्योग्यता, दायित्व, निर्बंधन अथवा शर्त के अधीन न होगा।[17] लेकिन इस अनुच्छेद की किसी बात से राज्य को स्त्रियों और बालकों के लिए कोई विशेष उपबन्ध बनाने में बाधा न होगी।[18] संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम 1951 ने अनुच्छेद 15 में चौथी धारा और जोड़ दी। इस संशोधन के अनुसार राज्य सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिक वर्गों तथा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन जातियों के उन्नयन के लिए विशेष उपबन्ध बना सकता है। अनुच्छेद 16 ने राज्याधीन नौकरी के विषय में नागरिकों को अवसर की समता प्रदान की है।[19] केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, उद्भव, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर किसी नागरिक के लिए राज्याधीन किसी नौकरी या पद के विषय में अपात्रता न होगी और न विभेद किया जायेगा।[20] इस अनुच्छेद की किसी बात से संसद को कोई ऐसी विधि बनाने में बाधा न होगी जो किसी राज्य अथवा संघ शासित क्षेत्र की सरकार अथवा उसमें किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन किसी प्रकार की नौकरी में या पद पर नियुक्ति के विषय में वैसी नौकरी या नियुक्ति के पूर्व उस राज्य या संघ शासित क्षेत्र के अन्दर निवास विषयक कोई अपेक्षा विहित करती हो।[21] इस अनुच्छेद की किसी बात से राज्य को पिछड़े हुए किसी नागरिक वर्ग के पक्ष में, जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की राय में राज्याधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, नियुक्तियों या पदों के रक्षण के लिए उपबन्ध करने में कोई बाधा न होगी।[22] इस अनुच्छेद की किसी बात का किसी ऐसी विधि के प्रवर्त्तन पर कोई प्रभाव नहीं होता जो यह उपबन्ध करती हो कि किसी धार्मिक या साम्प्रदायिक संस्था के कार्य से सम्बद्ध कोई पदधारी अथवा उसके शासी निकाय का कोई सदस्य किसी विशिष्ट धर्म का अनुयायी अथवा किसी विशिष्ट सम्प्रदाय का ही हो।[23]

अनुच्छेद 17 ने 'अस्पृश्यता' का अन्त कर दिया है और किसी भी रूप में उसका आचरण निषिद्ध किया है।[24] इस अनुच्छेद के अनुसार 'अस्पृश्यता' से उपजी किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध है जो विधि के अनुसार दण्डनीय है। अनुच्छेद 18 ने खिताबों का अन्त कर दिया है और व्यवस्था की है कि सेना या विद्या-सम्बन्धी उपाधि के सिवाय और कोई खिताब राज्य प्रदान नहीं करेगा।[25] भारत का कोई नागरिक किसी विदेशी राज्य से कोई

---

[17] अनुच्छेद 15 (2)।
[18] अनुच्छेद 15 (3)।
[19] अनुच्छेद 16 (1)।
[20] अनुच्छेद 16 (2)।
[21] अनुच्छेद 16 (3)।
[22] अनुच्छेद 16 (4)।
[23] अनुच्छेद 16 (5)।
[24] अनुच्छेद 17।
[25] अनुच्छेद 18 (1)।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

खिताब स्वीकार नहीं कर सकता।[26] कोई व्यक्ति जो भारत का नागरिक नहीं है राज्य के अधीन लाभ या विश्वास के किसी पद को धारण करते हुए किसी विदेशी राज्य से कोई खिताब राष्ट्रपति की सम्मति के बिना स्वीकार न करेगा।[27] राज्य के अधीन लाभ-पद या विश्वास-पद पर आसीन कोई व्यक्ति किसी विदेशी राज्य से या के अधीन किसी रूप में कोई भेंट, उपलब्धि या पद राष्ट्रपति की सम्मति के बिना स्वीकार न करेगा।[28]

भारतीय संविधान के समता-उपबन्धों का उचित मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम संविधान-सभा में इनके निर्माण पर विचार किया जाये और फिर उनके क्रियान्वय के सन्दर्भ में उनके विशिष्ट पदों और पदावलियों का अर्थ स्पष्ट किया जाये।

विधि के समक्ष समता : अनुच्छेद 14

अनुच्छेद का निर्माण

श्री मुन्शी और डा० अम्बेदकर ने मूल अधिकारों की उप समिति के सम्मुख जो प्रारूप प्रस्तुत किये थे, उनमें प्रत्येक व्यक्ति को विधि के समक्ष समता तथा विधि के समान संरक्षण का आश्वासन दिया गया था।[29] उप समिति ने मुन्शी के प्रारूप को निम्नलिखित संशोधित रूप में स्वीकार किया था—

> 'संघ के भीतर सभी व्यक्ति विधि के सम्मुख समान होंगे। संघ के राज्य क्षेत्रों के भीतर किसी व्यक्ति को विधियों के समान संरक्षण से वंचित नहीं किया जायेगा। धर्म, प्रजाति, जाति, भाषा या लिंग के आधार पर किसी व्यक्ति के विरुद्ध कोई विभेद नहीं होगा।'[30]

उप समिति ने अम्बेदकर के प्रारूप का एक उपबन्ध और स्वीकार किया जिसमें कहा गया था कि यदि किसी वर्तमान कानून, विनिमय, प्रथा, न्यायिक निर्णय या व्याख्या के फलस्वरूप किसी नागरिक को कोई दण्ड मिलता है या उसके विरुद्ध विभेद होता है, तो वह प्रवृत्त नहीं रहेगा।[31] उपसमिति का निर्णय था कि भारत में रहने वाले नागरिक ही नहीं, बल्कि सभी व्यक्ति विधि के समक्ष समान होने चाहिएँ।

उप समिति के प्रारूप प्रतिवेदन में धारा 5 की व्यवस्था अपेक्षाकृत व्यापक थी। मुख्य धारा में कहा गया था—

> 'संघ के भीतर सभी व्यक्ति विधि के सम्मुख समान होंगे।
> संघ के राज्य क्षेत्रों के भीतर किसी व्यक्ति को विधियों के समान संरक्षण से वंचित नहीं किया जायेगा।

---

[26] अनुच्छेद 18 (2)।
[27] अनुच्छेद 18 (3)।
[28] अनुच्छेद 18 (4)।
[29] मुन्शी का प्रारूप, अनुच्छेद 3 (1) और (10), अम्बेदकर का प्रारूप, अनुच्छेद 11 (1) (3)।
[30] कार्यवृत्त, 24 मार्च, 1947।
[31] वही।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

धर्म, प्रजाति, जाति, भाषा या लिंग के आधार पर किसी व्यक्ति के विरुद्ध कोई विभेद नहीं होगा।'

इसके अतिरिक्त, इस धारा में उपर्युक्त आधारों पर, विशेष रूप से सार्वजनिक कुओं, तालाबों, सड़कों, विद्यालयों और सार्वजनिक विश्राम के स्थानों के उपयोग के बारे में किसी व्यक्ति के विरुद्ध विभेद का निषेध किया गया था। साथ ही सरकारी नौकरी में और कोई व्यवसाय, व्यापार, कारबार या वृत्ति करने के मामले में समस्त नागरिकों को अवसर की समता दी गयी थी। इस धारा में यह भी कहा गया था कि किसी नागरिक के विरुद्ध किसी सरकारी पद पर नियुक्ति के सम्बन्ध में अथवा सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन के सम्बन्ध में अथवा संघ के अन्तर्गत कोई उप-जीविका, व्यापार, कारबार और वृत्ति करने के सम्बन्ध में किसी प्रकार का विभेद नहीं होगा। धारा में यह भी कहा गया था कि पहले की समस्त विभेदात्मक विधियाँ और विनियम संविधान के आरम्भ होते ही निष्प्रभाव हो जायेंगी।[32] श्री बेनेगल नरसिंह राव ने एक व्याख्यात्मक टिप्पणी[33] में बताया था कि मुख्य धारा का पहला भाग—विधि के सम्मुख समानता—वाईमार संविधान [34] से लिया गया था लेकिन उसका क्षेत्र इतना व्यापक कर दिया गया था जिससे कि वे केवल नागरिकों पर ही नहीं बल्कि सभी व्यक्तियों पर लागू हो सके। इस धारा का दूसरा भाग—'विधियों का समान संरक्षण' संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के चौदहवें संशोधन[35] पर आधारित था।

प्रारूप प्रतिवेदन पर अपनी टिप्पणी में अल्लादि कृष्णस्वामी अय्यर ने कहा था कि उपर्युक्त धारा की जिस रूप में रचना की गयी थी, उसका एक अर्थ यह भी निकल सकता था कि नागरिक तथा अनागरिक के बीच व्यापार, कारबार या वृत्ति के मामले में कोई भेद नहीं किया जाना चाहिए। उनके मत से उप-समिति का मन्तव्य केवल यह था कि न्यायालयों के मुकदमों अथवा सामान्य अधिकारों के उपभोग के सम्बन्ध में मानव-मानव के बीच कोई भेद नहीं होना चाहिए। यूरोप के कुछ देशों में[36] मूल-अधिकार केवल नागरिकों तक ही सीमित थे लेकिन भारत में हमें इस विषय में कुछ उदार दृष्टि रखनी चाहिए। श्री अल्लादि कृष्णस्वामी अय्यर ने अपनी बाद की एक टिप्पणी में सुझाव दिया कि मुख्य धारा का प्रथम भाग हटा दिया जाये और 'विधियों के समान संरक्षण' धारा की इस प्रकार रचना की जाये कि वह अमरीकी संविधान के चौदहवें संशोधन के अनुकूल हो जाये। श्री अल्लादि का यह भी सुझाव था कि विभेद न करने वाली धारा को उससे अलग कर दिया जाये।[37] उप समिति ने इस दृष्टिकोण

---

[32] वही।

[33] वही 11–4 (5) (सी)।

[34] वाइमार संविधान के अनुच्छेद 109, पैरा 1 में कहा गया था 'सभी जर्मन विधि के समक्ष समान हैं'।

[35] संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के चौदहवें संशोधन की धारा 1 में अन्य बातों के साथ-साथ यह भी कहा गया था : 'कोई राज्य अपने क्षेत्राधिकार में किसी व्यक्ति को विधियों के समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा।'

[36] चेकोस्लोवाकिया का संविधान (अनुच्छेद 128 (1)), वाइमार संविधान (अनुच्छेद 109), यूगोस्लाव संविधान (अनुच्छेद 4), डेन्जिग संविधान (अनुच्छेद 73), आयरलैण्ड का संविधान (अनुच्छेद 49) (1)) और सोवियत गणराज्य का संविधान (अनुच्छेद 123)।

[37] सेलेक्ट डोकूमेन्ट्स, 2, 4 (5) (जी०), पृ० 160।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

को स्वीकार किया और निर्णय किया कि 'विधि के समक्ष समता' से सम्बद्ध धारा को वाद-निरपेक्ष अधिकारों की श्रेणी में स्थानान्तरित कर दिया जाये और शेष अंश का फिर से आलेखन किया जाये तथा उसे 'समता-अधिकार' खण्ड से हटाकर 'स्वातन्त्र्य-अधिकार' खण्ड में रख दिया जाये। फलतः उप-समिति ने 16 अप्रैल, 1947 को परामर्श समिति को जो प्रतिवेदन दिया था, उसमें वह धारा 12 के रूप में प्रस्तुत की गयी।[38] धारा इस प्रकार थी—

'किसी व्यक्ति को विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अलावा जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जायेगा और न ही किसी व्यक्ति को संघ के क्षेत्रों के भीतर विधियों के समान व्यवहार से वंचित किया जायेगा।'

परन्तु, इस उपबन्ध की किसी बात से संघ विधानमण्डल को विदेशियों के बारे में विधि बनाने में बाधा न होगी।[39]

परामर्श समिति ने कुछ चर्चा के बाद इस धारा को स्वीकार कर लिया पर उसने धारा में से 'अथवा सम्पत्ति' शब्द हटा देने का निश्चय किया और सम्पत्ति पर अलग से विचार करना उचित समझा।[40] संविधान-सभा ने इस धारा पर 30 अप्रैल, 1947 को विचार किया और बिना किसी बहस के श्री मुन्शी द्वारा प्रस्तावित दो संशोधन स्वीकार कर लिए। इनमें एक संशोधन में तो यह प्रस्ताव किया गया था कि 'विधियों के समान व्यवहार' के स्थान पर 'विधि के समक्ष समता' शब्द रखे जायें और दूसरे संशोधन में इस धारा के परन्तुक को हटा दिया गया था।[41]

सांविधानिक परामर्शदाता ने संविधान का जो प्रारूप तैयार किया था, उसमें संशोधित धारा को ज्यों का त्यों प्रस्तुत किया गया था। प्रारूप समिति की राय थी कि धारा में 'विधियों का समान संरक्षण' शब्द-बन्ध 'विधि के समक्ष समता' शब्द-बन्ध के बाद रखा जाये। समिति ने यह भी सम्मति दी कि 'स्वतन्त्रता' शब्द के साथ 'वैयक्तिक' विशेषण रखना आवश्यक है, नहीं तो इस धारा की व्याख्या इतनी व्यापक हो सकती है कि इसमें अनुच्छेद 13 के अन्तर्गत दी गयी स्वतन्त्राओं का भी समावेश हो जायेगा। अतः प्रारूप अनुच्छेद 15 की रचना इस प्रकार की गयी थी—

'कोई भी व्यक्ति विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अलावा अपने जीवन अथवा वैयक्तिक स्वतन्त्रता से वंचित नहीं किया जायेगा और न ही किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता अथवा विधि के समान संरक्षण से ही वंचित किया जायेगा।'[42]

जब संविधान-सभा ने प्रारूप संविधान पर धारावार विचार किया,[43] तब 'विधि के समक्ष समता' और 'विधियों के समान संरक्षण' से सम्बद्ध अनुच्छेद के दूसरे भाग पर कोई

---

[38] उप समिति का कार्यवृत्त, 14 और 15 अप्रेल, 1947।

[39] उप-समिति का प्रतिवेदन, परिशिष्ट, धारा 12।

[40] परामर्श समिति का अतिरिक्त प्रतिवेदन, परिशिष्ट, धारा 9।

[41] कांस्टीट्यूएंट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 3, पृ० 457।

[42] प्रारूप समिति द्वारा तैयार किया गया प्रारूप संविधान (फरवरी, 1948), अनुच्छेद 15 और उसकी पाद-टिप्पणी। प्रारूप समिति का कार्यवृत्त भी देखिये, 31 अक्तूबर, 1947।

[43] कांस्टीट्यूएंट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 7, पृ० 797—98, 842—57, 859, 999—1000।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

वाद-विवाद नहीं हुआ। सभा ने इस धारा के पहले भाग पर ही विचार किया। समिति ने प्रारूप अनुच्छेद को जिस रूप में प्रस्तावित किया था, संविधान-सभा ने उसे बिना किसी परिवर्तन के स्वीकार कर लिया।[44] संशोधन-स्तर पर समिति ने इस अनुच्छेद को दो अनुच्छेदों में बाँट दिया। इसका समता-अधिकार से सम्बद्ध भाग संविधान का अनुच्छेद 14 बना।

व्याख्या और विश्लेषण

संसार के जो भी संविधान अपने नागरिकों को समता-अधिकार प्रदान करते हैं प्रायः उन सबमें ही 'विधि के समक्ष समानता' शब्दों का प्रयोग हुआ है। इसके विपरीत अमरीकी संविधान में 'विधियों के समान संरक्षण' शब्दों का प्रयोग हुआ है। भारतीय संविधान में दोनों ही शब्द-बन्धों का प्रयोग हुआ है। ये दोनों शब्द-बन्ध समानार्थक मालूम पड़ते हैं पर वास्तव में उन दोनों के भिन्न अर्थ हैं। जहाँ 'विधि के समक्ष समता' इंग्लैण्ड की सामान्य विधि (कामन लॉ) की शब्दावली है, वहाँ 'विधि का समान संरक्षण' शब्द-बन्ध अमरीकी संविधान की देन है। इन दोनों अभिव्यक्तियों का उद्देश्य संविधान की प्रस्तावना में निर्दिष्ट 'प्रतिष्ठा और अवसर की समता' के लक्ष्य को पूरा करना है। 'विधि के समक्ष समता' शब्द-बन्ध में 'विधि' का वही अर्थ है जो 'विधि-शासन' में 'विधि' का अर्थ है। यह 'न्याय' और 'धर्म' की संकल्पनाओं की भाँति एक सकारात्मक संकल्पना है, भले ही यह है सामान्य विधि की ही संकल्पना। यहाँ 'विधि' का अर्थ 'सांविधिक विधि' नहीं है बल्कि 'विधि' की वह संकल्पना है जिसके अनुरूप अन्य सारी विधियाँ होनी चाहिएँ। इस प्रकार 'विधि के समक्ष समता' का अभिप्राय होगा कि विधानमण्डल द्वारा पारित कोई विधि (अथवा कार्यपालिका द्वारा जारी किया गया कोई आदेश, अध्यादेश अथवा नियम) इस संकल्पना के विपरीत होने पर कि 'विधि की दृष्टि में सब समान हैं' शून्य होगा। दूसरी ओर 'विधियों के समान संरक्षण' शब्द-बन्ध का संकेत सांविधिक विधि (और अध्यादेशों, नियमों, आदेशों) के प्रति है। इसका अभिप्राय यह है कि विधानमण्डल आदि द्वारा निर्मित विधियों के अन्तर्गत सबको समान संरक्षण प्राप्त होना चाहिए अर्थात् उनके अन्तर्गत विभिन्न नागरिकों के बीच किसी प्रकार का विभेद नहीं होना चाहिए। इस प्रकार पहले शब्द-बन्ध में इस बुनियादी सिद्धान्त की घोषणा की गयी है कि विधि की दृष्टि में सब समान हैं और दूसरे शब्द-बन्ध में विधियों की दृष्टि से विभिन्न नागरिकों के बीच विभेद का प्रतिषेध किया गया है।

अनुच्छेद 14 के 'विधि के समक्ष समता' पद का अभिप्राय यह नहीं है कि सभी मनुष्य पूरी तरह से एक-दूसरे के समान हैं। मनुष्यों की निरपेक्ष समानता भौतिक दृष्टि से असम्भव है। विधि के समक्ष समता का अभिप्राय तो केवल यह है कि जन्म, धर्म, आदि के आधार पर किसी व्यक्ति को कोई विशेष अधिकार नहीं दिये जायेंगे और सभी व्यक्ति साधारण न्यायालयों द्वारा प्रशासित साधारण विधि के अधीन होंगे। संक्षेप में, विधि के समक्ष समता का अभिप्राय यह है कि कोई भी पदाधिकारी विधि अथवा साधारण न्यायाधिकरणों के क्षेत्राधिकार से बाहर नहीं है।

जन्म, धर्म, पंथ आदि के आधार पर विशेषाधिकारों के निषेध का यह अभिप्राय नहीं

---

[44] कांस्टीट्यूएंट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 8, पृ० 100।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

है कि सभी नागरिकों की, उनके कर्तव्यों की ओर ध्यान दिये बिना ही, समान स्थिति हैं। जिन सरकारी अधिकारियों को सार्वजनिक व्यवस्था कायम रखनी होती है, उन्हें साधारण नागरिकों की तुलना में कुछ अधिक अधिकार प्राप्त होने ही चाहिएँ। इसका कारण यह है कि जो विधि सार्वजनिक अधिकारियों को कुछ विशेष दायित्व सौंपती है, वही विधि उन विशेष दायित्वों को पूरा करने के लिए अधिकारियों को कुछ शक्तियाँ भी प्रदान कर देती है। राजकीय कर्मचारियों को दी गयी ये विशिष्ट शक्तियाँ विशेषाधिकार नहीं हैं और इनके कारण 'विधि के समक्ष समता' का सिद्धान्त खण्डित नहीं होता, क्योंकि राजकीय कर्मचारियों की समस्त शक्तियाँ विधि द्वारा मर्यादित होती हैं और यदि वे अपनी शक्तियों का अतिक्रमण अथवा दुरुपयोग करते हैं, तो उन पर उनके अन्यायपूर्ण कार्यों के लिए मुकदमा चलाया जा सकता है।[45] सार्वजनिक अधिकारी का प्रत्येक कार्य न्यायपालिका द्वारा मान्य विशिष्ट विधि से समर्थित होना चाहिए और उसे केवल राज्य की आवश्यकता, सार्वजनिक सुविधा, उच्च अधिकारियों के आदेश आदि के कारण ही उचित नहीं ठहराया जा सकता। इसका अभिप्राय यह है कि किसी नागरिक को केवल विधि के उल्लंघन के लिए ही दण्डित किया जा सकता है और नागरिक के रूप में उसे ऐसे अधिकारी के विरुद्ध समस्त अधिकार प्राप्त हैं जिसका कार्य किसी विशिष्ट विधि द्वारा प्राधिकृत नहीं है।

प्रत्येक राज्य 'विधि के समक्ष समता' के कुछ अपवाद भी स्वीकार करता है। इनमें से कुछ अपवाद राष्ट्रमण्डली (कॉमिटी ऑफ नेशन्स) पर आधारित हैं और कुछ राजनीतिक आधारों या सार्वजनिक हित पर। उदाहरण के लिए संविधान के अनुच्छेद 361 में कहा गया है कि राष्ट्रपति या राज्य का राज्यपाल अपने पद की शक्तियों के प्रयोग और कर्तव्यों के पालन के लिए अथवा उन शक्तियों के प्रयोग और कर्तव्यों के पालन में अपने द्वारा दिये गये अथवा कर्तुमभिप्रेत किसी कार्य के लिए किसी न्यायालय को उत्तरदायी न होगा।[46] राष्ट्रपति के अथवा राज्यपाल के खिलाफ उसकी पदावधि में किसी भी प्रकार की दण्ड-कार्यवाही किसी न्यायालय में स्थगित नहीं की जायेगी और न चालू रखी जायेगी।[47] राष्ट्रपति अथवा राज्य के राज्यपाल की पदावधि में उसे बन्दी या कारावासी करने के लिए किसी न्यायालय से कोई आदेशिका नहीं निकलेगी।[48]

अन्तर्राष्ट्रीय विधि अथवा राष्ट्रमण्डली जिन अपवादों को स्वीकार करती है वे निम्नलिखित हैं—

(1) **विदेशी शासनाध्यक्ष**—प्रत्येक स्वतन्त्र देश का शासनाध्यक्ष, जब वह दूसरे देश में प्रवेश करता है, अपनी प्रभुतापूर्ण स्थिति की उन्मुक्तियों का उपभोग करता है और विदेश की फौजदारी तथा दीवानी अदालतों के क्षेत्राधिकार से मुक्त रहता है।

(2) **राजदूत**—राजदूत अपने शासनाध्यक्ष का प्रतिनिधित्व करता है अतः सामान्य रूप से उसे वे सारी विमुक्तियाँ प्राप्त होती हैं जिनका उसका अधिपति उपभोग करता है।

---

[45] वेड और फिलिप्स, कांस्टीट्यूशनल लॉ, तीसरा संस्करण, पृ० 51—54।

[46] अनुच्छेद 361 (1)।

[47] अनुच्छेद 361 (2)।

[48] अनुच्छेद 361 (3)।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

(3) **अन्य देशीय शत्रु**—अन्य देशीय शत्रुओं पर साधारण अपराधों के लिए साधारण न्यायालयों में मुकदमा चलाया जा सकता है लेकिन उनके युद्ध-कार्यों के लिए उन पर सैनिक विधि के अधीन ही मुकदमा चलाया जा सकता है।

संयुक्त राज्य अमरीका के उच्चतम न्यायालय के अनुसार विधि के समान संरक्षण का अभिप्राय है—

> 'किसी व्यक्ति के काम में उन रुकावटों के अलावा और कोई रुकावट नहीं डाली जानी चाहिए जो उन्हीं परिस्थितियों में अन्य लोगों के वैसे ही कामों में डाली जा सकती हैं, किसी एक व्यक्ति के ऊपर उससे ज्यादा बोझ नहीं डाला जाना चाहिए जितना उसी व्यवसाय और स्थिति में अन्य व्यक्तियों के ऊपर डाला जाता है, औपचारिक न्याय-व्यवस्था में किसी एक व्यक्ति को उससे भिन्न अथवा अधिक दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए जितना कि इसी तरह के अपराधों के लिए किसी अन्य व्यक्ति को दिया जाता है।'[49]

'विधियों के समान संरक्षण' के क्षेत्र की व्याख्या करते हुए भारत के उच्चतम न्यायालय ने चिरंजीत लाल चौधरी बनाम भारत संघ के मुकदमे में निर्धारित किया था कि—(क) समान संरक्षण का अर्थ है समान परिस्थितियों में समान संरक्षण, (ख) विधान के प्रयोजनों के लिए राज्य युक्तिसंगत वर्गीकरण कर सकता है, तथा (ग) युक्तिसंगतता की धारणा विधान के पक्ष में होती है। युक्तिसंगत वर्गीकरण के क्षेत्र की व्याख्या करते हुए न्यायालय ने कहा था—

> 'एक निगम अथवा व्यक्ति-समूह को भी विधान के लिए एक वर्ग माना जा सकता है लेकिन शर्त यह है कि इसके लिए पर्याप्त आधार अथवा कारण होना चाहिए। यह प्रमाणित करने की जिम्मेदारी आवेदक पर थी कि इस स्थिति में कुछ और भी कम्पनियाँ थीं और केवल इसी कम्पनी के विरुद्ध विभेद किया गया था।'[50]

'विधियों के समान संरक्षण' के सम्बन्ध में उच्च न्यायालयों की ये दो व्याख्याएँ उल्लेखनीय हैं—

'विधियों के संरक्षण की गारण्टी का अर्थ है समान विधियों का संरक्षण। उसमें वर्गगत विधायन का निषेध किया गया है लेकिन उस वर्गीकरण का नहीं जो भेद के युक्तिसंगत आधारों पर निर्भर है। उसमें कहा गया है कि जो व्यक्ति इस विधि के अधीन हों, उनके साथ समान परिस्थितियों में समान व्यवहार किया जाना चाहिए—उन्हें जो विशेषाधिकार दिये जायें

---

[49] लिन्डसे बनाम नेचुरल कार्बोलिक कं० (1910) 220 यू० एस० 61।

[50] 1950, एस० सी० आर० 8691 उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों ने अनेक मुकदमों में इस अनुच्छेद की व्याख्या की है। इनमें से कुछ प्रमुख मुकदमे ये हैं—पश्चिमी बंगाल सरकार बनाम अनवरी अली सरकार, 1952, एस० सी० आर० 284; सतीश चन्द्र आनन्द बनाम भारत संघ, 1953, एस० सी० आर० 655; सैयद मौहम्मद और कं० बनाम आन्ध्र राज्य, ए० आइ० आर० 1954, एस० सी० 314; यूसुफ अब्दुल बनाम बम्बई राज्य, ए० आई० आर० 1954, एस० सी० 321; श्री किशन सिंह बनाम राजस्थान राज्य 1953, एस० सी० आर० 531; जम्मू और कश्मीर राज्य बनाम गुलाम रसूल 1962, एस० जी० जे० 552; बी० अग्रवाल बनाम बिहार राज्य 1962, एस० सी० जे० 27; दक्षिण रोडवेज (पी०) लि० बनाम भारत संघ 1962, एस० सी० जे० 310।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उनके सन्दर्भ में भी और उन पर जो जिम्मेदारियाँ सौंपी जायें उनके सन्दर्भ में भी। गणितीय समानता और पूर्ण एकता की आवश्यकता नहीं है तथा जो व्यक्ति वर्गीकरण का विरोध करता है, उसकी यह जिम्मेदारी है कि वह इस बात को प्रमाणित करे कि यह वर्गीकरण किसी युक्ति-संगत आधार पर निर्भर नहीं है।'[51]

'विधि के समक्ष समता' अथवा 'विधियों के समान संरक्षण' की गारण्टी का अभिप्राय है—विधियों के अधीन व्यवहार की पर्याप्त समानता। समान व्यवहार का अनिवार्य रूप से यह अभिप्राय नहीं है कि एक-जैसा व्यवहार हो। असमान परिस्थितियों में एक-जैसा व्यवहार असमानता बन जाता है। दूसरे शब्दों में, विभिन्न परिस्थितियों में वैधानिक प्रक्रिया में अन्तर न केवल ग्राह्य ही होता है बल्कि वह आवश्यक भी होता है। विधियों के समान संरक्षण का अभिप्राय एक-जैसी विधियाँ नहीं होता। कभी-कभी स्वयं न्याय के ही हित में साधारण प्रक्रिया में अन्तर करना आवश्यक हो जाता है। हाँ, वैधानिक प्रक्रिया में ऐसी किसी कमी की अनुमति नहीं दी जा सकती जिससे आधारभूत परित्राणों पर आघात हो। सामान्य काल में और साधारण स्थितियों में लागू की जाने वाली विस्तृत कार्यवाही असामान्य काल में अथवा विशेष स्थितियों में हानिकर हो सकती है।'[52]

समता-अधिकार ने न केवल विधानमण्डल द्वारा पास की गयी विभेदात्मक विधियों के विरुद्ध संरक्षण का आश्वासन दिया है बल्कि कार्यांग के स्वेच्छाचारी स्वविवेक पर भी प्रतिबन्ध आरोपित किया है। आधुनिक काल में कार्यांग को विधियों, उपविधियों और विनियमों आदि को लागू करने की व्यापक शक्तियाँ प्राप्त हैं। समता-अधिकार के कारण कार्यांग इन शक्तियों का मनमाने ढंग से प्रयोग नहीं कर सकता है। उदाहरण के लिए विभिन्न व्यापारों के लिए लाइसेन्स आदि जारी करने का काम लाइसेन्स जारी करने वाले अधिकारी के अनियन्त्रित विवेक के ऊपर नहीं छोड़ा जा सकता। इन गतिविधियों से सम्बद्ध विधि में उन सिद्धान्तों का निरूपण होना चाहिए जिनकी सीमाओं में रहते हुए लाइसेन्स देने वाले अधिकारी को काम करना हो।

अनुच्छेद 14 में केवल राज्य द्वारा किये गये विभेद का ही प्रतिषेध किया गया है, व्यक्तियों द्वारा किये जाने वाले विभेद का नहीं। उदाहरण के लिए यदि किसी व्यापारिक प्रतिष्ठान का स्वामी अपने कर्मचारियों के चुनाव में मनमानी करता है तो जिस व्यक्ति के विरुद्ध विभेद किया जाता है, वह न्यायालय की शरण नहीं ले सकता। संविधान ने यह अधिकार निजी व्यक्तियों के ऊपर क्यों लागू नहीं किया, इसका एक स्पष्ट कारण है। यदि इस अधिकार का क्षेत्र व्यक्तियों तक बढ़ा दिया जाता, तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता के मूल अधिकार पर आघात होता।

विधि के समक्ष समता और विधियों के समान संरक्षण का[53] एक निहितार्थ यह है

---

[51] सर कामेश्वर सिंह बनाम बिहार राज्य, ऑल इण्डिया रिपोर्टर, 1951, पटना 91।

[52] अब्दुल रहीम बनाम जोजेफ एण्ड पिन्टो, आवेदन पत्र सं० 1950 का 14—20, हैदराबाद।

[53] संविधान में अधिकारों के उपभोग सन्दर्भ में नागरिकों तथा अन्य देशीयों के बीच भेद किया गया है। अनुच्छेद 14 (विधि के समक्ष समता), 20 (अपराधों के लिए दोषसिद्धि के विषय में संरक्षण), 21 (प्राण और दैहिक स्वाधीनता का संरक्षण), 22 (कुछ अवस्थाओं में बन्दीकरण और निरोध से संरक्षण), 23 (मानव के पण्य और

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने वैधिक अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायालय में जाने का अधिकार है। राम प्रसाद बनाम बिहार राज्य वाले मुकदमे में न्यायमूर्ति मुखर्जी ने कहा था :

> "विभेद का इससे निकृष्ट कोई रूप हो नहीं सकता जिसमें किसी एक व्यक्ति के साथ अन्य साक्षी व्यक्तियों की तुलना में भेद किया जाये तथा उसके ऊपर एक ऐसी निर्योग्यता का आरोप कर दिया जाये जिसका किसी अन्य व्यक्ति के ऊपर आरोप नहीं किया गया है और साथ ही उससे शिकायत करने का भी अधिकार छीन लिया जाये।"

धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध : अनुच्छेद 15

अनुच्छेद का निर्माण

धर्म, जाति, रंग, बिरादरी या लिंग के आधार पर किसी व्यक्ति के विरुद्ध कोई विभेद नहीं किया जायेगा, इस आशय का मूल अधिकार श्री मुन्शी और डा० अम्बेदकर के प्रारूपों में विद्यमान था।

मूल अधिकारों सम्बन्धी उपसमिति ने इन दोनों वैकल्पिक प्रारूपों पर विचार करने के बाद विभेद प्रतिषेधी उपबन्ध को धारा 5 (वैधिक समता धारा) का एक भाग बनाया। यह धारा इस प्रकार थी :

संघ के अन्तर्गत विधि के सम्मुख सभी व्यक्ति समान होंगे। संघ के राज्य क्षेत्रों के अन्तर्गत विधि के समान संरक्षण से किसी व्यक्ति को वंचित नहीं कया जायेगा। धर्म, जाति, बिरादरी, भाषा या लिंग के आधार पर किसी व्यक्ति के विरुद्ध कोई विभेद नहीं होगा। विशेष कर—

(क) किसी व्यक्ति के विरुद्ध उपर्युक्त आधारों पर कुओं, टैंकों, सड़कों, विद्यालयों और सार्वजनिक विश्राम के स्थानों के उपयोग के सम्बन्ध में जिनकी रखवाली पूर्णतः या अंशतः सरकारी खर्च से होती हो या जो आम जनता के उपयोग के लिए समर्पित हो, कोई विभेद नहीं होगा।[54]

श्री बी० एन० राव ने अपनी व्याख्यात्मक टिप्पणी में कहा था कि उपर्युक्त उपबन्ध

बलात् श्रम का प्रतिषेध), 28 (धर्म-स्वातन्त्र्य का अधिकार), 31 (सम्पत्ति का अधिकार), और 32 (सांविधानिक उपचारों के अधिकार) में दिये गये अधिकार नागरिकों तथा अन्य देशीयों को समान रूप से प्राप्त हैं। इसके विपरीत अनुच्छेद 15 (धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध), 16 (राज्याधीन नौकरियों के विषय में अवसर समता), 17 (वाक्-स्वातन्त्र्य आदि विषयक कुछ अधिकारों का संरक्षण) और 29 (अल्पसंख्यकों के हितों का संरक्षण) के अधिकार केवल नागरिकों को प्राप्त हैं, अन्य देशीयों को नहीं। जो अधिकार सब व्यक्तियों को, नागरिकों तथा अन्य देशीयों को, समान रूप से उपलब्ध है, उनके लिए "व्यक्ति" शब्द का प्रयोग हुआ है और जो अधिकार केवल नागरिकों को प्राप्त हैं, उनके लिए "नागरिकों" शब्द का प्रयोग हुआ है। अनुच्छेद 14 के अन्तर्गत विधि के समक्ष समता का अधिकार सब व्यक्तियों को प्राप्त है, चाहे वे नागरिक हों या न हों, चाहे वे "व्यष्टि" हों या केवल वैधिक "व्यक्ति"।

[54] ड्राफ्ट रिपोर्ट, परिशिष्ट, धारा 5।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अधिकांशतः नेहरू रिपोर्ट (1928) और कांग्रेस की 1933 की घोषणा पर आधारित था। लेकिन उन्होंने बताया कि इस धारा का जिस रूप में प्रारूपण किया था, उस रूप में वह स्त्रियों के लिए पृथक् विद्यालयों, अस्पतालों आदि पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगा। इस प्रारूप पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए अल्लादि कृष्णस्वामी अय्यर ने अन्य बातों के साथ-साथ यह भी सुझाव दिया कि विभेद का प्रतिषेध करने वाले उपबन्ध को एक पृथक् धारा का रूप दे दिया जाना चाहिए और "भाषा" शब्द को हटा दिया जाना चाहिए। उन्हें "भाषा" शब्द को हटाना इसलिए और भी आवश्यक प्रतीत हुआ क्योंकि ऊपर जिन आधारों की चर्चा की गयी थी, उनका यह उद्देश्य नहीं था कि किसी नागरिक को सरकारी नौकरी के लिए अनर्ह किया जाये। मूल अधिकारों सम्बन्धी उपसमिति ने इस सुझाव को स्वीकार कर लिया और परामर्श समिति को अपना जो प्रतिवेदन दिया उसमें विभेद-प्रतिषेधी धारा को एक स्वतन्त्र धारा का रूप दे दिया। पाठ में एक ही परिवर्तन किया गया—पहले भाग में प्रयुक्त "व्यक्ति" शब्द के स्थान पर "नागरिक" शब्द रख दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि अन्यदेशीय और "न्यायिक व्यक्ति" इस अधिकार से वंचित हो गये और वह केवल नागरिकों को ही सुलभ था।

अल्पसंख्यक उपसमिति ने मूल अधिकार उपसमिति द्वारा प्रस्तावित धारा पर विचार करने के उपरान्त संस्तुति की : (1) धारा में एक उपबन्ध यह जोड़ देना चाहिए कि व्यापार-प्रतिष्ठानों होटलों, और भोजन-गृहों में धर्म, जाति, बिरादरी, भाषा या लिंग के आधार पर कोई विभेद नहीं होगा, (2) मूल अधिकार उपसमिति ने धारा का प्रारूप जिस रूप में तैयार किया था, उसमें से विद्यालयों को हटा देना चाहिए और उसे पृथक् रखा जाना चाहिए, (3) धारा के दूसरे वाक्य को एक पृथक् धारा बनाकर इस रूप में रखा जाना चाहिए : "किसी व्यक्ति के विरुद्ध कुओं, टैंकों, सड़कों और सार्वजनिक विश्राम के स्थानों के उपयोग के सम्बन्ध में धर्म, जाति या बिरादरी के आधार पर जिनकी रखवाली पूर्णतः या अंशतः सरकारी खर्च से होती है या जो आम जनता के उपयोग के लिए समर्पित हैं, धर्म, जाति या बिरादरी के आधार पर कोई विभेद नहीं होगा"।[55]

परामर्श समिति ने 21 और 22 अप्रैल, 1947 को दोनों उपसमितियों की सिफारिशों पर विचार किया। विचार-विमर्श के दौरान ज्ञात हुआ कि अनेक साम्प्रदायिक विद्यालय ऐसे हैं जिनके लिए राज्य के सहायता-अनुदान की व्यवस्था करनी आवश्यक थी। पर राज्य की ओर से सहायता-अनुदान मिलने पर इन विद्यालयों में विभेद नहीं हो सकता था। अतः विद्यालयों को इस धारा के क्षेत्र से निकाल दिया गया और उनके लिए अलग से व्यवस्था की गई।

इसी प्रकार जब अल्पसंख्यक उपसमिति ने सार्वजनिक विश्राम के स्थानों, टैंकों, कुओं आदि में विभेद के प्रतिषेध के प्रश्न पर विस्तार से विचार करना आरम्भ किया तब यह आवश्यक समझा गया कि स्त्रियों और बच्चों के लिए विधि द्वारा पृथक् व्यवस्था करने की आवश्यकता पड़ सकती है। इसी प्रकार, यह भी आवश्यक प्रतीत हुआ कि अल्पसंख्यक वर्गों के लिए विशेष परित्राणों का प्रबन्ध करना जरूरी हो सकता है। श्री मुन्शी ने सुझाव दिया कि इन प्रश्नों पर एक छोटी-सी उपसमिति को विचार करना चाहिए। सर्वश्री मुन्शी, राजगोपालाचारी, पणिक्कर और अम्बेदकर की उपसमिति से कहा गया कि वह इस प्रश्न पर

---

[55] अल्पसंख्यकों सम्बन्धी उपसमिति का अन्तरिम प्रतिवेदन परिशिष्ट।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विचार करें और धारा का प्रारूप फिर से तैयार करें। उपसमिति ने यह सामान्य उपबन्ध किया कि "राज्य किसी व्यक्ति के विरुद्ध धर्म, जाति, बिरादरी अथवा लिंग के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा" लेकिन, व्यापारिक प्रतिष्ठानों, सार्वजनिक भोजनालयों और होटलों में प्रवेश करने तथा कुओं, टैंकों और सार्वजनिक विश्राम के स्थानों के उपयोग के बारे में केवल धर्म, जाति या बिरादरी के आधार पर विभेद का प्रतिषेध किया गया था, लिंग के आधार पर नहीं। अनेक सदस्यों ने, विशेषकर राजकुमारी अमृत कौर ने, इस उपबन्ध का इस आधार पर विरोध किया कि यह सामाजिक समता के सिद्धान्त के विरुद्ध है। समिति की सम्मति में विभेद का प्रतिषेध करने वाले सिद्धान्त के सामान्य निरूपण की आवश्यकता थी और इसके साथ ही स्त्रियों और बच्चों के लिए पृथक् सुविधाओं की व्यवस्था करना जरूरी था। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर समिति ने धारा का निम्नलिखित रूप में पुनरालेखन किया :

"(1) राज्य धर्म, जाति, बिरादरी या लिंग के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा।

(2) निम्नलिखित के सम्बन्ध में किसी नागरिक के विरुद्ध धर्म, जाति, बिरादरी या लिंग के आधार पर कोई विभेद नहीं होगा—

(क) व्यापारिक प्रतिष्ठानों में जिनमें सार्वजनिक भोजनालय और होटल भी सम्मिलित हैं, प्रवेश;

(ख) जिन कुओं, टैंकों, सड़कों और सार्वजनिक स्थानों की रखवाली पूर्णतः या अंशतः सरकारी खर्च से होती है या जो सार्वजनिक जनता के उपयोग के लिए समर्पित हैं, उनका उपयोग :

लेकिन शर्त यह है कि इस धारा की किसी बात से स्त्रियों और बच्चों के लिए पृथक् उपबन्ध करने में कोई बाधा नहीं होगी"।[56]

संविधान सभा ने 29 अप्रैल, 1947 को इस धारा पर विचार किया। श्री मुन्शी ने तीन संशोधन रखे जिन्हें धारा के प्रस्तावक श्री मुन्शी के संशोधनों द्वारा संशोधित धारा को स्वीकार कर लिया।

सांविधानिक परामर्शदाता ने इस धारा में और संशोधन किया तथा अक्तूबर 1947 के प्रारूप संविधान में वह धारा 11 के रूप में प्रस्तुत की गयी :

(1) राज्य केवल धर्म, जाति, बिरादरी, लिंग अथवा इनमें से किसी के आधार पर किसी नागरिक के विरुद्ध विभेद नहीं करेगा।

विशेष रूप से कोई नागरिक केवल धर्म, जाति, बिरादरी, लिंग या इनमें से किसी के आधार पर निम्नलिखित के विषय में किसी निर्योग्यता, देयता, प्रतिबन्ध या शर्त के अधीन नहीं होगा—

(क) दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों और सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश, या

(ख) जिन कुओं, टैंकों, सड़कों और सार्वजनिक स्थानों की रखवाली पूर्णतः या अंशतः राज्य के राजस्वों से होती है या जो सार्वजनिक उपयोग के लिए समर्पित है, उनका उपयोग।

---

[56] परामर्श समिति का कार्यवृत्त, 21–22 अप्रैल, 1947 और परामर्श समिति का अन्तरिम प्रतिवेदन परिशिष्ट।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

(2) इस धारा की किसी बात से स्त्रियों और बच्चों के लिए पृथक् उपबन्ध करने में राज्य को कोई बाधा न होगी ।

प्रारूप समिति ने 30 अक्तूबर, 1947 को इस धारा पर विचार किया था और इसे बिना किसी परिवर्तन के प्रारूप संविधान में अनुच्छेद 9 के रूप में समाविष्ट किया । जब प्रारूप संविधान लोकमत जानने के लिए परिचालित किया गया, तब संविधान-सभा के सदस्यों तथा कुछ अन्य व्यक्तियों ने अनेक संशोधन प्रस्तुत किये थे, पर प्रारूप समिति ने[57] इनमें से कोई संशोधन स्वीकार नहीं किया । उसने केवल अपना ही एक संशोधन स्वीकार किया जिसमें "राज्य के राजस्वों" शब्दों के स्थान पर "राज्य की निधियाँ" शब्द रखे गये थे ।

संविधान-सभा ने 29 नवम्बर, 1948 को प्रारूप अनुच्छेद 9 पर विचार किया । उसके सम्मुख प्रायः चार दर्जन संशोधन थे । इनमें से अधिकांश संशोधनों को या तो प्रस्तुत ही नहीं किया गया या उन्हें प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं दी गई । जिन चार संशोधनों को संविधान-सभा में स्वीकार किया गया वे क्रमशः सुब्रह्मण्यम्, अब्दुल राउफ, गुप्तनाथ सिंह और डा० अम्बेदकर के थे । श्री सुब्रह्मण्यम् का सुझाव था कि धारा (1) के दूसरे पैरा को एक नई धारा (क) का रूप दिया जाना चाहिए और उसमें से "विशेषतः" शब्द को हटा देना चाहिए । श्री सुब्रह्मण्यम् का कहना था कि धारा के पहले पैरा में कहा गया था कि "राज्य केवल धर्म, जाति, बिरादरी, लिंग अथवा इनमें से किसी के आधार पर किसी नागरिक के विरुद्ध विभेद नहीं करेगा ।" आगे चलकर उसमें कहा गया था कि "विशेष रूप से कोई नागरिक केवल धर्म, जाति, बिरादरी, लिंग या इनमें से किसी के आधार पर किसी निर्योग्यता, देयता, प्रतिबन्ध या शर्त के अधीन नहीं होगा । इसका अभिप्राय यह हो जाता है कि सम्भवतः यह निर्योग्यता, देयता, प्रतिबन्ध या शर्त राज्य आरोपित करेगा । वस्तु-स्थिति यह नहीं थी । दुकानों और मनोरंजन के स्थानों में राज्य विभेद नहीं करता प्रत्युत प्रबन्धक वर्ग विभेद करता है । इन बातों को ध्यान में रखकर श्री सुब्रह्मण्यम् को यह आवश्यक लगा था कि दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों में प्रवेश से सम्बन्धित विषय को एक स्वतन्त्र धारा का रूप दे दिया जाये ।[58] सैय्यद अब्दुल राउफ के संशोधन में कहा गया था कि प्रारूप में जहाँ कहीं 'लिंग' शब्द आया हो वहाँ उसके पश्चात् "जन्म स्थान" शब्द जोड़ दिया जाये । श्री राउफ का कहना था स्थानीय देशभक्ति के बहाने नागरिकों के विरुद्ध जन्म स्थान के आधार पर भी विभेद किया जा सकता है ।[59] श्री गुप्तनाथ सिंह का सुझाव था कि "कुओं, टैंकों" शब्दों के बाद "स्नान घरों" शब्द दिये जाएँ ।[60] डा० अम्बेदकर ने प्रारूप समिति की ओर से सुझाव दिया था कि राज्य के "राजस्वों" की जगह "राज्यनिधियाँ" शब्द रखे जायें । अम्बेदकर के संशोधन का कारण यह था कि भारतीय प्रशासन शब्दावली में स्थानीय या जिला बोर्डों की निधियों के लिए "राजस्व" शब्द का प्रयोग नहीं होता । चूँकि मूल अधिकारों को लागू करने की जिम्मेदारी इन संस्थाओं पर भी थी

---

[57] संविधान-सभा के जिन सदस्यों ने संशोधन प्रस्तावित किये थे, उनमें सर्वश्री पट्टाभि सीतारामय्या, आर० के० सिधवा, तजमुल हुसैन, श्रीमती पूर्णिमा बनर्जी के नाम उल्लेखनीय हैं । संविधान-सभा से बाहर के व्यक्तियों में श्री जयप्रकाश नारायण ने एक संशोधन प्रस्तुत किया था ।

[58] कॉन्स्टीट्यूएंट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 7, पृ० 650 ।

[59] वही, पृ० 650–1 ।

[60] वही, पृ० 653 ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

इसलिए व्यापक शब्दावली का प्रयोग करना आवश्यक था। इन चारों संशोधनों को संविधान सभा ने स्वीकार किया और उपयुक्त परिवर्तनों के बाद प्रारूप अनुच्छेद 9 संविधान का अनुच्छेद 15 बन गया।

सांविधानिक संशोधन

संविधान के प्रथम संशोधन 1951 ने अनुच्छेद 15 में एक नयी चौथी धारा और जोड़ दी जिसमें कहा गया है कि इस अनुच्छेद या अनुच्छेद 29 की धारा 2 की किसी बात से राज्य को सामाजिक तथा शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिक वर्गों अथवा अनुसुचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के विकास के लिए कोई विशेष उपबन्ध करने में बाधा न होगी। यह उपबन्ध उच्चतम न्यायालय के एक निर्णय [61] के कारण आवश्यक हो गया था जिसमें उसने मद्रास सरकार का एक आदेश रद्द कर दिया था। इस आदेश के द्वारा मद्रास सरकार ने चाहा था कि राज्य-नियन्त्रित कुछ शैक्षिक संस्थाओं में विभिन्न सम्प्रदायों के लिए स्थान संरक्षित रखे जाएँ। मद्रास सरकार का तर्क था कि राज्य-नीति के निदेशक सिद्धान्तों की व्यवस्था के अनुसार राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह सामाजिक तथा शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों के हितों की रक्षा करे। यदि इन वर्गों के साथ पक्षपात नहीं किया गया और इनके विद्यार्थियों को प्रावैधिक संस्थाओं में प्रवेश के सम्बन्ध में कुछ विशेष रियायतें नहीं दी गयीं तो ये वर्ग सदा पिछड़े ही रहेंगे। अतः उच्चतम न्यायालय द्वारा आरोपित निर्योग्यता को दूर करने के लिए ही अनुच्छेद 15 में चौथी धारा जोड़ दी गयी।

व्याख्या और विश्लेषण

अनुच्छेद 14 में जिस समता-अधिकार का सामान्य रूप से विवेचन किया गया है, अनुच्छेद 15 उसका एक उदाहरण है। अनुच्छेद 14 में दिये गये मूल अधिकार सभी व्यक्तियों को उपलब्ध हैं लेकिन अनुच्छेद 15 में दिये गये अधिकार केवल नागरिकों को उपलब्ध हैं। अनुच्छेद 15 में कुछ विशिष्ट आधारों पर किसी नागरिक के विरुद्ध विभेद का प्रतिषेध किया गया है। यदि विभेद अनुच्छेद 15 (1) के अतिरिक्त अन्य किसी आधार पर हो तो मामले पर सामान्य अनुच्छेद 14 के अन्तर्गत ही निर्णय हो सकता है। धारा (2) केवल राज्यों के विरुद्ध ही उपलब्ध नहीं है, बल्कि वह उन निजी व्यक्तियों के विरुद्ध भी उपलब्ध है जिनका इस धारा में उल्लिखित सार्वजनिक स्थानों पर नियन्त्रण हो। धारा (3)–(4) धारा (1) और (2) के उपबन्धों के लिए अपवाद स्वरूप हैं।

धारा (1) का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। वह नागरिकों के राजनीतिक, असैनिक अथवा अन्य प्रकार के अधिकारों के सन्दर्भ में राज्य की कार्यवाही के विरुद्ध लागू किया जा सकता है। उदाहरण के लिए साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व अथवा सम्प्रदायों के अनुसार विभिन्न निर्वाचक गणों के आधार पर[62] होने वाले निर्वाचन अवैध हैं। चूँकि अनुच्छेद 12 में राज्य की व्यापक परिभाषा प्रस्तुत की गई है और उसमें केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारें तथा नगर-

---

[61] श्रीनिवासन बनाम मद्रास राज्य 1951, एस० सी० आर० 1951।

[62] नैन सुख बनाम उत्तर प्रदेश राज्य, (1953) एस० सी० आर० 1184।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

पालिकाएँ और जिला बोर्ड भी सम्मिलित हैं, अतः विभेद प्रतिषेधी उपबन्ध इनके ऊपर भी लागू होते हैं। धारा (1) उसी समय लागू की जा सकती है जबकि विभेद "राज्य" द्वारा लागू किया गया हो।

"विभेद" का अर्थ है विभिन्न व्यक्तियों के प्रति किये जाने वाले व्यवहार में भेद, एक व्यक्ति के सम्बन्ध में दूसरे व्यक्ति की तुलना में प्रतिकूल व्यवहार। लेकिन धारा (1) में जिस विभेद का प्रतिषेध किया गया है, उसका आधार सिर्फ यह है कि किसी व्यक्ति का विशेष जाति, बिरादरी या धर्म से सम्बन्ध है अथवा उसका किसी स्थान-विशेष पर जन्म हुआ था अथवा वह स्त्री या पुरुष है। यदि विभेद का आधार इनके अलावा कोई और चीज हो तो वह इस अनुच्छेद के दायरे में नहीं आता।[63] संक्षेप में अनुच्छेद 15 (1) का अभिप्राय यह है कि किसी विशेष धर्म, जाति या बिरादरी के व्यक्ति के विरुद्ध अन्य व्यक्तियों की तुलना में केवल इस आधार पर विभेद नहीं किया जा सकता कि वह अमुक जाति, बिरादरी या धर्म का व्यक्ति है। "केवल," शब्द का महत्त्व यह है कि यदि अन्य योग्यताएँ समान हों तो जाति, धर्म, बिरादरी आदि अधिमान अथवा निर्योग्यता के आधार नहीं हो सकते। यदि विभेद का आधार अनुच्छेद में उल्लिखित बातों के अलावा कोई और बातें हों तो वह विभेद असांविधानिक न होगा।[64] यदि विभेद का आधार जाति, बिरादरी आदि न होकर किसी काम के लिए भौतिक या बौद्धिक उपयुक्तता हो तो वह विभेद उचित होगा।[65] इसी प्रकार इस धारा में निवास के आधार पर विभेद का प्रतिषेध नहीं किया गया है।[66]

"जन्म स्थान" शब्द से यह स्पष्ट है कि इस अनुच्छेद में जिस विभेद-प्रतिषेध की कल्पना की गई है, वह निगमों के ऊपर लागू नहीं होता। राज्य निगमों को विशेष सुविधाएँ प्रदान कर सकता है।[67]

"धर्म" किसी भी सार्वजनिक मामले में निर्योग्यता अथवा विभेद का आधार नहीं हो सकता। धर्म के आधार पर कोई व्यक्ति राज्य से विशेष सुविधाओं की माँग नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए किसी विशेष सम्प्रदाय के लोग अपने धर्म के आधार पर टीके लगाने से छुटकारा नहीं पा सकते।[68]

पुलिस अधिनियम 1861 की धारा 15 के अधीन निकाले गए एक आदेश में कुछ क्षेत्रों को "उपद्रवग्रस्त क्षेत्र" घोषित किया गया था और वहाँ अतिरिक्त पुलिस रखने का खर्च सम्बद्ध क्षेत्रों के निवासियों से वसूल किया जाना था। पर हरिजनों और मुसलमानों को बिना कोई कारण बताए इस जिम्मेदारी से मुक्त रखा गया था। राजस्थान उच्च न्यायालय

---

[63] राज्य बनाम विट्ठल (1952) 54 बम्बई एल० आर० 626 दत्तात्रेय बनाम बम्बई राज्य, ए० 1953 बम्बई 311।

[64] राज्य बनाम विट्ठल (1952) 54 बम्बई एल० आर० 626, दत्तात्रेय बनाम बम्बई, (1953) 55 बम्बई एल० आर० 323।

[65] अन्जली बनाम पश्चिमी बंगाल (1952) 56 कैलकटा वीकली नोट्स, 80।

[66] जोशी बनाम मध्य भारत राज्य (1953) एस० सी० आर० 1215।

[67] बसु, कमेन्ट्री ऑन द कॉस्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, पाँचवाँ संस्करण, जिल्द 1, कलकत्ता. 1965, पृ० 509।

[68] भारत सरकार की घोषणा, स्टेट्समैन 15-1-49।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

और उच्चतम न्यायालय के अनुसार "हरिजनों" और "मुसलमानों" को दी गई यह छूट असांविधानिक थी।[69]

भारत में संविधान के आरम्भ के समय दण्ड विधि (जातीय विभेद निवारण) अधिनियम (1949 का XVII)[70] पास कर के मूलवंशीय भेदभाव को दूर करने की दिशा में पहला कदम उठाया गया। ब्रिटिश शासन-काल में दण्ड विधि और प्रक्रिया के मामले में यूरोपीयों और अमरीकियों को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त थे। इस अधिनियम द्वारा उन विशेषाधिकारों का अन्त कर दिया गया।

भारत में मूलवंश के आधार पर विभेद का प्रतिषेध एक क्रान्तिकारी कदम है और यदि दक्षिण अफ्रीका की "एपार्थीड" नीति से उसकी तुलना की जाए तो उसका महत्त्व स्पष्ट हो जाएगा। संयुक्त राज्य अमरीका तक में नीग्रो लोगों के विरुद्ध अनेक भेद वर्ते जाते हैं।

भारत में "जाति" के आधार पर भी किसी प्रकार का विभेद सम्भव नहीं हैं। यदि किसी विनिमय के फलस्वरूप किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश के लिए ब्राह्मणों से अन्य जाति के छात्रों की अपेक्षा अधिक ऊँची योग्यता की अपेक्षा की जाए तो वह विनिमय अवैध होगा।[71]

राज्य "लिंग" के आधार पर नागरिकों के विरुद्ध विभेद नहीं कर सकता। तथापि, निम्नलिखित उपबन्ध जो स्त्रियों के लिए विशेष संरक्षण की व्यवस्था करते हैं, अवैध नहीं है—

(1) भारतीय दण्ड संहिता की धारा 497 जिसमें व्यवस्था की गई है कि व्यभिचार के अपराध में स्त्री को दुरुत्साहक (एबेटर) नहीं माना जा सकता।[72]

(2) भारतीय दण्ड संहिता की धारा 354 जिसमें केवल स्त्रियों के शील की रक्षा की व्यवस्था की गई है।[73]

(3) दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 488 जिसमें पति के लिए पत्नी के भरण-पोषण की व्यवस्था करना अनिवार्य ठहराया गया है लेकिन पत्नी के ऊपर इस प्रकार की जिम्मेदारी नहीं डाली गई है।[74]

(4) दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 497 (1) जिसमें जमानत (बेल) के मामले में गैर-जमानती अपराध की अभियुक्त महिलाओं के साथ पृथक् व्यवहार किया जाता है।[75]

(5) विवाह-विच्छेद अधिनियम की धारा 10 जिसमें विवाह-विच्छेद के आधारों के सम्बन्ध में स्त्री-पुरुषों के बीच भेद किया है।

"जन्म स्थान" शब्दों का अनुच्छेद 15 की धारा (1) और (2) में तथा अनुच्छेद 16 की धारा (2) में प्रयोग किया गया है। यह शब्द वास्तव में "प्रान्तवाद" को अवैध घोषित करता है। किसी व्यक्ति का भारत के किसी भी भाग में जन्म क्यों न हुआ हो, "जन्मस्थान"

---

[69] प्रतापसिंह बनाम राजस्थान राज्य ए० 1960 एस० सी० 1208।

[70] क्रिमिनल ला (रिमूवल आफ रेशियल डिस्क्रिमिनेशन) एक्ट (XVII आफ 1949)।

[71] चम्पाकम बनाम मद्रास राज्य, ए० 1951 मद्रास 120। इस निर्णय की उच्चतम न्यायालय ने भी पुष्टि की। ए० 1951 एस० सी० 216।

[72] यूसुफ बनाम बम्बई राज्य (1954) एस० सी० आर० 930।

[73] गिरधर गोपाल बनाम राज्य, ए० 1953, मध्य भारत, 147।

[74] थापसी बनाम कानाइ ए० 1952, मद्रास 529।

[75] चोकी बनाम राज्य, ए० 1957, राजस्थान 101।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

के आधार पर उसके विरुद्ध किसी भी सार्वजनिक मामले में किसी सत्ता द्वारा कोई विभेद नहीं किया जा सकता।[76] पर "निवास" (रेजीडेन्स)[77] अथवा "अधिवास" (डोमीसाइल)[78] के आधार पर राज्य नागरिक-वर्गों के बीच विभेद कर सकता है। उदाहरण के लिए सांविधानिक दृष्टि से यह निर्धारित किया जा सकता है कि राज्य के निवासियों को राजकीय चिकित्सा महाविद्यालय में फीस के मामले में रियायत मिलेगी।[79] लेकिन, "निवास" के आधार पर राज्य किसी नागरिक को अपनी नौकरी में लेने से उस समय तक मना नहीं कर सकता जब तक संसद इस आशय की विधि न बना दे।[80] संविधान के अनुच्छेद 173 (ग) ने राज्य विधानमण्डल की सदस्यता के लिए निवास-विषयक अर्हता निर्धारित करने की गुंजाइश रखी है।

उपधारा (क) में निजी व्यक्तियों द्वारा नियन्त्रित दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश की अनुमति दी गई है। इन संस्थानों में प्रवेश के लिए यह आवश्यक नहीं है कि इन स्थानों के रख-रखाव के लिए राज्य की ओर से सहायता मिलती हो। उपधारा (ख) का सम्बन्ध सार्वजनिक समागम के उन स्थानों से है जो या तो पूर्ण या आंशिक रूप से राज्य-निधि से पोषित हैं अथवा साधारण जनता के उपभोग के लिए समर्पित हैं। जो स्थान साधारण जनता के उपभोग के लिए समर्पित हैं, उनके पोषण के लिए राज्य की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। संक्षेप में धारा (2) का प्रतिषेध केवल राज्य के विरुद्ध ही लागू नहीं होता, बल्कि निजी व्यक्तियों के विरुद्ध भी लागू होता है।

इस उपबन्ध में "केवल .... के आधार पर" शब्दों का अभिप्राय यह है कि विभेद का प्रतिषेध केवल तभी हो सकता है जबकि वह धर्म, मूलवंश, जाति लिंग या जन्म स्थान पर आधारित हो। यदि विभेद का आधार कुछ और हो तो उसका प्रतिषेध नहीं हो सकता।

धारा (3) में स्त्रियों और बच्चों के लिए विशेष उपबन्ध की व्यवस्था की गई है। धारा (4) ने पिछड़े हुए वर्गों के लिए विशेष व्यवस्था की अनुमति दी है। इनके अतिरिक्त, नैतिकता स्वास्थ्य अथवा इसी प्रकार के अन्य आधारों पर विभेद का प्रतिषेध नहीं किया गया है। उदाहरण के लिए किसी सराय का मालिक या सार्वजनिक गाड़ी का संचालक नशे में धुत्त व्यक्ति को या छूत की बीमारी से पीड़ित व्यक्ति को सराय या गाड़ी में स्थान देने से मना कर सकता है।

भारतीय संविधान ने निजी व्यक्तियों द्वारा पोषित संस्थाओं तक में मूलवंश के आधार पर विभेद का पूर्ण रूप से प्रतिषेध किया है। इस दृष्टि से भारतीय संविधान संसार के अन्य किसी भी प्रमुख देश के संविधान से आगे बढ़ गया है। संयुक्त राज्य अमरीका में यह माना गया है कि "समान संरक्षण धारा" राज्य की कार्यवाही से प्रसूत विभेद से तो व्यक्ति की रक्षा करती है लेकिन व्यक्ति की कार्यवाही से उत्पन्न विभेद से कोई रक्षा नहीं करती। वह राजनीतिक

---

[76] राज्य बनाम हुसैन, ए० 1951, बम्बई 285।

[77] राज्य बनाम बिट्ठल, (1952), 54 बम्बई एल० आर० 626 (628)।

[78] जोशी बनाम मध्य भारत राज्य (1955) एस० सी० आर० 1215 (1220)।

[79] जोशी बनाम बम्बई राज्य (1955)।

[80] पांडुरंग राव बनाम आन्ध्र प्रदेश, उच्चतम न्यायालय, आल इण्डिया रिपोर्टर 1963, उच्चतम न्यायालय 268 (272)।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

असमता का तो प्रतिषेध करती है लेकिन सामाजिक असमता का नहीं।[81] संयुक्त राज्य अमरीका के अनेक राज्यों ने इस प्रकार के कानून बनाए हैं जिनके फलस्वरूप सार्वजनिक समागम अथवा मनोरंजन के स्थान में मूलवंश या रंग के आधार पर विभेद का प्रतिषेध कर दिया गया है, लेकिन सेलूनों, भोजनालयों, निवास-स्थानों तक हज्जामों की दुकानों के सम्बन्ध में इस उपयोगी विधान का लाभ नहीं मिल सकता।[82] परिणामस्वरूप अमरीका में निजी व्यक्ति सार्वजनिक स्थानों पर मूलवंशीय भेदभाव की नीति पर अमल कर सकते हैं और न्यायालय इस प्रकार की कार्यवाही को तभी अमान्य कर सकते हैं जबकि यह सिद्ध हो जाए कि इस प्रकार की कार्यवाही में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से राज्य का भी सम्बन्ध है। दक्षिण अफ्रीका में तो मूलवंशीय विभेद की समस्या अत्यन्त उग्र हैं। वहाँ अनेक होटल केवल यूरोपीयों के लिए ही सुरक्षित हैं। दक्षिण अफ्रीकी सरकार संयुक्त राष्ट्र संघ तथा विश्व जनमत के विरोध के बावजूद जातीय भेदभाव की नीति पर चल रही है। भारत में अनुच्छेद 15 (2) को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार की स्थिति असम्भव है।

'जाति' के आधार पर विभेद के प्रतिषेध का लक्ष्य हिन्दू समाज से जात-पाँत की बुराई को दूर करना और राष्ट्र को एकता के सूत्र में ग्रथित करना है। संविधान के निर्माण के समय अनेक राज्यों ने जात-पाँत विरोधी अधिनियम पास किये थे।[83] संसद ने सन् 1955 में अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, सन् 1955 पास किया जिसमें छुआछूत के आधार पर किसी प्रकार के धार्मिक या सामाजिक विभेद का प्रतिषेध किया गया है। अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम सन् 1953 की धारा 2 (ङ) में 'दुकान' की यह परिभाषा दी गयी है—

'दुकान का अभिप्राय वह स्थान है जहाँ सामान थोक या खुदरे में या थोक और खुदरे दोनों में बेचा जाता है और उसमें लाण्ड्री, हज्जाम की दुकान या ऐसे अन्य किसी स्थान का समावेश है, जहाँ ग्राहकों के लिए सेवाओं की व्यवस्था की जाती है।'

'सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों' का अभिप्राय वे स्थान हैं जो बिना किसी भेदभाव के साधारण जनता के लिए खुले हुए हैं और जहाँ मनोरंजन के साधनों की व्यवस्था है। अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, सन् 1955 की धारा 2 (ग) में 'सार्वजनिक मनोरंजन के स्थान' की यही परिभाषा प्रस्तुत की गयी है—

'सार्वजनिक मनोरंजन के स्थान के अन्तर्गत ऐसा कोई भी स्थान सम्मिलित है जहाँ जनता को प्रवेश करने की अनुमति दी जाती है और जहाँ मनोरंजन की व्यवस्था की जाती है।

व्याख्या—'मनोरंजन' में कोई प्रदर्शन, अभिनय, खेल-कूद या अन्य किसी प्रकार का आमोद-प्रमोद सम्मिलित हैं।'

'सार्वजनिक स्थान' अथवा 'सार्वजनिक समागम के स्थान' क्या हैं, इस सम्बन्ध में

---

[81] शैले बनाम क्राऐमर, (1948) 334 यू० एस० 1 मिशेल बनाम यू० एस०, (1941) 313 यू० एस० 80।

[82] ऐमर्सन और हेबर, पालिटिकल एण्ड सिविल राइट्स, 1952, पृष्ठ 1130–31।

[83] बिहार सरकार ने हरिजन (नागरिक अयोग्यताओं का निवारण) अधिनियम, 1949, पश्चिमी बंगाल सरकार ने सामाजिक अयोग्यताओं का निवारण अधिनियम, 1948, बम्बई सरकार ने हरिजन (सामाजिक अयोग्यताओं का निवारण) अधिनियम, 1946 और उत्तर प्रदेश सरकार ने सामाजिक अयोग्यताओं का निवारण अधिनियम, 1947 पास किया था।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

न्यायविदों में मतभेद है। एक दृष्टिकोण के अनुसार यदि साधारण जनता के सदस्यों को किसी स्थान में प्रवेश करने की अनुमति दे दी जाती है और वे प्रायः वहाँ जाते हैं, तो वह स्थान सार्वजनिक समागम का स्थान है चाहे सदस्यों को उस स्थान पर प्रवेश करने का वैधिक अधिकार हो या नहीं। इस दृष्टिकोण के अनुसार निम्नलिखित स्थानों को सार्वजनिक समागम के स्थान माना गया है : निजी कोयला कम्पनी का क्षेत्र जहाँ अजनबी लोगों को बिना किसी आपत्ति के प्रवेश करने की अनुमति दी गयी,[84] सराय का समीपवर्ती खुला स्थान जहाँ सराय के अनुज्ञप्तिधारी द्वारा आमन्त्रित व्यक्तियों को अपनी कार खड़ी करने की अनुमति दे दी जाती है,[85] सार्वजनिक मूत्रालय[86] और सिनेमा घर,[87] निजी रेल कम्पनी की सम्पत्ति जिससे वह जनता के सदस्यों को बाहर रख सकती है,[88] अनुज्ञप्ति-प्राप्त स्थान जो आम सराय के अंग नहीं हैं,[89] निजी मन्दिर का दीवार से घिरा हुआ अहाता।[90]

संविधान में इस बात की स्पष्ट व्याख्या नहीं की गयी है कि सार्वजनिक समागम के स्थान क्या हैं, लेकिन निम्नलिखित कारणों से प्रतीत होता है कि सार्वजनिक समागम के स्थान वे स्थान हैं जहाँ जाने का जनता को वैधिक अधिकार है—

'सार्वजनिक समागम के स्थान' शब्द 'कुओं, तालाबों, स्नान-घाटों, सड़कों' के उपरान्त आया है, इससे ज्ञात होता है कि इस शब्दावली की व्याख्या 'वही सिद्धान्त और स्वरूप' (एजुसडेम जेनेटिस) सिद्धान्त के आधार पर की जा सकती है। इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि जब विशेष शब्दों के उपरान्त साधारण शब्द आते हैं, तब साधारण शब्द उसी तरह की वस्तुओं के वाचक होते हैं जिन्हें निर्दिष्ट किया गया हो।[91] इस स्थिति में दुकान, क्लब, सिनेमा तथा सार्वजनिक मनोरंजन के अन्य स्थान अनुच्छेद 15 (11) की उपधारा (ख) के दायरे में नहीं आ सकते। अनुच्छेद 15 (2) (ख) के अन्तर्गत किन-किन स्थानों को सार्वजनिक समागम के स्थान माना जा सकता है, इसका अनुमान अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, सन् 1955 की धारा 4 (1) (5) (4) से हो सकता है।

'जनता के अन्य सदस्यों या उसी धर्म को मानने वालों या उसी धार्मिक सम्प्रदाय अथवा उसके किसी भाग के अनुयायियों को, जिस किसी नदी, सरिता, झरने, कुएँ, तालाब, हौज, पानी की टोंटी या किसी स्नान-घाट, कब्रिस्तान, स्वास्थ्यकर स्थान, किसी सड़क या रास्ते या सार्वजनिक समागम के अन्य किसी स्थान में प्रवेश करने या उसका उपयोग करने का अधिकार हो, उसका उपयोग या उसमें प्रवेश,' अथवा

---

[84] टर्नबुल बनाम एप्लेटन (1876) 45 जे० पी० 469।

[85] एल्किन्स बनाम कार्टलिज, (1947) ऑल इंग्लैण्ड रिपोर्ट्स 829 (इंग्लैण्ड)।

[86] आर बनाम हेरिस, 24 एल० टी० 74 सड़क परिवहन अधिनियम, 1930 (इंग्लैण्ड) आवारागर्दी अधिनियम, 1924।

[87] लिंगना बनाम मैसूर राज्य, ऑल इण्डिया रिपोर्टर, 1954, मैसूर 12।

[88] के० सी० बनाम स्टोरी, (1869) 4 एक्सचेकर 319।

[89] ब्रान्ना बनाम पीक, (1947) 2 ऑल इण्डिया रिपोर्टर 572 (स्ट्रीट बेटिंग) अधिनियम, 1906।

[90] खुदी शेख बनाम के० ई० (1901) 6 सी० डब्ल्यू० एन० 33।

[91] आर० वी० एमुन्डसन (1859) 28 एल० जे० एम० सी० 213 (215), पॉवेल बनाम केम्पटन पार्क (1899) आई० के० बी० 694, छज्जू राम बनाम नेकी ए 1922 पी० सी० 112।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

'परोपकार या सार्वजनिक प्रयोजन के लिए प्रयुक्त ऐसा कोई स्थान जो पूर्णतः या अंशतः राज्य निधियों से पोषित है अथवा साधारण जनता अथवा उसी धर्म को मानने वाले लोगों अथवा उसी धार्मिक सम्प्रदाय अथवा उसके किसी भाग के उपयोग के लिए समर्पित है, उसका उपयोग या उसमें प्रवेश ।'

धारा (ख) का क्षेत्र धारा (क) के क्षेत्र के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है । धारा (क) में जनता के लिए समर्पण अथवा राज्य-निधियों से पोषण का कोई प्रश्न नहीं उठाया गया है । धारा (क) में सार्वजनिक स्थान का व्यापक अर्थ ग्रहण किया गया है, उसे एक ऐसा स्थान माना गया है जहाँ जनता के सदस्य स्वभावतः जाते रहते हैं चाहे यह स्थान निजी व्यक्ति के नियन्त्रण में हो और जनता के किसी सदस्य को वहाँ प्रवेश करने का वैधिक अधिकार न हो । इसके विपरीत उपधारा (ख) का क्षेत्र सीमित है । इसमें निर्दिष्ट स्थान के लिए आवश्यक है कि वह या तो पूर्णतः या अंशतः राज्य-विधियों से पोषित हो अथवा 'सार्वजनिक उपयोग के लिए समर्पित' हो । जब तक ये शर्तें पूरी नहीं होतीं तब तक कोई स्थान सार्वजनिक समागम का स्थान नहीं हो सकता ।

'साधारण जनता के उपयोग के लिए समर्पित' शब्द-बन्ध साधारण विधि का प्रश्न है । सम्पत्ति को साधारण जनता के उपयोग के लिए दो प्रकार से समर्पित किया जा सकता है : (क) पूर्ण समर्पण जब कि सम्पत्ति का स्वामी सम्पत्ति पर से अपना स्वत्व पूरी तरह से त्याग देता है और सम्पत्ति का स्वामित्व किसी धार्मिक, परोपकारी या सामाजिक संस्था में निहित कर देता है । (ख) आंशिक समर्पण जब कि स्वामी सम्पत्ति का स्वत्व अपने पास रखता है लेकिन समुदाय को कुछ विशेष कार्यों के लिए उसके उपयोग की अनुमति दे देता है जैसे कि गंगातट पर स्नान के लिए भूमि का समर्पण । जब साधारण जनता के लिए किसी वस्तु का एक बार समर्पण कर दिया जाता है, तब उसे वापस नहीं लौटाया जा सकता ।

धारा (3) धारा (1) तथा धारा (2) की अपवाद है । इस धारा के अनुसार राज्य स्त्रियों और बालकों के लिए विशेष उपबन्ध बना सकता है । उदाहरण के लिए स्त्री कर्मचारियों के लिए प्रसूति-सहायता की व्यवस्था करना ।[92] अथवा बच्चों के लिए निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करना[93] अनुच्छेद 15 (1) के प्रतिकूल नहीं है । इस प्रकार सार्वजनिक समागम के स्थानों में स्त्रियों और बच्चों के लिए पृथक् स्थान और पृथक् प्रवेश की व्यवस्था की जा सकती है ।

सरकार ने ऐसे अनेक कानूनों का निर्माण किया है जिनमें स्त्रियों और बच्चों के लिए विशेष उपबन्ध किये गये हैं । इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण कानून निम्नलिखित हैं : फैक्टरी अधिनियम, (1948 का XIII), कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम (1948 का IV), भारतीय दण्ड संहिता की धाराएँ 354 और 497, दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 488, 497; तलाक अधिनियम (1869 का IV) की धारा 10, भारतीय वयस्कता अधिनियम (1875 का XI),

---

[92] अनुच्छेद 42 : "राज्य काम की यथोचित और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिए तथा प्रसूति-सहायता के लिए उपबन्ध करेगा ।"

[93] अनुच्छेद 45 : "राज्य इस संविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की कालावधि के भीतर सब बालकों को चौदह वर्ष की अवस्था समाप्ति तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए उपबन्ध करेगा ।"

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संरक्षक और आश्रित अधिनियम (1890 का VIII), बाल विवाह प्रतिबन्ध अधिनियम (1929 का XIX)

धारा 4 अनुच्छेद 15 (1) का एक अन्य अपवाद है। इसका मन्तव्य यह है कि यदि नागरिकों के सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों अथवा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों के लिए राज्य की ओर से कुछ विशेष उपबन्ध किये जाते हैं तो वे अवैध नहीं होंगे। जैसा कि हम कह चुके हैं यह धारा सन् 1951 में अनुच्छेद 15 में जोड़ी गयी थी और इसका उद्देश्य राज्य के लिए यह अनिवार्य कर देना था कि वह सार्वजनिक शिक्षा-संस्थाओं में नागरिकों के पिछड़े हुए वर्गों, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थान सुरक्षित रखे[94] और उनके उन्नयन के लिए अन्य विशेष प्रबन्ध करे। इस उपबन्ध के फलस्वरूप राज्य ऐसे कार्य करने के लिए सक्षम हो जाता है जो अन्यथा असांविधानिक हो। इससे इन वर्गों के लोगों को यह अधिकार नहीं मिल जाता कि वे राज्य से अपने लिए विशेष व्यवस्था करने का आग्रह करें।

संविधान में पिछड़े हुए वर्गों की कहीं परिभाषा नहीं की गयी है। अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियाँ पिछड़े हुए वर्ग हैं लेकिन अनुच्छेद 16 (4) में 'पिछड़े हुए वर्गों' के साथ ही 'अनुसूचित जातियों' और 'अनुसूचित जनजातियों' शब्दों का प्रयोग हुआ है, उससे यह ध्वनित होता है कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों के अलावा भी कुछ पिछड़े हुए वर्ग हो सकते हैं। संविधान के अनुच्छेद 340 में व्यवस्था की गयी है 'राष्ट्रपति पिछड़े हुए वर्गों की दशा के अनुसंधान के लिए आयोग की नियुक्ति करेगा'। सन् 1953 में भारत सरकार ने काका साहेब कालेलकर की अध्यक्षता में इस प्रकार का एक आयोग नियुक्त किया था और उसे निम्नलिखित कार्य विचारार्थ सौंपे थे—

(क) उन कसौटियों का निर्धारण करना, जिनके आधार पर किसी वर्ग या जनसमुदाय को 'पिछड़ा' कहा जा सके,

(ख) समूचे भारत के लिए इस तरह पिछड़े हुए समुदायों की एक सूची तैयार करना, और

(ग) पिछड़े हुए वर्गों की कठिनाइयों की परीक्षा करना और उनके निवारण के उपाय सुझाना।

आयोग ने मार्च, 1955 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया पर उसने जिन कसौटियों का निर्धारण किया था, वे सरकार को इतनी अस्पष्ट और व्यापक प्रतीत हुईं कि उनका कोई विशेष व्यावहारिक महत्त्व नहीं है। मुख्य समस्या यह थी कि यदि इन कसौटियों का पालन किया जाता, तो भारत की बहुसंख्यक जनता पिछड़े वर्गों की श्रेणी में आ जाती है। इसी बीच भारत सरकार ने राज्य सरकारों को यह अधिकार दे दिया था कि वे पिछड़े वर्गों की दशा के बारे में और जाँच-पड़ताल कर सकती हैं तथा अपने आप तैयार की गयी सूचियों के अनुसार उन्हें सहायता दे सकती हैं।

संविधान ने पिछड़े हुए वर्गों, अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लाभ के लिए निम्नलिखित उपबन्ध किये हैं—

---

[94] सुदर्शन बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य, ऑल इण्डिया रिपोर्टर, 1958, आन्ध्र प्रदेश, 569।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

(1) राज्य पिछड़े हुए नागरिक वर्ग के पक्ष में जिसका प्रतिनिधित्व राज्य की राय में राज्याधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, नियुक्तियों या पदों के रक्षण के लिए उपबन्ध कर सकता है।

(2) अनुच्छेद 19 (1) ने सब नागरिकों को भारत राज्य क्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण का, भारत राज्य क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने का और सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन का अधिकार दिया है, लेकिन अनुसूचित जातियों के सन्दर्भ में राज्य ऐसे प्रतिबन्ध आरोपित कर सकता है जो उनके हितों की रक्षा के लिए आवश्यक हों।

(3) अनुच्छेद 320 (4) में निर्धारित किया गया है कि लोक-सेवा आयोग से इस सम्बन्ध में परामर्श करने की अपेक्षा न होगी कि अनुच्छेद 16 (4) को अथवा अनुच्छेद 235 के उपबन्धों को किस प्रकार कार्यान्वित किया जाना है।

(4) अनुच्छेद 330 ने निर्धारित किया है कि लोकसभा में (क) अनुसूचित जातियों के लिए (ख) असम के आदिम जाति क्षेत्रों की अनुसूचित आदिम जातियों को छोड़कर आदिम जातियों के लिए और (ग) असम के स्वायत्तशासी जिलों की अनुसूचित आदिम जातियों के लिए स्थान रक्षित रहेंगे।

(5) अनुच्छेद 332 में निर्धारित किया गया है कि प्रत्येक राज्य की विधानसभा में अनुसूचित जातियों के लिए तथा असम के आदिम जाति क्षेत्रों की अनुसूचित आदिम जातियों को छोड़कर अन्य आदिम जातियों के लिए स्थान रक्षित रहेंगे।

(6) अनुच्छेद 335 में निर्धारित किया गया है कि संघ या राज्यों के कार्यों से संसक्त सेवाओं और पदों के लिए नियुक्तियाँ करने में प्रशासन-कार्य-पटुता बनाये रखने की संगति के अनुसार अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिम जातियों के सदस्यों के दावों का ध्यान रखा जायेगा।

(7) उपर्युक्त उपबन्धों के अलावा राज्य नीति के निदेशक तत्त्वों के अन्तर्गत अनुच्छेद 46 में कहा गया है कि 'राज्य जनता के दुर्बलतर वर्गों के, विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिम जातियों के शिक्षा तथा अर्थ-सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा तथा सामाजिक अन्याय तथा सब प्रकार के शोषण से उनका संरक्षण करेगा।'

राज्याधीन नौकरी के विषय में अवसर की समता : अनुच्छेद 26

अनुच्छेद का निर्माण

सर्वश्री मुन्शी और अम्बेदकर के प्रारूपों में राज्याधीन नौकरी के विषय में अवसर-समता और धर्म, मूलवंश, रंग, जाति या भाषा के आधार पर विभेद के प्रतिषेध का सिद्धान्त निहित था। के० टी० शाह और हरनाम सिंह ने भी अपने प्रारूपों की धारा 2 और 8 में इस मूल सिद्धान्त को समाविष्ट किया था। जब 24 मार्च, 1947 को मूल अधिकार उप समिति ने इस विषय पर विचार किया था तब शाह ने अपने इस विचार पर जोर दिया था कि संविधान को न केवल राज्याधीन नौकरी के विषय में ही विभेद का प्रतिषेध करना चाहिए प्रत्युत ऐसे किसी भी उद्यम में नौकरी के विषय में विभेद का प्रतिषेध करना चाहिए जिसे राज्य की सहायता मिली हो। उप-समिति ने इस सुझाव को अस्वीकार कर दिया और उसने अपने प्रारूप

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्रतिवेदन में धारा 5 की उपधारा (1) (ख) के अन्तर्गत राज्याधीन नौकरी के मामले में समता का उपबन्ध किया। उपधारा 1 (ख) भारत सरकार अधिनियम, सन् 1935 की धारा 298 से ली गयी थी।[95] जब उप-समिति ने 14 और 15 अप्रैल, 1947 को इस उपधारा पर विचार किया, तब अल्लादि कृष्णस्वामी अय्यर ने हिन्दू धार्मिक धर्मस्व अधिनियम जैसे कानूनों की चर्चा की, जिनके अन्तर्गत कुछ नौकरियों पर केवल हिन्दुओं को ही नियुक्त किया जा सकता था। उनका सुझाव था कि इस प्रकार के उपबन्धों की रक्षा करना आवश्यक होगा। उप-समिति ने यह सुझाव स्वीकार किया और इस उपबन्ध का फिर से स्वतन्त्र धारा के रूप में आलेखन किया। उप-समिति के प्रतिवेदन में यह उपबन्ध धारा 5 के रूप में रखा गया—

'समस्त नागरिकों को—

(1) राज्याधीन नौकरी के विषयों में

(2) किसी वृत्ति, व्यापार, कारखाना या व्यवसाय के निष्पादन या संचालन में,

अवसर समता होगी।

और उपर्युक्त धारा में उल्लिखित किसी आधार पर कोई नागरिक संघ के अन्तर्गत किसी पद के लिए अपात्र न होगा और न उसे सम्पत्ति के अर्जन धारण अथवा व्ययन से अथवा किसी वृत्ति, व्यापार, कारबार या व्यवसाय के निष्पादन या संचालन से वंचित किया जायेगा।

यहाँ अन्तर्विष्ट किसी बात से ऐसी कोई विधि बनाने में बाधा न होगी जिसमें निर्धारित किया गया हो कि किसी धार्मिक या साम्प्रदायिक संस्था के कार्यों का प्रबन्ध, प्रशासन या अधीक्षण करने वाला पदाधिकारी किसी विशेष धर्म, विश्वास या सम्प्रदाय का सदस्य होगा।'[96] अल्पसंख्यक उप-समिति ने संस्तुति की कि धारा 5 में एक परन्तुक जोड़ दिया जाना चाहिए जिसके अनुसार नौकरियों में अल्पसंख्यकों को विशेष प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके। परामर्श समिति ने 21 अप्रैल, 1947 को अल्पसंख्यक उप-समिति की सिफारिशों के साथ ही साथ प्रारूप धारा पर भी विचार किया।[97] अल्लादि कृष्णस्वामी अय्यर ने धारा के पहले भाग पर आपत्ति की और सुझाव दिया कि यदि उसे सकारात्मक के स्थान पर नकारात्मक कर दिया जाए—जैसा कि सन् 1935 के अधिनियम की धारा 298 में है—तो अल्पसंख्यकों के दावों की भी पूर्ति हो जायेगी और इसके लिए अलग से कोई उपधारा नहीं जोड़नी पड़ेगी। इसके विपरीत, मुन्शी ने उप-समिति का यह विचार व्यक्त किया कि सभी व्यक्तियों की अवसर-समता के सम्बन्ध में सामान्य सिद्धान्त सकारात्मक रूप में व्यक्त किया जाना चाहिए और यदि पिछड़े हुए वर्गों के लिए कुछ अपवाद करना हो तो वह एक पृथक् उपधारा द्वारा किया जा सकता है। अम्बेदकर ने भी अल्लादि कृष्णस्वामी अय्यर से असहमति प्रकट की और सुझाव दिया कि एक परन्तुक जोड़कर अल्पसंख्यक वर्गों के लिए राज्याधीन नौकरियों में कुछ प्रतिशत पद सुरक्षित कर देने चाहिएँ। के० एम० पणिक्कर ने राज्याधीन नौकरियों में पूर्ण अवसर-समता का विरोध

---

[95] भारत सरकार अधिनियम, 1935 की धारा 298 (1) में व्यवस्था की गई थी : "महामहिम का कोई भी प्रजाजन जो भारत में बस गया है, केवल धर्म, जन्म-स्थान, वंश, रंग या इनमें से किसी के आधार पर भारत में राजमुकुट के अधीन किसी पद के लिए अपात्र न होगा।"

[96] कार्यवृत्त और प्रतिवेदन, परिशिष्ट, धारा 5।

[97] अन्तरिम प्रतिवेदन, परिशिष्ट, धारा 5।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

किया। उन्होंने कहा कि अनेक प्रान्तों में और देशी राज्यों में नौकरियों के मामले में वहाँ के निवासियों को अधिमान दिया जाता है और इसके विपरीत कुछ प्रान्तों की स्थिति ऐसी भी है कि वहाँ के लोगों को नौकरियों में उचित भाग नहीं मिला है। इस स्थिति में स्थानीय स्थितियों की ओर ध्यान दिये बिना अवसर-समता की घोषणा अव्यावहारिक है। राजगोपालाचारी का मत था कि यदि उपबन्ध का अर्थ यह हो कि किसी विशेष इकाई के लोगों के पक्ष में कुछ स्थानों का संरक्षण नहीं किया जा सकता, तो इसका चतुर्दिक् विरोध होगा। अन्त में निश्चय हुआ कि इस धारा का प्रारूप फिर से तैयार किया जाये।

22 अप्रैल, 1947 को धारा का संशोधित प्रारूप परामर्श समिति के सम्मुख आया। धारा की अपवाद धारा इस प्रकार रखी गई थी।

'यहाँ अन्तर्विष्ट किसी चीज से राज्य को ऐसे वर्गों के लिए रक्षणों की व्यवस्था करने में कोई बाधा न होगी जिनका राज्याधीन नौकरियों में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है'।

अम्बेदकर का सुझाव था कि उपर्युक्त उपबंध में 'जिनका राज्याधीन नौकरियों में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है' शब्द हटा दिए जाएँ। उपबन्ध का आलेखन इस प्रकार किया जाए।

'यहाँ अंतर्विष्ट किसी चीज से राज्य को राज्याधीन नौकरियों में ऐसे वर्गों के पक्ष में जो राज्य द्वारा विहित किए जाएँ रक्षणों की व्यवस्था कराने में बाधा न होगी'।

अम्बेदकर का विचार था कि यदि 'पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है' शब्द रखे गए तो इसका परिणाम यह हो सकता है कि जिन वर्गों के पक्ष में रक्षणों की व्यवस्था की गई, उनके बारे में न्यायालयों में कहा जा सकता है कि इन वर्गों को तो पहले से ही पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त है। अम्बेदकर यह नहीं चाहते थे कि इस विषय को न्यायिक व्याख्या का विषय बनाया जाए। अम्बेदकर की आपत्ति का समाधान करने के लिए मुंशी ने सुझाया कि उपबंध का उत्तरार्ध 'होगी' शब्द के बाद इस रूप में रखा जाये—'जिनका राज्य की सम्मति में राज्याधीन नौकरियो में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है'। यह संशोधन डा० अम्बेदकर ने स्वीकार कर लिया।[98]

परामर्श-समिति ने उपबंध को जिस रूप में स्वीकार किया था, उसके अंतरिम प्रतिवेदन में वह धारा 5 के रूप में संविधान सभा के सम्मुख आया तथा संविधान सभा ने 30 अप्रैल, 1947 को उस पर विचार किया। श्री मुंशी ने सुझाव दिया कि अवसर की समता तथा वृत्ति, व्यापार, कारबार या व्यवसाय और संपत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन से सम्बद्ध उपबंध को नौकरियों के अवसर की समता विषयक उपबंध से अलग कर धारा 8 में स्थानान्तरित कर दिया जाए। श्री मुंशी का सुझाव स्वीकार कर लिया गया।

संविधान-सभा द्वारा स्वीकृत यह धारा सांविधानिक परामर्शदाता के अक्तूबर, 1947 के प्रारूप संविधान की धारा 12 के रूप में प्रस्तुत की गई। प्रारूप समिति ने जो प्रारूप संविधान तैयार किया था, उसमें वह अनुच्छेद 10 के रूप में प्रस्तुत की गई जो इस प्रकार था—

'(1) राज्याधीन नौकरी के मामलों में सब नागरिकों को अवसर की समता होगी।

---

[98] परामर्श समिति का कार्यवृत्त, 21 अप्रैल 1947।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

(2) केवल धर्म, मूलवंश, जाति, उद्‌भव, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई नागरिक राज्याधीन किसी पद के विषय में अपात्र न होगा।

(3) इस अनुच्छेद की किसी बात से राज्य को पिछड़े हुए किसी नागरिक वर्ग के पक्ष में, जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की राय में राज्याधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, नियुक्तियों या पदों के रक्षण के लिए उपबंध करने में कोई बाधा न होगी।

(4) इस अनुच्छेद की किसी बात का किसी ऐसी विधि के प्रवर्तन पर कोई प्रभाव न होगा जो उपबंध करती हो कि किसी धार्मिक या साम्प्रदायिक संस्था के कार्य से सम्बद्ध कोई पदाधिकारी अथवा उसके शासी निकाय का कोई सदस्य किसी विशिष्ट धर्म का अनुयायी अथवा किसी विशिष्ट संप्रदाय का ही हो'।

संविधान-सभा ने 30 नवम्बर, 1948 को इस अनुच्छेद पर विचार किया। मोहम्मद ताहिर और अनन्तशयनम् आयंगर, जसपत राय कपूर, अल्लादि कृष्णस्वामी अय्यर, एच० वी० कामथ, लोकनाथ मिश्र, दामोदर स्वरूप सेठ, के० टी० शाह, हृदयनाथ कुंजरू, अजीज अहमद खाँ, कन्हैया लाल माणिक लाल मुँशी और टी० टी० कृष्णमाचारी ने अनेक संशोधन प्रस्तुत किए। अम्बेदकर ने इनमें से तीन ही संशोधन स्वीकार किए—अनन्तशयनम् आयंगर द्वारा संशोधित मोहम्मद ताहिर का संशोधन, मुँशी तथा अल्लादि कृष्णस्वामी अय्यर द्वारा संशोधित जसपत राय कपूर का संशोधन और अनन्तशनयम् आयंगर का संशोधन। अनन्तशयनम् आयंगर द्वारा संशोधित मोहम्मद ताहिर के संशोधन में कहा गया था—

धारा (1) में 'नौकरियों के सम्बन्ध में' (इन मैटर्स ऑफ एम्प्लायमेंट) शब्दों के स्थान पर 'नौकरियों या पदों पर नियुक्ति' (इन मैटर्स रिलेटिंग टु एम्प्लायमेंट टु ऑफिस) शब्द रख दिए जाएँ। धारा 2 में किसी के पश्चात् 'नौकरी या' शब्द रखे जाएँ।

जसपत राय कपूर का सुझाव था कि धारा 2 में 'जन्म' शब्द के पश्चात् 'या निवास' शब्द जोड़ दिए जाएँ। श्री कपूर का कहना था कि सारे देश के लिए एक नागरिकता का निहितार्थ यह है कि नागरिकों को देश के किसी भी भाग में नौकरी करने का अबाध अधिकार होना चाहिए। यदि कोई प्रांत चाहे तो वह यह निर्धारित कर सकता है कि वहां नौकरी करने के लिए प्रांतीय भाषा के ज्ञान की आवश्यकता होगी। लेकिन, किसी प्रांत में नौकरी के लिए इस तरह की शर्त निर्धारित करना कि वहां लम्बे समय तक निवास करना आवश्यक होगा, अनुचित है। श्री कपूर के संशोधन पर अल्लादि कृष्णस्वामी अय्यर ने एक और संशोधन प्रस्तुत किया। उन्होंने धारा (2) के बाद एक नई धारा जोड़ने का प्रस्ताव रखा जिसके फलस्वरूप संसद को ऐसी कोई विधि बनाने की शक्ति मिल जाए जो इस समय प्रथम अनुसूची में उल्लिखित किसी राज्य के अथवा उसके राज्य-क्षेत्र के किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन किसी प्रकार की नौकरी में या पद पर नियुक्ति के विषय में वैसी नौकरी या नियुक्ति के पूर्व उस राज्य के अंदर निवास विषयक कोई अपेक्षा विहित करती हो'।

प्रस्तावक ने अपने संशोधन की व्याख्या में कहा था कि कुछ पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में राज्य के भीतर निवास करने की अर्हता विहित करना आवश्यक हो सकता है। लेकिन इस सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों को अलग-अलग कानून बनाने की छूट नहीं होनी चाहिए। ज्यादा

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अच्छा यह होगा कि इस सम्बन्ध में संसद ही ऐसा कानून बनाए जो समस्त राज्यों पर[99] समान रूप से लागू हो सके।

अनन्तशयनम् आयंगर ने एक संशोधन यह सुझाया कि धारा 2 में 'अपात्र न होगा' शब्दों के बाद 'न उसके विरुद्ध विभेद किया जायेगा' शब्द जोड़ दिए जाएँ। उन्होंने बताया कि विभेद केवल आरंभिक नियुक्ति के समय ही नहीं हो सकता प्रत्युत बाद में पदोन्नति आदि के मामले में भी हो सकता है।[100]

अनुच्छेद पर मतदान के समय अम्बेदकर द्वारा स्वीकृत उपर्युक्त तीन संशोधनों के अतिरिक्त अन्य सारे संशोधन अस्वीकार कर दिए गए और अनुच्छेद 10 संविधान के अनुच्छेद 16 के रूप में स्वीकृत हो गया।

संविधान संशोधन

संविधान (सातवाँ संशोधन अधिनियम) 1956 ने भारत के क्षेत्र को दो भागों में बाँटा—राज्य और संघ राज्य-क्षेत्र। फलतः 'प्रथम अनुसूची में उल्लिखित किसी राज्य के अथवा उसके राज्य क्षेत्र में किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन किसी प्रकार की नौकरी में या पद पर नियुक्ति के विषय में वैसी नौकरी या नियुक्ति के पूर्व उस राज्य के अन्दर निवास विषयक कोई अपेक्षा विहित करती हो' शब्दों के स्थान पर निम्नलिखित शब्द रख दिए गये—'किसी राज्य अथवा संघ राज्य-क्षेत्र की सरकार अथवा उसमें किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन किस प्रकार की नौकरी में या पद पर नियुक्ति के विषय में वैसी नौकरी या नियुक्ति के पूर्व उस राज्य अथवा राज्य-क्षेत्र के अन्दर निवास विषयक कोई अर्हता विहित करती हो'।

व्याख्या और विश्लेषण

अनुच्छेद 16 की धारा 1 और 2 राज्याधीन नौकरियों या पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में सब नागरिकों को अवसर समता प्रदान करती हैं। यह अनुच्छेद 15 (1) की स्वाभाविक उपसिद्धि है। लेकिन धारा (3)–(5) ने अवसर-समता के उपर्युक्त नियम के अनेक अपवाद प्रस्तुत किए हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(1) यद्यपि भारत का कोई नागरिक अपने निवास के बावजूद राज्याधीन किसी नौकरी या पद के लिए पात्र है (धारा 2), लेकिन संसद ऐसी विधि बना सकती है जो उस राज्य की नौकरी में राज्य के अंदर निवास-विषयक अपेक्षा विहित करती हो (धारा 3)।

(2) राज्य पिछड़े हुए किसी नागरिक वर्ग के पक्ष में, जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की राय में राज्याधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, नियुक्ति या पदों के लिए उपबंध कर सकता है। (धारा 4)।

(3) धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक संस्थाओं के पद उसी धर्म अथवा सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए रक्षित किए जा सकते हैं (धारा 5)।

अनुच्छेद 16 का यह अर्थ नहीं है कि अन्य सेवा-नियोजकों की भाँति सरकार भी

---

[99] कॉंस्टीट्यूएंट असेम्बली डिबेट्स, खण्ड 7, पृ० 672–7।

[100] वही पृ० 679।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विभिन्न उम्मीदवारों के बीच चुनाव नहीं कर सकती। सरकार सरकारी कर्मचारियों के बीच अनुशासन की रक्षा के लिए शर्तें निर्धारित कर सकती है। सरकार यदि चाहे तो कुछ व्यक्तियों की विशेष शर्तों पर अनुबंध के आधार पर नियुक्ति कर सकती है।

'नियुक्ति' का अर्थ किसी पद पर नियुक्ति से होता है लेकिन 'नौकरी' के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह किसी पद से सम्बन्धित ही हो। सरकार किसी द्विपक्षीय करार द्वारा मजदूरों अथवा व्यावसायिक विशेषज्ञों (जैसे कि सोलीसिटरों) की सेवा का लाभ उठा सकती है।

'नियुक्ति' के अन्तर्गत आरम्भिक नियुक्ति से सेवा की समाप्ति तक के समस्त अवस्थान सम्मिलित हैं। प्रत्येक व्यक्ति किसी भी राज्याधीन पद के लिए आवेदन-पत्र दे सकता है और उसके आवेदन-पत्र पर योग्यता के आधार पर विचार होगा। यदि सरकार किसी विशेष व्यक्ति की नियुक्ति या पुनर्नियुक्ति के बारे में प्रतिबंध लगा देती है, तो यह प्रतिबंध अवैध माना जायेगा। किसी व्यक्ति को उसके राजनीतिक विचारों के कारण पद से वंचित नहीं किया जा सकता। तथापि, यदि उम्मीदवार किसी पद के लिए आवेदन-पत्र देता है, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि उस पद पर उसे नियुक्त किया ही जाए। अमल कुमार के मुकदमे में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया था—

'अनुच्छेद 16 (1) में कल्पित अवसर-समता का अर्थ यह नहीं है कि आवेदक को वह विशेष पद प्राप्त हो ही जाए जिसके सम्बन्ध में अनेक व्यक्तियों पर विचार किया गया हो। जब तक व्यक्ति को अन्य विचाराधीन व्यक्तियों के साथ ही अवसर प्राप्त होता रहा, तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि उसे उन अन्य व्यक्तियों के साथ अवसर-समता प्राप्त नहीं हुई जिन्हें उसकी तुलना में ज्यादा पसन्द किया गया। जहाँ भरे जाने वाले स्थानों की संख्या विचाराधीन व्यक्तियों की संख्या से कम है, वहाँ स्थिति यही होगी कि बुलाया तो ज्यादा लोगों को जायेगा लेकिन चुना थोड़े ही लोगों को जायेगा।'[101]

धारा (1) ने जो चीज सकारात्मक रूप से प्रदान की है, धारा (2) ने उसी चीज की नकारात्मक रूप से व्यवस्था की है। उसने धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, उद्भव, जन्मस्थान अथवा निवास के आधार पर विभेद का प्रतिषेध किया है। धारा (2) का क्षेत्र धारा (1) के समान ही व्यापक है।

धारा (3) ने धारा (2) के प्रवर्तन पर राज्याधीन नौकरी के विषय में निवास-विषयक अर्हता का प्रतिबन्ध आरोपित किया है। जहाँ तक संघ सरकार के अधीन नौकरी का सम्बन्ध है, किसी क्षेत्र विशेष में निवास-विषयक कोई अर्हता अपेक्षित न होगी, पर किसी राज्य अथवा संघ-राज्य क्षेत्र के अधीन नौकरी की स्थिति में संसद इस आशय का कानून बना सकती है कि वहाँ नौकरी पाने के लिए कितने वर्ष की निवास-विषयक अर्हता आवश्यक होगी। यह स्मरणीय है कि राज्यों में नौकरी पाने के लिए निवास-विषयक अर्हता का कानून बनाने का अधिकार संघ-सरकार को ही दिया गया है, राज्य विधानमण्डलों को नहीं। इसका कारण यह है कि निवास-विषयक अर्हता के बारे में समस्त राज्यों के लिए एक-सा कानून बनाया जा सके।

राज्य पुनर्गठन आयोग, सन् 1955 ने अपने प्रतिवेदन में शिकायत की थी कि विभिन्न राज्यों ने अपने से बाहर के लोगों को नौकरी से अलग रखने के लिए तरह-तरह के कानून बनाये

---

[101] उच्च न्यायालय बनाम अमल कुमार, आन्ध्र प्रदेश, 1962, उच्चतम न्यायालय, 1704।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

रखे हैं और जब तक संसद अनुच्छेद 16 (3) के अधीन सभी राज्यों पर समान रूप से लागू होने वाले किसी एकरूप कानून का निर्माण नहीं करती, तब तक राज्य विभेदकारी नीति पर चलते रहेंगे। संसद ने आयोग की सिफारिश के अनुसार लोक-सेवा नियोजन (निवास सम्बन्धी अर्हता) अधिनियम, सन् 1957 का निर्माण किया। इस अधिनियम ने केन्द्रीय सरकार को शक्ति दी कि वह आन्ध्र प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर और त्रिपुरा में अराजपत्रित पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में निवास-विषयक अर्हता निर्धारित कर सकती है। यह अधिनियम 5 वर्ष के लिए लागू किया गया था और 5 वर्ष की समाप्ति पर उसका निरसन कर दिया गया। फलतः अब किसी भी व्यक्ति को किसी राज्य में इस आधार पर वंचित नहीं किया जा सकता कि वह वहाँ का निवासी नहीं है।

धारा (4) ने राज्य को यह अधिकार दिया है कि यदि वह समझे कि पिछड़े हुए वर्गों को उसकी नौकरियों में पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है तो वह उसके पक्ष में नियुक्तियों या पदों का रक्षण कर सकता है। यह रक्षण केवल पिछड़े हुए वर्गों के पक्ष में हो सकते हैं, किसी सम्प्रदाय के पक्ष में नहीं। रक्षण केवल नियुक्तियों के सम्बन्ध में हो सकते हैं, अन्य किन्हीं सेवा शर्तों के सम्बन्ध में नहीं। रक्षण थोड़े से स्थानों का, अधिक से अधिक 50% स्थानों का, ही हो सकता है।[102] उच्चतम न्यायालय के शब्दों में—

'नागरिकों के पिछड़े हुए वर्गों के उपयुक्त प्रतिनिधित्व की समस्या पर न्यायपूर्ण तथा वस्तुपरक दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए तथा पिछड़े हुए वर्गों के दावों तथा अन्य कर्मचारियों के दावों और प्रशासन की कुशलता की अपेक्षाओं के बीच विवेकशील सन्तुलन की स्थापना का प्रयास किया जाना चाहिए।'[103]

पिछड़े हुए वर्गों के सदस्य उन पदों के लिए मुकाबला कर सकते हैं जो रक्षित नहीं है और उन पर अपनी योग्यता के आधार पर चुने जा सकते हैं।[104]

संविधान ने प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय को राज्य-निर्मित विधियों के अनुसार अपनी सम्पत्ति के प्रशासन का अधिकार दिया है, अतः राज्य को यह अधिकार है कि वह इस प्रकार के प्रशासन से सम्बद्ध नियुक्तियों के बारे में कानून बना सकता है। वर्तमान धारा में कहा गया है कि राज्य ऐसी विधियाँ बनाते समय यह निर्धारित कर सकता है, कि इन पदों पर विशिष्ट धर्म अथवा सम्प्रदाय के व्यक्ति ही नियुक्त किये जायेंगे।

अस्पृश्यता का अन्त : अनुच्छेद 17

अनुच्छेद का निर्माण

मुन्शी ने मूल अधिकारों के सम्बन्ध में जो प्रारूप तैयार किया था, उसमें अस्पृश्यता के अन्त के सम्बन्ध में एक धारा अनुच्छेद 3 (4 क) थी—

---

[102] बालाजी बनाम मैसूर राज्य, आल इण्डिया रिपोर्टर, 1963 उच्चतम न्यायालय 649। डा० अम्बेदकर ने संविधान-सभा में कहा था कि यदि 70 प्रतिशत स्थानों का रक्षण किया गया तो यह अनुच्छेद 16 (4) का दुरुपयोग होगा।

[103] जनरल मैनेजर बनाम रंगाचारी 2 एस० सी० आर० 586।

[104] गिरि बनाम डोरा, आल इण्डिया रिपोर्टर, 1959, सुप्रीम कोर्ट, 1318।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

'अस्पृश्यता का अन्त किया जाता है और उसका आचरण संघ की विधि के अनुसार दण्डनीय है।'

अम्बेदकर के प्रारूप के अनुच्छेद 2 की धारा 1 में कहा गया था कि—

'श्रेणी, जन्म, व्यक्ति, परिवार, धर्म या धार्मिक प्रथा और रीति-रिवाज से उपजे किसी विशेषाधिकार अथवा निर्योग्यता का अन्त किया जाता है।'[105]

मूल अधिकार उपसमिति ने 29 मार्च, 1947 को इस धारा पर विचार किया और अस्पृश्यता के सम्बन्ध में मुन्शी के प्रारूप को स्वीकार किया और उसमें 'संघ की विधि के अनुसार दण्डनीय है' शब्दों के स्थान पर 'अपराध होगा' शब्द रखे। श्री बेनेगल नरसिंह राव ने कहा कि अस्पृश्यता के व्यवहार का क्या अर्थ है, इसकी विधि द्वारा व्याख्या करनी होगी।

उपसमिति ने 14 अप्रैल, 1947 को उपलब्ध समीक्षाओं के आलोक में अपने प्रारूप प्रतिवेदन पर विचार किया। उसने 'उसका' शब्दों के बाद 'किसी भी रूप में' शब्दों को जोड़ने का निर्णय किया।

उपसमिति ने अपने प्रतिवेदन में धारा को जिस रूप में रखा था, उस पर परामर्श-समिति ने 21 अप्रैल, 1947 को विचार किया। श्री जगजीवन राम ने कहा कि साधारणतया अस्पृश्यता हिन्दू समाज में प्रचलित है और समिति को यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि क्या वह हिन्दुओं, ईसाइयों तथा अन्य जातियों के बीच से अस्पृश्यता का अन्त कर देना चाहती है या उसका उद्देश्य अन्तःसाम्प्रदायिक क्षेत्र से भी अस्पृश्यता का अन्त कर देना है। समिति के सदस्यों की आम राय यह थी कि धारा का लक्ष्य अस्पृश्यता के प्रत्येक रूप का अन्त कर देना था। श्री के० एम० पणिक्कर और राजगोपालाचारी के सुझावों पर परामर्श-समिति ने अस्पृश्यता-सम्बन्धी धारा को निम्न रूप में संशोधित किया—'अस्पृश्यता का किसी भी रूप में अन्त किया जाता है और उससे उपजी किसी भी निर्योग्यता का आरोप अपराध होगा।'[106]

29 अप्रैल, 1947 को यह धारा संविधान-सभा के सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत हुई। सर्वश्री एच० वी० कामथ, एस० नागप्पा और पी० कुनहिरमान ने तीन संशोधन रखे जिन्हें प्रस्तावक बल्लभ भाई पटेल ने अस्वीकार कर दिया।[107]

सांविधानिक परामर्शदाता के अक्तूबर, 1946 के प्रारूप संविधान में 'अपराध होगा' शब्दों के बाद 'जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा' शब्द जोड़ दिये गये थे।[108] प्रारूप समिति ने 30–31 अक्तूबर, 1947 को अस्पृश्यता-उपबन्ध पर विचार किया। फरवरी, 1948 के प्रारूप संविधान में यह उपबन्ध अनुच्छेद 11 के रूप में प्रस्तुत हुआ :

'अस्पृश्यता' का अन्त किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। 'अस्पृश्यता' से उपजी किस निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा।

जब प्रारूप संविधान विभिन्न क्षेत्रों के विद्वानों की राय जानने के लिए परिचालित

---

[105] मुन्शी का प्रारूप और अम्बेदकर का प्रारूप।

[106] कॉन्स्टीट्यूएंट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 3, पृ० 419–20।

[107] परामर्श समिति का कार्यवृत्त, 21 अप्रैल, 1947।

[108] धारा 13।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

किया गया, तब अस्पृश्यता-सम्बन्धी उपबन्ध पर आर० आर० दिवाकर और एस० वी० कृष्ण-मूर्ति राव, एस० नागप्पा तथा उपेन्द्रनाथ बर्मन के संशोधनों के अतिरिक्त अनेक ज्ञापन प्राप्त हुए। प्रारूप समिति ने उन सब पर विचार करने के उपरान्त अस्पृश्यता-धारा को अपने द्वारा आलोकित रूप में ही बनाये रखने का निर्णय किया।

29 नवम्बर, 1948 को इस धारा पर संविधान-सभा में वाद-विवाद हुआ। नाजिरुद्दीन अहमद और के० टी० शाह ने 'अस्पृश्यता' की परिभाषा करने का आग्रह किया। अन्य सदस्यों—वी० आई० मुनिस्वामी, मनमोहन दास, सान्तानु कुमार दास और श्रीमती दाक्षायणी वेलायुधन ने इस उपबन्ध का स्वागत किया। अम्बेदकर ने वाद-विवाद का उत्तर नहीं दिया। संविधान-सभा ने, 'महात्मा गाँधी की जय' के नारों के बीच अस्पृश्यता धारा को संविधान के अनुच्छेद 17 के रूप में स्वीकार किया।

व्याख्या और विश्लेषण

अस्पृश्यता का उन्मूलन महात्मा गाँधी के रचनात्मक कार्यक्रम का एक प्रमुख अंग था। अनुच्छेद 17 में महात्मा गाँधी के इस आदर्श को व्यावहारिक रूप से दिया गया। तथापि संविधान में 'अस्पृश्यता' शब्द की कहीं व्याख्या नहीं की गयी, यह मान लिया गया कि इसका अर्थ सभी को ज्ञात है। वस्तु-स्थिति यह है कि देश के विभिन्न भागों में अस्पृश्यता के अलग-अलग रूप पाये जाते हैं पर उनका समान लक्षण यह है कि अस्पृश्य व्यक्ति को अनादर की दृष्टि से देखा जाता हो।

संक्षेप में, 'अस्पृश्यता' का अर्थ वह निर्योग्यता है जो किसी व्यक्ति पर केवल इसलिए थोप दी जाती है कि उसका जन्म किसी नीची जाति में हुआ है। यद्यपि अस्पृश्यता हिन्दू समाज का कोढ़ है लेकिन संयुक्त राज्य अमरीका, दक्षिण अफ्रीका अथवा यूरोप के अन्य देशों में पाया जाने वाला जातीय भेदभाव भी अस्पृश्यता का ही एक रूप है। संसद ने अनुच्छेद 35 से प्राप्त शक्ति के आधार पर अस्पृश्यता अपराध अधिनियम, सन् 1955 (सन् 1955 का XXII) का निर्माण किया है। इस अधिनियम ने भी अस्पृश्यता की परिभाषा नहीं दी है, परन्तु यह बता दिया है कि अस्पृश्यता के क्या विविध रूप हो सकते हैं और उनके लिए क्या दण्ड दिये जाने चाहिएँ।

खिताबों का अन्त : अनुच्छेद 18

अनुच्छेद का निर्माण

श्री के० टी० शाह ने मूल अधिकारों के सम्बन्ध में जो नोट तैयार किया था, उसमें खिताबों, सम्मानों, उपाधियों और विशेषाधिकारों के अन्त के सम्बन्ध में पाँच धाराएँ थीं। उप-समिति की 25 मार्च, 1947 की बैठक में इन धाराओं पर विचार आरम्भ हुआ तथा शाह ने खिताबों तथा खिताबधारियों के विशेषाधिकारयुक्त वर्ग के अन्त का आग्रह किया। कुछ विरोधों के बावजूद उप-समिति ने बहुमत से खिताबों के प्रदान तथा स्वीकृति के सम्बन्ध में शाह के उप-बन्ध प्रारूप को स्वीकार कर लिया।[109] यह उपबन्ध थोड़े-से संशोधनों के साथ प्रारूप प्रति-

[109] कार्यवृत्त, 25 मार्च, 1947; परामर्श समिति का कार्य-वृत्तान्त भी देखिये, 21 अप्रैल, 1971।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

वेदन की धारा 7 और उप-समिति के अन्तिम प्रतिवेदन की धारा 8 के रूप में स्वीकार कर लिया गया :

'पद अथवा व्यवसाय सूचक खिताबों के सिवाय और कोई खिताब संघ प्रदान नहीं करेगा ।'

संघ का कोई नागरिक और राज्य के अधीन लाभ-पद या विश्वास-पद पर आसीन कोई व्यक्ति किसी विदेशी राज्य से किसी रूप में कोई भेंट, उपलब्धि, पद या खिताब संघ की सहमति के बिना स्वीकार न करेगा ।'

परामर्श समिति ने 21 अप्रैल, 1947 को इस धारा पर विचार किया । धारा के पहले भाग पर अनेक प्रभावशाली सदस्यों ने आपत्ति की । श्री राजगोपालाचारी ने कहा कि जो लोग जीवन के किसी क्षेत्र में विशेष उत्कर्ष का परिचय दें, उन्हें राज्य की ओर से मान्यता प्राप्त होनी चाहिए । अल्लादि कृष्णस्वामी अय्यर और एन० राजस्वामी ने राजगोपालाचारी का समर्थन किया ; लेकिन शाह इस बात पर अड़े रहे कि खिताबों का देना समता-अधिकार के विरुद्ध है । के० एम० पणिक्कर ने बीच का मार्ग यह सुझाया कि उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाले खिताबों तथा राज्य की ओर से योग्यता की स्वीकृति के लिए पुरस्कार के रूप में दिये जाने वाले खिताबों के बीच भेद किया जाना चाहिए । उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाले खिताबों का अन्त किया जा सकता है । शाह ने पणिक्कर के सुझाव को स्वीकार कर लिया । समिति ने इस समूचे उपबन्ध को निम्नलिखित रूप में फिर से प्रारूप तैयार किया और उसे संविधान-सभा को दिये जाने वाले समिति के अन्तरिम प्रतिवेदन में धारा 7 के रूप में प्रस्तुत किया गया—

'उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाला कोई खिताब संघ नहीं प्रदान करेगा ।

संघ का कोई नागरिक या राज्य के अधीन लाभ-पद या विश्वास-पद पर आसीन कोई व्यक्ति किसी विदेशी राज्य से किसी रूप में कोई भेंट, उपलब्धि या पद संघ सरकार की सम्मति के बिना स्वीकार न करेगा ।'

यह धारा 30 अप्रैल, 1947 को संविधान-सभा के सम्मुख विचार के लिए प्रस्तुत की गयी । विट्ठलभाई पटेल ने बताया कि खिताब देश के सार्वजनिक जीवन को भ्रष्ट कर रहे हैं। अतः एक मूल अधिकार के रूप में उनका अन्त कर देना चाहिए । धारा के पहले पैराग्राफ के बारे में उन्होंने कहा कि यद्यपि इसे पर्याप्त वाद-विवाद के पश्चात् स्वीकार किया गया था, पर उत्तराधिकार योग्य शब्द के बारे में पाये जाने वाले मतभेद को देखते हुए यह निर्णय किया गया था कि सभा में एक औपचारिक संशोधन द्वारा इस शब्द को हटा दिया जायेगा । श्री एम० आर० मसानी ने इस आशय का संशोधन प्रस्तुत किया जिसे संविधान-सभा ने स्वीकार कर लिया ।

यह उपबन्ध सांविधानिक परामर्शदाता के प्रारूप संविधान में धारा 14 और प्रारूप समिति द्वारा तैयार किये गये प्रारूप संविधान में कुछ संशोधन सहित निम्न रूप में उपस्थित किया गया—

(1) कोई खिताब राज्य प्रदान नहीं करेगा ।

(2) भारत का कोई नागरिक किसी विदेशी राज्य से कोई खिताब स्वीकार नहीं करेगा ।

(3) राज्य के अधीन लाभ-पद या विश्वास-पद पर आसीन कोई व्यक्ति किसी विदेशी

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

राज्य से या के अधीन किसी रूप में कोई भेंट, उपलब्धि या पद राष्ट्रपति की सम्मति के बिना स्वीकार न करेगा ।

सांविधानिक परामर्शदाता द्वारा प्रस्तावित उपबन्ध पर विचार करते समय एक अवस्थान पर प्रारूप समिति ने यह सोचा था कि धारा में एक परन्तुक इस आशय का जोड़ दिया जाये कि देशी राज्यों के नरेशों का यह अधिकार बना रहेगा कि वे अपने प्रदेशों में बसने वाले नागरिकों को खिताब प्रदान कर सकें । लेकिन बाद में समिति ने इस उपबन्ध को त्याग देने का ही निश्चय किया ।[110]

प्रारूप समिति को जो विभिन्न सुझाव, संशोधन तथा टिप्पणियाँ प्राप्त हुई थीं, उनके आधार पर उसने प्रारूप अनुच्छेद की धारा (1) को निम्नलिखित रूप में आलेखित करने का निर्णय किया—

'खिताब या जन्म के अन्य विशेषाधिकार राज्य प्रदान नहीं करेगा ।'

'विशेष समिति ने इस धारा में 'खिताब' शब्द के पहले 'आनुवंशिक' शब्द और जोड़ दिया ।

प्रारूप अनुच्छेद 12 पर संविधान-सभा में 30 नवम्बर, 1948 को विचार हुआ। इस अवसर पर तीन संशोधन प्रस्तुत किये गये जिनमें श्री टी० टी० कृष्णमाचारी का यह संशोधन कि 'कोई खिताब' शब्दों से पहले 'सेना या विद्या-सम्बन्धी उपाधि के सिवाय' शब्द जोड़ लिए जायें, स्वीकार कर लिया गया ।[111] बाद में प्रारूप समिति ने धारा (3) को धारा (3) और (4) में विभक्त कर दिया तथा संविधान-सभा ने दिसम्बर, 1948 को प्रारूप अनुच्छेद 12 को संविधान के अनुच्छेद 18 के रूप में स्वीकार कर लिया ।

व्याख्या और विश्लेषण

यह लोकतन्त्रात्मक समता के सिद्धान्त का क्रान्तिकारी प्रयोग है । इसका उद्देश्य राज्य की खिताब देने की शक्ति पर अंकुश लगाना है जिससे देश के सार्वजनिक जीवन को भ्रष्ट होने से बचाया जा सके । ब्रिटिश सरकार ने अपने शासनकाल के अन्तिम दिनों में बहुत से भारतीयों को अनेक प्रकार के खिताब देकर अपने प्रति निष्ठावान् बना लिया था । किन्तु सन् 1947 के बाद ब्रिटिश सरकार ने भी यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया था कि ब्रिटिश भारत के नागरिकों को सैनिक योग्यता के सिवाय और किसी आधार पर कोई खिताब नहीं दिया जायेगा । फलतः सन् 1947 तथा वर्तमान संविधान के लागू होने तक भारत के नागरिकों को सेना और विद्या-सम्बन्धी उपाधि के अलावा और कोई खिताब नहीं दिया गया । अनुच्छेद 18 का उद्देश्य इसी स्थिति को बनाये रखना था ।

धारा (1) राज्य के सन्दर्भ में एक निषेधाज्ञा के समान है । राज्य नागरिकों को सेना या विद्या-सम्बन्धी उपाधि के अलावा और कोई खिताब नहीं दे सकता । धारा (2) से (4) तक विदेशी राज्यों के सम्बन्ध में हैं । धारा (2) ने निर्धारित किया है कि भारत का कोई नागरिक किसी विदेशी राज्य से कोई खिताब स्वीकार नहीं करेगा । धारा (3) उन विदेशियों

---

[110] कार्यवृत्त, 30–31 अक्तूबर, 1947, 19–20 जनवरी, 1948 ।

[111] कॉंस्टीट्यूएंट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द, 7, पृ० 704–7 ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

के सम्बन्ध में है जो भारत में राज्य के अधीन लाभ या विश्वास का पद धारण किये हुए हैं। ऐसे व्यक्ति राष्ट्रपति की सम्मति के बिना विदेशी राज्य से कोई खिताब स्वीकार नहीं कर सकते। धारा (4) भारत के अथवा दूसरे देशों के उन नागरिकों के ऊपर लागू होती है जो भारत में राज्य के अधीन लाभ-पद या विश्वास-पद पर आसीन हैं। ऐसे व्यक्ति किसी विदेशी राज्य से या उसके अधीन किसी रूप में कोई भेंट, उपलब्धि या पद राष्ट्रपति की सम्मति के बिना स्वीकार नहीं कर सकते।

भारत सरकार ने विक्टोरिया क्रॉस जैसे वीरता सूचक पुरस्कारों के स्थान पर परम-वीर चक्र, महावीर चक्र, वीर चक्र और अशोक चक्र जैसी सैनिक उपाधियों का सृजन किया है। सरकार ने सन् 1954 में विशिष्ट व्यक्तियों की सार्वजनिक सेवाओं को मान्यता देने के लिए भारत रत्न, पद्म विभूषण, पद्म भूषण और पद्म श्री जैसे अलंकरणों का भी प्रवर्तन किया।

समापन

भारतीय संविधान के समता-अधिकार विषयक उपबन्ध व्यापक हैं और उनका उद्देश्य देश में सामाजिक ऊँच-नीच का भेद समाप्त कर सच्चे अर्थों में समतायुक्त समाज की स्थापना करनी है। लेकिन संविधान लागू होने के बाद से इन उपबन्धों का उस भावना से पालन नहीं हुआ है जिससे उनका निर्माण हुआ था। उदाहरण के लिए अनुच्छेद 18 ने निर्धारित किया है कि किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता अथवा विधियों के समान संरक्षण से राज्य द्वारा वंचित नहीं किया जायेगा। इसका अभिप्राय यह है कि इस अनुच्छेद के अनुसार राज्य तो विभेद नहीं कर सकता लेकिन व्यक्ति विभेद कर सकते हैं। पुनः यदि नागरिकों को अपने मूल अधिकारों का प्रवर्तन कराने के लिए न्यायालयों की शरण में जाने की सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं, तो यह अधिकार निरर्थक हो जाता है। जब तक जनसाधारण को सुगमता से वैधिक सहायता नहीं मिलती, तब तक संविधान में इन अधिकारों के समावेश से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। भारत में भी इंग्लैण्ड के वैधिक सहायता और परामर्श अधिनियम, सन् 1949 जैसे किसी विधान की आवश्यकता है। अनुच्छेद 15 का महत्त्व यह है कि वह मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर राज्य द्वारा किये जाने वाले प्रत्येक प्रकार के विभेद का प्रतिषेध करता है। धर्म के आधार पर विभेद का प्रतिषेध करने से देश में धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना का पथ प्रशस्त होता है। मूलवंश के आधार पर विभेद का वर्जन होने से भारत उन देशों से आगे बढ़ जाता है जहाँ मूलवंश के आधार पर अब भी विभिन्न लोगों के साथ भेद-भाव बरता जाता है। एक भारतीय राष्ट्र के विकास में जातिवाद प्रचण्ड बाधा रही है। जातिवाद और जन्म-स्थान के आधार पर विभेद न होने देने का आश्वासन प्रादेशिकता की भावना को अवरुद्ध करने तथा राष्ट्रीय एकीकरण की सिद्धि में सहायक हो सकता है। अनुच्छेद 16 ने राज्याधीन नौकरियों के विषय में सब नागरिकों को अवसर की समता प्रदान की है और आश्वासन दिया है कि धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, उद्भव, जन्म-स्थान, निवास के आधार पर किसी नागरिक के लिए राज्याधीन किसी नौकरी या पद के विषय में अपात्रता न होगी और न विभेद किया जायेगा। व्यवहार में इस अनुच्छेद का सच्ची भावना से पालन नहीं हुआ है। राज्य पुन-र्गठन आयोग ने अपने प्रतिवेदन में शिकायत की थी कि अनेक राज्य अपने यहाँ केवल उन्हीं

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

लोगों को नौकरी देते हैं जो वहाँ के स्थायी निवासी हैं ।[112] केन्द्रीय सरकार ने लोक-सेवा नियोजन (निवास विषयक आवश्यकता) अधिनियम, सन् 1957 द्वारा देश के विभिन्न भागों में विद्यमान निवास-विषयक विधियों को रद्द करने का प्रयत्न किया है । अस्पृश्यता के अन्त से हिन्दू सामाजिक जीवन की सदियों से चली आ रही एक कुरीति धीरे-धीरे दूर होती जा रही है । संविधान के अनुच्छेद 18 द्वारा खिताबों का अन्त कर दिया था, पर सरकार ने भारत-रत्न, पद्म विभूषण, पद्मश्री, आदि अलंकरणों का आरम्भ कर इस अनुच्छेद की भावना का उल्लंघन किया है ।

---

[112] राज्य पुनर्गठन आयोग का प्रतिवेदन, पैरा 686 और 787 ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सांविधानिक तथा संसदीय घटना-क्रम

(अक्तूबर 1970—मार्च 1971)

जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी

यह छमाही भारतीय राजनीति के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई है। 20 दिसम्बर, 1970 को राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि ने लोकसभा को उसके कार्यकाल समाप्त होने के एक वर्ष पूर्व ही भंग कर दिया जिसके परिणामस्वरूप मार्च, 1971 में लोकसभा के नए चुनाव हुए और सत्तारूढ़ कांग्रेस दल स्पष्ट बहुमत के साथ लोकसभा में आया। साथ ही साथ पश्चिमी बंगाल, तमिलनाडु व उड़ीसा विधानसभाओं के भी मध्यावधि चुनाव हुए और देश की राजनीति ने नया रंग बदला। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से भी यह काल बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा, क्योंकि पाकिस्तान में चुनाव हुए, जिसमें अवामी लीग को नेशनल असेम्बली तथा पूर्व बंगाल विधानसभा में प्रचण्ड बहुमत प्राप्त हुआ। परन्तु चुने हुए प्रतिनिधियों को शासन नहीं दिया गया और दमन का दौर-दौरा आरम्भ हुआ। इसके परिणामस्वरूप, पूर्व बंगाल के प्रतिनिधियों ने बांगला देश के स्वतन्त्र गणतन्त्र की घोषणा की और पाकिस्तान से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया।

केन्द्र

संसद

चतुर्थ लोकसभा का शरदकालीन अधिवेशन 9 नवम्बर को प्रारम्भ हुआ और 18 दिसम्बर को समाप्त हुआ। इस छोटे से काल में लोकसभा ने बहुत से ऐसे काम किए जो पहले नहीं किए गए थे। 18 नवम्बर को लोकसभा ने श्री नाथपाई के प्रस्ताव पर यह निर्णय किया कि मध्य प्रदेश के दो पुलिस अधिकारियों—श्री के० पद्मनाभन, डिप्टी कमिश्नर पुलिस, तथा श्री० एन० पी० चौबे, सब-इन्स्पेक्टर पुलिस को 27 मई, 1970 को नागपुर रेलवे स्टेशन पर स्वतन्त्र दल के संसद-सदस्य, श्री के० एम० कौशिक, के साथ मारपीट करने तथा उनको गाली देने और इस प्रकार संसद का अपमान करने के अपराध में सदन के समक्ष बुलाकर प्रताड़ित किया जाए। इस प्रस्ताव की विशेषता यह थी कि इसे विशेषाधिकार समिति के समक्ष नहीं भेजा गया और सदन के सीधे प्रस्ताव के आधार पर दोनों अधिकारियों को बुला दिया गया। दोनों अधिकारियों ने जब अपनी वर्दी में आकर सदन की 'बार' के समक्ष सेल्यूट किया और सदन तथा संसद के प्रति किए गए व्यवहार के लिए क्षमा माँगी तो अध्यक्ष ने यह निर्णय दिया कि अब इस मामले को समाप्त समझा जाए। इसके थोड़े दिन पश्चात् ही लोकसभा में एक अन्य

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अधिकारी, श्री एस० सी० मुखर्जी, बुलाए गए और उनको अध्यक्ष द्वारा प्रताड़ित किया गया। 2 दिसम्बर को यह प्रश्न उठाया गया कि श्री मुकर्जी ने 1960 में, जबकि वे उपनियन्त्रक, लोहा व इस्पात, थे, प्यारेलाल अमीनचन्द नामक फर्म को दिए गए लाइसेंसों की जाँच के समय लोकसभा की लोक लेखा समिति को गलत सूचना दी थी। जब लोक लेखा समिति की एक अन्य रिपोर्ट में यह पाया गया कि श्री मुखर्जी ने गलत सूचना दी थी तो फिर श्री मुखर्जी को सदन के समक्ष बुलाकर प्रताड़ित किया गया। लोकसभा के इतिहास में यह पहला अवसर था, जबकि किसी वरिष्ठ अधिकारी को बुलाकर इस प्रकार प्रताड़ित किया गया। इसी अधिवेशन में संगठन-कांग्रेस के श्री फणि गोपाल सेन ने एक समाचारपत्र के खिलाफ यह शिकायत की कि उस समाचारपत्र ने प्रिवी-पर्स विधेयक पर हुए मतदान में दोहरी वोटिंग के सम्बन्ध में आधा समाचार ही छापा जिससे उनकी हानि हुई। परन्तु अध्यक्ष ने इस पर विशेषाधिकार भंग की अनुमति नहीं दी।

लोकसभा में 11 नवम्बर को ही पश्चिमी बंगाल की स्थिति को लेकर सरकारी व विरोधी दलों में पारस्परिक शक्ति का प्रदर्शन हुआ। एक अध्यापिका, श्रीमती परुल बोस पर नक्सलवादियों के आक्रमण के फलस्वरूप मार्क्सवादी दल के उपनेता, श्री पी० राममूर्ति ने 'काम-रोको प्रस्ताव' रखा। यह प्रस्ताव तो पक्ष में 39 और विपक्ष में 192 मत आने के कारण स्वीकृत न हो सका, परन्तु पश्चिमी बंगाल की बिगड़ती हुई आंतरिक स्थिति पर सदन में चर्चा अवश्य हुई। लोकसभा के इस अधिवेशन में मेघालय और दिल्ली को राज्य स्तर देना, खाद्यान्नों के बढ़ते मूल्य, उड़ीसा में दूसरे इस्पात कारखाने की स्थापना, सोवियत संघ द्वारा भारत-चीन-सीमा के गलत नक्शे बनाने, राज्यपालों का पद समाप्त करने, बेकारी को दूर करने, आदि के प्रश्न उठे। लोकसभा में इस बात की माँग की गयी कि उत्तर प्रदेश और बिहार विधानसभाओं द्वारा विधान-परिषदों को समाप्त करने वाले प्रस्तावों को कार्यान्वित किया जाए। इस सम्बन्ध में विधिमन्त्री की ओर से यह बताया गया कि दोनों राज्यों में विधानसभाओं ने बाद में अपने रुख में परिवर्तन किया है। इस सत्र में बहुत से विधेयक पास किए गए, जिसमें प्रमुख थे—हिमाचल प्रदेश को राज्य का दर्जा देना, केन्द्रीय श्रम कानूनों को जम्मू-कश्मीर में प्रवर्त्तित करने वाला विधेयक। एडवोकेट विधेयक वापिस ले लिया गया।

राज्यसभा में भी प्रायः उन्हीं विषयों पर विचार हुआ जिन पर लोकसभा में हुआ था। राज्यसभा में श्री राजनारायण ने उच्चतम न्यायालय के विरुद्ध एक विशेषाधिकार का प्रश्न रखा, क्योंकि उच्चतम न्यायालय ने उन्हें हिन्दी में बहस करने की अनुमति नहीं दी। परन्तु उस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया गया। 27 नवम्बर को राजाओं के प्रिवीपर्स के निर्णय को लेकर उच्चतम न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश के विरुद्ध बहुत सी बातें कही गयी थीं। लेकिन उन्हें सभाध्यक्ष के आदेश से कार्यवाही से निकाल दिया गया। इस काल में लोकसभा में 13 गैर-सरकारी सदस्यों के विधेयक तथा राज्यसभा में ऐसे 8 विधेयक उपस्थित किए गए। लोकसभा ने 11 दिसम्बर को आचार्य कृपलानी के इस विधेयक को अस्वीकार कर दिया कि सरकार अलंकरण न दे। श्री अर्जुन अरोड़ा का औद्योगिक विकास नियन्त्रण विधेयक (संशोधन) भी अस्वीकार कर दिया गया। लोकसभा की याचिका समिति ने यह सिफारिश की कि मत देने की उम्र 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर दी जाए और इसके लिए संविधान की धारा 326 में संशोधन किया जाए। लोकसभा नियम-समिति ने 9 दिसम्बर को यह निर्णय दिया कि

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संविधान संशोधन विधेयकों को पारित करने के लिए विधेयक के अन्तिम चरण में दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता है। इस प्रश्न को श्री मधु लिमये ने 8 मई को उठाया था। समिति ने यह भी निर्णय दिया कि नियम, 155 और 156 हटा दिए जाएँ तथा नियम 157 व 158 में परिवर्तन किया जाए। समिति की यह भी राय थी कि संविधान का संशोधन करते समय प्रत्येक विषय के लिए पृथक्-पृथक् विधेयक होना चाहिये।

मध्यावधि चुनाव

राष्ट्रपति ने 27 दिसम्बर, 1970 को लोकसभा भंग कर दी। यह लोकसभा तीन वर्ष व 285 दिन तक रही। जनवरी और फरवरी के महीने चुनाव आन्दोलन में लगे और 1 मार्च से लेकर 10 मार्च तक लोकसभा के 515 स्थानों का चुनाव हो गया। इन चुनावों में सत्तारूढ़ कांग्रेस को दो-तिहाई बहुमत मिला और उसने 350 स्थान प्राप्त किए। मुख्य विरोधी दल के रूप में मार्क्सवादी साम्यवादी दल 25 स्थान प्राप्त कर प्रथम स्थान पर आया। उसके पश्चात् द्रमुक और साम्यवादी दल को 23–23 स्थान मिले और जनसंघ को 22, संगठन कांग्रेस को 16, तेलंगाना प्रजा समिति को 10, स्वतन्त्र दल को 8, मुस्लिम लीग को 4, संसोपा को 3, क्रान्तिकारी समाजवादी दल को 3, प्रसोपा को 2 तथा अन्य दलों को और निर्दलीय सदस्यों को कुल मिलाकर 26 स्थान प्राप्त हुए। पिछली लोकसभा में प्रमुख विरोधी दल के रूप में संगठन कांग्रेस, स्वतन्त्र तथा जनसंघ दलों को जो स्थान प्राप्त था वह उनसे छिन गया। संसोपा और प्रसोपा की शक्ति भी अत्यन्त क्षीण हो गयी।

18 मार्च को प्रधानमन्त्री ने अपना नया मन्त्रिमण्डल बनाया जिसमें श्री राजबहादुर, श्री मुइनुलहक्क चौधरी, श्री सिद्धान्त शंकर राय, श्री एच० आर० गोखले, और श्री मोहन कुमारमंगलम् मन्त्रिमण्डल के नए सदस्य बनाए गए। मन्त्रिमण्डल में मन्त्रिमण्डल स्तर के 13 मन्त्रियों के अतिरिक्त 15 राज्यमन्त्री व 8 उपमन्त्री भी नियुक्त किए गए। श्री गुरदयाल सिंह ढिल्लों 22 मार्च को पुनः लोकसभा के अध्यक्ष चुने गए और श्री जी० जी० स्वैल 27 मार्च को उपाध्यक्ष निर्वाचित हुए। दोनों का चुनाव निर्विरोध हुआ। राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि ने 23 मार्च को संसद के दोनों सदनों के समक्ष अभिभाषण दिया जिसमें सरकार की नई नीतियों की घोषणा की गयी। उसी दिन रेल मन्त्री श्री के० हनुमन्तैया ने सन् 1971–72 के लिए अन्तरिम रेल-बजट और दूसरे दिन वित्तमन्त्री श्री चव्हाण ने सन् 1971–72 के लिए 5733 करोड़ रुपये का अन्तरिम बजट प्रस्तुत किया, जिसमें 240 करोड़ रुपये का घाटा दिखाया गया था। रेल-बजट में भी 33·12 करोड़ का घाटा दिखाया गया।

उच्चतम न्यायालय

इस काल में उच्चतम न्यायालय भी महत्त्वपूर्ण निर्णयों और कार्रवाइयों का क्षेत्र रहा। उच्चतम न्यायालय ने 16 दिसम्बर को एक निर्णय देकर राजाओं के प्रिवीपर्स तथा विशेषाधिकारों को समाप्त करने वाला राष्ट्रपति का आदेश अवैध घोषित कर दिया। इसमें प्रधान न्यायाधीश, श्री हिदायतुल्ला, ने यह भी माना कि जेब-खर्च सम्पत्ति की परिभाषा में आता है। न्यायालय ने निर्णय दिया कि राष्ट्रपति का आदेश संविधान की धारा 366 (22) के विपरीत था। इसलिए न्यायालय उसे रद्द कर सकता है। इस निर्णय के अगले दिन ही प्रधान न्यायाधीश,

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

श्री हिदायतुल्ला, सेवानिवृत्त हो गए और उनके स्थान पर श्री जे० सी० शाह भारत के प्रधान न्यायाधीश हुए। उन्होंने भी 22 जनवरी को अवकाश-ग्रहण कर लिया और उनके स्थान पर न्यायमूर्ति श्री एस० एम० सीकरी प्रधान न्यायाधीश बने।

प्रधान चुनाव आयुक्त, श्री एस० पी० सेन-वर्मा, ने 12 जनवरी को यह निर्णय किया कि जिस कांग्रेस के अध्यक्ष श्री जगजीवनराम हैं, वही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस है और उसे ही उन्होंने दो बैलों की जोड़ी का चुनाव-चिन्ह दिया। उनका यह मत था कि बहुमत के आधार पर श्री जगजीवनराम की कांग्रेस ही मूल संस्था की अधिकारिणी कही जा सकती है। लेकिन उनके इस निर्णय को चुनौती दी गयी और उच्चतम न्यायालय ने 20 जनवरी के अपने आदेश के द्वारा श्री सेन-वर्मा के आदेश का कार्यान्वयन रोक दिया। उच्चतम न्यायालय ने यह आदेश भी दिया कि कांग्रेस का कोई भी गुट किसी चुनाव के लिए बैल-जोड़ी चुनाव-चिन्ह का प्रयोग न कर सके और चुनाव आयोग की यह घोषणा, कि जगजीवनराम के नेतृत्व वाली कांग्रेस ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस है, कार्यान्वित न किया जाए। उच्चतम न्यायालय ने मुख्य चुनाव आयुक्त के निर्णय के विरुद्ध संगठन कांग्रेस के सचिव श्री सादिक अली की अपील भी विचारार्थ स्वीकार कर ली।

28 दिसम्बर से लेकर 1 जनवरी तक राजधानी में राष्ट्र मण्डलीय देशों के अध्यक्षों तथा पीठासीन अधिकारियों का द्वितीय सम्मेलन हुआ। इसका उद्घाटन राष्ट्रपति, श्री गिरि, ने किया और अध्यक्षता श्री ढिल्लों ने की। इस सम्मेलन में न्यायपालिका, कार्यपालिका और विधायिका के पारस्परिक सम्बन्धों, संसदीय विशेषाधिकारों और अधिकारों की रक्षा, संसदीय प्रक्रिया, अध्यक्ष के अधिकार आदि विषयों पर विचार-विमर्श हुआ और विभिन्न संसदों में जो स्थिति है, उससे परिचित कराया गया।

राज्य

असम

असम विधानसभा में सत्तारूढ़ कांग्रेस के विधायक दल ने 30 अक्तूबर को श्री बी० पी० चालिहा का मुख्य मन्त्री पद से त्याग-पत्र स्वीकार कर लिया और श्री महेन्द्रमोहन चौधरी को दल का नया नेता चुन लिया। श्री चौधरी और उनकी नई सरकार ने 6 नवम्बर को पद-ग्रहण किया। उनके मन्त्रिमण्डल में 14 मन्त्रिमण्डल स्तर के मन्त्री, 8 राज्य मन्त्री तथा 3 उप-मन्त्री नियुक्त किए गए। राज्य विधानसभा की बैठक 9 नवम्बर को प्रारम्भ हुई और 12 नवम्बर को सदन में श्री चौधरी की सरकार के विरुद्ध दो अविश्वास प्रस्तावों पर विचार हुआ और 38 के विरुद्ध 61 मत आने के कारण अस्वीकार कर दिया गया। भूतपूर्व उपाध्यक्ष श्री अताउर-रहमान के मन्त्री हो जाने के कारण विधानसभा के लिए नए उपाध्यक्ष का चुनाव हुआ और श्री जोगेन्द्रनाथ सेविया 12 मतों के बहुमत से निर्वाचित घोषित किए गए। 11 विधायकों ने मतदान में भाग नहीं लिया।

लगभग एक महीने पश्चात् राज्य के राजस्व मन्त्री, श्री लक्ष्मीप्रसाद गोस्वामी ने 11 दिसम्बर को मन्त्रि-परिषद् से त्याग-पत्र दे दिया। यह त्याग-पत्र उन्होंने विरोधी सदस्यों द्वारा कुछ आरोप लगाने के सिलसिले में दिया था। सदन ने इन आरोपों की जाँच के लिए एक

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

समिति नियुक्त की, जिसने बहुमत से उन्हें इन आरोपों से मुक्त कर दिया। लेकिन उस आठ सदस्यीय समिति के तीन सदस्यों ने अपने अभिमत-पत्र में उन आरोपों को पुष्ट माना और इस पर श्री गोस्वामी ने अपना पद छोड़ दिया।

असम विधानसभा का बजट अधिवेशन 9 मार्च को राज्यपाल श्री बी० के० नेहरू के भाषण से शुरू हुआ। उस दिन विरोधी दल के सारे सदस्यों ने राज्यपाल पर पक्षपात करने का आरोप लगाते हुए सभा-त्याग कर दिया।

आन्ध्र प्रदेश

आन्ध्र प्रदेश सरकार की विधानसभा के शरदकालीन अधिवेशन में 28 नवम्बर को एक सरकारी विधेयक, आन्ध्र प्रदेश कृषि जीवाणु और रोग विधेयक, पर सरकार की पराजय हो गयी। इसके पश्चात् उपाध्यक्ष ने सदन की कार्यवाही स्थगित कर दी। 3 दिसम्बर को विधानसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री सुब्बा रेड्डी तेलंगाना संयुक्त मोर्चे के उम्मीदवार श्री टी० नरसिंह राव को हराकर पुनः अध्यक्ष निर्वाचित हुए। नवम्बर-दिसम्बर, 1970 में आन्ध्र विधानसभा के लिए पाँच उप-चुनाव हुए जिनमें से चार उप-चुनावों में सत्तारूढ़ कांग्रेस के उम्मीदवार और एक में तेलंगाना प्रजासमिति का उम्मीदवार विजयी हुआ।

आन्ध्र विधानसभा का बजट अधिवेशन मार्च मास में हुआ और 11 मार्च को वित्त मन्त्री श्री के० विजय भास्कर रेड्डी ने सन् 1971–72 के लिए 310·14 करोड़ रु० का बजट पेश किया। उसी दिन राज्य विधानसभा में तेलंगाना संयुक्त मोर्चे के सदस्यों ने सदन में तेलंगाना का एक झण्डा प्रदर्शित किया तथा 'जय तेलंगाना' कहते हुए सभा-त्याग कर दिया।

उड़ीसा

उड़ीसा में मुख्यमन्त्री, श्री आर० एन० सिंहदेव ने 9 जनवरी को अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया और 11 जनवरी को वहाँ राष्ट्रपति शासन की घोषणा कर दी गयी। जब कोई दूसरा दल सरकार बनाने में समर्थ न हो सका तो राज्यपाल ने 23 जनवरी को उड़ीसा विधान-सभा भंग कर दी और उड़ीसा में मध्यावधि चुनाव की घोषणा की गयी। इससे पूर्व जन-कांग्रेस दल के नेता, डा० हरेकृष्ण मेहताब, श्री बनमाली पटनायक तथा 6 अन्य सदस्य सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो चुके थे। नयी विधानसभा में सत्तारूढ़ कांग्रेस के 51, संगठन कांग्रेस का 1, उत्कल कांग्रेस के 32, स्वतन्त्र दल के 36, प्रसोपा के 4, जनसंघ का 1, साम्यवादी दल के 4, झारखण्ड पार्टी के 4, मार्क्सवादी दल के 2 व अन्य दलों के 4 सदस्य निर्वाचित हुए। इस प्रकार इस बार भी उड़ीसा में किसी एक दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त न हो सका।

उत्तर प्रदेश

राज्यपाल द्वारा चरणसिंह मन्त्रिमण्डल की बर्खास्तगी के बाद श्री त्रिभुवन नारायण सिंह 9 अक्तूबर को संयुक्त विधायक दल के नेता चुने गये और उन्हें मुख्यमन्त्री बनाया गया। इससे पूर्व 2 अक्तूबर से 18 अक्तूबर तक राष्ट्रपति का शासन रहा। प्रारम्भ में केवल तीन मन्त्रियों ने शपथ ली। बाद में 52 मन्त्री और बढ़ाए गये जिनमें 21 मन्त्रिमण्डल स्तर के मन्त्री,

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

14 राज्यमन्त्री व 17 उपमन्त्री थे। उत्तर प्रदेश विधानसभा का शीतकालीन अधिवेशन 7 दिसम्बर को प्रारम्भ हुआ और यह आपत्ति उठायी गयी कि चूँकि मुख्यमन्त्री विधानसभा के सदस्य नहीं हैं, इसलिए वे सदन की कार्यवाही में भाग नहीं ले सकते। पहले दिन विधानसभा बिना कार्य किये ही उठ गयी। 15 दिसम्बर को संविद सरकार को सदन का प्रथम बार समर्थन प्राप्त हुआ जबकि सत्तारूढ़ कांग्रेस के एक सदस्य का एक संशोधन स्वीकृत न हो सका। विधानसभा का अधिवेशन 24 दिसम्बर को समाप्त हो गया। सदस्यों ने इस बात पर आपत्ति की कि तब तक मन्त्रियों के विभागों का बँटवारा नहीं हो सका था। 25 जनवरी को मानीराम क्षेत्र से उपचुनाव में मुख्यमन्त्री श्री त्रिभुवन नारायण सिंह सत्तारूढ़ कांग्रेस दल के उम्मीदवार श्री रामकृष्ण द्विवेदी से पराजित हो गये। 16 फरवरी को राज्य के स्वास्थ्य मन्त्री, डा० पी० डी० कपूर ने सरकार की नीति के विरोध में त्याग-पत्र दे दिया। 22 मार्च को उत्तर प्रदेश के वित्त मन्त्री, श्री कैलाश प्रकाश, ने सन् 1971–72 के लिए बजट पेश किया जिसमें 37·30 करोड़ का घाटा दिखाया गया।

उच्चतम न्यायालय ने 16 मार्च को श्री त्रिभुवन नारायण सिंह का मुख्यमन्त्री होना वैध घोषित किया। लेकिन बाद में विधानसभा में एक प्रस्ताव पर पराजित होने के कारण श्री त्रिभुवन नारायण सिंह ने 30 मार्च को अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया।

केरल

केरल के नव-निर्वाचित विधानसभा का प्रथम अधिवेशन 22 अक्तूबर को प्रारम्भ हुआ और 13 नवम्बर को समाप्त हुआ। राज्यपाल के भाषण पर धन्यवाद का प्रस्ताव 59 के विरुद्ध 63 मत आने पर पारित हो गया। 6 नवम्बर को केरल विधानसभा ने एक गैर-सरकारी प्रस्ताव पारित किया, जिसमें यह माँग की गयी थी, कि केन्द्रीय सरकार संविधान में ऐसे संशोधन करे, जिससे प्रगतिशील सुधार किये जा सकें। इसके साथ ही साथ दो अन्य गैर-सरकारी प्रस्ताव भी पारित हुए, जिनमें यह माँग की गयी थी, कि राज्य सरकार शहरी सम्पत्ति पर तुरन्त सीमा लगाये, बेकार युवकों को सहायता दे और सरकारी नौकरियों के लिए आवेदनों पर कोई फीस न ले। केरल विधानसभा के अध्यक्ष, श्री मोहियुद्दीन कुट्टी हाजी, चुने गये। श्री आर० एस० उन्नी उपाध्यक्ष चुने गये।

गुजरात

नवम्बर मास में गुजरात विधानसभा की दलीय स्थिति में परिवर्तन हुआ। गुजरात प्रजा परिषद् के 13 सदस्यों ने 4 नवम्बर को सत्तारूढ़ कांग्रेस में सम्मिलित होने की सूचना दे दी, जिसके परिणामस्वरूप विधानसभा के मुख्य विरोधी दल, स्वतन्त्र दल की संख्या 67 से घटकर 23 रह गयी। 17 दिसम्बर को हितेन्द्र देसाई मन्त्रिमण्डल के दो सदस्यों, श्री जसवन्त मेहता और श्री चिमनभाई पटेल, ने त्याग-पत्र दे दिया, जो उसी दिन स्वीकार हो गया। दूसरे दिन संगठन कांग्रेस के दो अन्य सदस्यों, श्री प्रताप शाह व श्री घनश्याम ओझा, ने त्याग-पत्र दे दिया। 16 नवम्बर को विधानसभा के अध्यक्ष ने सत्तारूढ़ कांग्रेस को गुजरात विधानसभा में मुख्य विरोधी दल घोषित किया और श्री कान्तिलाल घिया उस दल के नेता निर्वाचित हुए। 11 जनवरी को गुजरात के शिक्षामन्त्री, श्री गोरधनदास चोखावाला ने भी त्याग-पत्र दे दिया

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

और संगठन कांग्रेस के अनेक विधायकों ने सत्तारूढ़ कांग्रेस में प्रवेश पा लिया। मध्यावधि चुनावों के तत्काल पश्चात् 8 मार्च को गुजरात के मुख्यमन्त्री, श्री हितेन्द्र देसाई, ने अपने मन्त्रिमण्डल का विस्तार किया और पाँच मन्त्री व पाँच उपमन्त्री नियुक्त किये। इस प्रकार गुजरात मन्त्रि-परिषद् की कुल संख्या 25 हो गयी। परन्तु अनेक सदस्यों के त्यागपत्र देने के कारण संगठन कांग्रेस दल का विधानसभा में अल्पमत हो गया। राज्य के सहकार मन्त्री श्री माधवलाल शाह ने 29 मार्च को मन्त्रिमण्डल से त्याग-पत्र दे दिया और श्री हितेन्द्र देसाई ने 31 मार्च को अपनी मन्त्रि-परिषद् का त्याग-पत्र राज्यपाल के पास भेज दिया।

जम्मू-कश्मीर

भारत सरकार ने 12 जनवरी को कश्मीर जनमत मोर्चा को अवैध घोषित कर दिया। राज्य सरकार ने इससे पूर्व शेख मुहम्मद अब्दुल्ला और मिर्जा अफ़ज़ल बेग को कश्मीर राज्य के बाहर निष्कासित कर दिया। मध्यावधि चुनाव के पश्चात् कश्मीर विधानसभा का बजट अधिवेशन 13 मार्च को प्रारम्भ हुआ। इससे पूर्व 15 फरवरी को श्री त्रिलोचन दत्त को मन्त्रिमण्डल का सदस्य और मियाँ मोहम्मद बशीर अहमद को उपमन्त्री नियुक्त किया गया। 18 मार्च को वित्त मन्त्री श्री गिरधारीलाल डोगरा ने 74·36 करोड़ रुपये का बजट पेश किया जिसमें 50 लाख रुपये का घाटा दिखाया गया था।

तमिलनाडु

तमिलनाडु विधानसभा का शीतकालीन अधिवेशन 25 नवम्बर को बुलाया गया और लगभग एक सप्ताह चला। 5 जनवरी को राज्यपाल ने मुख्यमन्त्री की सलाह पर विधानसभा को भंग कर दिया और मार्च मास में संसद के चुनाव के साथ ही उसके भी चुनाव हो गये। चुनावों के पश्चात् 285 सदस्यों वाली विधानसभा में विभिन्न दलों की स्थिति इस प्रकार है: द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम 184, संगठन कांग्रेस 15, स्वतन्त्र 6, भारतीय साम्यवादी दल 8, फारवर्ड ब्लॉक 7, मुस्लिम लीग 6, प्रसोपा 4, निर्दलीय 4। श्री एम० करुणानिधि 14 मार्च को मुख्यमन्त्री नियुक्त किये गये और 15 मार्च को उन्होंने अधूरा मन्त्रिमण्डल घोषित कर दिया। 25 मार्च को उन्होंने तमिलनाडु विधानसभा में 458·69 करोड़ रुपये का बजट पेश किया जिसमें 12·25 करोड़ रुपये का घाटा दिखाया गया था।

पंजाब

गुरनाम सिंह अकाली दल के संत गुट अकाली दल में सम्मिलित होने से पंजाब विधानसभा में अकाली दल की संख्या 55 हो गयी। 5 दिसम्बर को मन्त्रियों की संख्या में वृद्धि हो गयी और 27 मन्त्री बनाये गये।

राज्य के वित्त मन्त्री, श्री बलवन्त सिंह ने 20 जनवरी को बजट पेश किया जिसमें 4·29 करोड़ का घाटा दिखाया गया।

पश्चिमी बंगाल

मार्च मास में पश्चिमी बंगाल विधानसभा का निर्वाचन हुआ। इसमें विभिन्न दलों की

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

स्थिति इस प्रकार थी : मार्क्सवादी साम्यवादी दल 111, सत्तारूढ़ कांग्रेस दल 105, संगठन कांग्रेस 2, साम्यवादी दल 13, बंगला कांग्रेस 4, फार्वर्ड ब्लॉक 3, संसोपा 1, प्रसोपा 3, क्रान्तिकारी समाजवादी 3, तथा अन्य दल व निर्दलीय 32। पश्चिमी बंगाल की सरकार 2 अप्रैल को बनी।

बिहार

बिहार विधानसभा का शीतकालीन अधिवेशन 27 नवम्बर को बुलाया गया था, लेकिन चूँकि कार्यक्रम परामर्शदात्री समिति की रिपोर्ट तैयार नहीं थी, इसलिए सदन की कार्यवाही स्थगित कर दी गयी। 4 दिसम्बर को बिहार विधानसभा में यह प्रस्ताव पारित किया गया कि उससे पहले उसने राज्य विधान परिषद् को समाप्त करने का जो प्रस्ताव पारित किया है, उसको 7 मई, 1974 से पहले कार्यान्वित न किया जाये। 15 दिसम्बर को राज्य के वन मन्त्री, श्री भागू सुम्ब्रुई ने, जो ऑल इण्डिया झारखण्ड दल के नेता हैं, दारोगा प्रसाद राय मन्त्रिमण्डल से त्याग-पत्र दे दिया। उसी दिन विरोधी दल के नेता श्री रामानन्द तिवारी, ने सरकार के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव उपस्थित कर दिया। 18 दिसम्बर को विधानसभा में दारोगा राय मन्त्रिमण्डल की पराजय हो गयी। अविश्वास का प्रस्ताव 146 के विरुद्ध 164 मत आने से पारित हो गया। और 22 दिसम्बर को 11 मन्त्रियों की एक संविद सरकार श्री कर्पूरी ठाकुर के नेतृत्व में नियुक्त हुई।

राज्य के राज्यपाल, श्री नित्यानन्द कानूनगो, ने 20 जनवरी को अपना पद छोड़ दिया और 1 फरवरी को श्री देवकान्त बरुआ राज्यपाल नियुक्त किये गये। संयुक्त विधायक दल की सरकार का भी 9 व 10 फरवरी को विस्तार किया गया जिसके परिणामस्वरूप संविद सरकार में 41 मन्त्री हो गये जिसमें 23 मन्त्रिमण्डल स्तर के और 11 राज्यमन्त्री थे। इन सब मन्त्रियों को 17 फरवरी को विभाग सौंपे गये। 15 फरवरी को संसोपा दल के 14 विधायकों ने मन्त्रिमण्डल निर्माण के विरुद्ध एक विक्षुब्ध दल की स्थापना की।

मध्यप्रदेश

मध्यप्रदेश के राज्यपाल, श्री के० सी० रेड्डी, के स्थान पर श्री सत्यनारायण सिंह नये राज्यपाल नियुक्त किये गये और उन्होंने 8 मार्च को शपथ ग्रहण की। लोकसभा के चुनावों में हार जाने के कारण राज्य के सूचना मन्त्री, श्री बाल कवि बैरागी, सिंचाई मन्त्री श्री चाँदमल लूनिया और गरोठ के विधायक श्री माणिकलाल अग्रवाल ने विधानसभा की सदस्यता से त्याग-पत्र दे दिया, लेकिन ये त्याग-पत्र, जो पहले कांग्रेस दल के नेता को दिये गये, स्वीकृत नहीं हुए। इससे पूर्व मध्यप्रदेश विधानसभा का एक संक्षिप्त अधिवेशन 23 दिसम्बर से 29 दिसम्बर तक हुआ जिसमें 6 अध्यादेशों को विधेयक के रूप में पारित किया गया तथा पूरक माँगें स्वीकृत हुई। उच्चतम न्यायालय ने मध्य प्रदेश के मुख्य मन्त्री, श्री श्यामचरण शुक्ल, के पक्ष में कस्दोल क्षेत्र से विधानसभा के लिए श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र के चुनाव के सम्बन्ध में यह निर्णय दिया कि श्री शुक्ल ने कोई भ्रष्ट आचरण नहीं किया। इससे मध्यप्रदेश की राजनीति में जो अस्थिरता दिखाई दे रही थी, वह दूर हो गई।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

महाराष्ट्र

महाराष्ट्र विधानसभा का शरदकालीन अधिवेशन 16 नवम्बर को प्रारम्भ होने वाला था, वह सरकारी कर्मचारियों की हड़ताल के कारण स्थगित कर दिया गया। जब दिसम्बर में विधानसभा का अधिवेशन हुआ, तो 14 दिसम्बर को कुछ व्यक्तियों ने दर्शक-दीर्घा से विदर्भ के समर्थन में नारे लगाये गए और जूते फेंके। विधानसभा ने विधि-कार्य मन्त्री, श्री एस० बी० चव्हाण, के प्रस्ताव पर प्रदर्शनकारियों को एक-एक महीने की सजा दी।

मेघालय

प्रधानमन्त्री ने 10 नवम्बर को घोषणा की, कि मेघालय को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया जायेगा।

मैसूर

मैसूर विधानसभा का अधिवेशन 19 अक्तूबर को समाप्त हो गया। इससे पूर्व 16 अक्तूबर को सत्तारूढ़ कांग्रेस के एक सदस्य, श्री चन्नबसवप्पा ने राज्यपाल श्री धर्मवीर के विरुद्ध विशेषाधिकार भंग का एक प्रस्ताव पेश किया। उन्होंने कहा कि राज्यपाल ने कहा है कि विधानमण्डल पहलवानों के अखाड़े हो गये हैं और कोई उपयोगी कार्य नहीं कर रहे हैं। अध्यक्ष ने इस प्रस्ताव पर अपना निर्णय स्थगित कर दिया, जिसके विरोध में कई सदस्यों ने अध्यक्ष के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पेश करना चाहा, परन्तु उसकी अनुमति नहीं दी गयी। दिसम्बर मास में 23 दिसम्बर से मैसूर विधानसभा का एक आपत्कालीन अधिवेशन मैसूर-महाराष्ट्र व केरल सीमा विवाद पर विचार करने के लिए बुलाया गया। इस अधिवेशन में यह प्रस्ताव पारित किया गया जिसमें केन्द्रीय सरकार से माँग की गई कि वह महाजन आयोग की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए विधेयक लावें। इसके बाद 28 दिसम्बर को मैसूर विधान परिषद् ने भी इस प्रकार का एक प्रस्ताव पास किया।

जब 29 जनवरी को परिवहन मन्त्री श्री मोहम्मद अली ने मन्त्रिमण्डल से त्याग-पत्र दे दिया तो मैसूर राज्य में सांविधानिक संकट की स्थिति आ गई। शीघ्र ही कानून और श्रम मन्त्री, श्री के० पुट्टू स्वामी तथा एक अन्य मन्त्री श्री बसन्तराव पाटिल ने त्याग-पत्र दे दिया और संगठन कांग्रेस को छोड़कर वे सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये। परिणामस्वरूप मुख्यमन्त्री का दल अल्पमत में रह गया और 18 मार्च को श्री वीरेन्द्र पाटिल ने त्याग-पत्र दे दिया। चूँकि सत्तारूढ़ कांग्रेस दल भी वैकल्पिक सरकार बनाने की स्थिति में नहीं था इसलिए 27 मार्च को प्रथम बार मैसूर में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया।

राजस्थान

राजस्थान विधानसभा का शरदकालीन अधिवेशन 2 नवम्बर को प्रारम्भ हुआ। इस अधिवेशन में नजरबन्दी विधेयक और राजभाषा संशोधन विधेयक प्रस्तुत किये गये।

22 जनवरी को उच्चतम न्यायालय ने राजस्थान के मुख्यमन्त्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया के विरुद्ध चुनाव-याचिका अस्वीकार कर दी। 16 फरवरी को एक विधायक किशन-

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

गढ़ के महाराज सुमेरसिंह अपनी कार के पास मरे पाये गये । इस हत्याकाण्ड ने विधानसभा की कार्यवाहियों में काफी सनसनी पैदा की ।

हरयाणा

हरयाणा राज्य की मन्त्रिपरिषद् में 1 जनवरी को विस्तार हुआ और चारों संसदीय सचिवों को उपमन्त्री बना दिया गया । इस समय हरयाणा में 19 मन्त्री हैं, जिनमें 15 मन्त्रि-मण्डल स्तर के हैं । हरयाणा विधानसभा का बजट अधिवेशन 8 फरवरी को राज्यपाल श्री बी० एन० चक्रवर्ती के भाषण से प्रारम्भ हुआ और 9 फरवरी को वित्तमन्त्री श्रीमती ओमप्रभा जैन ने बजट पेश किया, जिसमें 11·50 करोड़ का घाटा दिखाया गया । उन्होंने यह भी घोषणा की कि अतिरिक्त धन्धा-कर, जो पंचायतों ने लागू किया है, हटा दिया जायेगा । 16 फरवरी को विधानसभा बजट पास करके अनिश्चित काल के लिए स्थगित हो गई । इस बीच में विधान-सभा ने गौहत्या के लिए सजा की मात्रा बढ़ाकर 5 वर्ष कैद और 5 हजार रु० जुर्माना कर दी । । गैर-सरकारी स्कूलों में नियुक्त अध्यापकों की सुरक्षा के लिए विधेयक पारित किया गया । लोकसभा के मध्यावधि चुनावों के पश्चात् हरयाणा विधानसभा के तीन सदस्यों ने, जो लोकसभा के भी सदस्य चुने गये थे, विधानसभा की सदस्यता से त्याग-पत्र दे दिया । इनमें राव वीरेन्द्र सिंह भी हैं, जो विधानसभा में विरोधी दल के नेता थे ।

हिमाचल प्रदेश

प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी, ने 25 जनवरी की हिमाचल प्रदेश को एक राज्य का दर्जा देने की घोषणा की और श्री एस० चक्रवर्ती से राज्य के राज्यपाल के रूप में शपथ ली । उसी दिन न्यायाधिपति मिर्जा हमीद्दुल्ला बेग ने हिमाचल प्रदेश के मुख्य न्यायाधीश के रूप में शपथ ग्रहण की तथा डा० यशवन्तसिंह परमार को राज्य के मुख्यमन्त्री पद की शपथ दिलायी गई ।

विदेश

श्रीलंका

श्रीलंका की संसद में 12 अक्तूबर को यह संविधान संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया गया जिनमें यह व्यवस्था थी कि श्रीलंका की सीनेट को समाप्त कर दिया जाये और लोकसभा में नामांकित सदस्यों की संख्या 6 से 8 कर दी जाये । एक अन्य संशोधन द्वारा श्रीलंका की लोकसभा में उस बिल को स्वीकार किया गया जिसके अनुसार न्यायपालिका, पुलिस, सेना के तथा उच्च प्रशासकीय अधिकारियों को छोड़कर शेष सरकारी अधिकारी संसदीय चुनावों में भाग ले सकते हैं । सीनेट को समाप्त करने वाला संविधान संशोधन विधेयक श्रीलंका की लोक-सभा ने 27 अक्तूबर को 170 मतों से स्वीकार कर लिया; विरोध में केवल 16 मत आये । विधेयक में यह भी परिवर्तन किया गया कि लोकसभा में नामांकित सदस्यों की संख्या न बढ़ाई जाये । 25 अक्तूबर को श्रीलंका के वित्त मन्त्री, श्री परेरा, ने संयुक्त सरकार का प्रथम बजट रखा जो 420·2 करोड़ रुपये का था । यह बजट 11 नवम्बर को पारित हो गया ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

श्रीलंका का नया संविधान बनाने के लिए एक संविधान-सभा की स्थापना की गयी। इस संविधान-सभा में श्रीलंका के सांविधानिक मामलों के मन्त्री डा० कालविन रेजिनाल्ड डी० सिलवा ने संविधान-सभा की संचालन समिति की रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसमें सुझाव दिया गया था कि श्रीलंका को श्रीलंका के गणतन्त्र के नाम से पुकारा जायेगा, गवर्नर-जनरल का स्थान राष्ट्रपति ग्रहण करेगा और केवल एक ही सदन होगा। बौद्ध धर्म को संविधान द्वारा विशेष संरक्षण दिया जायेगा। संविधान-सभा ने अपनी 16 मार्च की बैठक में श्रीमती श्रीमाओ भण्डारनायके के प्रस्ताव पर संविधान का प्रथम सिद्धान्त स्वीकार किया कि श्रीलंका एक स्वतन्त्र पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न गणतन्त्र हो। श्रीलंका की लोकसभा द्वारा सीनेट को समाप्त करने का विधेयक पारित होने के बाद भी वह सीनेट का समर्थन न पा सका था, क्योंकि वहाँ पर श्रीमती श्रीमाओ की सरकार का दल अल्पमत में है। इस पर राज्यपाल के चार दिन के लिए सदन का सत्रावसान कर दिया जिससे कि चार दिन बाद लोकसभा मिलकर फिर यह प्रस्ताव पारित कर सके कि सीनेट भंग कर दी जाये। दो अधिवेशनों में यदि कोई प्रस्ताव पारित हो जाये तो सीनेट का विरोध कोई अर्थ नहीं रखता। इसी बीच श्रीलंका में आन्तरिक विद्रोह भड़क उठा और गवर्नर-जनरल ने 29 मार्च को आपतकालीन स्थिति की घोषणा कर दी।

पाकिस्तान

पाकिस्तान को नेशनल असेम्बली का चुनाव 7 दिसम्बर, 1970 को हुआ। इसके परिणामस्वरूप 313 सदस्यों वाली नेशनल असेम्बली में शेख मुजीवुर्रहमान की अध्यक्षता वाली अवामी लीग ने 151 स्थान प्राप्त किये। पश्चिम पाकिस्तान में श्री जुलफीकार अली भुट्टो की पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी को 81 स्थान मिले। पाकिस्तान मुस्लिम लीग (अयूब दल) को 9, पाकिस्तान मुस्लिम लीग (कौंसिल दल) को 7, मरकजी जमायते उलेमा को 7, जमायत उलेमा-इस्लाम (हजारवी गुट) को 7, नेशनल अवामी पार्टी (वली ग्रुप) को 5, जमायते इस्लामी को 4, पाकिस्तान मुस्लिम कनवेनशन लीग को 2, पाकिस्तान डेमोक्रेटिक पार्टी को 1 और निर्दलीय सदस्यों को 16 स्थान प्राप्त हुए।

प्रान्तीय विधानसभाओं का निर्वाचन 17 दिसम्बर को हुआ और उसमें पूर्वी पाकिस्तान में 310 स्थानों में से अवामी लीग को 227 स्थान, पंजाब में पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी को 180 में से 107, सिन्ध में पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी को 60 में से 32 स्थान प्राप्त हुए। पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रान्त के 40 स्थानों में से नेशनल अवामी पार्टी को 12, मुस्लिम लीग (कयूम दल) को 6 तथा पीपुल्स पार्टी को 2 स्थान मिले। शेष निर्दलीय व अन्य दल के सदस्य थे। इसी प्रकार बलूचिस्तान में भी नेशनल अवामी तथा निर्दलीय सदस्यों का बहुमत रहा और भुट्टो की पार्टी को कोई स्थान नहीं मिला।

पाकिस्तान के राष्ट्रपति ने पहले यह घोषणा की थी कि राष्ट्रीय असेम्बली की बैठक 3 मार्च को ढाका में होगी और 22 फरवरी को उन्होंने अपनी मन्त्रि-परिषद् भी भंग कर दी। इस बीच हुए उप-चुनावों में तथा जिन चुनावों के परिणाम रोक दिये गये थे, उनकी घोषणा की गयी, जिसमें अवामी लीग को पूर्वी पाकिस्तान में 9 स्थान और प्राप्त हुए और महिलाओं के लिए जो स्थान सुरक्षित थे, वे भी अवामी लीग को मिले। दूसरी तरफ पश्चिमी पाकिस्तान में महिलाओं के 6 में से 4 स्थान पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी को मिले तथा चार उप-चुनावों में भी

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उसकी जीत हुई। इस प्रकार नेशनल असेम्बली में अवामी लीग की संख्या 167 और पीपुल्स पार्टी की 89 हो गयी ।

परन्तु इस राष्ट्रीय असेम्बली का सत्र आहूत नहीं किया जा सका। श्री याह्या खाँ ने इसकी बैठक स्थगित कर दी और जब 25 मार्च को उनके तथा श्री मुजीबुर्रहमान के बीच कोई समझौता न हो सका तो सैनिक शासन लागू कर दिया गया। दूसरी ओर अवामी लीग के नेताओं ने स्वतन्त्र बंगला देश की स्थापना की घोषणा की। पाकिस्तान ने सभी राजनीतिक दलों और राजनीतिक गतिविधियों पर रोक लगा दी। प्रेस का सेंसरशिप लागू कर दिया गया तथा किसी भी दल को राजनीतिक सत्ता प्राप्त नहीं हुई। बंगला देश में एक स्वतन्त्र सरकार की घोषणा की गयी जिसके राष्ट्रपति श्री मुजीबुर्रहमान घोषित हुए और प्रधानमन्त्री श्री ताजुद्दीन। शेख मुजीबुर्रहमान पाकिस्तान सरकार द्वारा कैद हैं और पूर्वी बंगाल में बंगला देश तथा पाकिस्तानी सेना के बीच संघर्ष चल रहा है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

राजनीतिक पञ्चांग

(जुलाई—दिसम्बर, 1970)

ओमप्रकाश चावला

1 जुलाई : संगठन कांग्रेस के श्री शकूर अहमद एक मत से बिहार विधानसभा के उपाध्यक्ष चुने गये। संगठन कांग्रेस के श्री राजेन्द्र प्रताप सिंह अपने दल से त्याग-पत्र देकर सत्तारूढ़ कांग्रेस दल में शामिल हो गये।

सर्वश्री इफ्तिखार अली खाँ, गुरदीप सिंह शहीद और अजीत सिंह ने पंजाब के बादल मन्त्रिमण्डल से समर्थन वापिस ले लिया और वे पंजाब विधानसभा के विरोधी दल गुरनाम सिंह गुट में शामिल हो गये। श्री सुरेन्द्र सिंह कैरों और हरीसिंह व्यास भी अगले दिन गुरनाम सिंह गुट में शामिल हो गये।

उत्तर प्रदेश विधानसभा का अधिवेशन निश्चित तारीख से एक दिन पहले अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया। सदन का सत्रावसान 6 जुलाई को किया गया।

श्री स्टनिस्लाव कोस्यूलेक और श्री माइकजाईस्लाव जाजि-येलस्काई पोलैण्ड के उप-प्रधानमन्त्री नियुक्त किये गये।

2 जुलाई : प्रसोपा के श्री टी० वी० कृष्णप्पा और निर्दलीय श्री एच० एन० नंजे-गौडा मैसूर विधानसभा में सत्तारूढ़ कांग्रेस दल में शामिल हो गये।

कम्बोदिया के प्रधानमन्त्री ने वर्तमान संकटकालीन परि-स्थितियों का मुकाबला करने के लिए अपने मन्त्रिमण्डल का पुनर्गठन किया।

श्री आई० ए० काडर को एकमत से श्रीलंका के प्रतिनिधि सदन (लोकसभा) का उपाध्यक्ष चुना गया। श्रीमती श्रीमाओ भण्डारनायके ने अपने मन्त्रिमण्डल में 21 नये संसदीय सचिवों को भी शामिल किया।

3 जुलाई : जोर्डन के शाह हुसैन ने श्री रिफाई के नये मन्त्रिमण्डल में सूचना मन्त्री श्री मुहम्मद अलफारा का त्याग-पत्र स्वीकार कर लिया।

4 जुलाई : श्री प्रीतम सिंह सन्त गुट से त्याग-पत्र देकर पंजाब विधानसभा के गुरनाम सिंह गुट में शामिल हो गये।

5 जुलाई : महाराष्ट्र के राजस्व मन्त्री श्री डी० एस० देसाई का त्याग-पत्र राज्य के राज्यपाल ने स्वीकार कर लिया।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

6 जुलाई : निर्दलीय श्री हरीनाथ मिश्र बिहार विधानसभा में सत्तारूढ़ कांग्रेस दल में शामिल हो गये ।

क्यूबा के प्रधानमन्त्री ने अपने मन्त्रिमण्डल का पुनर्गठन किया ।

8 जुलाई : पंजाब के राज्यपाल ने 24 जुलाई को पंजाब विधानसभा का विशेष अधिवेशन आहूत किया जिससे कि मुख्यमन्त्री श्री प्रकाश सिंह बादल राज्य विधानसभा में अपने बहुमत के समर्थन के दावे को सिद्ध कर सकें ।

9 जुलाई : संगठन कांग्रेस के श्री जागेश्वर दयाल अग्निहोत्री उत्तर प्रदेश विधान-सभा में सत्तारूढ़ कांग्रेस दल में शामिल हो गये ।

11 जुलाई : उत्तर प्रदेश में राज्यपाल ने सूचना मन्त्री श्री गेंदा सिंह का त्याग-पत्र स्वीकार कर लिया ।

श्री गूइलियो एन्द्रियोती को इटली का प्रधानमन्त्री नामित किया गया ।

13 जुलाई : विदेश मन्त्री श्री पाक सन्ग्रचुल को उत्तरी कोरिया का दूसरा उप-प्रधानमन्त्री नियुक्त किया गया ।

14 जुलाई : संगठन कांग्रेस के श्री टी० मृणाल ने अपने दल से त्याग-पत्र देकर मैसूर विधानसभा के सत्तारूढ़ कांग्रेस दल में शामिल होने का निर्णय किया ।

श्रीलंका के प्रधानमन्त्री ने यह घोषणा की कि नई संविधान-सभा की पहली बैठक 29 जुलाई को होगी ।

सोवियत संघ के नये सर्वोच्च सोवियत का पहला अधिवेशन प्रारम्भ हुआ ।

18 जुलाई : सर्वश्री अनिमुश मुकर्जी, देवकीनन्दन पोद्दार और रामकृष्ण सरोजी पश्चिमी बंगाल विधानसभा के सत्तारूढ़ कांग्रेस दल में शामिल हो गये ।

19 जुलाई : उत्तर प्रदेश मन्त्रि-परिषद् में 9 और सदस्य शामिल किये गये । विभागों का पुनर्बंटन घोषित किया गया ।

श्रीमती एलू० जे० मिराण्डा और श्री रोक बारनेटो संयुक्त गोआन्स दल से त्याग-पत्र देकर नव-निर्मित संयुक्त गोआन्स प्रगतिशील गुट में शामिल हो गये । एक अन्य सदस्य श्री वेलेण्टे स्वकीरा ने भी 29 जुलाई को ऐसा ही किया । विधानसभा का अधिवेशन 20 और 21 अगस्त के लिए आहूत किया गया ताकि मुख्यमन्त्री अपने बहुमत के समर्थन का दावा सिद्ध कर सकें ।

20 जुलाई : पंजाब विधानसभा के 7 सदस्य, जो पहले अपने दल को त्याग कर अकाली दल गुरनाम सिंह गुट में शामिल हो गये थे अब फिर अपने मूल अकाली दल सन्त गुट में शामिल हो गये । मालेर कोटला के नवाब इफ्तिखार अली खाँ ने भी 23 जुलाई को ऐसा ही किया ।

21 जुलाई : श्रीलंका की प्रथम विधानसभा का गठन श्री स्टेनले तिलकरत्ने, अध्यक्ष प्रतिनिधि सदन के सभापतित्व में किया गया ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

22 जुलाई : आन्ध्र प्रदेश के प्रधान अधिवक्ता को हैदराबाद न्यायपालिका संशोध अध्यादेश सन् 1970 के बारे में अपना मत व्यक्त करने के लिए विधान सभा में बुलाया गया ।

अल्जीरिया के राष्ट्रपति श्री हुआरी बूमीदियेने ने अपने मन्त्रि मण्डल का पुनर्गठन किया और 12 मन्त्रियों को उनके पद से भार-मुक्त कर दिया ।

23 जुलाई : संगठन कांग्रेस के श्री पी० एन्थोनी रेड्डी अपने दल से त्याग-पत्र देकर लोकसभा में सत्तारूढ़ कांग्रेस दल में शामिल हो गये ।

24 जुलाई : साम्यवादी दल और जनसंघ द्वारा पुरस्थापित दो प्रस्ताव, जिनमें कि श्री प्रकाश सिंह बादल के नेतृत्व में पंजाब मन्त्रिमण्डल में अविश्वास व्यक्त किया गया था, 1/5 बहुमत का समर्थन न होने के कारण विधान सभा में गिर गये ।

श्री बिक्रमजीत सिंह वाजवा ने पंजाब विधानसभा के उपाध्यक्ष पद से और जनसंघ की सदस्यता से त्याग-पत्र दे दिया । उन्हें 28 जुलाई को एक मत से पुनः उपाध्यक्ष चुन लिया गया ।

पंजाब विधानसभा ने 4 विधेयक पास कर विधायकों, जिनमें मन्त्रिगण, अध्यक्ष और उपाध्यक्ष भी शामिल हैं, के भत्तों और अन्य सुविधाओं में वृद्धि की व्यवस्था की गयी है, पारित कर दिया ।

25 जुलाई : श्री एन्थोनी वारबर को 20 जुलाई को श्री आयन मैक्लायड के निधन पर ग्रेट ब्रिटेन का वित्त मन्त्री नियुक्त किया गया ।

27 जुलाई : संसद का वर्षाकालीन अधिवेशन प्रारम्भ हुआ । तीन नये संसद-सदस्य सर्वश्री एन० इ० होरो, अवैद्यनाथ और चन्दूलाल चन्द्राकर को शपथ दिलायी गयी ।

मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय ने वर्तमान मुख्यमन्त्री श्री श्यामचरण शुक्ल को सन् 1963 में कस्दोल निर्वाचन क्षेत्र के उप-चुनाव में भ्रष्ट प्रथाओं के आरापों से विमुक्त कर दिया ।

सत्तारूढ़ काँग्रेस के 5 सदस्य, 2 निर्दलीय सदस्य और 1 स्वतन्त्र, 1 संगठन कांग्रेस और 1 साम्यवादी सदस्य विधान सभा निर्वाचन क्षेत्र से आन्ध्र प्रदेश विधान-परिषद के दिये निर्वाचित घोषित किये गए ।

एक अकाली विधायक श्री तेजासिंह हरयाणा विधानसभा में सत्तारूढ़ काँग्रेस दल में शामिल हो गए ।

28 जुलाई : केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में मधु लिमए का अविश्वास का प्रस्ताव विचारार्थ स्वीकार कर लिया गया और इस पर लोकसभा में चर्चा की गयी । इसे 137 के मुकाबले 243 मतों से अगले दिन रद्द कर दिया ।

हरयाणा विधानसभा में श्री बनवारी लाल ने सत्तारूढ़ काँग्रेस में शामिल होने का अपना निर्णय घोषित किया ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

29 जुलाई : श्री ए० के० गोपालन ने दिल्ली उच्च न्यायालय में एक रिट याचिका दायर की, जिसमें कि प्रारूप निर्वाचक सूचियों को रद्द करने के लिए मण्डेमस की रिट की प्रार्थना की गयी थी। उनके अनुसार इस प्रारूप को आगामी मध्यावधि निर्वाचनों में निर्वाचक सूचियों का आधार बनाया जायेगा।

राज्यसभा ने विशेष विवाह (संशोधन) विधेयक, 1968 के बारे में लोकसभा द्वारा सुझाए गए संशोधन स्वीकार कर लिए।

उत्तर प्रदेश के मुख्य मन्त्री द्वारा आवास के राज्य मन्त्री श्री राज मंगल पाण्डे को सूचना, अर्थव्यवस्था और सांख्यिकी के विभागों का कार्य-भार प्रदान किया गया।

30 जुलाई : लोकसभा ने भारतीय डाक-घर (संशोधन) विधेयक, 1968 स्वीकार कर लिया।

पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल, श्री शान्ति स्वरूप धवन, ने राज्य विधानसभा के विघटन की घोषणा की।

आन्ध्रप्रदेश विधानसभा के अध्यक्ष ने उस प्रस्ताव को सदन की विशेषाधिकार समिति को सौंप दिया जिसमें यह आरोप लगाया गया था कि तेलंगाना संयुक्त मोर्चा के नेता श्री एन० रामचन्द्र रेड्डी को 13 जुलाई को गिरफ्तार करके गलत तरीके से नजरबन्द रखा गया था।

31 जुलाई : प्रधानमन्त्री ने लोकसभा में यह घोषणा की कि हिमाचल प्रदेश को पूर्ण राज्य का दर्जा देने के लिए एक विधेयक शीघ्र ही संसद के अधिवेशन में प्रस्तावित किया जायेगा।

लोकसभा ने उच्चतम न्यायालय (आपराधिक अपीलीय अधिकारक्षेत्र का विस्तार) विधेयक, जिसे श्री आनंद नारायण मुल्ला ने प्रायोजित किया था, के बारे में राज्यसभा द्वारा प्रस्तावित संशोधन स्वीकार कर लिया।

17 गैर-सरकारी सदस्यों के विधेयक लोकसभा में पुरःस्थापित किए गये। केवल श्री हरदयाल देवगुण द्वारा 7 अगस्त को लोकसभा में 3 संविधान (संशोधन) विधेयक प्रस्तावित किए गये।

आन्ध्रप्रदेश विधानसभा के अध्यक्ष, श्री बी० वी० सुब्बारेड्डी ने उस समय अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया जब सदन ने उनकी राय के विरुद्ध मतदान किया।

श्री वीरेन्द्र कुमार चौधरी संगठन काँग्रेस से त्याग-पत्र देकर उत्तर प्रदेश विधानसभा के सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये। संगठन काँग्रेस के एक और सदस्य श्री राममूर्ति अंचल ने भी 3 अगस्त को ऐसा ही किया।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

1 अगस्त : श्री सी० वी० अच्युत मेनन के नेतृत्व में केरल मन्त्रिमण्डल ने त्याग-पत्र दे दिया। 4 अगस्त को राज्य में राष्ट्रपति शासन की घोषणा कर दी गयी। आगामी मध्यावधि निर्वाचन 17 सितम्बर, 1970 को होंगे।

दक्षिणी यमन के प्रधानमन्त्री श्री मुहम्मद अली हाइथान ने अपने देश के लिए एक प्रारूप संविधान की घोषणा की।

2 अगस्त : श्री के० पी० नन्दागोडा ने मैसूर विधानसभा में स्वतन्त्र दल से त्याग-पत्र दे दिया।

3 अगस्त : सर्वश्री एस० एन० द्विवेदी, हीरेन मुकर्जी और रवि रे ने काँग्रेसी संसद-सदस्य के समिति के सभापति नियुक्त किए जाने के विरोध में लोकसभा की विशेषाधिकार समिति की सदस्यता से त्याग-पत्र दे दिया।

4 अगस्त : आन्ध्र प्रदेश विधानसभा के 2 निर्दलीय सदस्य, श्री के० मुनीस्वामी और श्री के० बुच्चिरायुडु सभा के सत्तारूढ़ काँग्रेस दल में शामिल हो गये।

रिपब्लिकन दल के श्री आर० एस० गवाई को महाराष्ट्र विधान परिषद् का उप-सभापति पुनः निर्वाचित किया गया।

इज़रायली संसद ने श्रीमती गोल्डा मायर सरकार के विरुद्ध निन्दा प्रस्ताव रद्द कर दिया। गहाल दल के 6 मन्त्रियों ने अपने पदों से त्याग-पत्र दे दिया। यह दल सत्तारूढ़ मिले-जुले मन्त्रिमण्डल में शामिल था।

बोलिविया के राष्ट्रपति एल्फ्रेडो ओवाण्डोकण्डिया ने अपने मन्त्रिमण्डल का त्याग-पत्र दे दिया। सैनिक कमाण्डरों ने उनका त्याग-पत्र स्वीकार नहीं किया।

5 अगस्त : लोकसभा ने संसद के अधिकारियों के वेतन और भत्ते (संशोधन) विधेयक, 1970 को प्रस्तुत किए जाने की अनुमति दे दी। इसका उद्देश्य दोनों सदनों के पीठासीन अधिकारियों को अपने पद का त्याग करने के पश्चात् एक मास तक सरकारी निवास-स्थान रखने की व्यवस्था करनी है।

लोकसभा ने संविदा श्रम (विनियमन और उन्मूलन) विधेयक, 1967 पारित कर दिया।

उत्तर प्रदेश के राज्यपाल, डा० बी० गोपाल रेड्डी ने उत्तर प्रदेश निवारक निरोध अध्यादेश प्रख्यापित किया।

बर्मा के मन्त्रिमण्डल स्तर के मन्त्रियों के विभागों का पुनर्विभाजन किया गया। कर्नल ह्ला होन नए विदेश मन्त्री नियुक्त किए गये।

6 अगस्त : लोकसभा ने दिल्ली दुकान और प्रतिष्ठान (संशोधन) विधेयक, 1970 स्वीकार कर लिया।

जन-काँग्रेस के प्रवर्त्तक, डा० हरेकृष्ण मेहताब ने उड़ीसा

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विधानसभा तथा दल की सदस्यता से त्याग-पत्र दे दिया ।

श्री एमिलियो कोलम्बो को उनके 6 सदस्यीय मन्त्रिमण्डल के साथ इटली के नये प्रधानमन्त्री के पद की शपथ दिलायी गयी ।

7 अगस्त : लोकसभा ने श्री इन्द्रजीत गुप्त द्वारा प्रस्तावित संकल्प को स्वीकार कर लिया, जिसमें कि सरकार को पश्चिमी बंगाल की आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का समाधान ढूँढने को प्राथमिकता देने के लिए कहा गया था ।

राज्य-सभा ने श्री महावीर त्यागी के संकल्प पर अपूर्ण रूप से चर्चा की, जिसमें कि सदन को देश के विभिन्न भागों में विधि और व्यवस्था सम्बन्धी बिगड़ती हुई हालत पर गम्भीर रूप से विचार करने के लिए कहा गया था ।

14 अगस्त को भी इस पर पूरी चर्चा न हो पायी । 7 गैर सरकारी सदस्यों के विधेयक सदन में पुर:स्थापित किये गये । श्री भूपेश गुप्त ने अपना संविधान (संशोधन) विधेयक वापस ले लिया जिसमें कि संविधान के अनुच्छेद 143 में संशोधन करने के लिए कहा गया था । सदन ने इस आशय का एक प्रस्ताव स्वीकार कर लिया जिसमें कि श्री चित्तवसु के बोनस अदायगी (संशोधन) विधेयक को जनमत जानने के लिए परिचालित करने का प्रस्ताव किया गया था ।

8 अगस्त : हिमाचल प्रदेश विधानसभा के एक निर्दलीय सदस्य, डा० चुड़ामणी कांग्रेस के सत्तारूढ़ दल में शामिल हो गये ।

पंजाब विधानसभा के एकमात्र स्वतन्त्र सदस्य, श्री वसंत सिंह को गोली मार दी गयी ।

10 अगस्त : लोकसभा ने गोदी कर्मचारी (रोजगार विनियमन) संशोधन विधेयक, सन् 1967 स्वीकार कर लिया ।

11 अगस्त : प्रधानमन्त्री ने राज्य-सभा में चौथी पंचवर्षीय योजना को विचारार्थ प्रस्तुत किया । तत्सम्बन्धी प्रस्ताव को 13 अगस्त को स्वीकार कर लिया गया ।

215·57 करोड़ की अनुपूरक अनुदान माँगें वित्त मन्त्री द्वारा लोकसभा में प्रस्तुत की गयीं ।

महाराष्ट्र में नाइक मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास-प्रस्ताव सभा द्वारा 48 के मुकाबले 177 मतों से रद्द कर दिया गया ।

स्वतन्त्र दल के 26 सदस्यों ने गुजरात विधानसभा में एक नये गुट का निर्माण किया जिसे गुजरात प्रजा परिषद् का नाम दिया गया है ।

अमरीकी प्रतिनिधि सदन ने 15 के मुकाबले 346 मतों से 47 वर्षीय सांविधानिक संशोधन स्वीकार कर लिया, जिसमें कि स्त्रियों को समान विधिक अधिकार प्रदान किये गये हैं ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सिंगापुर के प्रधानमन्त्री श्री ली क्वान यू ने अपने मन्त्रिमण्डल के सदस्यों में विभागों का पुनर्विभाजन किया ।

12 अगस्त : लोकसभा की विशेषाधिकार समिति ने घोषणा की कि किसी संसद सदस्य द्वारा सभा मण्डप में किये गये भाषण अथवा मतदान के आधार पर उसके खिलाफ की गयी कानूनी कार्रवाई को सदन की अवमानना समझा जायेगा ।

श्रीलंका की सीनेट ने संविधान (संशोधन) विधेयक को उस रूप में अस्वीकार कर दिया, जिस रूप में इसे प्रतिनिधि सदन ने 4 अगस्त को पास किया था, जिसमें कि संसदीय निर्वाचनों में भाग लेने के लिए उम्मीदवार को अयोग्य ठहराने के लिए नये अपराध नियत किये गये थे । मन्त्रिमण्डल ने सिनेट के उन्मूलन के लिए प्रस्ताव करने का निर्णय किया ।

15 अगस्त : इस वर्ष 5 अक्तूबर को होने वाले पाकिस्तान के आम निर्वाचन दो महीने के लिए और स्थगित कर दिये गये ।

17 अगस्त : श्री मधुभाई देसाई स्वतन्त्र दल से त्याग-पत्र देकर गुजरात विधानसभा के संगठन कांग्रेस दल में शामिल हो गये ।

महाराष्ट्र विधानसभा में विरोधी सदस्यों ने महाराष्ट्र और मैसूर के बीच सीमा-विवाद पर प्रधानमन्त्री से हुई बातचीत के परिणाम के बारे में वक्तव्य न देने के विरोध में सभा का त्याग किया ।

18 अगस्त : दिल्ली दुकान और प्रतिष्ठान (संशोधन) विधेयक, 1970 को राज्य-सभा ने कुछ संशोधनों के साथ लोकसभा को लौटा दिया ।

राज्यपाल ने लोकसभा द्वारा पारित भारतीय डाक घर (संशोधन) विधेयक पारित कर दिया ।

19 अगस्त : लोकसभा द्वारा पारित संविदा श्रम (विनियमन और उन्मूलन) विधेयक राज्य-सभा द्वारा स्वीकार कर लिया गया ।

21 अगस्त : श्री प्रणव कुमार मुकर्जी द्वारा राज्य-सभा में संविधान के अनुच्छेद 75 और 164 में संशोधन के लिए संविधान (संशोधन) विधेयक पुरःस्थापित किया गया ।

गोवा विधानसभा में बन्दोदकर मन्त्रिमण्डल में विश्वास का मत 14 के मुकाबले 17 द्वारा स्वीकार कर लिया गया ।

22 अगस्त : गुजरात विधानसभा में श्री जे० बी० राठोड़ ने पुनः स्वतन्त्र दल में प्रवेश ले लिया ।

24 अगस्त : तमिलनाडु विधान-परिषद् का अधिवेशन प्रारम्भ । सदन को 9 सितम्बर को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया ।

25 अगस्त : लोकसभा ने पहली अक्तूबर, 1970 से 6 महीने के लिए पश्चिमी बंगाल में राष्ट्रपति शासन के विस्तार का अनुमोदन कर दिया और राज्य का बजट स्वीकार कर लिया, जिसमें कि 459·86 करोड़ रुपये

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

का व्यय था, राज्य-सभा ने 27 अगस्त को बजट स्वीकार कर लिया।

राज्य-सभा ने भारतीय तार (संशोधन) विधेयक को उसी रूप में स्वीकार कर लिया जिस रूप में कि उसे लोकसभा ने पास किया था।

हरयाणा विधानसभा ने अपना चार दिन का वर्षाकालीन अधिवेशन प्रारम्भ किया। श्री हरद्वारी लाल ने बंसी लाल मन्त्रिमण्डल में अविश्वास का प्रस्ताव वापस ले लिया जिसके बारे में उन्होंने पूर्व सूचना दी थी।

26 अगस्त : लोकसभा ने बजट (सामान्य), सन् 1970 के बारे में अनुपूरक माँग अनुदान पारित कर दिया। इन माँगों को राज्य-सभा ने 1 सितम्बर को स्वीकार किया।

27 अगस्त : लोकसभा ने अनुपूरक माँग अनुदान (रेल) स्वीकार कर लिया। राज्य-सभा ने इन माँगों को 1 सितम्बर को स्वीकार कर लिया।

उत्तर प्रदेश विधानसभा में श्री पन्नालाल गुप्त ने भारतीय क्रान्ति दल से त्याग-पत्र दे दिया।

न्यूजीलैण्ड सरकार को संसद में आकस्मिक मतदान के दौरान पराजय हुई।

28 अगस्त : लोकसभा ने श्री सूरज भान द्वारा प्रस्तावित संविधान (संशोधन) विधेयक पर अपूर्ण चर्चा की।

हरयाणा विधानसभा का अधिवेशन साढ़े नौ बजे प्रातः से अगले दिन 1 बजे रात तक चला। इस दौरान 11 विधेयक पारित किये गये। उसके पश्चात् इसे अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया।

29 अगस्त : लोकसभा ने पेटेण्ट विधेयक, सन् 1970 पारित कर दिया। इसे राज्यसभा ने 3 सितम्बर को स्वीकार किया था।

30 अगस्त : पैट्रोलियम और रसायन विभाग में उपमन्त्री, श्री भानु प्रकाश सिंह, ने केन्द्रीय मन्त्रि परिषद् से त्याग-पत्र दे दिया। यह त्याग-पत्र 31 अगस्त को स्वीकार कर लिया गया।

स्वतन्त्र पार्टी के नवाबजादा जुल्फिकार अली खाँ और संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के मोहन सिंह ने अपने दलों से त्याग-पत्र दे दिया और वे सत्तारूढ़ कांग्रेस संसदीय दल में शामिल हो गये।

उत्तर प्रदेश विधानसभा में संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के श्री प्यारे लाल शर्मा अपने दल से त्याग-पत्र देकर सत्तारूढ़ कांग्रेस दल में शामिल हो गये।

31 अगस्त : दिल्ली विश्वविद्यालय (संशोधन) विधेयक, 1970 के बारे में 4 अगस्त को राज्य-सभा द्वारा प्रस्तावित संशोधनों को लोकसभा ने स्वीकार कर लिया।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री एडवर्ड अकूफो आडो को घाना का राष्ट्रपति निर्वाचित घोषित किया गया।

प्रधानमन्त्री ने संविधान (24वाँ संशोधन) विधेयक को लोकसभा के विचारार्थ प्रस्तावित किया। इस विधेयक को 2 सितम्बर को 154 मतों के मुकाबले 331 मतों से स्वीकार कर लिया गया।

2 सितम्बर : श्री एन० शिवप्पा ने लोकसभा में स्वतन्त्र दल से त्याग-पत्र दे दिया।

भेषज और शृङ्गार प्रसाधन (संशोधन) विधेयक को राज्यसभा ने स्वीकार कर लिया।

इनरायल के प्रधानमन्त्री ने 6 मन्त्रियों के त्याग-पत्र के परिणामस्वरूप अपने मन्त्रिमण्डल के पुनर्गठन की घोषणा की।

3 सितम्बर : केन्द्रीय सरकार ने सिद्धान्ततः मणिपुर और त्रिपुरा को पूर्ण राज्य का दर्जा देना मान लिया।

लोकसभा ने केन्द्रीय बिक्री कर (संशोधन विधेयक), सन् 1970 को प्रवर समिति को सौंप दिया।

गृह-मन्त्रालय के राज्य मन्त्री ने आपराधिक विधि (दूसरा संशोधन) विधेयक को विचारार्थ प्रस्तुत करने के प्रस्ताव को वापस ले लिया।

जम्मू कश्मीर के राज्यपाल ने राज्य में साम्प्रदायिकता पर रोक लगाने के लिए अध्यादेश जारी कर दिया।

उत्तर प्रदेश विधानसभा के 5 सदस्यों ने भारतीय क्रान्ति दल से त्याग-पद देकर सदन में एक अलग निर्दलीय गुट का निर्माण किया।

4 सितम्बर : प्रधानमन्त्री ने राज्य-सभा में संविधान (24वाँ संशोधन) विधेयक, सन् 1970 विचारार्थ प्रस्तुत किया। इस प्रस्ताव को अभीष्ट दो-तिहाई मतों का बहुमत मिलने में एक मत की कमी रह गयी। उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले 224 संसद-सदस्यों में से 149 ने इसके समर्थन में और 75 ने इसके विरुद्ध मतदान किया।

लोकसभा ने जल-दूषण निवारक विधेयक, सन् 1967 को संयुक्त समिति को भेजने का फैसला किया।

संगठन कांग्रेस के श्री मोहन लाल गौतम अपने दल से त्याग-पत्र देकर सत्तारूढ़ कांग्रेस दल के संसदीय दल में शामिल हो गये।

श्री रामजी राम रिपब्लिकन दल से त्याग-पत्र देकर सत्तारूढ़ कांग्रेस के संसदीय दल में शामिल हो गये।

लोकसभा का अधिवेशन अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया। राज्य-सभा को भी 7 सितम्बर को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया।

श्री बी० एल० महता गुजरात विधानसभा में स्वतन्त्र दल से त्याग-पत्र देकर सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

6 सितम्बर : भारत के राष्ट्रपति ने एक आदेश जारी करके भूतपूर्व भारतीय राज्यों के शासकों की मान्यता समाप्त कर दी। इस आदेश को 11 सितम्बर को उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी गयी।

सर्वश्री डी० वी० सिंह, मणिक्य बहादुर, शंकर प्रताप सिंह, वाई०एन० मुकने, एस० एम० सोलंकी, श्रीमती रजनी गंधा को सत्तारूढ़ कांग्रेस दल के संसदीय दल की सदस्यता से वंचित कर दिया गया, क्योंकि उन्होंने दल के सचेतक के आदेशों का उल्लंघन किया और प्रिवी-पर्स विधेयक पर सरकार के विरुद्ध मतदान किया।

7 सितम्बर : बिहार के मुख्यमन्त्री ने मन्त्रिमण्डल स्तर के दो मन्त्रियों और 4 राज्य मन्त्रियों को अपनी मन्त्रि-परिषद् में शामिल किया।

उत्तर प्रदेश के राज्यपाल ने गुंडा नियन्त्रण अध्यादेश प्रख्यापित किया।

8 सितम्बर : श्री राज बहादुर चन्द और श्री एच० बी० सिंह संगठन कांग्रेस से त्याग-पत्र देकर उत्तर प्रदेश विधानसभा में सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये।

तमिलनाडु विधान परिषद् ने वेतन भुगतान (संशोधन) विधेयक, 1970 को उसी रूप में स्वीकार कर लिया जिस रूप में इसे राज्य की विधानसभा में पारित किया गया था।

जम्मू कश्मीर विधानसभा के कांग्रेसी सदस्य श्री महन्तराम का निधन।

9 सितम्बर : तमिलनाडु विधान परिषद् ने 29 के मुकाबले 133 मतों से करुणा-निधि मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव रद्द कर दिया। सभा ने सरकार की दमनकारी पुलिस नीति के विरुद्ध भी निन्दा प्रस्ताव नकार दिया।

तमिलनाडु मन्त्रिमण्डल के तीन सदस्य, श्री के० ए० मतिय-लगन (वित्त), श्री एम० मुथुस्वामी (स्थानीय प्रशासन) और श्री के० वेजवेन्दन (श्रम) ने मन्त्रिमण्डल से त्याग-पत्र दे दिया।

10 सितम्बर : बिहार के राज्यपाल ने बिहार भूमि-सुधार (अधिकतम सीमा का नियमन) और फालतू भूमि (का अधिग्रहण) संशोधन अध्यादेश प्रख्यापित किया।

12 सितम्बर : श्री बी० बी० घुईखोदर (निर्दलीय) ने महाराष्ट्र विधानसभा में सत्ता-रूढ़ कांग्रेस में शामिल होने का फैसला किया।

संगठन कांग्रेस के सिद्धेश्वर प्रसाद सिंह अपने दल से त्याग-पत्र देकर निर्दलीय सदस्य के रूप में बिहार विधानसभा में काम करने लगे।

13 सितम्बर : उड़ीसा विधानसभा में 23 सदस्यों ने श्री गंगाधर महापात्र के नेतृत्व में उत्कल कांग्रेस के विधानमण्डल दल के निर्माण का फैसला किया। श्री महापात्र को बाद में सदन में विरोधी दल का नया नेता स्वीकार कर लिया गया।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

14 सितम्बर : उच्चतम न्यायालय ने अपना विस्तृत निर्णय दे दिया, जिसमें कि भारत के राष्ट्रपति के रूप में श्री वी० वी० गिरि के निर्वाचन को चुनौती देने वाली याचिकाएँ रद्द की गयी थीं।

श्री गुमान सिंह बघेला गुजरात विधानसभा के संगठन कांग्रेस दल में फिर शामिल हो गये।

15 सितम्बर : उड़ीसा विधानसभा ने राजेन्द्र सिंह देव मन्त्रिमण्डल में अविश्वास का प्रस्ताव 20 मतों के अन्तर से रद्द कर दिया।

एक संगठन कांग्रेसी और एक जन कांग्रेस विधायक ने नव-निर्मित उत्कल कांग्रेस से अपना समर्थन वापस ले लिया।

श्री रमणलाल प्रेमी लोकसेवा दल से त्याग-पत्र देकर मध्य-प्रदेश विधानसभा में सत्तारूढ़ काँग्रेस में शामिल हो गये।

16 सितम्बर : त्रिपुरा विधानसभा में कांग्रेस विधायक दल के उप-नेता श्री प्रमोद-रंजन दासगुप्त को सदन से बाहर निकाल दिया गया।

ब्रिगेडियर मुहम्मद दाउद के नेतृत्व में एक सैनिक सरकार ने जोर्डन का प्रशासन सम्भाल लिया।

17 सितम्बर : लोकसभा के सदस्य श्री अमरसिंह सैगल का निधन।

केरल विधानसभा के लिए मध्यावधि निर्वाचन।

गुजरात विधानसभा में एक निर्दलीय विधायक श्री बी० बी० गजेरा संगठन कांग्रेस में शामिल हो गये।

कांग्रेस विधायक दल (समाजवादी) के 6 सदस्यों को त्रिपुरा असेम्बली के अधिवेशन की अवधि के लिए निलम्बित कर दिया गया। स्वास्थ्य मन्त्री श्री तड़ित मोहन दासगुप्त सत्तारूढ़ कांग्रेस से त्याग-पत्र देकर कांग्रेस विधायक दल (समाजवादी) में शामिल हो गये।

निर्दलीय श्री मसूद हुसैन उत्तरप्रदेश विधानसभा में सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये और श्री राजेश्वर सिंह भारतीय क्रान्ति दल से त्याग-पत्र देकर सदन के निर्दलीय गुट में शामिल हो गये।

लीबिया के प्रधानमन्त्री ने अपने मन्त्रिमण्डल का पुनर्गठन किया।

19 सितम्बर : सत्तारूढ़ कांग्रेस के श्री ए० सी० जार्ज को मुकन्दपुरम् निर्वाचन क्षेत्र से लोकसभा के लिए निर्वाचित घोषित किया गया।

श्री मनुभाई पालकीवाला ने गुजरात विधानसभा में संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी से त्याग-पत्र दे दिया।

20 सितम्बर : स्वीडन की एक-सदनीय रिस्कडाग (संसद) के लिए सामान्य निर्वाचन हुए। समाजवादी लोकतान्त्रिक दल और साम्यवादी दल ने मिलकर अधिसंख्य स्थान प्राप्त किये।

21 सितम्बर : श्री चावचन्द्रेत गोहेन को नीफा से लोकसभा के लिए सदस्य नामित किया गया।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सत्तारूढ़ कांग्रेस के 30 विधायकों ने मध्यप्रदेश विधानसभा में एक अलग गुट बनाने का निर्णय किया ।

मेघालय के वित्तमन्त्री ने 1970–71 के बजट अनुमान राज्य विधानसभा में प्रस्तुत किये ।

फ्रांस के प्रधानमन्त्री श्री शेबान डेलमास को उप-निर्वाचन में राष्ट्रीय सभा के लिए निर्वाचित घोषित किया गया ।

उच्चतम न्यायालय ने सर्वश्री मधु लिमए, एस० ए० डांगे, और राजनारायण (सभी संसद-सदस्यों) द्वारा दायर की गई बन्दी प्रत्यक्षीकरण सम्बन्धी याचिकाओं के सम्बन्ध में आपराधिक प्रक्रिया संहिता की धारा 107, 117, 144 और 151 की सांविधानिक विधिमान्यता की पुष्टि की ।

22 सितम्बर : राज्यसभा के सदस्य श्री पी० सी० मित्रा, जिन्होंने हाल ही में संगठन कांग्रेस से त्याग-पत्र दे दिया था, संसद में सत्तारूढ़ कांग्रेस दल में शामिल हो गये ।

सत्तारूढ़ कांग्रेस के श्री प्रबोधचन्द्र को गुरदासपुर निर्वाचन क्षेत्र से लोकसभा के लिए निर्वाचित घोषित किया गया ।

मध्यप्रदेश विधानसभा का अधिवेशन, जो 14 सितम्बर को शुरू हुआ था, राज्यपाल द्वारा सत्रावसित कर दिया गया ।

श्री तुन अब्दुल रजाक को मलैशिया का नया प्रधानमन्त्री नामित किया गया । उनके नेतृत्व में एक नये मन्त्रिमण्डल ने अगले दिन कार्य-भार सम्भाला ।

24 सितम्बर : उत्तर प्रदेश में भारतीय क्रान्ति दल सत्तारूढ़ कांग्रेस की मिली-जुली सरकार का विघटन ।

उत्तरप्रदेश विधानसभा में श्री धर्मवीर सिंह ने भारतीय क्रान्ति दल से त्याग-पत्र दे दिया ।

25 सितम्बर : बिहार विधानसभा में श्री शत्रु मर्दन साही ने स्वतन्त्र दल से त्याग-पत्र दे दिया ।

कनाडा के प्रधानमन्त्री ने अपने मन्त्रिमण्डल का पुनर्गठन किया ।

26 सितम्बर : संगठन कांग्रेस के श्री आर० बी० नाइक को एक मत से मैसूर विधान परिषद् का सभापति निर्वाचित किया गया ।

श्री अहमद तौकान के नेतृत्व में एक नयी असैनिक सरकार ने जोर्डन में कार्य-भार सम्भाला ।

27 सितम्बर : राज्यसभा के सदस्य श्री फूल सिंह का निधन ।

28 सितम्बर : संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति श्री नासिर का निधन । भूतपूर्व उपराष्ट्रपति श्री अनवर सादात को 15 अक्तूबर को गणराज्य का नया राष्ट्रपति चुना गया ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

29 सितम्बर : भारतीय क्रान्ति दल के मुख्यमन्त्री के त्याग-पत्र देने से इन्कार करने पर उत्तर प्रदेश के राज्यपाल ने राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश कर दी। इस आशय की उद्घोषणा 2 अक्तूबर को की गयी। राज्य विधानसभा को विघटित नहीं किया गया बल्कि फिलहाल निलम्बित कर दिया गया।

संगठन कांग्रेस के श्री वाई० रामचन्द्रन् को मैसूर विधान परिषद् के लिए विधानसभा निर्वाचन क्षेत्र से निर्वाचित घोषित किया गया।

30 सितम्बर : महाराष्ट्र मन्त्रिमण्डल ने लोकायुक्त के क्षेत्राधिकार को विस्तृत करने का फैसला किया, ताकि उसके अधीन राज्य के मन्त्रिमण्डल के सदस्य भी आ जाएँ।

1 अक्तूबर : राज्यसभा के सदस्य श्रीकान्त मिश्र का निधन।

बिहार के मुख्यमन्त्री ने अपने दो मन्त्रिमण्डल स्तर के मन्त्रियों और तीन राज्य मन्त्रियों को विभागों का कार्य-भार सौंपा। इन मन्त्रियों को इससे पूर्व 7 सितम्बर को उनके पद की शपथ दिलायी गयी थी।

3 अक्तूबर : गुजरात प्रजा परिषद् के 16 विधायक और एक स्वतन्त्र विधायक ने गुजरात विधानसभा में संगठन कांग्रेस में शामिल होने का फैसला कर लिया।

23 सितम्बर को देश के नये राष्ट्रपति के रूप में श्री फ्रेन्जिहा को शपथ दिलाने के परिणामस्वरूप रशीद करामी के नेतृत्व में लिबनान के मन्त्रिमण्डल ने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया।

4 अक्तूबर : श्री अच्युत मेनन के नेतृत्व में साम्यवादी दल, क्रान्तिकारी समाजवादी दल, मुस्लिम लीग और प्रजासमाजवादी दल के प्रतिनिधियों पर आधारित मिली-जुली सरकार ने केरल में अपने पद का कार्य-भार सम्भाला।

6 अक्तूबर : प्रजा समाजवादी दल के 11 सदस्यों ने अपने आपको मैसूर विधानसभा में संयुक्त विधायक दल से अलग कर लिया।

सैनिक विद्रोह के कारण बोलीविया के राष्ट्रपति जनरल एलफरेडो ओवाण्डो काण्डिया ने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। जनरल ज्यूवांग जोजटारिस को क्रान्तिकारी सरकार का राष्ट्रपति नियुक्त किया गया।

इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने वह रिट याचिका रद्द कर दी जिसमें उससे उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू करने के आदेश को अवैध घोषित करने की प्रार्थना की गयी थी।

8 अक्तूबर : जाम्बिया के राष्ट्रपति कौण्डा ने अपने मन्त्रिमण्डल के सहयोगियों के विभागों का पुनर्विभाजन किया है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

9 अक्तूबर : कांग्रेस (संगठन), भारतीय क्रान्ति दल, संसोपा, जनसंघ और स्वतन्त्र दलों पर आधारित नये संयुक्त विधायक दल ने श्री त्रिभुवन नारायण सिंह को एक मत से उत्तर प्रदेश विधानसभा में अपना नया नेता चुन लिया।

कम्बोदिया को गणराज्य घोषित किया गया।

फ्री डेमोक्रेट्स के तीन सदस्यों ने पश्चिमी जर्मनी में क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक पार्टी में प्रवेश ले लिया। सत्तारूढ़ दल का बहुमत 12 से कम होकर 6 सदस्यों का ही रह गया।

11 अक्तूबर : श्री के० हसन रानी केरल कांग्रेस से त्याग-पत्र देकर विधानसभा की मुस्लिम लीग पार्टी में शामिल हो गये।

श्रीलंका के प्रतिनिधि सदन ने उस विधेयक को स्वीकार कर लिया जिसमें कि सरकारी कर्मचारियों को संसदीय निर्वाचनों में भाग लेने का अधिकार दिया गया था।

12 अक्तूबर : श्रीलंका की सरकार ने प्रतिनिधि सदन में एक विधेयक पुरःस्थापित किया जिसका उद्देश्य सिनेट को समाप्त करना था।

14 अक्तूबर : बिहार के सत्तारूढ़ कांग्रेस दल के असन्तुष्ट विधायकों ने प्रधानमन्त्री और अन्य केन्द्रीय नेताओं से मुलाकात कर राज्य में सत्तारूढ़ कांग्रेस के नेता पद से श्री दारोगा प्रसाद राय को हटाने की माँग की।

श्री सलाम के नेतृत्व में लिबनान में एक नयी सरकार ने देश का कार्यभार संभाला।

15 अक्तूबर : गुजरात प्रजा परिषद् के 10 विधायकों ने राज्य विधानसभा के सत्तारूढ़ कांग्रेस दल में प्रवेश किया।

श्री धूम प्रसाद (जनसंघ) और श्री हंसा (भारतीय क्रान्ति दल) जिन्होंने सत्तारूढ़ कांग्रेस दल में प्रवेश ले लिया था, उत्तर प्रदेश विधानसभा के अपने-अपने दलों में वापस आ गये।

मणिपुर में राष्ट्रपति शासन को 6 मास के लिए और बढ़ा दिया गया।

पंजाब के खाद्य और आपूर्त्ति उप-मन्त्री सन्त साधु सिंह का निधन।

ईराक के उपराष्ट्रपति एयर मार्शल हरदन अल तकरीती को उनके सभी सैनिक और असैनिक पदों से विमुक्त कर दिया गया।

16 अक्तूबर : निर्दलीय सदस्य श्री सी० सी० देसाई और सत्तारूढ़ कांग्रेस के श्री पी० एन० सोलंकी लोकसभा में संगठन कांग्रेस दल में शामिल हो गये।

विश्वयुद्ध संकटकालीन अधिनियम के लागू किये जाने के परिणामस्वरूप कनाडा में पहली बार नागरिकों की स्वतन्त्रताएँ निलम्बित कर दी गयीं।

17 अक्तूबर : श्री अनवर सादत को संयुक्त अरब गणराज्य का नया राष्ट्रपति घोषित किया गया।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

18 अक्तूबर : उत्तर प्रदेश में श्री त्रिभुवन नारायण सिंह के नेतृत्व में एक तीन सदस्यीय मन्त्रिमण्डल को शपथ दिलायी गयी। वहाँ राष्ट्रपति शासन समाप्त कर दिया गया।

19 अक्तूबर : मैसूर विधानसभा का अधिवेशन अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया।

इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा की विधि मान्यता को चुनौती देने वाली रिट याचिका को रद्द करने के लिए ब्यौरेवार तर्क दिये।

शिव सेना के श्री वामन महादिक् को परेल निर्वाचन क्षेत्र से महाराष्ट्र विधानसभा के लिए उप-चुनाव में निर्वाचित घोषित किया गया।

21 अक्तूबर : डा० महमूद फाजी के प्रधानमन्त्रित्व में संयुक्त अरब गणराज्य में नये मन्त्रिमण्डल को शपथ दिलायी गयी थी।

22 अक्तूबर : नव-निर्मित केरल विधानसभा का पहला अधिवेशन प्रारम्भ। यह अधिवेशन 30 नवम्बर को समाप्त हुआ।

मुस्लिम लीग के श्री के० मोइद्दीन कुटी को केरल विधानसभा का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया।

24 अक्तूबर : इटली की राष्ट्रीय कांग्रेस ने डा० सेलवेडोर एलिन्दे को देश का नया राष्ट्रपति निर्वाचित किया।

25 अक्तूबर : श्रीलंका के वित्त मन्त्री ने नव-गठित संयुक्त मोर्चा सरकार का पहला बजट प्रस्तुत किया। इस बजट को 11 नवम्बर को स्वीकार कर लिया गया।

26 अक्तूबर : उड़ीसा विधानसभा ने वह विधेयक पारित कर दिया जिसके अनुसार राज्य में कृषि और कुछ अन्य प्रकार की भूमि के बारे में राजस्व के समाहरण को हमेशा के लिए समाप्त कर दिया गया।

27 अक्तूबर : श्रीलंका के प्रतिनिधि सदन ने सीनेट को समाप्त करने का सरकारी विधेयक पारित कर दिया।

28 अक्तूबर : जोर्डन के प्रधानमन्त्री श्री अहमद तौकान ने अपने मन्त्रिमण्डल का त्याग-पत्र प्रस्तुत कर दिया। वहाँ प्रधानमन्त्री वस्फी तेल के नेतृत्व में 30 अक्तूबर को नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया गया था।

29 अक्तूबर : मैसूर विधानसभा में जनता पार्टी के श्री राजा थिमैया सत्तारूढ़ कांग्रेस दल में शामिल हो गये।

30 अक्तूबर : श्री बिमला प्रसाद चालिहा ने असम राज्य के मुख्यमन्त्री पद से त्याग-पत्र दे दिया। श्री एम० एम० चौधरी को सत्तारूढ़ कांग्रेस विधायक दल का नेता निर्वाचित किया गया। तुरन्त पश्चात् उन्होंने एक 26 सदस्यीय मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया।

केरल विधानसभा ने 65 के मुकाबले 69 मतों से राज्यपाल को उनके अभिभाषण के लिए धन्यवाद का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

बिहार मन्त्रि-परिषद् में सिंचाई मन्त्री और लोकतान्त्रिक कांग्रेस के नेता श्री एल० पी० साही अपने अन्य 8 विधायकों के साथ सत्तारूढ़ कांग्रेस दल में शामिल हो गये।

क्रान्तिकारी समाजवादी दल के श्री आर० एस० उन्नी को 7 मतों के अन्तर से केरल विधानसभा का उपाध्यक्ष चुना गया।

13 अक्तूबर : श्री हुसैन शफाई और श्री अली साबरी संयुक्त अरब गणराज्य के उपराष्ट्रपति नियुक्त किये गये।

2 नवम्बर : राजस्थान विधानसभा का शीतकालीन अधिवेशन प्रारम्भ।

तनजानिया में संसदीय निर्वाचन।

श्री हेदी नोइरा, श्री वाही लढ़घम के स्थान पर ट्यूनेशिया के प्रधानमन्त्री नियुक्त किये गये।

प्रत्यक्ष राष्ट्रपतीय निर्वाचनों में श्री जौसेफ मौबोतू को कांगो का राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया।

3 नवम्बर : सत्तारूढ कांग्रेस के श्री सुखलाल ने अपने दल से त्याग-पत्र दे दिया और वे उत्तर प्रदेश विधानसभा के भारतीय क्रान्ति दल में शामिल हो गये।

अमरीकी कांग्रेस के दोनों सदनों के लिए मध्यावधि निर्वाचन।

4 नवम्बर : गुजरात प्रजा परिषद् के 13 सदस्य राज्य विधानसभा के सत्तारूढ़ कांग्रेस दल में शामिल हो गये।

श्री मलिक हाजी मुमातुला खान शिनवारी को खेबर एजेन्सी निर्वाचन क्षेत्र से पाकिस्तान की नेशनल असेम्बली के लिए निर्विरोध निर्वाचित घोषित किया गया।

6 नवम्बर : साम्यवादी दल के श्री एन० के० कृष्णन को केरल विधानसभा क्षेत्र से राज्यसभा के लिए निर्वाचित घोषित किया गया।

श्री डी० के० पटेल (निर्दलीय) ने राज्यसभा में जनसंघ में शामिल होने का निर्णय किया।

जनसंघ के श्री राम दास बत्रा ने हरयाणा विधानसभा में सत्तारूढ़ कांग्रेस दल में शामिल होने का निर्णय किया। श्री बलवन्त लाल तायल ने सदन में भारतीय क्रान्ति दल की प्राथमिक सदस्यता से त्याग-पत्र दे दिया।

केरल विधानसभा ने एक मत से उस क्रान्तिकारी संकल्प को पारित कर दिया, जिसमें कि केन्द्रीय सरकार से संविधान में इस प्रकार परिवर्तन करने की माँग की गयी थी जिससे कि प्रगतिशील विधायन को कार्यान्वित करने के मार्ग में वर्तमान प्रथाओं को हटाया जा सके।

8 नवम्बर : उत्तर प्रदेश में विधानसभा में भारतीय क्रान्ति दल के श्री ओमप्रकाश सिंह अपने दल से त्याग-पत्र देकर सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये।

9 नवम्बर : संसद के दोनों सदनों का शीतकालीन अधिवेशन प्रारम्भ। विरोधी

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

नेताओं में भी मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पर वल न देने के बारे में सहमति ।

सर्वश्री चौचन्देरात गोहाइन, ए० सी० जार्ज और प्रबोध चन्द्र ने लोकसभा के सदस्य के रूप में शपथ ग्रहण की ।

लोकसभा ने केन्द्रीय श्रम विधि (जम्मू काश्मीर तक विस्तार) विधेयक, 1969 और कोयला खान सुरक्षा (संशोधन) विधेयक, 1970 पारित कर दिये ।

असम विधानसभा का शीतकालीन अधिवेशन प्रारम्भ ।

सत्तारूढ़ कांग्रेस के श्री मल्लीपुडी श्रीराम संजीवराव को रामचन्द्र पुरम् निर्वाचन क्षेत्र से आन्ध्र प्रदेश विधानसभा के लिए निर्वाचित घोषित किया गया ।

राजस्थान विधानसभा अधिकारीगण और सदस्यगण, उपलब्धियाँ (दूसरा संशोधन) विधेयक 1970 के प्रति कड़े विरोध को दृष्टि में रखते हुए राज्य वित्त मन्त्री ने यह निश्चय किया कि इस विधेयक को विधानसभा में पेश न किया जाये ।

जाम्बिया के राष्ट्रपति ने चार मन्त्रियों को उनके विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोपों के परिणामस्वरूप निलम्बित कर दिया ।

फ्रान्स के भूतपूर्व राष्ट्रपति जनरल चार्ल्स दगाल के हृदय की गति रुक जाने से निधन ।

10 नवम्बर : लोकसभा ने कच्चा लोहा, खान, श्रम-कल्याण, शुल्क (संशोधन) विधेयक, 1967 और कृषि, उत्पादन शुल्क (संशोधन) विधेयक, 1970 स्वीकार कर लिये ।

कराधान विधि (संशोधन) विधेयक, 1969 को वित्त मन्त्रालय में राज्य मन्त्री श्री विद्याचरण शुक्ल ने लोकसभा में प्रस्तुत किया ।

प्रधानमन्त्री ने संसद में यह घोषणा की कि सरकार ने मेघालय को पूर्ण राज्य का दर्जा देने का फैसला किया है ।

11 नवम्बर : लोकसभा ने श्री पी० राममूर्ति द्वारा पश्चिमी बंगाल में विधि और व्यवस्था की बिगड़ती हुई स्थिति की निन्दा करने वाले स्थगन प्रस्ताव को 39 के मुकाबले 192 मतों से रद्द कर दिया ।

राज्यसभा ने अनुसूचित जनजातियों के आयुक्तों की रिपोर्टों पर चर्चा की ।

महाराष्ट्र के मुख्यमन्त्री ने 16 नवम्बर को प्रारम्भ होने वाले राज्य विधानसभा के शीतकालीन अधिवेशन को स्थगित करने की घोषणा की ।

गुरनामसिंह गुट के श्री प्रीतमसिंह समाना पंजाब विधान सभा के सन्त अकाली दल में शामिल हो गये ।

राजस्थान विधानसभा ने राजस्थान राजभाषा (अनुपूरक

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उपबन्ध) विधेयक, 1970 पारित कर दिया।

उत्तर प्रदेश की मन्त्रिपरिषद् में 45 नये मन्त्री शामिल किये गये। 14 नवम्बर को दो और मन्त्री मन्त्रिमण्डल में शामिल किये गये।

12 नवम्बर : 10 संविधान (संशोधन) विधेयक और 6 अन्य विधेयक गैर-सरकारी सदस्यों द्वारा लोकसभा में पुरःस्थापित किये गये।

श्री सूरजभान द्वारा पुरःस्थापित संविधान (सशोधन) विधेयक को लोकसभा ने अस्वीकार कर दिया। इसका उद्देश्य अनुच्छेद 330 और 332 में संशोधन करना था।

लोकसभा ने आचार्य जे० बी० कृपलानी के संविधान (संशोधन) विधेयक पर अपूर्ण रूप से चर्चा की, जिसमें कि राष्ट्रीय पुरस्कार प्रदान करने की प्रथा को समाप्त करने की माँग की गयी थी।

लोकसभा ने श्री भोगेन्द्र झा द्वारा प्रस्तावित बिहार विधान परिषद् के समाप्त करने के बारे में विधेयक को दी गयी प्राथमिकता के प्रश्न को गैर-सरकारी सदस्यों के विधायकों की समिति को वापस सौंप दिया।

असम विधानसभा ने 38 मतों के मुकाबले 61 मतों से मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया।

संसोपा के श्री एम० डी० विशारद अपने दल से त्याग-पत्र देकर सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये।

विधानसभा की हरिजन सदस्या, श्रीमती सियादुलारी, ने संगठन कांग्रेस से त्याग-पत्र दे दिया।

13 नवम्बर : सत्तारूढ़ कांग्रेस के श्री जोगेन्द्र नाथ सैकिया को असम विधानसभा का नया उपाध्यक्ष निर्वाचित किया गया।

केरल विधानसभा ने केरल लोकसेवा आयोग विधेयक पारित कर दिया।

गुजरात विधानसभा में स्वतन्त्र दल के श्री जेठाभाई राठौड़ अपने दल से त्याग-पत्र देकर सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये।

मैसूर विधानसभा के प्रसोपा के श्री एन० जी० हलपा अपने दल से त्याग-पत्र देकर सत्तारूढ़ कांग्रेस दल में शामिल हो गये।

14 नवम्बर : सीरिया के रक्षा मन्त्री श्री हाफिज असद ने एक रक्तहीन क्रान्ति में देश की सत्ता हथिया ली। देश के राष्ट्रपति और भूतपूर्व प्रधानमन्त्री को बन्दी बना लिया गया।

15 नवम्बर : बर्मा के सहायता, पुनर्वास और समाजसेवा मन्त्री ब्रिगेडियर तिन पे ने देश के मन्त्रिमण्डल तथा क्रान्तिकारी परिषद् से त्याग-पत्र दे दिया।

16 नवम्बर : गुजरात विधानसभा में श्री कान्ति लाल घिया के नेतृत्व में सत्तारूढ़ कांग्रेस को मुख्य विरोधी दल का स्थान प्रदान किया गया।

श्री ए० मदन मोहन (तेलंगाना प्रजा समिति) आन्ध्र प्रदेश

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विधानसभा के लिए सिद्दीपेट निर्वाचन क्षेत्र से उपनिर्वाचन में निर्वाचित घोषित किये गये ।

17 नवम्बर : लोकसभा ने कराधान विधि (संशोधन) विधेयक, 1969 पास कर दिया । इसे राज्यसभा ने 30 नवम्बर को स्वीकार किया ।

श्री एन्थोनी डिसूजा महाराष्ट्रवादी गोमान्तक पार्टी से त्याग-पत्र देकर गोवा विधानसभा में सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये ।

संयुक्त अरब गणराज्य में मन्त्रिमण्डल के पुनर्गठन में 4 मन्त्रियों को उप-प्रधान मन्त्री पद पर आसीन किया गया जबकि 8 मन्त्रियों को उनके कार्यभार से मुक्त कर दिया गया ।

स्वीडन के राष्ट्रपति ने अपने 3 वरिष्ठ मन्त्रियों को उनके पद से कार्य-मुक्त कर दिया ।

18 नवम्बर : पंजाब के संसदीय सचिव श्री बलबीर सिंह ने मन्त्रि परिषद् से त्याग-पत्र दे दिया ।

श्री अहमद अली खतीब को सीरिया का नया राष्ट्रपति नियुक्त किया गया । लेफ्टिनेन्ट जन० हाफिज-अल-असद को नया प्रधानमन्त्री नियुक्त किया गया ।

19 नवम्बर : दिल्ली उच्च न्यायालय ने यह व्यवस्था दी कि संसद के दोनों सदनों के पीठासीन अधिकारी दोनों सदनों में विचारार्थ आने वाले मामलों में निर्णय करने के एकमात्र निर्णायक हैं । तदनुसार न्यायालय ने श्री बिपनपाल दास, संसद-सदस्य द्वारा दायर की गयी रिट् याचिका खारिज कर दी जिसमें कि पिछले 5 सितम्बर को प्रिवीपर्स सम्बन्धी विधेयक के मामले में राज्यसभा के सभापति द्वारा दी गयी व्यवस्था को चुनौती दी गयी थी ।

21 नवम्बर : राजस्थान विधानसभा का अधिवेशन अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया ।

संगठन कांग्रेस के श्री बी० वी० पासायु अपने दल से त्याग-पत्र देकर सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये । एक अन्य विधायक श्री केशर दारिया स्वतन्त्र दल से त्याग-पत्र देकर सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये ।

22 नवम्बर : राजस्थान के राज्यपाल सरदार हुक्म सिंह के छुट्टी पर जाने के कारण राज्य के मुख्य न्यायाधीश श्री जगत नारायण को कार्यकारी राज्यपाल के रूप में पद की शपथ दिलायी गयी ।

23 नवम्बर : विधि और समाज-कल्याण मन्त्रालय में राज्य मन्त्री ने लोकसभा से अधिवक्ता (दूसरा संशोधन) विधेयक, 1968 वापस ले लिया जिस रूप में कि यह 28 दिसम्बर, 1968 को राज्यसभा द्वारा पास किया गया था ।

सत्तारूढ़ कांग्रेस के श्री कोटा रमैय्या आन्ध्र प्रदेश विधानसभा

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

के लिए तिरुवूरु निर्वाचन क्षेत्र से निर्वाचित घोषित किये गये ।

सिंगापुर के राष्ट्रपति श्री वाई० वी० इसहाक का हृदय की गति रुक जाने से निधन । सिंगापुर की संसद के अध्यक्ष डा० वाई० जी० सेंग ने कार्यकारी राष्ट्रपति के रूप में कार्यभार सम्भाला ।

24 नवम्बर : बिहार विधानसभा में संगठन कांग्रेस के 4 विधायकों ने सत्तारूढ़ कांग्रेस में प्रवेश करने का निश्चय किया ।

25 नवम्बर : 1970–71 के लिए 26·44 करोड़ रुपये की अनुपूरक मांग अनुदानों का दूसरा समूह संसद में प्रस्तुत किया गया ।

लोकसभा ने विदेशी मुद्रा विनिमय (संशोधन) विधेयक, 1970 पारित कर दिया । राज्यसभा ने इसे 7 दिसम्बर को स्वीकार किया ।

लोकसभा की याचिका समिति ने यह सिफारिश की कि मतदान की आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर दी जाये और संविधान के अनुच्छेद 326 को उपर्युक्त रूप से संशोधित किया जाये ।

मध्य प्रदेश विधानसभा में सत्तारूढ़ कांग्रेस के श्री एस० पी० मिश्र ने अपने दल से त्याग-पत्र दे दिया ।

61 सदस्यों के नये दल, समाजवादी दल, का बिहार विधान-सभा में उद्भव ।

संयुक्त राज्य अमरीका में श्री बाल्टर हिकेल के स्थान पिर श्री रोजर्स मोर्टन को नया गृह सचिव नियुक्त किया गया ।

26 नवम्बर : पंजाब विधानसभा में गुरनाम सिंह अकाली दल और सन्त अकाली दल का विलय । अकाली दल को पुनः सदन में पूर्ण बहुमत प्राप्त हो गया ।

मैसूर विधानपरिषद् के सभापति श्री आर० बी० नाइक का निधन ।

27 नवम्बर : कोयला उत्पादक क्षेत्र (अधिग्रहण और विकास) (संशोधन और विधि-करण) विधेयक, 1970 को लोकसभा में पेश किया गया ।

प्रिवीपर्स के मुकदमे पर सुनवाई के दौरान भारत के प्रधान न्यायाधीश के विचारों के सन्दर्भ में राज्यसभा में शोरशराबा ।

बिहार विधानसभा का शीतकालीन अधिवेशन प्रारम्भ ।

28 नवम्बर : श्री के० ब्रह्मानन्द रेड्डी के नेतृत्व में मन्त्रिपरिषद् को राज्य विधानसभा में आकस्मिक मतदान में पराजय ।

30 नवम्बर : एक निर्दलीय विधायक, श्री जे० पी० सर्वेश, मैसूर विधानसभा में सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये ।

2 दिसम्बर : केन्द्रीय सरकार ने दिल्ली महानगर परिषद् के मुख्य कार्यकारी पार्षद, उपसभापति और सदस्यों के वेतन और भत्ते बढ़ाने का निश्चय किया ।

गुजरात विधानसभा में संगठन कांग्रेस के 6 विधायकों ने सत्तारूढ़ दल के साथ मतदान न करने का निर्णय किया ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

3 दिसम्बर : महाराष्ट्र के दो पुलिस अधिकारियों ने पिछली 27 मई को नागपुर रेलवे स्टेशन पर हुई घटना के लिए लोकसभा से और संसद-सदस्य श्री के० एन० कौशिक से बिना शर्त के सभामण्डप में क्षमा-याचना की।

लोकसभा ने संसद के अधिकारियों के वेतन और भत्ते (संशोधन) विधेयक 1970 और चाय जिला प्रवासी श्रम विधेयक, 1967 पारित कर दिया। इन्हें राज्यसभा में 9 दिसम्बर को स्वीकार कर लिया गया।

लोकसभा ने वास्तुकार विधेयक, 1970 को उसी रूप में स्वीकार कर लिया। जिस रूप में इसे 7 मई, 1970 को राज्यसभा ने पारित किया था।

श्री वी० वी० सुब्बा रेड्डी को आन्ध्र प्रदेश विधानसभा का फिर अध्यक्ष निर्वाचित किया गया।

बिहार विधानसभा ने एक संकल्प पेश किया जिसमें केन्द्र सरकार से यह प्रार्थना की गयी थी कि वह 7 मई, 1974 तक विधान परिषद् को समाप्त करने के लिए कोई कार्रवाई न करे।

5 दिसम्बर : श्री आत्मा सिंह और श्री रावेल सिंह को पंजाब मन्त्रिपरिषद् में शामिल कर लिया गया।

7 दिसम्बर : उत्तर प्रदेश विधानसभा का अधिवेशन प्रारम्भ। राज्य में श्री त्रिभुवन नारायण सिंह के नेतृत्व में संयुक्त विधायक दल के मन्त्रिमण्डल के अस्तित्व में आने के पश्चात् सभा का अधिवेशन पहली बार बुलाया गया।

पाकिस्तान में राष्ट्रीय विधानसभा के लिए निर्वाचन।

8 दिसम्बर : केन्द्रीय विधि मन्त्री ने लोकसभा को सूचित किया कि सरकार राज्य विधानसभा द्वारा पेश किये गये नये संकल्प को दृष्टि में रखते हुए बिहार विधानपरिषद् को समाप्त करने के लिए कोई कार्रवाई नहीं करेगी।

लोकसभा ने 1970 के विनियोग विधेयक सं० 4 और 5 पारित कर दिए। राज्यसभा ने इन्हें 14 दिसम्बर को बिना किसी सिफारिश के वापस कर दिया।

अधिवक्ता (संशोधन) विधेयक, 1970 राज्यसभा में पेश किया गया।

9 दिसम्बर : लोहा और इस्पात के भूतपूर्व उप-नियन्त्रक श्री एस० सी० मुकर्जी की 1960 के दौरान सार्वजनिक लेखा समिति को पथ-भ्रष्ट करने के लिए लोकसभा में भर्त्सना की गयी।

लोकसभा की नियम समिति ने यह निर्णय किया कि संविधान (संशोधन) विधेयक के लिए विशिष्ट दो-तिहाई बहुमत केवल मतदान की अन्तिम अवस्था पर ही आवश्यक है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उत्तर प्रदेश विधानसभा में श्री हंसा और श्री गजेन्द्र सिंह ने भारतीय क्रान्ति दल से त्याग-पत्र दे दिया। सत्तारूढ़ कांग्रेस के श्री बनारसी राम ने अपने दल से त्याग-पत्र दे दिया और वे भारतीय क्रान्ति दल में शामिल हो गये।

10 दिसम्बर : आपराधिक प्रक्रिया संहिता (संशोधन) विधेयक सन् 1970 को राज्य-सभा में पेश किया गया। इस विधेयक को 15 दिसम्बर को संयुक्त समिति को सौंप दिया गया।

सन् 1970 के विनियोजन विधेयक संख्या 4 और 5 (रेल्वेज) को लोकसभा द्वारा पारित कर दिया गया। इस विधेयक के बारे में 15 दिसम्बर को राज्य-सभा ने अपनी सहमति दे दी।

गुजरात मन्त्रि-परिषद् से वित्त मन्त्री श्री जसवन्त सिंह मेहता और संसदीय कार्य मन्त्री श्री चिमन भाई पटेल ने त्याग-पत्र दे दिया।

11 दिसम्बर : लोकसभा ने आचार्य जे० बी० कृपलानी के व्यक्तियों को अलंकरण प्रदान करने के बारे में विधेयक (समाप्ति), सन् 1969 को 61 के मुकाबले 115 मतों से अस्वीकार कर दिया।

राजस्व मन्त्री श्री एल० एम० गोस्वामी ने असम मन्त्रि-परिषद् से त्याग-पत्र दे दिया।

14 दिसम्बर : महाराष्ट्र विधानसभा की दर्शक दीर्घा से कई व्यक्तियों ने नारे लगाये और जूते फेंके, बाद में सदन ने प्रदर्शनकारियों को 30 दिन के लिए कारावास का दण्ड दिया।

श्री राम अवतार राम (जनसंघ), श्री पी० पी० सिंह (जनता पार्टी), श्री बी० एस० मुण्डा (झारखण्ड), श्रीमती गायत्री देवी (निर्दलीय) को क्रमशः मारवा, छतरा, तोरपा और गोविन्दपुरम् निर्वाचन-क्षेत्रों से बिहार विधानसभा के लिए निर्वाचित घोषित किया गया।

सत्तारूढ़ कांग्रेस दल की श्रीमती के० अंदलम्मा को अण्डी निर्वाचन-क्षेत्र से आन्ध्र विधानसभा के लिए निर्वाचित घोषित किया गया।

15 दिसम्बर : लोकसभा ने हिमाचल प्रदेश राज्य विधेयक, सन् 1970 पारित कर दिया।

उत्तर प्रदेश के संयुक्त विधायक मन्त्रिमण्डल ने राज्य विधान-सभा में शक्ति-परीक्षण में पहली विजय प्राप्त की।

बिहार मन्त्री-परिषद् से वन-मन्त्री, श्री भानू सुम्ब्रुई ने त्याग-पत्र दे दिया। सदन ने दारोगा राय मन्त्रिमण्डल में अविश्वास का प्रस्ताव विचार के लिए स्वीकार कर लिया।

16 दिसम्बर : उच्चतम न्यायालय ने 2 के मुकाबले 11 के बहुमत से यह व्यवस्था दी कि राष्ट्रपति का वह आदेश, जिसमें भूतपूर्व भारतीय राज्यों के शासकों की मान्यता समाप्त कर दी गयी थी, अवैध और असांविधानिक है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

17 दिसम्बर : अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के बारे में आयोग की चौदहवीं रिपोर्ट लोकसभा में पेश कर दी गयी।

न्यायाधिपति श्री जे० सी० शाह को न्यायाधिपति श्री एम० हिदायतुल्ला के सेवा-निवृत्त होने पर भारत के नये प्रधान न्यायाधीश के पद की शपथ दिलायी गई।

राज्य-सभा ने हिमाचल प्रदेश राज्य विधेयक पारित कर दिया, जिसमें कि हिमाचल प्रदेश को पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान किया गया।

गुजरात के संगठन कांग्रेस के दो विधायकों और एक स्वतन्त्र विधायक ने अपने-अपने दलों से त्याग-पत्र दे दिया और फिर वे विधान-सभा के सत्तारूढ़ कांग्रेस दल में शामिल हो गये।

श्री शंकर दयाल सिंह ने बिहार मन्त्रि-परिषद् से त्याग-पत्र दे दिया। दो दिन पहले 15 दिसम्बर को एक अन्य मन्त्री, श्री भागू सुम्ब्रूई ने भी मन्त्रिमण्डल से त्याग-पत्र दिया था।

बिहार विधान-परिषद् के एक निर्दलीय सदस्य ने राज्य विधान-परिषद् में सत्तारूढ़ कांग्रेस दल में शामिल होने के निर्णय की घोषणा की।

गुजरात के भूतपूर्व मन्त्री, श्री चिमन भाई पटेल अपने तीन अन्य विधायक साथियों, सर्वश्री मनीभाई शाह, मण्डल दास पोला और पुरुषोत्तम भील के साथ सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये।

पाकिस्तान की 5 प्रान्तीय सभाओं के लिए निर्वाचन हुए।

18 दिसम्बर : लोकसभा का अधिवेशन अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया।

महाराष्ट्र, मैसूर, केरल सीमा-विवाद सम्बन्धी महाजन आयोग की रिपोर्ट को संसद के दोनों सदनों के पटल पर रखा गया।

श्रम और रोजगार मन्त्रालय में राज्य-मन्त्री, श्री भगवत झा आजाद, ने लोकसभा में एक बेरोजगारी आयोग की स्थापना करने की घोषणा की।

उच्चतम न्यायालय ने मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के इन निष्कर्षों की, कि राज्य के मुख्यमन्त्री श्री श्यामचरण शुक्ल का उस उप-निर्वाचन में किसी भी भ्रष्ट प्रथा के लिए सम्बन्धित होने का दायित्व नहीं है जिससे कि श्री द्वारिका प्रसाद मिश्र सन् 1963 में विधानसभा के लिए चुने गये थे, पुष्टि की।

उत्तर प्रदेश विधानसभा में एक गैर-सरकारी संकल्प प्रस्तुत किया गया, जिसका उद्देश्य राज्य में उच्च सदन को समाप्त करने की सिफारिश करने वाले पहले के संकल्प को वापस लेना था।

श्री दारोगा प्रसाद के नेतृत्व में बिहार की मिली-जुली सरकार का पतन।

19 दिसम्बर : आन्ध्र प्रदेश के मुख्यमन्त्री ने राज्य विधानसभा में यह घोषणा की कि

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

आन्ध्र और तेलंगाना सेवा संवर्गों को सरकार प्रादेशिक रूप प्रदान करेगी।

20 दिसम्बर : सत्तारूढ़ कांग्रेस के श्री वी० नागेश्वर राव गुन्टूर स्थानीय निर्वाचन-क्षेत्र से आन्ध्र प्रदेश विधानसभा के लिए चुने गये।

पौलैण्ड के साम्यवादी दल के नेता श्री व्लादीस्लाव गोमुलका ने दल से त्याग-पत्र दे दिया और उनके स्थान पर उसी दिन श्री एडवर्ड गायरिक को नियुक्त किया गया।

21 दिसम्बर : सत्तारूढ़ कांग्रेस के दो उम्मीदवार, श्री सवाय मल जैन और श्री एस० एस० विशनर, क्रमशः जबलपुर (पश्चिम) और संवर निर्वाचन-क्षेत्रों से दो उप-निर्वाचनों में मध्य प्रदेश विधानसभा के लिए निर्वाचित घोषित किये गये।

पंजाब विधानसभा के लिए उप-निर्वाचन में सत्तारूढ़ कांग्रेस के श्री जैल सिंह और अकाली दल की श्रीमती महिन्दर कौर क्रमशः आनन्दपुर और डकाला निर्वाचन-क्षेत्रों से निर्वाचित घोषित की गयीं।

उत्तर प्रदेश विधानसभा ने उत्तर प्रदेश व्यवसाय, व्यापार, वृत्ति (निरसन) विधेयक पारित कर दिया।

सत्तारूढ़ कांग्रेस की उम्मीदवार, श्रीमती रानी सुन्दरमनी, आन्ध्र प्रदेश विधानसभा के लिए उप-निर्वाचन में पंगातूर निर्वाचन-क्षेत्र से निर्वाचित घोषित की गयीं।

22 दिसम्बर : उत्तर प्रदेश विधानसभा ने स्वर मत से उत्तर प्रदेश विश्वविद्यालय और उपाधि महाविद्यालय (छात्र संघ) विधेयक पारित कर दिया।

आन्ध्र प्रदेश विधानपरिषद् के सदस्य, श्री जे० देवराज का हृदय की गति रुक जाने से निधन।

बिहार के नये संविद मन्त्रिमण्डल को श्री कर्पूरी ठाकुर (संसोपा) के नेतृत्व में पद की शपथ दिलायी गयी।

23 दिसम्बर : श्री शिव स्वरूप सिंह को उत्तर प्रदेश विधानसभा निर्वाचन-क्षेत्र से उप-चुनाव में राज्य-सभा के लिए सदस्य घोषित किया गया।

मध्य प्रदेश विधानसभा का शीतकालीन अधिवेशन प्रारम्भ।

बिहार विधानसभा के सदस्य, श्री करमचन्द भगत, सत्तारूढ़ कांग्रेस दल से त्याग-पत्र देकर जनसंघ में शामिल हो गये।

पोलैण्ड के अध्यक्ष, मार्शल स्पाइचास्की ने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया और उनके स्थान पर श्री जोसेफ सिरांकीविज ने उनके कार्य का भार सम्भाला।

उत्तर प्रदेश विधानपरिषद् के 8 निर्दलीय सदस्यों ने सदन में एक नये दल 'निर्दलीय संघ' की स्थापना की।

24 दिसम्बर : पंजाब और हरयाणा उच्च न्यायालय ने हरयाणा विधानसभा के लिए संगठन कांग्रेस के श्री हरद्वारी लाल का निर्वाचन अवैध घोषित कर दिया।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

25 दिसम्बर : संगठन कांग्रेस के श्री जसवन्त मेहता अपने दल से त्याग-पत्र देकर सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये ।

26 दिसम्बर : मैसूर विधानसभा को संकटकालीन अधिवेशन के पश्चात् अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया ।

27 दिसम्बर : राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि ने चौथी लोकसभा को भंग कर दिया ।

28 दिसम्बर : मध्य प्रदेश विधानसभा ने अनुपूरक माँग अनुदान पारित कर दिया ।

मैसूर विधान-परिषद् ने एक मत से एक सरकारी संकल्प को पारित कर दिया जिसमें कि केन्द्रीय सरकार से संसद में महाजन आयोग की रिपोर्ट को एक विधेयक के रूप में पेश करने और उसे स्वीकार करने के लिए प्रार्थना की थी ।

परिषद् को उसी दिन अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया ।

30 दिसम्बर : भंग लोकसभा के एक निर्दलीय सदस्य, श्री ए० एन० मुल्ला ने सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल होने के निर्णय की घोषणा की ।

सिंगापुर की संसद ने एक मत से श्री प्रोवेन्जेमिन शियर्स को द्वीप राज्य के नये राष्ट्रपति के रूप में निर्वाचित किया ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

फार्म—4

'लोकतंत्र समीक्षा' के स्वामित्व सम्बन्धी और अन्य विवरण

1. प्रकाशन स्थान	नई दिल्ली
2. प्रकाशन अवधि	त्रैमासिक
3. मुद्रक का नाम	स्वयंवर नाथ चतुर्वेदी
4. क्या भारत का नागरिक है ?	हाँ
पता	सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, विट्ठल भाई पटेल हाउस, रफी मार्ग, नई दिल्ली—1
5. प्रकाशक का नाम	स्वयंवर नाथ चतुर्वेदी
क्या भारत का नागरिक है ?	हाँ
पता	सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, विट्ठल भाई पटेल हाउस, रफी मार्ग, नई दिल्ली—1
6. सम्पादक का नाम	डा० सुभाष काश्यप
क्या भारत का नागरिक है ?	हाँ
पता	सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, विट्ठल भाई पटेल हाउस, रफी मार्ग, नई दिल्ली—1
7. उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार-पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूँजी के एक-एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों ।	सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, विट्ठल भाई पटेल हाउस, रफी मार्ग, नई दिल्ली—1

मैं, **स्वयंवर नाथ चतुर्वेदी,** एतद्द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिये गये विवरण सत्य हैं ।

हस्ताक्षर
स्वयंवर नाथ चतुर्वेदी
प्रकाशक

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संस्थान के प्रकाशन

प्रधान सम्पादक : डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

		रु० पैं०
1. भारतीय राजनीति के नये मोड़ : दल-बदल और राज्यों की राजनीति	ले० डा० सुभाष काश्यप	20·00
2. रुपए का अवमूल्यन और उसका प्रभाव (अक्तूबर, 1966)		8·00
3. चुनाव, उम्मीदवार और मतदाता (जनवरी, 1967)	ले० पो० एन० कृष्णमणि	3·00
4. दि पॉलिटिक्स ऑफ डिफेक्शन	ले० डा० सुभाष काश्यप	42·50
5. गांधी एण्ड सोशल पॉलिसी इन इण्डिया	ले० डा० सविता	20·00
6. होराइजन्स ऑफ फ्रीडम		36·00
7. इकॉनामिक डवलपमेन्ट इन इण्डिय एण्ड चाइना	ले० डा० एलेक्जेण्डर एक्स्टीन	1·00
8. पार्लियामेन्टरी प्रिविलिजिज एण्ड देयर कोडिफिकेशन	ले० पी० गोविन्द मेनन	3·00
9. इलेक्शन, केण्डीडेट्स एण्ड वोटर्स (संशोधित, 1971)	ले० पी० एन० कृष्णमणि	12·50
10. डिवेलुएशन ऑफ दि रुपी—इट्स इम्पलीकेशन्स एण्ड कॉन्सीक्वेन्सेज (अंग्रेजी का दूसरा संशोधित संस्करण, मार्च, 1968)		20·00
11. यूनियन-स्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया		25·00
12. पॉलिटिक्स एज ए प्रोफेशन	ले० बी० के० एन० मेनन	1·00
13. फ्रन्टियर गांधी	ले० गिरधारी लाल जुत्शी	17·50
14. पार्लियामेन्ट एण्ड कांस्टीट्यूशनल अमेंडमेन्ट		30·00
15. इन्डो-पाक मेरीटाइम कॉनफ्लिक्ट, 1965 : ए लीगल अप्रेजल	ले० डा० सूर्य प्रकाश शर्मा	
16. लोकपाल—ओम्बुड्स्मान इन इण्डिया	ले० डा० एम० पी० जैन	28·00
17. सिटिजनशिप इन इण्डिया : डुअल नेशनेलिटी एण्ड दि कांस्टीट्यूशन	ले० कुमारी एम० के० मास्टर	20·00
18. पार्लियामेन्टरी इन्स्टीट्यूशन्स इन आस्ट्रेलिया	ले० आर० डब्ल्यू० सी० श्वार्ट्ज	1·00
19. दि प्रेस एण्ड दि जुडीशियरी	ले० एम० हिदायतुल्ला	3·00
20. प्राब्लम्स ऑफ पार्लियामेन्टरी रिफॉर्म्स इन ब्रिटेन	ले० जॉन फ्रीमैन	2·50
21. दि मनिस्टर एण्ड हिज रिस्पान्सीबिलिटीज	ले० मोरारजी देसाई	7·50
22. जुडीशियल मैथड्स	ले० एम० हिदायतुल्ला	7·50
23. बंगला देश	सम्पादक : डा० सुभाष काश्यप	20·00
24. दि डायरेक्टिव प्रिंसीपल्स ऑफ स्टेट पॉलिसी	ले० जस्टिस के० सदानन्द हैगडे	

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संस्थान के बारे में

सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान का उद्घाटन 10 दिसम्बर, 1965 को भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति और संस्थान के प्रधान संरक्षक डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने किया था। जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संस्थान की स्थापना की गई उनमें मुख्य हैं :

भारतीय संविधान के सभी पक्षों के विकास तथा क्रियान्वय को विशेष रूप से ध्यान में रखते हुए सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन को प्रोत्साहन देना तथा उसकी व्यवस्था करना; विभिन्न देशों की सांविधानिक पद्धतियों और संसदीय संस्थाओं का तथा उनकी समस्याओं और प्रक्रमों का तुलनात्मक अध्ययन करना; विचार-गोष्ठियों, व्याख्यानों, परिसंवादों, परिचर्चाओं तथा सम्मेलनों का आयोजन करना; और सांविधानिक विधि की गतिविधियों, परिपाटियों और प्रथाओं, संसदीय प्रक्रिया, न्यायिक व्याख्या की प्रवृत्तियों तथा अन्य सम्बद्ध विषयों के बारे में प्रबन्धों, अनुसंधान-लेखों तथा पुस्तक-पुस्तिकाओं का प्रकाशन करना।

देश की विशिष्ट विभूतियों के अलावा, अमरीका, सोवियत संघ, ब्रिटेन, कोरि नेपाल, मलेशिया, श्रीलंका, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, कनाडा और स्वीडन सहित विश्व के विभि भागों से विद्वानों, विधिवेत्ताओं और सांसदिकों ने संस्थान के तत्त्वावधान में आयोजित विभि अवसरों पर व्याख्यान दिये और परिचर्चाओं में भाग लिया। संस्थान ने अनेक सफल विचार-गोष्ठियों और परिसंवादों का आयोजन किया है, वह संसदीय अधिछात्रवृत्ति कार्यक्रम आरम्भ कर चुका है और संसद-सदस्यों तथा राज्य-विधायकों के लाभार्थ अध्ययन विचार-गोष्ठियों का देश के विभिन्न भागों में आयोजन कर रहा है। वर्तमान समस्याओं पर उसकी अनेक पुस्तक-पुस्तिकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

संस्थान के सभी सदस्यों को संस्थान की त्रैमासिक पत्रिका तथा कुछ अन्य प्रकाशन नियमित रूप से भेजे जाते हैं। सभी सदस्य संस्थान के विशिष्ट पुस्तकालय का उपयोग कर सकते हैं तथा संस्थान के अन्य कार्यकलापों, जैसे विचार-गोष्ठियों, व्याख्यानों, परिचर्चाओं तथा सम्मेलनों में आमन्त्रित रहते हैं तथा उनमें भाग ले सकते हैं।

सामान्य सदस्यता के लिए शुल्क 25 रु० वार्षिक है और आजीवन सदस्यता के लिए 250 रु०। विश्वविद्यालयों, विधायी संस्थाओं और अन्य निगमित निकायों को निगमित सदस्यता प्रदान की जा सकती है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन-संस्थान

प्रधान संरक्षक

श्री वराहगिरि वैंकटगिरि
भारत के राष्ट्रपति

संरक्षक

श्री गोपाल स्वरूप पाठक
भारत के उपराष्ट्रपति

प्रधान

डा० गुरुदयाल सिंह ढिल्लों
अध्यक्ष, लोकसभा

उप प्रधान

डा० राम सुभग सिंह
श्री अशोक कुमार सेन
संसद-सदस्य
श्री मोतीलाल चिमनलाल सीतलवाड,
संसद-सदस्य
श्री के० के० शाह
श्री के० हनुमन्तैया
संसद-सदस्य
आचार्य जे० वी० कृपलानी

कार्याध्यक्ष

डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

कोषाध्यक्ष

जयसुखलाल हाथी

कार्य समिति के सदस्य

श्री लाल कृष्ण आडवाणी, संसद-सदस्य
श्री चन्द्रभान अग्रवाल
श्री भवेन्द्रनाथ बैनर्जी
श्री रुस्तम सोहराबजी गाए
श्री महेश्वरनाथ कौल, संसद-सदस्य
श्री एस० डी० कोठावले
श्री देसराज महाजन
श्री रामनिवास मिर्धा, संसद-सदस्य
श्री वी० जी० रामचन्द्रन्
श्री नित्तूर श्रीनिवास राव
श्री आर० सी० एस० सरकार
श्री एस० एल० शकधर
श्री प्रकाशवीर शास्त्री
डा० नगेन्द्र सिंह
ब्रिगेडियर रणसिंह
श्री ब्रजकिशोर प्रसाद सिंह
श्री जी० एस० एल० श्रीवास्तव

निदेशक

डा० सुभाष काश्यप

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by eGangotri Foundation USA
मीनाक्षी मुद्रणालय मेरठ में मुद्रित।

वर्ष 3 अंक 2 अप्रैल-जून 1971

29
10-3-72
पुस्तकालय

लोकतंत्र समीक्षा

सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन-संस्थान
नई दिल्ली

लोकतंत्र समीक्षा

वर्ष 3 **अंक 2**

अप्रैल-जून, 1971

"लोकतंत्र समीक्षा" सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान का त्रैमासिक मुख-पत्र है। पत्र में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के निजी विचार हैं। वे न तो किसी तरह संस्थान के विचार हैं और न संस्थान उनके लिए उत्तरदायी है। लेखों, पांडुलिपियों तथा समीक्षाओं आदि के सम्बन्ध में सारा पत्र-व्यवहार **सम्पादक के नाम** से किया जाना चाहिए, किसी अन्य के नाम से नहीं।

लेखकों से निवेदन है कि वे प्रकाशनार्थ रचनाओं की दो टंकित प्रतियाँ भेजें। केवल कार्बन प्रतियों पर विचार नहीं किया जायेगा। अन्यत्र भेजे गये लेखों पर भी विचार नहीं किया जायेगा।

"लोकतंत्र समीक्षा" में प्रकाशित सभी रचनाओं पर संस्थान का पूर्ण प्रतिलिप्यधिकार रहता है और संस्थान की लिखित अनुमति के बिना उनका कोई अंश प्रकाशित नहीं किया जा सकता।

विज्ञापनों और पत्रिका की सदस्यता के बारे में पत्र-व्यवहार हमारे वितरक **मीनाक्षी प्रकाशन, बेगम ब्रिज, मेरठ** के नाम से किया जाना चाहिये। "लोकतंत्र समीक्षा" का वार्षिक शुल्क 15 रुपये है। एक प्रति का मूल्य चार रुपये है। संस्थान के सदस्यों को यह निःशुल्क प्रदान किया जाता है।

सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन-संस्थान

18, विट्ठल भाई पटेल हाउस,
रफी मार्ग,
नई दिल्ली–1

संपादन-मण्डल

अध्यक्ष

डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

सदस्य

सेठ गोविन्द दास
श्री डी० के० कुन्ते
श्री गंगाशरण सिंह
श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा
डा० रामधारी सिंह 'दिनकर'
श्री प्रकाशवीर शास्त्री
डा० नगेन्द्र

सम्पादक

डा० सुभाष काश्यप

सहायक सम्पादक

विश्वप्रकाश गुप्त
ओमप्रकाश चावला

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विषय-सूची

लेख		पृष्ठ
1. भारतीय संविधान में राज्य-नीति के निदेशक तत्त्व	—के० सदानन्द हैगडे	1
2. विधि-शिक्षा और अनुसन्धान	—लक्ष्मीमल्ल सिंघवी	33
3. संघीय शासन प्रणालियों में निर्णय-प्रक्रिया और स्थायित्व	—रॉनल्ड जे० मे	43
4. भारतीय राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री के पारस्परिक सम्बन्ध	—जयनारायण लाल	60
5. केरल के मध्यावधि चुनाव का विश्लेषण	—डा० ब्रजेन्द्र प्रताप गौतम	71
6. भारत की निर्वाचन प्रणाली—सुधार की आवश्यकता	—गोपीनाथ	84
7. लोकतान्त्रिक मूल्य और भारतीय समाज	—चिरंजी लाल शर्मा	92
8. मध्य प्रदेश में चौथे आम चुनाव एवं कांग्रेस : एक पुनरावलोकन	—बी० आर० पुरोहित	109
9. प्राक्-स्वातन्त्र्य कांग्रेस दल की गत्यात्मकता (एक प्रकरण-अध्ययन)	—पुरुषोत्तम सिंह	125
10. राज्यों में उच्च सदन	—सीता श्रीवास्तव	134

लोकतंत्र
समीक्षा

वर्ष 3 अंक 2

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

हमारे लेखक

1. **न्यायाधिपति के० सदानन्द हैगडे** —न्यायाधीश, भारतीय उच्चतम न्यायालय, नई दिल्ली ।
2. **डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी** —कार्याध्यक्ष, सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली ।
3. **श्री रॉनल्ड जे० मे०** —रिजर्व बैंक ऑफ आस्ट्रेलिया ।
4. **डा० जयनरायण लाल** —अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, एम० एल० के० डिग्री कालिज, बलरामपुर, गोंडा ।
5. **डा० ब्रजेन्द्र प्रताप गौतम** —फतेहगढ़ (उत्तर प्रदेश) ।
6. **श्री गोपीनाथ** —अधिवक्ता, नजीबाबाद, बिजनौर ।
7. **श्री चिरंजी लाल शर्मा** —लेखक और पत्रकार ।
8. **डा० बी० आर० पुरोहित** —रीडर, राजनीति विज्ञान विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (मध्य प्रदेश) ।
9. **डा० पुरुषोत्तम सिंह** —अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, गिरिडीह महाविद्यालय, गिरिडीह (बिहार) ।
10. **डॉ० (श्रीमती) सीता श्रीवास्तव** —राजनीति विज्ञान विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारतीय संविधान में राज्य-नीति के निदेशक तत्त्व

के० सदानन्द हैगडे

आदर्श सरकारों का प्रयोजन

आदर्श सरकारों का प्रयोजन यह सुनिश्चित करना होता है कि सभी के लिए स्वतन्त्रता, शान्ति, न्याय, समता और बन्धुत्व की भावना की व्यवस्था होगी; कि एक राष्ट्र दूसरे के विरुद्ध तलवार नहीं उठायेगा और प्रत्येक व्यक्ति के निर्बाध विकास से सभी लोगों का निर्बाध विकास सम्भव होगा। हमारा लौह-युग ऐसे स्वर्ण-युग में तभी परिवर्तित किया जा सकता है, जब हम यह अनुभव करें, कि राजनीति की काया में व्याप्त व्याधि के लिए कोई एकमात्र पूर्ण रामबाण औषधि नहीं हो सकती और इसकी औषधि एक साथ विभिन्न क्षेत्रों में—राजनीति, अर्थशास्त्र, शिक्षा और निःसन्देह व्यक्तिगत व्यवहार के क्षेत्रों में—ढूँढने का प्रयास किया जाना चाहिए। यही वह भव्य आदर्श है, जिसे हमने अपने संविधान में सिद्ध करने का संकल्प किया और वह भी केवल लोकतान्त्रिक उपायों से।

लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था में राजनीतिज्ञ का पथ निराशाओं के झाड़-झंखाड़ों से आच्छादित होता है और इस पथ के किनारे जो पौधे जन्मते-पनपते हैं, उनमें प्रायः ही सत्ता और शक्ति के प्रत्येक फूल के साथ भ्रष्टाचार और कृतघ्नता के काँटे भी बेर-केर की भाँति लिपटे रहते हैं। यही कारण है कि हमारे यहाँ कुछ ही ऐसे स्त्री-पुरुषों ने राजनीति में भाग लिया है, जो सेवा के उच्चतम आदर्शों से प्रेरित हों, जिनमें निःस्वार्थ परोपकार की भावना कूट-कूट कर भरी हो, और जो विवेक और आध्यात्मिकता की भावना से आचरण करते हों। अधिकांश सत्यनिष्ठ लोग राजनीति के पचड़ों से दूर ही रहते हैं। रॉल्फ वाल्डो एमर्सन ने एक बार कहा था कि 'जो बुद्धिमान व्यक्ति सरकार में भागीदार नहीं होते हैं, उन्हें सबसे बड़ी यही सजा भुगतनी होती है कि उन्हें निकृष्ट व्यक्तियों के शासन में रहना पड़ता है।' इसके बावजूद इटली के राजमर्मज्ञ केवूर का जिन्हें संसद तथा नरेशों का पर्याप्त अनुभव था, यह कहना उचित ही है कि 'बुरे से बुरा विधायी सदन भी नरेश या तानाशाह की अच्छी से अच्छी बैठक से भी अच्छा होता है।' लेकिन अनुभव से प्रकट होता है कि अच्छी से अच्छी संसदों को भी कुछ नियन्त्रणों की आवश्यकता होती है क्योंकि भले से भले आदमी भी कभी-कभी जोश में अपना होश खो बैठते हैं।

आधुनिक विश्व में स्वतन्त्रता कोई एकाकी, सरल संकल्पना नहीं है। इसके चार तत्त्व हैं—राष्ट्रीय, व्यक्तिगत, राजनीतिक और आर्थिक। यदि हम अनुभव करें कि आधुनिक विवाद और विरोध शक्ति और स्वतन्त्रता के बीच नहीं हैं, बल्कि वे स्वतन्त्रता के दो प्रकारों के बीच विवाद और विरोध हैं, तो हमें इतिहास की कई घटनाओं और आधुनिक युग के अधिकांश गोरख-धन्धों के बारे में जानकारी प्राप्त हो सकती है। यही कारण है कि सरकार के प्रत्येक विभाग—

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कार्यांग, न्यायपालिका और विधान मण्डल—में नियन्त्रण और प्रति-नियन्त्रण अत्यावश्यक हैं।

हमारे संविधान में इस प्रकार के नियन्त्रणों को मूल अधिकारों का रूप प्रदान किया गया है और हमने निदेशक सिद्धान्तों के रूप में विधायी और राज्य कार्यों के लिए नीति का निर्धारण किया है। स्पष्ट है कि यदि मूल अधिकार में कोई अनुचित हस्तक्षेप किया जाये तो वह हस्तक्षेप निष्प्रभावी होगा। इसी प्रकार यह भी साफ है कि निदेशक सिद्धान्तों के विरुद्ध कोई भी राज्य कार्य अथवा विधान निष्प्रभावी होना चाहिए। परन्तु वास्तविक कठिनाई तो तब उत्पन्न होती है जब दोनों के बीच में विरोध आता है। उदाहरण के लिए 'सम्पत्ति' को लीजिए। यह समझने के लिए किसी अधिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं है कि यदि अपरिहार्य सामाजिक परिवर्तनों को—यहाँ मैं 'अपरिहार्य' शब्द पर बल देना चाहता हूँ—शनैः शनैः और स्वीकृति से नहीं लाया जा सकता तो वे विप्लव और जबरदस्ती से हो सकते हैं। अगर भू-स्वामी वर्ग यह समझता है कि सम्पत्ति को बनाये रखने के लिए गरीबी को भी स्वीकार किया जाना चाहिए तो यह उसकी भयंकर भूल है। इसका कारण यह है कि अगर गरीबी बहुत देर तक बनी रही तो इससे सम्पत्ति-व्यवस्था के लिए भी खतरा उत्पन्न हो सकता है। आवश्यक सामाजिक सुधार, लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप होने चाहिएँ, और उन्हें केवल लोकतान्त्रिक प्रक्रिया द्वारा ही कार्यान्वित किया जाना चाहिए। यदि हम इस स्वर्णिम सिद्धान्त को ध्यान में रखें कि सरकारी कार्य-कलापों का प्रेरक तत्त्व केवल यह न हो कि अधिकतम लोगों को अधिकतम लाभ पहुँचे, बल्कि यह भी हो कि उनसे कम-से-कम लोगों को कम-से-कम हानि पहुँचे, तो हमारे सामने यह तथ्य स्वतः स्पष्ट हो जायेगा कि मूल अधिकार और निदेशक सिद्धान्त देखने में एक-दूसरे के विरोधी लगते हुए भी वास्तव में एक-दूसरे के पूरक हैं। जब हम कोई सुधार करना चाहें, तब यह विचार करना सदा अच्छा होता है कि कहीं इससे किसी को क्षति तो नहीं पहुँचती। यदि कहीं क्षति पहुँचे भी, तो वह कम से कम होनी चाहिए।

निदेशक सिद्धान्तों का सार-तत्त्व

मूल अधिकारों का प्रयोजन एक समतापूर्ण समाज की सृष्टि करना, समस्त नागरिकों को समाज के प्रतिबन्धों और दबावों से मुक्त करना तथा उनके लिए स्वतन्त्रता का स्वर्ण-विहान लाना है। निदेशक सिद्धान्तों का प्रयोजन शान्तिपूर्ण तरीकों से सामाजिक क्रान्ति का पथ प्रशस्त कर कुछ सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों को तत्काल सिद्ध करना है। इस प्रकार की सामाजिक क्रान्ति के माध्यम से संविधान सामान्य व्यक्ति की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति करना और हमारे समाज की संरचना में परिवर्तन करना चाहता है। यह भारतीय जनता को सचमुच में मुक्त करना चाहता है।

निदेशक सिद्धान्तों का सार-तत्त्व संविधान के अनुच्छेद 38 में दिया गया है। उसमें संविधान की प्रस्तावना की प्रतिध्वनि सुनाई देती है :

'राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, भरसक कार्य साधक के रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक-कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा।'

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संविधान के भाग चार में विभिन्न उपबन्ध दिये गये हैं। संविधान ने राज्य को यह सुनिश्चित करने की आज्ञा दी है कि नागरिकों को आजीविका

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

के पर्याप्त साधन उपलब्ध हों, कि आर्थिक प्रणाली का संचालन और देश के भौतिक संसाधनों का स्वामित्व और नियन्त्रण सामान्य श्रेय के अधीन हो, कि मजदूरों को न केवल निर्वाह-योग्य मजदूरी प्राप्त हो, बल्कि वह इतनी हो जिससे वे अपने और अपने बच्चों के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखें, और उसमें सुधार कर सकें, देश के उपयोगी नागरिक बनने के लिए आगामी पीढ़ी को शिक्षित कर सकें और अपने जीवन की संध्या में सेवा-निवृत्त होकर आराम से रह सकें और उस समय का तथा अन्य सामाजिक और सांस्कृतिक अवसरों का आनन्द लाभ कर सकें, कि स्त्रियों और बच्चों का विशेष ध्यान रखा जाये और जनता के दुर्बल वर्गों के शैक्षिक और आर्थिक हितों को विशेष रूप से संवर्धित किया जाये। राज्य के प्राथमिक कर्तव्यों में से एक लोगों के सामान्य जीवन-स्तर और पोषण के स्तर को ऊपर उठाना है। अनुच्छेद 45 में यह आशा व्यक्त की गयी है कि संविधान के अंगीकरण के 10 वर्ष के भीतर 14 वर्ष तक के बच्चों के लिए अनिवार्य और प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था की जायेगी। अन्य निदेशक सिद्धान्तों में कृषि, पशुपालन और कुटीर उद्योगों की तकनीकों में सुधार करके भारतीय समाज के पुनर्जागरण को सुनिश्चित करने का संकल्प निहित है। इस प्रकार ये सिद्धान्त राज्य के ऊपर यह ठोस जिम्मेदारी डालते हैं कि वह देश में लोकतन्त्र के लिए सुदृढ़ आधार का निर्माण करे।

संविधान के भाग 4 का उद्देश्य उस सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति को मूर्त रूप प्रदान करना है, जिसे स्वतन्त्रता के पश्चात् पूरा करना बाकी रह गया था। प्रधानमन्त्री नेहरू का विश्वास था कि भारत का जीवन इसी सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति की सफलता पर निर्भर है। उन्होंने चेतावनी दी थी कि 'यदि हम इस समस्या को शीघ्र ही न सुलझा सके, तो हमारी समस्त सांविधानिक वसीयत निरर्थक और निष्प्रयोजन हो जायेगी।'[1] सामाजिक और आर्थिक न्याय के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं होगा। संविधान का उद्देश्य केवल थोड़े से नागरिकों को कुछ विशिष्ट स्वतन्त्रताएँ प्रदान करना नहीं है। उसमें तो समस्त नागरिकों के लिए ही स्वतन्त्रता की व्यवस्था की गयी है। संविधान में अपेक्षा की गयी है कि सम्पूर्ण समाज और समाज का प्रत्येक सदस्य इन स्वतन्त्रताओं का भोग करे। हमारे समाज जैसे असंगत समाज में, यदि किसी व्यक्ति के पास धन-दौलत है तो वह विधितः और तथ्यतः स्वतन्त्र है, परन्तु यदि उसके पास धन नहीं है, तो वह केवल विधि की दृष्टि में ही स्वतन्त्र है, तथ्य की दृष्टि में नहीं। यदि व्यक्ति तथ्यतः समता का उपभोग नहीं करता तो विधि के समक्ष समता का अर्थ ही क्या रह जाता है? यदि किसी व्यक्ति के पास पेट भरने के लिए अन्न न हो, सिर छिपाने के लिए छत न हो, तन ढकने के लिए कपड़े न हों, तब फिर अनुच्छेद 19 द्वारा दी गयी स्वतन्त्रताएँ उसके लिए बिल्कुल खोखले नारे बनकर रह जाती हैं। जो व्यक्ति भूखा हो, अशिक्षित हो और जिसमें इतना ज्ञान ही न हो कि वह राजनीतिक मामलों में भाग ले सके, उसके लिए वोट का क्या उपयोग हो सकता है? अधिकार के अविभाज्य अंग के रूप में कर्तव्य की संकल्पना उतनी ही प्राचीन है जितना कि मानव। ईसा मसीह ने इसी बात की शिक्षा प्रदान की, सुकरात ने इसी शिक्षा का प्रचार किया और हमारे अपने ही युग में जब गांधी जी से यह कहा गया कि वे मानव अधिकारों की सार्वभौम उद्घोषणा पर अपने विचार व्यक्त करें, तो उन्होंने कहा :

---

[1] 'कॉन्स्टीट्यूऐंट असेम्बली डिबेट्स', खण्ड 5, पृ० 316।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

'मैंने अपनी निरक्षर परन्तु विवेकशीला माँ से यह सीखा कि सभी अपेक्षित और परिरक्षित किये जाने वाले अधिकार ठीक प्रकार से निभाये गये कर्तव्यों से ही उत्पन्न होते हैं। उदाहरण के लिए हमें जीवन का अधिकार तभी प्राप्त होता है जब हम विश्व-नागरिकता के कर्तव्यों का पालन करते हैं। इस एक मूलभूत युक्ति के आधार पर स्त्री और पुरुष के कर्तव्यों की परिभाषा करना शायद काफी आसान होगा और इसके साथ ही हम प्रत्येक अधिकार का उसके अनुरूप कर्तव्य के साथ सह-सम्बन्ध भी आसानी से स्थापित कर सकेंगे ; इसके अतिरिक्त अन्य जो भी अधिकार होगा, वह अनधिकार होगा, जिसके लिए संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं है।'[2]

गाँधी जी ने हमें सामाजिक उत्तरदायित्व के सार-तत्त्व की शिक्षा प्रदान की है। अक्सर हम व्यक्तिगत अधिकार पर इसीलिए अत्यधिक बल देते हैं कि हम लोकतन्त्र और व्यक्ति के अधिकारों में एकात्मकता स्थापित कर लेते हैं, परन्तु वास्तविक लोकतन्त्र की इमारत समस्त नागरिकों के आर्थिक और सामाजिक उत्तरदायित्व की बुनियाद पर ही खड़ी की जा सकती है और इसकी सफलता उस सत्यनिष्ठा पर आधारित होगी, जिससे हम समाज सुधार और आर्थिक उत्थान के कार्यक्रमों को कार्यान्वित करते हैं। इसके साथ ही, यह बात भी हमें ध्यान में रखनी चाहिए कि यदि हम कर्तव्य पर अत्यधिक बल देंगे, तो यह भी लोकतन्त्र के लिए खतरा हो सकता है। जर्मन विद्वान् कर्ट रीजलर ने नाजी जर्मनी की त्रासदी के अपने अनुभव से हमें इस प्रकार चेतावनी दी है :

'यदि····मनुष्य के ये कर्तव्य 'समाज' और 'राज्य' के सार्वजनिक कल्याण के प्रति कर्तव्य हों और अधिकारों का उपयोग इन कर्तव्यों के पूर्ण किये जाने के साथ जुड़ा हुआ हो, तो ये कर्तव्य अधिकारों की जड़ काट देंगे। अधिकार तिरोहित हो जायेंगे। राज्य इस आधार पर कि कर्तव्यों का तो पालन हुआ ही नहीं, अधिकारों पर कुठाराघात कर सकता है। कोई भी अधिकार-पत्र, जो इन अधिकारों को समाज और राज्य के प्रति कर्तव्यों के साथ सम्बन्धित करता है, चाहे उसका मानव गरिमा, स्वतन्त्रता, परमात्मा, या किसी अन्य चीज पर कितना ही अधिक बल क्यों न हो, किसी भी समग्रवादी नेता द्वारा स्वीकृत किया जा सकता है। वह निश्चित रूप से अधिकारों की अवहेलना कर कर्तव्यों को लागू करने के लिए अग्रसर होगा।'[3]

वस्तुतः व्यक्तिगत अधिकारों और सामाजिक आवश्यकताओं के बीच सन्तुलन स्थापित करने की प्रक्रिया अत्यन्त सूक्ष्म प्रक्रिया है। यह प्रथमतः 'राज्य' का उत्तरदायित्व है और अन्तिम विश्लेषण में संविधान और विधियों के व्याख्याता के रूप में न्यायालयों का।

यदि हमारे संविधान के कोई भाग ऐसे हैं, जो साधारणतया दुर्बोध हैं, जिन पर सावधानी और गहराई से विचार करने तथा जिन्हें ईमानदारी से कार्यान्वित करने की आवश्यकता है, तो वे हैं भाग 3 और 4। उनमें हमारे संविधान का दर्शन निहित है, और एक लेखक के

---

[2] महात्मा गांधी का यूनेस्का के महानिदेशक ज्यूलियन हक्सले के नाम पत्र, 'ह्यूमेन राइट्स : कमेन्ट्स एण्ड इण्टरप्रेटेशन्स', पृ० 18।

[3] सेण्डीफर एण्ड शीमन, 'द फाउण्डेशन्स ऑफ फ्रीडम', लन्दन एफ० ए० प्राएगर, 1966, पृ० 101 से उद्धृत।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

शब्दों में 'वे हमारे संविधान की अन्तरात्मा है ।' उनमें एक कार्य-पद्धति का निर्धारण किया गया है और संजोया गया है एक उज्ज्वल भविष्य का स्वप्न । उनकी जड़ें पिछली कुछ शताब्दियों के इतिहास में धँसी हुई हैं । उन्हें हमारे संविधान में इस आशा और आकांक्षा से महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है कि निकट भविष्य में वास्तविक स्वतन्त्रता का वटवृक्ष पल्लवित होगा । वे भारत के भविष्य, वर्तमान और भूत को एक-दूसरे से सम्बन्धित करते हैं और हमारे महान् प्राचीन देश में सामाजिक क्रान्ति की अलख जगाते हैं ।

निदेशक सिद्धान्त : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

निदेशक सिद्धान्तों के स्वरूप, विस्तार और आवश्यकता का वास्तविक मूल्यांकन करने के लिए और यह जानने के लिए कि यह सिद्धान्त कहाँ तक बाध्यकारी है, और पवित्र आशाएँ मात्र ही नहीं है, यह आवश्यक है कि हम सामाजिक कल्याणकारी राज्य में विधि के कार्य और भूमिका को समझने का प्रयास करें ।

मूल अधिकार और निदेशक तत्त्व किसी विशेष व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह के मन की उद्‌भावना नहीं हैं । इन्हें मुख्य रूप से इतिहास की सृष्टि कहा जा सकता है । वे विचारों और आदर्शों तथा सामाजिक शक्ति के द्वन्द्व का परिणाम हैं । संविधान के भाग तीन और चार में अन्तर्निहित दर्शन का विकास सामान्यतया विश्व की महत्त्वपूर्ण घटनाओं के अनुभवों से, विशेष-कर पिछली तीन-चार शताब्दियों में भारत के अनुभवों से हुआ है ।

इतिहासकार हमें बतलाते हैं कि इतिहास की प्रभात-वेला में अपनी नैसर्गिक अवस्था में मानव लगातार भय की अवस्था में रहता था, और उसका जीवन 'एकांगी, दरिद्र, गन्दा, वहशी और अल्पकालिक था ।'[4] अपने साथियों के प्रति उसके व्यवहार को विनियमित करने के लिए कोई विधि या नियम नहीं था, कोई ऐसा व्यक्ति या प्राधिकरण भी नहीं था, जिसके प्रति उसका आज्ञा-पालन अथवा कर्तव्य-पालन का दृष्टिकोण हो । अपने साथियों से अपनी रक्षा के लिए भी वह किसी का आश्रय नहीं ले सकता था । चारों ओर मात्स्य-न्याय व्याप्त था । मनुष्य को एक ओर तो प्रकृति के कोप से अपनी रक्षा करनी थी और दूसरी ओर अपने संगी-साथियों की स्वेच्छाचारिता से । विवश होकर उसे दुर्दम्य आवश्यकता की पाठशाला में पारस्परिक सहयोग का पाठ पढ़ना पड़ा और यही था समाज-संगठन का आद्य रूप । कालान्तर में यह व्यवस्था भी बदली और इस प्रकार के सम्बन्धों में व्यापकता आयी और जैसे-जैसे मानव प्रकृति की शक्तियों पर अपना स्वामित्व बढ़ाता गया, वैसे ही वैसे समय की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामाजिक संगठनों और आचरणों सम्बन्धी नियमों का भी विकास होता गया । यह प्रक्रिया जारी रही और धीरे-धीरे एक समय वह आया जबकि हम सारे संसार में आदिम समाजों को बिखरा हुआ पाते हैं । ये समाज आत्म-केन्द्रित और आत्म-निर्भर थे और इनके अपने कायदे-कानून तथा अपना सामाजिक संगठन था । संरचना, स्वरूप और संगठन की दृष्टि से इन समाजों में व्यापक भेद पाये जाते थे । इनमें से कुछ तो संगठन के निचले स्तर पर ही बने रहे, लेकिन कुछ प्रगति करते हुए सभ्य राज्यों के स्तर तक पहुँच गये, जिनकी अपनी सुपरिभाषित विधि-प्रणालियाँ और सरकारें थीं । इस सम्बन्ध में हॉब्स ने ठीक ही कहा है :

---

[4] 'लेवियाथन', भाग 1, अध्याय 13 ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

'इन सरल समाजों में विधि का कार्य यह था कि वह समाज के सदस्यों के आपसी सम्बन्धों की परिभाषा कर दे, यह बता दे कि क्या कार्यकलाप वैध हैं और क्या अवैध, जिससे कि समाज के अन्तर्गत व्यक्तियों और समुदायों की गतिविधियों के बीच न्यूनतम तालमेल बना रहे।'[5]

इसके बाद हम सामन्तीय समाज की अवस्था पर आते हैं। सामन्तवाद में सामाजिक संरचना का आधार छोटे-बड़े का क्रमिक भेद था और यह समूची व्यवस्था काश्तकारी के सम्बन्धों पर टिकी हुई थी। इस व्यवस्था में शिखर पर निरंकुश शासक हुआ करता था। इन सामन्तों और सरदारों के ऊपर एक ही जिम्मेदारी थी। उन्हें अपने शासक को कर देना पड़ता था तथा युद्ध और शान्तिकाल में उसकी सहायता करनी पड़ती थी। बाकी सारे मामलों में वे स्वतन्त्र थे। यह सामन्तीय व्यवस्था ऐसे सभी राज्यों में प्रचलित रही, जिनकी नींव कृषि अर्थ-व्यवस्था पर टिकी थी। यह व्यवस्था भारत में विभिन्न रूपों में विद्यमान थी।

17वीं शताब्दी से पश्चिमी यूरोप में व्यापार और वाणिज्य फैलने-फूलने लगा। कतिपय समाजों में मध्यम श्रेणी के लोगों ने व्यापार और वाणिज्य को अपनाया और पश्चिमी यूरोप में वाणिज्य एक महत्त्वपूर्ण पेशा बन गया। समाज का जो वर्ग व्यापार और वाणिज्य की ओर अग्रसर हुआ, वह समृद्ध बना और धन-सम्पदा सम्मान का प्रतीक बन गयी। बड़े-बड़े व्यापारियों के हाथों में व्यापक शक्तियाँ केन्द्रित होती गयीं और विधि और राज्य का एकमात्र कार्य व्यापारिक वर्गों के हितों की रक्षा करना और उन्हें बढ़ाना हो गया। प्रभावकारी वाणिज्यवाद के इस युग में राज्य का हस्तक्षेप बहुत बड़ी सीमाओं तक व्यापार पर लगाये गये प्रतिबन्धों और शुल्क पद्धति-सम्बन्धी विधियों के निर्माण तक सीमित था, जिससे कि वाणिज्य वर्ग के हितों की आन्तरिक और वैदेशिक क्षेत्रों में रक्षा की जा सके। औद्योगिक क्रान्ति ने इस प्रवृत्ति को व्यावहारिक रूप से बिल्कुल उल्टा दिया और इसके परिणामस्वरूप औद्योगिक मध्यम वर्ग का उदय हुआ, जिसे राज्य में प्रतिबन्ध और उसकी विधियों में अपनी प्रगति और हितों के लिए प्रतिबन्ध ही प्रतिबन्ध दिखाई दिये। अतः इस बात की वकालत की गयी कि राज्य का हस्तक्षेप कम से कम होना चाहिए। कहा गया 'वही सरकार सबसे अच्छी है जो न्यूनतम शासन करती हो'। एडम स्मिथ, रिकार्डो और माल्थ्यूज के नेतृत्व में मुक्त व्यापार के समर्थकों ने इस बात का प्रचार किया कि कुछ ऐसे कानून लागू किये जाने चाहिएँ जिन्हें प्राकृतिक नियम कहा जाये।

प्राकृतिक विधि की संकल्पना एक ऐसी व्यापक विधि के रूप में की गयी थी, जिसमें कि मनुष्य-निर्मित विधि की अपेक्षा उच्चतर न्याय की अभिव्यक्ति होती थी। यह प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त का एक परम सत्य था। ग्रोशियस ने अपनी महान् रचना 'मारालिबरम' में यह आग्रह किया कि 'प्राकृतिक विधि इतनी अपरिवर्तनीय है कि स्वयं परमात्मा भी इसका उल्लंघन नहीं कर सकते'। हार्ट ने अपने 'कॉन्सेप्ट ऑफ लॉ'[6] में इस बात की ओर संकेत किया है कि यदि मनुष्यों को एक दूसरे के साथ रहना है, तो कुछ मूल नियमों को सर्वथा आवश्यक समझना चाहिए। लास्की ने प्राकृतिक विधि की ओर संकेत करते हुए न्यायमूर्ति होम्स को लिखे गये

---

[5] 'द लॉ ऑफ प्रिमिटिव मैन', 1954।

[6] एच० एल० हार्ट : 'कॉन्सेप्ट ऑफ लॉ', आक्सफोर्ड, 1961, पृ० 176।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

एक पत्र में कहा था :

'प्राकृतिक विधि उन कुछ न्यूनतम स्थितियों का शुद्ध तर्कसम्मत निरूपण है, जिनके बिना सुन्दर-शिष्ट जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती' ।[7]

प्राकृतिक विधि की संकल्पना की प्रारम्भ में अत्यन्त निर्णायक, क्रान्तिकारी और प्रगतिशील भूमिका रही । यह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए राजनीतिक आन्दोलनों का आधार बनी । रूसो और लॉक दोनों की इस सिद्धान्त में दृढ़ आस्था थी । मानव समता का सिद्धान्त कई क्रान्तियों का जयघोष सिद्ध हुआ । स्वाधीनता, समता और बन्धुत्व, फ्रेंच क्रान्ति की प्रधान कथावस्तु बने । अमरीकी संविधान में निहित अधिकारों की घोषणा प्राकृतिक विधि का मूर्त रूप है ।

उदार लोकतन्त्र और मुक्त व्यापार के सन्दर्भ में प्राकृतिक विधि और प्राकृतिक अधिकारों का मौलिक रूप से अर्थ रहा है व्यापार की स्वतन्त्रता और मुक्त उद्यम का अधिकार । इस व्यवस्था में यह आवश्यक था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यापार और कारबार-सम्बन्धी कार्य-कलाप करने के लिए अवसर की समता प्रदान की जाये, उसे मुक्त प्रतियोगिता की अनुमति प्राप्त हो और आर्थिक शक्तियों को निर्बाध कार्य करने के लिए छोड़ दिया जाये । इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों का विचार था कि विधि और राज्य के कार्यों को न्यूनतम रखा जाये । राज्य केवल विधि और व्यवस्था बनाये रखे, राजस्व एकत्रित करे, विदेशी सम्बन्धों का निर्वाह करे और देश की रक्षा करे । समझा गया कि उद्यम और प्रतियोगिता के क्षेत्र में दी गई इस स्वतन्त्रता से अन्ततः समाज के प्रत्येक सदस्य के हितों का उन्नयन होगा । राजकीय हस्तक्षेप के अभाव को स्वतन्त्रता का पर्याय माना गया । जॉन स्टुअर्ट मिल ने घोषणा की कि 'एकमात्र स्वतन्त्रता वह सार्थक स्वतन्त्रता है, जिसमें हम अपनी इच्छानुसार अपने हित का साधन कर सकते हैं' । लॉक और एडम स्मिथ की भाँति उसका विश्वास था कि 'सामाजिक सामंजस्य और प्रगति तभी सम्भव हैं, जबकि हम निजी जीवन का एक व्यापक क्षेत्र राज्य अथवा अन्य किसी सत्ता के हस्तक्षेप से पूरी तरह स्वतन्त्र रखें' । विधि और राज्य का कार्य एक निर्णायक का कार्य था । उसे यह देखना था कि खेल नियमों के अनुसार खेला जाये और परस्पर विरोधी शक्तियों और हितों में सन्तुलन बना रहे । सर हेनरी मेन[8] के शब्दों में 'यह स्थिति से संविदा के रूप में परिवर्तन था' । इसका अर्थ 'मुक्त' संविदा की विजय था, जो कि औद्योगिक और पूँजी प्रधान समाजों के लिए अपरिहार्य है, क्योंकि इस समाज में श्रम और पूँजी की गतिशीलता आवश्यक है । संविदा की स्वाधीनता एक मूलभूत प्रेरक सिद्धान्त बन गया और उसे ऐसी पवित्रता से मण्डित किया गया जिससे अभी तक धार्मिक सिद्धान्त भी वंचित थे ।

निजी सम्पति और सम्पत्ति अधिकारों की प्रकृति में भी धीरे-धीरे परिवर्तन हुआ । कम्पनी के छोटे-छोटे अंशधारी नाममात्र के स्वामी रह गये और उनकी शक्ति प्रायः समाप्त हो गई । वे अधिकतर लाभांश प्राप्त करने वाले बन गये । कई तरीकों से उनसे कम्पनी के नियन्त्रण छीन लिये गये । कुछ नियन्त्रण तो बहुमत के द्वारा छीना गया, कुछ वैधिक युक्तियों द्वारा और कुछ प्रबन्ध नियमन द्वारा । इनके साथ-साथ उनका विधिक स्वामित्व एकल निगम

---

[7] 'होम्स-लास्की लैटर्स', पृ० 116–117 ।

[8] हेनरी मैन, 'एनशियेण्ट लॉ', पृ० 24 ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

(कारपोरेशन सोल) की संकल्पना द्वारा उनसे छीन लिया गया। इससे निगम को एक विधिक सत्ता प्राप्त हो गयी। उद्योग और सम्पत्ति, व्यापार तथा वाणिज्य के विपुल क्षेत्र शक्तिशाली 'कमाण्डरों' के नियन्त्रण में आ गये। इन कप्तानों का लोगों पर और सामाजिक सम्बन्धों पर ऐसा प्राधिकार हुआ, जैसा कि किसी सार्वजनिक प्राधिकरण का ही होना चाहिए था जो कि समस्त लोगों के प्रति उत्तरदायी होता है। यह सत्ता पक्ष, जिसका औद्योगिक समाज में उदय हुआ है, असंख्य राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का जनक रहा है। बड़े-बड़े व्यवसाय संघों और उत्पादन संघों का आविर्भाव हुआ और वे अपनी विपुल आर्थिक शक्ति और एकाधिकार अथवा लगभग एकाधिकारपूर्ण स्थिति के कारण राष्ट्रीय गतिविधि के समस्त भागों पर नियन्त्रण करने लगे थे। उत्पादन और वितरण के साधन उनके हाथों में आ गये। मूल्य, उत्पादन, उपलब्धि, वस्तुओं की किस्म और परिमाण इन सब पर उनका नियन्त्रण स्थापित हो गया। वे जब चाहते, तब बाजार में कृत्रिम प्रचुरता की स्थिति ला सकते थे। सार्वजनिक प्रचार साधनों के माध्यम से विज्ञापनों द्वारा उपभोक्ता की पसन्द और अधिमान्यता की शक्ति भी उनके नियन्त्रण में आ गयी। व्यापारी वर्गों के हाथों में जो असीम शक्ति केन्द्रित हो गयी थी और वे जो-जो दवाव डाल सकते थे या जिन-जिन प्रभावों का उपयोग कर सकते थे, उनके फलस्वरूप वे राजनीतिज्ञों, राजनीतिक दलों, नीतियों, सरकार के स्वरूप और सरकारों के विधायी तथा प्रशासनिक कार्यों तक को नियन्त्रित करने लगे। उन्होंने अपनी शक्ति अपने राज्य की सीमाओं से भी परे तक विस्तृत कर ली और बृहद् अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादन-संघों के निर्माण द्वारा वे विश्व के राष्ट्रों को प्रभावित करने लगे और उनके भाग्यों का निर्णय करने लगे। उन्होंने युद्ध और शान्ति का निर्णय करने की भी शक्ति प्राप्त कर ली और वे अपनी मरजी की सरकारें और शासनतन्त्र स्थापित करने में समर्थ हो गये। जर्मनी के क्रिप्स, चेकोस्लोवाकिया के स्कोडाज और अमरीका के जनरल मोटर्स, फोर्ड्स और डयूपाण्ट्स, इंग्लैण्ड के इम्पीरियल कैमीकल्स और फ्रान्स के बैंककारों ने राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में जो भूमिका निभायी, वह सर्वविदित है। इन महान निगमों के संचालक इतने शक्तिशाली और दंभी हो गये कि इनमें से एक ने अमरीका में यह घोषणा तक की कि जो कुछ जनरल मोटर्स के हित में है, वही संयुक्त राज्य अमरीका के हित में है। इससे लुई चतुर्दश के उस कुख्यात कथन की याद हो आती है जो उसने अपने निरंकुश शासक होने के बारे में किया कि 'मैं ही राज्य हूँ'। हास्यकार रिचर्ड आरमर ने अपनी पुस्तक 'इट ऑल स्टारटिड विद कोलम्बस' में कहा है कि जॉन डी रॉकफेलर एकाधिकार नामक खेल में एक विशेषज्ञ है और उसने स्टेण्डर्ड आयल की स्थापना करके उच्च स्टेण्डर्ड की स्थापना की है। हेनरी फोर्ड के बारे में वह कहता है 'वह एक आदर्शवादी और स्वप्न द्रष्टा था जो प्रत्येक व्यक्ति के गैरेज में दो कारें देखना चाहता था और चाहता था कि ये दोनों कारें ही फोर्ड्स की हों'। परन्तु ऐसे प्रत्येक हास्य के पीछे सत्य का पर्याप्त पुट होता है।

बड़े-बड़े बैंक घरानों और समाचारपत्रों के मालिकों के साथ बड़े-बड़े उद्योगपतियों के मिलने से यह समस्याएँ और भी विकट हो गयीं। उनका यह मिलन आन्तरिक क्षेत्र में राज्य के लिए और अन्य सार्वजनिक प्राधिकरणों के लिए एक चुनौती बन गया। मुक्त व्यापार का सिद्धान्त इस अनन्य और निर्बन्ध अर्थ में बहुत से विचारकों को असन्तोषजनक प्रतीत होने लगा। वे सोचने लगे कि यदि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की इस सीमा तक अनुमति दी गई तो इसका परिणाम होगा एक ऐसी वस्तुस्थिति, जिसमें एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के लिए भेड़िया बन

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

जायेगा। यदि विधि और राज्य की भूमिका को इतना नगण्य कर दिया गया तो इसके फल-स्वरूप 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का बोलबाला हो जायेगा। गोल्डस्मिथ ने इसी बात की ओर संकेत करते हुए कहा था कि 'विधियाँ गरीबों को पीसती हैं और अमीर लोग विधि पर शासन करते हैं और जहाँ धन का संचय होता है वहाँ मानव का ह्रास होता है'। यह स्वीकार किया गया था कि यदि सभी मनुष्य प्रत्यक्षतः एक समान न हों तो मुक्त व्यापार के सिद्धान्त से अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। कोई भी लोकतान्त्रिक राज्य उस विकराल वस्तुस्थिति को सहन नहीं कर सकता, जहाँ कि गरीबों को अपने जीवन-निर्वाह में कठिनाई का सामना करना पड़े। इसी कारण रस्किन के विचार में अर्थशास्त्र 'आसुरी सम्पत्ति शास्त्र' था। रस्किन का यह विचार उसके अपने युग की राजनीतिक व्यवस्था को देखते हुए उचित ही था। 'इन्ट्रोडक्शन टु ज्युरिस्प्रुडेंस' (सम्पादक डेनिस लायड) नामक कृति के अधोलिखित अवतरण में प्राकृतिक विधि अथवा सम्पत्ति-अधिकार पर अत्यधिक बल दिया गया है :

'इसी प्रकार प्राकृतिक अधिकारों के विचार का मूल उन अनुदारवादी शक्तियों में निहित है जो (वर्तमान व्यवस्था की प्रतीक) सम्पत्ति को मूल मानव अधिकार के रूप में ग्रहण करती थीं—एक ऐसे अधिकार के रूप में जो स्वयं जीवन के अधिकार से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो।'

सही ढंग से सोचने वाले प्रत्येक विचारशील व्यक्ति ने माँग की कि मानव-जीवन में विधि तथा राज्य की क्रान्तिकारी तथा मूलगामी भूमिका होनी चाहिए। इस प्रकार मुक्त व्यापार आन्दोलन के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हो गयी और इस आन्दोलन का नेतृत्व जेरेमी बेंथम ने किया। उसने कहा कि राज्य की स्थिति इतनी हीन हो गयी है, कि वह फर्डिनेंड लासेल के तिरस्कारपूर्ण शब्दों में 'रात के चौकीदार अथवा यातायात पर नियन्त्रण रखने वाले पुलिस के आदमी का ही कार्य करता है।' बेंथम के अनुसार भलाई और बुराई का सम्बन्ध सुख और दुःख से है और विधि का कार्य भलाई का साथ देना तथा बुराई से बचना है। दूसरे शब्दों में उसका कार्य उपयोगिता के लक्ष्य की पूर्ति करना है। इस सम्बन्ध में फ्राइडमन ने ठीक ही कहा है, 'मानव इस बात से परिचित है कि विधि समाज के सभी व्यक्तियों के लिए सामूहिक रूप से उपयोगी होती है। विधायन का अन्तिम उद्देश्य अधिकतम लोगों की अधिकतम सुख-कामना करना है।'

बेंथम ने इन सिद्धान्तों की जो व्याख्या की, उसका परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति के अधिकार समाज की आवश्यकताओं के अधीन हो गये। बेंथम ने अविभाज्य अधिकारों के सिद्धान्त का जो विरोध किया है, उसके मूल में उसका अधिकतम सुख का सिद्धान्त ही निहित है। यद्यपि बेंथम व्यक्तिगत सम्पत्ति और उद्यम को पवित्र मानता है, फिर भी उसने सम्पत्ति अधिकार को कभी प्राकृतिक अधिकार नहीं माना और उसकी परिभाषा एक ऐसे अपवाद के रूप में की है, जो सकारात्मक विधियों द्वारा पुष्ट सुख का परिणाम होता है। बेंथम के अनुसार विधि के मुख्य कार्य हैं, जीवन-निर्वाह की व्यवस्था करना, समाज में उपभोग-वस्तुओं को पर्याप्त मात्रा में सुलभ करना, समानता को प्रोत्साहन देना और सुरक्षा का प्रबन्ध करना। उसका मुख्य जोर विधि के कार्यों पर था, परन्तु वह नागरिकों को अवसर की समता प्रदान करने के लिए भी उत्सुक था। यही कारण है कि वह विधायन में सुधार करना चाहता था। उसे आशा थी कि अगर एक बार सुधारवादी विधायन ने इस प्रकार के समता-मार्ग के बहुत से रोड़ों को हटा दिया तो उसके पश्चात् व्यक्तिगत उद्यम और प्रतियोगिता के लिए मार्ग प्रशस्त हो जायेगा।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

बेंथम का मुख्य योगदान यह था कि उसने विधि और राज्य को नकारात्मक भूमिका से हटाकर सकारात्मक और सामाजिक दृष्टि से प्रयोजनशील भूमिका प्रदान की। उसने व्यक्तिगत हितों को सामान्य हित के अधीन कर दिया। उसने जीवन की परिस्थितियों में सुधार लाने के लिए सकारात्मक विधायन, समाज-सुधार और विनियमन के माध्यम से प्रयास किया। इससे विधि तथा राज्य की संकल्पना में एक गतिशील दृष्टिकोण का उदय हुआ और यह समस्त सभ्य जगत में सामाजिक विधायन और सामाजिक कल्याणकारी राज्य का प्रवर्त्तक सिद्ध हुआ।

यद्यपि सिद्धान्त रूप में संविदा की स्वतन्त्रता प्रत्येक मालिक और मजदूर को समान रूप से उपलब्ध थी, परन्तु इससे नियोजक के आर्थिक प्रभाव और मजदूर की असहायता के कारण एक नयी दास-प्रथा का उदय हुआ। एक अमरीकी उक्ति के अनुसार नियोजक को इस बात की शक्ति प्राप्त हो गयी है कि वह अपने कर्मचारियों को अपनी इच्छानुसार नियुक्त और बर्खास्त कर सकता है। इससे मजदूरों की स्थिति बिगड़ने लगी। यह सिद्ध हो गया कि सर हेनरी मेन अन्ततः गलती पर था, प्रगतिशील समाजों को इस बात की आवश्यकता थी कि संविदा के फलस्वरूप प्रतिष्ठा प्राप्त होनी चाहिए, परन्तु संविदा की स्वतन्त्रता और पवित्रता अभी भी पूर्ण रूप से विद्यमान थी। यह स्थिति अन्यायपूर्ण थी और इसे अधिक समय तक सहन नहीं किया जा सकता था। इससे श्रमिक संघ आन्दोलन का जन्म हुआ, जो हीन आर्थिक परिस्थितियों और दमनात्मक विधियों से जूझता हुआ आगे बढ़ा और जिसने धीरे-धीरे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थिति ग्रहण कर ली। इस आन्दोलन के फलस्वरूप मजदूरों को अनेक लाभ प्राप्त हुए, उनकी मजदूरी बढ़ी, उन्हें आराम का समय मिलने लगा और उनकी सांस्कृतिक और सामाजिक सुविधाओं में भी वृद्धि हुई।

इन समस्याओं की तीव्रता उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में भी अनुभव की गयी थी और बीसवीं शताब्दी में, विशेष रूप से दो विश्व-युद्धों के पश्चात्, इन समस्याओं का समाधान मुख्य रूप से दो विचार प्रणालियों द्वारा प्राप्त करने की कोशिश की गयी। इनका एक समाधान मार्क्स के सिद्धान्त द्वारा प्रस्तुत किया गया था और दूसरा समाजवादी दृष्टिकोण द्वारा। परन्तु समाजवादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत भी विभिन्न समाजवादी सिद्धान्तों का प्रवर्तन किया गया। वस्तुतः ये सिद्धान्त इतने अधिक थे कि सेण्ट साइमन को मजाक में यह कहना पड़ा कि 'मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना' के अनुसार ही जितने समाजवादी हैं, उतने ही समाजवाद हैं।

बहुत समय पूर्व रूसो ने कहा था कि 'मनुष्य मुक्त जन्मा है परन्तु वह सर्वत्र बन्धनों में जकड़ा हुआ है।' परन्तु कार्ल मार्क्स इससे भी एक कदम आगे बढ़ गया। यद्यपि उसने अपने 'कैपिटल' ग्रन्थ में यह विचार व्यक्त किया था कि समाजवादी समाज ऐतिहासिक विकास का परिणाम होता है, वह पूँजीवाद समाज की कोख से जन्म लेता है, फिर भी उसने मजदूरों के प्रति अपने निम्न आह्वान के द्वारा इतिहास को एक नया मोड़ दिया, 'दुनिया के मजदूरो, एक हो जाओ। तुम्हें खोना ही क्या है—सिर्फ अपनी जंजीरें।' साम्यवादी घोषणा-पत्र ने पिछले सौ वर्षों में लाखों-करोड़ों मानवों की नियति पर प्रभाव डाला है। उनके राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सिद्धान्तों को प्रभावित किया है और राष्ट्रों तथा समाजों की संरचना में कायाकल्प किया है। जहाँ रूसो की रचनाओं में मानववाद, उदारवाद और लोकतन्त्र की भावना निहित है, वहाँ मार्क्स का साहित्य साम्यवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग क्रान्तियों का शंखनाद है। फिर उन्हीं दिनों हीगेल के निरपेक्ष राज्य के सिद्धान्त का प्रवर्तन भी हुआ। हीगेल के

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अनुसार राज्य उस सर्वोच्च आत्मा का मूर्त रूप है, जिसके प्रति कोई भी व्यक्ति अपने अस्तित्व के लिए ऋणी है। व्यक्ति को अपनी इस अन्तरात्मा की आज्ञा का भी अनिवार्य रूप से पालन करना पड़ता है। इस प्रकार का राज्य सर्वशक्तिमान और दैत्यकाय हो गया। ऐसे राज्य के अधीन व्यक्ति विशाल संयन्त्र का पुर्जा मात्र था। इस प्रकार के राज्यों के मूर्त रूप हमें नाजी जर्मनी और फासिस्ट में दिखायी दिये। इन देशों में महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति धन के इच्छुक नहीं थे, बल्कि वे शक्ति और सत्ता के सोपान में ऊँचा मूर्धन्य स्थान पाने के लिए लालायित थे।

हमारी स्वतन्त्रता के सुप्रभात में सामान्यतया विश्व का राजनीतिक चिन्तन तीन विभिन्न धरातलों पर चल रहा था। एक ओर तो मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन की शिक्षाएँ थीं जिनके माध्यम से लोगों को यह बताया जा रहा था, कि वर्तमान राज्य और विधियाँ निहित स्वार्थ वाले लोगों के ऐसे साधन हैं जिनके माध्यम से वे अपनी शक्ति का उपयोग करते हैं और निर्धनों पर अपना प्रभुत्व बनाये रखते हैं। वर्तमान राज्यों और इनकी विधियों को उत्पीड़न और शोषण के साधन कहकर बदनाम किया गया था। संसार के मजदूरों का आह्वान किया गया था कि वे साम्यवादी क्रान्तियों के माध्यम से उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण और स्वामित्व स्थापित करें। साम्यवादी विचारधारा के अनुसार उनका अन्तिम उद्देश्य ऐसा वर्ग-हीन समाज प्राप्त करना है, जिससे राज्य और उसकी विधियाँ विलुप्त हो जायेंगी। जब तक यह अवस्था प्राप्त न हो तब तक मजदूरों को अपने हितों की रक्षा के लिए सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित करने के लिए कहा गया था। इस सिद्धान्त के आधार पर ही सोवियत संघ का निर्माण किया गया है। द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् कई अन्य राज्य भी इस विचारधार के प्रभाव में आये।

साम्यवादी और पूँजीवादी विचारधाराओं के बीच कई समाजवादी विचारधाराएं विद्यमान हैं, जिनका उद्देश्य कल्याणकारी अथवा लोक-हितकारी राज्यों की स्थापना करना है। समाज कल्याणकारी राज्य के दर्शन के मूल में विभिन्न समाजवादी और मानवतावादी आन्दोलन रहे, जो मार्क्सवादी लेनिनवादी सिद्धान्तों को अस्वीकार करते हैं। राजनीतिक दृष्टि से समाज कल्याणकारी राज्य का आधार लोकतन्त्र है और इसका क्रमिकता में विश्वास है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता में विश्वास करते हुए भी वे समाज में व्यक्ति की गतिविधियों पर रोक लगाना चाहते हैं और इस उद्देश्य से उसे अन्य व्यक्तियों और समस्त समाज को हानि पहुँचाने से रोकने के इच्छुक हैं। वास्तव में वे बेंथम के इस कथन को मूर्त रूप प्रदान करना चाहते हैं, कि 'कुछ श्रीमन्तों को अधिकांश श्री-हीनों को हानि पहुंचाने से रोका जाये।'[9] इन समाजवादी सिद्धान्तों का उद्देश्य ऐसे समाजवादी समाज को अस्तित्व में लाना था, जिसके अन्तर्गत न केवल व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा की जाए, बल्कि समाज के प्रति व्यक्ति के कर्तव्यों पर भी अत्यधिक बल दिया जाये। इन सिद्धान्तों के अनुसार, व्यक्ति को राज्य के प्रासाद के निर्माण के लिए ईंट और गारे आदि की भूमिका ही नहीं निभानी थी, बल्कि मानव अधिकारों, जैसे अधिकारों की भी व्यक्ति को गारन्टी दी जानी थी। साथ ही व्यक्ति के उस समाज के प्रति भी कुछ कर्तव्य थे जिसका वह अंग था। उसे समाज के शोषण का कोई माध्यम या साधन नहीं बनना था। समाज से आशा की जाती है कि वह अपने समस्त सदस्यों के बीच समता स्थापित करे। इस समता के

[9] बेन्थम, 'कॉस्टीट्यूशनल कोड', पृ० 34।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

परामर्श देना पड़ता है, उनका अनुभव है कि मूल अधिकारों का उल्लेख करने से जो कुल मिलाकर स्वतन्त्रता, न्याय तथा औचित्य पर आधारित हैं न्याय तथा ईमानदारी की राह पर चलने का उनका परामर्श अधिक सार्थक हो जाता है।"

गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य के प्रसिद्ध मुकदमे में उच्चतम न्यायालय के इस निर्णय के फलस्वरूप व्यापक वाद-विवाद उत्पन्न हो गया है कि संविधान का भाग तीन जिसमें मूल अधिकारों का निरूपण है, संविधान के अनुच्छेद 368 में निर्धारित अधिदेशात्मक प्रक्रिया से शासित नहीं है। उच्चतम न्यायालय का निर्णय अनुच्छेद 13 की भाषा पर आधारित है जिसमें कहा गया है कि जो विधि इस भाग द्वारा दिये गये अधिकारों को छीनती या न्यून करती हो, वह शून्य होगी। उच्चतम न्यायालय का निर्णय था कि संविधान का संशोधन करने वाली विधि अनुच्छेद 13 के अर्थ के अन्तर्गत विधि है और यदि वह संविधान के भाग तीन का उल्लंघन करती है, तो वह शून्य होगी। इसका परिणाम यह है कि जब तक गोलकनाथ के मुकदमे का निर्णय प्रभावी है, तब तक संविधान के संशोधन द्वारा मूल अधिकारों में किसी प्रकार की कमी नहीं की जा सकती। इस वाद-विवाद को सुलझाने के उद्देश्य से श्रीनाथ पै ने संविधान के अनुच्छेद 368 में संशोधन करने के लिए संसद में एक संविधान संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया था जिस पर संसद ने विस्तार से चर्चा की थी। तथापि, यह वाद-विवाद अभी तक नहीं सुलझ सका है। यह चर्चा है अधिकतर शैक्षिक ही, परन्तु यह कुछ मूलभूत सांविधानिक प्रश्नों को खड़ा करती है।

पिछले कुछ समय से अनुच्छेद 19 (1) (च) और अनुच्छेद 31 में दिये गये सम्पत्ति-अधिकार को समाप्त करने के लिए संविधान के भाग तीन में संशोधन करने का आग्रहपूर्वक सुझाव दिया गया है। सम्पत्ति-अधिकार के उन्मूलन का समर्थन करने वालों का तर्क है कि भारत जैसे निर्धन देश में सम्पत्ति-अधिकार का आश्वासन अनावश्यक और अप्रासंगिक है। जो लोग मूल अधिकारों में से सम्पत्ति-अधिकार को हटा देना चाहते हैं, वे न्यायमूर्ति मोहम्मद हिदायतुल्ला के निम्नलिखित विचारों से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। श्री हिदायतुल्ला ने ये विचार गोलकनाथ के मुकदमे में व्यक्त किये थे—

"हमारे संविधान ने यह सिद्धान्त स्वीकार किया कि सम्पत्ति-अधिकार एक मूल अधिकार है। मेरे विचार से उसे इस श्रेणी में रखना भूल थी। प्रारूप संविधान विधेयक के मूल अनुच्छेद 16 में समूचे देश में व्यापार, वाणिज्य और आने-जाने की स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया गया था, लेकिन बाद में उसे हटा दिया गया था। इसी प्रकार, सम्पत्ति-अधिकार को भी भिन्न अध्याय में रखा जाना चाहिए था। यह अधिकार मूल अधिकारों में सबसे कमजोर है।"

न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला को सन्देह था कि अन्य मूल अधिकारों के प्रतिकूल सम्पत्ति-अधिकार में धीरे-धीरे कमी की जायेगी और इसीलिए शायद वे इस अधिकार को हटाने के लिए तैयार हो गये थे जिससे अन्य अधिकारों की रक्षा हो सके। इसके विपरीत कुछ अन्य व्यक्तियों का विचार है कि सम्पत्ति-अधिकार अन्य अधिकारों के लिए बुनियादी अधिकार है क्योंकि इन अन्य अधिकारों की शून्य में रक्षा नहीं हो सकती। यह सच है कि न्यायिक निर्णय सम्पत्ति-अधिकार के पक्ष में रहे हैं और उनके कारण अनेक असंगतियाँ उत्पन्न हुई हैं तथा बहुत से सांविधानिक संशोधन करने पड़े हैं। तथापि, सम्पत्ति-अधिकार निरपेक्ष अधिकार नहीं है और

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उसके ऊपर उचित प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। राज्य उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीयकरण कर सकता है और कारबार कर सकता है—इस विषय में सविधान ने उसके ऊपर कोई प्रतिबन्ध आरोपित नहीं किया है। इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि संविधान में संशोधनों के द्वारा सारे भूमि-सुधारों की विधि-न्यायालयों में दायर की गयी सांविधानिक चुनौतियों से रक्षा की गयी है। लगता है कि सम्पत्ति-अधिकार के उन्मूलन के प्रस्ताव के मूल में एक ओर तो सैद्धान्तिक उत्साह है और दूसरी ओर यह चिन्ता है कि विधि-न्यायालय आर्थिक नीतियों के मामले में कोई हस्तक्षेप न कर सकें।

सम्भवतः हमको विचार करना चाहिए कि क्या हमारे निर्वाचकीय अधिकार जो लोकतन्त्रात्मक पद्धति के लिए बुनियादी हैं, उसी आधार पर प्रतिष्ठित नहीं किये जाने चाहिएँ, जिस पर कि मूल अधिकार हैं। इस समय भारतीय नागरिकों के निर्वाचकीय अधिकार मुख्यतः विधानमण्डलों द्वारा निर्मित विधियों पर आधारित हैं। सम्भवतः उन्हें मूल अधिकारों वाले अध्याय में जोड़ना उपयुक्त रहेगा।

कुछ व्यक्तियों के विचार से निःशुल्क वैधिक सहायता और परामर्श का अधिकार और काम का अधिकार भी संविधान के भाग तीन में जोड़ा जा सकता है। निःशुल्क वैधिक सहायता और परामर्श के अधिकार से नागरिक विधि-न्यायालयों तक पहुँच सकता है और अपने मूल तथा अन्य वैधिक अधिकारों पर आग्रह कर सकता है तथा उन्हें कार्यरूप में परिणत करा सकता है। काम के अधिकार से राज्य के ऊपर यह जिम्मेदारी आ जायेगी कि वह शारीरिक दृष्टि से सक्षम प्रत्येक वयस्क नागरिक को उपयोगी रोजगार दे जिससे कि उसे निर्धनता तथा असहायता का सामना न करना पड़े। इसमें कोई सन्देह नहीं कि काम करने के अधिकार का आश्वासन देना और उसे प्रवर्तनीय बना देना एक क्रान्तिकारी कदम होगा। तथापि, इसकी व्यावहारिकता की परीक्षा करना उपयोगी है।

संविधान के भाग चार में कुछ ऐसे सिद्धान्तों की चर्चा की गयी है जिन्हें किसी न्यायालय द्वारा बाध्यता नहीं दी जा सकती किन्तु तो भी वे देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाने में उनका प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य है। विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या इनमें से किन्हीं सिद्धान्तों को संविधान के भाग तीन में रखा जा सकता है जिससे कि वे भी मूल अधिकारों की भाँति ही प्रवर्तनीय हो सकें। इन सिद्धान्तों को कहाँ तक कार्यान्वित किया गया है या किया जा रहा है, इसका मूल्यांकन होना चाहिये। कुछ निदेशक सिद्धान्त ऐसे हैं जिन्हें निश्चित रूप से मूल अधिकारों का दर्जा दे दिया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, इस सिद्धान्त का कि पुरुषों और स्त्रियों दोनों को समान कार्य के लिए समान वेतन प्राप्त हो अथवा इस सिद्धान्त का कि बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न किया जाये, सकारात्मक शब्दावली में आश्वासन दिया जा सकता है। संविधान के अनुच्छेद 40 ने राज्य को यह जिम्मेदारी सौंपी है कि वह ग्राम-पंचायतों का संघटन करने के लिए अग्रसर होगा तथा उनको ऐसी शक्तियाँ और अधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हों। अब वह समय आ गया है जबकि अनुच्छेद 40 को कार्यान्वित करने के लिए किये गये उपायों का मूल्यांकन किया जाये और हम विचार करें कि हमारे देश में लोकतन्त्रात्मक विकेन्द्रीकरण की जो व्यवस्था आरम्भ की गयी है क्या पंचायतों विषयक उपयुक्त उपबन्धों को संविधान में स्थान देकर और पंचायत-व्यवस्था को देश की राज-

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

बेंथम का मुख्य योगदान यह था कि उसने विधि और राज्य को नकारात्मक भूमिका से हटा-कर सकारात्मक और सामाजिक दृष्टि से प्रयोजनशील भूमिका प्रदान की। उसने व्यक्तिगत हितों को सामान्य हित के अधीन कर दिया। उसने जीवन की परिस्थितियों में सुधार लाने के लिए सकारात्मक विधायन, समाज-सुधार और विनियमन के माध्यम से प्रयास किया। इससे विधि तथा राज्य की संकल्पना में एक गतिशील दृष्टिकोण का उदय हुआ और यह समस्त सभ्य जगत में सामाजिक विधायन और सामाजिक कल्याणकारी राज्य का प्रवर्त्तक सिद्ध हुआ।

यद्यपि सिद्धान्त रूप में संविदा की स्वतन्त्रता प्रत्येक मालिक और मजदूर को समान रूप से उपलब्ध थी, परन्तु इससे नियोजक के आर्थिक प्रभाव और मजदूर की असहायता के कारण एक नयी दास-प्रथा का उदय हुआ। एक अमरीकी उक्ति के अनुसार नियोजक को इस बात की शक्ति प्राप्त हो गयी है कि वह अपने कर्मचारियों को अपनी इच्छानुसार नियुक्त और बर्खास्त कर सकता है। इससे मजदूरों की स्थिति बिगड़ने लगी। यह सिद्ध हो गया कि सर हेनरी मेन अन्ततः गलती पर था, प्रगतिशील समाजों को इस बात की आवश्यकता थी कि संविदा के फलस्वरूप प्रतिष्ठा प्राप्त होनी चाहिए, परन्तु संविदा की स्वतन्त्रता और पवित्रता अभी भी पूर्ण रूप से विद्यमान थी। यह स्थिति अन्यायपूर्ण थी और इसे अधिक समय तक सहन नहीं किया जा सकता था। इससे श्रमिक संघ आन्दोलन का जन्म हुआ, जो हीन आर्थिक परि-स्थितियों और दमनात्मक विधियों से जूझता हुआ आगे बढ़ा और जिसने धीरे-धीरे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थिति ग्रहण कर ली। इस आन्दोलन के फलस्वरूप मजदूरों को अनेक लाभ प्राप्त हुए, उनकी मजदूरी बढ़ी, उन्हें आराम का समय मिलने लगा और उनकी सांस्कृतिक और सामाजिक सुविधाओं में भी वृद्धि हुई।

इन समस्याओं की तीव्रता उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में भी अनुभव की गयी थी और बीसवीं शताब्दी में, विशेष रूप से दो विश्व-युद्धों के पश्चात्, इन समस्याओं का समाधान मुख्य रूप से दो विचार प्रणालियों द्वारा प्राप्त करने की कोशिश की गयी। इनका एक समाधान मार्क्स के सिद्धान्त द्वारा प्रस्तुत किया गया था और दूसरा समाजवादी दृष्टिकोण द्वारा। परन्तु समाजवादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत भी विभिन्न समाजवादी सिद्धान्तों का प्रवर्तन किया गया। वस्तुतः ये सिद्धान्त इतने अधिक थे कि सेण्ट साइमन को मजाक में यह कहना पड़ा कि 'मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना' के अनुसार ही जितने समाजवादी हैं, उतने ही समाजवाद हैं।

बहुत समय पूर्व रूसो ने कहा था कि 'मनुष्य मुक्त जन्मा है परन्तु वह सर्वत्र बन्धनों में जकड़ा हुआ है।' परन्तु कार्ल मार्क्स इससे भी एक कदम आगे बढ़ गया। यद्यपि उसने अपने 'कैपिटल' ग्रन्थ में यह विचार व्यक्त किया था कि समाजवादी समाज ऐतिहासिक विकास का परिणाम होता है, वह पूँजीवाद समाज की कोख से जन्म लेता है, फिर भी उसने मजदूरों के प्रति अपने निम्न आह्वान के द्वारा इतिहास को एक नया मोड़ दिया, 'दुनिया के मजदूरो, एक हो जाओ। तुम्हें खोना ही क्या है—सिर्फ अपनी जंजीरें।' साम्यवादी घोषणा-पत्र ने पिछले सौ वर्षों में लाखों-करोड़ों मानवों की नियति पर प्रभाव डाला है। उनके राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सिद्धान्तों को प्रभावित किया है और राष्ट्रों तथा समाजों की संरचना में काया-कल्प किया है। जहाँ रूसो की रचनाओं में मानववाद, उदारवाद और लोकतन्त्र की भावना निहित है, वहाँ मार्क्स का साहित्य साम्यवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग क्रान्तियों का शंखनाद है। फिर उन्हीं दिनों हीगेल के निरपेक्ष राज्य के सिद्धान्त का प्रवर्तन भी हुआ। हीगेल के

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अनुसार राज्य उस सर्वोच्च आत्मा का मूर्त रूप है, जिसके प्रति कोई भी व्यक्ति अपने अस्तित्व के लिए ऋणी है। व्यक्ति को अपनी इस अन्तरात्मा की आज्ञा का भी अनिवार्य रूप से पालन करना पड़ता है। इस प्रकार का राज्य सर्वशक्तिमान और दैत्यकाय हो गया। ऐसे राज्य के अधीन व्यक्ति विशाल संयन्त्र का पुर्जा मात्र था। इस प्रकार के राज्यों के मूर्त रूप हमें नाजी जर्मनी और फासिस्ट में दिखायी दिये। इन देशों में महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति धन के इच्छुक नहीं थे, बल्कि वे शक्ति और सत्ता के सोपान में ऊँचा मूर्धन्य स्थान पाने के लिए लालायित थे।

हमारी स्वतन्त्रता के सुप्रभात में सामान्यतया विश्व का राजनीतिक चिन्तन तीन विभिन्न धरातलों पर चल रहा था। एक ओर तो मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन की शिक्षाएँ थीं जिनके माध्यम से लोगों को यह बताया जा रहा था, कि वर्तमान राज्य और विधियाँ निहित स्वार्थ वाले लोगों के ऐसे साधन हैं जिनके माध्यम से वे अपनी शक्ति का उपयोग करते हैं और निर्धनों पर अपना प्रभुत्व बनाये रखते हैं। वर्तमान राज्यों और इनकी विधियों को उत्पीड़न और शोषण के साधन कहकर बदनाम किया गया था। संसार के मजदूरों का आह्वान किया गया था कि वे साम्यवादी क्रान्तियों के माध्यम से उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण और स्वामित्व स्थापित करें। साम्यवादी विचारधारा के अनुसार उनका अन्तिम उद्देश्य ऐसा वर्ग-हीन समाज प्राप्त करना है, जिससे राज्य और उसकी विधियाँ विलुप्त हो जायेंगी। जब तक यह अवस्था प्राप्त न हो तब तक मजदूरों को अपने हितों की रक्षा के लिए सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित करने के लिए कहा गया था। इस सिद्धान्त के आधार पर ही सोवियत संघ का निर्माण किया गया है। द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् कई अन्य राज्य भी इस विचारधारा के प्रभाव में आये।

साम्यवादी और पूँजीवादी विचारधाराओं के बीच कई समाजवादी विचारधाराएँ विद्यमान हैं, जिनका उद्देश्य कल्याणकारी अथवा लोक-हितकारी राज्यों की स्थापना करना है। समाज कल्याणकारी राज्य के दर्शन के मूल में विभिन्न समाजवादी और मानवतावादी आन्दोलन रहे, जो मार्क्सवादी लेनिनवादी सिद्धान्तों को अस्वीकार करते हैं। राजनीतिक दृष्टि से समाज कल्याणकारी राज्य का आधार लोकतन्त्र है और इसका क्रमिकता में विश्वास है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता में विश्वास करते हुए भी वे समाज में व्यक्ति की गतिविधियों पर रोक लगाना चाहते हैं और इस उद्देश्य से उसे अन्य व्यक्तियों और समस्त समाज को हानि पहुँचाने से रोकने के इच्छुक हैं। वास्तव में वे बेंथम के इस कथन को मूर्त रूप प्रदान करना चाहते हैं, कि 'कुछ श्रीमन्तों को अधिकांश श्री-हीनों को हानि पहुंचाने से रोका जाये।'[9] इन समाजवादी सिद्धान्तों का उद्देश्य ऐसे समाजवादी समाज को अस्तित्व में लाना था, जिसके अन्तर्गत न केवल व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा की जाए, बल्कि समाज के प्रति व्यक्ति के कर्तव्यों पर भी अत्यधिक बल दिया जाये। इन सिद्धान्तों के अनुसार, व्यक्ति को राज्य के प्रासाद के निर्माण के लिए ईंट और गारे आदि की भूमिका ही नहीं निभानी थी, बल्कि मानव अधिकारों, जैसे अधिकारों की भी व्यक्ति को गारन्टी दी जानी थी। साथ ही व्यक्ति के उस समाज के प्रति भी कुछ कर्तव्य थे जिसका वह अंग था। उसे समाज के शोषण का कोई माध्यम या साधन नहीं बनना था। समाज से आशा की जाती है कि वह अपने समस्त सदस्यों के बीच समता स्थापित करे। इस समता के

[9] बेन्थम, 'कॉस्टीट्यूशनल कोड', पृ० 34।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अन्य पक्ष राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समता हैं। हमारे संविधान-निर्माताओं ने उपर्युक्त तीन सिद्धान्तों में से अन्तिम सिद्धान्त को स्वीकार किया है।

भारतीय संविधान में मूल अधिकारों के समावेश की कहानी राष्ट्रीय आन्दोलन के दिनों से ही आरम्भ हो जाती है। अंग्रेजी शासन के दिनों में सरकार निहत्थे सत्याग्रहियों पर अंधाधुंध लाठी और गोली चलाती थी, निरपराध लोगों को नजरबन्द कर देती थी, उन्हें देश-निकाला दे देती थी, बिना मुकदमा चलाये लोगों को जेल में डाल देती थी और समाचार-पत्रों पर अनेक पाबन्दियाँ लगा देती थी। प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् स्वतन्त्रता संघर्ष को और तीव्र गति प्राप्त हुई। भारतीय राष्ट्रवादियों के ब्रिटिश प्राधिकारियों के साथ संघर्ष बढ़ते गये और तीव्र होते गये। जिस कठोरता के साथ ब्रिटिश सरकार ने अपना दमन-चक्र चलाया, उससे मूल अधिकारों के बारे में सांविधानिक गारण्टी की माँग को बल मिला। 1895 में कुछ प्रमुख भारतीयों द्वारा तैयार किये गये भारतीय संविधान विधेयक में भारत के लिए एक ऐसे संविधान की पूर्व कल्पना की गयी थी जिसमें कि प्रत्येक नागरिक को अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, अपने घर की अलंघ्यता, सम्पत्ति अधिकार, विधि के समक्ष समता, सार्वजनिक पदों पर आने में अवसर की समता, दावे, याचिकाएँ और शिकायतें पेश करने का अधिकार, और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अधिकारों की गारण्टी दी गयी थी। माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के प्रकाशन के पश्चात्, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अगस्त, 1918 में हुए अपने विशेष बम्बई अधिवेशन में यह माँग की कि नये भारत शासन अधिनियम में 'भारत के लोगों के ब्रिटिश नागरिक के रूप में अधिकारों की घोषणा होनी चाहिए'। प्रस्तावित घोषणा द्वारा अन्य बातों के साथ-साथ विधि के समक्ष समता, स्वतन्त्रता, जीवन और सम्पत्ति की रक्षा, भाषण और समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता और संघ निर्माण के अधिकार के बारे में गारण्टी दी जानी थी। उसी वर्ष दिसम्बर में अपने दिल्ली अधिवेशन में कांग्रेस ने एक और संकल्प पारित किया, जिसमें उन सभी विधियों, विनियमों और अध्यादेशों को तुरन्त वापस लेने की माँग की गयी थी, जिनके द्वारा राजनीतिक प्रश्नों के बारे में मुक्त रूप से चर्चा पर प्रतिबंध आरोपित किये गये हों और कार्यपालिका को सामान्य सिविल या आपराधिक विधि की प्रक्रिया के बाहर भारत में किसी भी ब्रिटिश प्रजा को बन्दी बनाने, नजरबन्द करने, बहिष्कृत करने या कैद करने की शक्ति प्रदान की गयी हो, और इसके साथ ही भारत की राज्य विद्रोह-सम्बन्धी विधि को इंग्लैण्ड की तत्सम्बन्धी विधि के साथ मिलाने का भी सुझाव दिया गया था।

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को आयरिश स्वतन्त्रता आन्दोलन से बहुत अधिक प्रेरणा प्राप्त हुई। 1921 के आयरिश स्वतन्त्र राज्य (आयरिश फ्री स्टेट) के संविधान में मूल अधिकारों की जो सूची शामिल की गयी थी, वह भारतीय नेताओं को भी प्रभावित किये बिना न रह सकी। भारत लोकराज्य विधेयक (इण्डिया कामनवैल्थ बिल) जिसे 1926 के राष्ट्रीय सम्मेलन में अन्तिम रूप प्रदान किया था, में अधिकारों की एक विशिष्ट उद्घोषणा शामिल की गयी थी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के लिए व्यावहारिक रूप से आयरिश संविधान के सम्बन्धित उपबन्धों जैसे अधिकारों की परिकल्पना की गयी थी। भारत में अल्पसंख्यकों की समस्या ने भारतीय संविधान में मूल अधिकारों को शामिल किये जाने के पक्ष में प्रस्तुत की जाने वाली सामान्य युक्तियों को और भी अधिक बल प्रदान किया। 1927 में अपने मद्रास अधिवेशन में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने दृढ़ रूप से यह निर्धारित किया कि भावी संविधान का आधार मूल

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अधिकारों की घोषणा ही होना चाहिए। 1928 में नेहरू समिति ने अपनी रिपोर्ट में इन अधिकारों की सूची को शामिल करने की व्यवस्था की और उन्हें भारत के भावी संविधान के अंग के रूप में स्वीकार करने की सिफारिश की। साइमन आयोग ने यह माँग इस आधार पर रद्द कर दी कि ऐसे अधिकारों की अमूर्त घोषणा उस समय तक निरर्थक है, जब तक कि इन्हें प्रभावी बनाने के लिए इच्छा और साधन न हों। 1932 में अपने कराची अधिवेशन में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस बात का पुनः संकल्प किया कि वह भारत की किसी भी भावी सांविधानिक व्यवस्था में मूल अधिकारों के बारे में लिखित गारण्टी को आवश्यक समझती है। भारतीय नेताओं ने गोलमेज सम्मेलन में मूल अधिकारों को सांविधानिक प्रलेख में शामिल किये जाने को माँग को फिर दोहराया। सामान्यतया संयुक्त प्रवर समिति ने इन माँगों को रद्द कर दिया। सप्रू समिति (1944–45) का विचार था कि भारत की विशिष्ट परिस्थितियों में मूल अधिकार न केवल अल्पसंख्यकों को गारण्टी और आश्वासन के रूप में ही आवश्यक हैं, बल्कि विधायकों, सरकारों और न्यायालयों के आचरण का स्तर निर्धारित करने के लिए भी उनकी आवश्यकता है। समिति का विचार था, कि इस बात को संविधान निर्माण करने वाली संस्था पर छोड़ दिया जाये कि वह पहले तो इन मूल अधिकारों की सूची तैयार करे और फिर इनका दो वर्गों में विभाजन करे—वाद-सापेक्ष मूल अधिकार और वाद-निरपेक्ष मूल अधिकार। समिति ने यह भी संस्तुति की कि इन अधिकारों को लागू करने के लिए उपयुक्त शासनतन्त्र की व्यवस्था की जाये।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान ब्रिटिश सरकार द्वारा किये गये अत्याचारों, मानव अधिकारों की सिद्धि के लिए किये गये विश्वव्यापी आन्दोलन, एटलांटिक चार्टर में गारण्टी की गयी स्वतन्त्रताओं, संयुक्त राष्ट्र चार्टर और मानव अधिकार आयोग द्वारा की गई मानव अधिकारों की घोषणा ने इस माँग को बल प्रदान किया कि हमारे यहाँ भी मूल अधिकारों को संविधान में शामिल किया जाये। ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल मिशन ने 1946 में भारत के संविधान में मूल अधिकारों की लिखित गारण्टी की आवश्यकता को स्वीकार किया। तदनुसार इसने अन्य बातों के साथ-साथ मूल अधिकारों के बारे में भी रिपोर्ट देने के लिए एक सलाहकार समिति की स्थापना करने की सिफारिश की। 22 जनवरी, 1947 को स्वीकार किये गये उद्देश्य संकल्प में संविधान सभा ने सत्यनिष्ठापूर्वक भारत के भावी शासन के लिए एक ऐसा संविधान तैयार करने की प्रतिज्ञा की, जिसमें कि भारत के सभी लोगों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विधि और सार्वजनिक नैतिकता के अधीन विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, आस्था, उपासना, वृत्ति, संघ-निर्माण और कार्य की स्वतन्त्रता और अल्पसंख्यकों, पिछड़े और आदिम जातीय क्षेत्रों और दलित तथा इसी प्रकार के अन्य वर्गों को पर्याप्त रक्षोपाय प्राप्त करने का आश्वासन दिया गया था।

राजनीतिक स्वतन्त्रता और सामाजिक न्याय के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध फ्रेंच क्रान्ति के समय से एक सामान्य संकल्पना का रूप धारण कर चुका है। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद से इसको लगातार स्वीकार किया जाता रहा है कि विश्व में शान्ति की स्थापना सामाजिक न्याय के आधार पर ही की जा सकती है। आधुनिकतम संविधानों के अन्तर्गत सामाजिक और आर्थिक सिद्धान्तों की घोषणा की जाती है, जिनमें अन्य बातों के साथ-साथ इस बात पर बल दिया जाता है कि राज्य सामाजिक सुरक्षा के लिए प्रयत्न करे तथा काम, शिक्षा और नियोजन की

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उपयुक्त परिस्थितियों का निर्माण करे ।

'राज्य के सामाजिक और आर्थिक दायित्वों के बारे में नीति-उद्घोषणा की संकल्पना को भारतीय आत्मा से इतर नहीं कहा जा सकता । ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस आशय की विशिष्ट आज्ञा प्राप्त होती है कि राजा अनाथों, मृत्यु शय्या पर पड़े लोगों, अपंगों, असहायों और पीड़ितों को जीवन-निर्वाह के साधन प्रदान करेगा । वह असहाय गर्भवती माताओं को भी आवश्यक उपचार आदि की सुविधाएँ सुलभ करेगा और उनके बच्चों के लिए भी उपयुक्त व्यवस्था करेगा' ।[10]

मूल अधिकारों और निदेशक सिद्धान्तों के विकास में हमारे संविधान-निर्माताओं ने विश्व के अन्य भागों में घटी घटनाओं से प्राप्त अनुभवों के अतिरिक्त अपने इतिहास के अनुभवों से भी बहुत कुछ सीखा ।

संविधान के तीसरे भाग में शामिल किये गये मूल अधिकार और चौथे भाग में दिये गये निदेशक सिद्धान्त एक सम्पूर्ण इकाई हैं । इन्हें सुविधा के लिए दो भागों में बाँटा गया था, क्योंकि उस समय यह समझा गया था कि निदेशक सिद्धान्त अपनी प्रकृति से ही न्यायालयों द्वारा वाद-योग्य नहीं बनाये ज़ा सकते हैं । संविधान के निर्माताओं के लिए कुछ अधिकारों को मूल अधिकार कहना और अन्य अधिकारों को निदेशक सिद्धान्तों के रूप में वर्गीकृत करना आसान नहीं था । जैसा कि ऊपर कहा गया है, सप्रू समिति को यह कार्य कठिन प्रतीत हुआ, और उसने इसे संविधान निर्माण करने वाली सभा के लिए छोड़ दिया । एक अवस्था में तो संविधान-सभा ने अपने नागरिकों के लिए अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करने का राज्य का कर्त्तव्य तीसरे भाग में रख दिया और समता से सम्बन्धित उपबन्ध चौथे भाग में । इससे मूल अधिकारों और निदेशक सिद्धान्तों के बीच विभाजक रेखा खींचने की कठिनाई का अच्छी प्रकार अन्दाजा लगाया जा सकता है । मौटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि संविधान का तीसरा भाग व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के क्षेत्र से सम्बन्धित है और उसमें राज्य द्वारा इस स्वतन्त्रता को नियंत्रित कर सकने की सीमा का निर्धारण भी किया गया है, जबकि संविधान के चौथे भाग का सम्बन्ध संविधान की प्रस्तावना में निर्धारित आदर्श की प्राप्ति के लिए राज्य पर आरोपित सकारात्मक कर्त्तव्यों से है ।

निदेशक सिद्धान्तों की उपयोगिता

संविधान के किसी भी भाग के बारे में इतनी गलत धारणाएँ नहीं हैं, जितनी कि इसके चौथे भाग के बारे में । संविधान के निर्माण के दौरान भी संविधान-सभा में कुछ शंकायें व्यक्त की गयी थीं कि ये निदेश पवित्र आशाओं से अधिक और कुछ नहीं है और कि इनका महत्त्व उद्घोषणाओं से अधिक और कुछ नहीं होगा । संविधान-सभा के एक सदस्य ने कहा था :

'ये निदेशक सिद्धान्त भावनाओं के कूड़ेदान हैं ··· इन सिद्धान्तों में इतना लचीलापन

---

[10] बी० शिवराव : 'द फ्रेमिंग ऑफ इण्डियाज़ कॉंस्टीट्यूशन—ए स्टडी', बम्बई, त्रिपाठी, 1968, पृ० 319–320 ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

है कि इस सदन का कोई भी सदस्य इनमें अपनी मनचाही चीज पा सकता है।'

सर आइवर जैनिंग्स ने अपनी 'कैरेक्टेरिस्टिक्स ऑफ द कॉंस्टीट्यूशन' पुस्तिका में संविधान के चौथे भाग के बारे में ही शंका व्यक्त की गई है। उनके अनुसार चौथे भाग में समाजवाद के बिना फेबियन समाजवाद को अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है। उन्होंने लिखा है :

'भारतीय संविधान आवश्यक रूप से एक व्यक्तिवादी प्रलेख है। इसके प्रेरणास्रोत बर्क, मिल और डायसी रहे हैं। फिर भी, संविधान-सभा के कम से कम कुछ सदस्यों ने समूहवादी सन्दर्भ में विचार किया, जिसका परिणाम एक विचित्र द्वन्द्व के रूप में हमारे सामने है। एक ओर तो 19वीं शताब्दी के व्यक्तिवाद ने स्वतन्त्रता के हित में सरकार की शक्तियों को सीमित करने का प्रयास किया है, और दूसरी ओर 20वीं शताब्दी के समूहवाद ने इसलिए सरकार की शक्तियों को विस्तृत करने का प्रयास किया है कि राज्य आर्थिक जीवन को विनियमित कर सके और प्रासंगिक रूप से स्वतन्त्रता को निर्बाधित कर सके। ऐसी परिस्थितियों में समझौतावाद और जटिलता अपरिहार्य थे।'

आगे चलकर उन्होंने कहा है :

'अतः यह हो सकता है, कि संविधान के चौथे भाग में अभिव्यक्त विचार एक पीढ़ी तक चलते रहें। हो सकता है कि इनमें से कुछ विचार भी अधिक समय के लिए प्रचलित रहे, उसी प्रकार जैसे कि फ्रेंच क्रान्ति के विचारों और उदारवाद ने संविधान के तीसरे भाग में मूर्त रूप धारण किया है। दूसरी ओर यह शंका उठायी जा सकती है कि क्या संविधान में ऐसे राजनीतिक सिद्धान्तों को शामिल करना उचित होगा जिन्हें प्रकटतः 19वीं शताब्दी के ब्रिटिश अनुभव से प्राप्त किया गया था और जिन्हें 20वीं शताब्दी के बीच में भारत के लिए उपयुक्त समझा गया है। इस प्रश्न का, कि क्या वे 21वीं शताब्दी के लिए भी उपयुक्त हैं, जबकि संविधान लागू रहेगा, कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता है। सम्भव है कि तब तक ये सिद्धान्त पूरी तरह पुराने पड़ जाएँ। परमाणु ऊर्जा के उपयोग में प्राप्त अनुभव उन्नत अवस्था में पहुँच चुके हैं। यदि वे सफल हो जाते हैं, तो वे आर्थिक समस्याओं के क्षेत्र में भी क्रान्ति ला देंगे। यदि अगली शताब्दी तक साम्यवादी सिद्धान्त जीवित रहा, जिसकी कि ब्रिटिश औद्योगीकरण के प्रथम काल में इसके मूल को देखते हुए सम्भावना नहीं है, तो भारत साम्यवादी हो सकता है और बैन्थम की विचारधारा तथा फेबियन विचारधारा की बजाय मार्क्सवादी और लेनिनवादी विचारधाराओं पर बल देना प्रारम्भ कर सकता है। फिर भी चाहे कुछ भी स्थिति हो, हो सकता है कि राष्ट्र-राज्य के अभाव में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का हवाला देने का रिवाज ही न रहे; क्योंकि उस समय राष्ट्रों का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। संक्षेप में, संविधान का यह भाग देश काल (युग और परिस्थिति) की उपज है। समय आगे बढ़ता जाता है और परिस्थितियाँ भी इसके प्रभाव से अछूती नहीं रहती हैं।'

संविधान की यह आलोचना पूर्णतः अनपेक्षित है। पर आइवर जैनिंग्स की विचारधारा आवश्यक रूप से ब्रिटिश विचारधारा है, जिसमें कि गारण्टी दिये गये अधिकारों का पूर्ण रूप से मूल्यांकन नहीं किया गया है। इंग्लैण्ड में भी नागरिकों के

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अधिकारों की गारण्टी की आवश्यकता के बारे में नयी विचारधारा का प्रारम्भ हो गया है। मुझे अपने संविधान पर पूर्ण आस्था है और मुझे इस बारे में कोई शंका नहीं है कि हमें इसमें सफलता मिलेगी, बशर्ते कि हम भारतीय उस महान देशभक्त, गोपाल कृष्ण गोखले के इस कथन को कदापि न भूलें कि प्रत्येक भारतीय को अपने जीवन के किसी भी क्षेत्र में तीन बातें अवश्य याद रखनी चाहिएँ और वे हैं (1) भारत, (2) भारत और (3) भारत। सर आइवर जैनिंग्स का यह कहना ठीक नहीं है कि मूल अधिकारों और निदेशक सिद्धान्तों में एक विचित्र द्वन्द्व है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि मूल अधिकार और निदेशक सिद्धान्त एक दूसरे के अनुपूरक हैं और वे एक-दूसरे की पूर्ति करते हैं। इनका विरोध वास्तविक न होकर आभासी है। संविधान के तीसरे भाग में सामान्यतः राज्य को कुछ विशिष्ट बातें न करने के लिए कहा गया है। इसके विपरीत संविधान के चौथे भाग में उसे कुछ बातें करने के लिए कहा गया है। ये सारे विधि-निषेध एक सम्पूर्ण इकाई के रूप में हैं। मुझे संविधान के इन दो भागों में कोई विरोध प्रतीत नहीं होता है। उदाहरणार्थ, संविधान के अनुच्छेद 14 से 18 तक में, इस देश के नागरिकों को विधि के समक्ष समता और विधियों के अधीन समान संरक्षण रक्षा का अधिकार प्रदान किया गया है ; संविधान के अनुच्छेद 38 और 39 में राज्य को यह निदेश दिया गया है कि वह ऐसी परिस्थितियों का सृजन करे जिनके अधीन वे वास्तव में समान हो सकते हैं, अथवा लगभग समान हो सकते हैं। मैं फिर इस बात पर बल देना चाहता हूँ कि विधि के समक्ष समता उस समय तक निरर्थक होगी, जब तक कि वास्तव में लगभग समता न हो।

फिर, आइवर जैनिंग्स का यह सोचना भी सही नहीं था कि संविधान के चौथे भाग के उपबन्धों द्वारा हमारे संविधान-निर्माताओं ने इस देश के भविष्य को अपने जीवन-दर्शन से बांध कर रख दिया है। संविधान के निर्माता उन परिवर्तनों से अनभिज्ञ नहीं रह सकते थे, जो कि चारों ओर के विश्व में उस समय घटित हो रहे थे, और न ही वे निकट भविष्य में सम्भावित परिवर्तनों के बारे में ही अजान थे। संविधान के चौथे भाग में परिकल्पित कार्यक्रम को तुरन्त कार्यान्वित किया जाना था। इसके अधीन उपलब्ध किये जाने वाले उद्देश्य वे हैं, जिन्हें लोगों की तुरन्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक समझा गया। वस्तुतः, एक अवस्था में यह समझा गया था कि न्यायपालिका और कार्यपालिका को पृथक् करने के लिए तीन वर्ष की अवधि निर्धारित कर दी जाये। संविधान के अनुच्छेद 45 में यह कहा गया है कि राज्य इस संविधान के प्रारम्भ में 10 वर्ष की कालावधि के भीतर सब बालकों को 14 वर्ष की अवस्था समाप्ति तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए उपबन्ध करने का प्रयास करेगा। संविधान-सभा के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह कुछ उद्देश्यों को तुरन्त पूरा करने के लिए प्रयत्न करे, क्योंकि विदेशी शासन के दौरान देश काफी पिछड़ा हुआ था। चौथे भाग में परिकल्पित कार्यक्रम किसी भी प्रकार से इस राष्ट्र के भावी विकास में बाधा नहीं पहुँचाता।

संविधान के चौथे भाग में गिनाए गये सिद्धान्तों का सार संविधान के अनुच्छेद 38 में दिया गया है। इसमें संविधान की प्रस्तावना में की गयी घोषणाओं को दोहराया गया है। संविधान-निर्माताओं ने ऐसी सामाजिक व्यवस्था के लिए योजना बनायी, जिसमें कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे। यह सोचना कठिन है कि इस ढंग की कोई भी योजना कभी प्रतिगामी हो सकती है। न ही जिस भविष्य की हम कल्पना कर सकते हैं, उसमें संविधान के अनुच्छेद 39 में दिये गये आदेश

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कभी असंगत हो सकते हैं।

यह सच है कि संविधान का अनुच्छेद 48, जिसमें कि गो-हत्या बन्द करने की व्यवस्था की गयी है, हिन्दू भावनाओं के प्रति एक रियायत थी, परन्तु व्यापक रूप से चौथे भाग में दिये गये निदेश अत्यन्त उच्च कोटि के हैं। निदेशक सिद्धान्तों में परिपूर्णता का अभाव है और उनका कार्यान्वयन कई परिस्थितियों पर आधारित है। संविधान के अनुच्छेद 37 में इन निदेशों को न्यायालयों द्वारा बन्धनकारी नहीं बनाया गया है, पर उनमें निर्धारित सिद्धान्त देश के शासन में मूलभूत कहे गये हैं और राज्य पर यह कर्तव्य आरोपित किया गया है कि वह इन सिद्धान्तों का विधायन कार्य में उपयोग करे। संविधान का यह प्रादेश यद्यपि न्यायालयों द्वारा वाद-योग्य नहीं है, फिर भी यह राज्य के समस्त अंगों पर न्यूनाधिक रूप से बाध्यकारी है। यदि राज्य इन प्रादेशों की अवज्ञा करता है, तो यह वस्तुतः संविधान की अवज्ञा करता है। जिस विचारधारा में यह माना जाता है कि निदेशक सिद्धान्त इसलिए बाध्यकारी नहीं हैं कि विधि-न्यायालयों द्वारा इन्हें लागू नहीं किया जा सकता है, उसका मूल और आधार जॉन ऑस्टिन जैसे उन न्यायविदों के सिद्धान्त हैं जिन्होंने विधि की संकल्पना ऐसे आदेश के रूप में की थी जिसका उदय एक निर्धारित स्रोत से होता है और जिसके पीछे अनुशास्ति का बल होता है। ऐसे ही एक और न्यायविद् केल्सन ने विधि की परिभाषा ऐसे प्राथमिक मानक के रूप में की है, जिसमें कि अनुशास्ति को विधि का एक आवश्यक तत्त्व स्वीकार किया गया है।[11] परन्तु इन सिद्धान्तों को गम्भीरतापूर्वक चुनौती दी गयी है और इन्हें सार्वजनिक रूप से स्वीकार नहीं किया जाता है। कुछ ऐसे भी न्यायविद् हैं जो अनुशास्ति को विधि और इसके कर्तव्यों का एक आवश्यक अथवा महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं स्वीकार करते।[12] उदाहरणार्थ गुडहार्ट[13] का विचार है कि विधि का पालन अनिवार्य होने के कारण ही अनुशास्तियाँ विहित की जाती हैं। यदि विधि का पालन अनिवार्य न हो तो अनुशास्तियों की कोई आवश्यकता न रहे। इसके अतिरिक्त, ऐसे भी अनेक अधूरे दायित्व हैं जो अनिवार्य रूप से लागू नहीं होते और जिनके पीछे अनुशास्तियाँ नहीं हैं, लेकिन फिर भी वे बन्धनकारी अवश्य होते हैं। महान न्यायविद् रोस्को पाउण्ड[14] ने कुछ न्यायिक सिद्धान्तों का निर्धारण किया है, जिन्हें सभ्य समाजों के परिचालन का आधार स्वीकार किया जाता है। इन सिद्धान्तों के अनुसार जिन व्यक्तियों को कुछ कर्तव्य और कार्य सौंपे गये हैं, वे सदाशयता और समाज की अपेक्षाओं के अनुसार इन्हें पूरा करेंगे।

विधि और राज्य के कर्तव्यों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कल्याणकारी राज्य का यह परम कर्तव्य है कि वह अपनी सत्ता और लोगों के कल्याण तथा प्रगति के लिए एक ऐसे समतापूर्ण समाज की स्थापना का प्रयास करे, जिसमें कि आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समता तथा न्याय विद्यमान हों। अन्तिम विश्लेषण में, संविधान की शक्ति का स्रोत है—जनता का समर्थन। संविधान के पीछे प्राथमिक रूप से जनमत की अनुशास्ति होती है। विभिन्न कारणों से एक सबल जनमत का हमारे देश में अभी तक विकास नहीं हो पाया है।

---

[11] केल्सन, 'जनरल थ्यूरी ऑफ लॉ एण्ड स्टेड', 1949, पृ० 63।

[12] डेनिस लॉयड, 'इन्ट्रोडक्शन टू ज्यूरिसप्रूडेन्स', पृ० 119।

[13] गुडहार्ट, 'इंग्लिश लॉ एण्ड मॉरल्स', पृ० 17।

[14] रोस्को पाउण्ड, 'सोशिअल कण्ट्रोल थ्रू लॉ' 1942, पृ० 112–6।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

परन्तु हमारे संविधान में कल्पना की गयी है कि राज्य अपने नागरिकों को शिक्षित करेगा और प्रबुद्ध तथा सुविज्ञ जनमत का विकास करने के लिए शीघ्र ही कदम उठायेगा। हमारे वचन और कर्म में जो अन्तराल पाया जाता है, उसके लिए राज्य के विभिन्न अंगों को दोषी ठहराया जा सकता है। परन्तु 'राज्य' की जड़ता संविधान के उपबन्धों की अपर्याप्तताओं की द्योतक नहीं है। डा० अम्बेदकर के निम्नलिखित वक्तव्य में यह स्पष्ट कर दिया गया है :

> 'राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों को मात्र नैतिक आदेश बनाने का कभी भी उद्देश्य नहीं था। संविधान-सभा का यह उद्देश्य है कि भविष्य में विधायिका और कार्यपालिका दोनों ही इन सिद्धान्तों के प्रति केवल औपचारिकता का दृष्टिकोण न अपनाएँ, बल्कि उन्हें उन विधायी और कार्यकारी कार्यों का आधार बनाने का प्रयास करें जो भविष्य में देश के शासन के सन्दर्भ में किये जायेंगे।'[15]
>
> उन्होंने चेतावनी दी :
>
> 'यदि कोई सरकार इनकी अवहेलना करती है, तो उसे निर्वाचन के समय निर्वाचकों को निश्चित रूप से जवाब देना होगा।'

डा० अम्बेदकर ने इन निदेशक सिद्धान्तों की तुलना भारत शासन अधिनियम, 1935 के अधीन भारत के गवर्नर-जनरल द्वारा जारी किये गये निदेश पत्र से की है। अनुच्छेद 36 के बारे में, जिसमें कहा गया है कि राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों को न्यायालयों में वाध्यता नहीं दी जा सकती, योजना आयोग ने इस प्रकार टिप्पणी की है :

> 'वाद-सापेक्षता की अभाव-सम्बन्धी धारा में केवल यही व्यवस्था की गयी है कि नवोदित राज्य को तुरन्त ही नये दायित्वों को पूरा न करने के लिए उत्तरदायी नहीं होना पड़ेगा। जिस राज्य को अभी स्वतन्त्रता मिली है और जिसके सामने वहुत सी समस्याएँ हैं उसे यदि इन समस्याओं को निपटाने के लिए समय, स्थान तथा पद्धति का निर्णय करने का अधिकार न हो, तो उसकी विभिन्न समस्याओं के बोझ से कमर ही टूट जायेगी।'

हमारी पंचवर्षीय योजनाओं का उद्देश्य संविधान के चौथे भाग में दिये गये निदेशों को कार्यान्वित करना है। दूसरी पंचवर्षीय योजना में इसे इस प्रकार कहा गया है :

> 'आवश्यक रूप से इसका यह अर्थ है कि प्रगति की धाराओं का निर्धारण करने के लिए बुनियादी कसौटी निजी लाभ और सामाजिक हित लाभ ही न होना चाहिए, विकास का प्रतिमान और सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों की संरचना का इस प्रकार से आयोजन किया जाना चाहिए कि उनके परिणामस्वरूप न केवल राष्ट्रीय आय और रोजगार में पर्याप्त वृद्धि हो, वल्कि आय और धन-सम्पदा में अधिक समता हो। उत्पादन, उपभोग और निवेश, वास्तव में सभी महत्त्वपूर्ण सामाजिक, आर्थिक सम्बन्धों के बारे में, मुख्य निर्णय सामाजिक प्रयोजनों से अनुप्राणित अभिकरणों द्वारा किये जाने चाहिएँ। आर्थिक विकास से समाज के अपेक्षाकृत कम सुविधा प्राप्त वर्गों को अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त होने चाहिएँ और आय, सम्यता और आर्थिक शक्ति का संकेन्द्रण लगातार कम होते जाना चाहिए। समस्या ऐसा परिवेश तैयार करने की है जिसमें

---

[15] 'कॉंस्टीट्यूएंट असेम्वली डिवेट्स', खण्ड 7, पृ० 41।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कि वह छोटा व्यक्ति, जिसे संगठित प्रयास के माध्यम से विकास और वृद्धि की विशाल सम्भावनाओं का पर्यवेक्षण करने और उनमें भाग लेने का बहुत ही कम अवसर मिल पाया है, अपने लिए अच्छे जीवन-स्तर को प्राप्त कर सके और देश की अधिक समृद्धि के लिए अपना अधिक से अधिक सहयोग दे सके।'[16]

निदेशक सिद्धान्तों के संचालन का आधार मानव अधिकार हैं। प्रतिनिधि लोकतन्त्रों का उस समय तक कोई अर्थ नहीं होगा जब तक सामान्य व्यक्ति के लिए आर्थिक और सामाजिक न्याय की उपयुक्त व्यवस्था न हो। यह एक विश्वजनीन अनुभव है। विदेशी शासन से मुक्ति का महत्त्व इसी में है कि इससे हमें आर्थिक और सामाजिक प्रगति की दिशा में अग्रसर होने के अवसर प्राप्त होते हैं। हमें यह बात फिर याद रखनी चाहिए कि स्वतन्त्रता अधिक अच्छा बनने के लिए प्रदत्त अवसर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अधिक अच्छा बनने के लिए अवसर की स्वतन्त्रता ही भारतीय संविधान के चौथे भाग में दिये गये राज्य नीति के निदेशक तत्त्वों का सार है।

निदेशक सिद्धान्तों का क्रियान्वीकरण

अब मैं इस बात पर विचार करूँगा कि राज्य निदेशक सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने में कहाँ तक सफल अथवा असफल हुआ है, हमारे वचन और कर्म, आशाओं तथा उनकी पूर्ति के लिए किये गये प्रयत्नों के बीच क्या अन्तर रहा है। हम अपने गन्तव्य तक पहुँचने के लिए कितनी यात्रा तय कर चुके हैं और कितनी यात्रा हमें अभी और तय करनी है। हम अपने सिद्धान्त में कितने क्रान्तिकारी रहे हैं और व्यवहार में कितने रूढ़िवादी।

यह हमारा सौभाग्य था कि हमारी स्वतन्त्रता की प्रभात वेला में हमारे बीच उच्च आदर्शों से अनुप्रेरित और समर्पणशील नेता थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमने इस दिशा में शुभ श्रीगणेश किया का। अब संविधान के अंगीकार किये जाने के 21 वर्ष पश्चात् यह प्रश्न करना किसी भी प्रकार से असंगत नहीं है कि हम इन आदर्शों को कहाँ तक प्राप्त कर सके हैं और संविधान द्वारा अपने ऊपर आरोपित कर्तव्यों को निभाने में हम कहाँ तक सफल हुए हैं। यह संकल्पना अब अतीत की बात होकर रह गयी है कि राज्य सामाजिक मामलों में तटस्थ रहे। आज राज्य न्यायसंगत समाज व्यवस्था को लाने का प्रधान साधन है। निस्सन्देह, हमारी संसद और राज्य विधानमण्डलों ने कई सामाजिक-विधायी विधियों का अधिनियमन किया है और सामान्य व्यक्ति को सामाजिक न्याय प्रदान करने की दिशा में भी कुछ प्रयास किये गये हैं। हमारी सफलता और असफलता का अनुमान हमारी उपलब्धियों के आधार पर न करके इस दिशा में हमारी असफलताओं के आधार पर होना चाहिए। यदि हम विधायी और प्रशासनिक कार्यक्रमों को उत्साहपूर्वक कार्यान्वित नहीं कर पाते हैं, तो इनका लाभ ही क्या है? संविधान में की गयी पवित्र प्रतिज्ञाओं का क्या लाभ, यदि हम इनकी पूर्ति में मन और आत्मा से रत नहीं हैं? निदेशक सिद्धान्तों द्वारा जो शक्तियाँ विमुक्त की जानी थीं, क्या वे वास्तव में विमुक्त की गयी हैं और क्या उन्हें उपयुक्त दिशा प्रदान की गयी है? और क्या हम एक नवीन गत्यात्मकता का सृजन करने, अपनी सामाजिक संरचना को परिवर्तित करने, देश की एकता को

[16] 'सेकण्ड फाइव यिअर प्लान', प्लानिंग कमीशन, 1957, पृ० 22।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

बल प्रदान करने और अपने देश में सफल लोकतन्त्र के लिए सुरक्षित आधार प्राप्त करने में, सफल हो सके हैं ? यदि ईमानदारी से आत्मान्वेषण करने पर हमें पता चलता है कि हमारी आशाओं की उस सीमा तक पूर्ति नहीं हो पायी है जिस सीमा तक हमारी आकांक्षाएँ थीं, तो इसमें संविधान का क्या दोष ? नाच न जानने पर आंगन को टेढ़ा कहने से काम थोड़े ही बनता है ? अत्युत्तम संविधान के प्रादेशों को भी अगर हम निष्ठापूर्वक कार्यान्वित नहीं करते हैं तो उससे इष्ट परिणामों की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। अन्तिम विश्लेषण में, राष्ट्र की प्रगति जनता पर निर्भर होती है। लोकतन्त्र अपनी शक्ति का संचयन जनमत से ही करता है। जितना अधिक यह जनमत सुविज्ञ होगा, उतनी ही इसकी शक्ति अधिक होगी। लोकतन्त्रीय देश का कोई भी नागरिक समाज के प्रति अपने कर्तव्यों की अवहेलना नहीं कर सकता है, क्योंकि एक अर्थ में प्रत्येक नागरिक शासक है। समाज से लाभान्वित होने वालों का उत्तरदायित्व उन लोगों की अपेक्षा अधिक है, जिन्हें समाज से लाभ प्राप्त नहीं हुए हैं। राष्ट्र के प्रति उनका यह और भी अधिक कर्तव्य है कि वे यह प्रयत्न करें कि इसकी आशाएँ और आकांक्षाएँ पूरी हो जायें। जब संविधान ने राज्य को यह उत्तरदायित्व सौंपा हो कि वह राष्ट्र को एक नयी सामाजिक क्रान्ति के लिए तैयार करे, तो उस समय राज्य के साधनांगों का कर्तव्य और भी अधिक बढ़ जाता है। इस लेख की सीमाओं के भीतर राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों के कार्यान्वयन के लिए अपनाये गये सभी विधायी और कार्यकारी उपायों को सूचीबद्ध कर पाना और समाज पर इन उपायों के प्रभाव का मूल्यांकन कर पाना कठिन है। अतः मैं व्यापक रूप से उन कुछ प्रवृत्तियों और अभिरुचियों की ओर संकेत करने का ही प्रयास करूँगा जिनके कारण वचन और कर्म का व्यवधान अधिक व्यापक होता गया है।

संविधान का अनुच्छेद 38 निदेशक सिद्धान्तों की नींव का पत्थर है। यह अनुच्छेद राज्य के लिए इस आशय का निदेश है कि वह लोगों के कल्याण के सम्वर्धन के लिए उपयुक्त सामाजिक व्यवस्था की सुरक्षा करने के लिए हमारे संविधान की प्रस्तावना में अभिव्यक्त आशाओं को मूर्त रूप प्रदान करे। यह उस ध्रुव तारे की भाँति है जिसकी सहायता से हमें अपना मार्ग-प्रशस्त करना है। अनुभव से यह सिद्ध है कि लोकतन्त्र केवल सामाजिक और आर्थिक न्याय पर आधारित समाज में ही पुष्पित और पल्लवित हो सकता है। अनुच्छेद 38 के प्रादेश के अनुसार राज्य सभी नागरिकों के लिए काम मुहैय्या करने, जनसाधारण के जीवन की अवस्थाओं को सुधारने, सभी के लिए पर्याप्त भोजन और वस्त्र की व्यवस्था करने, बीमारों के लिए राहत, वृद्धों तथा असमर्थों के लिए पेन्शन और सभी बच्चों के लिए शिक्षा की व्यवस्था करने का प्रयास करेगा। ये सभ्य अस्तित्व के लिए न्यूनतम अपेक्षाएँ हैं। कहने का सार यह है कि अनुच्छेद 38 में उस स्थिति की कल्पना नहीं की गयी है, जिसमें एक ओर तो सुख-समृद्धि, ऐश्वर्य-वैभव तथा राग-रंग का अखण्ड साम्राज्य हो तथा दूसरी ओर दुःख-दैन्य और दरिद्रता का ताण्डव नृत्य हो रहा हो।

इस समय हम चौथी पंचवर्षीय योजना के बीच में हैं। हमने कृषि और उद्योग के क्षेत्रों में कुछ प्रत्यक्ष द्रष्टव्य प्रगति की है। हमने अपने मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरी निश्चित की है; अपने श्रम-सम्बन्धी कानूनों को आधुनिक बनाया है और श्रमिकों की अवस्था को सुधारने का प्रयास किया है। हमने अपने देश में शिक्षा संस्थाओं की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि की है। एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधारों का प्रारम्भ है, जिनमें कि भूमिरहित

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

लोगों को भूमि प्रदान किये जाने की व्यवस्था की गयी है। हम व्यापार और उद्योग में एकाधिकारपूर्ण प्रथाओं पर प्रतिबन्ध स्थापित करने के प्रयास कर रहे हैं। नागरिकों के सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों के लिए विशेष रक्षा के उपायों की व्यवस्था भी है और शिक्षा तथा रोजगार के मामले में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए विशेष प्रबन्ध किया गया है। चिरकालीन अभिशाप अस्पृश्यता अब एक दण्डनीय अपराध है। कोई भी कटु आलोचक यह कह देगा कि हमारी योजनाओं और नीतियों ने अमीरों को और अधिक अमीर तथा गरीबों को और अधिक गरीब बनाया है। हो सकता है कि यह बात पूर्णतः सही न हो। कम-से-कम कुछ अमीर अवश्य गरीब हो गये हैं और कुछ गरीब अवश्य अमीर बन गये हैं। प्रश्न यह है कि क्या हमारे कार्यक्रमों और नीतियों ने किसी सीमा तक अमीर और गरीब के अन्तर को कम किया है। हमारे देश में असंख्य ऐसी मानव निर्मित बाधाएँ हैं जो कि सामाजिक और आर्थिक सुधारों के सूत्रपात और कार्यान्वयन के मार्ग में रोड़े अटकाती हैं। हम भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, पक्षपात, संकीर्ण प्रान्तीयता और जातीयता के बारे में बहुत कुछ चर्चा सुनते हैं। अगर इन कुरीतियों को इसी गति से बढ़ने दिया जाता रहा, तो यह हमारी राजनीति के शरीर को घुन की तरह खा जायेंगी। मैं यहाँ देश की अवस्था का कोई बहुत अधिक निराशाजनक चित्र प्रस्तुत नहीं करना चाहता। मैं केवल यहाँ पर प्रोफेसर गुन्नार मर्डल[17] के महत्त्वपूर्ण विचारों को उद्धृत करना चाहता हूँ। मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि प्रोफेसर गुन्नार मर्डल को किसी भी प्रकार से हमारे देश का कटु आलोचक नहीं समझा जा सकता।

> 'ब्रिटिश शासन के अधीन भारतीय नगरों के यूरोपीय वर्ग में, जिन्हें भारत में 'सिविल लाइन' कहा जाता था, कुछ भारतीयों के मकान भी हुआ करते थे। यह भारतीय या तो वरिष्ठ सरकारी अधिकारी होते थे या मात्र धनी लोग। इसमें हैरानी की कोई बात नहीं कि स्वाधीनता के आगमन से भारतीय पदाधिकारी ब्रिटिश राज्य के इन विशिष्ट क्षेत्रों को आबाद करने लगे। नयी दिल्ली में भूतपूर्व वायसरायों का विशाल महल, जिन्हें गाँधी जी गरीबों के लिए अस्पताल बनाना चाहते थे, भारतीय राष्ट्रपति का निवास-स्थान बना। प्रधानमन्त्री के रूप में नेहरू ने भूतपूर्व ब्रिटिश प्रधान सेनापति के वृहत् निवास-स्थान में पदार्पण किया। राज्यों में राज्यपालों को भी इसी प्रकार के प्रासादों में स्थान दिया गया और उन्हें सिविल और सैनिक स्टाफ भी दिया गया, जिनका कार्य मुख्य रूप से समारोहात्मक और सामाजिक था। यहाँ हमें मन्त्रिमण्डलों के निर्माण की भी यही स्पष्ट प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है कि वे आवश्यकता से अधिक बड़े हैं और साथ ही एक सदन के स्थान पर राज्यों में दो सभाओं का ऐश्वर्य प्रदान करने का भी प्रयास किया गया है। झण्डे फहराती बड़ी कारों में सवारी के अधिकार प्राधिकार के प्रतीक के रूप में बड़े उत्साहपूर्वक प्राप्त किये जाने लगे और राज्यपालों और मन्त्रियों के सरकारी दौरे बड़ी शान-शौकत के साथ निष्पादित किये जाने लगे। व्यापक राजनयिक सामाजिक समारोह सामाजिक हैसियत और प्रतिष्ठा का एक और चिन्ह बने। संघीय और राज्य विधानसभाओं के सदस्य बड़ी उत्सुकतापूर्वक इन विशेषाधिकारों और हैसियतों को प्राप्त करने का प्रयास करने लगे।

---

[17] गुन्नार मर्डल, 'एशियन ड्रामा', खण्ड 1, लन्दन, एलेन लेन, पेंनगुइन, 1968, पृ० 273–274।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

यद्यपि अपने आप में ये बहुत मामूली बातें हैं, परन्तु इनसे शासकों और शासितों के बीच की खाई और अधिक चौड़ी हो गयी तथा इन्होंने भारतीय समाज में मूल सुधारों की आवश्यकता से सरकारी अधिकारियों का ध्यान हटा दिया। साथ ही इस प्रकार की शान-शौकत ने नयी सरकार की भूमिका को ब्रिटिश राज्य के उत्तराधिकारी के रूप में प्रस्तुत किया। इससे इस दृष्टिकोण को भी प्रोत्साहन मिला कि राजनीतिक स्वतन्त्रता ने विदेशी शासकों के स्थान पर भारत के विशेषाधिकार-सम्पन्न वर्ग का शासन स्थापित किया है।'

हमें इन टिप्पणियों को एक विदेशी के पूर्वाग्रह समझकर अस्वीकार नहीं करना चाहिए। इस अवतरण में चाहे कितनी भी अतिशयोक्ति क्यों न हो, ऐसे कथनों में एक बात अवश्य ही स्पष्ट होती है, और वह बात हम भारतीयों को भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है कि यहाँ अमीर और गरीब में बहुत अधिक अन्तर है। अपने इस देश के नागरिक होने के नाते हम में से प्रत्येक का यह कर्तव्य है कि न केवल हम इन मामलों पर विचार-विमर्श करें, बल्कि इन कुरीतियों को दूर करने के लिए कार्यरत भी हों; ताकि हम प्रगति के सीधे मार्ग पर चलते रहें। परन्तु लोगों के कल्याण का सम्वर्धन करने के लिए सामाजिक व्यवस्था को सुरक्षित करने की प्राथमिक जिम्मेदारी संविधान के अनुच्छेद 38 के सन्दर्भ में 'राज्य' की है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि संविधान के इस अनुच्छेद ने राज्य पर जिस कर्तव्य का आरोप किया है, उसकी ओर अभी गम्भीर और सही रूप से ध्यान नहीं दिया गया है। निश्चित रूप से अनुच्छेद 39 से 51 तक में दिये गये इन निदेशों का कार्यान्वयन उन लोगों की सुविधा पर नहीं छोड़ा जा सकता है, जिन्हें इन निदेशों के कार्यान्वयन का उत्तरदायित्व सौंपा गया है। ऐलन ने ठीक ही कहा है :

'हम आजकल 'सामाजिक न्याय' की बहुत चर्चा करते और सुनते हैं। मैं नहीं जानता कि जो लोग इसका बहुत जोर से ढिंढोरा पीटते हैं, वे यह स्पष्ट रूप से जानते भी हैं कि इसका अर्थ क्या है ? कुछ लोग इसका अर्थ धन के वितरण अथवा पुनर्वितरण से लेते हैं; कुछ इसकी व्याख्या अवसर की समता के रूप में करते हैं। अवसर की समता एक मिथ्या धारणा है, क्योंकि जिन मानव देहधारियों की क्षमताएँ-योग्यताएँ ही अलग-अलग हैं, उनके लिए समान अवसरों की कल्पना नहीं की जा सकती। कुछ लोग इस बात को अन्यायपूर्ण समझते हैं कि कोई एक व्यक्ति अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक भाग्यशाली हो। अधिक समझदार लोगों के विचार से यह उचित है, उचित ही नहीं लाभप्रद भी है कि प्रकृति ने मनुष्य-मनुष्य के बीच जो असमताएँ उत्पन्न कर दी हैं, उन्हें कम-से-कम करने का प्रयास किया जाये और इस मार्ग में कोई बाधा खड़ी न की जाये, बल्कि आत्म-सुधार के लिए जो भी व्यवहारिक अवसर सुलभ हों, सुलभ किये जायें।'[18]

जिस सामाजिक न्याय को हम अमल में लाना चाहते हैं उसका स्वरूप वही होना चाहिए, जिसकी संविधान में कल्पना की गयी है और जिसको ब्यौरेवार संविधान के भाग चार में दिया गया है। हमें इस दिशा में किसी भी सिद्धान्तवादी दृष्टिकोण से सतर्क रहना है।

---

[18] ऐलन, 'आस्पेक्ट्स ऑफ जस्टिस', पृ० 31।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संविधान के अनुच्छेद 39 में राज्य द्वारा अपनायी जाने वाली नीतियों के सिद्धान्तों का निर्धारण किया गया है। इस अनुच्छेद में कहा गया है कि समान रूप से नर और नारी सभी नागरिकों को आजीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार है, समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बँटा हो, जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो; आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले, जिससे धन और उत्पादन साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो; पुरुषों और स्त्रियों, दोनों को समान कार्य के लिए समान वेतन मिले; श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों के स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो; आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े जो उनकी आयु और शक्ति के अनुकूल न हों; तथा शैशव और किशोर अवस्था का शोषण से तथा नैतिक और भौतिक परित्याग से संरक्षण हो। परन्तु आज भी हमारी जनता का एक बहुत बड़ा वर्ग आजीविका के पर्याप्त साधनों से वंचित है, हम अपने मजदूरों के लिए उपयुक्त मजदूरी की व्यवस्था करने से कोसों दूर हैं, हमारे औद्योगिक कानूनों में अभी तक न्यूनतम मजदूरी की चर्चा ही की जाती है, हम अभी तक यह सुनिश्चित नहीं कर पाये हैं कि पुरुषों और स्त्रियों के लिए समान कार्य के लिए समान पारिश्रमिक की व्यवस्था हो; हमें इस दिशा में अभी ठोस कदम उठाने हैं कि समाज के भौतिक साधनों का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार से वितरित हो कि सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो, हमारी आर्थिक व्यवस्था अब भी इस रूप में चल रही है कि धन और उत्पादन साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण हो रहा है; हम अपने पुरुष और स्त्री मजदूरों के लिए पर्याप्त चिकित्सा सुविधाओं और शिष्ट जीवन परिस्थितियों की व्यवस्था करने में असफल रहे हैं; आर्थिक आवश्यकता से मजबूर होकर छोटे बच्चों को ऐसे धन्धों में फँसना पड़ता है, जो उनकी आयु और शक्ति के बिल्कुल उपयुक्त नहीं हैं और हमें शैशव और किशोर अवस्था का शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से संरक्षण करने की दिशा में कई उपाय करने हैं। फिर, हमें आज युवा वर्ग में बहुत अधिक विक्षोभ के दर्शन होते हैं। सामान्यतया यह अनुभव किया जाता है कि इसका बुनियादी कारण हमारे नैतिक मानकों का पतन है। युवा वर्ग में उपदेश मात्र से नैतिकता का सृजन नहीं किया जा सकता है। आज आवश्यकता प्रचार की नहीं, कार्य की है। हमारे नेताओं को उदाहरण स्थापित कर युवा पीढ़ी में विश्वास पैदा करना चाहिए।

अब मैं संविधान के चौथे भाग के कुछ महत्त्वपूर्ण अनुच्छेदों के बारे में संक्षेप में अपने विचार व्यक्त करूँगा।

अनुच्छेद 40 में राज्य को ग्राम पंचायतों का संगठन करने तथा उन्हें शक्तियाँ और प्राधिकार प्रदान करने का आदेश दिया गया है जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हों। ग्राम पंचायतों से हमारी लोकतान्त्रिक संस्थाओं के मूल आधार बनने की अपेक्षा की गई थी। प्रत्यक्षतः संविधान निर्माताओं का उद्देश्य नीचे से लोकतान्त्रिक संस्थाओं का निर्माण करना था, न कि उन्हें ऊपर से लोकतान्त्रिक विचारों के रूप में आरोपित करना। इसमें कोई संदेह नहीं कि ग्राम पंचायतों के संगठन की दिशा में कुछ कदम उठाए गये हैं और उन्हें कुछ शक्तियाँ भी प्रदान की गयी हैं, परन्तु उन्हें पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। हमारी ग्राम पंचायतें अभी लोकतन्त्र के प्रभावी साधन नहीं बन पायी हैं। इसका सबसे पहला कारण तो यह है कि इस समय व्यापक निरक्षरता है और दूसरे

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अभी भी धर्म और जाति हमारे देश की समस्त विचारधारा को अनुप्राणित करती हैं। फिर यह पंचायतें अनुचित रूप से राज्य सरकारों के नियन्त्रण में हैं।

संविधान के अनुच्छेद 45 में यह प्रादेश दिया गया है कि राज्य इस संविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की कालावधि के भीतर सभी बालकों को 14 वर्ष की अवस्था समाप्ति तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए उपबन्ध करने का प्रयास करेगा। लोकतन्त्र में सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को बुद्धिमानी से समझना हरेक नागरिक के लिए अपरिहार्य है। यदि हमारे नागरिक निरक्षर और अशिक्षित रहते हैं तो इस देश में लोकतन्त्र हमेशा ही अस्थिर नींवों पर स्थित रहेगा। लोकतन्त्र को जनता द्वारा, जनता का, जनता के लिए, शासन कहा गया है। हमारे संविधान निर्माताओं ने यह अपेक्षा की थी कि राज्य कम-से-कम 1960 तक तो अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था कर पायेगा। जहाँ तक मेरी जानकारी है, अभी तक किसी भी राज्य ने अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था नहीं की है।

अनुच्छेद 44 में निदेश दिया गया है कि धार्मिक, जातीय और जनजातीय सीमाओं का उल्लंघन कर एक सामंजस्यपूर्ण राष्ट्र के निर्माण के लिए, राज्य, भारत के समस्त राज्य क्षेत्रों में, नागरिकों के लिए एक समान व्यवहार-संहिता प्राप्त कराने का प्रयास करेगा। हमारे यहाँ विभिन्न समुदायों के लिए विभिन्न व्यक्तिगत नियम हैं। हिन्दू अधिकांशतः अपनी ही उत्तराधिकार, विवाह, संरक्षण और विवाह-विच्छेद-सम्बन्धी विधियों से शासित होते हैं। इसी प्रकार मुसलमानों के अलग ही व्यक्तिगत कानून हैं। ऐसे ही ईसाइयों के और कुछ अन्य समुदायों के भी अपने व्यक्तिगत कानून हैं। इन अलग कानूनों से पृथक्तावादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है। हमने एक समान व्यवहार-संहिता का अधिनियमन करने के लिए कोई महत्त्वपूर्ण प्रयास नहीं किया है। समान व्यवहार संहिता के विरोध में दी जाने वाली युक्तियों में से प्रत्येक युक्ति को संविधान सभा में भी प्रस्तुत किया गया था, परन्तु उसे वहाँ रद्द कर दिया गया था।

संविधान के अनुच्छेद 41 के प्रादेश की भी उपेक्षा कर दी गई है। काम पाने, शिक्षा पाने तथा बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और अंग-हानि तथा अन्य अनर्ह-अभाव की दशाओं में सार्वजनिक सहायता पाने के अधिकार की व्यवस्था करने के बारे में भी कोई सन्तोषजनक कार्यक्रम नहीं बनाया गया है। हमारे शिक्षित और अशिक्षित नागरिकों के बीच में भी बेरोजगारी दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है। प्रौद्योगिक रूप से अत्यधिक शिक्षित वर्ग यथा चिकित्सा-स्नातकों और इन्जीनियरी स्नातकों का अधिकांश भाग अभी तक बेकार है। यह एक बड़ी गम्भीर समस्या है और हमारी योजनाबद्धता और प्राथमिकताओं पर एक खेदजनक टिप्पणी है।

उपयुक्त मानवीय कार्य परिस्थितियों और प्रसूति-सम्बन्धी सहायता की दिशा में निश्चय ही कुछ कदम उठाये गये हैं, परन्तु वे हमारी बढ़ती हुई आवश्यकताओं की दृष्टि से पूर्ण रूप से अपर्याप्त हैं। संविधान के अनुच्छेद 43 में व्यक्त यह आशा कि श्रमिकों को निर्वाह मजदूरी प्रदान की जायेगी, अभी तक पूर्ण नहीं की जा सकी है। आज कोई भी निश्चित रूप से यह नहीं कह सकता है कि हमने अपने नागरिकों के लिए जीवन का शिष्ट स्तर तथा अवकाश का सम्पूर्ण उपभोग सुनिश्चित करने वाली काम की दशाओं और सामाजिक तथा सांस्कृतिक अवसर प्राप्त कराने का प्रयास किया है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक और आर्थिक हितों का सम्वर्धन कराने के लिए भी कई कदम उठाये गये हैं, परन्तु इस दिशा में अभी बहुत कुछ करना शेष है। ये वर्ग अभी भी सामाजिक अन्याय के शिकार हैं। कुछ सीमा तक वे अभी भी तथाकथित ऊँची जातियों से अलग रखे जाते हैं। एक नाई अब भी नाई ही है, एक गडरिया अब भी गडरिया ही है और शिकारी-शिकारी ही; हरिजन-हरिजन ही रहता है। इन वर्गों को शेष राष्ट्र के साथ समेकित करने की दिशा में अभी बहुत कुछ करना शेष है। समाज में इन परिस्थितियों को बर्दाश्त करना अपने सर्वनाश को निमन्त्रण देना है।

संविधान का अनुच्छेद 47 ऐसे अनुच्छेदों में से एक है जिसके साथ लगातार खिलवाड़ किया जाता रहा है। इस अनुच्छेद में गांधीवादी दर्शन निहित हैं। इसमें राज्य से यह अपेक्षा की गयी है कि वह मादक पेयों और स्वास्थ्य के लिए हानिकारक औषधियों के औषधीय प्रयोजनों से अतिरिक्त उपभोग का प्रतिषेध करने का प्रयास करेगा। कई राज्यों ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त पश्चात् मद्यनिषेध-सम्बन्धी नियम लागू किये, परन्तु उनमें से अधिकांश ने इन कानूनों को वापस ले लिया। आधुनिक और वैज्ञानिक तरीकों से कृषि और पशुपालन का संगठन करने के लिए और पशुओं की नस्लों को सुधारने के लिए काफी कदम उठाये गये हैं। ऐसा कहा जाता है कि हम इस समय 'हरित क्रान्ति' के मध्य में हैं, परन्तु हमारा कृषि उत्पादन आज भी हमारी बढ़ती हुई आबादी का साथ देने में असमर्थ है। हमारी आबादी में इस तेजी से वृद्धि हो रही है कि अगर हम अपनी आबादी की वृद्धि को सीमित करने में सफल न हुए तो कृषि के क्षेत्र में हमारे सभी प्रयास विफल होंगे। पिछली शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश से लेकर अब तक न्यायपालिका और कार्यापालिका को अलग करने के लिए लगातार माँग की जा रही है। हमारे स्वतन्त्रता-संघर्ष के दौरान इस माँग को और भी तीव्र रूप से प्रस्तुत किया गया था। वस्तुतः संविधान के प्रारूप में यह व्यवस्था की गई थी कि संविधान लागू किए जाने की तारीख से तीन वर्ष के भीतर कार्यपालिका और न्यायपालिका को अलग-अलग कर दिया जायेगा, परन्तु बाद में इस प्रारूप में यह परिवर्तन कर दिया गया था और अनुच्छेद 50 में यह व्यवस्था की गयी थी कि राज्य अपनी सार्वजनिक सेवाओं में कार्यपालिका और न्यायपालिका को अलग-अलग करने के लिए कदम उठायेगा। जब मैंने 1966 में दिल्ली उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश का कार्य-भार सम्भाला, तब मेरा सबसे पहला कार्य सरकार को न्यायपालिका और कार्यपालिका के अलग किये जाने की आवश्यकता से अवगत कराना था। कई राज्यों ने, और इनमें केन्द्र शासित दिल्ली के संघ राज्य को भी शामिल किया गया है, हाल ही तक न्याय-पालिका और कार्यपालिका को अलग-अलग नहीं किया गया था। अब भी कई राज्यों में इनकी पृथक्ता की योजना को किसी भी रूप से सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त सर्वेक्षण से यह स्पष्ट है कि निदेशक सिद्धान्तों में हमने जिस सामाजिक क्रान्ति का भावन किया है, उसे पूरा करने के लिए अभी बहुत लम्बी यात्रा तय करनी है। दुर्भाग्यवश, राज्य के विभिन्न अंगों में यह धारणा घर कर गयी थी, और इन अंगों में न्यायपालिका भी शामिल है, कि चूँकि संविधान के चौथे भाग में दिये गये निदेशक सिद्धान्तों को अनुछेद 37 द्वारा व्यक्त रूप से न्यायालयों में वाद-योग्य नहीं माना गया है, अतः यह निदेशक तत्त्व मात्र पवित्र आशाएँ हैं, जिनपर तुरन्त ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। मैं यहाँ फिर इस बात पर बल देना चाहता हूँ कि संविधान का और कोई भी भाग चौथे भाग से

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। हमारे संविधान का दर्शन संविधान के तीसरे भाग में और इस भाग में निहित है। संविधान के चौथे भाग में प्राप्त किये जाने वाले आदर्शों को दिया गया है और साथ ही इन आदर्शों को प्राप्त करने की रीतियों का निर्धारण किया गया है। यदि हम संविधान के चौथे भाग की अवहेलना करते हैं, तो हम संविधान में राष्ट्र के सन्दर्भ में व्यक्त आशाओं और संविधान के आधारभूत आदर्शों की अवहेलना करते हैं। हमें यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि हमारे वचनों और कर्मों में, हमारे उपदेशों और व्यवहारों में, बहुत अन्तर है। मैं यहाँ फिर एक बार गुन्नार मर्डल को उद्धृत करना चाहूँगा कि हमारे 'आदर्शों और वास्तविकता में एक द्वन्द्व है और यह द्वन्द्व अधिनियमित विधायन और उसके कार्यान्वयन में भी विद्यमान है।'

उनके अनुसार :

> '(हमारे देश में उद्दिष्ट) सामाजिक विधायन ने उस दिशा की ओर संकेत किया जिसमें कि समाज को आगे बढ़ना था, परन्तु वह किस गति से हो, इसको अनिर्णीत छोड़ दिया गया। इनमें से अधिकांश कानून जानबूझकर अनुज्ञात्मक रखे गये थे। सरकार ने दहेज-प्रथा, बाल-विवाह और अस्पृश्यता पर प्रतिबन्ध आरोपित करना अवश्य चाहा, पर उसने तत्सम्बन्धी विधायन को लागू करने का प्रयास नहीं किया। और तो और, संविधान की मद्य-निषेध-सम्बन्धी धारा को भी ऊपरी रूप से ही अमल में लाने का प्रयास किया गया, यद्यपि इसमें समस्त नशीले पेयों से दूर रहने की कठोर गांधीवादी निषेधाज्ञा निहित थी। जो अनिवार्य कानून थे, या तो उन्हें बिल्कुल लागू नहीं किया गया था या उन्हें उनकी भावना और बनाने वालों के उद्देश्य के अनुसार लागू नहीं किया गया।'

फिर,

> 'भारत की इस स्थिति की प्रमुख कमजोरी यह रही कि इस बीच भारतीय राजनीति की शक्ति का आधार परिवर्तित हुआ और उसने न केवल अनुदार शक्तियों को सुदृढ़ किया बल्कि कई बार प्रतिगामी शक्तियों को भी बलवती बनाया और इस प्रकार आधुनिकीकरण के आदर्शों को पूरा करने को और भी अधिक कठिन बना दिया। हमने स्वयं ही कई सुधारों के मार्ग में प्रतिरोधों को बढ़ने का अवसर प्रदान किया। यदि हम ऐसा न करके शुरू में ही स्वतन्त्रता के पश्चात् इन सुधारों को कार्यान्वित करते, तो आज स्थिति कहीं भिन्न होती। हमने जिस सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति की प्रतिज्ञा की थी और जिसे हम भारत की राजनीतिक क्रान्ति के पश्चात् लाना चाहते थे, वह सदा के लिए स्थगित की जा सकती है। और तो और, राजनीतिक क्रान्ति भी उस वास्तविकता के रूप में हमारे सामने नहीं आयी, जिस रूप में कि विचारशील नेताओं ने अपेक्षा की थी। यद्यपि कहने के लिए भारत ने सुदृढ़ संसदीय शासन की रचना की है, पर वस्तुतः वह अब भी अपने लोगों के बहुमत द्वारा नियन्त्रित नहीं है, और न ही आर्थिक नीतियों का इस प्रकार से निर्धारण किया जाता है जो कि जन-साधारण के हित में हो।'[19]

---

[19] गुन्नार मर्डल, 'एशियन ड्रामा', खण्ड 1, पृ० 276–8।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

न्यायालयों की कसौटी पर

मैं निवेदन कर चुका हूँ कि निदेशक सिद्धान्तों के महत्त्व का राज्य के विभिन्न अंगों ने, जिनमें न्यायपालिका भी शामिल है, पूरी तरह से मूल्यांकन नहीं किया है। इस तथ्य से कि संविधान के चौथे भाग में दिये गये निदेश स्पष्ट रूप से न्यायालयों द्वारा वाद-योग्य नहीं बनाये गये हैं, कई न्यायालयों ने यह विश्वास कर लिया कि निदेशक सिद्धान्त कम महत्त्वपूर्ण हैं और संविधान के तीसरे भाग में दिये गये मूल अधिकारों से यह गौण रहेंगे। संविधान के लागू करने के तुरन्त पश्चात् उच्चतम न्यायालय को चम्पाकम[20] के मामले में संविधान के तीसरे भाग में दिये गये कुछ अनुच्छेदों पर निदेशक सिद्धान्तों के प्रभाव के बारे में विचार करने के लिए कहा गया। मद्रास राज्य ने एक आदेश जारी किया, जिसे आम तौर पर साम्प्रदायिक सरकारी आदेश कहा जाता है। इसके अधीन इन्जीनियरी और डाक्टरी कालेजों में स्थान इस सामान्य आदेश में दिये गये निदेशों के अनुसार एक प्रवर समिति द्वारा भरे जाने थे। आलोच्य आदेश के अधीन स्थानों का कुछ प्रतिशत विभिन्न सम्प्रदायों के लिए सुरक्षित रखा गया था। इस प्रकार किये गये चुनावों की विधिमान्यता को मद्रास उच्च न्यायालय में चुनौती दी गयी। उसमें कहा गया कि इस प्रकार किये गये चुनाव संविधान के अनुच्छेद 29 (2) में गारन्टी किये गये मूल अधिकारों का अतिक्रमण करते हैं। सरकारी आदेश के समर्थन में मद्रास सरकार ने अनुच्छेद 46 का आश्रय लिया जिसमें राज्य को यह आदेश दिया गया है कि वह जनता के दुर्बल वर्गों और विशेषकर अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन-जातियों के शैक्षिक और आर्थिक हितों का विशेष रूप से सम्वर्धन करे। मद्रास उच्च न्यायालय ने राज्य की इस मान्यता को रद्द कर दिया और उस आदेश को संविधान के अनुच्छेद 29 (2) का उल्लंघन बताया। मद्रास राज्य ने यह मामला अपील के रूप में उच्चतम न्यायालय में उठाया और वहाँ भी उस आदेश की विधिमान्यता के समर्थन में अनुच्छेद 46 का आश्रय लिया। आलोच्य आदेश स्पष्ट रूप से अवैध था क्योंकि जाहिरा तौर पर इसमें विभेदक नीति अपनाई गयी थी और साथ ही राज्य द्वारा अनुरक्षित शिक्षा संस्थाओं में दाखिले से केवल जाति के आधार पर नागरिकों के कुछ वर्गों को वंचित रखा गया था। न्यायालय की ओर से बोलते हुए न्यायधिपति श्री एस० आर० दास ने निम्नलिखित विचार व्यक्त किये :

> 'राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्त, जिन्हें स्पष्ट रूप से अनुच्छेद 37 द्वारा न्यायालयों में वाद-योग्य नहीं माना गया है, संविधान के तीसरे भाग में दिये गये उपबन्धों का अतिक्रमण नहीं कर सकते हैं, यद्यपि अन्य उपबन्ध स्पष्ट रूप से उपयुक्त रिटों, आदेशों या निदेशों के द्वारा अनुच्छेद 32 के अधीन लागू होने योग्य बतलाये गये हैं। मूल अधिकार सम्बन्धी अध्याय पवित्र है और इसे संविधान के तीसरे भाग में दिये गये उपयुक्त अनुच्छेदों में दी गयी सीमा के सिवाय किसी भी विधायी अथवा कार्य-कारी अधिनियम या आदेश द्वारा संक्षिप्त नहीं किया जा सकता है। राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों को मूल अधिकारों के अध्याय के अनुसार और उसके अधीन रहना होता है। हमारी राय में यही सही दृष्टिकोण है, जिसके आधार पर तीसरे

[20] मद्रास राज्य बनाम श्रीमती चम्पाकम दौरायराजन (1951), एस० सी० आर०, 525।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

और चौथे भाग में दिये गये उपबन्ध समझे जाने चाहिएँ। फिर भी जहाँ तक किसी मूल अधिकार का उल्लंघन नहीं होता है, वहाँ तक राज्य अगर संविधान के चौथे भाग में दिये गये निदेशक सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करता है, तो उस पर कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये, परन्तु फिर भी इन निदेशों को सरकार की विधायी और कार्यकारी शक्तियों तथा संविधान के विभिन्न उपबन्धों द्वारा राज्यों पर आरोपित सीमाओं के अधीन रहना है।'[21]

बड़ी विनम्रता और आदर के साथ मैं यह कहूँगा कि मैं इन विचारों से सहमत नहीं हूँ। संविधान का कोई विशेष प्रादेश न्यायालयों द्वारा लागू किया जा सकता है या नहीं, इसका उस प्रादेश के महत्त्व पर कोई प्रभाव नहीं है। संविधान में कई महत्त्वपूर्ण प्रादेश दिये गये हैं जिन्हें विधि न्यायालय लागू नहीं कर सकते हैं, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उन अनुच्छेदों को भी मूल अधिकारों के अध्याय के अधीन रहना चाहिये। संविधान के तीसरे भाग द्वारा राज्य पर आरोपित कर्तव्य आवश्यक रूप से नकारात्मक हैं। उस भाग में दिये गये प्रादेशों द्वारा राज्य को कुछ बातें न करने के लिए कहा गया है। इन आदेशों का उल्लंघन इसलिए वाद-योग्य है क्योंकि उन प्रादेशों का स्वरूप ऐसा है कि उन्हें आसानी से न्यायालयों द्वारा लागू किया जा सकता है। संविधान के चौथे भाग में दिये गये प्रादेश सकारात्मक प्रादेश हैं। अतः राज्य को यह निदेश दिया गया है कि वह समाज की प्रगति के लिए कुछ सकारात्मक कदम उठाये। उन कदमों को उठाने के लिए पहले आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण किया जाना चाहिये। ऐसी वस्तुस्थिति में इन प्रादेशों को न्यायालयों द्वारा लागू नहीं किया जा सकता है। यह कहना गलत होगा कि ये सकारात्मक प्रादेश संविधान के तीसरे भाग में दिये गये प्रादेशों की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण हैं। फिर, कोई यह भी कह सकता है कि इस मामले में निर्णय के लिए क्या यह आवश्यक था कि निदेशक सिद्धान्तों को मूल अधिकारों के अधीन इस रूप में रखा जाये मानो संविधान के अनुच्छेद 46 और 29 (2) में कोई विरोध हो। जाहिरा तौर पर साम्प्रदायिक सरकारी आदेश को अनुच्छेद 46 में परिकल्पित लोगों के कमजोर वर्गों के हितों की रक्षा करने वाला नहीं कहा जा सकता।

बिहार राज्य बनाम महाराजाधिराज सर कामेश्वर सिंह दरभंगा और अन्य[22] के मामले में उच्चतम न्यायालय को बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950 की विधिमान्यता के बारे में विचार करना पड़ा। अधिनियम की विधिमान्यता का पोषण करने में न्यायाधिपति महाजन को संविधान के अनुच्छेद 39 का आश्रय लेना पड़ा, जिसमें यह व्यवस्था की गयी है, कि राज्य अपनी नीति का, विशेषतया, ऐसा संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बँटा हो, जिससे सामूहिक हितों का सर्वोत्तम रूप से साधन हो और आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले जिससे धन और उत्पादन साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो। मेरी राय में यह विचारधारा ठीक ही है कि संविधान के चौथे भाग में दिये गये उपबन्ध तीसरे भाग में दिये गये उपबन्धों का प्रतिपूरण करते हैं और यह दोनों भाग मिलकर कल्याणकारी लोकतान्त्रिक राज्य के निर्माण के

---

[21] वही।

[22] 1952, एस० सी० आर० 889।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

लिए एक योजना प्रस्तुत करते हैं ।

उच्चतम न्यायालय ने विजय काटन मिल्स लि० बनाम स्टेट ऑफ अजमेर[23] में इसी विचारधारा का आश्रय लिया था । वहाँ न्यायालय को न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948, की धारा 3–4 और 5 की विधिमान्यता पर विचार करना था । इस मान्यता को रद्द करते हुए कि यह उपबन्ध विधिमान्य नहीं है, न्यायाधिपति मुकर्जी ने न्यायालय की ओर से निम्न-लिखित विचार व्यक्त किये :

'इस बारे में कोई विवाद नहीं हो सकता है कि श्रमिकों के लिए ऐसी निर्वाह मजदूरी की सुरक्षा करना जो न केवल न्यूनतम भौतिक जीवन के लिए आवश्यक है, बल्कि जिससे स्वास्थ्य और शिष्टता को भी बनाये रखा जा सकता है, सर्वसाधारण के सामान्य हित में है । यह हमारे संविधान के अनुच्छेद 43 में निहित राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों में से एक है ।'

फिर, मैसर्स क्राउन अल्यूमीनियम वर्क्स बनाम उनके मजदूरों[24] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने औद्योगिक न्यायाधिकरण द्वारा दिये गये उद्योग पंचाट की विधिमान्यता पर विचार करते हुए निम्नलिखित मत व्यक्त किया था :

'यहाँ उन मुख्य उद्देश्यों को ध्यान में रखना आवश्यक है, जिन्हें आधुनिक लोक-तान्त्रिक कल्याणकारी राज्य में औद्योगिक न्यायधिकरण आवश्यक रूप से मजदूरी का निर्धारण करते समय ध्यान में रखता है । सर फ्रेंक टिलियार्ड[25] ने कहा है कि यह सर्वविदित है कि आंग्ल सामान्य विधि आज भी मजदूरी के बारे में सौदेबाजी को नियोजक और मजदूर के बीच संविदा मानती है और विधि की सामान्य नीति यह रही है और है कि इन दोनों पक्षों को उस समय तक लेन-देन की सामान्य स्वतन्त्रता प्रदान की जाये, जब तक कि वे किसी सार्वजनिक नीति के विरुद्ध कोई शर्त तय नहीं करते हैं । भारत, इंग्लैण्ड और अन्य लोकतान्त्रिक कल्याणकारी राज्यों में न्यूनतम मजदूरी अधिनियम और औद्योगिक विवाद अधिनियम जैसे श्रमिक कल्याण विधायन द्वारा सामान्य विधि के इस पक्ष को प्राप्त करने का काफी प्रयास किया गया है । कल्याणकारी राज्य की संकल्पना के विकास के साथ व्यापार संघों और पूँजी-पतियों में सामूहिक सौदेबाजी ने ऐसे भी स्वतन्त्र रूप धारण कर लिया है और इसे संविधिक मान्यता भी प्राप्त हुई है । अब राज्य एक निष्क्रिय दर्शक के रूप में किसी औद्योगिक विवाद में भाग लेकर सन्तुष्ट नहीं होता है । निरपेक्ष संविदा, स्वतन्त्र और मुक्त व्यापार के पुराने सिद्धान्तों ने सामाजिक कल्याण और सामान्य हित के सिद्धान्तों के लिए स्थान रिक्त किया है । आज मजदूर यह आवश्यक समझता है कि मजदूरी-व्यवस्था को संगठित रूप दिया जाये । वह समझता है कि यह होने पर वह मन्दी के खतरे से बच सकेगा, मालिकों के अनुचित प्रतियोगिता-उपायों से उसकी रक्षा हो सकेगी और उसे वह वेतन प्राप्त हो सकेगा जो उसकी न्यूनतम आवश्यकताओं की

---

[23] 1955 (1) एस० सी० आर० 752 ।

[24] 1258, एस० सी० आर० 651 ।

[25] सर फ्रेंक टिलियार्ड, 'द वर्कर एण्ड द स्टेट', तृतीय संस्करण, पृ० 37 ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

पूर्ति के लिए जरूरी है ('वेज आवर लॉ कवरेज', लेखक, हर्मन ए० वैक्ट, पृ० 2)। इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि औद्योगिक न्याय-निर्णय के द्वारा विभिन्न उद्योगों में मजदूरी की संरचना का निर्धारण करते समय क्रमानुसार सभी नागरिकों के लिए सामाजिक-आर्थिक न्याय सुरक्षित रखने के कल्याणकारी राज्यों के प्रमुख उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए प्रयास किया जाता है। भारतीय संविधान ने इस आदर्श की सिद्धि को एक महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान माना है। जिस समाज-कल्याण और समान हित की हमने अभी चर्चा की है, यह आदर्श उनके नवीन मार्ग-दर्शक सिद्धान्तों का आधार है।'

परन्तु मुहम्मद हमीद कुरेशी और अन्य बनाम बिहार राज्य[26] में बिहार पशु प्रारक्षण और सुधार अधिनियम, 1955, के कुछ उपबन्धों की विधिमान्यता पर विचार करते हुए न्यायाधिपति एस० आर० दास ने चम्पाकम दोरायजन वाले मामले में इस युक्ति का आश्रय लिया कि संविधान के चौथे भाग में निर्धारित राज्यनीति के निदेशक सिद्धान्तों को संविधान के तीसरे भाग में दिये गये मूल अधिकारों के अनुकूल और इनके अधीन रहना होता है। निदेशक सिद्धान्तों और मूल अधिकारों के स्थान निर्णय के बारे में न्यायिक मतों में इस विरोध का उच्चतम न्यायालय के चन्द्र भवन बोर्डिङ्ग एण्ड लॉजिङ्ग, बंगलौर बनाम मैसूर राज्य और अन्य के मामले के निर्णय से हमेशा के लिए फैसला हो गया है।[27] उस मामले में न्यायालय का मत है :

'व्यापार की स्वतन्त्रता का अर्थ शोषण करने की स्वतन्त्रता नहीं है। संविधान के उपबन्धों को प्रगति के मार्ग में बाधाओं के रूप में खड़ा नहीं किया जा सकता। उनमें संविधान की प्रस्तावना में परिकल्पित सामाजिक व्यवस्था की और व्यवस्थाबद्ध प्रगति की योजना निहित है। उनमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक, किसी भी प्रकार की दासता की अनुमति नहीं दी गयी है। यह सोचना मिथ्या धारणा है कि हमारे संविधान के अधीन केवल अधिकारों की व्यवस्था है, कर्तव्यों की नहीं। जबकि तीसरे भाग में प्रदान किये गये अधिकार मूल अधिकार हैं, चौथे भाग में दिये गये निदेश देश के शासन में मूलभूत हैं। संविधान के तीसरे और चौथे भाग में दिये गये उपबन्धों में हमें कोई विरोध प्रतीत नहीं होता है। वे एक-दूसरे के पूरक हैं। चौथे भाग के उपबन्ध विधानमण्डल और सरकार को नागरिकों पर विभिन्न कर्तव्य आरोपित करने के योग्य बनाते हैं। वहाँ दिये गये उपबन्ध जानबूझकर नम्य बनाये गये हैं क्योंकि नागरिकों पर आरोपित किये जाने वाले कर्तव्य उस सीमा पर आधारित हैं, जिस तक कि निदेशक सिद्धान्त अमल में लाये जाते हैं। संविधान का प्रादेश एक ऐसे कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है जिसमें कि हमारे राष्ट्रीय जीवन की समस्त संस्थाओं को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय अनुप्राणित करेगा। अगर हमारे नागरिकों के निम्नतम वर्गों की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा नहीं किया जाता तो संविधान में दी गयी आशाएँ और आकांक्षाएँ झूठी सिद्ध होंगी।'

---

[26] 1959, एस० सी० आर०, 629।

[27] 1970, 2, एस० सी० आर०, 600।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उपसंहार

मुझे संविधान के तीसरे और चौथे भाग के उपबन्धों के बीच कोई विरोध प्रतीत नहीं होता है। संविधान के अनुच्छेद 19 (1) द्वारा प्रदान की गयी सात स्वतन्त्रताओं को विस्तार से जानने के लिए उन प्रतिबन्धों को भी समझना आवश्यक है, जो अनुच्छेद 19 के उपबन्ध 2–6 ने इन स्वतन्त्रताओं पर आरोपित किये हैं। इन निर्बन्धों की व्यापकता को सुनिश्चित करने में हमें चौथे भाग के निदेशक सिद्धान्तों का आश्रय लेना पड़ता है। संविधान के अनुच्छेद 19 की उपधारा 2 से 6 तक में दी गयी सीमाएँ मूर्त सीमाएँ नहीं हैं। इन सीमाओं की प्रकृति और अन्तर्वस्तु, हमारे समाज की प्रगति, और समाज किस दिशा में जाता है, इस पर निर्भर करती हैं। तर्कसंगत निर्बन्धों की संकल्पना कोई गतिहीन संकल्पना नहीं है। यह युग और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। किसी निर्बन्धन की तर्कसंगतता के निर्धारण का प्रश्न सुनिश्चित करने के लिए हमें संविधान के चौथे भाग की ओर देखना पड़ता है। मेरी समझ में इस शिकायत में जिसका अकसर उल्लेख किया जाता है, कोई तत्त्व नहीं है कि चौथे भाग में दिये गये अधिकांश निदेशक तत्त्व इसलिए अमल में नहीं लाये जा सकते हैं, क्योंकि तीसरे भाग में दिये गये मूल अधिकारों ने उन्हें अमल में लाने के मार्ग में बाधाएँ खड़ी की हैं। मैं तो बल्कि यहाँ तक सोचता हूँ कि यह शिकायत एक बहाना ढूँढने जैसी बात प्रतीत होती है। फिर, इस आरोप में कोई सच्चाई नहीं है कि न्यायालय निदेशक सिद्धान्तों के कार्यान्वयन के मार्ग में बाधा खड़ी कर रहे हैं। किसी भी न्यायिक उद्घोषणा ने संविधान के अनुच्छेद 40 से 51 तक में दिये गये निदेशक सिद्धान्तों के कार्यान्वयन का मार्ग अवरुद्ध नहीं किया है। विशेषकर यह पूछा जा सकता है कि क्या कोई न्यायिक उद्घोषणा संविधान के अनुच्छेद 44 में दिये गये उस प्रादेश को कार्यान्वित करने के मार्ग में किसी प्रकार का रोड़ा बनी है, जिसमें राज्य से भारत के समस्त राज्य क्षेत्रों में नागरिकों के लिए एक समान व्यवहार संहिता प्राप्त करने के लिए कहा गया है। यह प्रादेश राष्ट्र को सबल और सुदृढ़ बनाने की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। मुझे किसी ऐसी न्यायिक उद्घोषणा के बारे में ज्ञान नहीं है जो कि राज्य के पुरुषों और नारियों के लिए समान कार्य के लिए समान वेतन और स्वास्थ्य तथा शक्ति की रक्षा के प्रयास में बाधा बनी हो। न ही किसी न्यायिक निर्णय ने राज्य के यह देखने के कर्तव्य में हस्तक्षेप किया है कि नागरिक आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर ऐसे रोजगार में जायें, जो उनकी आयु व शक्ति के अनुकूल न हों, और शैशव और किशोर अवस्था का शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से संरक्षण हो।

मैं, विशेषकर, इस शिकायत की ओर निदेश करूँगा कि वरिष्ठ न्यायालयों के कुछ निर्णय राज्य के न्यायोचित सामाजिक व्यवस्था सुरक्षित करने के प्रयास में बाधा बने हैं। यह शिकायत निराधार है। जहाँ संविधान में यह निर्धारित किया गया है कि राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, भरसक कार्य साधक के रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक-कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा, वहाँ उसमें इस प्रकार परिकल्पित सामाजिक व्यवस्था प्राप्त करने की विधि का भी उल्लेख किया गया है। हमारा संविधान इस आधार पर टिका है कि न्यायोचित उद्देश्य उचित साधनों द्वारा प्राप्त किये जाने चाहिएँ। यह इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता कि उद्देश्य ही साधनों के औचित्य को निर्धारित करता है। हमारे संविधान में इस बात

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

की अनुमति दी गयी है कि सम्पदा और उत्पादन के साधनों के संकेन्द्रण को हटाने के लिए कदम उठाये जाएँ। इसे कई प्रकार से किया जा सकता है, परन्तु इस प्रकार उठाये गये कदम किसी वर्ग विशेष के विरुद्ध पक्षपात नहीं होने चाहिएँ। राज्य अपने नागरिकों से सामाजिक हित के लिए जिन बलिदानों की अपेक्षा करता है, वे सबके लिए समान होने चाहिएँ। कोई वर्ग ऐसा नहीं होना चाहिए, जिसके प्रति विशेष पक्षपात दर्शाया गया हो। बलिदान के लिए आह्वान करने वाले कानून का प्रादेश प्रभावी होना चाहिए और उससे बचने का कोई उपाय नहीं होना चाहिए। इसके साथ ही यह सावधानी बरती जानी चाहिए कि इस प्रकार किये गये बलिदान व्यर्थ न जाएँ। न्यायोचित सामाजिक व्यवस्था का निर्माण किसी भी भ्रष्ट समाज द्वारा नहीं किया जा सकता और चाहे कितने भी बलिदान किये जाएँ, वे कुशल और न्यायनिष्ठ प्रशासन के अभाव में कल्याणकारी राज्य स्थापित करने की दिशा में असफल रहेंगे।

हम अभी अपने राष्ट्र को एक गत्यात्मक शक्ति का रूप प्रदान नहीं कर पाये हैं। देश का निर्माण उसमें रहने वाले लोग करते हैं न कि संविधान के उपबन्ध। लोग ही देश के संविधान को चला सकते हैं अथवा उसे नष्ट कर सकते हैं। हमारे संविधान में महान सृजनात्मक शक्ति निहित है। इसमें इस राष्ट्र की शान्ति, प्रगति और समृद्धि की योजना निर्धारित की गयी है। इसमें एक कल्याणकारी समाज और न्याययुक्त सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की परिकल्पना की गयी है। हमारे संविधान ने हमें किसी प्रकार से भी धोखा नहीं दिया है। आवश्यकता इस बात की है कि हम संविधान की कसौटी पर खरे उतरें।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विधि-शिक्षा और अनुसन्धान

लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

यदि हमारे देश में शिक्षा और विधि अनुसन्धान ने जड़ता की स्थिति ग्रहण कर ली है और यदि विधि-व्यवसाय ने हमारे राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा में अपनी प्रभुता खो दी है तो हमें मुक्त भाव से यह स्वीकार करना चाहिए कि इसके लिए अधिकाँश दोष हमारा ही है। लगता है मानो हमने 'पिदरम सुल्तान बूद'[1] का दृष्टिकोण अपना लिया है। कुछ हद तक हम बाहर की दुनिया के तुमुल कोलाहल से दूर अपने आत्म-परितोष के सीमित दायरे में चक्कर काटते रहे हैं, हमारे ऊपर अपनी व्यावसायिक सफलता का नशा-सा चढ़ा रहा है और हम अपनी नियति का साक्षात्कार करने से चूक गये हैं।

विधि-शासन के प्रति समर्पित लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली में विधि और विधि-व्यवसाय की भूमिका उतनी ही व्यापक होती है जितना कि स्वयं जीवन। हमारे समाज में विधि का कार्य है सामाजिक जीवन में आशा और वास्तविकता के बीच अनवरत और अधिकतम सन्तुलन बनाये रखना। विधिवेत्ताओं, न्यायाधीशों और विधि-शिक्षकों का कर्तव्य है कि वे अपने-अपने ढंग से इस सन्तुलन की प्रामाणिक व्याख्या करें, दूसरों को उसकी शिक्षा दें और उसकी रक्षा करें।

हाल ही में उच्चतम न्यायालय के कतिपय निर्णयों पर सार्वजनिक रूप से काफी वाद-विवाद हुआ है। इस वाद-विवाद में जो प्रश्न निहित हैं, उनका सारी जनता से सम्बन्ध है और इसलिए उनमें सभी लोगों की दिलचस्पी है। इस तरह के वाद-विवाद का न तो गला घोंटने की आवश्यकता है और न उससे मुँह चुराने की। लेकिन यदि उद्देश्य यह हो कि न्यायपालिका की अवमानना की जाये अथवा संविधान ने उसे जो प्रतिष्ठा प्रदान की है, उस पर आक्षेप किया जाये, तो हमें इस प्रकार की कुचेष्टा का प्राणपण से विरोध करना चाहिए।

अपनी सांविधानिक प्रणाली में न्यायपालिका की भूमिका पर बल देने और इसकी अत्यधिक श्लाघा करने का अर्थ यह कदापि नहीं है कि न्यायाधीशों के निर्णयों में कभी कोई गलती ही नहीं होती। न्यायिक प्रक्रिया से हम व्यापक रूप से यही आशा कर सकते हैं कि विधियों का निर्वचन तथा प्रयोग तर्कसम्मत तथा वस्तुपरक रीति से हो और उसका विकास व्यवस्थाबद्ध रीति से हो सके। हम न्यायिक प्रणाली के प्रति इसलिए अपनी निष्ठा व्यक्त करते हैं, क्योंकि हमें इसका कोई और श्रेष्ठ विकल्प ज्ञात नहीं है। न्यायिक प्रणाली की अपनी कमियाँ हो सकती हैं, परन्तु ऐसा नहीं कि उन्हें दूर न किया जा सके। वास्तविकता तो यह है कि

---

[1] एक फारसी कहावत जिसका अर्थ है 'मेरे पिता तो सुल्तान थे।'

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

व्याख्या और न्याय-निर्णय की शक्ति कहीं-न-कहीं तो निहित होगी ही, और हम अपने दीर्घ अनुभव के आधार पर यह जानते और स्वीकार करते हैं कि इसका न्यायपालिका में निहित होना ही सम्भवतः सबसे अच्छा है।

जिन लोगों का दावा है कि न्यायाधीश केवल संविधान की सीधे-सादे शब्दों में व्याख्या मात्र करते हैं, और कुछ नहीं, वे लेखक की विनम्र सम्मति में बहुत ही भोले-भाले हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि न्यायिक प्रक्रिया में अनेक महत्त्वपूर्ण विकल्प निहित होते हैं। न्यायमूर्ति कार्डोजो ने स्पष्ट ही कहा है :

> 'हममें से प्रत्येक व्यक्ति को अपने जन्म, शिक्षा, व्यवसाय या संयोगों के कारण जिस वर्ग में स्थान मिल जाता है, उस वर्ग की भावना ही प्रायः उसके लिए युग-धर्म बन जाती है। इन अवचेतन निष्ठाओं की जड़ें बड़ी गहरी होती हैं और हम चाहे कितना ही जोर मारें, और मन को कितना ही बदलने का प्रयत्न करें, इन जड़ों को काटना मुश्किल होता है।'

सम्भवतः इस आत्मपरक तत्त्व से पूरी तरह निरपेक्ष हो पाना मनुष्य के बस का नहीं है। लेकिन प्रशिक्षित और स्वतन्त्र न्यायपालिका कुछ सीमा तक वैयक्तिक रुचि-अरुचि और राग-विराग से ऊपर उठने का एकमात्र विश्वस्त माध्यम है। न्यायमूर्ति कार्डोजो के अविस्मरणीय शब्दों में :

> 'न्यायाधीश स्वतन्त्र होते हुए भी पूरी तरह से स्वतन्त्र नहीं होता। वह जब चाहे तब नया रास्ता नहीं निकाल सकता। वह ऐसा यायावर भी नहीं है जो अपने आदर्श 'शिव' या 'सुन्दर' के संधान में जहाँ चाहे विचरण करे। उसे प्रतिष्ठित सिद्धान्तों से ही प्रेरणा ग्रहण करनी होती है। उसका कर्तव्य है कि वह क्षणिक भावनाओं तथा अस्पष्ट तथा अनियन्त्रित उदारता के प्रवाह में न बह जाये। उसे तो पग-पग पर अपने विवेक का प्रयोग करना होता है जो परम्परा से पोषित हो और दृष्टान्तों से सुयोजित; जिसमें एक पद्धति का अनुशासन हो और जिसका दीक्षा मन्त्र हो—सामाजिक जीवन में व्यवस्था की रक्षा।'

बीसवीं शताब्दी में विधि शास्त्र के सबसे बड़े व्याख्याता डीन रोस्को पाउण्ड का कथन है :

> 'यह सच है कि न्यायाधीश किसी वैधिक दृष्टान्त का किस प्रकार प्रयोग या उसकी व्याख्या करता है, इस पर उसके व्यक्तित्व की तो छाप रहती ही है। लेकिन अपने अन्य सहयोगी न्यायाधीशों की भाँति वह भी विधि की परम्परा में प्रशिक्षित होता है। इस परम्परा में पगे हुए न्यायाधीशों से हम आशा करते हैं कि किसी दृष्टान्त के प्रयोग या व्याख्या की उनकी पद्धति एक-सी होती है, और अनुभव से सिद्ध होता है कि वह मूलतः एक-सी होती भी है। तथाकथित यथार्थवादी को अपने सिद्धान्त के लिए सामग्री दो ही स्थितियों में प्राप्त होती है। एक तो तब जब परम्परा स्पष्ट और सुनिश्चित न हो और युक्तियुक्तता के मानक का प्रयोग करना पड़ जाये और दूसरे तब जब विधान की नए अस्पष्ट आदर्शों के आलोक में व्याख्या करनी हो। न्यायाधीश को इन दोनों ही स्थितियों में युक्तियुक्तता की कसौटी लागू करनी पड़ती है। जो न्यायाधीश देश-विधि की परम्परा में अच्छी तरह पले होते हैं, उनकी वैयक्तिक, सामाजिक या

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

आर्थिक पृष्ठभूमि अथवा स्वभाव कैसे भी हों, वे एक ही स्वर में बोलते हैं।'

सम्भवतः भारत में न्यायाधीशों के विसम्मत और परिवर्तित निर्णय अन्य देशों की अपेक्षा अधिक होते हैं, लेकिन कुल मिलाकर डीन पाउण्ड के विचार ऐसे नहीं हैं जो भारतीय सन्दर्भ में लागू न हो सकें, अथवा जो उसमें असंगत लगते हों। हमारी न्यायपालिका को जिस विकट अग्नि परीक्षा का सामना करना पड़ रहा है, वह यह है कि युक्तियुक्तता की कसौटियों को किस प्रकार विकसित किया जाये और किस प्रकार उन्हें लागू किया जाये। भारतीय संविधान का मूलमन्त्र है—'युक्तियुक्तता'। विधायी कार्यक्रमों और प्रशासनिक कार्यों की 'युक्तियुक्तता' तथा वैधता का निर्धारण करते समय न्यायाधीशों को अडिग साहस का परिचय देना चाहिए लेकिन विधायी सत्ता की स्वायत्तता के प्रति उचित सम्मान की भावना के साथ।

इसी प्रसंग में न्यायिक आत्म-संयम के सिद्धान्त का उल्लेख भी आवश्यक है। न्यायाधीशों के आत्म-संयम का यह अभिप्राय नहीं है कि वे अपनी आत्मा की आवाज को दबा दें अथवा अपने उत्तरदायित्वों से विमुख हो जाएँ। हमारी न्याय-प्रक्रिया में उच्चतर न्यायालयों का यह कार्य भी अन्तर्निहित है कि वे विधि का पुनराख्यान करें और उसमें नये सिरे से प्राण फूंके। अतः कुछ सीमा तक न्यायाधीश को न्यायिक विधि का निर्माण करना ही पड़ता है, इसके बिना उसकी गति नहीं। हमारे युग के एक महान् विधिवेत्ता न्यायमूर्त्ति कार्डोजो को यह स्वीकार करना पड़ा था कि न्यायाधीश अपने जोखिम पर विधि-निर्माण का कार्य करता है। तथापि उन्होंने यह भी कहा था :

> 'न्यायाधीश के लिए इस विधान का निर्माण करना आवश्यक तो है ही, यह उसका कर्त्तव्य भी है और इसी से न्यायाधीश इस उच्चतम सम्मान का अधिकारी बनता है। कोई भी निर्भीक और ईमानदार न्यायाधीश न अपने कर्त्तव्य से विमुख होता है, न जोखिम से डरता है।'

इसमें कोई सन्देह नहीं कि न्यायिक पुनरीक्षण के कार्य से न्यायपालिका की जिम्मेदारी बहुत बढ़ जाती है और न्यायाधीश को चाहिए कि जहाँ तक सम्भव हो, वह अपनी व्यक्त या अव्यक्त संवेदनाओं को अपनी निर्णय-प्रक्रिया के बीच न आने दे। न्यायमूर्त्ति होम्स ने इसी तथ्य को सौम्यतापूर्वक इन शब्दों में रखा था :

> 'स्पष्टतः हमें भी यह सीखने के लिए शिक्षा की आवश्यकता है कि हम अपने विश्वासों की जकड़ से किस प्रकार मुक्त रह सकते हैं और क्रान्ति के विस्फोट को रोकने के लिए अपनी प्रिय-से-प्रिय धारणाओं तक को विधि के सुव्यवस्थित परिवर्तन द्वारा तिलांजलि दे सकते हैं।'

संविधान को बहुधा प्रतियोगी हितों और विरोधी तत्त्वों की रणभूमि कहा जाता है। इन संघर्षों के प्रमुख निर्णायकों के नाते न्यायालयों को यह बात याद रखनी चाहिये कि संविधान विभिन्न विचारधाराओं और विविध दृष्टिकोणों के लोगों के लिए निर्मित किया गया है। न्यायापालिका को इन विरोधी विचारधाराओं और विभिन्न दृष्टिकोणों के बीच उचित सन्तुलन का निर्वाह करना चाहिए। उसे चाहिए कि वह न्यायिक शक्ति का उसकी उचित सीमाओं से आगे प्रयोग न करे, लेकिन अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए उसे जिस सीमा तक इस शक्ति का प्रयोग करने की आवश्यकता हो उस सीमा तक उसका प्रयोग करने से डरे भी नहीं।

न्यायिक पुनरीक्षण की सीमाएँ कठोरता से और सदा के लिए निर्धारित नहीं की जा

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सकतीं। न ही हम कार्यपालिका और विधानमण्डल के उन प्रेरणा-स्रोतों को ही नष्ट कर सकते हैं जिनसे उनके कार्यों में प्राणशक्ति और गतिशीलता का संचार होता है। यह बात स्पष्ट है और स्वयं सिद्ध भी कि सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों के प्रति समर्पित कर्मठ कार्य-पालिका और प्रयोजनशील विधानमण्डल के बिना हमारा काम नहीं चल सकता। साथ ही जनता की विश्वास-भाजन और स्वतन्त्र न्यायपालिका के बिना भी हम अपना काम नहीं चला सकते। न्यायिक पुनरीक्षण भी हमारे लिए अनिवार्य है। यदि एक ओर न्यायपालिका और दूसरी ओर विधानमण्डल तथा कार्यपालिका के बीच लम्बे समय तक और तीव्र संघर्ष चला तो इससे हमारी सांविधानिक प्रणाली की नींव हिल जाएगी। आज राष्ट्र के सम्मुख रचनात्मक कार्य एक ऐसे वातावरण का निर्माण करना है जिसमें पारस्परिक विश्वास की भावना पल्लवित हो। संविधान ने न्यायपालिका और विधानमण्डल को जो-जो भूमिकाएँ प्रदान की हैं, उन्हें ठीक-ठीक समझा जाए और विधायी तथा न्यायिक प्रक्रमों में संयम तथा सहनशीलता से काम लिया जाए। लोकतन्त्रात्मक राज्य में हमें विधानमण्डल और न्यायपालिका दोनों की अतियों से बचकर एक ऐसे बुनियादी सौहार्द की रचना का प्रयत्न करना चाहिए जिसमें राज्य के विभिन्न अंग एक दूसरे के प्रति सहज विश्वास और उदारता की भावना से प्रेरित हों। कुछ लोगों की युक्ति है कि जब उच्चतम न्यायालय विधानमण्डल अथवा कार्यपालिका के कृत्यों को अवैध करने के लिए अपने पूर्ववर्ती निर्णयों को ही उलट देता है, तब इस सौहार्द और विश्वास का आधार डगमगा जाता है और उसमें दरारें पड़ जाती हैं। यह बात बिल्कुल स्पष्ट है और इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि देश की विधि में आने वाले उतार-चढावों से असुविधा होती है। परन्तु परिवर्तन के प्रति सर्वथा उदासीन न्यायालय की हठधर्मी आकस्मिक आत्म-शुद्धि की असुविधाओं से कहीं अधिक भारी पड़ती है। पूर्वोदाहरण आगे बढ़ने के लिए सोपान बनने चाहिएँ, गले के पत्थर नहीं। हमारे लिए सम्भवतः यह निर्णय करना अधिक उचित होगा कि जब तक न्यायपीठ का दो-तिहाई बहुमत समर्थन न करे तब तक न तो कोई संविधि अवैध की जाएगी और न कोई पूर्ववर्ती निर्णय बदला जाएगा।

लेखक राज्य के विभिन्न अंगों के बीच विश्वास और सौहार्द के इस वातावरण को बनाए रखने का कट्टर समर्थक है और उसका विचार है कि इससे सांविधानिक सन्तुलन की स्थापना होगी तथा पारस्परिक विवाद, जो कभी अन्त होने का नाम न ले, समाप्त हो जाएगा। लेकिन केवल इस अकेले उपाय से हमारे देश में न्यायिक, विधायी और प्रशासनिक न्याय की गुणवत्ता में परिवर्तन नहीं हो सकेगा। मेरी सम्मति में यह सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है और इसे दुर्भाग्य ही समझा जाएगा कि इतने सारे वर्षों में यह हमारे राष्ट्र की कार्य-सूची में एक उपेक्षित विषय बना रहा है।

हमारी न्याय-व्यवस्था अनम्य, तकनीकी, सुस्त और खर्चीली है। मेरी विनम्र सम्मति में इस समय देश में जनसाधारण के जीवन को प्रभावित करने वाले जटिल विधान का जिस विपुल परिमाण में निर्माण हो रहा है, उसकी विकट चुनौतियों का सामना करने की शक्ति हमारी न्याय-व्यवस्था में नहीं है। हमारी न्याय-व्यवस्था में अनेक दोष हैं और जनसाधारण को न्याय प्राप्त करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। हमें इन कमियों को दूर करने के लिए प्रशासनिक न्याय के सहायक साधनों तथा उपादानों की प्रबल आवश्यकता है। इससे न्याय शीघ्रता से सुलभ हो सकेगा और प्रशासनिक स्वेच्छाचारिता की समस्या भी सुलझ

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

जाएगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारी राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत न्यायालय निश्चिततः, हमारे स्वातन्त्र्य के दुर्ग में विधि शासन के अभिरक्षक हैं, परन्तु हमें इसकी प्राचीरों को अभेद्य रखने का प्रयास करना चाहिए और स्वतन्त्रता और न्याय के लिए नयी तथा अधिक प्रभावी रक्षा पंक्तियों का निर्माण करने में संकोच नहीं करना चाहिए। यदि हम न्यायिक न्याय के परम्परागत क्षेत्रों को एक ओर छोड़ दें, तब भी न्यायालयों की वर्तमान क्रियाविधियाँ इतनी दुरूह और विवाद मूलक हैं, उनमें इतनी अधिक औपचारिकताएँ और कानूनी दाँव-पेंच हैं, उनमें प्रक्रिया-सम्बन्धी उलझनों का ताना-बाना इतना पेचीदा है कि न्यायालय प्रशासनिक न्याय निर्णय के वाद-विवादों के मूल तत्त्व तक तो पहुँच ही नहीं सकते। उधर प्रशासनिक न्याय-निर्णय में न्यायिकता का पर्याप्त पुट नहीं है और वह प्रशासनिक पूर्वाग्रहों से ग्रस्त रहता है। हमें न्यायिक न्याय और प्रशासनिक विवेक के गुणों का संश्लेषण करते हुए इन दोनों की खामियों से बचना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे देश में न्यायपालिका ने समस्त प्रशासनिक न्याय निर्णय का प्रबन्ध और विनियमन करने के लिए दूरगामी महत्त्व के मार्गदर्शी सिद्धान्तों का निर्धारण किया है, परन्तु अब समय आ गया है कि हम प्रशासनिक न्याय की विशद प्रणाली की सम्भाव्यता और वांछनीयता पर विचार करें। हमारी यह प्रशासनिक न्याय-व्यवस्था प्रशासनिक कार्य-विधि विषयक एक व्यापक संविधि के आधार पर संचालित होनी चाहिए और उच्चतर स्तरों पर उसका सूत्र उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों, वरिष्ठ विधिवेत्ताओं तथा शीर्षस्थ प्रशासकों के हाथों में केन्द्रित होना चाहिए। इसके शिखर पर फ्रांस की राज्य परिषद् (कॉन्सील दी ऐता) या उच्चतम न्यायालय के न्याय-विभाग जैसी किसी संस्था का निर्माण करना उचित होगा जिसमें प्रशासनिक प्रक्रम के विशिष्ट ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति हों और जो सारे विवादों को भिन्न, अपेक्षाकृत अनौपचारिक तथा लचीली क्रियाविधियों द्वारा जल्दी-जल्दी निबटा सकें। कुछ लोगों का विचार है कि शिखर पर राज्य-परिषद् जैसी संस्था से युक्त प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की व्यवस्था का ओम्बुड्समान या लोकपाल-लोकायुक्त प्रणाली से, जिसे हम संघीय स्तर पर अपनाने ही वाले हैं, मेल नहीं बैठेगा। एक ऐसे व्यक्ति के नाते जिसने अपनी संसद में पहली बार ओम्बुड्समान प्रस्ताव का प्रवर्तन किया, इसे इसका भारतीय नाम प्रदान किया और इसके लिए संसद का आशीर्वाद तथा अनुमोदन प्राप्त किया, लेखक निःसंकोच रूप से यह कह सकने की स्थिति में है, कि 'राज्य-परिषद्' ओम्बुड्समान प्रणाली के साथ सफलतापूर्वक निभ सकती है और इससे ओम्बुड्समान-प्रणाली की कार्य-कुशलता और प्रभाव-शीलता पर कोई आँच नहीं आने पाएगी और न ही इससे, उसकी बुनियादी योजना पर ही कोई आघात होगा।

विधि सम्बन्धी विलम्ब और मुकदमेबाजी पर खर्च की समस्या बहुत ही विकट रूप धारण कर चुकी है और यह हमारी न्याय प्रणाली के लिए भी एक खतरा बनती जा रही है। अमरीकी न्यायालयों में विलम्ब का जिक्र करते हुए, और यह भारतीय प्रणाली की तुलना में नगण्य है, मुख्य न्यायाधिपति अर्ल वारेन, ने सन् 1902 में कहा था।

> '.... .... आज संघीय न्यायालयों में जो देरी होती है और वहाँ अनिर्णीत मुकदमों का जो दम घोंटने वाला अम्बार सा लग गया है, उससे एक विकट समस्या उत्पन्न हो गई है। इसका एक नागरिक को कितना और कैसा न्याय प्राप्त हो, इस पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।'

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

यदि हम इसकी भारतीय न्याय-व्यवस्था से तुलना करें तो ज्ञात होगा कि भारत में मुकदमों का निर्णय होने में इतनी देरी लग जाती है, मुकदमों पर खर्च इतना अधिक होता है और न्यायालयों की फीस इतनी ज्यादा और साधारण व्यक्ति की पहुँच के बाहर है, कि उसे न्यायालयों से न्याय प्राप्त होने का विश्वास नहीं रह गया है। एक वर्ष पूर्व, केन्द्रीय गृह मन्त्री ने यह रहस्योद्घाटन किया था कि 31 दिसम्बर, 1969 तक देश के 16 उच्च न्यायालयों में 3,83,000 मुकदमे अनिर्णीत पड़े थे और इनमें से 1,40,367 मुकदमे 2 साल से अधिक पुराने थे। इसकी तुलना में उच्चतम न्यायालय में केवल 1759 मुकदमे ही 2 वर्ष से अधिक पुराने थे।

न्यायालयों में इन विलम्बों के कारण सुविज्ञात हैं। पिछले वर्षों में हमारी जनसंख्या में तो अपार वृद्धि हुई है, लेकिन न तो न्यायाधीशों की संख्या ही इसके अनुपात में बढ़ी है और न उनके कार्य-दिवस ही। नए मुकदमे बहुत अधिक संख्या में प्रारम्भ किए जा रहे हैं। हमारे न्याय की रूढ़, पुरातन और जीर्ण-शीर्ण प्रक्रियाओं का अनावश्यक विलम्ब करने में बड़ा योग होता है; न ही हम इसमें वकील को पूर्ण रूप से दोष मुक्त कर सकते हैं। फिर अपीलों तथा संशोधनों का एक न खत्म होने वाला सिलसिला शुरू हो जाता है। हमारे यहाँ फौजदारी के मुकदमों को अनावश्यक रूप से बहुत लम्बा कर दिया जाता है। ये ऐसे कारण नहीं हैं, जिन्हें हटाया न जा सके या जिनमें सुधार न किया जा सके। मेरे विचार में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि हमें न्यायाधीशों को नियुक्त करने की पद्धति में सुधार करना चाहिए। यह आवश्यक है कि स्वतन्त्रता और कुशलता की रक्षा करने के लिए न्यायाधीशों के वेतनों और उनकी सेवा-निवृत्ति के पश्चात् की सेवा उपलब्धियों में पर्याप्त सुधार किया जाए और यह एक ऐसा सौदा है, जिसमें किसी स्वतन्त्र और लोकतांत्रिक देश को कभी कोई घाटे की सम्भावना नहीं हो सकती। इनमें से शायद कुछ सुधार तो ऐसे हैं जिनके माध्यम से हम न्यायालयों में होने वाली देरी की समस्याओं को सुलझा सकेंगे। लेकिन न्याय-प्रशासन और व्यावसायिक संगठन की शताधिक समस्याएँ ऐसी हैं जिनके समाधान के लिए हमें विधि के क्षेत्र में सुधार के व्यापक और दूरगामी कार्यक्रमों को लागू करना होगा। यदि संगठित विधि-व्यवसाय के हम लोग अपने व्यवसाय का सुधार नहीं करते और जनसाधारण विशेष कर, मुवक्किलों के हित को ध्यान में रखकर इस बात का प्रमाण नहीं देते कि हमें भी समाज की चिन्ता है और हम उसके प्रति अपनी जिम्मेदारी को समझते हैं, तो ऐसे परिवर्तनों के पक्ष में अनेक दबाव उत्पन्न हो सकते हैं और वे जोर पकड़ सकते हैं, जो हमारी परम्पराओं और परिपाटियों के अनुकूल न हों। विधि व्यवसाय के लिए यह विचार करना आवश्यक है कि न्यायिक और प्रशासनिक न्याय की प्रक्रिया, विधि-सुधार और विधि व्यवसाय के संगठन के क्षेत्र में अधिक कुशल और प्रभावी भूमिका का निर्वाह करने के लिए वह अपने आपको किस प्रकार तैयार करे। विधि-व्यावसायिकों को इस बात का भी विचार करना चाहिये कि विधि व्यवसाय का बिम्ब क्यों इतना विकृत हुआ है और इसे कैसे चमकाया जा सकता है ? विधि-व्यवसाय को इस बात की ओर ध्यान देने की भी विशेष रूप से आवश्यकता है कि प्रतिभाशाली लोग विधि-शास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्त हों, विधि-व्यवसाय में प्रवेश उचित रूप से विनियमित हो, प्रशिक्षण के लिए उपयुक्त तथा सार्थक अवसर सुलभ हों और विधि-व्यवसाय में प्रवेश करने वाले तरुणों के साथ सहृदयता तथा सहानुभूति का व्यवहार किया जाए। ऐसा न हो कि वे आज के मरणांतक जीवन-संघर्ष में

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

नितान्त एकाकी पड़ जाएँ और उनके प्राणों पर ही आ बने। सबसे बड़ी बात यह है कि हमें व्यावसायिक संगठन के प्रतिरूप पर नई दृष्टि से विचार करना चाहिए, सोचना चाहिए कि हम कैसे इसका अभिनवीकरण कर सकते हैं, कैसे इसमें कार्यकुशलता ला सकते हैं ?

मेरे विचार में अब वह समय आ गया है जब हम सुपात्र अकिंचनों को स्वैच्छिक आधार पर निःशुल्क वैधिक सहायता और मन्त्रणा देने की दिशा में अग्रसर हों और साथ ही जोर-शोर से यह माँग उपस्थित करें कि जो लोग अपनी साधनहीनता के कारण अपने वैधिक अधिकारों और दावों से वंचित हो जाते हैं, राज्य उन्हें वैधिक सहायता और मन्त्रणा देने के राष्ट्रव्यापी कार्यक्रमों का आयोजन करे। हमारे यहाँ सामाजिक विधान का बाहुल्य है और अकिंचन तथा दलित वर्ग के लिए और उनकी ओर से एक के बाद एक दावे प्रस्तुत किये जा रहे हैं। जब तक निर्धनों को विधि के साधन उपलब्ध नहीं होते और जब तक वे विधि के द्वार तक नहीं पहुँचते तथा सामाजिक विधान के लाभ नहीं उठा सकते, तब तक हमारे सारे विधायी प्रयास व्यर्थ होंगे और सरकार का यह दावा भी व्यर्थ होगा कि वह निर्धनों के कल्याण के लिए कृतसंकल्प है। इस व्यंग्योक्ति को दुहराना तो बड़ा घिसापिटा-सा है कि न्यायालयों के द्वार तो सभी के लिए खुले हुए हैं—ऐसे, जैसे कि रिट्ज होटल के द्वार। मुख्य न्यायाधिपति ह्यूज के शब्दों में 'जब तक निर्धनों को विधियों का समान संरक्षण प्राप्त नहीं होता, स्वतन्त्रता के वरदान की बातें करना बेकार है', मैं यहाँ अमरीकी उच्चतम न्यायालय के सहयोगी न्यायाधीश न्यायमूर्त्ति श्री ब्रेनन के इन अविस्मरणीय शब्दों को उद्धृत करने का मोह संवृत नहीं कर सकता। उनके शब्दों में :

> 'मानव मन को अन्याय की रिसती भावना से अधिक और कुछ नहीं सालता। रोग को हम सहन कर सकते हैं पर अन्याय का शिकार होने पर हमारी इच्छा होती है कि हम सब कुछ भस्म कर दें। जब विधि का लाभ केवल अमीर लोग ही उठा सकें, मानो विधि उनके लिए विलास की वस्तु हो, और जिन गरीबों को उनकी सबसे अधिक आवश्यकता है, वे उसे इसलिए नहीं पा सकें कि उनके पास उसकी कीमत चुकाने के लिए पैसा नहीं हो, तब लोकतन्त्र के भविष्य के लिए खतरा काल्पनिक नहीं रहता, वह पूरी तरह सजीव हो उठता है, क्योंकि लोकतन्त्र का जीवन न्यायतन्त्र की इस प्रभाविता पर निर्भर है कि प्रत्येक नागरिक का उसकी निष्पक्षता और सदाशयता में विश्वास हो तथा वह उससे लाभ उठा सके।'

यह प्रतिज्ञा तो अव्यक्त रूप से हमारे संविधान में भी अन्तर्विष्ट है और हमें अपने देश में इसको पूरा करना है। हमारे संविधान में विधि के समक्ष समता और विधियों के समान संरक्षण के अधिकार सुरक्षित किए गए हैं, परन्तु यह समता तब तक काल्पनिक रहेगी जब तक कि हम जनसाधारण के लिए विधि सहायता सेवाओं की उपलब्धि के आधार पर समान न्याय को सुरक्षित नहीं कर लेते। आज भी मेग्नाकार्टा का यह सन्देश हमारे कानों में गुंजित होता है कि 'हम किसी व्यक्ति को न्याय और अधिकार से वंचित नहीं करेंगे, न ही हम किसी को इनका विक्रय करेंगे और न ही हम किसी को इनकी प्राप्ति में देरी होने देंगे'। विधि सहायता और परामर्श सेवाओं के व्यापक राष्ट्रीय कार्यक्रम पर आधारित समान न्याय के अविचल दावों को अब हम न तो अधिक समय के लिए टाले रख सकते हैं और न उन्हें अस्वीकार ही कर सकते हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अपने देश में विधि व्यवसाय के वास्तविक व्यवहार, स्वरूप और सामाजिक उत्तर-दायित्वों पर विचार करते समय अमरीकी बार एसोसिएशन की नियमावली की प्रस्तावना हमारे लिए विशेष रूप से उपयोगी है :

> 'जहाँ न्यायालयों तथा सरकारों के सारे विभागों की स्थिति जनता के अनुमोदन पर निर्भर हो, वहाँ न्याय-व्यवस्था का संगठन और संचालन इस रीति से होना आवश्यक है कि लोगों का उसकी ईमानदारी और निष्पक्षता में पूरा विश्वास बना रहे। वह उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक कि हमारे व्यवसाय के आचरण तथा प्रेरक तत्त्व सभी न्याय निष्ठ लोगों को मान्य प्रतीत न हों।'

विधि-शिक्षा और अनुसन्धान के क्षेत्र में कुछ विधि विद्यालयों को अपवाद स्वरूप छोड़कर मात्र सीमान्त परिवर्तन और अनिच्छापूर्वक सुधार हुए हैं। समय-समय पर कई विभिन्न सिफारिशें की गई हैं जिन्हें सावधिक नियमितता से विभिन्न सभा-सम्मेलनों में स्वीकार भी किया गया है, परन्तु सचेतन और योजनाबद्ध परिवर्तन की दिशा ने कोई उल्लेखनीय प्रयास अथवा कार्य नहीं किया गया है। डीन कार्ल बी० स्पीथ ने मार्च, 1960 में आलेखित अपने प्रारूप ज्ञापन में लिखा है कि विधि-शिक्षा और अनुसन्धान के क्षेत्र में मुख्य समस्या यह है कि देश के राजनीतिक और शैक्षिक नेता विधि प्रशिक्षण के सुधार सम्बन्धी प्रस्तावों को बहुत कम महत्त्व देते हैं। कुछ वर्ष पूर्व इस दिशा में भारत के मुख्य न्यायाधिपति ने उपक्रम किया था, परन्तु वह सफल न हो सका। उस मृतजात उपक्रम का उद्देश्य विधि शिक्षा के सुधार के लिए एक परिषद् की स्थापना करना था। इसके पश्चात् विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने एक समिति की नियुक्ति की थी। यद्यपि उस समिति को नियुक्त हुए काफी समय बीत चुका है, परन्तु अब भी विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की ओर से न तो कोई सिफारिश ही प्रकाश में आई है और न ही कोई कार्रवाई। दुर्भाग्यवश, न तो भारत की बार कौंसिल और न ही राज्यों की बार कौंसिलों ने हमारे देश में विधि-शिक्षा और अनुसन्धान का पुनरीक्षण करने का बीड़ा उठाना स्वीकार किया है और न वे उसके गुणात्मक सुधार की दिशा में ही कुछ प्रयत्न कर सके हैं। कुल मिलाकर विधि-शिक्षा और अनुसन्धान निष्क्रियता और अनिर्णय के बन्दी रहे हैं। कई लोग विधि विद्यालय में बिताये गये समय को सीमित और सीमान्त उपयोगिता का समय समझते हैं। सामान्यतया यह विश्वास किया जाता है कि विधि विद्यालय विधि में व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रदान करने की दिशा में कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं कर पाते हैं और कोई व्यक्ति वास्तव में अपने प्रशिक्षण और शिक्षण का आरम्भ उसी समय करता है जब कि वह किसी वरिष्ठ अधिवक्ता के अधीन कार्य करना आरम्भ करता है। यह खेदजनक परिस्थिति है, क्योंकि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि हमारे देश की विधि प्रक्रिया के सुधार अथवा विकार में विधि न्यायालयों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। मेरे विचार में विधि-शिक्षा और अनुसन्धान के गुणात्मक सुधार की दिशा में भगीरथ प्रयत्न करने और उसे सुनिश्चित दिशा देने की आवश्यकता है। विधि शिक्षक के लिए उपलब्ध बौद्धिक वातावरण, अनुप्रेरणाओं और सुविधाओं की ओर विशेष ध्यान देने की अपेक्षा है। विधि पाठ्यक्रमों का आयोजन कुछ इस प्रकार होना चाहिए जिससे अध्येताओं को अनुसन्धान की प्रेरणा प्राप्त हो। गुणात्मक सुधार को दृष्टि में रखते हुए विधि-पाठ्यक्रम में प्रवेश सावधानीपूर्वक विनियमित किया जाना चाहिये। विधि पाठ्यक्रमों में संभावी प्रवेशकों के लिए अवर स्नातक स्तर पर विशेष पाठ्यक्रमों

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

को दृष्टि में रखते हुए, विधि पाठ्यक्रमों में सम्भावी प्रवेशकों के लिये अवर स्नातक स्तर पर विशेष पाठ्यक्रमों का निर्माण करने की आवश्यकता है। नई पाठ्यचर्याओं और नये पाठ्यक्रमों का प्रवर्त्तन किया जाना चाहिए। विधि के स्नातक को अपने लिये नये क्षेत्रों की गवेषणा करनी चाहिए और उसे न्यायालय कक्ष तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए। विधि के क्षेत्र में कुछ नये संयुक्त पाठ्यक्रमों का आयोजन किया जाना चाहिए जैसे कि विधि और व्यापार-प्रशासन, विधि तथा अन्य सामाजिक विज्ञान, विधि और लेखापरीक्षा तथा विधि और इन्जीनियरी आदि। इन पाठ्यक्रमों से विधि-स्नातकों की कार्यक्षमता में सुधार होगा तथा वे जीवन के विविध क्षेत्रों में अच्छे ढंग से अपनी रोजी कमा सकेंगे। विधि संकायों को विस्तार पाठ्यक्रमों का भी आरम्भ करना चाहिए। हमारे विधि शिक्षकों और विधि विद्यालयों को क्षेत्रीय अनुसन्धान और अन्तःशास्त्रीय अध्ययन करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, ताकि वे अपने चारों ओर के सामाजिक और आर्थिक यथार्थ को अधिक गहराई से आत्मसात कर सकें। लेखक के विचार में, प्रत्येक विश्वविद्यालय में एक विधि और समाज अध्ययन केन्द्र होना चाहिए जो कि विधि के सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्धित पक्ष और दृष्टिकोण को संवर्धित कर सके और ऐसी विचारधारा उत्पन्न कर सके, जिसे हम पलायनवादी और एकांगी न कह सकें। लेखक के विचार से विधि विद्यालय के लिए यह भी आवश्यक है कि वह छाया न्यायालयों का प्रवर्तन करे, अपनी पत्रिकाएँ प्रकाशित करे और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि विधि सहायता केन्द्रों की स्थापना करे। छाया न्यायालयों से विद्यार्थियों को अपनी विधिक प्रतिभा के विकास में सहायता मिलेगी और वे विधि को, उसकी बहुमुखी जटिलताओं को, दार्शनिक गहराई से हृदयंगम कर सकेंगे। पत्रिकाओं से उनकी बौद्धिक दृष्टि विस्तृत होगी और वे विश्लेषण तथा संकल्पनाओं के सिद्धान्तीकरण की कला में पारंगत हो सकेंगे। विधि सहायता कार्यक्रमों से उन्हें विधि प्रक्रमों का ज्ञान प्राप्त होगा और वे निर्धनों की समस्याओं को ठोस तरीकों से समझ सकेंगे।

विधि-अनुसन्धान का सामाजिक समस्याओं से सम्बन्ध होना भी अत्यन्त आवश्यक है। यदि भारत में शैक्षिक विधिवेत्ता को उसका उचित स्थान प्राप्त नहीं हुआ है, यदि उसे वह मान्यता और प्रतिष्ठा नहीं मिली है जिसका वह अधिकारी है तो इसका कारण यह है कि हमारे देश में उस उच्चस्तरीय सैद्धान्तिक विधि-साहित्य का अभाव है जो न्यायाधीशों तथा विधि वेत्ताओं के चिन्तन को समान रूप से प्रभावित कर सके। मुझे आशा है कि आगामी दो दशकों में यह स्थिति काफी बदल जाएगी लेकिन यह तभी हो सकेगा जबकि विधि के शिक्षक और अध्यापक ध्येयनिष्ठ होकर अपने साधन जुटाएँगे और अपने हृदय में अनुसन्धान के मूल्य तथा महत्त्व के प्रति आस्था की ज्योति जलाकर इस दिशा में अग्रसर होंगे।

हम यह कहते कभी नहीं अघाते कि हमारा व्यवसाय गरिमापूर्ण है। न्यायमूर्त्ति होम्स ने अपनी लयमय वाणी में कहा है :

> 'ऐसा हर व्यवसाय बड़ा है जिसे बड़प्पन से किया जाये। लेकिन ऐसा कौन-सा और व्यवसाय है जिसमें आत्मिक शक्ति के इतने सहज प्रवाह की अनुभूति होती हो ? ऐसा और कौनसा क्षेत्र है जिसमें जीवन की धारा में इतने गहरे गोते लगाने का अवसर मिलता हो, साक्षी और कर्त्ता दोनों के दृष्टिकोण से जीवन के आवेगों और संघर्षों, आशाओं और निराशाओं की अनुभूति प्राप्त होती हो ? जब मैं विधि पर

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

इस रूप में विचार करता हूँ, तो मुझे एक राजकुमारी के दर्शन होते हैं जो अपने ताने-बाने में सुदूर अतीत की धूमिल आकृतियों को अनवरत बुनने में तल्लीन हो। वे आकृतियाँ इतनी धूमिल होती हैं कि उन्हें आलसी, तन्द्रिल आँखें देख ही नहीं पातीं, ये इतनी प्रतीकात्मक होती हैं कि साधकों के अतिरिक्त और कोई उन्हें न समझ सकता है और न समझा सकता है। लेकिन पैनी दृष्टि के आगे वह सारे कष्टपूर्ण प्रयत्न और संसार को हिला देने वाले संघर्ष उजागर कर देती है, जिनके द्वारा मानव जाति आदिम कालीन एकान्त से सावयव सामाजिक जीवन की दिशा में जूझते-जूझते अग्रसर हुई है।'

विधि में महाकाव्य के तत्त्व पाये जाते हैं और खण्ड-काव्य के भी। वह विचारों और संस्थाओं, तर्क और अनुभव, आशाओं और निराशाओं की पतन अभ्युदयमयी युगयुगीन यात्रा से परिचित कराता है। मैं आपके सम्मुख विधि का एक रूमानी चित्र नहीं रखना चाहता। दुर्भाग्यवश, इस समय हमारे देश में परदोष दर्शन, स्वार्थपरायणता और छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति बहुत जोरों पर है। हमारा पतन पीड़ादायक है और हमने अपने कर्त्तव्यों के प्रति उदासीन दृष्टिकोण ग्रहण कर लिया है। लेकिन कभी-कभी ऐसे क्षण भी आते हैं जब प्रत्येक विधिवेत्ता जीवन नाटक में अपनी भूमिका के वैभव पर दृष्टिपात कर सकता है और सत्य की साधना तथा विधि और न्याय की महत्ता स्थापित करने में अपनी जागरूक भूमिका को सराह सकता है। ये क्षण विजय और सिद्धि के होते हैं। इस सम्बन्ध में जॉन एच० विग्मोर ने ठीक ही कहा है :

'विधिवेत्ताओं के लिए विधि के बारे में सबसे महत्त्वपूर्ण सचाई यह है कि वह एक व्यवसाय है .... व्यवसाय के रूप में विधि का भावन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि वह सफलता से व्यापारिक मानकों की उपेक्षा करता है और उसका विशेष कर्तव्य है राज्य के न्याय की सिद्धि में सहायता देना। वह एक प्रकार का प्रायोगिक विज्ञान है जिसका भली प्रकार ज्ञान प्राप्त करने के लिए वैज्ञानिक प्रशिक्षण की आवश्यकता है। इस प्रकार यदि विधि को व्यवसाय के रूप में अलग कर दिया जाता है तो फिर इसकी कुछ अपनी परम्पराएँ और अपने कुछ सिद्धान्त हैं। विधि-वेत्ताओं के लिए आवश्यक है कि वे इन सिद्धान्तों को आत्मसात करें और इनके अनुसार आचरण करें।'

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संघीय शासन प्रणालियों में निर्णय-प्रक्रिया और स्थायित्व*

रॉनल्ड जे० मे

यदि युद्धोत्तर काल में संघीय शासन प्रणाली की लोकप्रियता संघवाद के छात्रों के लिये प्रसन्नता का विषय रही है तो इसकी बढ़ती हुई असफलताओं के इतिहास से इसकी शक्ति-सीमा के सम्बन्ध में छानबीन करने की प्रवृत्ति पनपी है।[1] बहुत ही कम स्थितियों में संघीय सरकार अपने प्रायोजकों की आशाओं को पूरा कर सकी है—या तो संघीय राज्य उपलब्ध ही नहीं किया जा सका है, अथवा इसका स्थान विखंडित राज्यों ने ले लिया है या फिर असहमत घटकों को डंडे के जोर से संघ में बनाए रखा गया है। आलोचकों के अनुसार इसी अवधि में, कुछ पुरातन संघीय राज्यों की कतिपय ऐसी केन्द्राभिसारी शक्तियाँ कार्यरत रही हैं जिन्होंने संघीय सरकार के आधारों को ही खोखला किया है। यद्यपि संघवाद के अध्ययन के सम्बन्ध में आधारभूत सामग्री पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती है फिर भी इस दिशा में ऐसे व्यवस्थाबद्ध अध्ययन बहुत कम हुए हैं जिनसे ज्ञात हो सके कि संघवाद किन पद्धतियों से कार्य करता है, उसकी सफलता-असफलता के क्या कारण हैं।[2]

इस लेख में संघीय सरकार के कार्यान्वयन के पूर्ण विश्लेषण का प्रयास नहीं किया गया है, बल्कि इसमें संघवाद के दो मुख्य लक्षणों, निर्णय के स्वरूप और प्रणाली की गत्यात्मकता की परीक्षा करने का प्रयास किया गया है। इस अध्ययन का लक्ष्य यह है कि संघीय पद्धतियों में प्रकटतः जिस अस्थायित्व के दर्शन होते हैं, उसके कारणों की खोज की जा सके। संघीय घटकों[3] के आकार की असमानताओं के प्रभाव में इसकी विशिष्ट रुचि रही है।

---

* 'कैनेडियन जर्नल ऑफ पोलिटिकल साइंस', खंड 3, मार्च 1970, ओंटारियो, कनाडा, में प्रकाशित 'डिसीजन मेकिंग एण्ड स्टैबिलिटी इन फैडरल सिस्टम्स' लेख का अनुवाद। मूल लेख लन्दन विश्वविद्यालय के 'इन्स्टीट्यूट ऑफ कॉमनवेल्थ स्टडीज' में 1965 में हुई विचार गोष्ठी में प्रस्तुत किए गए निबन्ध पर आधारित है। लेखक उस निबन्ध पर की गई आलोचना के लिए प्रो० डब्ल्यू० एच० मौरिस-जौन्स और प्रस्तुत लेख के मसौदे पर आलोचनात्मक टिप्पणियों के लिए प्रो० डब्ल्यू० एच० राइकर और ए० वाइल्डावस्की का आभारी है।

[1] संघीय समाधान की लोकप्रियता के लिए कृपया एम० बेलाफ का 'फेडरल साल्यूशन इन इट्स एप्लीकेशन टू यूरोप, एशिया एन्ड अफ्रीका,' 'पोलिटिकल स्टडीज' 1, 2 (जून, 1953) और आर० एल० वॉट्स कृत 'न्यू फैडरेशंस' (ऑक्सफोर्ड, 1966), 3–71 देखिए।

[2] इस दिशा में कुछ महत्त्वपूर्ण अध्ययन इस प्रकार हैं : एफ० जी० कार्नेल, 'पोलिटिकल इंप्लीकेशन्स ऑफ फैडरलिज्म इन न्यू स्टेट्स'; यू० के० हिक्स कृत 'फैडरलिज्म एण्ड इकॉनामिक ग्रोथ' (लंदन, 1961); डब्ल्यू० एच० राइकर, 'फैडरलिज्म, औरिजन-ऑपरेशन, सिगनीफिकेन्स' (बोस्टन, 1964); वॉट्स, 'न्यू फैडरेशंस'; ए० एट्ज्योनी,

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

इसके पहले खण्ड में संघीय देशों में निर्णय प्रक्रिया के कतिपय पहलुओं का परीक्षण करते हुए संघीय निर्णय प्रक्रिया में 'असंघीय' तत्त्वों और संघटकों के आकार की असमता के प्रभावों पर विशेष रूप से बल दिया गया है। दूसरे खण्ड में आकार की असमताओं के विशिष्ट प्रसंग में संघवाद की गत्यात्मकता पर विचार किया गया है। अन्त में इन सामान्य विचारों का संघीय प्रणाली के स्थायित्व के प्रश्न से सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की गई है।

1. संघीय देशों में निर्णय प्रक्रिया की संरचना

सभी शासन प्रणालियों में सरकार का कार्य लोगों की परस्पर विरोधी मांगों में सामंजस्य स्थापित करना और जिन क्षेत्रों में सार्वजनिक नीति की अपेक्षा होती है उनमें सामूहिक निर्णय लेना तथा उन्हें कार्यान्वित करना होता है। संघीय शासन प्रणाली का विशिष्ट लक्षण यह है कि सार्वजनिक निर्णय सरकार के दो स्तरों में विभक्त होता है और इन दो स्तरों में से कोई भी दूसरे को निर्णय के लिए बाध्य नहीं कर सकता है। परन्तु निर्णय-प्रक्रिया के इस औपचारिक विभाजन के बावजूद, केन्द्रीय सरकार द्वारा तथा अन्य संघटक सरकारों द्वारा लिए गये निर्णयों का असर एक ही जनता पर पड़ता है और इस प्रकार वे एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं। इस पारस्परिक निर्भरता के कारण, सरकार के दोनों स्तर, यद्यपि वे एक-दूसरे को निर्णयों के लिये बाध्य नहीं कर सकते हैं, एक दूसरे को मनाने, प्रभावित करने और आदान-प्रदान करने के प्रयोग कर सकते हैं और करते भी हैं।[4]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर संघीय शासन प्रणाली में निर्णय-प्रक्रिया का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है : (1) प्रत्येक संघटक सरकार का नीति-विषयक कार्य निर्वाचकों की मांगों को पूरा करना और केन्द्रीय सरकार तथा कुछ सीमा तक अन्य संघटक सरकारों के नीति-विषयक दायित्वों को व्यावहारिक रूप देना है (नीति-विषयक कार्यों के दो रूप हैं—ठोस कार्य जैसे कि विधायी और प्रशासनिक कार्य तथा नीति-लक्ष्यों के प्रति वचनबद्धता);

'पोलिटिकल यूनीफिकेशन' (न्यूयार्क, 1965) और टी० एम फ्रैंक सम्पादित 'ह्वाई फेडरेशंस फेल ?' (न्यूयार्क, 1968)। इसके अतिरिक्त राजनीतिक एकीकरण की प्रक्रिया के जो अधिक सामान्य अध्ययन हुए हैं, उन्होंने भी इस विषय को समृद्ध किया है। इस संबन्ध में कुछ उल्लेखनीय कृतियाँ हैं : के० डब्ल्यू० ड्यूश, 'पोलिटिकल कम्यूनिटी एण्ड द नार्थ एटलांटिक एरिया' (प्रिंसटन, 1967); ई० बी० हास और पी० सी० शिमटर, 'इकानॉमिक्स एण्ड डिफेंशयल पैटर्न्स ऑफ पोलिटिकल इन्टीग्रेशन : प्रॉजेक्शंस अबाउट यूनिटी इन लैटिन अमरीका', 'इन्टरनेशनल आर्गनाइजेशन', XVIII 4 (शिशिर, 1964), ए० सैंगल, 'इंटरनेशनल पोलिटिकल कम्युनिटीज : एन एंथोलॉजी' (न्यूयार्क, 1966) में पुनःमुद्रित; 'द इन्टीग्रेशन ऑफ डिवेलिपंग कन्ट्रीज—सम थॉट्स इन ईस्ट अफ्रीका एंड सेन्ट्रल अमेरिका', 'जर्नल ऑफ कामन मार्किट स्टडीज', V, 3 (मार्च, 1957); जे० एस० नाई, 'पैटर्न्स एण्ड कैटालिस्ट्स इन रीजनल इन्टीग्रेशन', 'इन्टरनेशनल आर्गनाइजेशन', XIX, 4 (शिशिर, 1965); नाई द्वारा संपादित, 'पान अफ्रीकनिज्म एंड ईस्ट अफ्रीकन इन्टीग्रेशन' (कैम्ब्रिज, मैस० 1966); ए० हैजलवुड द्वारा सम्पादित 'अफ्रीकन इन्टीग्रेशन एंड डिसइन्टीग्रेशन' (लन्दन, 1967)।

[3] संघीय घटकों के आकार की असमताओं के प्रभाव, विशेषकर अन्तः सरकारी वित्तीय संबंधों के सन्दर्भ में, की विस्तृत चर्चा के लिए आर० जे० मे कृत 'फैडरलिज्म एंड फिस्कल एडजस्टमेन्ट' (आक्सफोर्ड, 1969) द्रष्टव्य है।

[4] इसका आधार 'द स्ट्रक्चर ऑफ अमेरिकन फेडरलिज्म' (लन्दन, 1961), पृ० 199 में एम० जे० सी० वाईल की संघवाद की 'परिभाषा' है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

(2) इसी प्रकार केन्द्रीय सरकार का नीति-विषयक कार्य उसके निर्वाचकों की मांगों को पूरा करना तथा संघटक सरकारों के नीति-विषयक दायित्वों को व्यावहारिक रूप देना है।

प्रत्येक सरकार के नीति-कार्यों और कारणों का सम्बन्ध दो प्रकार के कारकों पर आधारित है : (क) संविधान के उपबन्ध तथा खेल के अन्य नियम जिनसे किसी भी समय उस संदर्भ का निर्माण होता है, जिसके अन्तर्गत सरकारों के बीच सौदेबाजी होती है; और (ख) सरकारों की सौदेबाजी की क्षमताएँ, जो कि इस प्रकार के कारकों पर आधारित हैं, जैसे कि संघ में घटकों की संख्या और उनके सापेक्ष आकार, संघीय दल प्रणाली की संरचना, सिविल सेवाओं का संगठन, विशिष्ट व्यक्तित्त्वों और गुटों की भूमिका और एक दूसरे के साथ सौदेबाजी में सरकारों द्वारा अपनाई गई युक्तियाँ।[5] अस्तु, संघ-शासन के अन्तर्गत नीति-विषयक क्षेत्र में जो भी कुल कार्य होता है, वह केन्द्र तथा संघटकों के स्तरों पर सरकारों तथा निर्वाचकों के बीच पारस्परिक प्रतिक्रिया के जटिल प्रक्रम का परिणाम होता है। परम्परागत संघीय सिद्धान्त ने अधिकांश रूप से पद्धति को दो तरीकों से सरल कर दिया था। सबसे पहले इसमें केन्द्रीय सरकार और विभिन्न घटकों की पारस्परिक निर्भरता की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया था क्योंकि इसमें इस बात की पूर्ण रूप से उपेक्षा कर दी गयी थी कि आग्रह, प्रतिक्रिया और सौदेबाजी द्वारा एक सरकार के नीति विषयक कार्यों का दूसरी सरकारों के नीति-विषयक कार्यों पर गंभीर प्रभाव पड़ता है। इसमें अव्यक्त रूप से यह मान लिया गया था कि निर्वाचक मण्डल अपनी-अपनी सरकारों से जो माँगें करते हैं, वे इन सरकारों के संदर्भ में एक दूसरे से अलग-अलग और स्वतन्त्र होती हैं।[6] दूसरे, संघ के घटक राज्यों के बीच अन्तरों को स्वीकार करते हुए यह माना गया कि विभिन्न घटकों के नीति-विषयक कार्य सामान्यतया एक दूसरे के साथ ऐसे मिलते-जुलते हैं कि घटकों को एक सामूहिक इकाई के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।[7] पिछले कुछ समय से राजवेत्ताओं की रुचि इस विषय में अधिकाधिक बढ़ती गयी है (विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका में) कि एक ओर तो केन्द्रीय सरकार के नीति-विषयक कार्यों तथा घटकों की सरकारों के नीति-विषयक कार्यों के बीच और दूसरी ओर विभिन्न घटकों की सरकारों के नीति-विषयक कार्यों के बीच क्या आपसी सम्बन्ध पाए जाते हैं। परन्तु अधिकांशतः संघवाद पर लिखने वालों ने इन सम्बन्धों के विरोधात्मक पक्षों की अपेक्षा सहकारी पक्षों की ओर अपना ध्यान अधिक केन्द्रित किया है।[8]

---

[5] इनकी विस्तृत चर्चा 'फैडरलिज्म एंड फिस्कल एडजस्टमेंट' के पहले भाग में की गई है।

[6] यहाँ के० सी० व्हीर के 'संघीय सिद्धान्त' के बारे में 'फेडरल गवर्नमेंट', (चौथा संस्करण, लन्दन 1963) के पृ० 10 पर दिए गए कथन से तुलना कीजिये, 'संघीय सिद्धान्त से मेरा अभिप्राय, शक्तियों के विभाजन की उस विधि से है जिससे कि सामान्य और प्रादेशिक सरकारें अपने क्षेत्र में समन्वित और स्वतन्त्र रह सकें।'

[7] सी० डी० टार्ल्टन ने भी संघीय सिद्धान्त के इस पक्ष की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। देखिए, 'जर्नल ऑफ पॉलिटिक्स', 27, 4 (नवंबर, 1965) में 'सिमिट्री एंड एसिमिट्री एज एलिमेन्ट्स ऑफ फेडरलिज्म : ए थ्योरेटिकल स्पेक्यूलेशन' और 'वेस्टर्न पोलिटिकल क्वार्टरली', XX, 4 (दिसम्बर, 1967) में 'फेडरलिज्म, पोलिटिकल एनर्जी एनट्रोपी–इम्प्लीकेशन्स ऑफ एनॉलोजी।'

[8] इस क्षेत्र के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में ये ग्रंथ उल्लेखनीय हैं : जे० पी० क्लार्क कृत 'द राइज ऑफ ए न्यू फेडरलिज्म' (न्यूयार्क, 1938), ए० एच० बर्च कृत 'फेडरलिज्म' फाइनांस एंड सोशल लेजिस्लेशन इन कनाडा, आस्ट्रेलिया एंड द युनाइटिड स्टेट्स', (ऑक्सफोर्ड, 1955); डब्ल्यू० एंडरसन कृत 'इन्टरगवर्नमेन्टल रिलेशन्स इन रिव्यू' (मिन्यायोलिस, 1960) और आर० एच० लीच कृत 'इन्टर-स्टेट रिलेशन्स इन आस्ट्रेलिया', (लेक्सिंगटन, 1965)।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संघवाद सम्बन्धी परम्परागत सिद्धान्त के दो आधार हैं : उसकी दीर्घकाल से चली आ रही विधिक-सांविधानिक प्रवृत्ति और यह तथ्य कि उसकी आधारभूत सामग्री उन प्राचीन संघों के अनुभवों से प्राप्त की गई है जिनमें संघवाद को एक काम-चलाऊ व्यवस्था माना गया था। लेकिन संघीय शासन के क्षेत्र में अभी हाल में जो अनुभव प्राप्त हुए हैं और प्राचीन संघों में जो कुछ नई समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं उनके कारण संघवाद का परम्परागत प्रतिमान झूठा पड़ता जा रहा है। अतः इस भाग में संघीय शासन प्रणाली वाले देशों में निर्णय प्रक्रिया के तीन अपेक्षाकृत उपेक्षित पक्षों पर विचार किया जायेगा। ये तीन पक्ष हैं : (क) संघीय शासन प्रणाली वाले देशों में 'संघीयता' का अंश, (ख) केन्द्र और घटक राज्यों के बीच पारस्परिक प्रतिक्रिया का स्वरूप और (ग) घटक राज्यों के बीच आकार की असमताओं का प्रभाव।

(क) संघीयता का अंश

संघवाद का स्थान एकात्मक सरकारों और प्रभुसत्तात्मक राज्यों के शिथिल संघ के बीच में कहीं हैं। 'पूर्ण' संघीय शासन प्रणाली में, संघ के घटकों के पर्याप्त समान हित होते हैं और न केवल वे केन्द्रीय सरकार के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों में समान कार्यवाही की आवश्यकता को जन्म देते हैं बल्कि उनमें पर्याप्त भेद भी होते हैं जिससे वे कुछ अन्य क्षेत्रों में अपनी पृथक्ता और स्वतन्त्रता को बनाये रखने की इच्छा प्रकट कर सकते हैं।

अतः 'पूर्ण संघीयता' की परिभाषा इन अपेक्षाओं से की जा सकती है, (क) हर निर्वाचक द्वारा अपनी सरकार से की गई मांगें सरकारों की अपनी आपसी माँगों से अलग और उनसे स्वतन्त्र होती हैं, (ख) केन्द्रीय सरकार के निर्वाचकों के भीतर राजनीतिक हितों का विभाजन घटक राज्यों के बीच भौगोलिक विभाजन के अनुकूल नहीं होता है, (ग) प्रत्येक घटक सरकार के निर्वाचकों के भीतर राजनीतिक हितों का विभाजन उस घटक की सीमाओं के परे नहीं होता है और विभिन्न घटकों में निर्वाचकों की माँगें अलग-अलग होती हैं। इन परिस्थितियों से यह सुनिश्चित होता है कि सरकार के दो स्तर स्वतन्त्र हैं और यह आवश्यक है कि एक ओर तो केन्द्रीय सरकार का निर्माण हो तथा तथा दूसरी ओर घटकों का पृथक् राजनीतिक सत्ताओं के रूप में विकास हो।

निर्वाचकों में स्वतन्त्रता की स्थितियों का परीक्षण ('पारस्परिक प्रतिक्रिया का स्वरूप') नीचे किया जा रहा है। यदि हम कुछ समय के लिए इन स्थितियों को स्वीकार भी कर लें, तब भी पूर्ण संघीयता की स्थिति से दो मुख्य पलायन हो सकते हैं। इनमें से पहला पलायन तो यह है कि केन्द्रीय सरकार के निर्वाचकों के राजनीतिक हितों का विभाजन घटकों की सीमाओं के अनुरूप हो सकता है (ख शर्त के प्रतिकूल)। सच पूछा जाये तो समस्त संघों में केन्द्रीय सरकार की निर्णय प्रक्रिया के कुछ क्षेत्र ऐसे होते हैं जिनके सन्दर्भ में विभिन्न घटकों के विचारों में या तो कोई भेद नहीं होता या बहुत कम भेद होता है (उदाहरण के लिए प्रतिरक्षा)। इसके विपरीत कुछ क्षेत्र ऐसे होते हैं जिनके सन्दर्भ में विभिन्न घटकों के विचारों में पर्याप्त भेद पाया जाता है (उदाहरण के लिए शुल्क नीति)। यदि नीति-विषयक क्षेत्र जिनको लेकर घटकों के विचारों में पर्याप्त अन्तर हो, राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हों और घटकों के अन्तर प्रबल तो केन्द्रीय सरकार के निर्वाचक मण्डल के स्तर पर घटकों के अन्तरों और घटक स्तर पर विभिन्न घटकों के बीच पाये जाने वाले अन्तरों (शर्त ग) से प्रबल विखण्डन-

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कारी प्रवृत्तियों का सृजन हो सकता है जो राष्ट्र के राजनीतिक एकीकरण के मार्ग में बाधा बनकर पृथक्तावादी आन्दोलनों को बढ़ावा दे सकती हैं।

दूसरे पलायन की स्थिति यह है कि घटक स्तर पर राजनीतिक हितों का विभाजन घटक सीमाओं के आर-पार भी हो सकता है (ग शर्त के प्रतिकूल)। ऐसा होने पर एक घटक में विशेष नीति का समर्थन करने वाले मतदाता किसी अन्य घटक में उसी प्रकार की नीति का समर्थन करने वाले मतदाताओं से तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं। अक्सर संघ में राजनीतिक दलों का विकास इन्हीं दिशाओं में होता है (जैसे श्रमिक/अ-श्रमिक विभाजन)।[9] ऐसी स्थिति घटकों की पृथक्ता कम करके और राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन देकर संघीय शासन प्रणाली वाले देश में स्थिरता को बढ़ावा दे सकती है। परन्तु इसके साथ-साथ एक अर्थ में संघीय विभाजन निरर्थक हो जाते हैं। इससे संघीय संस्थाओं की शक्ति क्षीण हो सकती है, परन्तु ऐसी स्थिति का होना आवश्यक नहीं है। संघ के घटक और भी अधिक घनिष्ट रूप से एक दूसरे पर आश्रित रहेंगे और हितों के समाधान में सौदेबाजी की प्रक्रिया में संघीय संस्थाओं को एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना पड़ेगा। कभी ये प्रवंचित हो सकती हैं, कभी वे कुछ विशेष हितों की रक्षा कर सकती हैं और कभी वे केन्द्र तथा घटकों की पारस्परिक प्रतिक्रिया का स्वरूप निर्धारित कर सकती हैं। जो भी हो, इस बात की कोई सम्भावना नहीं होती है कि संघीय संस्थाएँ उसी रूप में कार्य करेंगी जिस रूप में उन्हें संघ निर्माण के प्रारम्भ में कार्य करना था।

संघीय शासन प्रणाली में संघीयता के अंश पर विचार करने का महत्त्व यह है कि इस प्रणाली में निर्णय प्रक्रिया के सभी पक्ष संघीय शासन प्रणाली के लिए विशिष्ट नहीं हैं, इनमें से कुछ तो केन्द्रीयकृत एकात्मक शासन प्रणाली के लिए विशिष्ट हैं और कुछ बहुलवादी अ-संघीय शासन प्रणाली के लिए, जहाँ निर्णय प्रक्रिया विशिष्ट रूप से संघीय प्रक्रिया नहीं है, और यह सभी संघीय देशों में अधिकांश निर्णय की प्रक्रिया के लिए सत्य है, वहाँ संघीय संस्थाएँ निरर्थक हो सकती हैं, अथवा उनका इस रूप में प्रयोग किया जा सकता है जिसका उनके संघीय शासन-प्रणालो में नाम मात्र के कार्य से सम्बन्ध नहीं हो सकता।

(ख) पारस्परिक प्रतिक्रिया का स्वरूप

अब तक हम परम्परागत संघीय सिद्धान्त के आधार पर यह मान कर चले हैं कि दोनों स्तरों पर निर्वाचक गण एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। इसके निहितार्थ में दो आधुनिक धारणाएँ हैं : (क) केन्द्रीय सरकार और घटकों की सरकारों के कार्यों के बीच स्पष्ट औपचारिक अन्तर है (दोनों स्तरों पर सरकारें स्वतन्त्र और एक दूसरे की समन्वयक हैं); (ख) दोनों स्तरों पर निर्वाचक गण इस अन्तर को स्वीकार करते हैं और इसका आदर करते हैं।

बहुत से संघीय शासन प्रणाली वाले देशों में इनमें से पहली धारणा को पूरा नहीं

---

[9] एम० जे० सी० वाईल के 'फेडरलिज्म एण्ड लेबर रेग्यूलेशन इन द युनाइटिड स्टेट्स एण्ड आस्ट्रेलिया' 'पोलिटिकल साइंस क्वार्टरली' LXXI,2 (जून, 1966) से तुलना कीजिए। सांविधानिक उपबन्धों ने राजनीतिक दृष्टि से आवश्यक श्रम अवस्थाओं के विकास में कभी बाधा नहीं पहुँचाई है। उन्होंने तो इन मानकों को प्राप्त करने के लिए मार्ग-प्रशस्त करते हुए राजनीतिक शक्तियों को निश्चित दिशा मात्र दी है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

किया जाता है। कई ऐसे कार्य होते हैं जिन्हें केन्द्रीय और घटक सरकारें संयुक्त रूप से किया करती हैं। परन्तु यदि इस शर्त को पूरा भी कर लिया जाये तो इस बात की सम्भावना नहीं है कि दूसरी धारणा को पूरा किया जायेगा। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की एक बात तो यह है कि शायद कुछ ही मतदाता इतने अधिक सुसंस्कृत होते हैं कि वे संघीय सिद्धान्त द्वारा अभीष्ट सरकार के विभिन्न स्तरों में विभेद कर सकें। बल्कि इसकी बजाये ऐसा प्रतीत होगा कि मतदाता उत्तरदायित्व के औपचारिक सांविधानिक विभाजन का विचार किये बिना ही 'सरकार' से माँग किया करते हैं। एक सीमित सीमा तक संघ में शामिल सरकारें निर्वाचकों को शक्ति के औपचारिक विभाजन के बारे में सूचित करके (अपनी जिम्मेदारी किसी अन्य व्यक्ति के मत्थे मढ़कर) 'सांविधानिक रूप से अवैध' माँगों को निष्फल कर सकती हैं। परन्तु अवैध माँगों को पुनर्निर्दिष्ट करने में यह युक्ति पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सकती और निर्वाचकों का दबाव सरकार को बाध्य करेगा कि वह उन्हें मान्यता प्रदान करें। दूसरे उन कुछ स्थितियों को छोड़कर जिनमें मतदाताओं को कुछ ज्ञान नहीं होता, जिस सीमा तक मतदाता निर्वाचकीय दबाव के कारण सरकारों को इस बात के लिए बाध्य कर सकते हैं कि वे उनकी अवैध माँगों को स्वीकार करें, उस सीमा तक वे इस रणनीति के प्रयोग द्वारा एक स्तर की सरकार को (सांविधानिक दृष्टि से यह सरकार अप्रासंगिक हो सकती है) विवश कर सकते हैं कि वह उनकी माँगें दूसरे स्तर की सरकार (सांविधानिक दृष्टि से यह सरकार प्रासंगिक हो सकती है) के सम्मुख प्रस्तुत करें।

मान लीजिए कि एक घटक विशेष की सरकार के निर्वाचकगण कुछ ऐसी माँगें करते हैं जिनके बारे में वह सरकार अनुभव करती है कि उसे कार्रवाई करनी चाहिए, नहीं तो वह उनका राजनीतिक समर्थन खो बैठेगी। सांविधानिक रूप से प्रासंगिक या विधिमान्य माँगें घटक सरकार के नीति विषयक मूर्त कार्यों में प्रतिबिम्बित होती हैं। दूसरी ओर अवैध माँगें घटक सरकार के नीति-विषयक कार्यों के माध्यम से केन्द्रीय सरकार की निर्णय-प्रक्रिया में एक तत्व के रूप में सम्मिलित हो जाती हैं (अवैध मांगों को पूरा करने की जिम्मेदारी अन्य घटक सरकारों[10] को भी हस्तांतरित की जा सकती है)। इसी प्रकार केन्द्रीय सरकार से जो वैध माँगें की जाती हैं, उनके परिणामस्वरूप वह सरकार मूर्त नीति-सम्बन्धी कार्य कर सकती है और अवैध माँगें विशेष घटक सरकारों की निर्णय-प्रक्रिया में एक तत्व के रूप में सम्मिलित की जा सकती हैं।

अस्तु, संघीय शासन प्रणाली में सरकार के दो स्तरों के विद्यमान होने से मतदाता दो बार अपनी माँगों को व्यक्त कर सकता है और इससे सरकार के दोनों स्तरों पर पारस्परिक प्रतिक्रिया का उदय हो सकता है। दूसरे शब्दों में संघ में दो स्वतन्त्र राजनीतिक प्रणालियाँ ('केन्द्र' और 'घटक') नहीं होती हैं बल्कि एक ही प्रणाली होती है, जिसमें कई अतिव्यापी उप-प्रणालियाँ होती हैं। इसी के उपप्रमेय के रूप में 'केन्द्र' और 'घटकों' के बीच विरोधों के बारे में सामान्य रूप से चर्चा करना एक दृष्टि से निरर्थक प्रतीत होता है क्योंकि अक्सर दोनों स्तरों पर सरकार एक ही औपचारिक संघीय ढाँचे के भीतर समान निर्वाचक प्रभावों के प्रति संवेदन-

[10] इसके उदाहरण के लिए आर० जे० मे के आगामी ग्रन्थ 'फाइनेंसिंग द स्माल स्टेट्स इन आस्ट्रेलियन फेडरलिज्म', अध्याय 7 देखिए।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

शील होती है।[11]

(ग) घटकों के बीच आकार की असमताएँ

जैसा कि ऊपर कहा गया है, परम्परागत संघीय सिद्धान्त में 'घटकों' को सामूहिक सत्ता समझने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। जहाँ घटकों की अलग सत्ता स्वीकार कर ली जाती है, वहाँ भी यह माना जाता है कि सभी घटकों को समान स्तर के समझा जा सकता है। वस्तुतः संघीय निर्णय—प्रक्रिया में कुछ घटक अन्य घटकों की अपेक्षा अधिक समान समझे जाते हैं। यह असमता घटकों की उन विभिन्न योग्यताओं में परिलक्षित होती है जिनसे वे संघीय प्रणाली के अन्तर्गत अपने हितों की पूर्ति करते हैं, लेकिन इसमें शर्त यह है कि इस असमता के प्रभाव को कम करने के लिए कुछ विशेष व्यवस्थाएँ न की गई हों।

असमता के दो मुख्य स्रोतों के, जो व्यवस्थाबद्ध रूप से घटकों की सौदेबाजी की क्षमता को प्रभावित करते हैं, अन्तर को स्पष्ट रूप से समझ लिया जाना चाहिए। इनमें से एक तो आकार है जिसका आधार है जनसंख्या और कुल संसाधन, दूसरा है जनसंख्या की प्रति इकाई के आधार पर धन। पहला तत्त्व इस बात का सूचक है (एक व्यक्ति एक मत की व्यवस्था को स्वीकार करते हुए) कि राष्ट्रीय स्तर पर एक घटक को कितने मत प्राप्त हो सकते हैं और वह अपनी किसी बात को कहाँ तक मनवा सकता है। दूसरे तत्त्व से यह ज्ञात होता है कि घटक की 'प्रगति की अवस्था' क्या है, घटक कितने ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों को उत्पन्न कर सकता है जो निर्णय प्रक्रिया पर ठोस प्रभाव डाल सकें।[12] अधिकांश संघों में, वस्तुतः घटकों के आकार और

---

[11] यहाँ संघीय अनुदान कार्यक्रमों के सूत्रपात के बारे में निम्न विचारों से तुलना कीजिये, 'विशेष सरकारी कार्य के सम्बन्ध में संघीय सहायता पाने के लिए आन्दोलन का नेतृत्व सामान्यतया राष्ट्रीय रूप से संगठित वह दबावकारी गुट करता है जिसके हित को प्रस्तावित विधायन से लाभ पहुँचने की आशा होती है। यह गुट सम्बन्धित हितों वाले समुदायों का समर्थन पाने का प्रयास करता है। सामान्यतया यह प्रस्ताव राज्य विधानमण्डलों के ध्यान में लाया जाता है जो इनके समर्थन अथवा विरोध में संकल्प पारित करते हैं और इन संकल्पों को कांग्रेस के पास भेज देते हैं। यदि विधेयक का सम्बन्ध किसी ऐसी सेवा से है जिसे पहले से ही किसी राज्य में प्रदान किया जा रहा है तो सम्बन्धित प्रशासक संघीय विधायन के लिए आन्दोलन में सबसे आगे होंगे। कांग्रेस सहायतानुदान के माध्यम से जो कुछ कर सकती है वह उन नीतियों तक सीमित है जिन्हें राज्य विधानमण्डल स्वीकार करेंगे। परन्तु किसी नीति की स्वीकार्यता बहुत हद तक कांग्रेस द्वारा इसे अंगीकृत किये जाने से पूर्व ही निर्धारित की जाती है। इसमें केवल मात्र कांग्रेस के दबाव के परिणामस्वरूप संघीय नीति में राज्य विधान मण्डल की स्वीकृति निहित नहीं है, बल्कि कांग्रेस और राज्य विधान मण्डल एक ही प्रकार की राजनीतिक मांगों के प्रति समान रूप से सम्वेदनशील हैं।' 'द एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ फेडरल ग्रांट्स टू द स्टेट्स' (शिकागो, 1937) 4–5; एम० ग्राडंजिन कृत 'द अमरीकन सिस्टम' (शिकागो, 1966) भी देखिये।

[12] यह समस्या का अत्यन्त सरल रूप है। एक बात सच है। जनसंख्या और कुल संसाधन एक ही राज्य में केन्द्रित नहीं होते हैं। यदि घटकों में धन-सम्बन्धी असमताएँ प्रमुख हैं, तो अपेक्षाकृत कम आबादी वाला घटक बहुत अधिक धन के अंश का स्वामी हो सकता है और अधिक आबादी वाले घटक के पास सम्पदा का कम अंश हो सकता है (यह बात पाकिस्तान, रोडेशिया-न्यासालैण्ड और कुछ सीमा तक फ्रेंच अफ्रीकी संघों और यूगोस्लाविया के बारे में सच थी अथवा है)। एक बात और है। अगर घटक की कुल आय बहुत ही विषम रूप से वितरित है (इसके उदाहरण हैं रोडेशिया और न्यासालैण्ड संघ में उत्तरी रोडेशिया और मलेशिया में बोर्नियो राज्य) तो प्रति व्यक्ति आय 'प्रगति की अवस्था' का बहुत अधिक सूचक नहीं कही जा सकती। यहाँ किया गया सरलीकरण

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

धन के आधार पर क्रम बहुत कुछ एक जैसे हैं। इस समय हम इसी स्थिति को मानक समझ सकते हैं।

ऐसे संघ में आकार और सम्पदा के आधार पर घटकों में असमता के प्रभाव अधिक स्पष्ट रूप से सामने आते हैं जहाँ सरकारें एक-दूसरे पर आश्रित होती हैं और जहाँ केन्द्रीय सरकार के निर्वाचकों के भीतर राजनीतिक हितों का विभाजन घटकों की सीमाओं का अनुसरण करता है (अर्थात् पूर्ण संघीयता की (क) और (ख) शर्तों का खण्डन किया जाता है और (ग) शर्त को स्वीकार किया जाता है। यहाँ (ग) शर्त को तोड़ने पर घटकों के अन्तरों का महत्त्व कम हो जायेगा)।

इस स्थिति में, दो घटकों के संघ में जिनमें से एक बड़ा और अमीर तथा दूसरा छोटा और गरीब हो—घटकों की असमताएँ केन्द्रीय सरकार के निर्णय-प्रक्रिया कार्य में दो प्रकार से परिलक्षित होती हैं। एक, अधिक आबादी और शायद अधिक धन होने के कारण केन्द्रीय सरकार के निर्वाचकों का वह भाग, जो बड़े घटक में रहता है, उस भाग की अपेक्षा, केन्द्रीय सरकार के नीति-विषयक कार्य पर अधिक प्रभाव डाल सकता है जो कि छोटे घटक का निवासी है। दूसरे, जिस सीमा तक घटक का आकार और धन-सम्पत्ति घटक सरकारों की सौदेबाजी की क्षमताओं को प्रभावित कर सकती है, उस सीमा तक बड़े घटक की सरकार केन्द्रीय सरकार के नीति-विषयक कार्यों पर छोटे घटक की सरकार की अपेक्षा अधिक प्रभाव डालने में असमर्थ है। अतः केन्द्रीय सरकार के नीति-विषयक कार्य छोटे घटक की अपेक्षा बड़े घटक के हितों के अधिक अनुकूल होते हैं। साथ ही घटक के स्तर पर, अपनी अधिक अच्छी सौदेबाजी की क्षमता के कारण, बड़ा घटक छोटे घटक की सरकार के नीति-कार्यों को अधिक प्रभावित कर सकता है और छोटा घटक बड़े घटक की सरकार के नीति-कार्यों को कम प्रभावित कर सकता है और जैसा कि ऊपर दिखाया गया है, चूँकि बड़े घटक के हितों को केन्द्रीय सरकार के नीति-कार्यों में अधिक प्रमुखता दी जायेगी, अतः केन्द्रीय सरकार की नीति का उन माँगों के अनुरूप होना अधिक सम्भव है जिन्हें बड़े घटक के नागरिक पेश करते हैं। छोटे घटक के नागरिकों द्वारा पेश की गयी माँगें केन्द्रीय सरकार को उस सीमा तक प्रभावित नहीं कर सकती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि छोटे घटक की सरकार बड़े घटक की सरकार की अपेक्षा अपने नागरिकों की वैध माँगों को पूरा करने में भी कम सफल हो पाती है। अस्तु, दूसरे स्तर की सरकार के निर्माण का परिणाम यह होता है कि बड़े घटक की सरकार छोटे घटक की सरकार की अपेक्षा अपनी प्रभावी निर्णय-शक्तियों का कम त्याग करती हैं और छोटा घटक संघ की सदस्यता के कारण बड़े घटक के मानकों को अपने मानक बनाने की दिशा में प्रवृत्त होने लगता है।

यदि इस धारणा को अस्वीकार कर दिया जाये कि आकार और सम्पत्ति साथ-साथ उपलब्ध होते हैं, तो स्थिति और भी जटिल हो जाती है। बड़े घटक के प्रभाव का स्रोत उसका बड़ा आकार होता है। यदि छोटे घटक के पास धन है, वह विकसित है, तथा विशिष्ट व्यक्ति निर्णय-प्रतिभा से सम्पन्न हैं तो वह बड़े घटक के प्रभाव को निराकृत कर सकता है।

अगर दो घटकों से अधिक की कल्पना की जाये तो स्थिति और भी विषम हो जाती

सामान्य स्थिति में सही प्रतीत होता है और इसे बिना किसी अतिरिक्त शर्त के इस्तेमाल किया जायेगा। 'फेडरलिज्म एण्ड फिस्कल एडजस्टमैंट' में संघीय प्रणालियों में घटकों के बीच असमताओं के आँकड़े दिये गये हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

है। ऊपरी तौर पर नये घटकों को शामिल करने से प्रत्येक घटक की सौदेबाजी की शक्ति में कमी आ जाती है। परन्तु यदि दो से अधिक घटकों का अस्तित्व हो तो यह सम्भावना हो जाती है कि कुछ घटक आपस में मिल जाएँ। उदाहरण के लिए, कुछ मुद्दों पर दो छोटे धनहीन घटक आपस में मिलकर बड़े धनी घटक का प्रभाव कम कर सकते हैं। इसमें शक नहीं कि सम्भव स्थितियों की परास में घटकों की संख्या से वृद्धि हो जाती है। विश्लेषणात्मक दृष्टि से घटकों के सम्मेलन का प्रभाव घटकों की सीमाओं से सम्बद्ध हितों के विभाजन के प्रभाव के तुल्य होता है (हालाँकि यह प्रभाव भिन्न स्तर पर होता है)। यह पूर्ण संघीयता की शर्त (ग) के विपरीत है। इससे बहुलवाद के एक ऐसे रूप का उदय होता है जिसमें हितों का विभाजन घटकों की सीमाओं का अनुसरण नहीं करता।

2. संघवाद की गत्यात्मकता

अभी तक हमने निर्णय-प्रक्रिया के संरचनात्मक पक्ष पर मुख्यतः स्थैतिक सन्दर्भ में विचार किया है। सभी समाज परिवर्तनशील हैं और परिवर्तन की प्रकृति और सीमाएँ दोनों ही निर्णय-प्रक्रिया के संरचनात्मक पक्ष को प्रभावित करती हैं।[13] संघटक राज्य अपने अधिकार-क्षेत्र को केन्द्रीय सरकार को अन्तरित कर देते हैं और केन्द्रीय सरकार निर्णय प्रक्रिया के क्षेत्र में समस्त राष्ट्र के लिए सामूहिक निर्णय करती है। इस सीमा तक घटकों का कायाकल्प हो जाता है। कुछ सीमा तक यह प्रभाव हमेशा के लिए होता है। जब निर्णय प्रक्रिया में सरकारों की पारस्परिक निर्भरता पर और असमता के प्रभाव पर विचार किया जाता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकार-क्षेत्र के हस्तान्तरण के कारण सभी घटकों में संघ की सदस्यता के कारण निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। यह दूसरी बात है कि कुछ घटकों में ये परिवर्तन कम होते हैं और कुछ में अधिक। परन्तु घटकों पर संघ का प्रभाव यहीं समाप्त नहीं हो जाता है। एक-दूसरे के निकट आने की क्रिया घटकों में और भी अधिक मूलभूत कायाकल्प लाने में सहायक होती है। इसमें राजनीतिक और आर्थिक एकता का भी कुछ न कुछ योगदान होता है। जैसे-जैसे संघीकृत घटक नयी राष्ट्रीय सत्ता में अपने अस्तित्व के अभ्यस्त हो जाते हैं वैसे ही वैसे उनके स्वरूप में परिवर्तन होता जाता है। इस राष्ट्रीय नव-निर्माण के प्रभाव को दो तत्त्वों में विभाजित किया जा सकता है (यद्यपि विभाजक रेखा परिशुद्ध नहीं होगी)—एक वृहदत्तर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के भाग होने के लिए आवश्यक समंजन और दूसरे घटकों की प्रतियोगिता, प्रति-स्पर्द्धा और अभिप्रेरण के माध्यम से राष्ट्रीय औसत अथवा कम-से-कम राष्ट्रीय प्रवृत्ति।

सबसे पहले, हम आर्थिक समेकन पर विचार करते हैं। जब घटक एक आर्थिक संघ का निर्माण करते हैं तब उस प्रक्रिया में दो व्यापक समायोजन घटित होते हैं। एक तो यह कि

---

[13] सरलता के लिए हम यह मान लेते हैं कि हम विद्यमान राज्यों के योग से बने संघों पर विचार कर रहे हैं। विखण्डन के फलस्वरूप बने कुछ संघों में उन क्षेत्रीय प्रवृत्तियों के बल को, जिनके कारण संघ का निर्माण हुआ था, कम से कम कुछ दिशाओं में घटाया जा सकता है। यह कुछ तो समय के प्रभाव के कारण और कुछ संघ बनने के बाद घटकों की पारस्परिक निर्भरता के कारण सम्भव हो सकता है। जब कभी यह होता है, केन्द्रकारी शक्तियों का प्रभाव घटकों के योग से निर्मित संघों में एकीकरण की शक्तियों के प्रभाव से मिलता-जुलता होता है। इस प्रकार, यह विश्लेषण केवल उन्हीं संघों तक सीमित नहीं है जो विभिन्न घटकों के योग से अस्तित्व में आते हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

व्यापार के मार्ग में शुल्क और अन्य प्रतिबन्धों के हट जाने से संघ के सदस्यों और संघ से बाहर के देशों के बीच व्यापारिक सम्बन्धों का नये सिरे से निर्माण होगा। जो घटक पहले संघ के बाहर के विदेशी स्रोत से सामान मँगाते थे, उन्हें अब लगेगा कि संघ के सदस्यों के बीच शुल्क सूचियाँ हट जाने और बाहरी शुल्क-सूची लागू होने के कारण वे बाहर की अपेक्षा संघ के भीतर अधिक सस्ता सामान पा सकते हैं। उपप्रमेय के रूप में, कुछ घटक यह महसूस करेंगे कि संघ के अन्य घटक सदस्यों में उनके निर्यात की वस्तुओं के लिए अधिक माँग है जबकि कुछ घटक यह अनुभव कर रहे होंगे कि उन्हें कुछ वस्तुओं के लिए अधिक दाम देने पड़ते हैं, क्योंकि उनका कम लागत वाले विदेशी उत्पादनकर्ता से व्यापारिक सम्बन्ध टूट गया है। समग्र 'संघ' के सन्दर्भ में यह स्वीकार करना तर्कसंगत होगा कि व्यापारिक सम्बन्धों के पुनर्गठन से लागत की अपेक्षा अधिक लाभ होंगे, परन्तु यह बात हर घटक के लिए सच नहीं होगी। आर्थिक समायोजन का दूसरा व्यापक पक्ष यह है कि राष्ट्रीय सीमाओं के विघटन से श्रम और पूँजी के ऐसे क्षेत्रों में जाने की अधिक सम्भावना है, जिनमें उन्हें अधिक लाभ की आशा हो, और फिर, जहाँ समस्त राष्ट्र के लिए संसाधनों का अधिक कुशलता से आबंटन किया जा सकता है, वहाँ इससे कुछ घटकों की हालत और भी खस्ता हो जायेगी। वस्तुतः अगर घटक आर्थिक विकास की विषमताओं के आधार पर संघ-निर्माण करते हैं और कारक उस दिशा में अग्रसर होते हैं जहाँ पर कि उस समय उनकी उत्पादकता अधिकतम प्रतीत होती है, तो पूँजी और श्रमिकों के आप्रवासन से अपेक्षाकृत पिछड़े वर्ग और भी अधिक खस्ता हाल हो जायेंगे, क्योंकि संसाधनों का आबंटन भी नहीं हो पायेगा और संसाधनों के आबंटन से ही तो समस्त राष्ट्र में आर्थिक कार्य-कुशलता का प्रसार होता है।[14]

यदि आर्थिक समेकन के विरोधी प्रभाव अत्यधिक सीमित और संघ में फैले हुए होते तो कोई भी समस्या नहीं होती। यद्यपि सुनिश्चित सामान्यीकरण कर पाना असम्भव है, फिर भी हाल में प्रकाशित अनेक पुस्तकों तथा लेखों में सुझाव दिया गया है कि आर्थिक समेकन की प्रक्रिया कुछ समय के लिए विभिन्न क्षेत्रों में विषमताओं को कम करने की बजाय और अधिक बढ़ाने में सहायक होगी।[15]

केन्द्रीय सरकार के हस्तक्षेप से बाजार की इन शक्तियों में संशोधन हो सकता है।

---

[14] समेकन की अर्थव्यवस्था के बारे में सामान्य चर्चा के लिए देखिये : बी० बलासा कृत 'थ्योरी ऑफ इकॉनामिक इन्टीग्रेशन' (लन्दन, 1962) और ए० ओ० हर्शमान कृत 'द स्ट्रेटेजी ऑफ इकानामिक डेवेल्पमेन्ट' (न्यू हेवन, 1958), अध्याय 10। संघीय देशों में संसाधनों के आबंटन के बारे में और भी अधिक विशेष चर्चा के लिए देखिये ए० डी० स्कॉट का 'द इकॉनामिक गोल्स ऑफ फेडरल फाइनेंस' 'पब्लिक फाइनेंस', XIX, 3 (1964) और मे का 'फेडरलिज्म एण्ड फिस्कल एडजेस्टमेंट', पृ० 37–43।

[15] उदाहरण के लिए देखिए : जे० जी० विलियमसन 'रीजनल इनइक्वेलिटी एंड द प्रोसेस ऑफ नेशनल डिवेल्पमेन्ट', 'इकॉनामिक डेवेल्पमेंट एंड कल्चरल चेन्ज', XIII, 4 (जुलाई, 1965) भाग 2; एम० बाई०, 'कस्टम्स यूनियन एंड नेशनल इन्टरेस्ट्स', 'इन्टरनेशनल इकॉनामिक पेपर्स', 3, (1953); यूनाइटिड नेशन्स, 'इकॉनामिक सर्वे ऑफ यूरोप इन 1954' (जेनेवा, 1955), जी० मर्डल, 'इकॉनामिक थ्योरी एंड अंडर-डिवेलप्ड रीजन्स' (लन्दन, 1957) अध्याय 3; आर० बी० हयूज, 'इन्टररीजनल इन्कम डिफरेंसेज, सेल्फ परपेच्यूशन', 'सदर्न इकॉनामिक जर्नल', XII, (जुलाई, 1961); एस० डेल, 'ट्रेड ब्लॉक्स एंड कॉमन मार्किट्स' (लन्दन, 1963), अध्याय 6, एस० बारजन्टी, 'द अंडरडिवेल्प्ड एरियाज विदिन द कॉमन मार्किट' (प्रिन्स्टन, 1965) विशेष कर अध्याय VI।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

समेकन की प्रक्रिया को स्वैच्छिक नीति (जैसे अन्तःराज्यीय व्यापार शुल्कों का रखा जाना, अन्तःराज्यीय आप्रवास पर निर्बन्ध अथवा बहुत ही कमजोर केन्द्रीय सरकार के निर्माण) से सीमित किया जा सकता है अथवा इसे प्रोत्साहित किया जा सकता है। और प्रवृत्ति समेकन को रोकने की है अथवा इसे प्रोत्साहित करने की, यह संघात्मक व्यवस्था के प्रकार पर निर्भर होगा। यदि पूर्ण संघ की स्थापना हो (अथवा घटक-स्तर पर अतिव्यापी हितों को छोड़कर पूर्ण संघीयता की स्थिति हो) और आर्थिक एकता को राष्ट्रीय नीति के रूप में स्वीकार कर लिया जाये, तो एकता के मार्ग में बहुत कम बाधाएँ होंगी। दूसरी ओर यदि घटक सरकारों तथा केन्द्रीय सरकार के नीति विषयक कार्यों के बीच पारस्परिक निर्भरता है और केन्द्रीय सरकार के निर्वाचकों के हित विभाजन घटकों की सीमाओं के अनुवर्त्ती हैं तो जिन घटकों को एकीकरण से हानि की संभावना है, वे घटक-सरकारों के धरातल पर और केन्द्रीय सरकार के माध्यम से भी एकीकरण का विरोध करेंगे। इसका महत्त्वपूर्ण परिणाम यह होगा कि संघ के अन्तर्गत घटकों की असमताओं का उनकी सौदेबाजी की क्षमता पर प्रभाव पड़ेगा। जहाँ समेकन से लाभान्वित होने वाले घटक बड़े और धनी हैं वहाँ संघीय नीति एकता को प्रोत्साहित करेगी। हाँ, छोटे और गरीब घटक इसके बारे में आपत्ति करेंगे। जहाँ समेकन से लाभान्वित होने वाले घटक बड़े तो हैं परन्तु अपेक्षाकृत अमीर नहीं हैं, वहाँ अगर संघ निर्माण संभव भी हुआ तो अस्थिर रहेगा, क्योंकि अपेक्षाकृत अमीर छोटे घटकों को संघ में शामिल होने के लिए प्रेरक कारण नहीं प्रतीत होगा। जहाँ लाभ छोटे और अमीर घटकों के भाग्य में बदा हो, वहाँ भी संघ शिथिल अथवा अस्थिर होगा, क्योंकि बड़े घटक समेकन को सीमित करने के बारे में अपनी शक्ति का उपयोग करेंगे। अन्त में जहाँ लाभ छोटे घटकों को होता है वहाँ निर्णायक कारण यह होगा कि क्या बड़े अमीर घटक अपनी सापेक्ष आर्थिक वरिष्ठता को त्यागने के लिए तैयार होंगे ?

राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का दूसरा व्यापक पक्ष घटकों की सामान्य सामाजिक आर्थिक और प्रशासनिक मानकों की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति है। आंशिक रूप से यह प्रवृत्ति आर्थिक एकता के परिणामस्वरूप आयेगी। अगर लोग तथा अन्य आर्थिक साधन ऐसी दिशा में अग्रसर होते हैं जहाँ उन्हें अधिक प्रतिफल प्राप्त हो सकता है, वहाँ बाजार-शक्तियाँ कुछ इस प्रकार से सक्रिय होंगी कि समूचे संघ में मानकों के क्षेत्रगत अन्तर कम हो जायेंगे। यदि पूर्ण प्रतियोगिता, कारकों की पूर्ण संचालन शीलता और घटकों के बीच समता की स्थिति विद्यमान हो, तो प्रतियोगिता के फलस्वरूप समूचे संघ में एक-से राष्ट्रीय मानकों की स्थापना हो सकती है। फिर भी व्यवहार में जहाँ घटकों के बीच असमताएँ होती हैं, वहाँ निर्धन या पिछड़े घटक धनी घटकों के उच्चतर स्तरों का मुकाबला नहीं कर सकते। इसका परिणाम यह होता है कि या तो प्रतियोगिता के मार्ग में बाधाएँ खड़ी हो जाती हैं और या जो घटक प्रतियोगिता के मैदान में खड़े नहीं हो सकते, वे समझने लगते हैं उन्हें तो संघ में सम्मिलित होने से नुकसान ही नुकसान हुआ है। पड़ोसियों के साथ प्रतिस्पर्धा का भी यही प्रभाव होता है। जिस सीमा तक संघ राष्ट्रीय संचार-व्यवस्था के विकास द्वारा घटकों को एक-दूसरे के निकट लाता है और लोगों को एक-स्थान से दूसरे स्थान आने-जाने की सुविधाएँ प्रदान करता है, उस सीमा तक कुछ क्षेत्रों में पिछड़े हुए घटक अधिक उन्नत घटकों के उच्चतर स्तरों से अवगत हो जाते हैं और प्रयत्न करते हैं कि अपने गैर-सरकारी उपभोग, सार्वजनिक

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सेवाओं तथा प्रशासन में वही स्तर प्राप्त कर। अगर कुछ घटक उन स्तरों को प्राप्त नहीं कर पाते हैं, तो संघ द्वारा प्रदर्शन प्रभाव उन घटकों में असन्तोष की भावना पैदा कर सकता है, भले ही वे घटक वास्तव में संघ के परिणामस्वरूप इतने खस्ता हाल न हों (और हो सकता है कि वे और भी अधिक अच्छे हों।'[16] प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा के प्रभावों से जन्य असन्तोष से उत्पन्न अस्थिरता को दूर करने का उपाय यह है कि विभिन्न घटकों में केन्द्रीय सरकार के माध्यम से राजस्व का पुनर्वितरण किया जाए। यहाँ फिर सापेक्ष आकार और सम्पदा के प्रभावों का अत्यधिक महत्त्व होगा। एक बड़ा सम्पत्तिवान घटक बिना कोई बड़ा बलिदान किये छोटे घटक की सहायता कर सकता है, परन्तु एक छोटे अमीर घटक (अथवा कई गरीब घटकों में एक अमीर घटक) के सामने राजस्व के पुनर्वितरण की समस्याएँ आ सकती हैं जिन्हें वह बिना पर्याप्त बलिदान के नहीं सुलझा सकता है।

प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा की स्थितियों में राष्ट्रीय पुनर्विन्यास का यह प्रभाव होता है कि स्तरों का ऊपर की दिशा में सामंजस्य किया जाए अर्थात वेतन तथा सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में उच्चतर स्तरों को प्राप्त किया जाए और कीमतों तथा करों में कमी की जाए। राष्ट्रीय पुनर्विन्यास के तीसरे व्यापक कारण-अभिप्रेरण के बारे में स्थिति भिन्न है। प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा की शक्तियाँ घटक के बाहर पाये जाने वाले मानकों की प्रतिक्रिया के रूप में घटक के भीतर परिवर्तन के लिए दबाव पैदा करती हैं लेकिन अभिप्रेरण का अर्थ यह है कि घटक के ऊपर बाहर से यह दबाव पड़ता है कि वह उन 'राष्ट्रीय' मानकों तक पहुँचने का प्रयास करे जो अन्य घटकों अथवा केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत पाए जाते हैं। कुछ नए संघों में, जहाँ समाज की बहुलता राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक रही है, किन्हीं राष्ट्रीय मानकों को स्वीकार करना (यथा राष्ट्रीय भाषा अथवा धर्म) संघीय समझौते का ही अंग समझा जाता है। यद्यपि ऐसे मामलों में कथित लक्ष्य सत्ता का उन्नयन करना है, लेकिन इसका स्वीकृत प्रभाव यह होता है कि जिन दुर्बल समुदायों में सौदेबाजी की शक्ति नहीं होती, उनके ऊपर प्रतिबन्ध लग जाते हैं, जिससे कि अधिक सौदेबाजी की शक्ति वाले समुदायों के स्वार्थों को सिद्ध किया जा सके। दूसरे शब्दों में, अभिप्रेरणा का प्रभाव इतना अधिक स्तरों का ऊपर की ओर समायोजन करना नहीं है (यद्यपि ऐसा हो अवश्य सकता है) जितना कि छोटे घटकों को बड़े घटकों के मानकों के अनुरूप ढालना। यदि अभिप्रेरणा सफल है, तो छोटे घटक अपनी अलग सत्ता खो बैठते हैं। यदि यह सफल नहीं है तो यह घटकों के बीच के अन्तरों को और भी उजागर कर देती है और इससे शायद राजनीतिक अस्थिरता को बढ़ावा मिलता है।

3. संघीय प्रणालियों की स्थिरता

जब किसी संघ के विभिन्न घटक एक संघ के निर्माण के लिए एकत्रित होते हैं तो

---

[16] एच० जी० जॉनसन की टिप्पणी से तुलना कीजिये, 'कोई घटक जाहिरा तौर पर पहले की अपेक्षा अधिक अच्छा है, इस तथ्य से उसके इस विचार पर कोई प्रतिबंध नहीं लगता कि अगर उसने यह बलिदान न किया होता तो यह और भी अधिक अच्छा होता।' 'सिम्पोजियम ऑन द रिपोर्ट ऑफ द ट्रेड एंड टैरिफ्स कमीशन' '(कॉफट्स रिपोर्ट) : कमेन्ट' 'सोशल एंड इकॉनामिक स्टडीज' 9, 1 (मार्च, 1970), 4।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उनका एक प्रकार से कायाकल्प हो जाता है और उनका नये नियमों तथा नई परिस्थितियों के ढाँचे में समायोजन होता है। यदि संघ निर्माण की प्रक्रिया में घटक इस परिवर्तन के प्रभावों का यथार्थ में पूर्वानुमान कर लेते हैं और यदि सभी घटक अपनी इच्छानुसार संघ में शामिल होते हैं तो संघों में अस्थिरता के प्रदर्शन का कोई कारण नहीं हो सकता है। वस्तुतः संघीय और लगभग संघीय प्रयोगों के सर्वेक्षण से यह पता चलता है कि संघवाद में अस्थिरता तो अन्तर्निहित ही है। अमरीकी और स्विस संघों को केवल गृहयुद्ध की कीमत पर ही बनाये रखा गया; आस्ट्रेलियाई संघ को 1920 और 1930 में पृथक्तावादी आन्दोलनों का सामना करना पड़ा; कनाडा में मेरीटाइम्स और क्वेबेक के बारे में पृथक्ता की चर्चा अक्सर सुनने में आती रही है; संघीय वाइमार गणराज्य का स्थान एकात्मक राज्य ने ले लिया; नवीनतर संघीय प्रयोगों में, संघीय संरचनाओं को इन्डोचाइना, फ्रेंच पश्चिमी अफ्रीका, फ्रेंच भूमध्यीय अफ्रीका में ध्वस्त कर दिया गया, माली संघ और केन्द्रीय अफ्रीका गणराज्यों का संघ दोनों ही असफल हो गए, कांगो की प्राथमिक संघीय संरचना ढह गई, जोर्डन और ईराक का अरब संघ भी शीघ्र ही समाप्त हो गया; मिश्र और सीरिया का संयुक्त अरब गणराज्य के रूप में संघ पहले तो तेजी से एकात्मक राज्य की ओर अग्रसर हुआ, परन्तु फिर सीरिया के अलग हो जाने के कारण यह संघ ही समाप्त हो गया; दक्षिणी अरब में भी संघीय शासन प्रणाली को अधिक सफलता नहीं मिली, और नाइजीरिया में तो इसे प्रभावी रूप से असफलता ही हाथ लगी, रोडेशिया और न्यासालैंड में यह असफल रही; पूर्वी अफ्रीका में इसे प्राप्त ही नहीं किया जा सका, वेस्ट इन्डीज के संघ का विघटन ही हो गया, और पूर्वी केरीबियन संघ निष्फल सिद्ध हुआ, सिंगापुर मलेशिया से विलग हो गया, इन्डोनेशिया, बरमा और लिबिया ने एकात्मक राज्य के लिए संघीय शासन प्रणाली को तिलांजलि दे दी, और इसी प्रकार ईथोपिया ने एरिट्रिया को आत्मसात कर लिया, और पाकिस्तान ने संघवाद को 'निलम्बित' रखा।

नये संघों में प्रेक्षित अस्थिरता का एक कारण शायद यह है कि अस्तोन्मुख उपनिवेशी शक्तियों ने संघवाद का उपयोग छोटे निर्धन क्षेत्रों को स्वतन्त्रता प्रदान करने से पूर्व जीवन दायिनी शक्ति प्रदान करने के लिए किया, भले ही सिंहावलोकन करते हुए हम यह कह सकते हैं कि कुछ नए स्वतन्त्र राज्यों में राजनीतिक स्थिरता की आभासी अपेक्षाएँ अधपकी सी प्रतीत होती हैं।[17] परन्तु प्राचीनतम संघों में भी ज्यों-ज्यों संघवाद की गत्यात्मकता समाप्त होती गई, त्यों-त्यों यह प्रारंभिक आशावाद और विश्वास भी समाप्त होता गया कि समय आने पर घटकों में विभेदों के कारण उत्पन्न कठिनाईयाँ दूर हो जायेंगी। इसके साथ ही 'स्थिर' संघों में कई ऐसी अभिकेन्द्रीय प्रवृत्तियाँ देखने में आई हैं जिनसे कई लेखकों को यह शंका होने लगी है कि क्या वास्तव में वे संघीय राज्य हैं ?

इस लेख की यह युक्ति है कि गत्यात्मक सन्दर्भ में इस अस्थिरता के कारण संघीय निर्णय प्रक्रिया में खोजे जा सकते हैं। जब घटक संघ का निर्माण करते हैं, तब उनका काया-कल्प हो जाता है। यह कायाकल्प कुछ तो इसलिए हो जाता है कि वे अपना अधिकार-क्षेत्र

[17] डब्ल्यू० पी० कर्कमेन ने ब्रिटिश नीति पर टिप्पणी करते हुए कहा है, 'अनुदार सरकार संघीय संकल्पना से आग्रस्त थी और वह आवेश में लगातार संघों का निर्माण करती गई।' 'अनस्क्रैम्बलिंग एन एम्पायर' (लन्दन 1966), पृ० 133।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

नयी केन्द्रीय सरकार को सौंप देते हैं जिसके ऊपर किसी एक घटक का नियन्त्रण नहीं होता। कायाकल्प का दूसरा कारण राष्ट्रीय पुनर्विन्यास की प्रक्रिया है। जैसा कि ऊपर तर्क दिया गया है, जब किसी संघ के घटक असमान होते हैं तो कुछ शर्तों के साथ केन्द्रीय सरकार के निर्णय बड़े, विशेषकर बड़े और धनी, घटकों के पक्ष में प्रतीत होते हैं ; राष्ट्रीय पुनर्विन्यास की प्रक्रिया में भी यह अपेक्षा की जाती है कि छोटे राज्य और निर्धन राज्य अपने आपको बड़े और धनी राज्यों की अवस्थाओं के अनुरूप ढालें और इस समायोजन के लिए वे शायद हमेशा तत्पर नहीं होते हैं। अतः ऐसे घटकों के बीच हितों का कड़ा विरोध होने की सम्भावना प्रतीत होती है और यह विरोध सरकारों के बीच सम्बन्धों के क्षेत्र में भी दिखायी देता है और केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत भी। इस विरोध की तीव्रता का आधार होगा घटकों के बीच प्रारम्भिक विभेद, घटकों की पारस्परिक निर्भरता की सीमा और समझौते की आवश्यकता। यदि घटकों में आपस में स्वार्थों का विरोध नहीं है, अथवा उन्हें एक सूत्र में बांधने वाली कोई प्रबल शक्ति है, तो उच्च कोटि की एकता प्राप्त की जा सकती है। संघीय शासन-प्रणाली में ऐसी केन्द्रीय प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं जिनसे कि दोनों स्तरों पर सरकारें अधिक घनिष्ठ रूप से एक-दूसरे पर आश्रित होती हैं और संघीय संस्थाएँ, जिनमें कि घटकों के विभाजन भी सम्मिलित हैं, क्षीण हो सकती हैं। यदि इनमें प्रबल विरोध हो तो परिणाम अधिकांश रूप में सरकारों की सम्भाव्य शक्ति पर आधारित होगा।[18] जहाँ घटकों में स्पष्ट असमानताएँ विद्यमान हों, और उनकी शक्ति सम्भावनाओं में भी विभेद हो, तो संघ के जीवनभर में चार प्रकार के परिणामों के घटित होने की सम्भावना हो सकती है। सरलता के लिए यदि हम दो घटकों के संघ को आधार मान लें तो,

(1) जहाँ एक छोटे निर्धन घटक का एक बड़े अमीर घटक से मुकाबला है, तो आम प्रवृत्ति यह होगी कि संघ पर उसे बड़े अमीर घटक का प्रभुत्व होगा। ऐसी स्थिति में (क) छोटे, गरीब घटक के छोटा और गरीब होने के कारण उसके सामने, इसके अलावा और कोई चारा नहीं रहेगा कि वह बड़े घटक का प्रभुत्व स्वीकार करे (हो सकता है कि उसे संघ छोड़ने से मना किया जाये) और वह आहिस्ता-आहिस्ता ऐसे राष्ट्र का अभ्यस्त हो जाये, जिसके रूप का निर्धारण बड़े घटक की इच्छा के अनुसार हो (अतः यह उसी स्थिति के समान है, जहाँ पर कि हितों का प्रबल विरोध न हो)[19] अथवा (ख) छोटा घटक संघ से ही अलग हो जाये। (2) जहाँ एक छोटे और अमीर घटक का बड़े और गरीब घटक से मुकाबला है, वहाँ (क) छोटे घटक को कुछ क्षेत्रों में बड़े और गरीब घटक का बड़ा आकार होने के कारण बड़े का प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ता है और वह स्वयं अपनी सम्पत्ति साधनों के कारण अन्य क्षेत्रों में हावी हो सकता है (और शायद ऐसा करते हुए वह बड़े घटक को छोटे घटक से अधिक ऊँचे भौतिक स्तर प्राप्त करने में सहायता प्रदान कर सकता है)। इसके फलस्वरूप ऐसे स्थायी संघ का निर्माण किया जा सकता है, जिसमें कि दोनों घटक अपने अस्तित्व को एक-दूसरे में विलीन कर देते हैं अथवा

---

[18] सरकार की शक्ति सम्भावनाएँ सांविधानिक अथवा अन्य नियमों द्वारा तथा सरकार की सौदेबाजी की क्षमताओं द्वारा निर्धारित की जाती हैं। इन संकल्पनाओं पर 'फेडरलिज्म और फिस्कल एडजस्टमेंट', अध्याय (1) में विस्तार से विचार किया गया है।

[19] चरम अवस्था में छोटे घटकों के प्रतिरोध करने के प्रयास का परिणाम ऐसी स्थिति में हो सकता है, जिसमें संघ में छोटे घटकों को दिये गये रक्षोपायों से वंचित किया जा सकता है और संघवाद का स्थान एकात्मक राज्य ले सकता है (यथा बरमा और इण्डोनेशिया)।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

(ख) छोटा और अमीर घटक संघ में शामिल होने के लाभों को अपर्याप्त समझकर संघ से अलग होने का प्रयत्न कर सकता है, क्योंकि उसके विचार में निर्णय शक्ति के ह्रास से अधिक हानि की सम्भावना है। यदि संघ में शामिल घटकों की संख्या दो से अधिक है (और शर्त यह है कि वे घटक दो अलग-अलग खण्डों में विभक्त न हों, जैसे संयुक्त राज्य अमरीका अथवा नाइजीरिया

तालिका 1

	एक घटक प्रभुत्व स्वीकार करता है या घटक अपने अस्तित्व का एक-दूसरे में विलय कर देते हैं—केन्द्र अभिसारी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हैं या संघ एकात्मक राज्य के लिए स्थान रिक्त कर देता है	अलग होने की प्रवृत्ति
छोटे और गरीब घटक बनाम बड़े और अमीर घटक	गृहयुद्ध के उपरान्त अमरीका कनाडा के मेरीटाइम्स और प्रायरी प्रान्त आस्ट्रेलिया रूसी सोवियत संघीकृत समाजवादी गणराज्य—सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (इण्डोनेशिया) (बर्मा) (लीबिया) (इथ्योपिया-एरिट्रिया)	गृहयुद्ध से पूर्व अमरीका कनाडा मेरीटाइम्स, 1920–1930 पश्चिमी आस्ट्रलिया और तस्मानिया, 1920–1930, 1930–1940 रोडेशिया और न्यासालैण्ड संघ में न्यासालैण्ड पूर्वी अफ्रीका में संघ निर्माण की असफलता
छोटे और अमीर घटक बनाम बड़े और निर्धन घटक या एक बड़ा अमीर घटक बनाम कई छोटे निर्धन घटक	पाकिस्तान (1958–63)	कांगों में कटांगा मलेशिया में सिंगापुर उत्तरी रोडेशिया नाइजीरिया में पूर्वी क्षेत्र (बियाफ्रा) फ्रेंच भूमध्यीय अफ्रीका में गाबोन फ्रेंच पश्चिमी अफ्रीका में सिनेगाल और आइवरी कोस्ट* संयुक्त अरब गणराज्य में सीरिया वेस्टइण्डीज संघ में जमैका भूमध्यीय गिनी में फनीन्डोयू

* कुल आय के आधार पर बड़ा, परन्तु दोनों इलाकों में कुल मिलाकर मुश्किल से 25% आबादी थी।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

में) तो परिणामों के इस विवरण में दो संशोधन करने की आवश्यकता है। एक तो यह कि इन विभेदों में कम ध्रुवीकरण की सम्भावना है और इसलिए हो सकता है कि हितों का विरोध भी इतना अधिक व्यक्त न हो और इसके परिणामस्वरूप स्थायित्व की अधिक सम्भावनाएँ हो सकती हैं। दूसरे यदि संघ में दो से अधिक घटक हों तो जो घटक अन्य किसी घटक की अपेक्षा बड़ा और धनी हो वह अन्य सारे (या उनमें से कुछ) घटकों के योग से तो छोटा ही होगा परन्तु उस स्थिति में परिणाम 2 क या 2 ख जैसा ही होगा।

सारिणी 1 में कुछ विद्यमान संघों और हाल ही के संघीय अथवा संघीय प्रकार के प्रयोगों के अनुभव पर इस विश्लेषण को लागू करने का प्रयास किया गया है। यह सारिणी निश्चित रूप से तथ्यों का अत्यन्त सरलीकरण है और इसमें वे मामले भी शामिल हैं जिनमें आकार और सम्पदा के आधार पर असमताएँ ही केन्द्र अभिसारी और पृथक्तावादी प्रवृत्तियों के लिए उत्तरदायी नहीं थीं।[20] इन मामलों के वर्गीकरण से पता चलता है कि छोटे और बड़े और अमीर घटकों की स्थितियों में (ऊपर की पंक्ति) केन्द्रीकरण अत्यधिक सम्भाव्य परिणाम हो सकता है—यद्यपि शिखर के बायें हाशिये के अधिकांश देशों को ऐसी अवस्था से गुजरना पड़ा, जिनमें पृथक्तावादी शक्तियाँ प्रबल थीं, और कुछ मामलों में तो अलगावकारी शक्तियों के कारण ही बाध्यकारी केन्द्रीकरण का मार्ग अपनाना पड़ा। छोटे और अमीर, बड़े और निर्धन प्रकार के देशों का यह साक्ष्य प्रबल है कि छोटे घटकों में पृथक्ता की मांग प्रबलतम थी, नीचे के बाएँ हाशिये के अधिकांश देशों में शून्यता की स्थिति दृष्टिगत होती है। इस प्रकार की संघीय व्यवस्था स्पष्ट ही अत्यधिक अस्थिर रहती है।

जो संघ पूरी तरह से इस वर्गीकरण के भीतर भी नहीं आते हैं और इस प्रकार वे स्थायी संघ होने का दावा कर सकते हैं, उनके मामले भी उतने ही मनोरंजक हैं। इसके प्रमुख अपवाद हैं: स्विट्जरलैण्ड, यूगोस्लाविया, मलेशिया में सबाह और सारावाक की विशेष स्थिति, शायद सोमालिया और केमेरॉन (यद्यपि इन्हें बायीं ओर ऊपर के कोष्ठ में शामिल किया जाना चाहिए), और कुछ सीमा तक 1960 से पूर्व का नाइजीरिया। इसकी एक सम्भाव्य व्याख्या यह हो सकती है कि इन सभी मामलों में एकता के लिए प्रबल प्रेरणास्रोत रहे हैं (बाह्य धमकियाँ, उपनिवेशवादी शासन से मुक्ति पाने की इच्छा)। परन्तु इनके साथ-साथ स्पष्ट राष्ट्रीय और जातीय विभेद भी प्रमुख रहे हैं, जिन्हें सान्निध्यपूर्ण एकीकरण की राह के रोड़े कहा जा सकता है (दूसरे शब्दों में पूर्ण संघीयता की शर्त (ख) और (ग) पर्याप्त रूप से उपयुक्त हैं)। साथ ही इनमें से सोमालिया और केमेरॉन छोटे और गरीब, बड़े और अमीर प्रकार के उदाहरण हैं। स्विट्जरलैण्ड और यूगोस्लाविया भी इस गुट में पूरी तरह खप जाते हैं (बोनियो राज्य की अलग और विशेष स्थिति है, देखिये टिप्पणी 11) और यह प्रकट करते हैं कि इस प्रकार की संघीय व्यवस्था में संघीय सरकार के संचालन के लिए अत्यधिक अनुकूलतम परिस्थितियां पायी जाती हैं।

भारत, पश्चिमी जर्मनी और मलाया भी अपवाद प्रतीत होंगे, यद्यपि शायद इन्हें ऊपर के बाएँ कोष्ठ में डाला जा सकता है। यहाँ लातीनी अमरीकी संघों के वर्गीकरण का कोई प्रयास नहीं किया गया है। (क्योंकि उनके बारे में पूरी जानकारी उपलब्ध नहीं है), परन्तु इन्हें

[20] इनमें से अधिकांश संघों का विस्तृत विश्लेषण 'फेडरलिज्म एण्ड फिस्कल एडजस्टमेंट' में दिया गया है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भी बायीं ओर के ऊपर के कोष्ठ के अच्छे उम्मीदवार समझा जा सकता है। वाइमार गणराज्य की स्थिति विषम है। निश्चित रूप से इसके घटकों में आकार और सम्पत्ति की दृष्टि से विषमताएँ थीं और इसका स्थान भी एकात्मक राज्य ने लिया, परन्तु इन दो तथ्यों में जाहिरा तौर पर कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है।

कनाडा संघ के क्वेबेक राज्य का भी प्रसंग रोचक है। अपने अधिकांश इतिहास में इसने एक प्रभुत्वकारी बड़े अमीर घटक की भूमिका अदा की है। इसकी युद्धोत्तरकालीन पृथक्ता की प्रवृत्ति एकमात्र आकार का ही परिणाम प्रतीत होती है। एक बड़ा घटक उन अन्य सभी घटकों के प्रभाव का प्रतिरोध करता है जो मिलकर उससे कहीं बड़े हो जाते हैं (हाँ, कुछ सीमा तक फ्रांसीसी कनाडा का प्रभाव घटकों की सीमाओं को पार कर जाता है)। परन्तु यह दृष्टव्य है कि पृथक्तावादी आन्दोलन का विकास संघ में क्वेबेक की सापेक्ष समृद्धि और सम्पत्ति के उल्टे अनुपात में हुआ।

निष्कर्ष

हाल की लोकप्रियता के बावजूद, संघीय सरकार राजनीतिक संगठन का कोई स्थायी प्रकार सिद्ध नहीं हुआ है। गत्यात्मक प्रसंग में संघीय निर्णय निर्माण की संरचना में अस्थायित्व अन्तर्निहित है। यद्यपि कुछ समय के लिए पृथक्ता और केन्द्रवाद की शक्तियों के बीच सन्तुलन उपलब्ध किया जा सकता है, परन्तु अधिकांश स्थितियों में संघीय सरकारें या तो पृथक्तावादी प्रवृत्तियों के आगे झुक जाती हैं या उनमें राष्ट्रीय एकता की प्रगति होती है। जब संघीय सरकारें पृथक्तावादी प्रवृत्तियों के आगे झुकती हैं तब दो परिणाम सामने आते हैं—या तो उनका विघटन हो जाता है या सबल घटक जोर-जबर्दस्ती से दुर्बल घटकों को एकता के सूत्र में बाँधे रखते हैं। जब संघीय सरकारों में राष्ट्रीय एकता की प्रवृत्ति बल पकड़ती है, तब मूल संघीय स्वरूप राजनीतिक यथार्थ के प्रसंग में अधिकाधिक निरर्थक होता जाता है। संघ का परिणाम कई कारकों के आधार पर निर्धारित किया जाता है—घटकों के बीच प्रारम्भिक भेद, प्रारम्भिक संघीय व्यवस्था के रूप, संघ के सदस्यों की पारस्परिक निर्भरता की सीमा और एकता की आवश्यकता की सीमा। घटकों के सापेक्ष आकार और धन-सम्पदा का संघ के परिणाम पर महत्त्वपूर्ण और पर्याप्त व्यवस्थाबद्ध प्रभाव होता है। साक्ष्य से यह व्यंजित होता है कि सामान्यतया जब बड़े और अमीर घटकों के मुकाबले में छोटे और गरीब घटक होते हैं, तो संघ के बने रहने की पर्याप्त गुंजाइश होती है, परन्तु सम्भाव्य परिणाम ऐसा केन्द्रीकरण होता है जिसमें कि बड़े एकक का प्रभुत्व हो। चरम स्थिति में संघवाद का स्थान एकात्मक राज्य ले सकता है। इसके विपरीत जब छोटे और अमीर घटकों के मुकाबले में बड़े और गरीब घटक हों, तो छोटे घटकों में संघ से अलग हो जाने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारतीय राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री के पारस्परिक सम्बन्ध

जय नरायण लाल

कांग्रेस पार्लियामेन्टरी बोर्ड द्वारा डा० नीलम संजीव रेड्डी को पिछले राष्ट्रपति के चुनाव में अपना उम्मीदवार नामांकित किये जाने के फलस्वरूप कांग्रेस पार्टी में फूट पैदा हुई और उसने ऐसे गत्यवरोधों को जन्म दिया है जो प्रधानमन्त्री तथा राष्ट्रपति के आपसी सम्बन्धों पर काफी प्रकाश डालते हैं।

भूतकाल में प्रधानमन्त्री तथा राष्ट्रपति के सम्बन्ध काफी अच्छे रहे हैं—राष्ट्रपति के राज्य के सांविधानिक प्रमुख के रूप में तथा प्रधानमन्त्री के वास्तविक शासक के रूप में। इस बात से अनेक व्यक्तियों का यह विश्वास बन गया है कि इस प्रकार का सम्बन्ध वैसा नहीं है जैसा कि संविधान निर्माताओं ने चाहा था और यह कि इस बात की पुष्टि पिछले 19 सालों की परम्पराओं से की जा सकती है। लेकिन कोई भी समझदार व्यक्ति अब इस बात पर विश्वास करने को तैयार नहीं है, विशेषकर इसलिए, कि चतुर्थ साधारण निर्वाचन के बाद बहुत सी परम्पराएँ विलुप्त हो गयी हैं और बहुत सी ऐसी घटनाएँ घट गयी हैं—केन्द्र तथा राज्य दोनों में—जो संविधान निर्माताओं की इच्छा के विरुद्ध बैठती हैं।

इन दो उच्चाधिकारियों के आपसी सम्बन्धों को ठीक प्रकार से समझने के लिए हमें उनके आपसी सम्बन्धों का निरूपण करने वाले विविध सांविधानिक प्रावधानों की ओर ध्यान देना होगा और उनके सम्बन्धों को व्यवहार में लाने वाले संविधानेतर तत्त्वों का विश्लेषण करना होगा।

प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त होता है तथा उसके प्रसाद पर्यन्त पद पर बना रहता है। किन्तु संविधान में इस बात का शाब्दिक अनुलेख कहीं नहीं है कि राष्ट्रपति का यह स्वनिर्णय अथवा विवेक सीमित है और न ही संविधान में इस पद के लिए किन्हीं विशिष्ट अर्हताओं अथवा योग्यताओं का उल्लेख किया गया है। फिर भी संविधान के कुछ अनुच्छेदों से स्पष्ट है कि राष्ट्रपति का विवेक अथवा स्वनिर्णय निर्बाध नहीं है, चाहे वह प्रथम दृष्टि में ऐसा लगता हो क्योंकि संविधान के अनुसार प्रधानमन्त्री को दो प्रतिबन्धों का अवश्य पालन करना होता है। प्रथमतः उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त करना होता है। ऐसा इसलिए है कि मन्त्रिमण्डल को, जिसका वह प्रमुख होता है लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी करार दिया गया

[1] अनुच्छेद 75 (1) तथा (2), 'भारत का संविधान'।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

है।[2] दूसरे, उसे लोकसभा का सदस्य होना चाहिए या उसे मन्त्री होने के छः महीने तक लोकसभा का सदस्य निर्वाचित हो जाना चाहिए क्योंकि संविधान में ऐसी व्यवस्था है कि यदि कोई मन्त्री अपनी नियुक्ति के छः महीने के अन्दर संसद का सदस्य नहीं बन जाता[3] तो वह मन्त्री पद पर नहीं रह सकता। 'मिनिस्टर' शब्द प्रधानमन्त्री के लिए भी लागू है, इससे यह स्वतः अपेक्षित है कि प्रधानमन्त्री में भी वे अर्हताएँ प्राप्त होनी चाहिएँ जो कि किसी संसद सदस्य के लिए अपेक्षित हैं।

इन अर्हताओं की सीमा में राष्ट्रपति किसी को भी प्रधानमन्त्री नियुक्त करने के लिए स्वतन्त्र है। उदाहरणस्वरूप, वह किसी ऐसे व्यक्ति को प्रधानमन्त्री नियुक्त कर सकता है जो थोड़े समय के लिए संसद का सदस्य नहीं है, या जो राज्यसभा का सदस्य है, या राष्ट्रपति उसकी नियुक्ति के बाद उसे राज्यसभा के सदस्य के रूप में मनोनीत कर दे। संविधान में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है जो परिस्थितियों की मांग पर राष्ट्रपति को उपर्युक्त रास्तों के अपनाने से रोक सके। इतना ही नहीं, यदि राष्ट्रपति आवश्यक अथवा समुचित समझे तो ऐसे व्यक्ति को भी प्रधानमन्त्री नियुक्त कर सकता है जिसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त नहीं है। ऐसा व्यक्ति नियुक्त किये जाने के बाद तब तक प्रधानमन्त्री के रूप में कार्य किये जा सकता है जब तक उसे लोकसभा का सामना न करना पड़े और ऐसा वह छः मास तक सुगमता से कर सकता है। यह बात कि प्रधानमन्त्री को लोकसभा का विश्वास प्राप्त है या नहीं छः महीने बाद ही स्पष्ट हो सकेगी, किन्तु उस अवधि में राष्ट्रपति, यदि वह चाहे तो, ऐसे कदम उठा सकता है जिनसे प्रधानमन्त्री को लोकसभा का विश्वास प्राप्त हो जाये।

वास्तविक व्यवहार में इस विषय में राष्ट्रपति का निर्णय सामान्यतः सीमित है, सांविधानिक प्रविधियों के ही कारण नहीं, बल्कि व्यावहारिक राजनीति की जटिलताओं के फलस्वरूप। यदि किसी राजनीतिक दल को लोकसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त है तथा उसका कोई स्वीकृत नेता है तो राष्ट्रपति से आशा की जा सकती है कि वह उस बहुमत प्राप्त दल के नेता को प्रधानमन्त्री नियुक्त करे, भले ही वह तत्काल संसद का सदस्य न भी हो, या राज्य सभा का ही सदस्य हो। ऐसी परिस्थिति उस समय वास्तव में उपस्थित हो गयी थी जब श्री लाल बहादुर शास्त्री की मृत्यु के बाद कांग्रेस पार्टी ने, जो कि लोकसभा में बहुमत में थी, नेता के रूप में श्रीमती इन्दिरा गाँधी को निर्वाचित किया था। यदि किसी दल को बहुमत प्राप्त नहीं है, या बहुमत दल का स्वीकृत नेता नहीं है, तो राष्ट्रपति को ऐसे किसी भी व्यक्ति को प्रधानमन्त्री नियुक्त करने का अधिकार है जो उसके (राष्ट्रपति के) विवेक में लोकसभा का विश्वास प्राप्त कर लेगा। जब राजनीतिक परिस्थिति प्रधानमन्त्री के चुनाव को स्पष्ट नहीं करती तो उस दशा में संविधान राष्ट्रपति से आशा करता है कि वह अपने विवेक का प्रयोग करे।

पश्चिमी प्रजातन्त्रों की कतिपय प्रथाओं के समर्थकों के अनुसार प्रधानमन्त्री को, प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों के अनुसार निचले सदन अर्थात् लोकसभा से सम्बन्धित होना चाहिए। लेकिन संविधान राज्य सभा के किसी भी सदस्य को प्रधानमन्त्री बनने से रोक नहीं

---

[2] अनुच्छेद 75 (3), वहीं।

[3] अनुच्छेद 75 (5), वहीं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सकता। इसके अतिरिक्त दो और ऐसे तत्व हैं जो यह व्यंजित करते हैं कि प्रधानमन्त्री का लोकसभा का ही सदस्य होना अनिवार्य नहीं है। प्रथम, भारत में इंग्लैंड के विपरीत, प्रधान-मन्त्री, यदि वह राज्य सभा से सम्बन्धित है तो भी लोकसभा में प्रश्नों का उत्तर देने, नीतियों की व्याख्या करने तथा वाद-विवाद और निर्णयों में भाग लेने के रूप में उपलब्ध होगा।[4] द्वितीय, राज्यों द्वारा अपनायी गयी प्रथाओं ने स्पष्ट रूप से यह दिखा दिया है कि दल का नेता अनिवार्यतः निचले सदन का सदस्य हो, आवश्यक नहीं है।[5] संघ सरकार में भी यह बात उस समय स्पष्ट हो गयी जब राज्य सभा की सदस्या श्रीमती इन्दिरा गांधी को जनवरी, 1966 में प्रधानमन्त्री नियुक्त किया गया।

राष्ट्रपति को इस सम्बन्ध में अभी तक कोई विशेष परेशानी नहीं उठानी पड़ी है। जब तक श्री जवाहरलाल नेहरू जीवित थे, उन्हें अपने दल में अप्रतिवादित स्थान के कारण तथा संसद में उनके दल की स्थिति के कारण उनका स्थान सुस्पष्ट एवं निर्विवाद था, यद्यपि प्रत्येक लोकसभा के किये गये सामान्य निर्वाचन के बाद वे औपचारिक रूप से संसद में कांग्रेस पार्टी के नेता के रूप में चुने जाते थे। जब 27 मई, 1964 को उनकी मृत्यु हुई तब राष्ट्रपति के सामने यह निश्चित समस्या थी कि प्रधानमन्त्री किसे नियुक्त किया जाये। श्री जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु के कुछ घण्टों के भीतर ही, राष्ट्रपति ने श्री गुलजारी लाल नन्दा को प्रधान-मन्त्री के रूप में नियुक्त किया जो पुराने मन्त्रिमण्डल के वरिष्ठतम मन्त्री थे।[6] यह उल्लेखनीय है कि वह दल के मान्य नेता नहीं थे जैसा बाद की घटनाओं ने सिद्ध कर दिया था। या तो उन्हें प्रधानमन्त्री इसलिए नियुक्त किया गया कि वह निर्गामी मन्त्रिमण्डल के सबसे वरिष्ठ सदस्य थे या उस समय प्रचलित रिपोर्टों के अनुसार उन्हें नियुक्त करने के लिए पुराने मन्त्रिमण्डल के सदस्यों द्वारा संकेत किया गया था। निःसन्देह, राष्ट्रपति द्वारा अपनाये गये इस कदम ने राष्ट्र को अनेक अनावश्यक कष्टों से बचाया। लेकिन यह विवाद का विषय है कि राष्ट्रपति सबसे वरिष्ठ सदस्य को प्रधानमन्त्री नियुक्त करने के लिए बाध्य था या कि उसे, जिसकी सिफारिश बर्हिगामी मन्त्रिमण्डल द्वारा की गयी थी। राष्ट्रपति पर यह कदम उठाने के लिए कोई सांविधानिक बन्धन नहीं था। पुराना मन्त्रिमण्डल जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु के साथ अस्तित्व में नहीं रहा था। वास्तव में राष्ट्रपति राजनीतिक दशा का मूल्यांकन करने तथा यह निर्णय करने में, कि कौनसा कांग्रेसी नेता लोक सभा का विश्वास प्राप्त कर लेगा, स्वतन्त्र था। अतः इस घटना से यह निष्कर्ष निकालना कि राष्ट्रपति पुराने मन्त्रिमण्डल के वरिष्ठतम सदस्य को प्रधानमन्त्री नियुक्त करने, या उसके द्वारा मनोनीत सदस्य को प्रधानमन्त्री नियुक्त करने के लिए बाध्य है, सांविधानिक तथा राजनीतिक दोनों ही दृष्टियों से युक्तिहीन है। फिर भी किसी को प्रधानमन्त्री नियुक्त करना आवश्यक था, क्योंकि यदि राष्ट्रपति बिना मन्त्रिमण्डल के देश का शासन करता तो यह असांविधानिक होता है। संविधान की यह शर्त है कि एक मन्त्रिमण्डल होगा, जिसका तात्पर्य यह है कि संविधान इस स्थिति की कल्पना नहीं करता,

---

[4] अनुच्छेद 88, वहीं।

[5] उदाहरण के लिए श्री सी० राजगोपालाचारी, तमिलनाडु (तब मद्रास) के मुख्यमन्त्री तथा श्री सी० बी० गुप्ता, उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री।

[6] 'द हिन्दुस्तान टाइम्स', 28 मई, 1964।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

जिसमें राष्ट्रपति बिना मन्त्रिपरिषद् के भी कार्य कर सकता हो। परिस्थितियों के अधीन, जब बहुमत का कोई निर्वाचित नेता नहीं था तो राष्ट्रपति, जब तक कांग्रेस पार्टी अपने नेता का चुनाव न कर लेती, सांविधानिकतः किसी को भी देश का प्रशासन चलाने के लिए प्रधानमन्त्री नियुक्त कर सकता था। उसे किसी से भी परामर्श करने अथवा न करने की छूट थी। चूंकि राष्ट्रपति ने पुराने मन्त्रिपरिषद् के वरिष्ठतम मन्त्री श्री गुलजारी लाल नन्दा की नियुक्ति की थी, इससे निश्चिततः सिद्ध नहीं होता कि वह पुराने मन्त्रिमण्डल द्वारा मनोनीत सदस्य को नियुक्त करने के लिए बाध्य था। इसके विपरीत, यह बात स्पष्टतः सामने आई कि श्री गुलजारीलाल नन्दा न तो संसद में कांग्रेस पार्टी के नेता थे और न ही वे उस पद के लिए आकाँक्षी अथवा दावेदार थे। उन्होंने यह स्वीकार किया कि वह उस समय तक के लिए जब तक कि कांग्रेस पार्टी अपना नेता नहीं चुन लेती 'दरार में घुस बैठे थे'।[7] मई 27, 1964 से जब उन्हें प्रधानमन्त्री पद की शपथ दिलाई गयी थी तब से 9 जून तक, जब श्री लाल बहादुर के प्रधानमन्त्रित्व में नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ, श्री नन्दा संसद में बहुमत दल के नेता न होते हुए भी प्रधानमन्त्री रहे। वही परिस्थिति 11 जनवरी, 1966 को श्री शास्त्री की मृत्यु के बाद उपस्थित हुई। श्री नन्दा को दोबारा भारत के प्रधान मन्त्री के रूप में शपथ दिलायी गई। क्या इससे यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि उस परिस्थिति में, जबकि नेता के बारे में निर्णय स्पष्ट न हो, राष्ट्रपति किसी को भी प्रधान मन्त्री नियुक्त करने के लिए स्वतन्त्र है ?

यह दिलचस्प बात है कि 1964 में संसद के कांग्रेसी सदस्यों सहित सभी कांग्रेसी एक मत नहीं थे कि कैसे कांग्रेस संसद दल के नेता का निर्वाचन हो। एक गुट यह चाहता था कि नेता का निर्णय संसद के कांग्रेसी सदस्यों पर छोड़ दिया जाये और दूसरा गुट चाहता था कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी नेता का मनोनयन करे। अन्त में, यह निर्णय किया गया कि कांग्रेस अध्यक्ष पता लगाये कि किस नेता को संसद में कांग्रेस सदस्यों का बहुमत प्राप्त है और वह उसके नाम संकेत करें और तब संकेतित व्यक्ति निर्विरोध संसद में कांग्रेस दल का नेता चुन लिया जाये। कांग्रेस अध्यक्ष, श्री के० कामराज, ने दल के मुख्य नेताओं से तथा राज्यों के मुख्य मन्त्रियों से परामर्श किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि श्री लालबहादुर शास्त्री को बहुमत का समर्थन प्राप्त था। उन्होंने संसद के कांग्रेसी सदस्यों पर यह तथ्य स्पष्ट किया और इन सदस्यों ने कांग्रेस के संसदीय दल की बैठक में श्री शास्त्री को सर्वसम्मति से अपना नेता चुना किन्तु 1966 में जब श्री शास्त्री जी की मृत्यु के बाद कांग्रेस पार्टी ने संसद में नियमित रूप से श्रीमती इन्दिरा गांधी को अपना नेता चुना, तब वह मतैक्य प्राप्त नहीं हो सका।

संविधान के अनुसार किसी व्यक्ति के लिए प्रधानमन्त्री के रूप में नियुक्ति के लिए विश्वास का औपचारिक प्रस्ताव आवश्यक नहीं है। कभी-कभी यह सुझाव दिया जाता है कि इस तरह के औपचारिक प्रस्ताव की व्यवस्था संविधान में कर दी जाये। किन्तु यह उपयुक्त नहीं होगा क्योंकि यह राष्ट्रपति की स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित कर देगा और किन्हीं परिस्थितियों में राष्ट्र के अत्यावश्यक हितों के लिए घातक सिद्ध होगा।

यद्यपि सामान्य प्रधानमन्त्री के पद के लिए निर्णय राष्ट्रपति द्वारा औपचारिकतः किया जाता है और संविधान उसके विवेक पर इसके अतिरिक्त कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाता कि उसे

[7] प्रधानमन्त्री, गुलजारी लाल नन्दा का राष्ट्र के नाम सन्देश 27 मई, 1964।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

(प्रधानमन्त्री के) लोक सभा का विश्वास प्राप्त होना चाहिए। तथापि व्यवहार में कुछ ऐसी बातें भी होंगी जो भारत में प्रधानमन्त्री के चुनाव को निर्धारित करेंगी। उदाहरणतया उसे अपने दल का नेता होना चाहिए। यदि लोक सभा में कोई बहुमत दल है तो उसे राज्य सरकारों का भी विश्वास प्राप्त होना चाहिये। देश के जटिल संघतन्त्र को देखते हुए प्रत्याशी अभ्यर्थियों में राज्यों के मुख्य मन्त्रियों का विश्वास एक महत्वपूर्ण घटक होगा। श्री लालबहादुर शास्त्री के चुनाव के समय यह बात प्रचुर मात्रा में देखी गयी। मुख्य मन्त्रियों ने श्रीमती इन्दिरा गांधी के चुनाव में भी अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मुख्य मन्त्रियों ने अपनी सहमति घोषित की और उनकी सहायता के लिए अपने खेमे दिल्ली में गाड़ दिये। श्री के० सन्थानम ने राज्य के मुख्य मन्त्रियों की इस भूमिका के विरुद्ध आपत्तियाँ उठाई हैं[8] किन्तु संघीय व्यवस्था में इससे बचाव सम्भव नहीं है।

प्रधानमन्त्री की पदच्युति

जहाँ तक प्रधानमन्त्री को पदच्युत करने का सम्बन्ध है, संविधान बिल्कुल स्पष्ट है कि वह राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त पदासीन रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि राष्ट्रपति किसी प्रधानमन्त्री को किसी भी समय पदच्युत कर सकता है किन्तु क्योंकि संविधान ने संसदात्मक शासन की व्यवस्था की है, और प्रधानमन्त्री तथा उसके मन्त्रिमण्डल को सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी माना है, अतः यह समझा जाता है कि राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री को पदच्युत नहीं कर सकता। केवल लोकसभा अविश्वास का औपचारिक प्रस्ताव पास करके उसे हटा सकती है। अधिकतर देशों में जहाँ संसदात्मक सरकार है, यही व्यवस्था है। संविधान-निर्माताओं ने यह आशा की थी तथा अब भी भारत में संसदात्मक प्रजातन्त्र के समर्थकों को यह आशा है कि यही व्यवस्था भारत में पनपेगी। वास्तव में बहुतों की यह धारणा है कि ऐसा संविधान के ताने-बाने में निहित है। इस तरह से पदच्युत करने का कोई अवसर अभी तक नहीं आया है किन्तु भारत में राजनीतिक उथल-पुथल को तथा विशेष कर चतुर्थ निर्वाचन के बाद राज्यों में घटी दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं को, जिनमें राज्यपालों द्वारा मुख्य मन्त्रियों की पदच्युति भी है, देखते हुए इस दावे से सहमत होना कठिन है।

ऐसी परिस्थितियों की कल्पना की जा सकती है जिनमें राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री को संविधान तथा कथित परम्पराओं के बावजूद पदच्युत कर सकता है। ऐसी परिस्थितियाँ जिनके अधीन राष्ट्रपति यह कदम उठा सकता है, समय की व्यावहारिक मांगों पर निर्भर करेंगी न कि संविधान पर।

यह कहना कि किसी प्रधानमन्त्री का पदच्युत किया जाना असांविधानिक होगा और उसके लिए राष्ट्रपति पर महाभियोग हो सकता है, विशेष महत्व की बात नहीं है, क्योंकि क्या असांविधानिक है—इस बात की असंदिग्ध व्याख्या संविधान में नहीं की गई है। राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने के लिए संसद के प्रत्येक सदन का 2/3 बहुमत आवश्यक है। यही बहुमत अन्त में राष्ट्रपति के कार्यों की सांविधानिकता पर भी निर्णय देगा। इस प्रकार यदि राष्ट्रपति इस महाभियोग से बच सकता है तो वह किसी प्रधान मन्त्री को पदच्युत कर सकता है चाहे

[8] 'द हिन्दुस्तान टाइम्स', 19 जनवरी, 1966।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उसे (प्रधानमन्त्री को) निचले सदन में बहुमत प्राप्त हो।

यह परम्परा कि राज्य का सांविधानिक अध्यक्ष किसी प्रधानमन्त्री को, जिसे निचले सदन में बहुमत प्राप्त है, पदच्युत नहीं कर सकता—राजनीति से सम्बन्धित है न कि संविधान से, क्योंकि किसी भी संविधान में यह नहीं लिखा है कि राज्य का अध्यक्ष प्रधानमन्त्री को पदच्युत नहीं कर सकता। इस मामले में राष्ट्रपति पर 'वास्तविक प्रतिबंध राजनीतिक दलों तथा जनता में मतैक्य से आता है। यदि अपने-अपने सैद्धान्तिक मतभेदों के बावजूद सभी राजनीतिक दलों तथा अधिकांश जनता का यह सुदृढ़ विचार है कि राज्य का अध्यक्ष प्रधानमन्त्री को पदच्युत नहीं कर सकता तो राष्ट्रपति ऐसा कदम कदापि नहीं उठायेगा। इंगलैण्ड में भी ऐसा ही है। क्या हमारे राजनीतिक दलों तथा हमारी जनता में इस बात पर मतैक्य है ? नहीं है, जैसा कि जनसंघ तथा स्वतन्त्र पार्टी की हाल की माँगों को देखकर; कि प्रधानमन्त्री को पदच्युत किया जाये, स्पष्ट है। ये इसमें कोई असांविधानिकता नहीं पाते, बल्कि वे अनुभव करते हैं कि राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री को पदच्युत करके अपने कर्त्तव्य का पालन करेंगे।

अन्य परिस्थितियों में महाभियोग सम्बन्धी धाराएँ इस प्रकार का उग्र कदम उठाने के लिए एक बहाने के रूप में प्रयुक्त की जा सकती हैं। उदाहरण-स्वरूप यदि कोई राष्ट्रपति यह महसूस करे कि प्रधानमन्त्री असांविधानिक रास्ते को अपनाने पर तुला हुआ है या ऐसी नीति अथवा असांविधानिक मार्ग अपना रहा है जो राष्ट्र के आधारभूत हितों के विपरीत है या अपने दल के हित, किन्तु राष्ट्र के अहित में कार्य कर रहा है, तो वह महाभियोग के ही भय से प्रधानमन्त्री को पदच्युत कर सकता है, क्योंकि यदि वह ऐसे प्रधानमन्त्री को पद पर बने रहने देता है, तो कौन जाने अन्य दल यह समझ बैठें, कि राष्ट्रपति संविधान की रक्षा करने के अपने कर्त्तव्य में चूक रहा है और इसलिए उस पर महाभियोग लगाया जाये।

इस प्रकार की दूसरी बहुत सी परिस्थितियों की कल्पना की जा सकती है जिनमें राष्ट्रपति संविधान के बावजूद और कभी-कभी संविधान के कारण भी इस प्रकार का कदम उठा सकता है। उदाहरण-स्वरूप यदि प्रधानमन्त्री के विरुद्ध अविश्वास का औपचारिक प्रस्ताव पारित हो जाने पर भी वह त्याग-पत्र न दे तो राष्ट्रपति उसे पदच्युत कर सकता है।

इस तरह के डर केवल कोरे डर नहीं हैं और दुर्भाग्यवश देश की राजनीति ऐसे समय की ओर अग्रसर हो रही है जबकि राष्ट्रपति अन्ततोगत्वा इस प्रकार का कदम उठा सकता है। इस प्रकार कदम उठाने की सम्भावना उस समय सर्वाधिक होगी जबकि राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री दो ऐसे विभिन्न दलों से सम्बन्ध रखेंगे, जिसमें स्पष्टतः पारस्परिक मतभेद हो।

प्रधानमन्त्री के कार्य

प्रधानमन्त्री को अपने प्रतिदिन के क्रिया-कलाप में राष्ट्रपति से सम्बन्ध रखने वाले निम्न कार्य करने होते हैं।

(१) प्रधानमन्त्री का संघ कार्यों के प्रशासन-सम्बन्धी मन्त्रि-परिषद् के समस्त विनिश्चयों तथा विधि-निर्माण से सम्बन्धित सभी प्रस्तावों को राष्ट्रपति के पास पहुँचाने का कर्त्तव्य है।[9] इस प्रकार प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल का सबसे प्रमुख व्यक्ति है और राष्ट्रपति तथा

[9] अनुच्छेद 78 (क), 'भारत का संविधान'।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

मन्त्रि-परिषद् के बीच संदेश का मुख्य तथा एक मात्र माध्यम है ।

(2) राष्ट्रपति के प्रति प्रधानमन्त्री का दूसरा कर्तव्य है कि वह राष्ट्रपति को, उसके आदेश पर केन्द्र के प्रशासन तथा विधान से सम्बन्धित प्रस्तावों के सम्बन्ध में कोई अन्य वांछित सूचना दे ।[10]

(3) प्रधानमन्त्री का तीसरा कर्तव्य है कि वह राष्ट्रपति के निर्देश पर मन्त्रिपरिषद् के सम्मुख पुनर्विचार के लिए ऐसे विषय रखे जिन पर किसी एक मन्त्री द्वारा निर्णय लिया गया हो, किन्तु जिन पर मन्त्रिपरिषद् द्वारा विचार न किया गया हो ।[11] इस उपबन्ध का मुख्य उद्देश्य सामूहिक उत्तरदायित्व को निश्चित करना है, किन्तु इससे राष्ट्रपति को यह शक्ति प्राप्त नहीं होती है कि वह किसी ऐसे प्रश्न को दुबारा उठा सके जिस पर मन्त्रिपरिषद् द्वारा विचार हो चुका हो और निर्णय लिया जा चुका हो । सामान्यत: यह काम प्रधानमन्त्री का है कि वह सामूहिक उत्तरदायित्व को बनाये रखे । यदि राष्ट्रपति इस विषय में न लिप्त किया गया होता तो अधिक अच्छा होता, क्योंकि राष्ट्रपति इस शक्ति का प्रयोग ऐसे ढंग से कर सकता है जिससे प्रधानमन्त्री को बहुत परेशानी हो ।

वास्तविक स्थिति

यह सत्य होते हुए भी कि संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति को विस्तृत शक्तियाँ प्राप्त हैं और प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति की इच्छा पर नियुक्त तथा पदच्युत हो सकता है व्यवहार में सम्पूर्ण राजनीतिक क्षेत्र पर प्रधानमन्त्री की ही प्रमुखता छाती आई है । राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद वह व्यक्ति नहीं थे जिन्होंने प्रधानमन्त्री को 'चुना' था बल्कि वह व्यक्ति थे प्रधानमन्त्री नेहरू जिन्होंने अपने सहयोगियों की सहयोग से राष्ट्रपति को 'चुना' था । पं० नेहरू का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि राष्ट्रपति केवल 'रबर की मोहर' होकर रह गया था । यह प्रभाव इतना जबरदस्त रहा है कि अब यह विश्वास किया जाता है कि प्रधानमन्त्री का व्यक्तित्व, राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति को निर्धारित करेगा न कि सांविधानिक धारायें ।

राष्ट्रपति को संविधान द्वारा इतने विस्तृत अधिकार मिलने के बावजूद भी, वह केवल नाममात्र का शासक रहा है । इसका उत्तरदायित्व पं० नेहरू पर है जिनका विचार था कि राष्ट्रपति का पद अत्यन्त सम्माननीय तो है, किन्तु अधिकार और शक्ति वाला नहीं । प्रधानमन्त्री कार्यकारिणी का वास्तविक प्रमुख हो गया, राष्ट्रपति ने सदैव प्रधानमन्त्री के परामर्श पर ही कार्य किया ।[12] शासन-तन्त्र में राष्ट्रपति को छाया की संज्ञा दी गई और इस तन्त्र का प्राण तत्त्व प्रधानमन्त्री को समझा गया ।[13]

किन्तु प्रधानमन्त्री नेहरू ने राष्ट्रपति को उच्चतम आदर-मान दिया और उसके पद को गरिमामय बनाने का प्रयास किया । वह राष्ट्रपति से अक्सर मिलते थे और तात्कालिक राजकीय तथ्यों तथा समस्याओं पर विचार विमर्श करते थे । वह अक्सर राष्ट्रपति को पत्र लिखते

---

[10] अनुच्छेद 78 (ख), वही ।

[11] अनुच्छेद 78 (ग), वही ।

[12] एन० डी० पामर, 'इण्डियन पोलिटिकल सिस्टम', जार्ज एलन एंड एनविन, लन्दन, 1961, पृ० 115 ।

[13] 'लोकसभा डिबेट्स', अंक 7, 1961, कालम 12439 ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

थे।[14] वह राष्ट्रपति से सामान्यतः राज्य से सम्बन्धित सभी महत्त्वपूर्ण बातों पर परामर्श करते थे। उनके पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त मित्रतापूर्ण तथा सौहार्दपूर्ण थे। फिर भी इस बात से राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री के पारस्परिक सम्बन्धों का ढाँचा स्पष्ट नहीं होता क्योंकि इन उच्च पदों पर आसीन होने के अतिरिक्त वे लोग पुराने मित्र थे जो आपसी प्रेम तथा श्रद्धा से बंधे हुए थे। उनके सम्बन्धों पर सांविधानिक धाराओं के संघात को जानना कठिन है क्योंकि पं० नेहरू का कहना था कि वे राष्ट्रपति से उनके पद की अपेक्षा एक पुराने साथी के रूप में परामर्श करते थे।[15]

नेहरू और प्रसाद के बीच स्नेहपूर्ण सम्बन्ध होते हुए भी प्रसाद नेहरू से अपने उन विचारों को प्रकट करने में हिचकते नहीं थे जिन पर उनसे उनका मतभेद था।[16] यह सर्वविदित है कि हिन्दू कोड बिल पर उनके विचार नेहरू के विचारों से भिन्न थे और उन्होंने इसे नेहरू से स्पष्ट कर दिया था। इसी तरह, उन्होंने नेहरू को एक पत्र लिखा था जिसमें उन्होंने भूमि-सुधार, सामूहिक कृषि, खाद्यान्नों का राज्य व्यापार, औद्योगिक प्रगति, बेकारी और देश की शैक्षिक पद्धति के प्रति सरकारी नीतियों की आलोचनात्मक विवेचना की थी।[17] इसी प्रकार, डा० प्रसाद सामाजिक मामलों में पं० नेहरू की उतावली और तेजी को पसन्द नहीं करते थे, वे गवर्नरों की अनुपस्थिति में उनके पद पर राज्यों के मुख्य न्यायाधीशों द्वारा कार्य किये जाने के पक्ष में नहीं थे, वे रक्षामन्त्री द्वारा विदेशों में अत्यधिक भ्रमण करने को भी पसन्द नहीं करते थे।[18] ये विचार प्रधानमन्त्री नेहरू के विचारों से भिन्न थे किन्तु इनका प्रभाव उन पर अत्यल्प अथवा नगण्य था। डा० प्रसाद इसके परे न गये क्योंकि वह किसी प्रकार का सांविधानिक संकट पैदा नहीं करना चाहते थे। यह सांविधानिकतः उचित था या नहीं, कम-से-कम इससे राष्ट्र एक सांविधानिक संकट से बच गया। फिर भी, यह सामान्य धारणा थी कि डा० प्रसाद के विचारों पर प्रधानमन्त्री ने जितना ध्यान दिया उन्हें उससे अधिक तथा सुचिन्तित ध्यान देना चाहिये था। उदाहरणतया, डा० राजेन्द्र प्रसाद ने राष्ट्रपति के रूप में प्रधानमन्त्री को चीन के षड्यन्त्रों के बारे में सामयिक चेतावनियाँ दी थीं, किन्तु प्रधानमन्त्री ने उन पर ध्यान नहीं दिया। क्योंकि चीनी षड्यन्त्रों के बारे में डा० राजेन्द्र प्रसाद का दृष्टिकोण बाद की घटनाओं के अनुसार सही बैठा अतः जनता का स्वभावतया यह विचार हुआ कि यदि उनकी बातों पर ठीक समय पर उचित ध्यान दिया गया होता तो राष्ट्र को 1962 के आक्रमण से बचाया जा सकता था। इससे प्रधानमन्त्री नेहरू के शासन काल में प्रतिष्ठित राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री के आपसी सम्बन्धों पर लोगों में स्वभावतः पर्याप्त सन्देह पदा हो गया। देश में यह बोध उत्पन्न हो गया है कि इस प्रकार के सम्बन्धों का विशिष्ट ढाँचा इसलिए प्रतिष्ठित हो गया कि डा० प्रसाद नेहरू का सामना नहीं कर सके और यह कि यदि वह समर्थ होते तो दोनों के आपसी सम्बन्धों का कोई और ही रूप उभरता।

---

[14] 'द हिन्दुस्तान टाइम्स', 8 जुलाई, 1959।

[15] 'द हिन्दुस्तान स्टैन्डर्ड', 4 मई, 1958।

[16] एन० डी० पामर, उपर्युक्त, पृ० 115।

[17] 'द हिन्दू', 20 जुलाई, 1970।

[18] श्रीप्रकाश, 'डा० राजेन्द्र प्रसाद—एक राजनीतिज्ञ के रूप में' विषय पर अंग्रेजी में लेख 'द ट्रिब्यून' 14 अप्रैल, 1963।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अतः यह कहना कठिन है कि अन्य परिस्थितियों में अवस्थित दूसरे राष्ट्रपति भी डा० राजेन्द्र प्रसाद की ही तरह उस सीमा से आगे नहीं जायेंगे जहाँ वे रुक गये थे। बहुतों का सच्चा विश्वास है कि एक सक्षम राष्ट्रपति उस सीमा से आगे बढ़ेगा और अपनी शक्तियों के बल पर अपने अधिकारों पर दृढ़ रहेगा। यह महसूस किया जाता है कि 'यदि दोनों उच्च पदों पर एक कमजोर प्रधानमन्त्री तथा एक दृढ़ निश्चयी राष्ट्रपति आसीन हो जाये तो भूमिकाओं के उल्टाव का भी भय है।'[19] हम लोग प्रधानमन्त्री द्वारा सम्पूर्ण राजनीतिक शक्ति तथा राष्ट्रपति पर अधिकार का अनुभव कर चुके हैं। अतः ऐसी परिस्थिति की कल्पना करना कुछ कठिन नहीं है जिसमें राष्ट्रपति सम्पूर्ण राजनीतिक जीवन तथा प्रधानमन्त्री पर नियन्त्रण कर ले।

यह सम्भव है कि एक राष्ट्रपति संविधान के अक्षरों पर निर्भर करे और वह अपने आपको जनता का सच्चा प्रतिनिधि मानकर समस्त शक्तियों का भण्डार मान सकता है। उसी प्रकार एक प्रधानमन्त्री अपने को संसदात्मक बहुमत का नेता मानने के बल पर तथा सांविधानिक परम्पराओं के आधार पर अपने को स्थिति का अधिपति मान सकता है और संविधान में या राष्ट्र के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में किसी प्रकार का परिवर्तन करना आरम्भ कर सकता है। किन्तु पहली बात उतनी ही गलत है जितनी दूसरी, क्योंकि दोनों ही बातों से तानाशाही का भय है, किन्तु इनमें से कोई भी बात उस समय तक वास्तविक कठिनाई पैदा नहीं कर सकती जब तक कमजोर राष्ट्रपति तथा दृढ़ प्रधानमन्त्री का (अथवा इसका उल्टा) जोड़ा उपलब्ध हो। क्योंकि हमारी कार्यपालिका में संसदात्मक और अध्यक्षात्मक दोनों प्रकार की कार्यपालिका की विशेषताओं का सम्मिश्रण है। इसलिए जब राष्ट्रपति मजबूत होगा तो वह अध्यक्षात्मक ढंग की ओर झुकेगी तथा जब प्रधानमन्त्री मजबूत होगा तो संसदात्मक ढंग की ओर झुकेगी। इस सन्दर्भ में कुछ-कुछ गम्भीरतापूर्वक यह दावा किया जाता है कि यदि जवाहरलाल नेहरू भारत के राष्ट्रपति होते तो हमारी कार्यपालिका का स्वरूप संसदात्मक नहीं रहता जैसा कि उनके प्रधानमन्त्री होने पर रहा। यह अध्यक्षात्मक ढंग की ओर झुका होता। इस प्रकार की परिस्थितियों की कल्पना की जा सकती है जिनमें संविधान की धाराओं तथा परम्पराओं में ऐसी असंगति कठिनाई का उद्गम बन सकती है।

यदि संसद में बहुत से दल हो जायें तो सुनिश्चित बहुमत दुष्प्राप्य हो सकता है। ऐसी दशा में मिली-जुली सरकार का निर्माण होगा और राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री के पदों का वितरण सम्भवतया संयुक्त मोर्चे के मुख्य घटकों के बीच हो जायेगा। मोर्चे का जबरदस्त घटक अपनी सामर्थ्य के आधार पर राष्ट्रपति पद अपने मनोनीत व्यक्ति के लिए प्राप्त कर सकता है क्योंकि वह अपेक्षाकृत अधिक निरापद पद है। 'इसके अतिरिक्त, वह (घटक) उसे (उस पद को) वास्तव में सक्षम बनाना चाहेगा जिससे वह (घटक) प्रभावशाली स्थिति में रहे।'[20] राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री का विभिन्न दलों से सम्बद्ध होना संविधान के प्रचालन में अवरोध उपस्थित कर सकता है क्योंकि तब प्रधानमन्त्री बहुत सी गुप्त सूचनायें राष्ट्रपति को देने में हिचकिचायेगा।

---

[19] एन० डी० पामर, उपर्युक्त, पृ० 115।

[20] जेड० एम० कुरेशी, 'द प्रेजीडेन्ट ऑफ इण्डिया—ए पोलिटिकल इण्टरप्रेटेशन', न्यू लिटरेचर, नई दिल्ली, अक्तूबर 1962, पृ० 36–7।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

किन्तु वास्तविक कठिनाई उस समय उठ सकती है जब राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री दोनों ही सक्षम हों और दोनों को संसद का सन्तुलित समर्थन प्राप्त हो और दोनों को राष्ट्र की प्रतिष्ठा तथा गौरव समान रूप से प्राप्त हो। ऐसी स्थिति, जिसमें राज्य सभा का बहुमत राष्ट्रपति को प्राप्त है तथा लोक सभा का प्रधानमन्त्री को, प्रधानमन्त्री तथा राष्ट्रपति के सम्बन्धों की कसौटी होगी। यह देखना होगा कि ऐसी दशा में वस्तु-स्थिति किस प्रकार का रूप धारण करती है, और प्रधानमन्त्री तथा राष्ट्रपति दोनों में कौन अधिक समर्थ होकर उभरता है। अतः यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री के बीच गत्यवरोध की स्थिति को पूर्णतया दूर नहीं किया जा सकता। 'कई बार कोई राष्ट्रपति अपनी जनतान्त्रिक अपील के कारण, जनता से प्रधानमन्त्री और उसके सहयोगियों की अपेक्षा अधिक आदर तथा समर्थन प्राप्त कर सकता है। विलोमतः प्रायः कोई प्रधानमन्त्री तथा उसके सहयोगी जनमत को राष्ट्रपति की अपेक्षा अधिक यथार्थ रूप से प्रतिबिम्बित कर सकते हैं। .... ऐसी स्थितियों में संघर्ष उत्पन्न हो सकता है जिनके समाधान में ब्रिटिश संविधान कदाचित् सहायक सिद्ध न हो।'[21] ऐसे उलझे हुए सम्बन्ध झगड़े के प्रच्छन्न कारण बन सकते हैं।[22]

सच तो यह है कि राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री दोनों के शक्ति स्रोत भिन्न-भिन्न हैं। राष्ट्रपति की शक्ति का स्रोत संविधान है जबकि प्रधानमन्त्री की शक्ति राजनीतिक तत्वों पर निर्भर करती है। यदि प्रधानमन्त्री को अपने दल का विश्वास प्राप्त है (जो लोकसभा में बहुमत में है) तो साधारणतया राष्ट्रपति को प्रधानमन्त्री के कामों में दखल नहीं देना चाहिये। विपरीततः प्रधानमन्त्री को यह पूर्ण रूप से समझ लेना चाहिये कि राष्ट्रपति संविधान की रक्षा तथा देश की सेवा करने की शपथ लिए हुए है तथा संविधान उसे उसके कर्तव्यों को पूरा करने के लिए पर्याप्त शक्तियाँ देता है और इसलिये उसे कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिये जो संविधान के भाव अथवा राष्ट्र के हितों के विपरीत हो। कोई राष्ट्रपति जो कि ऐसे प्रधान-मन्त्री के काम में अड़चन डालता है अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करेगा और प्रधानमन्त्री को त्यागपत्र देने अथवा राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने पर मजबूर करेगा। यदि प्रधानमन्त्री को देश में पर्याप्त समर्थन प्राप्त है तो इन दोनों में से कोई भी कदम राष्ट्रपति को परेशान करने वाला होगा। इसी प्रकार यदि कोई प्रधानमन्त्री जो राष्ट्र के हितों के विपरीत अथवा संविधान के सिद्धान्तों के विरुद्ध कार्य करेगा तो वह एक प्रकार से राष्ट्रपति को संविधान की रक्षा करने तथा देश की सेवा करने के उसके कर्तव्यों को पूरा करने के लिए निमन्त्रित करेगा कि वह प्रधानमन्त्री को पदच्युत करे तथा लोकसभा को भी भंग करे। यदि राष्ट्रपति दृढ़ता से कर्तव्यों का पालन करना चाहे तो वह अन्य रीतियों का भी अनुसरण कर सकता है, जैसे चेतावनी देना, सन्देश भेजना, दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाना या किसी भी सदन के निर्णय को प्रभावित करने के लिए उसे सम्बोधित करना। इस को दृष्टि में रखते हुए संविधान के ढाँचे में दोनों पदों को नियन्त्रण तथा सन्तुलन के क्रम में सम्बद्ध कर दिया गया है। यदि एक अपनी शक्तियों या अधिकारों का दुरुपयोग करता है तो दूसरे को उसे नियन्त्रित करने की शक्ति प्राप्त है।

---

[21] डी० एन० सेन, 'फ्रॉम राज टु स्वराज्य', विद्योदय लाइब्रेरी, कलकत्ता 1954, पृ० 370।

[22] आर० जी० न्यूमैन, 'यूरोपियन एंड कम्पेरेटिव गवर्नमेन्ट्स', तीसरा संस्करण, 1960, पृ० 711।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विपरीततः, दोनों ही एक-दूसरे पर अन्योन्याश्रित हैं। कोई भी बिना दूसरे की सहायता लिए हुए कुछ नहीं कर सकता। राष्ट्रपति संविधान के अन्तर्गत कार्य करते हुए भी बिना लोकसभा के या बिना मन्त्रिमण्डल के कार्य नहीं कर सकता क्योंकि साधारणतया दोनों प्रधानमन्त्री के साथ होंगे। प्रधानमन्त्री भी राष्ट्रपति की वैधिक शक्तियों के कारण बिना उसकी सहायता के अपना कार्य नहीं कर सकता। किन्तु राजनीति की कठोर वास्तविकता इस सन्तुलित विचारधारा को कदाचित् ही सदा अभिभावी होने दे। राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री दोनों ही सामयिक राजनीतिक स्थिति के अनुरूप अपनी-अपनी स्थिति को दृढ़ रखते हुए एक-दूसरे को नियन्त्रित करने का प्रयास करेंगे। यह कहा जा सकता है कि इस समस्या की ओर संविधान सभा का ध्यान नहीं गया। संविधान के प्रारम्भ के बाद भी इन दोनों पदों के आपसी सम्बन्धों की अस्पष्टता में निहित खतरों को पूर्ण रूप से समझा नहीं गया है। हमने देखा ही है कि किस प्रकार हमारे पड़ौसी देशों, बर्मा, पाकिस्तान, मिश्र, इण्डोनेशिया तथा सूडान में राष्ट्रपतियों ने प्रधानमन्त्रियों को सेना की सहायता से हटा दिया।[23] अतएव यह स्थिति गम्भीर खतरों से भरी है और जितनी जल्दी हम राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री के आपसी सम्बन्धों की असन्दिग्ध शब्दों में व्याख्या कर लें, श्रेयस्कर होगा। स्थिति में निहित खतरों की ओर ध्यान न देने का अर्थ होगा राजनीतिक वास्तविकताओं से आँखें मूँद लेना।

---

[23] जे० एम० लोबो प्रभु, 'डेमोक्रेसी इन इण्डिया', फोरम ऑफ फ्री एन्टरप्राइज, बम्बई, पृ० 11।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

केरल के मध्यावधि चुनाव का विश्लेषण

ब्रजेन्द्र प्रताप गौतम

केरल भारत का सबसे अधिक समस्यामूलक प्रदेश है—समस्यामूलक इस अर्थ में कि गत 22 वर्षों में वहाँ सात बार निर्वाचन हो चुके हैं, 11 सरकारें परिवर्तित हो चुकी हैं और 5 बार राष्ट्रपति का शासन लागू हो चुका है। फिर भी राजनीतिक स्थिरता के लक्षण दूर-दूर तक कहीं भी दिखायी नहीं देते। वैसे यह राज्य एक ओर राजनीतिक चेतना और शिक्षा में अग्रणी है तो दूसरी ओर बेरोजगारी और भोजन की कमी के विषय में भी सबसे आगे है। केरल की चाय, मसाले, काजू, समुद्री मछली, नारियल जटा के सामान आदि से देश को कोई 160 करोड़ रुपयों की वार्षिक आय होती है, लेकिन भूमि की कमी के कारण आवश्यकता का आधा ही चावल पैदा होता है। भारत के इस एक प्रतिशत भूभाग पर चार प्रतिशत जनसंख्या रहती है। फिर उद्योग भी इतने नहीं हैं कि अधिकतर लोग खप सकें। इस राज्य की जनसंख्या भी दो करोड़ का अंक पार कर चुकी है।

सन् 1965 के मध्यावधि निर्वाचन के पश्चात् केरल में लोकप्रिय सरकार नहीं बन सकी थी। जिस समय मध्यावधि निर्वाचन हुए थे उस समय मार्क्सवादी साम्यवादी सींखचों के पीछे थे और गृहमन्त्री ने पीकिंग पंथी होने का बिल्ला लगाकर निर्वाचन के समय उन्हें रिहा करना उचित नहीं समझा, फिर भी मार्क्सवादियों ने जेल के भीतर से ही चुनाव लड़ा। चुनाव परिणामों से स्पष्ट होता है कि कांग्रेस ने 36 स्थान, मार्क्सवादी साम्यवादी दल ने 40 स्थान दक्षिण पंथी साम्यवादी दल ने 3 स्थान, केरल कांग्रेस ने 23 स्थान, संसोपा ने 13 स्थान, मुस्लिम लीग ने 6 स्थान, स्वतन्त्र पार्टी ने 1 स्थान, के० टी० पी० आई० ने 1 स्थान और निर्दलियों ने 10 स्थान प्राप्त किये। परन्तु केन्द्रीय सरकार ने देशद्रोह एवं अराजकता का आरोप लगाने के कारण मार्क्सवादी साम्यवादी दल को सरकार बनाने का सुअवसर प्रदान नहीं किया और जेल में बन्द निर्वाचित सदस्यों को भी मुक्त करने से मना कर दिया। इस प्रकार साम्यवादी सरकार गठित नहीं हुई और न कोई अन्य दल उपर्युक्त निर्वाचन परिणामों के आधार पर सरकार गठित करने में समर्थ ही था। अतः राष्ट्रपति शासन पुनः लागू किया गया। इस प्रकार सन् 1957 में प्रथम साम्यवादी सरकार गठित होने के बाद से केन्द्रीय कांग्रेसी सत्ताधारियों के मूक समर्थन से राज्य सरकार के बाहर के लोगों और दलों द्वारा चलाये गये आन्दोलन के परिणामस्वरूप सरकारें बनती और बिगड़ती रहीं। उनके पीछे सरकार के बाहर के लोगों का हाथ तो था ही, साथ ही साथ ऐसा सत्ताधारी दलों के आन्तरिक और पारस्परिक झगड़ों के कारण भी हुआ। परिणाम यह रहा कि परिवर्तन-प्रिय, परिश्रमी, और भविष्य में आशा रखने वाला केरलवासी सुघड़ और स्थायी सरकार के वरदान से वंचित रहा।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

केरल की राजनीतिक स्थिरता का कोई एक विशेष कारण नहीं है। देश भर में जिस दुःख से राजनीतिक दल पीड़ित हैं उसी दुःख से केरल के राजनीतिक दल भी हैं। नेतागिरी का मोह, संकुचित स्वार्थों का टकराव, सिद्धान्त-विमुखता आदि तत्त्व जिस प्रकार और राज्यों में सक्रिय हैं, उसी प्रकार केरल में भी हैं। लेकिन केरल की और कुछ विशेषताएँ भी हैं। अपने इतिहास और सामाजिक गठन के कारण केरलवासी व्यक्तिनिष्ठ अधिक हैं। मातृ-प्रधान परिवार, खुले बसे गाँव, जिनके प्रत्येक घर के चारों ओर छोटी सी वगिया, खेत और ताड़ वृक्ष हैं, और शिक्षा प्रसार ने इस प्रवृत्ति को और आगे बढ़ाया और अपने राजनीतिक, सामाजिक परिवेश के प्रति असन्तोष को भी प्रोत्साहित किया। केरलवासियों की जाति-अपेक्षता भी साधारणतः अधिक प्रबल है। यह स्थिति इतिहास की भी देन है। ईसाई क्योंकि शासक जाति के थे और बड़े-बड़े चाय, काफी, बागानों के स्वामी थे, अतः जो देशी लोग ईसाई बने, वे स्थानीय सामाजिक बन्धनों से मुक्ति पाकर अपेक्षतया अधिक उदार और संगठित समाज के अंग बन गये। लेकिन कुल मिलाकर राजनीति पर पादरियों का अत्यधिक प्रभाव है। पादरियों ने खुलकर कांग्रेस का ही समर्थन किया है और वे समय-समय पर केरल की ईसाई जनता के नाम सन्देश भेजकर कांग्रेस को सफल बनाने की अपील करते रहे हैं। दूसरा बड़ा वर्ग अब्राह्मण नायर लोगों का है। ये लोग अधिकतर मध्य वर्गीय हैं। केरल के प्रथम ज्ञात शासक चेर राजा नायर ही थे। राजकीय सेवाओं और व्यापार में इन्हीं का प्रभुत्व है। केरल की समाजवादी पार्टियों में इन्हीं की तूती बोलती रही है। नायरों की जातीय संस्था नायर सर्विस सोसायटी आज भी सैंकड़ों शैक्षणिक तथा अन्य संस्थाओं का संचालन करती है। केरल में एषवा जाति के लोगों की बहु-संख्या है। इस क्षेत्र के वर्णक्रम में अछूतों से ऊपर इन्हीं लोगों का स्थान सबसे निम्न है। यह जाति धीरे-धीरे प्रगति की ओर अग्रसर हो रही है। कुछ प्रतिशत लोग आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो चुके हैं लेकिन आज भी इनकी गणना सर्वहारा वर्ग में ही है। वे अधिकतर श्रमजीवी हैं, चाहे वे खेतों में काम करते हों या उद्योगों में। ये शताब्दियों तक उच्च वर्गीय जातियों द्वारा शोषित एवं पीड़ित होते रहे हैं। अतः उनके प्रति इनके मन में अविश्वास है। ये लोग अधिकांश रूप से साम्यवादी दल से बँधे हुए हैं परन्तु जो लोग इनमें से अधिक सम्पन्न एवं शिक्षित हो चुके हैं, उनका रुझान कांग्रेस की ओर ही रहा है।

सन् 1956 में राज्य पुनर्गठन के समय त्रावणकोर कोचीन राज्य में मुसलमान बहुल जिला मालाबार सम्मिलित हो गया। इस क्षेत्र में मुसलमानों की संख्या काफी है। मालाबार सम्मिलित होने के पश्चात् जातियों का परस्पर सन्तुलन बदल गया। जाति के आधार पर लड़े गये निर्वाचन में और गठित सरकारों में मुसलमानों का वर्ग महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता रहा है।

4 अगस्त, 1970 को राष्ट्रपति शासन की घोषणा के साथ ही केरल में मध्यावधि निर्वाचन की हलचल तीव्र हो गयी और तब यह राज्य निर्वाचन के ज्वर से उत्तप्त होता दिखने लगा। मुख्य निर्वाचन आयुक्त द्वारा मतदान की तिथि 17 सितम्बर, 1970 घोषित किये जाने का विरोध राज्य के कई बड़े दलों ने किया था, लेकिन आयोग द्वारा इस तिथि को निश्चित रूप से घोषित करने पर सभी दल पूर्ण गतिशीलता व तत्परता के साथ निर्वाचन रचना व्यूह में लग गये। केरल की राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय पार्टियाँ तीन खेमों में शीघ्र विभक्त होती दिखायी दीं। पहला खेमा मार्क्सवादी साम्यवादियों का रहा जिसका नाम 'जनता लोकतन्त्रात्मक मोर्चा' रखा

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

गया। सहयोगी पार्टियाँ रहीं—संयुक्त समाजवादी दल, केरल समाजवादी दल, और कृषक तोषिलाली पार्टी। मार्क्सवादी साम्यवादी दल ने अपने 72 प्रत्याशी खड़े किये, संयुक्त समाजवादी दल ने 14, केरल समाजवादी दल ने 3 और कृषक तोषिलाली पार्टी ने 4 प्रत्याशियों को खड़ा किया। कृषक तोषिलाली पार्टी बहुत ही छोटी पार्टी है और इसका राजनीतिक महत्त्व भी अधिक नहीं है। साम्यवादी आन्दोलन में फूट पड़ने के बाद से केरल में मार्क्सवादियों का ही प्रभुत्व रहा है, लेकिन इन्हें पूर्ण बहुमत कभी नहीं मिला। फिर भी कम-से-कम दो बार वह साझा सरकार बनाने की स्थिति में अवश्य रहा। उसे निम्न जाति के गैर-सम्पन्न एषवा लोगों का समर्थन प्राप्त होता रहा है। इसके अतिरिक्त मालाबार क्षेत्र के जिलों में नीचे के तबके के मुसलमान भी मुस्लिम लोग के होते हुए भी उसे समर्थन देते रहे हैं। मार्क्सवादियों को इस निर्वाचन में यह भी अभाव खटकता रहा है कि मुस्लिम लीग का संयुक्त मोर्चे में सहयोग नहीं रहा है।

मुस्लिम लीग और दक्षिण पंथी साम्यवादियों के मोर्चे को क्रान्तिकारी समाजवादियों और प्रजा समाजवादियों का समर्थन प्राप्त रहा है। यहाँ पर दक्षिण पंथी साम्यवादियों का प्रभाव अधिक नहीं है। फिर भी इस दल ने 31 प्रत्याशियों को खड़ा किया है और मुस्लिम लीग ने 20, क्रान्तिकारी समाजवादियों के 14 प्रत्याशी रहे तो प्रजा समाजवादियों ने, जिन्हें सन् 1967 के महानिर्वाचन में एक भी स्थान प्राप्त नहीं हो सका था, इस बार अपने 7 प्रत्याशियों को खड़ा किया। इस दल के दो प्रत्याशी निर्दलीय प्रत्याशी के रूप में खड़े हुए। इस मोर्चे ने सत्तारूढ़ कांग्रेस के साथ गठबन्धन किया है और यथासम्भव उन स्थानों पर अपने प्रत्याशी नहीं खड़े किये, जहाँ से सत्तारूढ़ कांग्रेस ने अपने प्रत्याशियों को चुनाव मैदान में उतारा। यहाँ पर कांग्रेस, विभाजन से पूर्व, बहुत बदनाम रही है और गत सामान्य निर्वाचन में इसे केवल 6 स्थान प्राप्त हो सके थे। इस बार सत्तारूढ़ कांग्रेस ने 56 प्रत्याशियों को खड़ा किया। सत्तारूढ़ कांग्रेस में निर्वाचन से पूर्व ही आपसी तनाव पैदा हो गया। सत्तारूढ़ कांग्रेस के प्रदेशाध्यक्ष, श्री विश्वनाथ ने चार प्रादेशिक नेताओं को दल की सदस्यता से निलम्बित कर दिया। उनके नाम हैं—श्री आर० शंकर, जो सन् 1962 के चुनाव के बाद प्रजा समाजवादी मुख्यमन्त्री पाट्टम तानु पिल्लै के उत्तराधिकारी बने थे, श्री श्रीधर पिल्लै, श्री एम० एन० गोपीनाथन नायर और कन्नूर जिले के पार्टी सचिव श्री पी० नारायणन्।

तीसरा खेमा केरल कांग्रेस और संगठन कांग्रेस का रहा। केरल कांग्रेस मूल कांग्रेस की एक शाखा थी जो काफी पहले अलग हो गयी थी। इसे त्रावणकोर और कोचीन राज्य-क्षेत्रों में ईसाइयों का यथेष्ट समर्थन प्राप्त होता रहा है। इसके अतिरिक्त इसने साम्यवाद विरोध का नारा देते हुए जनसंघ और स्वतन्त्र पार्टी का सहयोग भी प्राप्त करने का प्रयत्न किया। कांग्रेस संगठन ने 39 प्रत्याशी, केरल कांग्रेस ने 31 प्रत्याशी, स्वतन्त्र पार्टी ने 2 और भारतीय जनसंघ ने 8 प्रत्याशियों को खड़ा किया। केरल में स्वतन्त्र पार्टी और भारतीय जनसंघ की स्थिति नगण्य है। सन् 1965 के निर्वाचन में इन्हें एक-एक प्रतिशत मत भी प्राप्त नहीं हुए थे, हालाँकि स्वतन्त्र पार्टी को एक स्थान अवश्य मिल गया था।

केरल में राजनीतिक बिखराव इतना अधिक है कि जरा सी बात होते ही तुरन्त एक दूसरा दल बन जाता है या लोग निर्दलीय प्रत्याशी के रूप में चुनाव में भाग लेने लगते हैं। भूतपूर्व मुख्यमन्त्री, श्री आर० शंकर, को सत्तारूढ़ कांग्रेस का टिकट नहीं मिला, तो वह पल्ला झाड़कर अलग हो गये। नामांकन पत्र दाखिल करने की तिथि के कुछ समय पूर्व मार्क्सवादियों

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

के कुछ स्थानीय नेता असहमत होकर अलग हो गये और उन्होंने साम्यवादी क्रान्तिकारी पार्टी बना डाली। इस दल ने 6 प्रत्याशी खड़े किये। इस बार सर्वप्रथम द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम की केरल शाखा ने उन क्षेत्रों से, जहाँ के निवासी मुख्यतया तमिल भाषा-भाषी हैं, अपने 6 प्रत्याशी खड़े किये। इस दल ने किसी से चुनाव समझौता भी नहीं किया है। एक छोटी सी केरल कृषक पार्टी है, जिसने अपने तीन प्रत्याशियों को चुनाव मैदान में उतारने का साहस बटोरा। इसी प्रकार सोशलिस्ट यूनिटी सेंटर नामक दल तथा रिपब्लिकन पार्टी का एक-एक प्रत्याशी रहा। इनके अतिरिक्त 171 निर्दलीय रहे। निर्दलीय होने का अर्थ यह कदापि नहीं है कि वे वास्तव में निर्दलीय हैं। वरन् पार्टियाँ निर्दलीय प्रत्याशी इसलिए खड़ा करती हैं, जिससे कि अन्य दलों को समर्थन देने में सुविधा रहे। दूसरे, अवसर के अनुसार निर्दलीय प्रत्याशी को परस्पर-विरोधी खेमों के समर्थकों के मत-संग्रह करने में कभी-कभी अत्यधिक सहायता मिल जाती है। इस प्रकार कुल 21 दलों ने इस मध्यावधि निर्वाचन में भाग लिया। इस मध्यावधि निर्वाचन में कोई भी ऐसा राजनीतिक दल नहीं रहा जिसने कुल स्थानों पर अपने प्रत्याशियों को खड़ा किया हो। अतएव किसी-न-किसी दल को चुनाव समझौता करने में भी सुविधा रही।

18 निर्वाचन क्षेत्रों में सीधा संघर्ष रहा और इसका भी कारण था कि 11 निर्वाचन-क्षेत्रों में से मुस्लिम लीग ने अपने प्रत्याशियों को वापिस ले लिया। भूतपूर्व गृहमन्त्री, श्री सी० एच० मोहम्मद कोया, जो कि विधान सभा के भूतपूर्व अध्यक्ष भी रहे हैं, ने चुनाव में भाग अवश्य लिया। इनके अतिरिक्त विधान सभा के दो अध्यक्षों ने निर्वाचन में भाग लेने की इच्छा प्रकट नहीं की। श्री नम्बूदिरिपाद के द्वितीय मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियों में से 4 मन्त्रियों ने चुनाव में भाग लिया। श्री नम्बूदिरिपाद चौथी बार अपने पुराने निर्वाचन क्षेत्र पट्टाम्बी से खड़े हुए और इनके विरोध में संगठन कांग्रेस के प्रत्याशी श्री के० गोविन्दन कुट्टी मेनन तथा दक्षिण पंथी साम्यवादी दल के प्रत्याशी श्री ई० पी० गोपालन खड़े हुए। श्री गोपालन राजकीय कृषि औद्योगिक निगम के अध्यक्ष थे, जिन्होंने निर्वाचन के लिए पद से त्याग-पत्र दिया। श्री अच्युत मेनन के मन्त्रिमण्डल के भी आठों सदस्यों ने निर्वाचन में भाग लिया। मार्क्सवादी प्रत्याशी, श्रीमती के० आर० गौरी ने अरूर निर्वाचन क्षेत्र के चार विरोधी प्रत्याशियों से मुकाबला किया। यही केरल मन्त्रिमण्डल की अकेली महिला हैं। दो महापौर तथा तीन नगर-पालिका अध्यक्षों ने भी चुनाव में भाग लिया।

पिछली विधान सभा के 10 सदस्यों ने पुनः चुनाव में भाग लिया। पिछली विधान-सभा के जो सदस्य उप-चुनाव में विजयी हुए थे उनमें से 6 ने ही चुनाव लड़ा। विधान सभा के सदस्यों में से चार संगठन कांग्रेसी सदस्य चुनाव में खड़े हुए। विघटित विधान सभा के केरल कांग्रेस के पाँच सदस्यों में से चार ने चुनाव मैदान में ताल ठोकी। इन चार सदस्यों में केरल कांग्रेस के अध्यक्ष एवं भूतपूर्व मन्त्री, श्री के० एम० जार्ज ने पुनः चुनाव लड़ा। विघटित विधान सभा के 6 संसोपा सदस्यों में से केवल 3 ही खड़े हुए।

इस निर्वाचन में 18 निर्वाचन-क्षेत्रों में सीधा संघर्ष रहा और 44 स्थानों पर त्रिकोणात्मक संघर्ष रहा। 38 निर्वाचन-क्षेत्र ऐसे थे, जहाँ पर प्रत्याशियों की संख्या चार रही। 19 निर्वाचन-क्षेत्रों में प्रत्याशियों की संख्या 5 थी तथा 9 निर्वाचन-क्षेत्र ऐसे थे जिनमें अधिक से अधिक 6 प्रत्याशी थे। कुल प्रत्याशियों की संख्या 483 रही जबकि सन् 1967 के महा-निर्वाचन में कुल प्रत्याशियों की संख्या 363 ही थी। सन् 1967 के महानिर्वाचन में भी 9

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

महिलाएँ खड़ी हुई थीं। चतुर्थ महानिर्वाचन में कुल मतदाताओं की संख्या 8,061,000 थी जबकि इस बार मतदाताओं की संख्या बढ़कर 10,170,038 हो गयी। इस प्रकार मतदाताओं की संख्या में 2,109,038 की वृद्धि रही। इन कुल मतदाताओं में महिलाओं की संख्या आधे से कुछ ही कम है। निर्वाचन को सुव्यवस्थित एवं शान्तिपूर्ण बनाने के लिए निर्वाचन केन्द्रों की संख्या 10,339 रखी गयी।

इस मध्यावधि निर्वाचन में काँग्रेस ने दल के विभाजन के पश्चात् प्रथम बार चुनाव में भाग लिया है और साम्यवादी आन्दोलन के विभाजन के पश्चात् साम्यवादी दलों ने दूसरी बार चुनाव में अपने पहलवानों को उतार कर अपनी-अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया। मार्क्सवादी नेता श्री रणदिव ने केरल के मध्यावधि निर्वाचन को बड़े युद्ध का भाग माना और सत्तारूढ़ काँग्रेस ने केन्द्र में अपनी अल्पमत सरकार के समर्थक दलों के कन्धों पर हाथ रखकर मार्क्सवादियों को सामने से ललकारा। तीसरे मोर्चे की उपस्थिति ने और अवसरानुकूल प्रत्याशियों को विरल करने की सतत् प्रक्रिया से स्थिति को अनिश्चित बनाने का प्रयास किया गया। इस मध्यावधि निर्वाचन में राजनीतिक समीकरण के दो मुद्दे रहे—दक्षिण पंथी साम्यवादी और सत्तारूढ़ कांग्रेस की मुस्लिम लीग से मित्रता तथा संगठन कांग्रेस और केरल कांग्रेस की मित्रता।

निर्वाचन में चुनाव प्रचार के दौरान सिद्धान्त या कार्यक्रम के स्थान पर एक-दूसरे पर छींटाकशी का अधिक सहारा लिया गया। मार्क्सवादियों और संगठन कांग्रेस ने जहां मुस्लिम लीग और दक्षिण पंथी साम्यवादियों के साथ नयी काँग्रेस के संगठन को लेकर उसकी लानत-मलामत की, वहाँ नयी काँग्रेस ने मार्क्सवादियों और संगठन कांग्रेस पर मिली भगत होने का आरोप लगाया और दोनों को प्रतिक्रियावादी कहा। स्थानीय समस्याएँ भी चुनाव प्रचार में कोई विशेष महत्त्व प्राप्त नहीं कर सकीं। यहाँ तक कि धर्म-संघनियों को विदेश भेजे जाने से सम्बन्धित प्रश्न भी कोई रंग नहीं ला सका।

इस प्रकार हम मध्यावधि निर्वाचन परिणामों के विश्लेषण से पूर्व सन् 1957 से सन् 1970 तक के पाँच बार के निर्वाचनों का विश्लेषण करने पर ही निर्णयात्मक निष्कर्ष निकाल सकते हैं। केरल का प्रबुद्ध मतदाता सत्ता परिवर्तन का समर्थक है। सन् 1957 का महानिर्वाचन राज्य पुनर्गठन के उपरान्त हुआ था। इस पुनर्गठन योजना में मद्रास का मालाबार क्षेत्र केरल राज्य में सम्मिलित कर दिया गया था और दक्षिणी त्रावणकोर का भाग मद्रास राज्य को दे दिया गया था। इस राज्य पुनर्गठन से केरल में साम्यवादी प्रभाव का क्षेत्र अधिक सम्मिलित हो गया था। उसने इस महानिर्वाचन के अवसर पर पुनः संयुक्त मोर्चा बनाने की पहल की। क्योंकि सन् 1952 से ही साम्यवादी दल संयुक्त मोर्चा का प्रबल समर्थक रहा था, इस कारण यकायक संयुक्त मोर्चा गठन के विचार से अलग नहीं हो सका। परन्तु न्यूनतम कार्यक्रम एवं स्थानों के समझौते न हो सके। प्रसोपा और आर० एम० पी० दोनों ने साम्यवादी दल की शर्तों को मानने में हिचक प्रकट की। अतः साम्यवादी दल सम्मान पूर्वक संयुक्त मोर्चे से हट गया। परन्तु नायर सेवा समाज से चुनाव गठबन्धन के लिए साम्यवादियों ने पेशकश की, क्योंकि नायर सेवा समाज नायरों का एक महत्त्वपूर्ण संगठन है। अतः नायर सेवा समाज ने साम्यवादी दल की हृदय से सहायता की। नायर जाति का केन्द्रीय त्रावणकोर में सबसे अधिक बहुमत है। सन् 1957 के निर्वाचन में राज्य विधान सभा के

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सदस्यों की संख्या 126 थी, जिसमें से कांग्रेस को 43 स्थान प्राप्त हुए जबकि साम्यवादी दल को 60। शेष स्थान प्रसोपा—9, मुस्लिम लीग—8, और अन्य—6 को मिले। साम्यवादी दल का प्रभाव मालाबार जिले के पालघाट और कुछ सीमा तक त्रावणकोर जिले के अल्लेपी में सबसे अधिक रहा। पालघाट में साम्यवादी दल ने 11 स्थान तथा अल्लेपी में 9 में से 6 स्थान प्राप्त किये। साम्यवादी दल ने पाँच निर्दलीय सदस्यों के सहयोग से 28 महीने तक शासन किया।

साम्यवादी दल के 28 महीने के शासन में अनेक अवैधानिक कार्यों एवं अनियमितताओं के कारण साम्यवाद विरोधी हवा इतने जोर पर फैली कि केन्द्रीय सरकार को राज्यपाल के आवेदन पर राष्ट्रपति शासन घोषित करना पड़ा और सन् 1960 में पुनः मध्यावधि निर्वाचन हुए। इस मध्यावधि निर्वाचन में कांग्रेस को 133 सदस्यीय सदन में 63 स्थान प्राप्त हुए जबकि साम्यवादी दल को 29, प्रसोपा को 20 और मुस्लिम लीग को 19 स्थान प्राप्त हुए। 3 स्थानों पर अन्य प्रत्याशी विजयी हुए। इस निर्वाचन में कांग्रेस, प्रसोपा और मुस्लिम लीग ने गैर-साम्यवादी मोर्चा गठन करके निर्वाचन व्यूह को रचा था। साम्यवादी दल ने सन् 1957 में जिन तीन जिलों में 60 स्थानों में से 26 स्थान प्राप्त किये थे, सन् 1960 में इसे इन तीनों जिलों में केवल 12 स्थान ही प्राप्त हो सके।

कांग्रेस का प्रारंभ में प्रभाव कम ही रहा। परन्तु सन् 1960 के मध्यावधि निर्वाचन में इसे ईसाइयों के अतिरिक्त नायर जाति एवं एषवा लोगों का भी समर्थन प्राप्त होने लगा। प्रारम्भ में ईसाइयों का ही बहुमत था, जैसा कि इस तथ्य से स्पष्ट है कि सन् 1957 के निर्वाचन में 43 कांग्रेस के सदस्यों में से 23 ईसाई थे। ईसाइयों का प्रभाव एर्णकुलम जिले में अधिक है।

त्रावणकोर-कोचीन प्रदेश से कांग्रेस ने 34 स्थान प्राप्त किये थे। इस भाग में नायर सेवा समाज और ईसाइयों का अच्छा-खासा प्रभाव है। परन्तु मालाबार जिले में, जहाँ कि कांग्रेस को केवल दो ही स्थान प्राप्त हुए थे, एक स्थान पालघाट जिले में और एक स्थान कन्ननूर जिले में मिला था। यह वह भाग है जहाँ पर कि कांग्रेस का अधिक प्रभाव नहीं रहा। कन्ननूर जिले में सन् 1957 की तुलना में सन् 1960 में मत-प्रतिशत में वृद्धि हुई थी। परन्तु पालघाट जिले में सन् 1957 की तुलना में मत-प्रतिशत का ह्रास हुआ था।

गैर-साम्यवादी मोर्चा प्रसोपा नेता पाट्टम तानु पिल्ले के नेतृत्व में चलता रहा, परन्तु कुछ समय के पश्चात् 63 सदस्यीय कांग्रेस ने शीघ्र ही उनका विरोध किया। अतः श्री लाल बहादुर शास्त्री जी के प्रयासों से उनको राज्यपाल का पद देकर केरल की राजनीति से हटा दिया गया। उनके स्थान पर श्री आर० शंकर मुख्यमन्त्री बने। श्री आर० शंकर एषवा जाति के नेता हैं। कांग्रेस हाई कमान ने गृहमन्त्री श्री पी० टी० चाको, की तुलना में उनको वरीयता दी। श्री चाको ईसाई समाज के एक प्रभावशाली नेता थे। ईसाई समाज का शीघ्र ही गठबन्धन नायर सेवा समाज से हो गया और दोनों ने मिलकर शंकर मंत्रिमंडल में परिवर्तन करने की माँग की। परंतु कांग्रेस हाईकमान इस परिवर्तन के लिए तैयार न हुआ। फलस्वरूप 15 कांग्रेसी सदस्यों ने शंकर मंत्रिमंडल के विरोध में विपक्षी दल के साथ अविश्वास के प्रस्ताव पर मत प्रदान किया। फलतः शंकर मंत्रिमंडल पर अविश्वास का प्रस्ताव पारित हो गया। सन् 1965 में पुनः मध्यावधि निर्वाचन हुआ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सन् 1956 के मध्यावधि निर्वाचन के समय साम्यवादी दल मार्क्सवादी दल और दक्षिण पंथी साम्यवादी दल में बंट गया था। असन्तुष्ट कांग्रेसियों ने केरल कांग्रेस का गठन किया। प्रसोपा और संसोपा की भी इस निर्वाचन तक स्थिति अच्छी नहीं थी। दोनों ही दल विघटन की ओर अग्रसर हो रहे थे। मुस्लिम लीग का प्रभाव मुस्लिम जनता पर बढ़ रहा था और वह मुसलमानों में सन् 1957 की तुलना में अधिक लोकप्रिय भी बन गयी थी।

सन् 1956 का मध्यावधि निर्वाचन एक विशेष अवस्था में सम्पन्न हुआ। मार्क्सवादी दल के अधिकांश नेता, प्रत्याशी और कार्यकर्त्ता जनसुरक्षा कानून के अन्तर्गत नजरबन्द थे। इन पर आरोप था कि मार्क्सवादियों की गतिविधियाँ हिंसा की ओर बढ़ रही हैं जो कि देश की शांति एवं सुरक्षा के लिए खतरा हैं। इनके कुछ ऐसे कार्य भी हैं जो देश-द्रोही हैं। मार्क्सवादियों ने गृह मंत्री के इस निर्णय के विरूद्ध न्यायालय की शरण ली। मार्क्सवादी नेताओं में से केवल नम्बूदिरिपाद जेल से बाहर थे।

इस निर्वाचन में कांग्रेस ने प्रसोपा और मुस्लिम लीग से चुनावी गठजोड़ किया था। मार्क्सवादियों ने सात दलों का संयुक्त मोर्चा बनाने के प्रयास किये, परन्तु वह सफल नहीं हुए। राजनीतिक दलों की सन् 1965 के मध्यावधि निर्वाचन में जो स्थिति रही, वह इस प्रकार है– मार्क्सवादी समाजवादी दल को 40, तथा दक्षिणपंथी साम्यवादी दल को 3 स्थान ही प्राप्त हो सके। कांग्रेस और केरल कांग्रेस को 38 और 23 स्थानों पर विजय मिली। अन्य दलों में संसोपा को 13 और मुस्लिम लीग को 6 स्थान मिले। 12 स्थानों पर असम्बद्ध प्रत्याशी विजयी हुए।

सन् 1957 और सन् 1960 के निर्वाचन प्रमुखतया साम्यवादी दल और कांग्रेस के बीच ही लड़े गये, जबकि 1965 में चुनावी गठजोड़ ने सारा समीकरण ही बदल दिया। इस निर्वाचन में कांग्रेस ने त्रावणकोर कोचीन प्रदेश में मत प्रतिशत में आशातीत सफलता प्राप्त की। कन्नूर जिले में कांग्रेस ने सन् 1957 की तुलना में 6% तथा सन् 1960 की तुलना में 7% की मतों में वृद्धि की। पालघाट जिले में सन् 1960 के निर्वाचन में मत प्रतिशत का ह्रास हुआ था, परन्तु सन् 1965 में 27·9% मत प्राप्त हुए। कोझीकोड जिले में पार्टी ने कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं की। सन् 1960 में यहाँ पर कांग्रेस को 30·52% मत प्राप्त हुए थे, जबकि सन् 1965 में उसने 31·2% मत प्राप्त किये। इस प्रकार कांग्रेस का प्रभाव राज्य के सभी वर्गों एवं जातियों में समान रूप से बढ़ रहा है।

सन् 1957, सन् 1960 और सन् 1965 के निर्वाचनों के आधार पर कहा जा सकता है कि साम्यवादी दल का प्रभाव घटा है। सन् 1957 के निर्वाचन में दल ने 100 प्रत्याशी खड़े किये थे और 33·28% प्रतिशत मत प्राप्त किये ; सन् 1960 के निर्वाचन में दल ने 108 प्रत्याशी खड़े किये और इसे 39·13% मत प्राप्त हुए और सन् 1965 के निर्वाचन में 75 प्रत्याशी मार्क्सवादी दल ने और 78 दक्षिण पंथी साम्यवादी दल ने खड़े किये और दोनों दलों को 29·24% मत प्राप्त हुए। स्थानों की दृष्टि से भी दल ने कोई विशेष प्रगति नहीं की। मालाबार क्षेत्र में साम्यवादी दल का सर्वाधिक प्रभाव रहा है, परन्तु दोनों दलों ने अलेप्पी, त्रिवेन्द्रम और क्वीलोन जिलों में 8 स्थान प्राप्त किये। त्रावणकोर क्षेत्र में साम्यवादी दल ने आशातीत सफलता प्राप्त की। कोट्टायम में दक्षिण पंथी दल ने 12 स्थान तथा मार्क्सवादी दल ने 4 स्थान प्राप्त किये। सन् 1957 में इस जिले से कांग्रेसी उम्मीदवार विजयी

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

हुआ था, परन्तु कांग्रेस के विभाजन के कारण सन् 1965 के निर्वाचन में मार्क्सवादी प्रत्याशी विजयी हुआ। ऐसे अनेक स्थान थे जहाँ केरल कांग्रेस और कांग्रेस के कुल मतों की तुलना में साम्यवादी प्रत्याशियों की मत संख्या कम होने पर भी वे विजयी हुए। अतः सन् 1965 के निर्वाचन में साम्यवादी दल की शक्ति में ह्रास आया। त्रावणकोर भाग में स्थान और मत प्रतिशत दोनों में कमी आयी है। अलेप्पी निर्वाचन क्षेत्र से सन् 1960 में 39·76% मत प्राप्त हुए थे जबकि सन् 1965 में केवल 22·6% मत प्राप्त हुए। क्वीलोन में सन् 1960 में इसे 45·83% मत प्राप्त हुए जबकि सन् 1965 के निर्वाचन में केवल 19·8% ही मत इसके भाग में रहे। इसी प्रकार कोट्टायम निर्वाचन क्षेत्र में सन् 1960 में 40·64% मत प्राप्त हुए थे और सन् 1965 में घटकर केवल 15·9% ही मत प्राप्त हुए। कोचीन में भी दल की शक्ति घटी। सन् 1957 में साम्यवादी दल को यहाँ से 10 स्थान प्राप्त हुए थे और सन् 1965 में दोनों दलों को कुल मिलाकर 5 स्थान ही प्राप्त हुए। यह सत्य है कि मालाबार में साम्यवादी दल ने अपनी स्थिति सुरक्षित रखी। स्थान और मत प्रतिशत की दृष्टि से सन् 1957, सन् 1960 और सन् 1965 के निर्वाचन में समान स्थिति रही। सन् 1965 के निर्वाचन में यह सफलता इस कारण भी रही कि उसका मुस्लिम लीग से निर्वाचन समझौता हो गया था।

सन् 1965 के पश्चात् सरकार का गठन न होने पर पुनः राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू हुआ। इस समय तक देश में कांग्रेस विरोधी एक देशव्यापी लहर उठी थी और कई प्रदेशों में कांग्रेस को सत्ता से वंचित होना पड़ा। स्वर्गीय डा० राममनोहर लोहिया ने देश में कांग्रेस के विरोध में एक ऐसा नारा लगा दिया कि कांग्रेस को हटाकर ही देश बच सकता है। परिणाम यह रहा कि विरोधी दल चुनाव के समय एक दूसरे के समीप आये और चुनाव गठजोड़ करने के लिए भी विवश हुए। केरल के मार्क्सवादियों ने इस स्थिति से लाभ उठाया और सात दलों का एक संयुक्त मोर्चा गठित किया। परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस और केरल कांग्रेस को राज्य में बहुत बुरी मार खानी पड़ी।

संयुक्त मोर्चे को निम्न प्रकार से स्थान प्राप्त हुए। मार्क्सवादी साम्यवादी दल ने 59 स्थानों पर अपने प्रत्याशी खड़े किये थे और 52 स्थान प्राप्त किये तथा वह सबसे बड़े दल के रूप में उदित हुआ। दक्षिण पन्थी साम्यवादी दल ने 21 प्रत्याशियों को खड़ा किया और 19 स्थान प्राप्त किये। मुस्लिम लीग ने अपने 15 उम्मीदवार खड़े किये थे और 14 स्थान प्राप्त किये। संसोपा ने 21 स्थानों पर अपने प्रत्याशियों को खड़ा किया था और इसके 19 प्रत्याशी विजयी हुए। आर० एस० पी० और के० टी० पी० ने क्रमशः 6 और 2 प्रत्याशी खड़े किये थे और दोनों दलों के प्रत्याशी सभी स्थानों पर विजयी हुए। कांग्रेस ने 133 स्थानों पर अपने प्रत्याशी खड़े किये और केवल 9 स्थान प्राप्त किये तथा केरल कांग्रेस ने 62 स्थानों पर उम्मीदवारों को चुनाव मैदान में उतारा था और केवल 5 स्थान प्राप्त किये। इस प्रकार चतुर्थ महानिर्वाचन में संयुक्त मोर्चे के मुकाबले ने कांग्रेस और केरल कांग्रेस को कहीं का नहीं छोड़ा। केरल कांग्रेस के 19 प्रत्याशियों की जमानत भी जब्त हुई। भारतीय जनसंघ ने 24 प्रत्याशियों को खड़ा किया और एक भी स्थान प्राप्त नहीं किया था और उसके 13 प्रत्याशियों की जमानतें जब्त हुई थीं। प्रजा सोशलिस्ट पार्टी और स्वतन्त्र पार्टी ने क्रमशः 7 और 6 प्रत्याशियों को खड़ा किया था और उनमें से एक भी प्रत्याशी विजयी नहीं हुआ, वरन् क्रमशः 5 और 2 प्रत्याशियों की जमानतें भी जब्त हुईं। इस प्रकार

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

केरल की राजनीति से प्रसोपा, स्वतन्त्र पार्टी और भारतीय जनसंघ पूर्ण रूप से विलुप्त हो गये। कांग्रेस ने स्थान केवल 9 ही प्राप्त किये थे, परन्तु मत प्रतिशत सबसे अधिक प्राप्त किया था। कारण यह कि उसने सभी स्थानों पर अपने प्रत्याशी खड़े किये थे। साम्यवादी दल के संयुक्त मोर्चा (सात दलीय) को 115 स्थान और 51·4% मत प्राप्त हुए गैर साम्यवादी दल गठबन्धन वाले दलों ने चहुँमुखी संघर्ष से बचने के प्रयास किये, जिसके परिणाम स्वरूप 71 स्थानों पर सीधा संघर्ष हुआ और 62 स्थानों पर त्रिकोणात्मक संघर्ष रहा। केरल कांग्रेस के केवल स्थानों में ही कमी नहीं आयी वरन् मत प्रतिशत में भी भारी कमी आयी। सन् 1965 के मध्यावधि निर्वाचन में इसे 12·58 मत प्रतिशत प्राप्त हुए थे जो सन् 1967 के निर्वाचन में घटकर 7·5% मत रह गये।

उपर्युक्त चुनावों की तुलना में अब हम सन् 1970 के मध्यावधि निर्वाचन का विश्लेषण करेंगे। इस निर्वाचन में विभिन्न राजनीतिक दलों ने जो निर्वाचन व्यूह रचना की थी, उसके परिणाम इस प्रकार रहे।

कुल स्थान=133; कुल मतदाताओं की संख्या=1,01,70,038

संख्या	राजनीतिक दल	कुल प्रत्याशियों की संख्या	विजयी प्रत्याशी
1	सत्तारूढ़ कांग्रेस तथा समर्थित निर्दलीय	53+1=54	32+0=32
2	भारतीय साम्यवादी दल तथा समर्थित निर्दलीय	31+1=32	16+0=16
3	मुस्लिम लीग तथा समर्थित निर्दलीय	20+1=21	12+0=12
4	प्रजा सोशलिस्ट पार्टी तथा समर्थित निर्दलीय	1+8=9	3+0=3
5	क्रान्तिकारी साम्यवादी दल	14	6
6	मार्क्सवादी साम्यवादी दल तथा समर्थित निर्दलीय	71+10=81	30+2=32
7	संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी तथा समर्थित निर्दलीय	14+1=15	6+1=7
8	भारतीय समाजवादी दल	10	3
9	केरल समाजवादी दल	3	2
10	कृषक तोषिलाली पार्टी	4	1
11	मार्क्सवादी दल नीति प्रेरित मोर्चे द्वारा समर्थित निर्दलीय	10	0
12	संगठन कांग्रेस तथा समर्थित निर्दलीय	41+10=51	0+5=5
13	केरल कांग्रेस	31	13
14	भारतीय जनसंघ	8	0
15	स्वतन्त्र पार्टी	1	0
16	निर्दलीय	148	0

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

इस मध्यावधि निर्वाचन में सत्तारूढ़ कांग्रेस विधान सभा में सबसे बड़े दल के रूप में उभर कर सभी राजनीतिक दलों के शीर्ष पर जा बैठी। दूसरा स्थान मार्क्सवादी साम्यवादी दल और तीसरा स्थान भारतीय साम्यवादी दल को प्राप्त हुआ। सभी 148 निर्दलीय सदस्य, जिन्हें किसी दल का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ था, एक भी स्थान प्राप्त नहीं कर सके, जबकि सन् 1967 के महानिर्वाचन में उन्हें 6 स्थान प्राप्त हुए थे। इस बार 70 प्रतिशत से भी अधिक प्रत्याशियों की जमानतें जब्त हो गयीं। सत्तारूढ़ कांग्रेस ने 6 युवक कांग्रेस नेताओं को खड़ा किया था, श्री गोपाल कृष्णन् ने केरल कांग्रेस के महामन्त्री श्री बालकृष्ण पिल्लै को पराजित किया। सत्तारूढ़ कांग्रेस की एक मात्र महिला प्रत्याशी श्रीमती लीला दामोदर मेनन चुनाव में हार गयीं। सत्तारूढ़ कांग्रेस ने मालाबार, कोझीकोड और कन्नूर जिलों में उल्लेखनीय विजय प्राप्त की। सन् 1965 के निर्वाचन में मालाबार क्षेत्र में अविभाजित कांग्रेस को एक स्थान प्राप्त हुआ था और सन् 1967 में इस क्षेत्र से उसे कोई स्थान नहीं मिला। इस बार सत्तारूढ़ कांग्रेस ने 19 स्थानों पर चुनाव लड़ा जिसमें से 11 स्थानों पर उसे विजय प्राप्त हुई। सत्तारूढ़ कांग्रेस ने कोझीकोड जिले में परम्परा, उत्तरी बाइनाड, तालीपरामम्बा और एदोक्कड़ क्षेत्रों को मार्क्सवादियों से छीना।

यद्यपि भूतपूर्व मार्क्सवादी मुख्यमन्त्री श्री इ० एम० एस० नम्बूदिरिपाद 3000 से अधिक मतों से अपने पट्टाम्बी निर्वाचन क्षेत्र से पुनः विजयी हुए हैं, परन्तु मार्क्सवादी साम्यवादी दल को बहुत बड़ा धक्का लगा है। वह अपने गढ़ समझे जाने वाले क्षेत्रों में कई स्थानों पर पराजित हो गया है। मार्क्सवादी दल से अधिकांश स्थान सत्तारूढ़ कांग्रेस ने प्राप्त किये।

भूतपूर्व मार्क्सवादी मन्त्री, श्री ई० के० इम्बिची बावा और एक अन्य मार्क्सवादी मन्त्री श्री एम० के० कृष्णन् क्रमशः पेरिन्ट लामन्ना और कुन्नाथूनाड निर्वाचन क्षेत्रों से पराजित हो गये। मार्क्सवादी साम्यवादी दल के विधायक तथा दल के भूतपूर्व सचिव श्री टी० के० रामकृष्णन् एर्नाकुलाम जिले के भिपुनिथुरा निर्वाचन क्षेत्र से चुनाव हार गये। इस प्रकार पट्टाम्बी में और पालक्काट (पालघाट) जिले के शेष 9 निर्वाचन क्षेत्रों में मार्क्सवादियों की लाज रह गयी। किन्तु मुस्लिम बहुल मल्लप्पुरम जिले के चुनाव क्षेत्रों में मार्क्सवादियों की दाल नहीं गली। 14 प्रत्याशियों में से एक भी विजयी नहीं हुआ जबकि सन् 1967 में इनको तीन स्थान प्राप्त हुए थे। मालाबार क्षेत्र के कन्नूर, कोझीकोड, पालघाट और मल्लप्पुरम में मुस्लिम मतों का लाभ मार्क्सवादियों को प्राप्त न हो सका जबकि सन् 1967 के निर्वाचन में मुस्लिम लीग समेत मार्क्सवादी मोर्चे ने इस क्षेत्र से कांग्रेस का सफाया कर दिया था।

सन् 1967 में मार्क्सवादियों के नेतृत्व में सप्तदलीय मोर्चे को और सन् 1970 के मार्क्सवादी विरोधी मोर्चे को मिलाकर जो मत मिले, वे उनकी वास्तविक शक्ति या मतदाताओं की रुचि का उतना परिचायक नहीं है जितना वे दलों के गठबन्धन का या समाजवादी मतों के परिणाम हैं। मार्क्सवादियों की मतदाता शक्ति में प्राप्त स्थानों के अनुरूप घट-बढ़ नहीं हुई है। मध्यावधि निर्वाचन में मार्क्सवादी दल को 2,440 मत मिले (17,59,797) (प्राप्त मत 72 प्रतिशत)। इन मतों में मार्क्सवादियों के सहयोगी दलों संसोपा, केरल समाजवादी और बिखराव का किसान पार्टी का योग बहुत कम रहा है क्योंकि वे अपेक्षतया बहुत छोटी और कमजोर पार्टियाँ हैं। इस प्रकार देखने में यह सत्य है कि सन् 1967 की तुलना में मार्क्सवादी साम्यवादी दल को 22 स्थान कम मिले और उसे अपने कई गढ़ों में पराजय का मुख भी देखना पड़ा,

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

परन्तु लोकमत मार्क्सवादी दल के भी साथ है। इस बार मार्क्सवादी मोर्चे को सन् 1967 की तुलना में 7 लाख अधिक मत प्राप्त हुए। मार्क्सवादियों को 17,59,797 मत प्राप्त हुए, किन्तु वे स्थान 30 ही पा सके। अर्थात् प्रत्येक प्रत्याशी को औसतन 24,400 मत प्राप्त हुए। यही ऐसा निर्वाचन है जिसमें मार्क्सवादियों को सबसे अधिक मत प्राप्त हुए। इसके पूर्व केरल में जितने भी निर्वाचन हुए हैं, उनमें कांग्रेस को ही सबसे अधिक मत प्राप्त हुए थे। मार्क्सवादी दल को इस बार 22·53 प्रतिशत मत मिले जबकि गत महानिर्वाचन में उसे अन्य बड़े गैर कांग्रेसी दलों के समर्थन के होते हुए भी लगभग इतने ही मत प्राप्त हुए थे।

मुस्लिम लीग के दोनों नेता श्री सी० एच० मुहम्मद कोया और श्री के० अम्बुकादेर कुट्टीनही विजयी हुए। इस बार मुस्लिम लीग का चुनाव गठ-बन्धन दक्षिण पंथी साम्यवादी दल, सत्तारूढ़ कांग्रेस और प्रसोपा के साथ हुआ। मालाबार के अनेक चुनाव क्षेत्रों में अपनी निर्णायक भूमिका का लाभ कांग्रेस को देकर भी मुस्लिम लीग को यहाँ से 11 स्थान मिले। इनमें से उसने 8 तो पुराने स्थान ही हथिया लिये। 3 पुराने स्थान उसके हाथ से निकल गये लेकिन इनकी क्षतिपूर्ति उसने 3 नये स्थानों पर कब्जा करके की। नये मालाबार क्षेत्र के बाहर उसे इस बार केवल 1 स्थान ही प्राप्त हुआ जबकि गत महानिर्वाचन में उसे 3 स्थान मिले थे। इसमें सन्देह नहीं कि मालाबार के बाहर भी कुछ क्षेत्रों में मुस्लिम मतदाताओं की संख्या निर्णायक भूमिका अदा करती है, परन्तु इस का लाभ इस निर्वाचन में शासक कांग्रेस तथा दक्षिण पंथी साम्यवादी दल को ही प्राप्त हुआ है। इस प्रकार केरल की राजनीति में मुस्लिम लीग की भूमिका सदैव निर्णायक रही है क्योंकि मुस्लिम मतदाताओं की संख्या, प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र में काफी होती है और वे अपनी संख्या मात्र से पलड़े पलट देते हैं। अभी तक ऐसा ही हुआ है कि मुस्लिम लीग जिस मोर्चे के साथ रही है, उसको ही सत्ता प्राप्त हुई है।

दक्षिण पंथी साम्यवादी दल की सबसे बड़ी सफलता यह रही कि मालाबार क्षेत्र में जहाँ यह सन् 1965 और सन् 1967 में पूर्ण रूप से पराजित हो गया था, पुनः उसने अपना पाँव जमा लिया है। इस पार्टी के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री श्री अच्युत मेनन निर्वाचित हो गये। इसके अतिरिक्त इनके ही दल के भूतपूर्व मन्त्री श्री टी० पी० थामस और श्री एम० एन० गोविन्दन नायर, जो दल के सचिव भी हैं, चुनाव में विजयी हुए। परन्तु भूतपूर्व राजस्व मन्त्री श्री जैकब चुनाव में पराजित हो गये। इससे पार्टी को बड़ा आघात पहुँचा क्योंकि केरल में मूक भूमि सुधार क्रान्ति का श्रीगणेश करने का श्रेय श्री जैकब को ही है। वह केरल कांग्रेस के प्रत्याशी से कोट्टायम निर्वाचन क्षेत्र में पराजित हुए। मार्क्सवादियों की राजनीतिक शक्ति को कम करना ही इस दल का लक्ष्य था। इसके लिए इसने सत्तारूढ़ कांग्रेस और मुस्लिम लीग का सहयोग ही नहीं प्राप्त किया वरन् इन दोनों दलों को प्रगतिशील मार्ग भी दिखाया। उसने सत्तारूढ़ कांग्रेस को बैंकों के राष्ट्रीयकरण तथा अध्यादेश के द्वारा शाही थैली समाप्ति का यशोगान भी किया।

सन् 1967 के महानिर्वाचन में प्रसोपा ने अपने 7 प्रत्याशियों को खड़ा किया था परन्तु उनमें से एक भी प्रत्याशी नहीं जीत सका, और कुल मतों की प्राप्त संख्या 13,911 रही अर्थात् इसे 0·2 प्रतिशत मत प्राप्त हुए। परन्तु इस निर्वाचन में प्रसोपा ने 8 प्रत्याशियों को खड़ा किया था और 3 स्थान प्राप्त किये थे, अर्थात् 6·7 प्रतिशत मत प्राप्त किये थे। इस निर्वाचन में संसोपा का समझौता गैर कांग्रेसी प्रगतिशील दलों से रहा। मार्क्सवादी भी इस समझौते में सम्मिलित थे। इस निर्वाचन में संसोपा ने कुल 14 प्रत्याशी खड़े किये थे और 6

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

स्थान प्राप्त किये थे। इस बार संसोपा का चुनाव गठबन्धन मार्क्सवादी दल के संयुक्त मोर्चे से हुआ था।

भारतीय जनसंघ ने 8 प्रत्याशी खड़े किये थे और वे सभी पराजित हुए। उसी प्रकार सन् 1967 में जनसंघ ने 24 प्रत्याशियों को खड़ा किया था और उसका एक भी प्रत्याशी विजयी नहीं हुआ था। उसे कुल मतों के 0·2 प्रतिशत मत मिले थे। इसी प्रकार स्वतन्त्र पार्टी ने सन् 1967 में 6 प्रत्याशियों को खड़ा किया था और उसका एक भी प्रत्याशी सफल न हो सका। उसने कुल 13,075 मत प्राप्त किये अर्थात् उसे 0·2 प्रतिशत ही मत मिले। संगठन कांग्रेस साधनों की स्वामिनी होने पर भी हाथ मलती रह गयी, क्योंकि पुरानी कांग्रेस ने 41 प्रत्याशियों को खड़ा किया था लेकिन उसका एक भी प्रत्याशी सफल न हो सका।

सन्तोष के लिए समर्थित निर्दलीय प्रत्याशियों में से 5 प्रत्याशी सफल हुए और उन्होंने बाद में विधान सभा में संगठन कांग्रेस के रूप में बैठना निश्चित कर लिया है। जनसंघ, स्वतन्त्र पार्टी और संगठन कांग्रेस के अधिसंख्य प्रत्याशियों की जमानतें जब्त हुई हैं।

क्रान्तिकारी समाजवादी दल का इससे भी बुरा हाल रहा। उसने 6 प्रत्याशियों को खड़ा किया था और ये सभी प्रत्याशी हार गये। केरल समाजवादी दल ने केवल एक प्रत्याशी खड़ा किया था जो हार गया। इस चुनाव क्षेत्र के कुल 60,974 वैध मतों में से इस प्रत्याशी के क्षेत्र में 2,582 अवैध मत थे।

इस प्रकार दक्षिण पंथी साम्यवादी दल द्वारा गठित मोर्चे और मार्क्सवादी संयुक्त मोर्चे की तुलना की जाये तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सत्तारूढ़ कांग्रेस के 32 प्रत्याशी विजयी हुए और उसे 13,72,345 मत प्राप्त हुए। इसकी तुलना में मार्क्सवादियों को 17,59,797 मत मिले। किन्तु वे 30 स्थान ही पा सके। जहाँ तक दोनों मोर्चों के मतों का प्रश्न है, मार्क्सवादी मोर्चे को लगभग 28 लाख मत मिले, जबकि दक्षिण पंथी साम्यवादी दल, मुस्लिम लीग, नयी कांग्रेस वाले मोर्चे को 32 लाख से कुछ अधिक मत मिले। इस प्रकार दोनों मोर्चों को मिले मतों में लगभग साढ़े चार लाख का ही अन्तर है जबकि दक्षिण पंथी साम्यवादी दल, सत्तारूढ़ मुस्लिम लीग, कांग्रेस वाले मोर्चे को मार्क्सवादी मोर्चे से ठीक ड्योढ़े स्थान प्राप्त हुए।

निष्कर्ष

इस निर्वाचन की एक विशेषता यह भी रही कि दीपक, तारा, इंजन, तराजू, उगता हुआ सूरज, ऊँट, गोरैया और मशाल के चुनाव चिन्ह वाले सभी प्रत्याशी पराजित हो गये अर्थात् संगठन कांग्रेस, जनसंघ, स्वतन्त्र पार्टी, द्रमुक, रिपब्लिकन पार्टी, केरल कृषक पार्टी, क्रान्तिकारी साम्यवादी दल, समाजवादी एकता केन्द्र; आदि दलों का एक भी उम्मीदवार नहीं जीता।

अब प्रश्न यह है कि केरल में किसकी हार और किसकी जीत हुई? संगठन कांग्रेस का सफाया हो गया जिससे सत्तारूढ़ कांग्रेस को निश्चित रूप से भारी लाभ हुआ। इसका कारण है कि इसे अधिक स्थान प्राप्त हुए हैं और सत्ता पर उसका यथेष्ट रूप से नियन्त्रण होगा। सत्तारूढ़ कांग्रेस और श्रीमती गांधी की प्रतिष्ठा राष्ट्रीय स्तर पर बढ़ी है। भविष्य में देश की राजनीति पर इसका काफी प्रभाव पड़ेगा। केरल की चुनाव नीति देशव्यापी चुनाव नीति का रूप धारण कर सकती है। दूसरे, इससे राजनीतिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया तीव्र हो सकती है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सत्तारूढ़ कांग्रेस दल साम्यवादी दल और प्रसोपा को आत्मसात कर सकता है। देश की वाम-पंथी राजनीति का नेतृत्व मार्क्सवादी दल और संसोपा के हाथों में आ सकती है। देखा जाये तो क्षति किसी भी रूप में मार्क्सवादियों की नहीं हुई है। दूसरी ओर सत्तारूढ़ कांग्रेस और प्रसोपा की भी क्षति नहीं हुई है।

इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्रीय मंच पर स्थिति निश्चय ही निराशाजनक है। सत्तारूढ़ कांग्रेस आज केन्द्र में अल्पसंख्यक दल के रूप में ही है, परन्तु उसे कोई अन्य दल स्थानच्युत नहीं कर पाया है। इन परिस्थितियों में देश को निकट भविष्य में एक सुदृढ़ प्रशासन की आशा नहीं करनी चाहिए। राजनीतिक ध्रुवीकरण एक चालू प्रक्रिया है, जिसे पूर्ण होने में काफी समय लगेगा। तब तक देश का भविष्य अनिश्चय और अस्थिरता के दौर से ही गुजरेगा। यह दौर जितनी जल्दी समाप्त हो जाये उतना ही अच्छा है।

चुनाव के कारण सारे राज्य में काफी तनाव रहा, फिर भी चुनाव प्रचार को संयत रखने का प्रयास किया गया और यह आशा थी कि वहाँ इस बार कोई हिंसक घटना घटित नहीं होगी, किन्तु चुनाव प्रचार के अन्तिम दिनों में यह आशा निर्मूल सिद्ध हुई। 13 सितम्बर को त्रिचूर जिले के मानालूर चुनाव क्षेत्र में मार्क्सवादियों की एक कार को घेरने के प्रयास में सत्तारूढ़ कांग्रेस के एक कार्यकर्ता को अपने प्राण गँवाने पड़े। उसी दिन कन्नूर जिले के एरना-कुलम गांव में मार्क्सवादियों और मुस्लिम लीग के समर्थकों में संघर्ष हो जाने से दो व्यक्ति मारे गये और लगभग 25 घायल हुए। अन्य स्थानों पर भी कुछ हिंसक घटनाएँ घटीं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारत की निर्वाचन प्रणाली—सुधार की आवश्यकता

गोपीनाथ

हमारे संविधान-निर्माताओं ने संविधान का निर्माण करते समय इंग्लैण्ड में प्रचलित निर्वाचन प्रणाली को हमारे संविधान में स्थान दिया क्योंकि यह प्रणाली इंग्लैण्ड में सफल सिद्ध हो चुकी है। किन्तु जिस प्रकार कोई भी पौधा विभिन्न प्रकार के रासायनिक तत्त्वों से युक्त प्रत्येक भूमि में तथा प्रत्येक प्रकार की जलवायु में न उग सकता है, और न भली-भाँति फल-फूल सकता है उसी प्रकार कोई भी निर्वाचन प्रणाली, जो किन्हीं विशेष सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा शैक्षिक परिस्थितियों में उत्पन्न हुई व सफल सिद्ध हुई है, उनसे भिन्न परिस्थितियों में सफल सिद्ध नहीं हो सकती। हमारे देश की परिस्थितियाँ इंग्लैण्ड से भिन्न होने के कारण, हमारी निर्वाचन प्रणाली, जैसा कि निम्न विवेचन से स्पष्ट होगा, असफल सिद्ध हुई है।

पूर्व इसके कि यह बताया जाये कि यह प्रणाली क्यों असफल सिद्ध हुई है, यह बतलाना आवश्यक है कि हमारी वर्तमान निर्वाचन प्रणाली किस प्रकार की है।

इंग्लैण्ड की निर्वाचन प्रणाली के समान हमारी निर्वाचन प्रणाली के अन्तर्गत किसी भी राज्य की विधानसभा तथा लोकसभा के निर्वाचन क्षेत्रों से संविधान द्वारा निर्धारित योग्यताओं से सम्पन्न जितने व्यक्ति चाहें चुनाव लड़ सकते हैं तथा जिस प्रत्याशी को अन्य प्रत्याशियों से अधिक मत प्राप्त होते हैं, उसको सफल घोषित कर दिया जाता है।

इस प्रणाली का प्रथम दोष यह है कि अपने निर्वाचन-क्षेत्र में अल्पमत पाने पर भी व्यक्ति सम्पूर्ण जनता का, विधानसभा या लोकसभा के लिए, प्रतिनिधि चुना जाता है। निम्न उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। मान लो किसी निर्वाचन-क्षेत्र में पड़ने वाले वैध मतों की संख्या पचास हजार है तथा चुनाव लड़ने वाले प्रत्याशियों की संख्या पाँच है। यदि तीन प्रत्याशियों को दस-दस हजार, चौथे को 9,999 तथा पाँचवे को दस हजार एक मत प्राप्त होते हैं तो पाँचवे प्रत्याशी को अन्य प्रत्याशियों से अधिक मत मिलने के कारण सफल घोषित कर दिया जायेगा, जबकि निर्वाचन में पड़े वैध मतों का उसको लगभग बीस प्रतिशत ही प्राप्त होगा तथा बहुमत उसके विरुद्ध होगा।

ऐसी दशा में उसको अपने क्षेत्र का सच्चा प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता क्योंकि क्षेत्र की अधिकांश जनता उसके विरुद्ध होने पर वह अपने क्षेत्र की जनता की इच्छाओं, भावनाओं तथा अभिलाषाओं का विधानसभा तथा लोकसभा में सचमुच प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता।

इस प्रणाली का दूसरा दोष यह है कि राज्य की सम्पूर्ण जनसंख्या का अल्प मत पाकर भी कोई भी दल विधानसभा या लोकसभा में बहुमत प्राप्त कर राज्य के बहुमत की इच्छा के विरुद्ध मनमाने ढंग से शासन करने का अधिकारी बन जाता है। उदाहरणस्वरूप लोकसभा के

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्रथम निर्वाचनों में कांग्रेस को लगभग पैंतालिस प्रतिशत मत मिलने पर भी चौहत्तर प्रतिशत से अधिक स्थान मिले तथा विधानसभाओं के निर्वाचनों में लगभग बयालिस प्रतिशत मत तथा अड़सठ प्रतिशत से अधिक स्थान मिले। इस प्रकार जनता का बहुमत कांग्रेस के विरुद्ध होने पर भी वह केन्द्र तथा राज्यों में अपना मन्त्रिमण्डल बनाकर मनमाना शासन करने लगी। दूसरे तथा तीसरे निर्वाचन में कांग्रेस को प्राप्त होने वाले मतों का प्रतिशत घटता गया किन्तु दोषपूर्ण निर्वाचन प्रणाली के कारण वह मन्त्रिमण्डल बनाने में सफल रही। उस दोषपूर्ण प्रणाली के कारण ही सन् 1967 में लोकसभा में कांग्रेस को मद्रास से इकतालिस प्रतिशत से भी अधिक मत मिलने पर केवल तीन स्थान मिले जबकि सन् 1962 में पैंतालिस प्रतिशत मत मिलने पर तीस स्थान मिले थे। बंगाल के मध्यावधि चुनाव में यद्यपि काँग्रेस को सन् 1967 की तुलना में मत अधिक मिले किन्तु स्थान सन् 1967 की तुलना में 127 की जगह केवल पचपन मिले।

इस निर्वाचन प्रणाली का तीसरा दोष यह है कि इसमें प्रत्याशियों का निर्वाचन दलों द्वारा जातीयता के आधार पर होता है। हम भारतवासी राजनीतिक चेतना, जागृति तथा समझ की कमी के कारण निर्वाचन के समय अपनी जाति के प्रत्याशी को मत देकर उसको सफल बनाने में गर्व का अनुभव करते हैं। इस कारण निर्वाचन के समय प्रत्येक राजनीतिक दल चाहे वह कांग्रेस का हो या जनसंघ का, साम्यवादी हो या समाजवादी, किसी भी निर्वाचन-क्षेत्र से किसी व्यक्ति को अपना टिकिट देते समय उसी व्यक्ति को पसन्द करता है जिसकी जाति का उस निर्वाचन-क्षेत्र में अन्य जातियों की तुलना में प्राधान्य हो।

अपने दल के सिद्धान्त, नीति तथा कार्यक्रम को भुलाकर भी प्रत्येक दल जातीयता के आधार पर अपने प्रत्याशियों का चुनाव करने में ही अपना कल्याण समझता है। वह ऐसा क्यों न समझें? किसी दल के पास इतने आर्थिक साधन भी तो नहीं हैं कि वह अपने सिद्धान्तों, नीतियों तथा कार्यक्रम के धुआँधार प्रचार व प्रसार के बल पर जातिवाद से ग्रस्त जनता को प्रभावित कर निर्वाचन में विजय पाने का स्वप्न देखने का भी साहस कर सके।

एक दल के द्वारा जातीयता का सहारा लेने पर अन्य दलों को ऐसा करने के लिए बाध्य होना पड़ता है, नहीं तो जिस प्रकार बाजार में खोटे सिक्के का प्रचलन होने पर अच्छे सिक्के बाजार से गायब हो जाते हैं उसी प्रकार अन्य दलों के सामने, एक दल के द्वारा जातीयता का सहारा लेने पर, अपने अस्तित्व के लिए खतरा उत्पन्न हो जाता है।

सब दलों का स्वेच्छा से अपने प्रत्याशियों को जातीयता के आधार पर न चुनने के लिए सहमत होना भी सम्भव नहीं है क्योंकि जिस दल को उस नीति पर चलने से लाभ प्राप्ति की आशा है वह उसको त्यागने के लिए क्यों सहमत होगा जब तक कि उसके लिए ऐसा करने के लिए कानूनी दबाव न हो। राजनीतिक नेताओं में डटकर राष्ट्र-प्रेम की भावना होने पर भी यह सम्भव हो सकता है किन्तु हमारे राजनीतिक नेताओं में ऐसा राष्ट्र-प्रेम है कहाँ?

इस प्रणाली का चौथा दोष यह है कि यह राजनीतिक दलों में जातीयता के आधार पर गुटों के निर्माण व संगठन के बीज बोती है। यही कारण है कि जातीयता की दिन-रात निन्दा करने वाले राजनीतिक कार्यकर्ता तथा नेता भी दल में अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए तथा देश में निर्वाचन के समय अपनी जाति के व्यक्ति को अपने दल का प्रत्याशी चुनवाने के लिए दल में अपने जातीय गुटों से चिपके रहते हैं तथा उनको हर प्रकार सशक्त बनाने का प्रयास करते रहते हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

इस निर्वाचन प्रणाली का पाँचवाँ दोष यह है कि इसने राजनीति में साम्प्रदायिकता के विष वृक्ष को हरा-भरा करने के लिए इसकी जड़ों में पानी देने का कार्य किया है। इसी कारण प्रत्येक राजनीतिक दल किसी निर्वाचन-क्षेत्र से किसी व्यक्ति को टिकिट देते समय जहाँ एक ओर यह ध्यान रखता है कि उक्त निर्वाचन-क्षेत्र में किस जाति का प्राधान्य है वहाँ दूसरी ओर यह भी ध्यान रखता है कि उक्त निर्वाचन-क्षेत्र में किस सम्प्रदाय के मतों का बाहुल्य है। इसका ज्वलन्त उदाहरण हमारे स्वर्गीय राष्ट्रपति डाक्टर जाकिर हुसैन द्वारा राष्ट्रीय एकता समिति की बैठक में कांग्रेस पर संसदीय निर्वाचन-क्षेत्र रामपुर में मुस्लिम मतदाताओं के बहुसंख्या में होने के कारण स्वर्गीय अबुल कलाम आजाद को संसद का टिकिट देने का लगाया गया आरोप है।

हमारी निर्वाचन प्रणाली के कारण साम्प्रदायिकता के आधार पर प्रत्याशियों को दलों द्वारा चुनाव लड़ने के लिए टिकिट दिये जाने का प्रायः परिणाम देखने में आता है कि जिस क्षेत्र में हिन्दू मतदाताओं का बाहुल्य होता है उस क्षेत्र में हिन्दू तथा जिसमें मुस्लिम मतदाताओं का बाहुल्य होता है उससे मुस्लिम प्रत्याशी, चाहे वह किसी भी दल का हो, प्रत्येक निर्वाचन में सफल होता है।

अतः हिन्दू बहुल क्षेत्र में मुसलमान प्रायः यह अनुभव करते हैं कि हम तो सदा के लिए हिन्दुओं के अधीन हो गये। इसी प्रकार मुस्लिम बहुल क्षेत्र में हिन्दू अनुभव करते हैं कि वे तो सदा के लिए मुसलमानों के अधीन हो गये। इसके परिणामस्वरूप हिन्दू तथा मुसलमान, दोनों में कभी ताल-मेल या एका नहीं हो पाता और आपस में सदा वैर-भाव बना रहता है तथा जरा सी उत्तेजना की चिन्गारी लगने पर साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठते हैं।

वर्तमान निर्वाचन प्रणाली का छठा दोष यह है कि उसने हमारे समाज में व्यक्तिवाद के रोग को दल-बदलवाद के रोग के रूप में उभारा है। इसके कारण अधिकांश राजनीतिक कार्यकर्ता तथा नेता अपने दल के सिद्धान्तों, आदर्शों, नीतियों तथा कार्यक्रम के अध्ययन, मनन व चिन्तन से उसमें अपनी आस्था बलवती बनाने तथा उसके सतत प्रचार व प्रसार से अपने दल को सशक्त तथा विशाल बनाने के कार्य में रत न रहकर स्वयं को ऊपर उठाने की जोड़-तोड़ में लगे रहते हैं। उसी कारण यदि अपने दल को लातमार कर भी उन्हें अपने आपको ऊपर उठाने का अवसर प्राप्त होता है तो उनके हृदय में दल को त्यागते एक टीस या कसक पैदा नहीं होती और वे बेहिचक दल-बदल कर डालते हैं।

वर्तमान निर्वाचन प्रणाली का सातवाँ दोष यह है कि इसने लघुदलवाद के एक नये रोग को हमारे समाज में जन्म दिया है। जहाँ स्पष्ट सिद्धान्त, नीति तथा समयबद्ध कार्यक्रम के आधार पर राष्ट्रव्यापी राष्ट्रीय दलों के निर्माण तथा संगठन का कार्य अति कठिन तथा दीर्घ कालिक हो, वहाँ साम्प्रदायिक तथा क्षेत्रीय हितों की बात अशिक्षित तथा राजनीतिक चेतना से हीन तथा साम्प्रदायिक व क्षेत्रीय भावना से ग्रस्त जनता के सामने रख कर जनता को अपनी ओर आकर्षित कर चालाक तथा महत्वाकांक्षी राजनीतिज्ञों के लिए क्षेत्रीयता तथा साम्प्रदायिकता के आधार पर लघुदलों का निर्माण कर अपनी महत्वाकाँक्षा की पूर्ति करना सरल होता है। यही कारण है कि द्रविड़ मुनेत्र कषगम, अकाली दल, मुस्लिम लीग, जमायते इस्लामी, संयुक्त महाराष्ट्र समिति, बंगला कांग्रेस, तेलंगाना मोर्चा, झारखण्डे पार्टी, जैसे अनेक राजनीतिक दल भारतीय राजनीति के गगन में नित नई द्युति के साथ चमकने लगे हैं तथा इनकी संख्या निरन्तर वृद्धि पर है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

वर्तमान निर्वाचन प्रणाली का आठवाँ दोष यह है कि इसने भ्रष्टतावाद को जन्म दिया है। इसके कारण आज राष्ट्र में साम्यवाद तथा समाजवाद के स्थान पर भ्रष्टतावाद या व्यक्तिवाद दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति कर रहा है। चुनाव में जय-पराजय का जैसा हितकारी या विनाश-कारी प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है वैसा दल पर नहीं पड़ता। चुनाव में विजय-स्वरूप व्यक्ति के भाग्य का सितारा चमकने लगता है। हर स्थान पर उसको सम्मान, प्रशंसा तथा महत्ता प्राप्त होती है तथा राज्य द्वारा उसकी आर्थिक लाभ उठाने की क्षमता में भी अपार वृद्धि हो जाती है तथा पराजय के परिणामस्वरूप प्रायः उसकी आर्थिक स्थिति भी डाँवाडोल हो जाती है और समाज में उसके सम्मान को भी ग्रहण लग जाता है।

इसलिए अपने दल की ओर से चुनाव में प्रत्याशी घोषित हो जाने पर व्यक्ति अपनी, अपने मित्रों, बन्धु-बान्धवों, परिचितों, तथा अपने समर्थकों की जेब से अधिक से अधिक पैसा व्यय करवाकर चुनाव में विजय प्राप्त करने के लिए जी-तोड़ प्रयत्न करता है।

इस कारण चुनाव में विजय प्राप्त कर चुनाव में अपने सहायकों के अनुचित से अनुचित कार्य भी वह भ्रष्ट से भ्रष्ट साधन अपना कर पूर्ण कराने का पूरा प्रयास करता है, जिससे आगामी निर्वाचन में खाली हुई उसकी व उसके समर्थकों की जेब उतनी भर जाये कि वह आगामी निर्वाचन में सरलता से सफल हो सके। इसलिए समाज में सर्वत्र भ्रष्टतावाद का नग्न नृत्य दिखाई पड़ता है।

इस निर्वाचन प्रणाली का नवाँ दोष यह है कि इसने जनतन्त्रवाद का तो गला ही घोंट दिया है। यह प्रणाली अति व्ययसाध्य है, विधान सभा के चुनाव में पच्चीस-तीस हजार तथा लोकसभा के चुनाव में चालीस-पचास हजार रुपये व्यय किये बिना चुनाव में विजय प्राप्ति की आशा करना दुराशा मात्र है। इसका अर्थ यह है कि चुनाव उसी व्यक्ति को लड़ना चाहिए जो अपने परिवार का भरण-पोषण कर तथा सरकारी कर चुकाकर प्रतिवर्ष पाँच हजार से दस हजार रुपये तक बचा सके। इस वर्ष बजट भाषण के समय प्रधानमन्त्री तथा वित्तमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की संसद में दी गई सूचना के अनुसार पाँच हजार रुपये वार्षिक से अधिक आय वाले व्यक्तियों की सम्पूर्ण भारत में कुल संख्या तेइस लाख है जिनमें से ऐसे व्यक्तियों की संख्या जो चुनाव लड़ने के लिए प्रतिवर्ष पाँच हजार से दस हजार रुपये तक बचा सके शायद लाख दो लाख ही होगी।

ऐसी अवस्था में अधिकांश नागरिक चुनाव में विजयी होकर जनता की इच्छानुसार समाज की आर्थिक, राजनीतिक तथा शैक्षिक व्यवस्था की रचना में सहायक न होकर गिने-चुने धन सम्पन्न व्यक्तियों को ही जनतन्त्र के नाम पर मतदान कर अपना प्रतिनिधि चुनने को विवश होते हैं। किन्तु इस प्रकार तो वर्गतन्त्र या धनिक वर्ग का शासन जनतन्त्र का गला घोंटकर जनतन्त्र के नाम से चलाया जाता है जोकि राष्ट्र की जनता के साथ एक भयंकर धोखा है। इसी कारण एक ओर स्वार्थी, चालाक तथा महत्वाकांक्षी राजनीतिज्ञों की चांदी बनी है, दूसरी ओर धन-लोलुप पूँजीपतियों की तिजोरियाँ भर रही हैं तथा उधर तीन पंच-वर्षीय योजनाओं पर विपुल राशि व्यय होने पर भी देश में भुखमरी, मँहगाई तथा बेकारी की समस्याएँ दिन प्रतिदिन विकट से विकटतर होती जा रही हैं।

हमारी वर्तमान निर्वाचन प्रणाली का दसवाँ दोष यह है कि यह राष्ट्र के जन-जन में राष्ट्र की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा शैक्षिक समस्याओं के प्रति रुचि उत्पन्न कर उन्हें

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

राष्ट्र निर्माण के कार्य में जी जान से जुट जाने के लिए प्रेरित करने में पूर्णतया असफल रही है। यही कारण है कि देश में चार आम चुनाव हो जाने के बाद भी अशिक्षितों का तो कहना ही क्या, अधिकांश उच्च शिक्षा सम्पन्न नागरिकों तथा अधिकारियों को भी विभिन्न राजनीतिक दलों के सिद्धान्तों, आदर्शों, नीतियों तथा कार्यक्रम का न तो स्पष्ट ज्ञान ही होता है और न यह जानकारी, कि किस दल का सिद्धान्त, आदर्श, नीति या कार्यक्रम, किससे श्रेष्ठ है। इसलिए निर्वाचन के समय किसी प्रत्याशी को अधिकांश नागरिक बिना अधिक विचार किये ही मतदान करते हैं।

यही कारण है कि एक निर्वाचन में जिस क्षेत्र से कांग्रेस का प्रत्याशी विजयी होता है दूसरे निर्वाचन में समाजवादी या जनसंघी तथा तीसरे निर्वाचन में पुनः उसी दल का प्रत्याशी विजयी हो जाता है जिसकी प्रथम निर्वाचन में विजय हुई थी। क्या इसका यह अर्थ है कि प्रथम निर्वाचन के समय जनता ने जिस दल के सिद्धान्त, नीति तथा कार्यक्रम को ठीक समझा था, दूसरे निर्वाचन में उसको गलत समझकर अस्वीकार कर दिया और दूसरे निर्वाचन में जिस दल के कार्यक्रम को ठीक समझा था उसको तीसरे निर्वाचन में गलत समझकर अस्वीकार कर दिया तथा तीसरे निर्वाचन में फिर उस दल के कार्यक्रम को ठीक समझा जिसको प्रथम निर्वाचन के समय ठीक समझा था परन्तु दूसरे निर्वाचन के समय गलत समझ कर अस्वीकार कर दिया था। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, बल्कि एक ही निर्वाचन क्षेत्र से कभी किसी दल की जीत व कभी किसी अन्य दल की जीत का मुख्य कारण यह है कि जो दल निर्वाचन क्षेत्र में सबसे बड़ी जाति या बड़े सम्प्रदाय के सबसे अधिक प्रभावशाली या धन-सम्पन्न व्यक्ति को अपना प्रत्याशी बनाने में सफल हो जाता है वही दल उस निर्वाचन क्षेत्र में विजयी हो जाता है। वास्तव में अधिकांश निर्वाचन क्षेत्रों में विजय किसी भी दल की न होकर व्यक्तियों की, उनकी जाति या उनके सम्प्रदाय, उनके धन, उनकी सेवा तथा उनके चरित्र व प्रभाव के आधार पर होती है, न कि जनता के द्वारा किसी दल के सिद्धान्तों को तथा कार्यक्रम को समझकर मतदान के कारण।

हमारी निर्वाचन-प्रणाली जातिवाद, सम्प्रदायवाद, क्षेत्रवाद, दल-बदलवाद, तथा भ्रष्टाचार की प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने वाली तथा पूर्ण बहुमत पाने वाले प्रत्याशी को सफल घोषित करने वाली, राष्ट्रीय दलों के निर्माण में सहायक, लोकसभा तथा विधानसभाओं में दलों को सम्पूर्ण देश या राज्य में प्राप्त मतों के अनुपात में स्थान प्रदान करने वाली तथा समाजवादी जनतन्त्र की स्थापना में सहायता प्रदान करने वाली होनी चाहिए।

समानुपातिक दल सूची प्रणाली ही ऐसी निर्वाचन-प्रणाली है जो उपर्युक्त उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक है। समानुपातिक का अर्थ है जिस अनुपात में जो दल निर्वाचन में सम्पूर्ण राज्य या प्रदेश में मत प्राप्त करने में सफल हो, उसको लोकसभा या विधानसभा में स्थान भी उसी अनुपात में प्राप्त हों। दल सूची प्रणाली का यह अर्थ है कि जो दल लोकसभा या विधानसभा के जितने निर्वाचन क्षेत्रों में चुनाव लड़ने का इच्छुक है उनकी सूची निर्वाचन आयोग द्वारा घोषित दिनांक तक निर्वाचन आयोग को देखकर उनके आधार पर चुनाव अभियान चलायेगा। इस प्रणाली के सफल संचालन के लिए वर्तमान व्यवस्था में निम्न परिवर्तन करने आवश्यक होंगे :

(1) एक सदस्य वाले निर्वाचन क्षेत्र के स्थान पर अनेक सदस्य वाले निर्वाचन क्षेत्रों

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

का निर्माण करना होगा ।

(2) केवल राजनीतिक दलों को ही चुनाव लड़ने का अधिकार होगा ।

(3) प्रत्येक राजनीतिक दल निर्वाचन क्षेत्रों के प्रत्याशियों की सूची में नाम उस वरीयता क्रम से लिखेगा जिसके अनुसार दल अपनी-अपनी सफलता के आधार पर लोकसभा तथा विधान सभा के लिए अपने-अपने सदस्य मनोनीत करेगा ।

(4) राजनीतिक दलों के कार्यकर्ताओं को चुनाव प्रचार में सुविधा प्रदान करने हेतु अनेक सदस्य वाले निर्वाचन क्षेत्रों का निर्माण किया जायगा किन्तु निर्वाचन परिणाम की घोषणा की दृष्टि से सम्पूर्ण देश लोकसभा के निर्वाचनों के लिए तथा प्रत्येक राज्य, विधान सभा के निर्वाचन की दृष्टि से एक निर्वाचन क्षेत्र ही समझा जायेगा ।

(5) निर्वाचन का परिणाम घोषित करने के पूर्व निर्वाचन आयोग सम्पूर्ण राज्य में पड़े वैध मतों की संख्या को राज्य की विधान सभा के लिए निर्धारित सदस्यों की संख्या से विभाजित कर वह संख्या ज्ञात करेगा जिसको प्राप्त करना प्रत्येक सफल घोषित किये जाने वाले प्रत्याशी के लिए आवश्यक होगा । इसी प्रकार सम्पूर्ण देश में पड़े वैध मतों की संख्या को लोकसभा के लिए निर्धारित सदस्यों की संख्या से भाग देकर लोकसभा के लिए सफल घोषित किये जाने वाले सदस्य के मतों की संख्या ज्ञात की जायेगी ।

(6) लोकसभा तथा विधान सभा के निर्वाचन में प्रत्येक दल द्वारा प्राप्त वैध मतों की संख्या को सफल प्रत्याशी घोषित किये जाने के लिए निश्चित मतों की संख्या से भाग देकर निर्वाचन आयोग प्रत्येक दल के लोकसभा तथा राज्यों की विधान सभाओं के सफल प्रत्याशियों की संख्या की घोषणा करेगा ।

(7) प्रत्येक दल के सफल प्रत्याशियों की संख्या की घोषणा यथासम्भव प्रत्येक निर्वाचन में प्रत्येक दल द्वारा प्राप्त वैध मतों की संख्या के बहुमत के आधार पर की जायेगी । किन्तु यदि किसी दल को कई निर्वाचन क्षेत्रों में मिलाकर इतने मत प्राप्त हुए हों कि उसका कोई सदस्य सफल घोषित करना पड़े तो जिस चुनाव क्षेत्र में दल को सबसे अधिक मत मिले हों, उस चुनाव क्षेत्र की सूची से उस दल के प्रत्याशी को सफल घोषित किया जायेगा ।

(8) निर्वाचन आयोग की घोषणा के अनुसार प्रत्येक दल अपने-अपने निर्वाचन क्षेत्र के प्रत्याशियों की सूची में से वरीयता क्रम के आधार पर लोकसभा तथा राज्यों की विधान सभाओं के लिए अपने-अपने सदस्य मनोनीत करेगा ।

(9) इस प्रकार दल द्वारा मनोनीत सदस्यों को दल के सिद्धान्त, नीति तथा कार्यक्रम में विश्वास रहने तक तथा तदनुरूप कार्य करते रहने तक, जिनके निर्णय का अधिकार दल की राष्ट्रीय समिति को होगा, लोकसभा या विधान सभा का सदस्य बने रहने का अधिकार होगा ।

(10) किसी दल के सदस्य द्वारा दल का परित्याग करने पर अथवा अन्य किसी प्रकार उसका स्थान रिक्त होने पर दल को अधिकार होगा कि वह, जिस निर्वाचन क्षेत्र से स्थान रिक्त हुआ है, उसकी आम चुनाव के समय घोषित प्रत्याशियों की सूची से स्थान रिक्त करने वाले सदस्य के नाम के बाद वाले प्रत्याशी को उसकी जगह पर मनोनीत कर दे । यदि सूची में कोई दूसरा नाम न हो तो उस क्षेत्र के किसी अन्य व्यक्ति को दल की ओर से मनोनीत करने का अधिकार दल को होगा । विधान सभा के लिए दल की राज्य की कार्यकारिणी तथा लोकसभा

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

के लिए दल की राष्ट्रीय कार्यकारिणी द्वारा इसका निर्णय किया जायगा ।

(11) अल्पसंख्यकों, हरिजनों तथा अन्य अनुसूचित जातियों को लोकसभा तथा विधान सभाओं में उचित संख्या में प्रतिनिधित्व दिलाने हेतु संसद द्वारा निर्धारित काल तक प्रत्येक दल के लिए दल के प्रत्याशियों की सूची में संसद द्वारा उक्त वर्गों के लिए निर्धारित स्थानों के अनुपात में उक्त वर्गों के प्रतिनिधियों के नामों को सम्मिलित करना अनिवार्य होगा । उदाहरणार्थ यदि लोकसभा या विधान सभाओं में उक्त वर्गों के लिये 500 में से 100 स्थान सुरक्षित हैं तथा कोई दल केवल 100 स्थानों पर चुनाव लड़ना चाहता है तो उसके लिए 100 में से 20 उक्त वर्गों के प्रतिनिधियों के नाम अपनी सूची में सम्मिलित करना अनिवार्य होगा ।

इस प्रणाली के विरुद्ध मुख्य आपत्तियाँ केवल तीन हैं : एक, यह प्रणाली व्यक्तियों को चुनाव लड़ने के अधिकार से वंचित करती है । दूसरे, इस प्रणाली में मतदाताओं तथा प्रत्याशी में सम्पर्क नहीं हो पाता । तीसरे, इस प्रणाली के अपनाने से अनेक दलों के निर्माण को प्रोत्साहन मिलेगा ।

पहली आपत्ति का समाधान यह है कि विश्व के किसी भी देश में शासन कार्य स्वतन्त्र रूप से चुने हुए व्यक्तियों के द्वारा किया जाना सम्भव नहीं है । शासन कार्य दलों द्वारा निर्धारित सिद्धान्त, नीति तथा कार्यक्रम के अनुसार ही चलाया जा सकता है । इसलिए केवल दलों को ही चुनाव लड़ने का अधिकार देना उचित है । इससे व्यक्तियों की स्वार्थपरता पर अंकुश लगेगा तथा सशक्त राजनीतिक दलों का निर्माण सुगम होगा ।

दूसरी आपत्ति का उत्तर यह है कि आज भी लोकसभा तथा विधान सभाओं के प्रत्याशियों के लिए सभी मतदाताओं से सम्पर्क रखना सम्भव भी नहीं है । इसके अतिरिक्त प्रत्याशी के स्थान पर दल के कार्यकर्ताओं से मतदाताओं का सम्पर्क रखना, दलों को सशक्त बनाने तथा विधायकों को भ्रष्ट होने से रोकने के लिए अधिक आवश्यक है ।

तीसरी आपत्ति का उत्तर यह है कि आज भी देश में दलों के निर्माण पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है । और न उनकी संख्या कम है । इसके अतिरिक्त केवल राष्ट्रीय दलों को चुनाव लड़ने का अधिकार प्रदान कर उनकी संख्या कम भी की जा सकती है तथा उनके निर्माण की अनुचित प्रवृत्ति पर अंकुश रखा जा सकता है ।

देश में, विकराल रूप से बढ़ती हुई बेकारी, भुखमरी तथा मँहगाई की समस्या को सुलझाकर, समाजवाद तथा जनतन्त्र की जड़ें मजबूत करना तथा पाकिस्तान जैसे ईर्ष्यालु व चीन जैसे महत्वाकांक्षी तथा छली राष्ट्र का सामना करना छोटे-छोटे राजनीतिक दलों के बूते के बाहर है । अतः केवल राष्ट्रीय दलों को ही चुनाव लड़ने का अधिकार देना दलों की संख्या कम करने के लिए एकमात्र उपाय रह जाता है ।

अब जरा इस पर भी ध्यान दीजिये कि नवीन प्रणाली अपनाने से वर्तमान निर्वाचन प्रणाली के दोषों का अन्त कैसे होगा ।

(1) एक निश्चित संख्या में मत पाने पर सफल घोषित किये जाने की व्यवस्था के कारण कोई भी प्रत्याशी अल्पमत पाकर बहुमत का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकेगा ।

(2) प्राप्त मतों की संख्या के अनुसार दलों को सदस्य मनोनीत करने की व्यवस्था से कम मत पाकर अधिक स्थान प्राप्त करके मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर बहुमत पर मनमाना शासन करने की बुराई का अन्त होगा ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

(3) इस प्रणाली के अन्तर्गत किसी भी प्रत्याशी को तथा जनता को यह पता नहीं होगा कि किस निर्वाचन क्षेत्र से कौन प्रत्याशी चुनाव लड़ रहा है। अतः जाति तथा सम्प्रदाय के आधार पर न कोई मत माँग सकेगा और न जनता मत दे पायेगी।

(4) अतः देश तथा दलों में जातिवाद तथा सम्प्रदाय के आधार पर न गुटों का निर्माण होगा और न निर्वाचन के समय प्रत्याशियों का निर्वाचन। इस प्रकार यह प्रणाली जातिवाद तथा सम्प्रदायवाद की विष बेल को भारतीय राजनीति से उखाड़ने में सफल होगी। इसके परिणाम-स्वरूप सभी सम्प्रदायों में एकता का भाव विकसित होगा तथा राष्ट्र यदा-कदा भड़कने वाले साम्प्रदायिक दंगों की अग्नि में झुलसने से भी मुक्ति प्राप्त करेगा।

(5) आर्थिक भ्रष्टाचार को समाप्त करने में यह प्रणाली प्रभावशाली भूमिका अदा करेगी। इस प्रणाली के अन्तर्गत जाति तथा सम्प्रदाय के आधार पर किसी भी प्रत्याशी के किसी निर्वाचन क्षेत्र से निश्चित रूप से चुने जाने की सम्भावना न होने के कारण कोई भी उसके निर्वाचन पर धन व्यय करना लाभकारी नहीं समझेगा, न व्यक्ति स्वयं अपनी जेब से निर्वाचन पर अधिक व्यय करेगा। ऐसी अवस्था में दलों को चुनाव व्यय वहन करने के लिए अधिक प्रयत्न करना होगा। इसलिए चुनाव में विजय प्राप्त कर उसके लिए राज्य की शक्ति का अनुचित लाभ उठाकर किसी के अनुचित कार्य करने तथा कराने की कुवृत्ति पर भी अंकुश लगेगा।

(6) इस प्रणाली के अनुसार दल के अधिकारी का चुनाव में अपने प्रत्याशियों को सफल बनाने का उत्तरदायित्व बढ़ जायेगा। निर्वाचन के लिएं धन संग्रह का कार्य भी उसे सक्रिय रूप से करना होगा। दल के लिए ऐसा करना तभी सरल होगा जब दल अपने सदस्यों के त्याग, परिश्रम तथा सेवा के आधार पर अपने दल के सिद्धान्तों, नीतियों तथा कार्यक्रम से जनता को अपनी ओर आकर्षित करने में सफल होगा। बिना धन संग्रह किए चुनाव में सफलता की आशा न होने के कारण वे राजनीति में तिकड़मबाजी व छलकपट को छोड़कर धन संग्रह के लिए सच्चरित्रता को अपनाने पर बाध्य होंगे तथा अब की भांति केवल चुनाव के एक दो मास पूर्व कार्य न करके सतत दल के कार्यक्रम आदि का प्रचार व प्रसार करने को बाध्य होंगे। अतः कम व्यय कर चुनाव जीतना सरल हो जायेगा।

(7) जातिवाद, सम्प्रदायवाद तथा धन के आधार पर चुनाव में सफलता की आशा क्षीण हो जाने के कारण निर्धन तथा उत्साही राजनीतिक कार्यकर्ताओं को भी निर्वाचन में दल का टिकिट प्राप्त कर चुनाव में सफल होने का मार्ग प्रशस्त होगा।

(8) दल के सिद्धान्तों में विश्वास तक विधायकों का सदस्य बने रहने के कारण दल-बदल की समस्या का अन्त हो जायेगा।

(9) निर्धन प्रत्याशियों के लिए चुनाव में सफलता का द्वार उन्मुक्त होने से सच्चे अर्थ में जनतन्त्र व समाजवाद की राष्ट्र में स्थापना होगी तथा देश अपनी विकराल समस्याओं को सुलझाने में सफल होकर शीघ्र एक सशक्त राष्ट्र बनकर चीन व पाकिस्तान का सामना करने में समर्थ होकर विश्व में अपना खोया सम्मान फिर से प्राप्त करने में सफल होगा तथा विश्व की समस्याओं का समाधान करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकेगा।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

लोकतान्त्रिक मूल्य और भारतीय समाज

चिरन्जी लाल शर्मा

पुराने जमाने की बात है। राज्य-व्यवस्था ठीक से नहीं चल रही थी, इसलिए लोग मनु के पास गये और उनसे अपना राजा बनने की प्रार्थना की। मनु ने कहा कि मैं तो तपस्वी हूँ। आप मुझसे राजा का कार्य करायेंगे तो आपको मेरी सभी बातें माननी होंगी, फिर कभी मत कहना कि हम नहीं मानते।

मनुष्य यदि अकेला होता तो उसके सामने अपनी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति एवं उपलब्ध भौतिक साधनों के उपयोग के अतिरिक्त कोई अन्य प्रश्न न उठता। किन्तु उसके सामाजिक प्राणी होने की वजह से उसके सम्मुख सामुदायिक जीवन की व्यवस्था का प्रश्न आया, जिसमें से राजनीतिक प्रश्न एवं फलस्वरूप राज्य-व्यवस्था का जन्म हुआ। राज्यतन्त्र का प्रारम्भिक रूप एकतन्त्र होता था, एक राजा जो व्यवस्था करता था, वही सर्वमान्य थी जैसा कि ऊपर की आख्या से प्रगट है। बाद में जब राजा स्वेच्छाचारी होने लगे और व्यवस्था में विलष्टता आई तो राज्यतन्त्र के रूप-आकार में परिवर्तन तथा विकास हुआ। विकास की यह प्रक्रिया लोकतान्त्रिक व्यवस्था के विचार तक पहुँच चुकी है। लोकतन्त्र का अर्थ है: लोकमत पर आधारित सामुदायिक जीवन की व्यवस्था एवं तदर्थ संगठित किया गया व्यवस्थातन्त्र। इसका निष्कर्ष है प्रजा का रुख देखकर राजा चले न कि राजा प्रजा को भेड़ों की तरह हाँके, अर्थात् 'यथा राजा तथा प्रजा' की लोकोक्ति के स्थान पर 'यथा प्रजा तथा राजा' प्रतिष्ठित हो। राजा से तात्पर्य है—राजकार्य करने वाला कोई भी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह चाहे वह निर्वाचित हो या स्वयंभू।

राज्य-शास्त्र की भाषा में यह नियम राजा पर जिस भाँति लागू किया गया, समाज-शास्त्र की भाषा में वही नियम समाज के प्रत्येक नागरिक-सदस्य पर लागू होता है। अर्थात् समाज में जिस मूल्य की प्रतिष्ठा है उसके विरुद्ध कोई आचरण न करे। उदाहरणार्थ, चोरी का मूल्य प्रतिष्ठित नहीं है इसलिये चौर्य कार्य करने वाला व्यक्ति समाज की भर्त्सना का पात्र बनता है चाहे उसे सजा मिले या न मिले। संग्रह का मूल्य मान्य है, अतः येन केन प्रकारेण धन-संग्रह करने वाला व्यक्ति समाज में उच्च आसन पाता है।

किसी न किसी तरह के मूल्य समाज में सदैव प्रतिष्ठित रहते आये हैं, लेकिन आवश्यकता इस बात की है कि केवल असली व मानव-स्वभावानुकूल मूल्य ही स्थान पायें ताकि समाज में आपस के टकराव के स्थान पर सहकार तथा परस्परावलम्बन का वातावरण बने, जिससे प्रत्येक नागरिक की स्वतन्त्र सत्ता बनी रहे और उसके लिए हर विकास का अवसर उपलब्ध रहे। शेष नकली मूल्यों का निराकरण किया जाये। यानी सामाजिक प्राणी ऐसा

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कहने योग्य समाज पा सके जिसकी उसे शाश्वत कामना है ।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, सामुदायिक जीवन की व्यवस्था के प्रश्न से राजतन्त्र का उदय हुआ है, इसलिए ऐसे आदर्श लोकतान्त्रिक समाज की रचना एवं समाज में असली मूल्यों की प्रतिष्ठा के कार्य में राजतन्त्र उपयोगी बने, यह अपेक्षा है ।

राज्य-व्यवस्था के प्रकार

कैसी राज्य-पद्धति से वह अपेक्षा पूरी हो सकती है, यह देखने के लिए तथा लोकतन्त्र की अधिक व्याख्या करने हेतु सभी प्रचलित एवं सम्भावित पद्धतियों पर नजर डालना तुलनात्मक दृष्टि से आवश्यक है । समाजशास्त्र के आधुनिकतम विचारक आचार्य विनोबा भावे ने राज्य पद्धतियों के तीन प्रकार बताये हैं—

(1) एकायतन : एक ही समर्थ व्यक्ति अपनी बुद्धि के अनुसार समाज की व्यवस्था करे और उसी का आदेश ही कानून हो ।

(2) अनेकायतन : अनेक समर्थ व्यक्ति (बहुमत से निर्वाचित या स्वयम्) मिलकर व्यवस्था करें, तथा ।

(3) सर्वायतन : सब लोग मिलकर समान जिम्मेदारी से समाज की व्यवस्था करें ।

एकायतन प्रणाली सबसे प्रारम्भिक है (तथा किसी-न-किसी रूप में कहीं-कहीं अब भी जारी है) । इसके अन्दर सार्वभौम सत्ता राजा की होती है । कुछ दिन पहले तक विद्यमान भारतीय देसी रियासतें इसकी मिसालें हैं ।

सर्वायतन प्रणाली अभी कहीं बनी नहीं, इसलिये इसकी मिसाल नहीं दी जा सकती । प्राचीन भारतीय पंचायती व्यवस्था को अवश्य इसका अधकचरा रूप कहा जा सकता है । इस व्यवस्था में समाज का हर सदस्य अपना पार्ट अदा करेगा ।

रही बात अनेकायतन प्रणाली की । इसके दो उपभेद हो सकते हैं । एक, अल्पसंख्यायतन अर्थात् कुछ समर्थ अल्पसंख्यक व्यक्ति अन्य असमर्थ बहुसंख्यकों पर शासन चलाते हैं तथा दो, बहुसंख्यायतन अर्थात् बहुमत द्वारा समर्थन प्राप्त लोग शासन कार्य चलाते हैं । नाजीवाद, फासिस्टवाद तथा साम्राज्यवाद तो अल्पसंख्यतन्त्रों के उदाहरण हैं ही । इसके अतिरिक्त रूप में बहुसंख्यायतन दीखने वाली प्रणालियाँ भी गुण से अल्पसंख्यायतन ही हैं क्योंकि जनता को उन थोड़े से आदमियों के काम में दखल देने की छूट नहीं होती जो व्यवस्थातन्त्र को कायम करने तथा तदनन्तर उसे चलाने में मुख्य भूमिका निभाते हैं, जैसे चीन या रूस के समाजवादी गणतन्त्र । इतना ही नहीं, अमरीका, ब्रिटेन तथा भारत की प्रजातान्त्रिक व्यवस्थाओं के विषय में भी यही बात कहनी होगी, क्योंकि प्रथम तो सत्ताधारी राजनीतिक दल बहुमत से सत्ताधारी नहीं बनता (कुल मतदाताओं में से 25 या 30 प्रतिशत का समर्थन उसे सत्तारुढ़ करा सकता हैं, यदि शेष बहुमत कई विभागों में बँट जाये, जैसा कि अक्सर हो रहा है) । दूसरे किसी दल की नीति को दिशा देने वाले चन्द नेतागण होते हैं और दलीय शासन के नाम पर इस नीति के विरुद्ध चल सकने की स्वाधीनता दल के सदस्यों से छीन ली जाती है ।

प्रश्न यह है कि जनमत द्वारा समर्थित न होने पर भी शासन-व्यवस्थाएँ चल क्यों रही हैं ? उत्तर है कि ये इसी प्रकार से चलती रहेंगी, जब तक प्रत्येक जन अपनी निजी स्वतन्त्र सत्ता का एहसास नहीं करता अर्थात् असली व व्यापक लोकतान्त्रिक मूल्यों के अनुसार

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

स्वशासित ढंग से समाज में आचरण नहीं करना सीखता तथा मामूली बातों के विषय में भी शासन सत्ता की ओर ताकता रहता है ।

लोकमत के समर्थन के अभाव में अल्पसंख्यातन्त्र इन तीनों में से कम-से-कम एक अथवा तीनों के सहारे टिकता है : (1) शस्त्र यानी दण्ड शक्ति, सैनिकों की शक्ति; (2) शास्त्र यानी कोई आकर्षक आदर्श जनता के सामने रख कर उसे मन्त्रमुग्ध किये रहना जैसे रूस में समाजवाद का आदर्श और (3) धन यानि जहाँ काम अटके वहाँ धन का लालच दिखाकर सत्ता की सुरक्षा करना ।

खैर, अनेकायतन व्यवस्था का चूँकि बहुमत द्वारा समर्थित हो सकना भी सम्भव है इसलिए इसके अल्पसंख्यायतन तथा बहुसंख्यायतन दो रूप हुए । इन्हें स्वतन्त्र मान लेने पर राज्य-व्यवस्था के चार प्रकार ठहराये जायेंगे : (1) एकायतन, (2) अल्पसंख्यायतन, (3) बहु-संख्यायतन तथा (4) सर्वायतन । एक के बाद दूसरी क्रमशः इन्हीं प्रणालियों में होकर विकास की गति चली जा रही है ।

किसी भी आधार पर राजतन्त्र के कितने भी भेद किये जायें, इन्हीं चारों में कहीं न कहीं फिट हो जायेंगे । अतः यह वर्गीकरण सार्वभौम वर्गीकरण है । जिसे हम लोकतन्त्र कहना चाहते हैं वह चौथे प्रकार अर्थात् सर्वायतन व्यवस्था प्रणाली के अतिरिक्त कुछ हो नहीं सकता क्योंकि एकायतन या अल्पसंख्यायतन तो लोकतन्त्र है ही नहीं और बहुसंख्यायतन को यदि लोकतन्त्र मानें तो भी गलत है क्योंकि वह अल्पसंख्यक जनता जिसने तन्त्र को समर्थन नहीं दिया अपने स्वतन्त्रता के अधिकार से वंचित कर दी जाती है । बहुसंख्यकों का निर्णय स्वार्थ-निष्ठ एवं अल्पसंख्यकों के हित के विरुद्ध भी हो सकता है । जैसे सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति ने रूस में जारों को कत्ल कर डाला ।

प्रारम्भिक एकतन्त्र से लेकर आज के लोकतान्त्रिक विचार तक पहुँचने के मानव सभ्यता के इतिहास एवं तानाशाही शासनों व साम्राज्यवादों का उन्मूलन होते-होते उनके स्थान पर लोक-प्रतिनिधिक सरकारों की स्थापना के क्रम को देखने से पता चलता है कि विकास की प्रेरणा का स्रोत मानव स्वभाव की स्व-अस्तित्वप्रियता, स्व-मौलिकताप्रियता एवं स्वाधीनता है । वह अपने ऊपर थोपे हुये शासन की नहीं बल्कि स्वनिर्मित स्वैच्छिक व्यवस्था की आवश्यकता महसूस करता है । वह दण्ड-शक्ति तथा भय से कोई व्यवस्था कबूल करना पसन्द नहीं करता भले ही अभी तक उसे ऐसा करना पड़ता रहा हो । मानव स्वभाव की इसी स्वाधीनताप्रियता का तकाजा है कि कोई बहुमत भी उस पर अपना शासन न थोपे । स्वराज्य का अर्थ है आत्म शासन । जब तक लोगों में आत्म-शासन की शक्ति नहीं पैदा होगी तब तक सच्चा स्वराज्य नहीं आयेगा और राज्य चलता रहेगा । दिल्ली से चले वह राज्य है और गाँव-गाँव में हर मनुष्य जिसे स्वयं चलावे वह स्वराज्य है । दुनिया की कोई दूसरी सत्ता अपने ऊपर न चलने देना स्वराज्य का एक पहलू है तथा किसी दूसरे पर अपनी सत्ता न चलाना उसका दूसरा पहलू है ।

स्वराज्य या लोकतन्त्र की उपर्युक्त कसौटी पर आसानी से हम आज के हर देश की राज्य-पद्धति को अस्वीकृत कर सकते हैं ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

मानव स्वभाव

मनुष्य अपने स्वभाव के अनुकूल समाज-रचना व व्यवस्था की खोज में है यह मान लेने के बाद तथा चिन्तन को आगे बढ़ाने से पूर्व मानव स्वभाव की कुछ और विशेषताओं का विश्लेषण जरूरी है क्योंकि इन्हीं को हमें मार्ग-दर्शक तत्वों के रूप में स्वीकार करके चलना है। स्वभाव का अर्थ है नैसर्गिक गुण, जैसे अग्नि का स्वभाव है उष्णता। स्वभाव को परखने के लिए कुछ कसौटियाँ हैं जिनके आधार पर हम मानव स्वभाव क्या है, क्या नहीं, यह निर्धारित करेंगे।

(1) जिसमें मानव को आनन्द मिलता है वह उसका स्वभाव है, जिसमें बेचैनी है वह स्वभाव नहीं।

(2) जिसका हम निराकरण चाहते हैं वह स्वभाव नहीं और जिसका हम निराकरण नहीं चाहते वह स्वभाव है।

(3) जिसके लिये निमित्त, कैफियत तथा समर्थन की जरूरत नहीं वह स्वभाव है तथा जिसके लिये निमित्त देना पड़ता है, कैफियत बतानी पड़ती है अथवा औचित्य देकर समर्थन करना पड़ता है वह स्वभाव नहीं। जैसे आपस में प्रेम से कोई नहीं चौंकता लेकिन कहीं कत्ल हो जाने पर दूर-दूर तक चर्चा होती है तथा करने वाले को अपने कृत्य का कोई बहाना, निमित्त बताना होता है, विवरण देना होता है तथा औचित्य समझाना पड़ता है।

(4) जो स्वयं अपने नाम से जिन्दा रहे, वह स्वभाव तथा जो अन्य किसी मूल्य का आश्रय लेकर चले वह स्वभाव नहीं। जैसे युद्ध शान्ति के नाम पर होते हैं, लेकिन शान्ति का अस्तित्व स्वयं अपने ही नाम से है।

(5) स्वभाव व्यापक होता है यानी 100 में 100 आदमियों में अत्यधिक मात्रा में होता है।

(6) स्वभाव शाश्वत होता है यानी कभी था अब नहीं है ऐसा नहीं होता। जो शाश्वत नहीं वह स्वभाव नहीं।

(7) स्वभाव सार्वत्रिक होता है। ऐसा नहीं है कि एक स्थान पर था एवं अन्यत्र जाकर नहीं रहा। जो सार्वत्रिक नहीं वह स्वभाव नहीं।

इन कसौटियों के आधार पर मानव स्वभाव में निम्न विशेषतायें ठहरती हैं—

(1) वह जीना चाहता है।
(2) वह सामाजिक प्राणी है।
(3) वह स्वाधीनता प्रिय है। दण्ड व दबाव को वह पसन्द नहीं करता।
(4) वह युद्ध नहीं शान्ति चाहता है।
(5) उसका स्वभाव मिलाप व सहकार है, न कि संघर्ष व टकराव।
(6) प्रेम उसका स्वभाव है द्वेष नहीं।
(7) अहिंसा उसका स्वभाव है, हिंसा नहीं।
(8) वह सत्यप्रिय है, असत्य प्रिय नहीं।
(9) उसका स्वभाव करुणा है, कठोरता नहीं।
(10) वह स्वभाव से निर्भय है और भय का निराकरण चाहता है।
(11) संग्रह उसका स्वभाव नहीं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

(12) सहज रूप से वह दूसरे पर विश्वास करना ही पसन्द करता है। केवल प्रासंगिक तौर पर ही, वह भी बेचैनी महसूस करते हुए, वह अविश्वास करता है।

लोकतान्त्रिक मूल्य

(1) **मानवनिष्ठा**—स्वभाव के पूर्णतया अनुकूल परिस्थितियाँ उपलब्ध न हो सकने के कारण कुछ नकली मूल्यों को मानव ने समाज में मान्यता दे दी, लेकिन इसके बावजूद मानव असली मूल्यों को ही प्रतिष्ठित करना चाहता है तथा उसके लिये प्रयत्नशील है। बुरे-से-बुरे आदमी में भी अच्छाइयाँ होती हैं और वह अच्छा बनने को सदैव तैयार रहता है। काका साहब कालेलकर ने लिखा है कि मनुष्य प्रयत्न करने पर किसी दिन महात्मा बन सकेगा, परन्तु प्रयत्न करने पर भी पूरा दुरात्मा कभी नहीं बन सकता क्योंकि मनुष्य के अन्दर के सत् तत्व अधिक बलवान होते हैं।

इन्सान की इसी इन्सानियत पर श्रद्धा अर्थात् मानव-मात्र पर विश्वास ही मानव-निष्ठा है। वह लोकतन्त्र का बुनियादी मूल्य है।

(2) **सत्य**—लोकतन्त्र अथवा स्वराज्य का अर्थ आत्म शासन है यह देख ही चुके हैं। अतः वे सिद्धान्त जो हमारे आत्म-शासन को दिशा दें, स्वराज्य के अर्थात् लोकतन्त्र के अन्य मूल्य हैं। इनमें प्रथम महत्त्वपूर्ण मूल्य सत्य है। अपने आपसी व्यवहार में हम सत्य को पसन्द करते हैं। असत्य का सहारा लेकर हमारे आपसी सम्बन्ध बनते नहीं देखे गये।

(3) **प्रेम**—प्रेम से सहकार-मिलाप तथा द्वेष से संघर्ष व टकराव पैदा होता है। टकरावों के रहते असमर्थ वर्ग के हितों की रक्षा नहीं हो सकती और इसलिए लोकतान्त्रिक समाज की रचना नहीं हो सकती चाहे कोई भी राज्य पद्धति अपनायी जाये।

(4) **करुणा**—वैयक्तिक व सामाजिक स्तर पर सत्य, प्रेम, करुणा आदि गुणों का काफी प्रयोग हुआ है। इसी गुण से प्रेरित होकर समर्थ असमर्थ की सहायता करते हैं। असमर्थों के समर्थों के विरुद्ध संगठित हो जाने पर अव्वल तो असमर्थ नहीं रहते क्योंकि वह बहुमत में हो जाते हैं और समर्थ असमर्थ बन जाते हैं। इससे समस्या नहीं बदलती। दूसरे समर्थों से जबरदस्ती उनका सामर्थ्य छीनकर असमर्थों में बाँट देने से भी वर्ग-भेद की क्रिया नहीं रुकती। इसके अतिरिक्त मानव की मानवता में विश्वास रखकर उसके स्वाधीनतापूर्वक स्वेच्छा से आचरण करने के मूल्य को हम मान्यता दे चुके हैं, अतः समर्थों की करुणा को जगा कर उन्हें असमर्थों को ऊपर उठाने की प्रेरणा देना ही वास्तविक वैज्ञानिक ढंग का सामाजिक निर्माण-कार्य है। राज्यतन्त्र इस निर्माण-कार्य के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा करने में शक्ति लगाये तथा नागरिक करुणावान बने तो स्वतः ही लोकतन्त्र के लिए जमीन तैयार हो जाती है।

(5) **सहयोग व सहकार**—जीवन का नियम संघर्ष नहीं सहकार है। मान लिया जाये कि मानवीय स्वभाव का यही नियम हो कि जो जितना कमाये वह उतना ही खाये तो परिवार में छोटे बच्चे, जो बिल्कुल नहीं कमाते, लेकिन जिनका खर्चा बड़ों से भी ज्यादा होता है, एक प्रश्न बन सकते हैं। लेकिन ऐसा होता नहीं। हमें तो बच्चों व बूढ़ों के लिए व्यवस्था करने में आनन्द मिलता है। यह परिवार की बात हुई। इसके बाहर सामाजिक गतिविधियों का दायरा जितना बढ़ा हुआ हो उतना ही पारस्परिक सहकार की आदत ज्यादा विकसित हो जानी चाहिये। समाज सब समर्थ एवं असमर्थों के सहयोग से चलना चाहिये।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

(6) **असंग्रह**—मनुष्य मात्र से सम्बन्धित कोई प्रश्न ऐसा नहीं जिसे अनार्थिक कहा जा सके। राजनीतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय हर प्रश्न किसी न किसी तरह आर्थिक प्रश्न जरूर है। मानव-जीवन की सारी गतिविधियाँ धन से नियन्त्रित हैं। धन के महत्त्व के इस प्रकार समस्त जीवन पर छा जाने से संग्रह की प्रवृत्ति का बढ़ जाना एवं इसके फलस्वरूप धन-सम्पन्न व धन-विहीन इन दो वर्गों का बन जाना अवश्यम्भावी है। इसका परिणाम पारस्परिक द्वेष तथा वर्ग-संघर्ष है।

वर्ग-भेद के निर्माण की जड़ (अर्थात् संग्रह) को काटने के बाहरी उपाय तो हों (जैसे समाज का उत्पादन एवं वितरण कार्य कुछ केन्द्रित हाथों में न रहने दिया जाये, आदि) मगर असली समस्या तो मनोवृत्ति है। उसे बदलने के लिए मानव-मात्र को यह बोध हो जाना ही चाहिए कि संग्रह एक असामाजिक एवं अनैतिक कार्य है। यही असंग्रह के मूल्य की प्रतिष्ठा है। एक नियम है कि बिना किसी का भाग छीने कोई अमीर नहीं बन सकता। यही कारण है कि हमारे धर्म-गुरुओं ने संग्रह के मूल्य का उन्मूलन करने का हमेशा प्रयास किया है। ईसा मसीह ने कहा है कि सुई के छेद से ऊँट निकल सकता है लेकिन धनवान को स्वर्ग की प्राप्ति सम्भव नहीं।

(7) **शरीर श्रम-निष्ठा**—असंग्रह के मूल्य की मान्यता के साथ शरीर श्रम के मूल्य की अनिवार्यता स्वतः ही आ जाती है क्योंकि संग्रह न करने पर श्रम का सहारा लेना होगा। श्रम करने योग्य व्यक्ति को श्रम करना ही चाहिए और यह तभी होगा जब हम निष्क्रिय बैठकर खाने को श्रेष्ठ मानना छोड़ चुके होंगे। श्रम की सामाजिक मूल्य के तौर पर प्रतिष्ठा हो जाने पर श्रम न करने वाला सम्मान का नहीं बल्कि अवज्ञा का पात्र समझा जायेगा। ऐसा हो, तो समाज से वर्ग-भेद मिट जाये। सब के सामाजिक हित समान हो जायें, विरोध मिटकर सम्मति बने। यह लोकतान्त्रिक समाज-रचना का मार्ग है। श्रम के मूल्य की प्रतिष्ठा के लिए उन लोगों को श्रम करना चाहिए जो आज प्रतिष्ठित हैं। ऐसा होने से जो श्रम करते हैं वे अपना स्थान ऊँचा होता हुआ महसूस करेंगे और श्रम को छोड़ने का विचार नहीं करेंगे जैसी कि आज मनोवृत्ति है कि श्रम करने में हम हीनता महसूस करते हैं और श्रम-विहीन कार्य की खोज में रहते हैं।

धन-निष्ठा के स्थान पर श्रम-निष्ठा को मूल्य प्रदान किये बिना वास्तविक लोकतन्त्र की कल्पना नहीं की जा सकती।

(8) **अस्पृश्यता**—ऊँच-नीच का भेद कोई लोकतान्त्रिक समाज का लक्षण नहीं, चाहे वह भेद ब्राह्मण व शूद्र, गोरे व काले, अथवा स्वधर्मी व पर-धर्मी आदि किसी भी प्रकार का हो। सब मानव समान हैं तथा सब तरह का काम करने वाले अपने काम का समान प्रतिष्ठित मूल्य पाने के अधिकारी हैं। यह सोचने की आदत पड़ जाये तो छुआछात व ऊँच-नीच के भेद समाप्त हो जायें। यह सारे भेद कृत्रिम हैं तथा मानवीय स्वतन्त्रता के शत्रु हैं। अतः किसी लोकनिष्ठ स्वतन्त्र समाज में इन्हें सहन नहीं किया जाना चाहिए।

(9) **सर्वधर्म-समभाव**—यदि हर धर्म का मानने वाला दूसरे धर्म को सम्मान की दृष्टि से देखे तो धर्म के आधार पर साम्प्रदायिक भेद न बने। सम्प्रदायवाद तथा जातिवाद लोकतन्त्र के महान् शत्रु हैं। पारस्परिक सद्भाव के लिए सर्वधर्म-समभाव का महत्त्व हर एक को महसूस हो जाना अनिवार्य है।

सभी धर्म सत्य की खोज एवं इन्सान के कल्याण के लिए हैं। लेकिन इनमें से कोई

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भी सम्पूर्ण नहीं। प्रत्येक धर्मावलम्बी प्रत्येक धर्म की अपूर्ण लगने वाली या समझ में न आने वाली बातों को छोड़ता हुआ ग्राह्य बातों को स्वीकार करके उन पर अमल करता चले यही सर्वधर्म-समभाव का अर्थ है। इसमें अपने धर्म की भी अपूर्ण बातों को त्यागने का विधान आ गया। अपने धर्म को सम्पूर्ण व सर्वश्रेष्ठ मानते हुए अन्य सब धर्मों को पूरा-का-पूरा अस्वीकृत करते जाने का दुराग्रह धार्मिक अज्ञान का ही प्रतीक है और भेदभाव की जड़ है। वास्तव में हमारे वैयक्तिक व सामाजिक जीवन को अनुशासित करने के लिए सब धर्मों के मूल उपदेश समान हैं। गाँधी जी का कहना था कि इस्लाम धर्म का पूरा आचरण करने वाले तथा हिन्दू धर्म के अनुसार चरित्र का गठन कर लेने वाले इन दोनों व्यक्तियों का जीवन-व्यवहार एक-सा होगा। दोनों में यह पहचानना भी कठिन होगा कि कौन हिन्दू है और कौन मुसलमान। आजकल हमें जो फर्क दीखता है वह दोनों के अधूरा होने के कारण है। सर्वधर्म-समभाव का अर्थ इस प्रकार देखने पर अपने धर्म को छोड़ देने का कदापि नहीं बल्कि उसे पूरी तरह कस कर पकड़ने का है जिससे हमारा अधूरापन दूर हो, अभिमान समाप्त हो और विभिन्न धर्मावलम्बी आपस में एकरूपता महसूस करें। इस प्रकार की एकरूपता समाज के खण्डों को जोड़कर लोकतान्त्रिक समाज के निर्माण के लिए नितान्त अनिवार्य है। अभी तक हमने सिर्फ धर्म-निरपेक्षता को लोकतान्त्रिक मूल्य के रूप में मान्यता दी है। धर्म-निरपेक्षता का सर्वधर्म-समभाव जैसा अर्थ नहीं, बल्कि है कि धर्म के बिना ही हमारा काम चलेगा। इसमें अपने धर्म का परित्याग भी आ गया अर्थात् धर्म नाम की चीज की हमें अपेक्षा नहीं। उसे उपेक्षित करके ही चले जाना ठीक समझा गया। यह वैज्ञानिक रास्ता नहीं, क्योंकि सामाजिक व्यवस्था की जरूरत जिस उद्देश्य के लिए महसूस की गयी, धर्म कही जाने वाली हर आचार-संहिता के जन्म का भी कारण वही उद्देश्य है। सामाजिक प्राणी कैसे आचरण करे जिससे वह सुखी हो, यही तो धर्म सिखाता है। अतः सर्वधर्म-समभाव का अर्थ है कि हमें सामाजिक निर्माण के लिए धर्म अर्थात् सब धर्मों के सारतत्त्व की अपेक्षा है, उसके बिना समाज नहीं चलेगा।

(10) **अहिंसा**—ऊपर प्रेम को हमने बुनियादी लोकतान्त्रिक मूल्य माना लेकिन बिना अहिंसा का पालन किये प्रेम सध नहीं सकता। अहिंसा के पालन का अर्थ है शासन-निरपेक्षता, दण्ड-निरपेक्षता एवं भेद-निरपेक्षता। जिस लोकतान्त्रिक समाज की रचना का हमारा लक्ष्य है उसकी पूर्ति अहिंसा के अवलम्बन बिना सम्भव नहीं। यद्यपि अमल में अब तक धर्म व धार्मिक शिक्षा का राजनीतिक प्रश्न से कोई सरोकार नहीं माना जाता है लेकिन गांधी जी ने इसकी शुरुआत कर दी है। कोई राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक या आर्थिक प्रश्न अपने स्वरूप में स्वतन्त्र नहीं बल्कि प्रत्येक प्रश्न राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक, एक साथ सब है। हमारे देश में धार्मिक-आध्यात्मिक उसूलों का सामाजिक स्तर पर प्रयोग सदियों से चला आ रहा है। अनेक जमातों, धर्मों, भाषाओं एवं रीति-रिवाजों वाले विशाल देश को जिन मनीषियों ने एक देश माना उन्होंने अहिंसा को ही संगठन का प्रधान सिद्धान्त स्वीकार किया। यही कारण था कि बाहर से आने वाली सब जातियों को, भले ही वे आक्रमणकारी के रूप में आयी हों, यहाँ की जनता ने आत्मसात कर लिया। इतिहास साक्षी है कि बराबर आक्रमणों का शिकार बने रहने पर भी भारत कभी आक्रमणकारी नहीं बना।

अहिंसा के बल पर ही इतनी विषमताओं वाला देश 'राष्ट्र' के रूप में जीवित रहा, विशेषकर उस युग में जब सूचना व प्रसारण आदि की सुविधाएँ इतनी मात्रा में आपसी सम्पर्क

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

के लिए उपलब्ध नहीं थीं ।

अहिंसा प्रेम मूलक है । इसलिए इससे आपस के अविश्वास, भय तथा हित-संघर्ष समाप्त होते हैं । अतः अहिंसा नागरिक जीवन का, लोकनीति का आधार है । जिस हद तक इसका विकास होगा उसी हद तक लोकनीति का निर्माण और सर्वसम्मत लोकसत्ता का विकास होगा ।

(11) **अभय**—यद्यपि उपर्युक्त सिद्धान्तों में अभय सम्मिलित है फिर भी पृथक् रूप से इसका महत्त्व स्वीकार करना आवश्यक है । स्वतन्त्र समाज में यह जरूरी है कि किसी को किसी से भय न हो । देखा जाये तो भय का निराकरण ही संक्षेप में सच्चा स्वराज्य है ।

(12) **स्वराष्ट्र-निष्ठा**—आज हम अमरीकी, रूसी, भारतीय आदि हैं परन्तु निरन्तर हम यह न रहकर सिर्फ मानव बनने को प्रयत्नशील हैं । जहाँ कहीं भी हमें स्वयं को सिर्फ मानव महसूस करने का अवसर मिलता है, हम आनन्द-विभोर हो उठते हैं जैसे कि प्यासा पानी मिलने पर होता है । यही कारण है कि जब भेदों से ऊपर उठकर मानव-मानव के बीच प्रेम का रिश्ता जोड़ने का गाँधी जी ने प्रयास किया तो विश्व भर में उनका स्वागत हुआ और जब एक मानव चन्द्रमा पर उतरा तो पूरी मानव-जाति ने हर्ष मनाया और महसूस किया कि सिर्फ अमरीकी मानव नहीं बल्कि पृथ्वी का मानव चाँद पर पहुँचा यानी हम जीवन को विश्व-मानवता के स्तर पर खड़े होकर देखने को आतुर हैं । वास्तव में सिर्फ चाँद पर से ही हमें पृथ्वी गेंद के बराबर दिखायी नहीं देती बल्कि स्वयं पृथ्वी पर ही हम सब निवासी सिमट कर एक-दूसरे के बिल्कुल निकट आ गये हैं । फासले-फासले नहीं रहे । कोई भी व्यक्ति एक देश में नहीं बल्कि पूरे विश्व में रहता है । किसी को किसी से काटा नहीं जा सकता, सबका सबसे वास्ता है । इसलिए विश्व को इकाई मानकर समाज के हर पहलू पर विचार करना ही विचार का वैज्ञानिक ढंग है । प्रत्येक समुदाय की आंतरिक तथा बाहरी व्यवस्था बनाते समय तथा किसी भी सामुदायिक प्रश्न का हल सोचते समय हमें समुदाय विशेष के इस विश्व समाज का अविभाज्य अंग होने की असलियत को ध्यान में रखना होगा । यह वह जगह है जहाँ वैज्ञानिक विकास ने हमें पहुँचा दिया है । आज कोई भी प्रश्न केवल राष्ट्रीय नहीं, बल्कि सर्व-राष्ट्रीय है ।

मानव समाज के आरम्भ में प्रत्येक समुदाय एक-दूसरे से असम्बद्ध था । मानव की आवश्यकताओं तथा सभ्यता के बढ़ने के साथ-साथ समुदायों का एक-दूसरे से वास्ता पड़ने लगा । क्रिया-प्रक्रियाओं के बढ़ते-बढ़ते अनेकों ऐसे समुदाय मिलकर राष्ट्र बन गये । विकास-यात्रा का रथ चल ही रहा है और अगला पड़ाव दिखाई देने लगा है । वह है राष्ट्रों का विश्व-राष्ट्र में विलय । विकास-रथ के मार्ग में व्यवधान न पड़े इसका ध्यान रखते हुए हमें सामाजिक मामलों की व्यवस्था करनी है । इसी दृष्टि से राज्य पद्धति का गठन हो एवं सामुदायिक व्यवस्था हो यही सर्वराष्ट्र-निष्ठा के सिद्धान्त की लोकतान्त्रिक मूल्य के रूप में प्रस्थापना है ।

अपने यहाँ हम लोकतन्त्र की स्थापना के लिए अच्छे से अच्छा प्रयास करें लेकिन यदि उपर्युक्त सिद्धान्त की उपेक्षा करते जायें तो यही होगा कि भारत पाकिस्तान से डरे, और पाकिस्तान भारत से तथा जनता के परिश्रम की कठिन कमाई गोला-बारूद पर खर्च होती रहे और अन्दर बेरोजगारी, निर्धनता, भीख और चोरी पनपती रहे । हम कहना चाहते हैं कि निस्सन्देह यह स्वतन्त्रता नहीं, स्वराज्य नहीं, लोकतन्त्र नहीं क्योंकि लोकतन्त्र के आधुनिकतम विचार के मूल में मानव स्वभाव की स्वाधीनताप्रियता ही प्रेरक शक्ति है । इतिहासवेत्ता एच०

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

जी० वेल्स ने अपनी इतिहास की पुस्तक के उपसंहार में लिखा है कि अब वह युग आ रहा है जबकि कोई भी राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय सत्ता के बल पर जी नहीं सकता।

(13) **भेद निराकरण**—एक प्रश्न है, स्वभाव से स्वाधीनताप्रिय होते हुए भी मनुष्य या मनुष्य-समुदाय एक-दूसरे की स्वाधीनता के शत्रु क्यों हैं ? इसका कारण है हित-संघर्ष और भेद-दृष्टि। यह इन्सान की भूलों का परिणाम है। चलते-चलते वह रास्ता भी भूला है, उसने असावधानी भी की है, यह सब उसी का दुष्परिणाम है। भेद व वर्ग बन गये हैं जिनके हित एक-दूसरे के विरोधी हैं। भेद-निर्माण के निम्नलिखित कारण हैं :

(क) **धर्माभिमान अथवा सम्प्रदायवाद**—यह मिथ्या गौरव कि हम तथा हमारा धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है, शेष अन्य धर्म घटिया हैं, सम्प्रदायवाद की जड़ है। इसे उखाड़ने का उपाय सर्वधर्म-समभाव को सामाजिक मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करने का ठोस प्रयास एवं विचार-प्रचार द्वारा भावात्मक एकता का निर्माण है।

(ख) **देशाभिमान अथवा जातिवाद**—भारत में यह रोग बहुत बढ़ा हुआ है। इसके कारण अनेक झगड़े-टन्टे होते हैं। लोकतन्त्र में ऊँच-नीच, गोरे-काले आदि किसी प्रकार का भेद सहन नहीं किया जाना चाहिए। यह भेद विचार-शोधन से मिट सकते हैं।

(ग) **सम्पत्ति और स्वामित्व**—यह सामाजिक एकता व लोकमत का भयानक शत्रु है। भारतीय उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश, श्री हिदायततुल्ला ने विचार व्यक्त किया था कि सम्पत्ति और स्वामित्व के अधिकार को नागरिक के अधिकारों में मुख्य स्थान देकर संविधान-निर्माताओं ने महान् अदूरदर्शिता तथा अनुभवहीनता का परिचय दिया है।

(घ) **सत्ता**—सत्ता के लिए संघर्ष के कारण भी हित-विरोध और गिरोह-बन्दी होती है।

इनमें से अन्तिम दो कारण आजकल भेद-निर्माण का मुख्य कार्य करते हैं। यह एक-दूसरे के पूरक हैं।

वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त के आधार पर वर्ग-भेद के निराकरण की बात सबसे पहले कार्ल मार्क्स ने कही। उसने कहा कि गरीबी, अमीरी ईश्वरकृत नहीं मनुष्यकृत है। जो धर्मोपदेश उसे ईश्वरकृत कहता है वह जनता के लिए अफीम की गोली है। मार्क्स के सिद्धान्तों पर भेद-निराकरण का कुछ प्रयास हुआ किन्तु उसमें कमी रही। वह मानव निष्ठा के साथ नहीं हुआ। हमने अमीरों की मानवता में पूर्णतया अविश्वास किया तथा भूल गये कि अन्य मानवों की भाँति उनके हित का संरक्षण तथा उनकी स्वतन्त्रता की भी रक्षा करनी है एवं उनके मानवीय गुणों (जो दुर्गुणों से सदा बलशाली होते हैं) का अधिकतम उपयोग करके उनको स्वेच्छा से बाँटकर खाने को प्रेरित किया जाना सम्भव है। ऐसा न हुआ होता और प्रयास वैज्ञानिक ढंग से हुआ होता तो एक मिसाल कायम होती और विश्व में हर जगह ऐसी क्रान्तियाँ हुई होतीं। किन्तु आज साम्य-वाद विरोधी खेमा तैयार है क्योंकि समस्या के सुलझाने में साम्यवाद के समर्थ हो सकने में सन्देह हो गया है। क्रान्ति के बाद भी रूस व चीन में पूँजीवाद के चार लक्षणों में से तीन को तो स्पष्टतया स्वीकार कर लिया गया है और चौथा भी टालने के बावजूद बरबस आना ही है। पूँजीवाद की चार बातें ये हैं : उत्पादन-वितरण कार्य का केन्द्रीकरण, यन्त्र पूजा, शस्त्रनिष्ठा तथा शोषण। पूँजीपति के स्थान पर राज्य आ बैठा जो उसका लाभ ग्रहण करने लगा, अर्थात् नाटक चलता रहा बस एक पात्र के स्थान पर दूसरा पात्र अभिनय करने लगा।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

लोकशाही का निरीक्षण करें तो स्थिति यह है कि अमरीका व ब्रिटेन, जो लोकशाही के आधुनिकतम विकसित देश माने जाते हैं, पूँजीवाद के मजबूत किले हैं। प्रशासन व सत्ता धन की शक्ति वाले थोड़े से हाथों में रहती है। वास्तव में उन्हीं चन्द आदमियों के धन की सुरक्षा हेतु वहाँ प्रशासन चलता है।

भारत में तो इन्हीं देशों के संविधान की नकल की गई है, जिसका नतीजा सामने है। गरीब व अमीर का भेद उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। एक सरकारी सर्वेक्षण के अनुसार सन् 1955–66 के दशक में राष्ट्रीय आय में देश के उच्चतम वर्ग के पाँच प्रतिशत अमीरों का भाग 15 प्रतिशत से बढ़कर 25 प्रतिशत हो गया था और इसके विपरीत निम्न-स्तर के उतने ही गरीबों का राष्ट्रीय आय में हिस्सा इन्हीं 10 वर्षों में 1·88 प्रतिशत से भी घटकर सिर्फ 1·62 प्रतिशत रह गया था।

इस बढ़ती हुई खाई को भरे जाने का वैज्ञानिक उपाय निम्न प्रकार है :

(1) सत्ता का विकेन्द्रीकरण,

(2) सम्पत्ति का विभाजन, उत्पादन का विकेन्द्रीकरण एवं यन्त्र निराकरण, तथा

(3) भूमि का समाजीकरण।

(1) लोकसत्ता में सरकार को शून्य कहा गया है। शून्य की अपनी कोई कीमत नहीं होती लेकिन यह अगर एक के अंक पर चढ़ जाये तो 10 हो जाती है। यह अंक जनता है। जनता चाहे तो शून्य को अपने लोकमत से दस बना दे। वैसे शून्य तो सिर्फ शून्य ही है। अर्थात् लोकसत्ता में सरकार के पास कोई सत्ता नहीं होती। यदि होती है तो केवल नाम-मात्र की। लोगों के पास ही सब सत्ता रहती है। इस बिखरी हुई, विभाजित सत्ता को ही लोकतन्त्र कहते हैं। इसमें सत्ता-संघर्ष की कोई गुंजाइश नहीं होती।

विकेन्द्रित सत्ता का रूप यह होना चाहिए कि हर गाँव में गाँव पंचायत हो जिसके हाथ में प्रत्यक्ष व्यवस्था की सारी सत्ता हो और ऊपर की सरकार में सिर्फ नैतिक सत्ता हो। वह सिर्फ सलाह दे तथा रेलों, रास्तों, विदेशों के साथ व्यवहार आदि मामलों को देखे। मुख्य व्यवस्था के सभी महत्त्वपूर्ण मामलों में ग्राम पंचायत को उतनी ही सत्ता हासिल हो जितनी आज राज्य को है। ग्राम स्तरीय प्रशासनिक इकाई आर्थिक योजना की भी प्राथमिक इकाई हो तथा पंचायत द्वारा ही अपनी इकाई की आर्थिक नीति भी बने, क्योंकि बिना आर्थिक स्वावलम्बन के प्रशासनिक स्वामित्व सम्भव नहीं होगा और जनता केन्द्रीय सत्ता के मुँह की ओर देखती रहेगी जिस पर थोड़े से आर्थिक सत्तावान लोग नियन्त्रण बनाये रखेंगे। आर्थिक सत्ता केन्द्रीय उत्पादन व वितरण कार्य करने वालों के पास होगी, अर्थात् राजनीतिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण के लिए आर्थिक सत्ता का भी विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। इस प्रकार के विकेन्द्रीकरण का अर्थ है कि प्राथमिक प्रशासनिक एवं प्राथमिक अर्थव्यवस्था की एक ही इकाई अर्थात् ग्राम पंचायत हो। स्पष्ट है कि ग्राम-स्तर पर आर्थिक स्वावलम्बन सत्ता और धन के विकेन्द्रीकरण को तोड़कर वर्ग-निराकरण करने हेतु आवश्यक है। इस प्रकार हम बृहत् उद्योगों का बहिष्कार करके लघु कुटीर उद्योगों की बात तक आ गये हैं, जिसमें यन्त्र निराकरण की बात स्वतः ही सम्मिलित है। गाँधी जी की अहिंसावादी स्वराज्य व्यवस्था का स्वप्न पूरा कर सकने योग्य यही सिद्धान्त हो सकता है।

(2) सम्पत्ति के विभाजन का सारा प्रबन्ध उपर्युक्त विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था में अपने

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

ग्राप हो जाता है। इसमें वर्ग-भेद निर्माण के सारे तत्त्व क्रियाहीन हो जाते हैं।

(3) भूमि के स्वामित्व का अधिकार व्यक्ति से हटकर ग्राम समाज में आ जायेगा। ग्राम पंचायत भूमि के उपयोग का अधिकार योग्य कृषक को देगी। स्वामियों का यह स्थानान्तरण स्वामियों की स्वेच्छा के बिना दण्ड या भय से न हो, यह प्रयास अब तक हुई भूलों से सबक लेकर करना होगा। उनके सहमत न होने तक उन्हें सहमत करने का अहिंसात्मक यत्न करते रहना होगा। यह वर्ग-भेद के निराकरण एवं लोकतन्त्र की स्थापना का सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक उपाय है, सामाजिक निर्माण की प्रविधि है ठीक उसी तरह जैसे भवन निर्माण की एक प्रविधि होती है।

सम्पत्ति तथा स्वामित्व की इस भाँति व्यवस्था होने पर सत्ता का डंक स्वतः ही निकल जाता है, क्योंकि आर्थिक शक्ति ही आज सत्ता का आधार है तथा सत्ता के लिए संघर्ष का आकर्षण भी है। सत्ता से इस प्रकार वैभव की चमक मिट जाने पर महत्त्वाकांक्षी लोग वहाँ पहुँचने का प्रयास नहीं करेंगे और केवल नीतिमान पुरुष ही ऊँचे-ऊँचे स्थानों तक पहुँचेंगे क्योंकि वहाँ नैतिक सत्ता की जरूरत होगी। नैतिक सत्ता के लिए चुनाव नहीं होते। वह तो स्वतः ही तैयार होती है। गाँधी जी को भला किसने चुना था ? जंगल में शेर को भला कौन चुनता है ?

सारांश यह है कि सत्ता के विकेन्द्रीकरण से, उसका आकर्षण घट जाने से उसके लिए संघर्ष नहीं रहेगा तथा सम्पत्ति के विभाजन एवं स्वामित्व के विसर्जन से धन के लिए संघर्ष नहीं रहेगा। फलतः वर्ग-भेद निर्माण के तीन मुख्य स्तम्भ टूट जायेंगे और सर्वसहमत लोकसम्मत व्यवस्था सम्भव होगी।

(14) **लोकनिष्ठा**—अगला लोकतान्त्रिक मूल्य है लोकनिष्ठा। एकतन्त्र के युग में लोक-हितार्थ बोलने वाला व्यक्ति राजद्रोही कहलाता था। आज उसे या तो दलद्रोही और या जाति-सम्प्रदाय द्रोही बनना पड़ता है, क्योंकि लोकहित के साथ सम्प्रदाय-हित अथवा राजनीतिक दलहित की पटरी नहीं बैठती।

आज की लोकशाही के राजनीति पर खड़े होने के कारण सम्प्रदायवाद व जातिवाद को खूब पोषण मिला है क्योंकि सम्प्रदायवादी भावनाओं को भड़का कर ही राजनीतिक दल सत्ता प्राप्त कर पाते हैं अर्थात् दल-निष्ठा और जाति-निष्ठा एक दूसरे के पोषक हैं और दोनों ही आज बलवान होकर लोकनिष्ठा पर हावी हो गये हैं। प्रत्येक काल या तो 'पूर्व निर्वाचन काल' है या 'निर्वाचन काल' है या 'उत्तर निर्वाचन काल' है। दूसरे शब्दों में नागरिक व नेता हमेशा या तो चुनाव की तैयारी में लगे रहते हैं या चुनाव कराने में और या अगले चुनाव में स्थान पाने के लिए मौजूदा प्राप्त सत्ता का पूरा उपयोग करके तैयारी करने में। उनके पास लोकहित की बात सोचने का समय नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति या तो सम्प्रदाय-निष्ठ है या दल-निष्ठ और या दोनों ही।

लोकनिष्ठा के इन दोनों शत्रुओं के चंगुल से समाज को व नागरिक को छुड़ाने के लिए वर्तमान चुनाव पद्धति को बदलना आवश्यक है। चुनाव दलीय आधार पर न होकर स्वतन्त्र उम्मीदवारी के आधार पर होने चाहिएँ। उम्मीदवार अपने व्यक्तिक गुणों, जनसेवा कार्य एवं चरित्र-बल से चुनाव जीतें तथा सर्वसम्मति से चुने जायें। नागरिक में लोकनिष्ठा कायम करने के लिए यह तो न्यूनतम कार्यक्रम है। लोकनिष्ठा से स्वस्थ लोकमत तैयार होता है जो

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

वास्तविक लोकतन्त्र का आधार है ।

लोकतन्त्र का आदर्श चित्र

उपर्युक्त समस्त चर्चा से स्पष्ट है कि लोकतन्त्र का तात्पर्य किसी राजतन्त्र की मशीनरी मात्र से ही नहीं बल्कि पूरे समाज के मानवीय मूल्यों पर आधारित होने तथा नागरिक जीवन के लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों द्वारा स्वेच्छा से अनुशासित होने से है। लोकतान्त्रिक समाज में राज्य-पद्धति के किसी विशेष ढाँचे या रूपाकार के लिए आग्रह नहीं बल्कि उसके गुण को बनाये रखते हुए तथा उसका विश्वास करते हुए पद्धति के स्वरूप को बदलते रहकर उसमें सुधार करते रहना ही सर्वोत्तम पद्धति समझनी चाहिए अर्थात् पद्धति लोकतान्त्रिक है या नहीं इसकी जाँच उसके स्वरूप से नहीं बल्कि गुण से करते रहना चाहिए। जनता कभी वाद-निष्ठ तथा पद्धति-निष्ठ नहीं होती। वह तो सिर्फ जीवननिष्ठ होती है। जीवन सुचारू रूप से चले तो उसे पद्धति या वाद की फिक्र नहीं होती। एक राजा अपनी एकाकी सभा में भी अकेला राज्य नहीं चलाता और यदि वह उदार तथा लोकनिष्ठ हुआ तो लोकमत का रुख देख कर ही चलेगा। इसके विपरीत रूप में लोकतान्त्रिक कही जाने वाली राज्यपद्धति में सब लोग पूरी तरह शासन में प्रत्यक्ष भाग नहीं ले पाते और यदि निर्वाचित सत्ताधारी राजनेता महत्त्वाकांक्षी हुए तो इस बात की पूरी गुंजाइश है कि वे जनता पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हुकूमत चलायें। तात्पर्य यह है कि लोकतान्त्रिक राज्य-पद्धति के नाम से कोई पद्धति ऐसी नहीं जिसका सर्वत्र और सदैव लागू होने योग्य विधान बनाया जा सके। समुदाय विशेष की रुचि, संस्कृति, आकांक्षा तथा जीविका के साधन एवं उसके आन्तरिक तथा बाहरी जगत से सम्पर्क के रूप को ध्यान में रखते हुए यथा-समय, तथा उपयुक्त पद्धति अपनायी जानी चाहिए। मुख्य शर्त यह हो कि पद्धति का लोकतान्त्रिक चरित्र न बदले। अतः लोकतान्त्रिक सरकार के स्वरूप का एक स्थायी चित्र नहीं बन सकता। मान लिया जाये कि किसी कुटुम्ब में छोटे-छोटे बच्चे व जवान माँ-बाप हैं तो इसमें माँ-बाप की आज्ञा चलेगी। जिस कुटुम्ब में लड़के भी समझदार हो गये हों तो वहाँ माँ-बाप व लड़कों के सहयोग से काम चलेगा, केवल माँ-बाप की आज्ञा नहीं चलेगी और जिस कुटुम्ब में माता-पिता बिल्कुल बूढ़े हो गये हों वहाँ लड़के ही सारा कारोबार चलायेंगे। बूढ़े सिर्फ सलाह देंगे—न उनकी आज्ञा चलेगी और न उनका सहयोग होगा। इस प्रकार अलग-अलग हालत में अलग-अलग स्वरूप होंगे। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में सरकार के स्वरूप पर भी यही नियम लागू होगा।

लोकतान्त्रिक सरकार के चरित्र व गुणों का चित्र उपर्युक्त चिन्तन के आधार पर निम्न प्रकार का होना चाहिए :

(1) समर्थों की सामर्थ्य जन-सेवा के लिए समर्पित हो, जैसा कि ऊपर कुटुम्ब के उदाहरण में देखा गया। कुटुम्ब में असमर्थों का भार तो समर्थों पर होता ही है। इसके अतिरिक्त चार कमाने वाले व्यक्तियों में भी समान काम करने तथा समान आय प्राप्त करने की सामर्थ्य नहीं होती, लेकिन इन सब असमानताओं पर समाज में ध्यान नहीं दिया जाता और न अनुत्पादक सदस्यों को भौतिक आवश्यकताओं से वंचित रखा जाता है अर्थात् समर्थ अपने सामर्थ्य से पूरे परिवार की सेवा करते हैं।

वर्ग-भेद निराकरण के हेतु ऊपर सुझाये गये उपायों के अमल में आने के बावजूद नैसर्गिक रूप से शक्ति व क्षमता में परस्पर भेद होने के कारण सामर्थ्य-भेद तो अवश्य रहेगा।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

मगर समर्थों की शक्ति जन-सेवा में काम आयेगी।

लोकतान्त्रिक समाज में बृहत-स्तर पर यही कल्पना की गयी है कि जो जितना कमाये वह उतना ही खाये के बजाय सब शक्तिभर कमायें तथा आवश्यकतानुसार खायें।

(2) जनता स्वावलम्बी व पारस्परिक सहयोग करने वाली हो। विकेन्द्रित राजनीतिक तथा आर्थिक इकाई के रूप में ग्राम-पंचायत के संगठन की आवश्यकता ऊपर महसूस करते समय ग्राम-स्तरीय आर्थिक स्वावलम्बन एवं प्रशासनिक स्वातन्त्र्य की आवश्यकता पर विचार हो ही चुका है। रही बात पारस्परिक सहयोग की, सो समाज का कोई व्यक्ति न तो पूर्णतया समर्थ है और न बिल्कुल असमर्थ। जो असमर्थ हैं वह किन्हीं अन्य बातों में समर्थ ही हैं। जैसे एक विद्वान् शास्त्रों में ज्ञाता है लेकिन एक नाविक ही उसे नदी से पार करा सकता है। अतः सबके आपसी सहयोग की आवश्यकता है। ग्राम-स्तर पर आर्थिक स्वावलम्बन होने से पारस्परिक सहयोग स्वतः ही बढ़ता है। केन्द्रीय व्यवस्था की मशीन पर दबाव नहीं बढ़ता, सामाजिक रचना में क्लिष्टता नहीं पैदा होती अतः हिंसा व दण्ड का आश्रय नहीं लेना चाहिए।

(3) यदि व्यवस्था में कुछ दोष आने के कारण प्रासंगिक तनाव या विरोध कभी पैदा भी हो तो उस परिस्थिति का सामना करने की आवश्यकता तो होगी ही। सम्भव है कि असहयोग या व्यवस्था के प्रतिकार का अवसर भी आये। ऐसे अवसरों पर असहयोग करने की स्वतन्त्रता तो सब को हो, मगर उसका आश्रय अहिंसा ही हो। अहिंसात्मक असहयोग के माने हैं विनयपूर्वक अनुशासित ढंग से कुछ भी गुप्त न रखकर दृढ़ता से वाद-विषयक प्रश्न के बारे में न्यूनतम माँग पेश करना।

(4) सबके प्रामाणिक परिश्रम की आर्थिक व नैतिक कीमत समान हो। जीवन-निर्वाह का सिद्धान्त अमल में आये, अर्थात् बिना जी चुराये सच्चाई से लोकोपयोगी श्रम करने वालों को समान जीवन-निर्वाह करने का पात्र माना जाये। काम के प्रकार के आधार पर समाज में ऊँच-नीच के भेद न हों। 'द फॉल ऑफ रोमन एम्पाइर' नाम की पुस्तक में लिखा गया है कि रोमन साम्राज्य का पतन इसलिए हुआ कि वहाँ श्रम की प्रतिष्ठा समाप्त हो गयी थी तथा लोग श्रम करने में प्रतिष्ठा की हानि तथा श्रम न करने में प्रतिष्ठा का लाभ महसूस करने लगे थे। क्या आज भारत में वैसी ही स्थिति नहीं ? खतरे की ओर से आँखें मूँदकर स्वयं को मौका देते रहते हुए तथा आत्म-परीक्षण को टालते हुए असलियत को स्वीकार न करने का परिणाम बहुत घातक होता है।

श्रम करने में प्रतिष्ठा की हानि महसूस होने के दो कारण होते हैं। पहला यह कि श्रम का आर्थिक मूल्य कम मिले तथा दूसरा यह कि श्रम के आधार पर जाति भेद हो जिनमें कुछ जातियाँ ऊँची तथा कुछ नीची मानी जायें अर्थात् श्रम की आर्थिक व नैतिक कीमत समान न हो।

श्रमनिष्ठा का हमने लोकतान्त्रिक मूल्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान इसीलिए माना है।

(5) राज्यव्यवस्था एवं अर्थव्यवस्था दोनों विकेन्द्रित हों जिनकी प्राथमिक स्वावलम्बी इकाई एक ही हो।

(6) चुनाव दलीय पद्धति से न होकर पूर्णतया वैयक्तिक गुणों के आधार पर सर्व-सम्मति से हों।

(7) यन्त्र व शस्त्र का निराकरण हो चुका हो।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

(8) सम्पत्ति का विभाजन व स्वामित्व का विसर्जन हो चुका हो और वर्ग-भेद का निराकरण हो चुका हो ।

(9) लोकतान्त्रिक सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा कायम हो चुकी हो ।

(10) नागरिक का दृष्टिकोण सर्वराष्ट्रीय स्तर का हो, फलतः अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना कायम हो चुकने से सुरक्षा पर खर्च करने की जरूरत न रहे ।

(11) व्यवस्था किसी के द्वारा ऊपर से लादी हुई न हो बल्कि लोकमत द्वारा स्वयं जरूरत महसूस करके लागू की गयी हो । प्रसिद्ध इतिहासकार एडमंड बर्क ने यह भविष्यवाणी की थी कि फ्रांस में जबरन लोकशाही स्थापित करने का परिणाम यह होगा कि वहाँ तानाशाही शासन बन जायेगा । उसका कहना था कि बलपूर्वक किसी पर थोंपा गया संविधान स्वाभाविक विकास के सिद्धान्त के प्रतिकूल होने के कारण सर्वथा अस्वाभाविक व दोषपूर्ण होता है । विधान कोई बनाने की चीज नहीं, इसका स्वतः ही विकास होता है । प्रत्येक जनता की अपनी निजी विशेषताएँ, व परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें उसकी विशिष्ट सामाजिक-राजनीतिक संस्थाओं, रीति-रिवाजों, परम्पराओं आदि का निर्माण होता है और राष्ट्रीय प्रतिभा अभिव्यक्त होती है । उसकी उपेक्षा करते हुए कोई संविधान बनेगा तो विफल हो जायेगा ।

(12) जनता की इन निजी विशेषताओं और परिस्थितियों को लोकतन्त्र के अनुकूल मोड़ देने के लिए यह आवश्यक है कि उस पर कोई संविधान न थोपा जाये बल्कि लोकमानस में लोकतान्त्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठा निरन्तर प्रसार कार्य व शिक्षण कार्य द्वारा की जाये । यदि लाभ का ध्येय रखने वाली एक व्यापारिक कम्पनी अपने माल का विज्ञापन द्वारा प्रचार कर सकती है तो मानव सेवा का ध्येय रखने वाली लोकनिष्ठ सेवा संस्थाएँ तथा नीतिमान पुरुष अपने कष्ट-साध्य रचनात्मक परिश्रम द्वारा समाज को अवश्य ही इन मूल्यों में निहित करने, नागरिक की परतन्त्रता व विवशता दूर करने एवं मानवस्वभावानुकूल परिस्थिति तैयार करने की शक्ति का अहसास कराने में अवश्य सफल होंगे । इसका कारण यह है कि प्रथम तो जनता को स्वभावतः इन मूल्यों की तलाश है (भले ही वह न जानती हो कि उसे किस वस्तु की तलाश है) तथा दूसरे वह सेवक व शासक का भेद पहचानने में भूल नहीं करती और सेवक को हमेशा शासक से ऊँचा सम्मान देती है । भारतीय संस्कृति के इतिहास में इसकी अनेकों मिसालें हैं । सिद्धार्थ यदि राजा बने रहते तो उनका इतना सम्मान न होता जितना बुद्ध बन जाने पर हुआ । गुरु वशिष्ट का सम्मान राजा दशरथ से भी ऊँचा था । स्वयं राजा उनके लिए आसन छोड़ देते थे । आधुनिक युग में गाँधी जी से ज्यादा कौन से राज्यप्रमुख का सम्मान हुआ है ?

लोकतान्त्रिक संस्थाएँ

इस प्रकार देखा गया कि लोकतान्त्रिक समाज में तीन मुख्य संस्थाएँ काम करती हैं जो एक-दूसरे के कार्य में अनिवार्यतः सहायक हैं : (1) लोक-शिक्षक जो जनता की निजी विशेषताओं और मनोवृत्तियों को उपदेश व शिक्षा द्वारा ज्ञान देकर उचित मोड़ दे । (2) स्वयं जनता जो इन नीतिमान, चरित्रवान एवं सेवाभावी लोकशिक्षकों के मार्ग-दर्शन में अपने लोकमत को विकसित करके अपने लिए स्वयं व्यवस्था चुने, तथा (3) राज्य व्यवस्थातन्त्र जो लोकमतानुसार व्यवस्था कार्य में ऊपरी सहयोग प्रदान करे ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारतीय समाज

गाँधी जी ने आदर्श समाज के लिए इन तीनों संस्थाओं को ठीक तरह क्रियाशील बनाने का अपने ढंग से अनूठा प्रयास किया और आजादी के बाद सरकार में न जाकर लोकशिक्षण का कार्य सम्भाला। गाँधी जी के बाद भी आचार्य विनोबा भावे आदि अनेक नीतिमान लोग लोकशिक्षण के कार्य में लगे हैं। उनका यह प्रयास भविष्य में उत्तम परिपाटी के कायम होने तथा तीनों लोकतान्त्रिक संस्थाओं के अधिकतम सक्षम बनाने की आशा का केन्द्र है।

(1) प्राचीन भारत में इन तीनों संस्थाओं का रूप था ऋषि, प्रजा व राजा। ऋषि निस्वार्थी, सेवाभावी एवं सत्ता से अलग होते थे अतः जनमानस में इनका अटूट आदर था तथा राजा भी इनसे मार्ग-दर्शन प्राप्त करने की अपेक्षा रखता था। इस प्रकार एक ऋषि जगतगुरु तथा राजगुरु दोनों ही होता था। राजा इसलिए भी इनके प्रति विनत रहता था कि वे कहीं प्रजा को उससे विमुख न कर दें। अतः यह लोग राजा व प्रजा दोनों के बीच की सुन्दर कड़ी होते थे जो राजा के सम्मुख प्रजा का हित तथा प्रजा के सम्मुख राजा की नीति रखते हुए समन्वय बनाये रखते थे। उन्हीं के जरिये भारतीय समाज हमेशा आगे बढ़ता आया, बनता आया है। लोगों में सांस्कृतिक व सामाजिक क्षेत्र में भावात्मक एकता का विकास राजाओं के प्रभाव में इतना नहीं हुआ जितना इन लोगों के मार्ग-दर्शन से हुआ। बुद्ध व महावीर का जो असर जनता पर था, वह किसी भी राजा का न था। शंकराचार्य, रामानुज, कबीर, तुलसी, चैतन्य महाप्रभु, रामकृष्ण परमहंस और रवीन्द्र नाथ ठाकुर आदि सन्त पुरुषों का जो स्थायी प्रभाव जनता पर है कि वह किसी भी शक्तिशाली राजा का नहीं हुआ। स्वयं राजा इनके प्रभाव के कारण प्रतिष्ठित होते थे और प्रजा के चरित्रवान व सुखी होने पर गौरवान्वित होते थे। उपनिषद् में अपने राज्य का वर्णन करते हुए एक राजा कहता है कि 'न मे स्तेनो जनपदे न कर्वयः' अर्थात् मेरे राज्य में न कोई चोर है न कंजूस।

(2) अहिंसा की लोकतान्त्रिक मूल्य के रूप में चर्चा करते हुए यह देखा गया कि अनेक प्रकार की विभिन्नताओं वाले इस विशाल देश में पारस्परिक सद्भाव, सहकार तथा प्रेम की स्थापना के लिए अहिंसा के आधार की जरूरत बहुत पहले ही ऋषियों ने महसूस की तथा देश को एक राष्ट्र के रूप में संगठित किया। इस प्रकार मानवीय मूल्यों पर आधारित देश के राष्ट्रीय चरित्र का गठन मानवनिष्ठ व लोकतान्त्रिक रूप में विकसित हुआ। बाहरी आगन्तुकों को यहाँ आत्मसात कर लिया गया मगर यहाँ से कोई महत्त्वाकांक्षी राजा अन्यत्र हुकूमत करने या विजय प्राप्त करने बाहर नहीं गया। देश के अन्दर ही नहीं, बल्कि बाहर के मानवमात्र की स्वतन्त्रता की इज्जत करना हमने अपने संस्कारों से सीखा।

वर्तमान भारत की अन्तर्राष्ट्रीय नीति का स्वरूप इन्हीं संस्कारों के प्रभाव से सामने आया है जिसके कारण विश्व में देश की स्वातन्त्र्य-प्रियता का सम्मान है। भारत की राष्ट्रीय प्रतिभा का संक्षेप में विकसित रूप यह है कि हम मानवनिष्ठ, सहिष्णु एवं उदार हैं।

(3) किन्तु फिलहाल हमसे एक भूल हुई है कि इस राष्ट्रीय प्रतिभा की उपेक्षा करके हमने अपना संविधान बनाते समय पश्चिमी राष्ट्रों में लागू संविधानों की बहुत सी बातों की ज्यों-की-त्यों नकल कर ली है। उदाहरणार्थ दलगत राजनीति के कारण व्यर्थ विभिन्न दलों में जनता विभाजित हो गयी है जो परस्पर असहिष्णु बन रहे हैं। चुनाव पद्धति ने सम्प्रदायवाद तथा जातिवाद को बढ़ावा देकर पारस्परिक कटुता बढ़ायी है तथा सत्ता की स्पर्द्धा

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

ने सेवा व रचना कार्य के क्षेत्र से हमारा ध्यान हटाकर सत्ता के क्षेत्र में केन्द्रित कर दिया है। प्रशासकीय सुधार आयोग के अध्यक्ष श्री के० हनुमन्तैया ने कहा है कि भारत के राजनीतिक संगठन की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि राज्यों के मुख्यमन्त्री येन-केन-प्रकारेण सत्ता हथियाये रखने में प्रयत्नशील हैं, चाहे उन्हें विधायकों को तोड़ना पड़े या मन्त्रिमण्डलों का विस्तार करना पड़े। श्री हनुमन्तैया ने यह जो बताया वह तो रोग का ऊपरी लक्षण मात्र है। रोग की जड़ तो यह है कि पश्चिमी देशों के लिए उपयुक्त संविधान का प्रकार भारतीय जनता के लिए उपयुक्त नहीं हुआ।

(4) हमारी इस भूल का कुछ दण्ड तो हमें मिला है पर कुछ और मिलना शेष है। इसके बाद ही हम प्रगति की पूर्णतः सही राह पर आ सकेंगे।

परन्तु स्थिति निराशाजनक नहीं क्योंकि भूल होने तथा राह भटकने से विकास यात्रा रुकती नहीं, भले ही कुछ अवरुद्ध हो जाये। विकासवादी सिद्धान्त के ही आधार पर हम आशा कर सकते हैं कि जहाँ तक यात्रा पूरी कर चुके, वहाँ से पीछे तो कम-से-कम नहीं हटेंगे, आगे को ही चलेंगे चाहे देर हो जाये तथा यह भी कि इन समस्त व्यवधानों के बावजूद लोकतन्त्र एवं मानव-स्वातन्त्र्य के क्षेत्र में हम अन्य राष्ट्रों से आगे ही हैं और सम्भव है कि पीछे न रहें तथा सर्वप्रथम लोकतन्त्र की आदर्श मिसाल कायम कर सकें। वर्तमान अवरोध एवं किलिष्टताएँ विकास की ओर जाने के रास्ते में पड़ने वाली तथा पार किये जाने की अनिवार्य परिस्थितियाँ हैं अर्थात् लोकतान्त्रिक प्रक्रिया की अंग हैं।

(5) भारतीय जनता को पंचायती राज्य-व्यवस्था तथा विकेन्द्रित ग्रामोपयोगी अर्थ-व्यवस्था का भी पुराना अनुभव है, जिन्हें हमने आज भी लोकतन्त्र की आवश्यक शर्त माना है। दुर्भाग्य सिर्फ यह रहा कि हम दूसरों की चकाचौंध में अपनी सही उपयुक्त राह छोड़कर गलत रास्ते पर आ गये। किन्तु भूल द्वारा शिक्षण के सिद्धान्त के अनुसार ऐसा लगता है कि इससे जो सीख मिली है उसके अनुसार बेहतर ही रचना होगी।

(6) आज यहाँ जितने पारस्परिक विरोध नजर आते हैं उनका कारण यही है कि हमने अपनी विकसित राष्ट्रीय प्रतिभा का लाभ नहीं उठाया किन्तु उसका अर्थ यह नहीं कि लोग बगावत चाहते हैं बल्कि यह है कि वे अपनी विरोध कर सकने की स्वाधीनता का पूरा उपयोग करते हैं। हमारे मुख पर कोई ताला नहीं पड़ा है जैसा कि विदेशी साम्राज्य ने डाल रखा था। यह आदर्श लोकतन्त्र की स्थापना के लिए तथा अब तक की हुई भूल का सुधार करके सही राह पर आने के लिए बहुत ही आशाजनक स्थिति है।

उपसंहार

उपर्युक्त सम्पूर्ण चिन्तन सत्यता के विकासवादी सिद्धान्त में विश्वास रखते हुए किया गया है। दिल्ली या बम्बई जैसे यातायात एवं व्यस्तता भरे शहर में पैदल या वाहनों द्वारा यात्रा कर रहे व्यक्ति यातायात नियमों का इस तरह पालन करते हैं मानों वे इनके साँचे में ढाल दिये गये हों। इसके विपरीत छोटे कस्बे की सड़क पर केवल दो व्यक्ति इस प्रकार चल रहे होते हैं कि कोई साइकिल सवार उनसे बचकर राह नहीं पा सकता। बड़े शहर में बस की प्रतीक्षा में लाइन में खड़े लोग बिल्कुल जल्दबाजी नहीं करते तथा धैर्यपूर्वक खड़े रहते हैं। इसके विपरीत छोटे ग्रामीण बस स्टैण्डों पर टिकिट के लिए विकट संघर्ष होता है। कभी-कभी कपड़े

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

तक फटते हैं। छोटे स्थानों पर यातायात-नियमों का लोगों के दिलों में वैसा महत्त्व नहीं होता, जैसा कि बड़े शहर में होता है। विकासवादी सिद्धान्त का कहना है कि जब इन छोटे स्थानों पर भी यातायात का चक्र और व्यस्तता बढ़ेगी तो यहाँ के लोगों में अनिवार्यतः यातायात-नियमों का मूल्य प्रतिष्ठित हो जायेगा, क्योंकि उस समय दो ही विकल्प होंगे, या तो इन नियमों के अनुसार चलें या जीवन खतरे में डालें। जिस समय हमारे सामने दो ही रास्ते होंगे कि या तो प्रत्येक नागरिक लोकतान्त्रिक मूल्यों के साँचे में स्वयं को ढाले या नष्ट हो जाये तथा शासन विकेन्द्रित हो जाये अथवा समाप्त हो जाये, उस समय आदर्श लोकतान्त्रिक समाज रचना के लिए सबसे उपयुक्त व अनिवार्य अवसर होगा अर्थात् उस समय इस प्रकार की रचना के अतिरिक्त अन्य रचना टिक ही नहीं पायेगी।

विज्ञान की सहायता से आवागमन, सूचना एवं सम्पर्क के साधन बढ़ रहे हैं फलतः मानव समाज में व्यस्तता, घटना-चक्रों का क्रम तथा गतिविधियाँ बढ़ रही हैं। मानव और मानव के बीच की भौतिक एवं मानसिक दूरी न्यून से न्यूनतर होती जा रही है। साथ ही संघर्ष तथा स्पर्द्धा भी बढ़ रही है। यह बढ़ता हुआ घटनाचक्र उस स्थिति तक जरूर पहुँचेगा जब अनिवार्यतः जनमानस में लोकतान्त्रिक मूल्यों का महत्त्व प्रतिष्ठित हो जायेगा, जिसके फलस्वरूप हित-संघर्ष मिटेंगे तथा स्वस्थ लोकमत का निर्माण होगा, जनता स्वशासित बनेगी, कोई किसी पर हुकूमत नहीं करेगा, पारस्परिक सहकार कायम होगा, सब सामुदायिक व्यवस्थाएँ आसानी से होने लगेंगी और राजतन्त्र पर न्यूनतम दबाव होगा।

जैसे अनेकों दुर्घटनाएँ हो चुकने पर उनसे सबक लेते हुए यातायात के नियमों का निर्माण किया जाता है वैसे ही सभ्यता व विज्ञान के विकास में अब तक हुए अनुभवों और गलतियों से निष्कर्ष लेकर मानवीय सामाजिक व्यवस्था के लिए कुछ आदर्श सिद्धान्तों का निष्कर्ष हासिल हुआ है जिसमें विकास हो रहा है। इन्हीं को लोकतान्त्रिक मूल्य कहते हैं। इसका नागरिकों को शिक्षण प्राप्त करना तथा इनका सम्मान करना आवश्यक है।

तीन वाक्यों में सारी बात दुहरानी हैं :

(1) गुरुजन जनता को स्वशासन के मूल्यों का शिक्षण दें तथा उनके जीवन को सुसंस्कृत करें।

(2) लोग इस शिक्षण को जीवन में उतारें तथा एकमत होकर रहें।

(3) राज्यकर्ता लोकमत को पहचानें और तद्नुकूल व्यवस्था करें। इसका फलित होगा, सुविकसित, सुसंस्कृत एवं स्वस्थ लोकमत पर आधारित सामाजिक व्यवस्था, विकेन्द्रित राजनीतिक एवं आर्थिक सत्ता तथा समाज में भावात्मक एकता।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

मध्य प्रदेश में चौथे आम चुनाव एवं कांग्रेस : एक पुनरावलोकन

बी० आर० पुरोहित

पिछले आम चुनावों में मध्य प्रदेश कांग्रेस के भाग्य ज्वार-भाटे की भाँति उतार-चढ़ाव से गुजरते रहे हैं। नवम्बर, 1956 में नवीन मध्य प्रदेश के निर्माण के बाद सन् 1957 में द्वितीय आम चुनावों में कांग्रेस को 288 सदस्यों की विधानसभा में 232 स्थान प्राप्त हुए तथा 49·83 प्रतिशत मत मिले। पाँच वर्ष बाद तीसरे आम चुनावों में उसे 142 स्थान मिले और उसको प्राप्त होने वाले मतदान का प्रतिशत गिरकर 38·05 हो गया। सन् 1967 के चौथे आम चुनावों में उसकी पुनः ऊर्ध्व गति होती है। उसने 296 स्थानों में से 167 स्थान लेकर 40·69 प्रतिशत मत प्राप्त किये। इन आँकड़ों से एक तथ्य स्पष्ट होता है कि चाहे स्थान-प्राप्ति का प्रश्न हो अथवा मतदान प्रतिशत प्राप्ति का, इन तीन आम चुनावों में उसके राजनीतिक भाग्य में उतार-चढ़ाव आये हैं। सन् 1957 में उसकी लोकप्रियता चरम शिखर पर थी; सन् 1962 में उसमें पतन आता है; और सन् 1967 में एक बार फिर उसके द्वारा ऊपर उठने का प्रयास किया जाता है। इस लेख में चौथे आम चुनावों में कांग्रेस के कृतित्व का, विशेषकर प्रदेश में प्रमुख दलों के सन्दर्भ में, उसकी चुनाव उपलब्धियों का पुनरावलोकन करने का प्रयास किया गया है।

सन् 1967 के आम चुनावों में मध्य प्रदेश में कांग्रेस एवं जनसंघ राज्य विधानसभा में बहुमत प्राप्त करने के लिए होड़ लगाए प्रमुख प्रतिद्वन्द्वियों की भाँति संघर्षरत थे। यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि मध्य प्रदेश में चतुर्थ आम चुनाव कांग्रेस एवं जनसंघ के बीच सीधे संघर्ष की एक घटना थी। राज्य के अन्य राजनीतिक दल इतने अधिक प्रभावशाली नहीं थे। उदाहरणार्थ, हिन्दू महा सभा (हि० म० स०) निरन्तर प्रत्येक आम चुनाव के साथ क्षीण होती जा रही थी; सन् 1951–52 में हि० म० स० को 12 स्थान मिले, सन् 1957 में 7, और सन् 1962 में केवल 6 स्थान। उसी प्रकार से राम राज्य परिषद् (रा० रा० प०) को सन् 1951–52 के आम चुनावों में 7 स्थान, सन् 1957 में 4 और सन् 1962 में 10 स्थान प्राप्त होते हैं। साम्यवादी दल को सन् 1957 के चुनावों में 2 और सन् 1962 में 1 स्थान मिला। प्रजा सोशलिस्ट पार्टी (प्र० सो० पा०) को अवश्य ही सन् 1957 में 12 स्थान मिले, लेकिन उस स्थिति को प्र० सो० पा० ने सन् 1962 में 33 स्थान हस्तगत कर सुदृढ़ बना लिया। स्वतन्त्र पार्टी सन् 1962 में केवल 2 स्थान ही जीत सकी। इसकी तुलना में भारतीय जनसंघ प्रत्येक आम चुनाव के साथ अपनी स्थिति को राज्य में उत्तरोत्तर रूप से दृढ़ बनाता जा

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

रहा था। सन् 1957 के चुनावों में जनसंघ को राज्य विधानसभा में 10 स्थान व 8·89 प्रतिशत वोट मिले, जिसे उसने तीसरे आम चुनावों में 41 स्थान व 16·63 प्रतिशत मत के रूप में बढ़ा लिया। निम्न दर्शित तालिका से इन राजनीतिक दलों की स्थिति स्पष्ट हो जायेगी :

तालिका संख्या 1 : विभिन्न आम चुनावों में राजनीतिक दलों की स्थिति

पार्टी	1957	1962	1967
कांग्रेस	232 (49·83)	142 (38·05)	167 (40·39)
जनसंघ	10 (8·89)	41 (16·63)	78 (28·28)
साम्यवादी दल	2 (·)	1 (2·03)	1 (1·11)
प्र० सो० पा०	12 (8·9)	33 (11·08)	9 (4·68)
संसोपा	—	—	10 (5·28)
स्वतन्त्र दल	—	2 (1·23)	7 (2·55)
अन्य	32	63 (30·38)	24 (13·38)

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि सन् 1967 के चुनावों में मध्य प्रदेश के राजनीतिक मंच पर दो दलों का प्रधान रूप से द्वन्द्व था और अन्य पार्टियाँ सहायक रूप से उस द्वन्द्व युद्ध में अपना योगदान दे रही थीं।

चौथे आम चुनावों के ठीक कुछ समय पूर्व कांग्रेस संगठन में महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं, जिनका प्रभाव दल पर तथा राज्य की राजनीति के आने वाले काल पर पड़ा है। कांग्रेस संगठन का नेतृत्व पण्डित द्वारिका प्रसाद मिश्र के हाथों में सितम्बर, 1963 में आ चुका था और सन् 1967 के चुनावों का दायित्व उन्हीं के कन्धों पर था। कामराज योजना के फलस्वरूप सन् 1963 में उनके दल के नेता चुने जाने पर प्रादेशिक संगठन के कुछ सदस्यों एवं नेताओं में असन्तोष सन् 1967 के पूर्व प्रदेश की राजनीति में उफान के रूप में प्रगट होता है। मध्य-भारत व छत्तीसगढ़ के कुछ कांग्रेसी नेताओं के असन्तुष्ट गुट के अनुयायियों को चुनाव के लिए टिकिट न मिलने से असन्तोष और भी अधिक उग्र हो गया। पण्डित मिश्र का यह सोचना था, कि उन्हीं के समर्थकों को चुनाव टिकट दिया जाये जिससे कि चुनाव के बाद उनकी सरकार बने और वे स्थायी रूप से शासन कर सकें। इसी नीति के अनुसार 296 स्थानों में से असन्तुष्ट गुट के सदस्यों को केवल 10 या 12 स्थानों के लिए टिकट दिया गया। कांग्रेस हाई कमान के समक्ष असन्तुष्ट गुट ने अपील की, कि उसके विरुद्ध पक्षपात किया गया है; दल में उसकी स्थिति के अनुपात में उसके अनुयायियों को टिकट नहीं मिले हैं। हाई कमान के द्वार खट-खटाने से भी सफलता न मिलने पर नवम्बर, 1966 में इन असन्तुष्ट सदस्यों ने कांग्रेस से विदाई लेकर जन-कांग्रेस नामक एक अन्य संगठन को जन्म दिया। राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रपति के चुनाव के प्रश्न को लेकर सन् 1969 में कांग्रेस में जो फूट पड़ी थी और कांग्रेस के जो दो अलग-अलग संगठन बने थे, उस घटना का पूर्व अभिनय मध्य प्रदेश के राजनीतिक रंगमंच पर तीन वर्ष पूर्व किया गया था। पण्डित मिश्र एवं उनके निकट के अनुयायियों ने जहाँ प्रधान-मन्त्री के दल का साथ दिया है, वहीं प्रदेश के उस असन्तुष्ट गुट ने श्री निजलिंगप्पा की कांग्रेस का साथ दिया है। यही कारण था कि जब सन् 1969–70 में राष्ट्रीय स्तर पर कांग्रेस का

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विभाजन हुआ, तब प्रत्येक प्रदेश के कांग्रेस संगठन में भी विभाजन की रेखाएँ खींची गयीं। लेकिन मध्य प्रदेश में ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि इस प्रकार की कठोर एवं सुस्पष्ट रेखाएँ यहाँ नवम्बर, 1966 में ही खींची जा चुकी थीं। कांग्रेस से निकल कर जन कांग्रेस का निर्माण करने वालों में सर्वश्री तख्तमल जैन, रामेश्वर दयाल तोतला, मूलचन्द्र देशलहरा, महन्त लक्ष्मीनारायण दास, इत्यादि प्रमुख नेता थे। दल के इस विभाजन का दोहरा प्रभाव प्रतीत हुआ। एक ओर पण्डित मिश्र व उनके अनुयायियों को सन्तोष प्रतीत हुआ कि चुनाव काल में दल के इन सदस्यों द्वारा पार्टी विरोधी कार्य नहीं किया जायेगा। उनका कथन था कि प्रदेश कांग्रेस आपसी फूट का गढ़ सदैव से रही है और एक गुट ने दूसरे गुट के सदस्यों की टाँग चुनाव में हमेशा खींची है, और इसी के परिणामस्वरूप कैलाशनाथ काटजू जैसे नेता की पराजय सन् 1962 के चुनाव में हुई है। उन्होंने सन् 1966 के दल-विच्छेद का इस आशय से स्वागत किया कि अब भीतर से तोड़-फोड़ की आशंका कम हो जायेगी। दूसरी ओर पण्डित मिश्र के कन्धों पर चुनाव दायित्व का बोझ और भी बढ़ गया। बाहर जाने वाले ये व्यक्ति प्रदेश के पुराने नेता थे और किसी-न-किसी रूप में अपने क्षेत्र में इनका प्रभाव था, जो कि अब चुनाव को जीतने में सहयोगी सिद्ध हो सकता था। चुनाव काल में शक्ति सम्पन्नता के इन आधारों को ठुकरा कर समस्त विरोधी दलों की संगठित चुनौती को स्वीकार करना कांग्रेस के लिए एक जोखिम का कदम था।

चुनाव की दृष्टि से कांग्रेस के लिए एक और महत्त्वपूर्ण घटना थी—ग्वालियर की महारानी श्रीमती विजयाराजे सिंधिया का कांग्रेस को छोड़ना और अन्य विपक्षी दलों के साथ गठबन्धन कर कांग्रेस का विरोध करना। कांग्रेस के टिकट से 1957 व 1962 में लोक सभा के चुने हुए सदस्य के रूप में महारानी सिन्धिया का ग्वालियर राज्य क्षेत्र के सार्वजनिक जीवन में अपना स्थान था और उस प्रभाव का लाभ कांग्रेस को प्राप्त था लेकिन 1967 में चुनावों की अन्तिम घड़ी में श्रीमती सिन्धिया भी कांग्रेस से बाहर निकल आईं। उनका कांग्रेस छोड़ना उतनी बड़ी घटना नहीं थी, जितनी कि उनके द्वारा बाद में कांग्रेस का सक्रिय विरोध किया जाना। चौथे आम चुनाव में राजनीतिक दलों के अन्य कार्यक्रमों में से एक प्रमुख ध्येय सत्तारूढ़ कांग्रेस को अपदस्थ करना बन गया था और इसके हेतु समाजवाद व सामन्तवाद में विश्वास करने वाले दल अस्थायी गठबन्धन के लिए तत्पर थे। ऐसे समय में विरोधी दलों को राजमाता सिन्धिया का नैतिक एवं धन-साधनों से पूर्ण सक्रिय योगदान आँधी के आम के समान मिल गया। जनसंघ ने इस अप्रत्याशित लाभ का उपयोग कर राजमाता को अपने खेमे में लिया और इस चुनाव गठबन्धन से कांग्रेस का दमतोड़ विरोध किया। जैसा कि चुनाव परिणामों से आगे स्पष्ट होगा, ग्वालियर सम्भाग में कांग्रेस की करारी हार[1] का प्रमुख कारण राजमाता का कांग्रेस से निकलना एवं उनका जनसंघ के साथ चुनाव गठबन्धन करना था।

कांग्रेस का विरोध करने में संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी (सं० सो० पा०) का भी अपना प्रमुख योगदान था। गैर कांग्रेसवाद (एण्टी-कांग्रेसिज्म) का नारा बुलन्द करने का प्रमुख दायित्व सं० सो० पा० और उसके बाद जनसंघ का ही था। इस आशय से संसोपा, जनसंघ एवं राजमाता के दल द्वारा संयुक्त चुनाव मोर्चा (ज्वाइंट इलेक्टोरल फ्रंट) गठित किया गया, यद्यपि

[1] देखिये तालिका संख्या 2 जहाँ कांग्रेस का एक भी प्रतिनिधि विजयी न हो सका।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

व्यवहार में यह संयुक्त मोर्चा जनसंघ व राजमाता का ही रह गया था, क्योंकि सं० सो० पा० ने अपने दल के लिए इतने अधिक स्थान मांगे थे, जो अन्य दलों के लिए व्यवहार में अस्वीकार्य थे। सं० सो० पा० ने 112 स्थानों के लिए अपने प्रत्याशियों को खड़ा किया, जिनमें से केवल 10 प्रत्याशी सफलता प्राप्त कर सके। प्रजा सोशलिस्ट पार्टी (प्र० सो० पा०) का रुख कांग्रेस के लिए उतना कठोर व उग्र नहीं था, जितना कि सं० सो० पा० का था। 1962 के चुनावों में प्र० सो० पा० को 33 स्थान मिले थे, लेकिन 1963 में पण्डित मिश्र के मुख्य मन्त्री बनने पर प्र० सो० पा० के करीब 30 निर्वाचित सदस्य कांग्रेस में पुनः आ मिले थे। इस पृष्ठभूमि के कारण निर्वाचकों तथा कांग्रेस को प्र० सो० पा० से अधिक भय नहीं था। स्वतन्त्र पार्टी का मध्य प्रदेश की राजनीति में प्रवेश केवल तीसरे आम चुनावों के समय हुआ था, एवं उसकी जड़ें गहरी न हो सकी थीं। अतएव कांग्रेस के लिए स्वतन्त्र पार्टी का कार्य-क्षेत्र व प्रभाव-क्षेत्र ग्वालियर सम्भाग तक ही सीमित था। इस क्षेत्र में इसको राजमाता की छत्र-छाया प्राप्त थी। पूरे राज्य-भर में इसके द्वारा 20 प्रत्याशी खड़े किए गए, जिनमें से 7 ग्वालियर सम्भाग (विशेषकर शिवपुरी न गुना जिलों से) में से थे और ये सातों व्यक्ति निर्वाचित हुए। कांग्रेस के लिए महारानी का प्रभाव-क्षेत्र वैसे ही एक दुर्भेद्य गढ़ था और इसमें स्वतन्त्र पार्टी को पूरा त्राण मिला हुआ था। इस विश्लेषण से एक तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि चतुर्थ आम चुनावों में कांग्रेस का सही अर्थों में मुकाबला जनसंघ से था, जिसके इर्द-गिर्द अन्य विरोधी दल संगठित होकर कांग्रेस को पराजित करने के लिए दृढ़ संकल्प थे।

कांग्रेस के प्रत्याशियों के चयन की प्रक्रिया अन्य दलों की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित तथा सरगर्मीपूर्ण थी। कांग्रेस के पश्चात् जनसंघ की चयन-प्रणाली को भी उतना ही सुचारु कहा जा सकता है। अन्य दलों के पास इतने प्रत्याशी भी नहीं थे कि जिन्हें वे सब स्थानों के लिए खड़ा कर सकते। उदाहरणार्थ, साम्यवादी दल (मा०) ने 10, रा० रा० प० ने 14, जन-कांग्रेस ने 45, प्र० सो० पा० 112 व सं० सो० पा० ने 112 प्रत्याशियों को खड़ा किया। इसकी तुलना में कांग्रेस ने प्रदेश के पूरे 296 स्थानों के लिए व जनसंघ ने 265 स्थानों के लिए अपने प्रत्याशियों को खड़ा किया। थोड़े स्थानों के लिए चुनाव लड़ने व उनके लिए कम प्रत्याशियों को खड़ा करने के कुछ लाभ भी हैं। उनमें से एक लाभ यह है कि स्थानों के प्रश्न को लेकर किस उम्मीदवार को किस क्षेत्र से टिकट दिया जाए या न दिया जाए, व्यक्तिगत झगड़े-झमेले खड़े होते हैं, जिनका दुष्प्रभाव दल के चुनाव परिणामों पर पड़ता है। क्योंकि कांग्रेस ने पूरे स्थानों के लिए अपने उम्मीदवारों को खड़ा किया था, अतः उसके लिए इन झगड़े-झमेलों की समस्या अपेक्षाकृत सबसे अधिक रही। टिकट प्राप्त करने के प्रश्न को लेकर ही अक्तूबर-नवम्बर, 1966 में कांग्रेस संगठन में विस्फोट हुआ, जिसके फलस्वरूप जन-कांग्रेस का निर्माण हुआ था। प्रदेश कांग्रेस के विभिन्न गुट अपनी सारी शक्ति इस प्रश्न पर लगाए बैठे थे कि उनके अनुयायियों को अधिक मात्रा में टिकट दिए जाएँ, जिससे कि राजनीतिक सत्ता उनके गुट के हाथों में आ सके। 296 स्थानों के लिए करीब हजार या उससे अधिक कांग्रेसी उम्मीदवारों ने टिकट प्राप्त करने के लिए प्रार्थना-पत्र भेजे। जिला समितियों द्वारा पहिले प्रार्थना-पत्र आमन्त्रित किए जाते हैं जो कि उनका संवीक्षण (स्क्रूटिनी) कर प्रदेश निर्वाचन मण्डल के पास अपनी सिफारिशों के साथ भेजती है। प्रदेश निर्वाचन मण्डल द्वारा उम्मीदवारों की सूची की फिर छानबीन की जाती है और अपनी सिफारिशों के साथ, उसके द्वारा इन नामों

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

को केन्द्रीय निर्वाचन मण्डल के सम्मुख रखा जाता है। केन्द्रीय मण्डल के द्वारा अन्तिम रूप से प्रत्याशियों के नामों का चयन किया जाता है। प्रादेशिक संगठन में पंडित मिश्र को अनुयायियों के बहुमत का समर्थन प्राप्त होने के कारण प्रादेशिक सूची में वे अपने समर्थकों के नामों की सिफारिश करा सकें; जहाँ मतैक्य नहीं हो सका उस निर्वाचन क्षेत्र के लिए एक से अधिक व्यक्तियों के नामों की सिफारिश की गई, जिस पर अन्तिम निर्णय केन्द्रीय बोर्ड के द्वारा लिया जा सके। केन्द्रीय बोर्ड में प्रादेशिक नेता की दृढ़ स्थिति होने से उनके लिए यह सुलभ था कि वे अपने समर्थकों के लिए टिकट प्राप्त करा सकें।

मध्य प्रदेश में अन्य दलों की अपेक्षा कांग्रेस के द्वारा सर्वप्रथम अपने उम्मीदवारों की घोषणा निर्वाचन-क्षेत्रानुसार की गयी। अन्य दलों को इससे यह जानने में सुविधा हो सकी कि किस निर्वाचन-क्षेत्र में कांग्रेस का कितना शक्तिशाली प्रत्याशी है और उसका विरोध किस प्रत्याशी द्वारा सार्थकता के साथ किया जा सकता है। इस अनुमान के बाद विरोधी दलों ने सामूहिक अथवा वैयक्तिक रूप से अपने उम्मीदवारों के नामों की घोषणा की।

चुनाव-प्रश्नों का यहाँ वर्णन करना आवश्यक है। किसी भी चुनाव में राष्ट्रीय स्तर व आंचलिक प्रादेशिक प्रश्नों को राजनीतिक दलों द्वारा खड़ा किया जाता है। यहाँ हम, कांग्रेस के द्वारा किन राष्ट्रीय प्रश्नों को चुनाव अभियान में खड़ा किया गया था, उनका वर्णन न कर, क्योंकि वे सर्व-विदित हैं, केवल उन प्रश्नों का वर्णन करेंगे जिनको कांग्रेस ने स्व-रक्षार्थ तथा विरोधियों पर प्रहार हेतु उपयोग में लिया था।

चुनाव काल के दौरान कांग्रेस के विरुद्ध जो प्रचार किया गया था, कांग्रेस की शक्ति उन समस्याओं का या आरोपों का उत्तर देने में अधिक लगी। प्रायः शासक दल पर ऐसा दायित्व सदैव रहा है और आगे भी रहेगा। संक्षेप में, विरोधी दलों के कांग्रेस पर आरोप इस प्रकार के थे कि कांग्रेस के शासन काल में वस्तुओं के मूल्य बेहद बढ़े हैं। प्रशासन व सार्वजनिक जीवन में कांग्रेस की छत्रछाया में भ्रष्टाचार व्याप्त है। प्रशासन बहुत खर्चीला हो चुका है, अतः उसे मितव्ययी बनाने के लिए कांग्रेस को अपदस्थ किया जाना आवश्यक है। उत्पादन घटा है। सरकार लाइसैंस, इत्यादि देने में पक्षपात करती है। सहकारी खेती के नाम पर कांग्रेस किसानों का भूमि-स्वामित्व छीन रही है। औद्योगीकरण पूर्ण रूप से नहीं किया गया है। मजदूरों की स्थिति में गिरावट आई है। मध्यम वर्ग मंहगाई के सींकचों में जकड़ दिया गया है। योजनाओं के नाम पर कागजी कार्यक्रमों को प्रस्तुत किया गया है। कतिपय धन्धों व व्यवसायों को, जिन्हें सरकार ने अपने हाथों में लिया है, भ्रष्टाचार के साँप ने डस लिया है। कानून एवं व्यवस्था के नाम पर राजदण्ड पर आश्रित हो सरकार ने गोलियाँ चलाई हैं। निरपराध व्यक्तियों को बन्दी बना उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण किया गया है। जिलाबन्दी कर जहाँ एक ओर एक जिले से दूसरे जिले में अनाज लेने-ले जाने पर प्रतिबन्ध लगाये गये हैं, वहाँ दूसरी ओर सरकार के जाने-पहचाने व्यापारियों को अनाज बाहर भेजने की विशेष अनुमति दी गई है। विद्यार्थी-वर्ग का दमन किया गया है और उनके जायज आन्दोलनों को कुचला गया है एवं गौरक्षा के प्रश्न को लेकर सरकार पर दोष लगाया गया कि उसके द्वारा गौरक्षा नहीं की जा सकी है।

कांग्रेस ने भी प्रत्युत्तर में विरोधी दलों पर इसी प्रकार के आक्षेप लगाये। इसके अतिरिक्त शासक दल द्वारा जो सार्वजनिक हित के लिए कार्य किए गए, इस क्षेत्र में उसकी

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

जो उपलब्धियाँ थीं, उन पर अधिक बल दिया गया । नकारात्मक रुख अपनाने की अपेक्षा उसका बल सकरात्मक क्रियाओं एवं उपलब्धियों पर अधिक था । उदाहरणार्थ, शासक दल ने विश्वास-पूर्वक घोषणा की कि उसके द्वारा प्रदेश में समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की नींव डाली गई है। मध्य प्रदेश प्राकृतिक देनों व खनिजों का भण्डार है, लेकिन उस राष्ट्रीय सम्पत्ति का लाभ कतिपय श्रीमन्तों को मिला है और हमारे प्रदेश की गरीबी और पिछड़ेपन का यही कारण है। कांग्रेस के द्वारा उस उत्पीड़न का अन्त, उत्पादन में वृद्धि एवं सम्पत्ति का न्यायपूर्ण वितरण करने का प्रथम प्रयास किया गया है । कांग्रेस की उद्योग नीति व खाद्य नीति इसी दिशा की ओर एक कदम है । इन नीतियों को आँकड़ों के सहारे चुनाव कार्य में निर्वाचकों के सम्मुख प्रस्तुत किया गया । प्रदेश के खेतिहारों का विश्वास प्राप्त करने हेतु सभाओं व पत्रिकाओं से घोषित किया गया कि उनके हितार्थ लगान-वृद्धि के निश्चय को वापस लिया गया है, पट्टे की व्यवस्था में परिवर्तन कर पट्टे की एक नकल किसान को दे दी गई है, भूमि की अधिकतम जोत-सीमा-सम्बन्धी निर्णय क्रियान्वित किए जा रहे हैं, अतिरिक्त भूमि का वितरण भूमिहीनों, हरिजनों एवं आदिवासियों में किया जा रहा है, किसानों को अच्छे बीज, उन्नत खाद, कीट-नाशक औषधियाँ दी गई हैं, कृषि-हेतु प्यासे खेतों को पानी देने के लिए सिंचाई योजनाओं, नल-कूपों, विद्युत व तेल-चालित पम्पों का प्रावधान किया गया है, सूदखोरों से मुक्ति दिलाने के उद्देश्य से किसानों को सहकारी समितियों से तकावी ऋण दिलवाने की व्यवस्था की गई है । किसानों के लिए कांग्रेस ने इस प्रकार की चुनाव-सामग्री जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर विरोधी दलों को उत्तर दिया ।

जिले में खाद्यान्नों की निकासी पर रोक लगाने के कारणों को उचित बताते हुए कांग्रेस का उत्तर था कि कृत्रिम खाद्यान्न अभाव का सामना करने के लिए यह कदम आवश्यक है । खाद्यान्नों की मनमानी कीमत बढ़ा देने के व्यापारियों के 'हथकण्डों' से जनता को बचाने के लिए गेहूँ, ज्वार, चावल इत्यादि के न्यूनतम और अधिकतम मूल्य निर्धारित किए गए हैं। उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए, जनता को काम-धन्धा देने के लिए प्रदेशों में ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था का शिलान्यास किया गया है जो कि कुछ समय में आम जनता को राहत दे सकेगी। इसी सन्दर्भ में औद्योगिक विकास निगम तथा लघु उद्योग निगम की स्थापना की गई है ।

जबकि अन्य दल निजी क्षेत्र के पक्षपाती हैं, कांग्रेस ने सार्वजनिक क्षेत्र में उद्योग-मिलों की स्थापना की है । उद्योग को जीवन-शक्ति देने के लिए विद्युत विकास का विशाल कार्यक्रम हाथ में लिया गया है । परिवहन एवं वन उपज के क्षेत्रों में राष्ट्रीयकरण की नीति को क्रियान्वित किया गया है, शासकीय कर्मचारियों, आदिवासियों, हरिजनों एवं मजदूरों की स्थिति को दृढ़ करने व सुधारने के लिए अनेक कदम उठाए गए हैं । प्रदेश के डाकू-ग्रस्त क्षेत्रों को इस समस्या से मुक्त करने के लिए महत्त्वपूर्ण कदम उठाए गए हैं । पशु-पालन तथा गौ-रक्षा के प्रति सरकार जागरूक है । राज्य की 20·63 प्रतिशत आदिवासी जनसंख्या तथा 13 प्रतिशत अनुसूचित जातियों को शोषण व उत्पीड़न से मुक्त कर समाज में प्रतिष्ठित एवं सम स्थान देने के लिए उन्हें शिक्षा, कृषि, आर्थिक उन्नति से लाभान्वित कर नए भविष्य के मार्ग की ओर अग्रसर किया जा रहा है ।

ये इस प्रकार के तर्क व तथ्य थे, जिनका महत्त्व प्रादेशिक समस्याओं के सन्दर्भ में था । कांग्रेस ने, जैसा कि जनसंघ ने भी किया था, स्थानीय समस्याओं को जनता के सामने

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

रखा और उन्हें विश्वास दिलाने की कोशिश की, कि उन्हें कांग्रेस सरकार द्वारा ही हल किया जा सकता है। आंचलिक समस्याओं को जनता के सम्मुख रखकर कांग्रेस ने यह दावा किया कि जहाँ एक ओर उनका दल राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय समस्याओं का मुकाबला कर रहा है, वहीं दूसरी ओर उनके संगठन की जड़ें प्रदेश में हैं और उन जड़ों को सींचकर एक हरी-भरी दुनिया का निर्माण इस प्रदेश में किया जा सकता है।

चुनाव काल के ठीक कुछ समय पहले, निर्वाचकों पर स्थायी प्रभाव डालने की नीयत से, शासक दल व विरोधी दलों ने घात-प्रतिघात के रूप में इस प्रकार की समस्याओं को खड़ा किया, उनको सहयोग दिया, अथवा उनका प्रतिकार किया, जिससे यह स्पष्ट होने लगा कि हमारे प्रदेशीय दलों में चुनावों में प्राण-शक्ति फूँकने की जागरूकता उत्पन्न हो चुकी है। किस समस्या को राजनीतिक प्रयोजनों के लिए किस प्रकार उपयोग में लिया जा सकता है, इस प्रकार की प्रौढ़ता मध्य प्रदेश कांग्रेस व जनसंघ में चुनाव काल के दौरान दिखायी पड़ी थी। उदाहरणार्थ, विरोधी पक्षों का, विशेषकर जनसंघ व सं० सो० पा० का आरोप था कि कांग्रेस ने किसानों पर लगान का बोझ लाद रखा है। इस आरोप को ठोक-ठोककर किसानों के कानों में भरा जा रहा था। कांग्रेस सरकार ने चुनावों के कुछ ही दिन पूर्व यह घोषणा की कि 6 बीघा तक जमीन रखने वाले किसानों को लगान की माफी दी जाती है। प्रदेश के तृतीय एवं चतुर्थ वर्ग के कर्मचारियों के द्वारा, जिनके पीछे कुछ राजनीतिक दलों का हाथ माना जाता है, चुनाव काल में यह माँग की गयी कि उनको मँहगाई-भत्ता केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों की दरों पर दिया जाये, अन्यथा चुनाव आरम्भ के 1–2 दिन पूर्व वे अपनी हड़ताल करेंगे। प्रस्तावित हड़ताल के ठीक 1 दिन पूर्व सरकार उनकी माँगों को सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर लेती है। चुनाव घात-प्रतिघात के ये कुछ ऐसे उदाहरण हैं, जो सूचित करते हैं कि हमारे प्रमुख दलों में चुनाव प्रश्नों को खड़ा करने व उन्हें अपने दल के हितों से तोड़ने-मोड़ने की शक्ति का उदय हो रहा है।

कांग्रेस के चुनाव अभियान के बारे में लिखने के पूर्व कुछ शब्द उसकी चुनाव-व्यूह-रचना के बारे में भी लिखा जाना आवश्यक है। कांग्रेस के प्रमुख विरोधी जनसंघ ने सम्पूर्ण मध्य प्रदेश में अपनी स्थिति को मजबूत बनाने की कल्पना न कर प्रदेश के पश्चिमी भागों—ग्वालियर, इन्दौर एव भोपाल संभागों—में अपनी स्थिति को दृढ़ करने की नीति को अपनाया था। इसी आशय से उसने इन इलाकों में राजमाता के साथ चुनाव-सन्धि की थी। इन इलाकों में स्थानों के बहुमत को प्राप्त कर सकना कांग्रेस के लिए कठिन था, अतएव जनसंघ के प्रभावशाली क्षेत्र में घुसकर जितने स्थान प्राप्त किये जा सकें उतने स्थान प्राप्त किये जाएँ और दूसरी ओर इस प्रभाव को इन्हीं क्षेत्रों तक सीमित रखकर महाकौशल व छत्तीसगढ़ इलाकों में जनसंघ के प्रभाव को पूर्ण रूप से निरस्त कर अपने लिए अधिकतम स्थान प्राप्त करने की समग्र नीति को कांग्रेस द्वारा अपनाया गया। दूसरी ओर, यदि जनसंघ मध्य भारत में राजमाता की लाठी पर टिका हुआ था, तो सन्तुलन की नीति अपनाकर कांग्रेस ने रीवा के महाराजा का सहारा विन्ध्य प्रदेश में लिया। चुनाव परिणामों पर दृष्टिपात करने से उपर्युक्त परिकल्पनाएँ सत्य सिद्ध होती हैं। जनसंघ के प्रत्याशित प्रभाव-क्षेत्र, इन्दौर, ग्वालियर एवं भोपाल में उसे 61 स्थान प्राप्त हुए जिसकी तुलना में कांग्रेस को केवल 35 स्थान प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत कांग्रेस प्रत्याशित प्रभाव-क्षेत्र, जबलपुर, रायपुर, बिलासपुर एवं रीवा संभागों में उसे 132 स्थान मिलते

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

हैं, जबकि जनसंघ को वहाँ केवल 17 स्थान ही प्राप्त होते हैं। यदि ग्वालियर संभाग में जनसंघ व राजमाता मिलकर 31 स्थानों में से 29 स्थान प्राप्त कर कांग्रेस के हाथों में एक भी स्थान नहीं लगने देते, तो दूसरी ओर वह रीवा संभाग में 30 स्थान प्राप्त कर जनसंघ को केवल एक ही स्थान लेने देती है। सारांश में यह कहा जा सकता है कि कांग्रेस की सफलता में संगठन के नेतृत्व की इस चुनाव व्यूहरचना का महत्त्वपूर्ण योगदान था। संगठित विरोध की परिस्थितियों में मार्ग से भटक कर व्यूहरचना करने से विरोधी पक्षों को परास्त करना कांग्रेस नेतृत्व की कुशलता का परिचायक है।

चुनाव अभियान का संचालन भी कांग्रेस की राजनीतिक परिपक्वता को निर्दशित करता है। संगठन के नाते से देश का यह सबसे पुराना संगठन है। यही स्थिति उसकी नवीन मध्य प्रदेश में भी रही है। जनता अथवा निर्वाचकों के समक्ष अपने दृष्टिकोण व नीति को कैसे प्रस्तुत किया जाए, अनुभव ने कांग्रेस को इसमें दक्ष बना दिया है। चुनाव अभियान का संचालन करने के लिए कांग्रेस ने अपनी मशीनरी गठित कर रखी है और इसका अनुकरण जनसंघ ने भी किया है। कांग्रेस ने जिला-स्तर पर जिला चुनाव अभियान समिति को गठित किया, जिसका अन्तिम संचालन प्रदेश चुनाव अभियान समिति व उसके अधिकारी के हाथों में था। प्रदेश में कांग्रेस के तथा उसके प्रभाव में रहने वाले कुछ समाचार-पत्र हैं, जिनका सहारा चुनाव अभियान में लिया गया था, उसी प्रकार राष्ट्रीय स्तर के नेताओं को विशिष्ट स्थानों की चुनाव सभाओं में भाषण करने के लिए आमन्त्रित किया गया था। बाकी सभाएँ प्रदेश के नेताओं द्वारा सम्बोधित की गयीं। वास्तव में चुनाव अभियान की पहली गोली कांग्रेस के द्वारा ही छोड़ी गयी थी और अन्य दलों ने उसका अनुसरण किया। आम सभा, व्यक्तिशः प्रचार, नगर व ग्राम के प्रभावशाली व्यक्तियों को साथ लेकर निर्वाचकों के पास पहुँचना, पंचायतों के प्रमुखों द्वारा अपील करवाना इत्यादि चुनाव प्रचार के कुछ साधन अपनाए गए थे। जलूस व ग्राम नगर फेरी प्रचार का एक और तरीका था। पर्ची, पुस्तिकाओं तथा पोस्टरों का भरपूर सहारा कांग्रेस के द्वारा लिया गया था। राष्ट्रीय स्तर से प्रादेशिक कांग्रेस को बाँटने के लिए दी गयी इस प्रकार की सामग्री के अतिरिक्त कांग्रेस ने स्थानीय समस्याओं को ध्यान में रखकर प्रचार सामग्री का निर्माण भी किया था। बैज, तमगे, बटन-होल-बैज इत्यादि छोटे-छोटे ऐसे प्रसाधन थे, जिनका उपयोग व्यक्तिगत स्तर पर प्रचार हेतु किया गया था। प्रचार-सामग्री का विषय था कि कांग्रेस ने क्या किया है, व विरोधी पक्षों ने क्या नहीं किया है ? कुछ स्थानों पर विरोधियों द्वारा किए गए प्रचार का प्रतिकार पैम्फलेट इत्यादि निकालकर किया गया। उदाहरणार्थ, बेतूल जिले में जनसंघियों का प्रचार था कि उनके दल द्वारा अनेकों आन्दोलन किए गए हैं। जिला कांग्रेस मन्त्री द्वारा प्रचारित हस्त-पत्रक द्वारा उसका प्रत्युत्तर दिया गया। 'मैं भी मानता हूँ कि (जनसंघ द्वारा) आन्दोलन किए गए हैं, पर कैसे आन्दोलन ? विधानसभा जैसे प्रजातन्त्र के पवित्र मन्दिर में जूता फेंकने के आन्दोलन ? भोले और अपढ़ देहातियों से पैसा ऐंठकर पार्टी का चन्दा और एशो-आराम जमा करने के आन्दोलन ?'[2] उसी प्रकार नगर चुनाव अभियान समिति (विदिशा, जहाँ राजमाता का प्रभाव अधिक था) ने मतदाताओं से अपील करते हुए कहा था :

---

[2] 'एक जनसंघी कार्यकर्ता द्वारा प्रकाशित भारतीय जनसंघ की खुली माँग पर टिप्पणी', मन्त्री, जिला कांग्रेस, बेतूल (जगदीश मुद्रणालय, बेतूल)।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

(1) 'श्रीमती महारानी सिंधिया कांग्रेस में रहने के बाद भी यही चाहती थीं कि उन्हें वही मान मिले जो कि उन्हें उनके राज्य में मिलता था·····लेकिन वह तो फिर से सत्ता चाहती थीं और उन्होंने इसीलिए कांग्रेस को छोड़कर कहीं जनसंघ, कहीं स्वतन्त्र पार्टी और कहीं संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी से अपना नाता जोड़ा है। महारानी स्वयं करेरा से जनसंघ के चुनाव-चिह्न पर लड़ रही हैं, जबकि उन्होंने गुना में स्वतन्त्र पार्टी का चुनाव-चिह्न लिया है। जनता स्वयं विचार करे कि आखिर महारानी और महाराजा के क्या विचार और उद्देश्य हैं।

(2) विद्यार्थियों की रक्षा की दुहाई देने वाली वे महारानी शायद सन् 1949 का वह भयंकर गोली-काण्ड भूल गयीं जो कि उनके पति स्व० श्री जीवाजीराव सिंधिया (तत्कालिक राजप्रमुख) के समय हुआ था और तब वे स्वयं मौन रहीं। क्यों ? फिर आज उनसे छात्र-हित की क्या उम्मीद की जा सकती है ?·····'[3]

उपर्युक्त तथ्य केवल इस धारणा की पुष्टि करते हैं कि चुनाव अभियान में स्थानीय समस्याओं का उत्तर-प्रत्युत्तर केवल वाक्-युद्ध तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु कांग्रेस व प्रमुख विरोधी दलों ने छपी हुई सामग्री के द्वारा निर्वाचकों को प्रभावित करने का प्रयास किया। निर्वाचकों को राजनीति की ओर प्रवृत्त करने में कांग्रेस व उसके विरोधियों के इस रोल के महत्त्व को भारतीय प्रजातन्त्र के सन्दर्भ में समझा जाना आवश्यक है।

चुनाव परिणाम

चौथे आम चुनावों में कांग्रेस को विधानसभा के 296 स्थानों में से 167 स्थान प्राप्त

तालिका संख्या 2 : संभागों के अनुसार राजनीतिक दलों की सन् 1967 के चुनावों में स्थिति

दल / संभाग	कांग्रेस	जनसंघ	स्वतन्त्र पार्टी	प्रसोपा	संसोपा	निर्दलीय व अन्य	योग
ग्वालियर	—	15	7	1	1	7	31+ 1
रीवा	30	1	—	4	—	3	38
बिलासपुर	30	6	—	1	—	1	38
रायपुर	29	3	—	1	3	10	46†
जबलपुर	43	7	—	1	1	1	53
भोपाल	12	21	—	1	—	2‡	36
इन्दौर	23	25	—	—	5	1	54
योग	167	78	7	9	10	25	296

* 1 सदस्य जन-कांग्रेस (दतिया से)।

† 2 रा० रा० प० (दुर्ग से), 1 जन-कांग्रेस (रायपुर से)।

‡ 1 साम्यवादी दल, 1 निर्दलीय दल।

[3] 'मतदाताओं से अपील', प्रकाशक, डा० सूर्य प्रकाश सक्सेना, मुख्य संयोजक, नगर कांग्रेस चुनाव अभियान समिति, विदिशा (म० प्र०) (प्रभात प्रिंटिंग प्रेस, विदिशा)।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

हुए तथा डाले हुए वैध मतों में से उसे 40·69 प्रतिशत मत प्राप्त हुए । सन् 1962 के आम चुनावों की तुलना में यह मत 2·64 प्रतिशत अधिक था । चुनाव परिणामों को प्रदेश के संभागों के अनुसार तालिका संख्या 2 में स्पष्ट किया गया है ।

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि मध्य प्रदेश के 7 संभागों में से 4 संभागों, जबलपुर, बिलासपुर, रायपुर और रीवा में कांग्रेस को पर्याप्त स्थान प्राप्त हुए जबकि पश्चिमी मध्य प्रदेश के ग्वालियर, भोपाल एवं इन्दौर संभागों में उसे कम स्थान मिल सके । विजयी क्षेत्र में, उदाहरणार्थ, रीवा संभाग में 38 में से 30, रायपुर में 46 में से 29 और जबलपुर में 53 में से 43 स्थान प्राप्त हुए । अर्थात् कुल प्राप्त 167 स्थानों में से 132 स्थान इन चार संभागों में से थे और बचे हुए 35 स्थान जनसंघ के प्रभाव-क्षेत्र मध्यभारत व भोपाल संभागों में बिखरे हुए थे । ग्वालियर, भोपाल एवं इन्दौर संभाग में मिले 35 स्थानों का ब्यौरा 0·12 तथा 23 है । पश्चिमी मध्य प्रदेश का यह वह इलाका था, जिसमें जनसंघ को प्रदेश में प्राप्त होने वाले कुल 78 स्थानों में से 61 स्थान प्राप्त हुए थे (भोपाल 21, ग्वालियर 15, इन्दौर 25) ।

कांग्रेस को प्राप्त स्थानों का अब प्रत्येक संभाग के जिलानुसार अध्ययन किया जा सकता है। सर्वप्रथम ग्वालियर संभाग को लेते हैं । इस संभाग के मोरैना, भिंड, ग्वालियर, दतिया, शिवपुरी एवं गुना जिले हैं । प्रत्येक जिले में कांग्रेस को मतदान निम्न प्रकार से प्राप्त हुआ :

तालिका संख्या 3 : ग्वालियर संभाग में कांग्रेस को प्राप्त स्थान

	जिले	मोरैना	भिंड	ग्वालियर	दतिया	शिवपुरी	गुना	योग
स्थान	कांग्रेस	×	×	×	×	×	×	0
	जनसंघ	2	4	6	×	3	×	15
मत प्रतिशत	कांग्रेस	17·91	19·83	15·95	29·33	13·18	17·59	18·96
	जनसंघ	10·70	25·39	51·33	1·13	44·81	×	22·22

इस तालिका से स्पष्ट होता है कि कांग्रेस को ग्वालियर संभाग के किसी भी जिले में विजय नहीं मिली । इसकी तुलना में जनसंघ को 15 स्थान प्राप्त हुए । मतदान कांग्रेस के लिए 18·96 प्रतिशत रहा, जबकि जनसंघ के लिए 22·22 प्रतिशत था । केवल मोरैना व दतिया में कांग्रेस को जनसंघ से पीछे रहना पड़ा है । शिवपुरी जिले में कांग्रेस का न्यूनतम मतदान 13·18 प्रतिशत रहा, जहाँ पर जनसंघ को प्राप्त मतदान 44·81 प्रतिशत है । उसी प्रकार ग्वालियर जिले में कांग्रेस को प्राप्त मतदान 15·95 प्रतिशत है व जनसंघ का 51·33 प्रतिशत । जनसंघ, राजमाता, सं० सो० पा० गठन के कारण कांग्रेस को एक भी स्थान इस संभाग में नहीं मिल सका ।

रीवा संभाग में कुल 38 स्थान थे, जिसमें से कांग्रेस को 30 स्थान मिले । इसकी तुलना में जनसंघ को केवल एक स्थान मिला । कांग्रेस को मिले स्थानों का जिलावार बँटवारा अग्र प्रकार है :

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

तालिका संख्या 4 : रीवा संभाग में कांग्रेस को प्राप्त स्थान

	जिले	रीवा	सिधी	सतना	पन्ना	छतर-पुर	टीकम-गढ़	शह-डौल	योग
स्थान	कांग्रेस	5	3	4	3	3	4	8	30
	जनसंघ	×	×	1	×	×	×	×	1
मत प्रतिशत	कांग्रेस	45·03	40·13	40·56	48·66	33·07	53·26	66·30	46·72
	जनसंघ	10·53	8·15	37·21	29·55	18·50	5·98	15·91	17·97

प्रत्येक जिले के निर्वाचन-क्षेत्र के अनुसार कांग्रेस को रीवा के 7 स्थानों में से 5, सिधी के 5 में से 3, सतना के 6 में से 4, पन्ना के 3 में से 3, छतरपुर के 5 में से 3, टीकमगढ़ के 4 में से 4 और शहडौल के 8 में से 8 स्थान प्राप्त हुए। ग्वालियर संभाग में कांग्रेस की जो बुरी स्थिति थी, ठीक उसके विपरीत स्थिति रीवा में दिखायी देती है। 38 में से 30 स्थानों को प्राप्त कर जनसंघ को केवल 1 स्थान लेने देना उसके लिए गौरव की बात थी। जिले का मतदान 46·72 प्रतिशत कांग्रेस के पक्ष में था, 17·97 प्रतिशत जनसंघ के।

बिलासपुर संभाग के 38 स्थानों में से कांग्रेस को 30 स्थान प्राप्त हुए थे और इस जिले में उसको 50·28 प्रतिशत मत मिले। इसकी तुलना में जनसंघ को 6 स्थान तथा 23·71 प्रतिशत मत प्राप्त हुए। संभाग के तीन जिलों—रायगढ़, बिलासपुर एवं सरगुजा—में उसे क्रमशः 6, 17 व 7 स्थान मिले और इन जिलों में उसे 48·26 प्रतिशत, 54·48 प्रतिशत और 49·30 मत प्रतिशत मिले। बिलासपुर संभाग की इस स्थिति को निम्न तालिका में स्पष्ट किया गया है :

तालिका संख्या 5 : बिलासपुर संभाग में कांग्रेस को प्राप्त स्थान

	जिले	रायगढ़	बिलासपुर	सरगुजा	योग
स्थान	कांग्रेस	6	17	7	30
	जनसंघ	2	1	3	6
मत प्रतिशत	कांग्रेस	48·26	54·48	49·30	50·28
	जनसंघ	26·13	28·40	26·60	23·71

छत्तीसगढ़ के ही रायपुर संभाग में 46 स्थानों में से कांग्रेस को 29 स्थान प्राप्त हुए। रायपुर जिले में 18 में से 16, दुर्ग में 17 में से 11 तथा बस्तर में 11 में से 2 स्थान प्राप्त हुए। इन तीन जिलों में उसे प्राप्त मतदान क्रमशः 50·61 प्रतिशत, 46·09 प्रतिशत एवं 19·99 प्रतिशत था। बस्तर जिले में उसका न्यूनतम मत प्रतिशत है—19·99, जिसकी तुलना में जनसंघ को 29·00 प्रतिशत मत मिले। बिलासपुर संभाग की तुलना में रायपुर संभाग में कांग्रेस का मत प्रतिशत कम रहा। यहाँ उसे 38·89 प्रतिशत मत प्राप्त हुए जबकि बिलासपुर संभाग में उसे 50·28 प्रतिशत मत मिले थे। इस कमी का कारण स्पष्ट है। चुनाव के पूर्व ही बस्तर के आदिवासी क्षेत्रों में विरोधी दलों ने, विशेषकर जनसंघ ने, अपना प्रभाव-क्षेत्र बनाने के सक्रिय प्रयत्न प्रारम्भ कर दिए थे। साथ ही, बस्तर के महाराजा की पुलिस की गोली से मृत्यु हो जाने पर इस घटना का अधिकतम राजनीतिक लाभ जनसंघ द्वारा उठाया

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

गया था। कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इस पृष्ठ-भूमि के साथ कांग्रेस को बस्तर जिले में 11 में से केवल 2 स्थान ही प्राप्त हुए थे। अन्य दलों की स्थिति बस्तर जिले में इस प्रकार थी : जनसंघ 2, प्र० सो० पा० 1, सं० सो० पा० 1 तथा निर्दलीय 5। बस्तर जिले के सभी 11 स्थान अनुसूचित और अन्य जातियों के लिए आरक्षित थे। इसी जिले में कांग्रेस के 6 उम्मीदवारों की जमानतें भी जब्त हुई थीं। रायपुर संभाग में कांग्रेस की स्थिति को निम्न तालिका में स्पष्ट किया गया है :

तालिका संख्या 6 : रायपुर संभाग में कांग्रेस की स्थिति

जिले		रायपुर	दुर्ग	बस्तर	योग
स्थान	कांग्रेस	16	11	2	29
	जनसंघ	1	—	2	3
मत-प्रतिशत	कांग्रेस	50·61%	46·09	19·99	
	जनसंघ	24·03%	13·47	29·00	

महाकौशल, जिसे कांग्रेस अपने प्रभाव का गढ़ मानती रही है, में कांग्रेस ने अपनी स्थिति को दृढ़ रखा। जबलपुर संभाग के 53 स्थानों में से 43 स्थान कांग्रेस को मिले और 7 जनसंघ को। कांग्रेस को 46·72 प्रतिशत मत मिले, जनसंघ को 20·27 प्रतिशत। संभाग के आठ जिलों के 53 निर्वाचन-क्षेत्रों में कांग्रेस की स्थिति इस प्रकार रही। जबलपुर जिला 12 में से 9 स्थान, बालघाट 8 में से 8, छिन्दवाड़ा 7 में से 6, सिवनी 5 में से 5, सागर 7 में से 2, मण्डला 6 में से 5, दमोह 4 में से 4 और नरसिंहपुर 4 में से 4। इन जिलों में उसे क्रमशः 43·93, 50·59, 46·72, 52·84, 39·90, 38·72, 45·06 और 50·63 प्रतिशत मत प्राप्त हुए। इन आठ जिलों में केवल सागर जिला ही एक ऐसा इलाका था, जहाँ कांग्रेस को 7 में से केवल 2 स्थान प्राप्त हुए और बाकी के पाँच स्थान जनसंघ को मिले। सागर जिला कांग्रेस के लिए बड़ी हानि थी। जबलपुर संभाग में कांग्रेस की स्थिति निम्न प्रकार की थी :

तालिका संख्या 7 : जबलपुर संभाग में कांग्रेस की स्थिति

जिले		जबलपुर	बालाघाट	छिन्दवाड़ा	सिवनी	सागर	मण्डला	दमोह	नरसिंहपुर	योग
स्थान	कांग्रेस	9	8	6	5	2	5	4	4	43
	जनसंघ	1	—	1	—	5	—	1	—	7
मत-प्रतिशत	कांग्रेस	43·93	50·59	46·72	52·84	39·90	38·72	45·06	50·53	
	जनसंघ	27·63	10·90	22·45	19·61	41.39	8·89	18·09	13·19	

भोपाल संभाग कांग्रेस के लिए हानि वाला क्षेत्र सिद्ध हुआ। जनसंघ की व्यूह रचना में भोपाल और इन्दौर संभागों को अपने प्रभाव क्षेत्र में बनाये रखना था और इसी आशय से उसने इन सम्भागों में, ग्वालियर के साथ, अपना ध्यान केन्द्रित किया था। फलतः कांग्रेस के

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

लिए इन संभागों में वह सफलता नहीं थी जो उसे रीवा, जबलपुर, रायपुर या विलासपुर संभागों में प्राप्त हुई थी। भोपाल संभाग के चुनाव परिणामों से यह स्थिति स्पष्ट हो जाती है कि संभाग के 36 स्थानों में से 12 स्थान कांग्रेस को मिलते हैं और 21 जनसंघ को। कांग्रेस को 39·48 प्रतिशत मत मिले और जनसंघ को 40·57 प्रतिशत। संभाग के सात जिलों में उसकी स्थिति इस प्रकार थी : सीहोर जिले में 6 में से 1 स्थान, रायसेन में 5 में से 2, विदिशा में 4 में से 0, होशंगाबाद में 6 में से 5, बेतूल में 5 में से 2, राजगढ़ में 5 में से 2 और शाजापुर में 5 में से 0 स्थान प्राप्त हुए। इन जिलों में उसे क्रमशः 31·66, 41·27, 23·54, 49·05, 39·95, 30·58 और 39·35 प्रतिशत मत मिले। शालापुर तथा विदिशा जिले में कांग्रेस को एक भी स्थान नहीं मिल सका। कांग्रेस की भोपाल संभाग में स्थिति इस प्रकार है :

तालिका संख्या 8 : भोपाल संभाग में कांग्रेस की स्थिति

जिले		सीहोर	रायसेन	विदिशा	होशंगाबाद	बेतूल	राजगढ़	शाजापुर	योग
स्थान	कांग्रेस	1	2	—	5	2	2	—	12
	जनसंघ	4	3	4	—	3	2	5	21
मत-प्रतिशत	कांग्रेस	31·66	41·27	23·54	49·05	39·95	30·58	39·35	36·48
	जनसंघ	47·85	42·55	64·84	12·61	38·50	26·51	51·18	40·57

इन जिलों में विदिशा जिले में कांग्रेस को 23·54 प्रतिशत मत मिले जिसकी तुलना में जनसंघ को 64·84 प्रतिशत मत मिले।

इन्दौर संभाग भी, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कांग्रेस के लिए क्षति वाला क्षेत्र था। संभाग के 54 स्थानों में से कांग्रेस को 23 स्थान प्राप्त हुए, और जनसंघ को 25। संभाग में कांग्रेस को यद्यपि कम स्थान प्राप्त हुए फिर भी जनसंघ के 37·78 प्रतिशत मत की अपेक्षा उसे 42·39 प्रतिशत मत मिले। मालवा व मध्यभारत के अनेक छोटे-छोटे देशी राज्यों का विलय कर इन्दौर संभाग बना था और इन देशी रियासतों में जनसंघ व राजमाता का प्रभाव कांग्रेस के लिए नुकसानकारी सिद्ध हुआ। संभाग के 9 जिलों में कांग्रेस की स्थिति इस प्रकार से थी : इन्दौर जिले के 7 स्थानों में से 3, झाबुआ 5 में से 3, उज्जैन 6 में से 0, मन्दसौर 7 में से 1, देवास 4 में से 1, धार 6 में से 3, रतलाम 5 में से 3, पूर्वी नीमाड़ 6 में से 2 तथा पश्चिमी नीमाड़ 9 में से 7 स्थान। इन जिलों में कांग्रेस को प्राप्त मत-प्रतिशत क्रमशः इस प्रकार था : 38·57, 45·95, 31·17, 41·05, 43·05, 45·21, 41·07, 42·31 तथा 53·16 प्रतिशत। संभाग के इन परिणामों को देखकर यह अवश्य कहा जा सकता है कि जनसंघ ने जितना ध्यान इस क्षेत्र पर केन्द्रित किया था, उसके अनुपात में उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई। जो स्थान कांग्रेस द्वारा खोये गये अनुभव किये गये थे, उन्हें छोड़कर (उदाहरणार्थ उज्जैन जिला) अन्य स्थानों पर कांग्रेस का लक्ष्य था कि जितने स्थान प्राप्त कर जनसंघ की स्थान संख्या कम की जा सके, उतना किया जाए। पश्चिमी नीमाड़ (खारगौन) में कांग्रेस ने अपनी स्थिति को सन् 1962 की तुलना में बहुत सुधारा। पहले उसे 9 में से 1 स्थान मिला था। सन् 1967

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

में उसने 7 स्थान प्राप्त कर जनसघ के पास केवल 2 स्थान रहने दिये । इन्दौर संभाग में कांग्रेस की स्थिति इस प्रकार थी :

तालिका संख्या 9 इन्दौर संभाग में कांग्रेस की स्थिति

जिले		इन्दौर	रतलाम	उज्जैन	मंदसौर	देवास	थार	झाबुआ	नीमाड़ पूर्वी	नीमाड़ पश्चिमी	योग
स्थान	कांग्रेस	3	3	—	1	1	3	3	2	7	23
	जनसंघ	1	1	5	6	3	3	—	4	2	25
मत-प्रतिशत	कांग्रेस	38·57	45·95	31·17	41·05	43·05	45·21	41·07	42·31	53·16	42·39
	जनसंघ	24·17	36·19	45·92	52·03	46·43	44·09	6·47	42·25	42·49	37·78

चौथे आम चुनावों में कांग्रेस को 296 स्थानों में से 167 स्थान मिलने से उसे सरकार बनाने का अवसर मिला । कांग्रेस की इस सफलता के अनेक कारणों को ढूँढ़ा जा सकता है । सन् 1967 में देश में जिस प्रकार का वातावरण व्याप्त था, पण्डित नेहरू के निधन के पश्चात् जब कांग्रेस पर प्रहार कर विरोधी दलों में जनमत को अपने पक्ष में करने की तीव्रता एवं उग्रता दिखायी दे रही थी, राजनीतिक दलों के पृथक्त्ववाद का काल जब समाप्त हो उनमें संयुक्त मोर्चा बनाने की भावना साकार हो रही थी, जब 'गैर-कांग्रेसी सरकार' के निर्माण के भाव संकल्पों का रूप धारण कर रहे थे, ऐसी परिस्थितियों में कांग्रेस का विजयी होना उसकी राजनीतिक प्रौढ़ता को परिलक्षित करता है । सन् 1962 और उसके पूर्व कांग्रेस की सफलता का एक कारण यह बताया जाता था कि विरोधी दलों के वोट बँटे रहते है । सन् 1967 में मध्य प्रदेश में इस कमी को भी पूरा कर दिया गया था, फिर भी बहुमत स्थान कांग्रेस को ही प्राप्त हुए । इसके अनेक कारण हैं । प्रदेश की यह सबसे पुरानी संस्था है, जिसने देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन का नेतृत्व किया था । नेतृत्व काल में राजनीतिक दाव पेचों का जितना अनुभव इसे प्राप्त हुआ है, उतना अन्य दलों को न हो सका है । सन् 1947 के पूर्व भी इसके नेताओं को चुनाव लड़ने के अवसर मिले । इसके संगठन की व्यापकता इसकी धरोहर रही है । प्रदेश में आज भी अनेक ऐसे दल हैं जो सम्पूर्ण मध्य प्रदेश में व्याप्त नहीं हो सके हैं । संगठन की व्यापकता के साथ धन, प्रचार के साधन, प्रदेश व आंचलिक क्षेत्र के नेता थे, जन-सम्पर्क तथा राष्ट्रीय संगठन से नैतिक एवं भौतिक सहायता व निर्देशन इसकी विशिष्टताएँ हैं । कांग्रेस के अभी तक के सबसे अधिक विश्वासपात्र निर्वाचक गाँवों में रहने वाले ग्रामीण किसान रहे हैं । शासक दल होने के कारण विकास कार्यक्रमों का निर्धारण कर उन्हें क्रियान्वित करने का श्रेय अभी तक इसी को रहा है । फलतः ग्रामीण जनता, कृषक, अनुसूचित जातियों एवं अन्य जातियों से इसका सीधा सम्बन्ध रहा है । लाइसैंस, ठेके, व्यापार नीति पर नियन्त्रण होने के कारण अन्य दलों की अपेक्षा इसे धन की उतनी कठिनाई नहीं रहती । धन की बात रहने भी दें, अन्य दलों को यह भी कठिन रहता है कि राज्य विधान सभा के पूरे स्थानों के लिए उम्मीदवार कहाँ से लाये जाएँ जो चुनाव जीत सके । छान-छान कर अपने प्रत्याशियों के चयन की मशीनरी, चुनाव अभियान के संचालन की सामग्री व सामर्थ्य, अनुभवी नेताओं का व्यूह रचना का कौशल इत्यादि कुछ ऐसे कारण हैं, जो कांग्रेस की नौका को विरोधियों के तूफानों के बावजूद भी उसे विजय-

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

तट तक ले जाने में समर्थ रहे हैं। सारांश में, चुनाव में सफलता प्राप्त करने के कुछ मौलिक आधार हैं—सुस्पष्ट विचारधारा, व्यापक संगठन, धन, एवं कुशल नेतृत्व। मध्य प्रदेश की कांग्रेस के पास ये चारों आधार हैं और चौथे आम चुनावों में इन्हीं आधारों पर उसे विजय-श्री मिली थी। धर्म-निरपेक्षता, समाजवाद एवं शान्तिवाद की विचारधारा को स्थानीय समस्याओं के साथ जोड़ने की उसमें क्षमता परिलक्षित होती है। सरकार की मशीनरी तथा नीति निर्माण व उसको क्रियान्वित करने की सुविधा उसके हाथों में होने से विजय और भी सुलभ हो जाती है। वृद्धावस्था के वावजूद भी प्रदेश के वरिष्ठ नेता चुनाव की अन्तिम घड़ी तक चुनाव अभियानों का हर स्तर पर संचालन कर रहे थे।

कांग्रेस के इन लाभों के साथ उसका धुंधला पक्ष भी है। पुराना संगठन होने व सरकार की मशीनरी को हाथ में रखने के जितने लाभ हैं, उनके उतने ही कुछ दोष भी हैं। स्वतन्त्रता आन्दोलन के नेतृत्व का भार अपने कन्धों पर लेकर चलने से उसे पुण्य अवश्य प्राप्त हुआ। लेकिन स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने पर एक उद्देश्य की प्राप्ति हो गई थी; अव दल का दूसरा उद्देश्य रह गया था—राजनीतिक सत्ता को अपने हाथों में रखना। राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति व उसे बनाये रखने के कार्य में उसका पुण्य क्षीण हुआ है, संगठन में दरारें पड़ी हैं, नेतृत्व के झगड़े उत्पन्न हुए हैं एवं व्यक्तिगत स्तर पर सत्ता-प्राप्ति हेतु सिद्धान्त निष्ठा ने सिद्धान्त-हीनता को जन्म दिया है। इन्हीं वर्गों ने संगठन के स्वस्थ शरीर को जीर्ण-शीर्ण भी किया है; एक कांग्रेस ने अनेकों कांग्रेसों को जन्म दिया है। सन् 1967 के चुनावों के समय जो फूट सबके सामने आई थी, वह कोई नवीन वस्तु नहीं थी। मध्यभारत के निर्माण के साथ वहाँ नेताओं का सत्ता प्राप्ति हेतु पारस्परिक संघर्ष हमारे सामने आता है। पंडित रविशंकर शुक्ल के देहावसान के के पश्चात् नेतृत्व के लिए गुटों की दौड़, मण्डलोई तथा काटजू के नेतृत्व काल में वैयक्तिक तथा क्षेत्रीय आधार पर संगठन व सरकार की सत्ता को अपने हाथों में रखने के विभिन्न गुटों के प्रयत्न प्रदेश राजनीति की ताजी घटनाएँ हैं। व्यापक संगठन के साथ-साथ उसमें गुटों का होना कांग्रेस का दुर्भाग्य रहा है, जिसके कारण उसे जितनी सफलता मिलनी चाहिए थी, उतनी कभी भी न मिल सकी। साथ ही, व्यक्तिगत स्तर पर उसके कुछ सदस्यों का सत्ता का मोह उसका सबसे बड़ा अभिशाप रहा है। संगठन की सदस्यता का प्रश्न भी एक गम्भीर प्रश्न है। एक समय था जवकि सदस्य संख्या बढ़ाने के लिए सक्रिय कदम उठाये जाते थे। आज उतनी तत्परता, सक्रियता का अभाव है। प्रदेश के कुछ दलों, विशेषतः, जनसंघ के पास नये सदस्यों को भर्ती करने की ठोस नीति है, जबकि कांग्रेस के पास नीति, साधन व मशीनरी होने पर भी शिथिलता है। प्रदेश में पिछले 15 वर्षों में शिक्षा का अपूर्व प्रसार हुआ है और स्कूलों, कालेजों व विश्वविद्यालयों से इतना अधिक युवा वर्ग निकला है, जिसको अपनाकर कोई भी संगठन अपनी शक्ति व नेतृत्व की अभिवृद्धि कर सकता था। प्रदेश में औद्योगिक विकास के साथ-साथ, हैवी इलैक्ट्रिकल्स, राँची, नेपा नगर, इन्दौर व ग्वालियर की मिलों की स्थापना के साथ, जागरूक मजदूर वर्ग का निर्माण हुआ है। उन्हें अपनी विचारधारा से प्रभावित कर अपने पक्ष में लेने के कांग्रेस के कदम इस दिशा में नहीं उठे हैं। उन्हीं तपे-मंजे पुराने नेताओं के इकतारे का आलाप प्रदेश में आज भी सुनाई पड़ता है। 'यूथ कांग्रेस' एक औपचारिक संगठन रह गया है। सदस्य-संख्या वृद्धि एवं जन-सम्पर्क के साधन के रूप में आज उसका इतना अधिक महत्त्व नहीं। जन-सम्पर्क के अभाव में कांग्रेस संगठन व सदस्यता में क्षीणता आई है एवं नेतृत्व में तरुणाई का अभाव

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

आया है। संविद सरकार के विरुद्ध किए गए, पंडित मिश्र के पद-यात्रा अभियान को, जिसे जन-सम्पर्क आन्दोलन कहना उचित होगा, जनता से जितना स्वागत मिला था, उससे इस तथ्य की पुष्टि मिलती है कि कांग्रेस को जन सम्पर्क के फ्रंट को साधे रखना आवश्यक है।

चुनाव के पहले टिकट बाँटने व बाद में मन्त्रिमण्डल में स्थान देने के प्रश्न को लेकर जो राजनीतिक विस्फोट कांग्रेस में हुआ था—बड़े पैमाने पर कांग्रेस के सदस्यों का दल स्थापना व संविद सरकार का बनना ये कांग्रेस के शरीर में व्याप्त बीमारी के प्रकट लक्षण थे। कोई भी बुद्धिमान संगठन, एक बुद्धिमान मनुष्य की भाँति, अपने प्राचीन अनुभवों से सीखने पर भविष्य का मार्ग निर्धारण कर सकता है। कांग्रेस के एक-छत्र राज्य के गौरव दिन समाप्त हो चुके हैं। प्रदेश में ऐसे दल जड़ें जमा चुके हैं, जिनका आने वाले समय में व्यावहारिक स्तर पर कांग्रेस को सामना करना पड़ेगा। दलों के ध्रुवीकरण की प्रक्रिया के प्रारम्भ होने के साथ, भारतीय प्रजातन्त्र के स्थायित्व के लिए व राज्य सरकार के स्थायी चलन के लिए, कांग्रेस के लिए अब आवश्यक होगा कि वह भूत व वर्तमान से सीख लेकर अपने घर को सुधारे, क्योंकि प्रदेश के बुजुर्ग संगठन होने के नाते प्रदेश के प्रति उसके कुछ दायित्व भी हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्राक्-स्वातन्त्र्य कांग्रेस दल की गत्यात्मकता

(एक प्रकरण-अध्ययन)

पुरुषोत्तम सिंह

बिहार के छोटा नागपुर प्रभाग में हजारीबाग जिले की गिरिडीह तहसील, जो झारखण्ड का एक अंग है, नयनाभिराम वनों और पठारों की मनोरम पृष्ठभूमि में विविधताओं से युक्त व्यक्तित्व रखती है। ये अनेकताएँ, उसके धार्मिक, ऐतिहासिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन को वास्तविक रूप में प्रभावित करती हैं। कोयला और अभ्रक की प्रसिद्धि से युक्त, 1911 ई० की जनगणना के अनुसार 2,005 वर्गमील तथा 4,52,656 की जनसंख्या की पाँच थाना तथा एकमात्र प्रमुख नगर गिरिडीह की यह तहसील हिन्दुओं, मुसलमानों और ब्रह्मवादियों में विभक्त निम्नलिखित प्रमुख जातियों से आबाद है : भूमिहर घाटवाल, राजपूत, बनियाँ (माहुरी, मारवाड़ी, अग्रवाल, बनेवाल), ग्वाला, संथाल, बढ़ई, हज्जाम, सुनरी, भोग्ता, कहार, तेली, भुईयाँ, कायस्थ, तुरी, ब्राह्मण, कोयरी, जुलाहा, कुम्हार, शेख, दुसाथ, कुरमी। आदिवासी और अर्ध-आदिवासी जातियों में बेदिया, भोग्ता, भुईया, विरहोर, घाटवाल, कमेली, मुंडा, उराँव, रजवार और संथाल उल्लेखनीय हैं। उस जनगणना के पश्चात् इन जातियों का बर्हिगमन नहीं हुआ है, बल्कि इनकी जनसंख्या में वृद्धि होती गयी हैं। कोयला और अभ्रक के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमुख उद्योग-धन्धा न होने से अधिकांश लोगों को कृषि पर आश्रित रहना पड़ा है। स्वातन्त्र्य-पूर्व समय में महाविद्यालीय व्यवस्था के अभाव में उच्चतर शिक्षा के इच्छुक व्यक्तियों को हजारीबाग, पटना या कलकत्ता के महाविद्यालयों में दाखिल होना पड़ता था। संक्षेप में वर्णित इन प्राकृतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक विशेषताओं ने इस क्षेत्र की राजनीतिक संस्कृति को प्रभावित किया है।

श्री विनायक दामोदर सावरकर जैसे महानुभाव सन् 1857 ई० के सैन्यद्रोह का स्तवन करते हुए इसकी गणना स्वातन्त्र्य संग्राम में करते हैं। गिरिडीह अनुमण्डल में विशेषतः खरगडीहा परगना में शासकों की सत्ताहीनता से पीड़ित संथाल और भुइयाँ लोगों पर इस उथल-पुथल का प्रभाव पड़ा और उनमें राष्ट्रीयता का आवेश उत्पन्न हुआ, मगर उसके पीछे आंग्ल-प्रभुओं से मुक्ति पाने की भावना के बदले स्थानीय महाजनों के शोषण से मुक्ति की कामना ही प्रेरक शक्ति प्रतीत होती है।

सन् 1899–1900 ई० में क्रान्तिकारी बिरसा ने आदिवासियों का विप्लव के लिए आह्वान किया। पर इस आह्वान का प्रभाव इस क्षेत्र के मुंडा तथा अन्य आदिवासियों पर परिलक्षित नहीं होता। यद्यपि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना सन् 1885 ई० में हो चुकी थी, पर वह सांविधानिक माध्यम से शासन की खामियों को दूर करने तथा स्वायत्तता

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्राप्त करने की नरम नीति वाली संस्था थी; सुतराँ कांग्रेस और बिरसा के राजद्रोह में कोई सम्पर्क या सम्बन्ध जोड़ना असंगत होगा ।

सन् 1905 ई० के रूस-जापान युद्ध से उत्पन्न दृढ़तर आत्म-विश्वास तथा तत्कालीन वायसराय लार्ड कर्जन की प्रशासकीय नीतियों, विशेषतः बंग-भंग के फलस्वरूप लाल, बाल और पाल के नेतृत्व में देश के जिजीविषार्थ एवं जीवन को उदात्त स्वर देने के निमित्त भारतीय राजनीति में उग्रवाद के कारण बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ । प्रशासनिक बुराइयों को दूर करने की बजाय विदेशी सत्ताधीशों द्वारा विरोधात्मक जन-आवाज को कुचलने के लिए कई परिपत्र निकाले गए, जिनमें एक परिपत्र 'बन्देमातरम्' के चिल्लाने पर नियन्त्रण से सम्बन्धित था । एक उच्च आंग्ल अधिकारी की कुव्याख्या के अनुसार 'वन्देमातरम्' का प्रतिपाद्य शत्रु से प्रतिशोध लेने के लिए काली का आह्वान था ।[1] बंग-भंग के विरुद्ध बरिसाल में आयोजित बंगाल के प्रान्तीय कांग्रेस सम्मेलन में गिरिडीह के प्रसिद्ध स्वदेशी कार्यकर्त्ता एवं प्रखर प्रवक्ता, श्री मनोरंजन ठाकुर गुहा, जिन्हें बाद में देश-निर्वासन की सजा भी मिली थी, अपने सुपुत्र, श्री चितरंजन ठाकुर गुहा, जो एण्टी-सक्युलर सोसाइटी के सदस्य थे, के साथ शामिल हुए । बैठक के पूर्व निःशस्त्र लोगों पर जुलूस निकाले जाने पर पुलिस द्वारा जुलूस के नौजवानों पर हमलाकर 'बन्देमातरम्' का बिल्ला छीनकर चितरंजन ठाकुर गुहा को जलपूर्ण सरोवर में जानलेवा फेंकना, स्वाधीनता संग्राम के नाटक में एक रोमांचकारी दृश्य है ।[2] उत्तेजितावस्था में सम्मेलन की बैठक में बाबू मनोरंजन ठाकुर गुहा द्वारा 'बन्देमातरम' का उद्घोष पुलिस की लाठी के बावजूद किए जाने तथा उनके द्वारा कोई प्रतिरोध न करने का वर्णन कर ब्रिटिश सरकार के जुगुप्सित कार्य की भर्त्सना अपने मार्मिक और प्रभावकारी भाषण में करना एक अविस्मरणीय दृश्य था ।[3]

सन् 1905 ई० के पश्चात् श्री अरविन्द के धार्मिक आदर्शवाद से अनुप्राणित भारतीय राष्ट्रीयता से प्रभावित मनोरंजन ठाकुर गुहा गिरिडीह में अभ्रक का कारबार करते हुए सरकार द्वारा उत्पीड़ित होने पर भी स्वदेशी आन्दोलन में भागीदार रहे और गिरिडोह में राष्ट्रीयता के प्रचार हेतु इन्होंने एक छोटे निजी विद्यालय की स्थापना भी की ।

20वीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में कांग्रेस के प्रति बिहार के लोगों में उत्साह एवं रुचि के परिणामस्वरूप सन् 1908 ई० में सोनपुर में नवाब सरफराज हुसैन खाँ की अध्यक्षता में बिहार प्रान्तीय कांग्रेस समिति की स्थापना हुई । दूसरे वर्ष मद्रास में आयोजित कांग्रेस अधिवेशन में बिहार का प्रतिनिधि तहसील का कोई व्यक्ति नहीं था । तत्कालीन बिहार में कांग्रेस का विरोधात्मक रूप ब्रिटिश सरकार के लिए कोई आशंका या भयकर परिणति लाने वाला भी नहीं था । प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान भारतीय राजनीति में एक मोड़ के फलस्वरूप श्रीमती एनीबेसेन्ट के प्रयास से कांग्रेस के नरम और गरम दल एकजुट हुए और दिसम्बर, सन 1916 ई० में, कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के अनुबन्ध के कारण कांग्रेस पृथक निर्वाचन की आत्मघाती व्यवस्था के लिए सहमत हुई । सर्वप्रथम थियोसोफिकल सोसाइटी एवं हिन्दू-शिक्षा

---

[1] सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी , 'ए॰ नेशन इन मेकिंग', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ० 199 ।

[2] वही, पृ० 206 ।

[3] वही, पृ० 209 ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

आन्दोलन में निरत श्रीमती बेसेन्ट ने सन् 1914 ई० में कांग्रेस में प्रविष्ट हो अपने दबंग व्यक्तित्व, आयात, संगठन-शक्ति और वक्तृत्व-कला से अपना प्रभाव-क्षेत्र निर्मित कर स्वशासन के प्रश्न पर प्रचार हेतु होमरुल लीग की स्थापना की। गिरिडीह क्षेत्र में होमरुल लीग का प्रचार-कार्य श्री बजरंग सहाय द्वारा किया गया, जिन्हें कुछ लोगों ने व्यंग्योक्ति में होमरुल बाबू के विशेषण से अभिहित भी किया। पचम्बा निवासी (गिरिडीह) श्री तारिणी प्रसाद सिन्हा ने, जिन्होंने बाद में विदेश-गमन किया, भी इसमें भाग लिया।

इस क्षेत्र में कांग्रेस को सशक्त रूप में संगठित करने एवं इसे प्रचारित करने का श्रेय श्री बजरंग सहाय को दिया जा सकता है। वे कलकत्ता में विधि-महाविद्यालय के छात्र रहते हुए 'बिहारी' पत्रिका के एक प्रतिनिधि के रूप में सन् 1920 ई० में कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित हो असहयोग आन्दोलन के प्रस्ताव पर महात्मा गांधी द्वारा प्रदत्त तर्कों से प्रभावित एवं स्पन्दित हो असहयोग आन्दोलन में कूद पड़े।[4]

सन 1921 में बिहारी छात्र सम्मेलन का, जिसकी स्थापना, 1906 में हुई थी, एक विशेष अधिवेशन पटना में हुआ। सम्मेलन का उद्देश्य सरकार के एक आदेश में संशोधन करना था जिसके अनुसार छात्रों का सक्रिय राजनीति में भाग लेना बन्द कर दिया गया था। सम्मेलन में सर्वश्री राजेन्द्र प्रसाद और मजहरुलहक के अतिरिक्त बजरंग सहाय ने भी भाग लिया। अब्दुलबारी साहब के उस प्रस्ताव का जिसमें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, अखिल भारतीय महाविद्यालय छात्र सम्मेलन और अन्य राष्ट्रीय सभाओं के निर्णयों के प्रति सम्मान को दृष्टिगत रख छात्रों से सरकारी सहायता प्राप्त अथवा सरकार नियन्त्रित शिक्षण संस्थाओं से अलग ही राष्ट्रीय संस्थाओं से लाभान्वित होने का अनुरोध किया गया था, बजरंग सहाय ने अनुमोदन किया और वह प्रस्ताव विशिष्ट बहुमत से पारित हुआ। इसी क्रम में 1921 ई० में हजारीबाग जिला के चत्तराँ और गिरिडीह में राष्ट्रीय स्कूलों को स्थापना हुई।

नागपुर कांग्रेस अधिवेशन द्वारा असहयोग आन्दोलन का अनुमोदन करने के बाद बिहार प्रान्तीय कांग्रेस समिति द्वारा एक संगठन समिति की रचना होने पर इस संगठन समिति द्वारा आन्दोलन को क्रियाशील रखने के निमित्त विभिन्न क्षेत्रों के लिए कुछ कांग्रेसी नेताओं की नियुक्ति की गई। इन नियुक्त कार्यकर्ताओं में श्री बजरंग सहाय को हजारीबाग जिले में आन्दोलन निश्चित करने का भार सौंपा गया। हिंसा न करने, संगठन-कार्य अधिक और भाषण कम, सभा तथा पंचायत का संगठन, गाँवों की सफाई करने, मादक द्रव्यों के निषेध पर बल देने, स्वदेशी का प्रचार करने, राष्ट्रीय कोष का निर्माण, स्थानीय स्वयं-सेवकों का संगठन तथा हिन्दू-मुस्लिम सद्भाव प्रभृति के निदेशन कार्यकर्ताओं को दिए गए। गिरिडीह में असहयोग आन्दोलन की सक्रियता के सिलसिले में रिपोर्ट देते हुए 2 मई, सन् 1921 ई० को बिहार पुलिस के महा निरीक्षक को छोटा नागपुर के आयुक्त ने इस प्रभाग में इसे सर्वाधिक सशक्त तथा आन्दोलनकर्त्ता के लिए उर्वर क्षेत्र मानते हुए इसके स्वयं-सेवकों के तगड़े संगठन, बहिष्कार की पूर्ण योजना और इसकी पंचायत की चर्चा की।[5]

यहाँ पचम्बा (गिरिडीह) के भोगल जान मियाँ के मुकदमे की चर्चा अप्रासंगिक न

---

[4] श्री बजरंग सहाय, अधिवक्ता, पटना हाई कोर्ट, 'ए टॉक ऑन महात्मा गांधी', पाण्डुलिपि।

[5] डा० के० के० दत्त, 'फ्रीडम मूवमेन्ट इन बिहार', खण्ड 1, पृ० 339।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

होगी। गिरिडीह शहर तथा आस-पास की जातीय पंचायतों के ऊपर नगर को एक बड़ी पंचायत के सभापति सम्पन्न कृषक श्री केदारनाथ सामन्त द्वारा भोगल जान के चाचा की एक गाय का क्रय, मगर बादानुसार गाय से दूध की प्राप्ति न होना, तदनन्तर मुस्लिम पंचायत द्वारा गाय की वापसी का निर्णय लेना और उस निर्णयानुसार कार्य न करने पर विक्रेता के सामाजिक बहिष्कार के फलस्वरूप कांग्रेस स्वयं-सेवक भोगल जान द्वारा अपने चाचा की लड़की को कुएँ से जल न भरने देने पर उसके चाचा द्वारा उस पर थाने में मुकदमा दायर करना और परिणाम-स्वरूप भोगल जान की थानेदार द्वारा गिरफ्तारी, पर बड़ी पंचायत की बैठक में सरकार द्वारा पंचायत के कार्य में हस्तक्षेप की निन्दा और गांधी जी की जय का उद्घोष एवं भोगल जान को छुड़ाने के उद्देश्य से कचहरी पर पथराव तथा जेल पर जबाबी हल्ला कर उसका फाटक तोड़ देना और इसलिए हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदाय के 21 व्यक्तियों की गिरफतारी और सजा, यह मुकदमे का कथासार है।

असहयोग आन्दोलन की पूर्णता द्वारा अहिंसा पर बल दिए जाने के कारण यहाँ के कार्यकर्ताओं ने इसके अहिंसात्मक स्वरूप को बरकरार रखने की कोशिश की, मगर इसका रूप पथराव एवं तोड़-फोड़ की वजह से कुछ हिंसात्मक सा प्रतीत हुआ। सरकार ने इस आन्दोलन को कुचलने के निमित्त कई उपकरणों का आश्रय लिया। वरिष्ठ अधिकारियों द्वारा अधीनस्थ कर्मचारियों को इससे अलग रहने की चेतावनी दी गई तथा सम्पन्न व्यक्तियों को कानून एवं व्यवस्था की अभावजन्य भयावह स्थिति से अवगत कराकर इससे विमुख होने का अनुरोध करते हुए इसके विरुद्ध प्रचार द्वारा सामन्तों से सहयोग की अपेक्षा की गई, तथा अधिकारियों को दण्ड विधि-संहिता और भारतीय दण्ड संहिता का सहारा ले इसे दमन करने का आदेश दिया गया।

असहयोग आन्दोलन को सफलता के सोपान पर अग्रसारित करने हेतु श्री बजरंग सहाय ने सम्पूर्ण हजारीबाग जिले का भ्रमण किया। फरवरी, 1922 में गिरिडीह में उनके भाषण को पुलिस अधिकारी ने आपत्तिजनक समझा, परन्तु उपमण्डलाधिकारी द्वारा तैनात अधिकारी ने उसे नरम तथा अहिंसा पर बल देने वाला माना। इन्हें उस वक्त कैद न कर, सितम्बर, सन् 1922 ई० में गिरफ्तार कर पहले हजारीबाग जेल में गिरिडीह के अन्य राज-नीतिक बन्दियों से अलग रखा गया और बाद में भागलपुर जल में भेज दिया गया। इस क्षेत्र में इस राजनीतिक उथल-पुथल में गिरफ्तार किए गए व्यक्तियों में उल्लेखनीय निम्नांकित हैं—

सर्वश्री चितरन्जन ठाकुर गुहा, जगन्नाथ सहाय (बजरंग सहाय के अग्रज), रजन सिंह, अलीजान मल्लिक, मूसा मियाँ, अब्दुल रजाक, गजाधर बगेड़िया, सफीयत अली, महसरीमोदी, रामनाथ हलवाई तथा वंशीसोनार।

ये राजनीतिक कैदी जेल में राष्ट्रीय गाने गाया करते थे। चितरन्जन ठाकुर गुहा धानी चलाते वक्त, बंगला भाषा में जो गाना गाया करते, उसका सारांश था कि हमारी धानी घूमती है, सूर्य और चन्द्रा घूमते हैं, तो फिर हम क्यों न घूमें। इस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा से प्रेरणा ग्रहण करने वाले बन्दियों का मनोबल तोड़ने हेतु उनके साथ कई तरह के दुर्व्यवहार किए जाते थे। जैसे, फरवरी, सन् 1922 ई० की घटना है। पटना उच्च न्यायालय के एक धर्मप्राण मुस्लिम वकील ने हजारीबाग जेल में कुरान पाठ करते वक्त जेल सुपरिन्टेण्डेन्ट और जेलर के आगमन पर खड़े होकर उनकी अभ्यर्थना नियमतः नहीं की, तो जेलर ने कुरान को लात मारकर उन्हें जबर्दस्ती उठा दिया, जिसकी प्रतिक्रिया में कांग्रेसी कैदियों ने भूख हड़ताल की। सरकारी

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अधिकारियों द्वारा जाँच करने पर मौलवी साहब, राजनारायण सिंह और चितरन्जन ठाकुर गुहा तथा रामसागर राम ने इस घटना की सत्यता का समर्थन किया। अन्ततः जेलर को क्षमा-याचना करनी पड़ी, तब ये कैदी शान्त हुए।[6] महात्मा गांधी ने भी इस घटना में लोगों की बहुमूल्य धार्मिक भावनाओं की सरकार द्वारा उपेक्षा की भर्त्सना की।[7]

बिहार और उड़ीसा के स्वायत्त-शासन विभाग ने असहयोग आन्दोलन के विरुद्ध डिस्ट्रिक्ट बोर्ड तथा नगरपालिकाओं के पदाधिकारियों एवं सदस्यों को 14 फरवरी, सन् 1921 ई० के परिपत्र द्वारा इन संस्थाओं को सरकार का अंग घोषित करते हुए, उन्हें इससे अलग रहने का निर्देशन दिया। निर्वाचित पदाधिकारियों तथा सदस्यों को सरकारी कर्मचारियों के स्तर पर रखना एक अजीब मूर्खतापूर्ण एवं निरंकुश नीति थी। 1902 ई० में स्थापित गिरिडीह नगरपालिका के सभी सदस्य, 1918 ई० के पूर्व तक सरकार द्वारा मनोनीत होते थे जिसमें कांग्रेसी व्यक्तियों का मनोनयन स्वभावतः सम्भव न था। तहसील अधिकारी पदेन सभापति होता था। सन् 1914 ई० में नगरपालिका में लोकतन्त्रीकरण के प्रथम चरण में जब निर्वाचन हुआ तो बंगाली-बिहारी भावना पर निर्वाचन लड़ा गया। फिर सन् 1919 ई० के चुनाव में इस भावना का शोषण किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों निर्वाचनों में कांग्रेस संस्था की ओर से चुनाव लड़ने की कोशिश नहीं की गयी।[8] असहयोग आन्दोलन के समय नगरपालिका-अध्यक्ष श्री एस० सी० मलिक एवं उपाध्यक्ष श्री भगवती प्रसाद तथा अन्य सदस्यों ने सरकारी परिपत्रानुसार असहयोग के विरुद्ध कार्य नहीं किया। यद्यपि इन लोगों ने खुलकर उक्त आन्दोलन में भाग नहीं लिया, पर विरोध भी नहीं किया।

सन् 1923 ई० में बिहार में कुछ कांग्रेसियों द्वारा स्वराज्य पार्टी की स्थापना होने पर हजारीबाग जिले के श्री कृष्ण वल्लभ सहाय उसके एक मन्त्री पद पर आसीन हुए और विधान परिषद् के लिए निर्वाचित हुए। इनके चुनाव के क्रम में सर्वश्री बजरंग सहाय और रजन सिंह ने घूम-घूम कर प्रचार किया।[9] सन् 1923 ई० के पश्चात् जब भारतीय राजनीति साम्प्रदायिक तनाव और गुटबन्दी का शिकार हुई और फलस्वरूप संकट काल से गुजरने लगी तो कांग्रेस के सूत्रधारों ने जनमानस को प्रभावित करने हेतु देश के आन्तरिक भागों में भ्रमण करना प्रारम्भ किया। उसी क्रम में महात्मा गांधी सन् 1925 ई० में खरगडीह और गिरिडीह पधारे।[10] माहुरी जाति बहुल खरगडीह में खद्दर और चरखे का विशेष प्रचार था। वहाँ महिलाओं की बैठक में महात्मा गांधी के अनुरोध पर देशबन्धु स्मारक कोष के लिए महिलाओं ने उदारता से रुपये और गहने दिए। गांधी जी के प्रभाव से इस क्षेत्र के कुछ संथाल लोगों ने शराब पीना छोड़ दिया था।

इस क्षेत्र में महिलाएँ भी आगे बढ़ीं। सन् 1920 ई० में और उसके अनन्तर सरस्वती देवी, मीरा भट्टाचार्य और पुनियाँ देवी ने देहाती इलाकों में भ्रमण कर कांग्रेस के कार्यक्रम का प्रचार किया।

---

[6] श्री जगन्नाथ सहाय, 'एक भेंट वार्ता'।

[7] 'यंग इण्डिया', 27 फरवरी, 1922।

[8] श्री भगवती प्रसाद, वकील तथा भूतपूर्व नगरपालिका-अध्यक्ष, 'एक संस्मरण' (पाण्डुलिपि)।

[9] श्री रजनसिंह, 'एक भेंट वार्ता'।

[10] श्री बजरंग सहाय, 'ए टॉक ऑन महात्मा गांधी' (पाण्डुलिपि)।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

श्री जगन्नाथ सहाय के प्रयास से कथावाचक, श्री विष्णुदत्त द्विवेदी ने यहाँ आकर धार्मिक समारोहों का आयोजन कर गीता तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों के वाचन और उनकी व्याख्या के सन्दर्भ में राष्ट्रीय जागृति का प्रसार किया एवं महिलाओं को दुर्गा बनने का आह्वान किया। सरकार भी इस सम्बन्ध में सतर्क थी। वह अपना गुप्तचर इनकी सभाओं में भेजती रहती थी।

सन् 1930 ई० में कांग्रेस द्वारा संचालित नमक सत्याग्रह में गिरिडीह कचहरी के पास मिट्टी से नमक बनाकर सरकारी नियम का उल्लंघन किया गया। इसके अतिरिक्त स्थानीय कांग्रेस कार्यकर्ताओं के नेतृत्व में संथालों में जागरण लाने, गोमांस न खाने का तथा अन्य सामाजिक सुधार हेतु बुहद्दू मांझी द्वारा डुमरी में संथालों की एक बड़ी सभा आयोजित की गयी। गांधी जी के सन्देश पर अनेक संथाल जेल जाने को तैयार हुए, मगर सरकारी अधिकारियों ने इन्हें जेल भेजने के बजाय ट्रक में दूर ले जाकर छोड़ दिया। कुछ संथाल अहिंसक हुए तथा जनेऊ पहनने लगे।

सन् 1922–23 ई० में मुंगेर में स्थापित किसान-सभा का नेतृत्व सन् 1928 ई० में स्वामी सहजानन्द सरस्वती के हाथ में जाने के फलस्वरूप किसान-आन्दोलन में तीव्रता आने से बिहार-कांग्रेस ने भी सन् 1930–34 ई० तक इस आन्दोलन के साथ अपना समीकरण किया। किसान-आन्दोलन के उद्देश्य थे : जमीदारों के अत्याचार का प्रतिरोध, नहर-लगान में कमी, लगान अदायगी की उचित रसीद। इस आन्दोलन के फलस्वरूप जब कांग्रेस ने किसानों को अपनी ओर आकर्षित करना शुरू किया तो ब्रिटिश सरकार द्वारा संस्थापित एवं उत्प्रेरित अमन सभा द्वारा रैयतों को कांग्रेस के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर लाने का प्रयत्न किया गया।[11]

गिरिडीह तहसील में महाजनों के शोषण से बचने के लिए सहकारी आधार पर कार्य करने की कोशिश की गयी, परन्तु कुछ सम्पन्न भूमिहार और बनियाँ साहूकारों का प्रभाव तथा दबाव इतना था कि कांग्रेसी कार्यकर्ताओं के प्रयत्नानुसार कार्य न हो सका। स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने इस क्षेत्र का भी दौरा किया और उनके भाषण से आदिवासियों में, विशेषतः पारसनाथ जंगल के इर्द-गिर्द जंगल कानून के विरुद्ध आक्रोश उत्पन्न हुआ।

इस सन्दर्भ में इस जिले की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि का सिंहावलोकन आवश्यक है। सिफ्टन के अनुसार हजारीबाग जिले में रैयतों की कृषि-क्रान्ति कभी नहीं हुई—इसलिए नहीं, कि उनमें क्षोभ एवं असन्तोष नहीं रहा है, बल्कि इसलिए कि अनेक विजातीय तत्त्वों के परिणामस्वरूप उनमें एकजुट होने की क्षमता का अभाव है। अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह के छुट-पुट उदाहरण मिलते हैं, जैसे गाँवाँ थाना के बिहारा ग्राम में एक महाजन के खिलाफ वहाँ के लोगों का संगठित विद्रोह। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण जिले में कभी भी सुनियोजित ढंग से जमींदारों के विरुद्ध आक्रोश की मुखर प्रतिक्रिया नहीं देखी गयी।[12] इस तहसील में भी जमींदारों एवं महाजनों द्वारा बेदखली, बेगारी, लगान-रसीद नहीं दिए जाने, उनके कर्मचारियों द्वारा तंग किए जाने, एक बार साहूकार के चंगुल में फंस जाने पर जमीन से हाथ धोने, दास-प्रथा तुल्य कमि-

---

[11] डा० के० के० दत्त, 'फ्रीडम मूवमेंट इन बिहार', खण्ड 2, पृ० 236–37।

[12] जे० डी० सिफ्टन, 'फाइनल रिपोर्ट ऑन द सर्वे एण्ड सेटलमेंट आपरेशन्स इन द डिस्ट्रिक्ट ऑफ हजारीबाग', गवर्नमेंट प्रिन्टिंग प्रेस, 1917, पृ० 22–23।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

यौटी व्यवस्था, खर्चीली न्याय-व्यवस्था आदि के कारण रैयत दमन और यन्त्रणा से त्रस्त जिन्दगी व्यतीत करते रहे, मगर कांग्रेस की ओर से इन अत्याचारों के प्रतिरोध में संगठित रूप में आन्दोलन नहीं चलाया गया। कारण कि कांग्रेस कार्यकर्ता जमींदारों तथा साहूकारों के समक्ष अपने को शक्तिहीन महसूस करते थे।[13] इस सिलसिले में श्री रजनसिंह का कथन है, कि उन लोगों ने रैयतों में अभय की भावना अपने भाषणों द्वारा भरी।[14]

इस क्षेत्र के अभ्रक और कोयला मजदूरों को स्वामी विश्वानन्द और योगेन्द्र शुक्ल के नेतृत्व में स्थानीय कांग्रेस ने राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित करते हुए उद्वेलित किया। कोयला श्रमिकों के प्रति अधिकारियों के दुर्व्यवहार, उनकी छँटनी, निवास-समस्या, जल-प्रबन्ध, मजदूरी-वृद्धि आदि प्रश्नों पर प्रदर्शन, सभा और काम रोकने का आयोजन कांग्रेस कार्यकर्ताओं के कार्य-क्रम रहे।

सन् 1934 ई० में कांग्रेस पर से प्रतिबन्ध उठा लिए जाने पर, अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने वर्धा की बैठक में विभिन्न स्तरों पर कांग्रेस समितियों के पुनर्गठन की सलाह देते हुए निम्नलिखित प्रमुख रचनात्मक कार्यों के लिए कांग्रेसियों का आह्वान किया—खद्दर का उत्पादन, छुआछूत को हटाना, साम्प्रदायिक एकता, नशाबन्दी, राष्ट्रीय आधार पर शिक्षा का विकास, कुटीर उद्योग, गाँवों का पुनर्निर्माण, देहातों में प्रचार, औद्योगिक कर्मकारों का संगठन, आदि। गिरिडीह के कांग्रेसी कार्यकर्ताओं द्वारा भी इन कार्य-क्रमों के अनुसार कार्य करने का प्रयास किया गया।

कांग्रेस का एक प्रमुख उद्देश्य साम्प्रदायिक सद्भाव बनाये रखना रहा है। बिहार के सन् 1937–39 के कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल द्वारा इस सद्भाव को क्रियारत रखने की चेष्टा के बावजूद मुस्लिम लीग और ब्रिटिश सरकार के गठबन्धन से साम्प्रदायिक तनाव बढ़ता गया। गिरिडीह तहसील ही नहीं, सम्पूर्ण हजारीबाग हिन्दू और मुसलमानों की एकता के लिए प्रसिद्ध था। सिफ्टन ने लिखा है कि इस जिले में मुसलमानों में ज्यादा संख्या जुलाहों की है जो अपने धर्म के प्रति अनभिज्ञ हैं। हिन्दू और मुसलमान संघर्ष के बजाय मुक्त भाव से बन्धुत्व की भावना रखते हुए पारस्परिक त्यौहारों और उत्सवों में शरीक होते हैं।[15] लेकिन हिन्दू और मुसलमानों की धार्मिक सहिष्णुता परिवर्तित राजनीतिक परिवेश को मान्य नहीं रही। मुस्लिम लीग द्वारा बुने धार्मिक राजनीति के ताने-बाने का प्रभाव गिरिडीह पर भी पड़ा। सन् 1939 ई० में पचम्बा में हिन्दुओं के जुलूस पर एक मस्जिद के पास पथराव के परिणामस्वरूप हिन्दू-मुस्लिम दंगों का सूत्रपात हुआ। कांग्रेस कार्यकर्ता, श्री जगन्नाथ सहाय एवं श्री रजनसिंह द्वारा दंगा रोकने एवं शान्ति स्थापित करने की भरपूर कोशिश की गयी।

स्वतन्त्रता के अन्तिम संघर्ष वर्ष सन् 1942 ई० में जब बिहार कांग्रेस कमेटी ने अपने परिपत्र द्वारा अहिंसात्मक आन्दोलन में व्यापारियों, विद्यार्थियों, वकीलों, कर्मकारों, गाड़ीवानों, रिक्शाचालकों, सरकारी कर्मचारियों, जमींदारों, किसानों, प्रभृति सभी लोगों के शामिल होने,

---

[13] श्री जगन्नाथ सहाय, 'एक भेंट वार्ता'।

[14] श्री रंजनसिंह, 'एक भेंट वार्ता'।

[15] जे० डो० सिफ्टन, 'फाइनल रिपोर्ट ऑन द सर्वे सेटलमेंट इन द डिस्ट्रिक्ट ऑफ हजारी बाग', 1917, पृ० 13।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कांग्रेस कार्यकर्ताओं द्वारा गाँवों में महात्मा गाँधी तथा अन्य नेताओं की शिक्षाओं का प्रचार करने और तरह-तरह के त्याग के लिए तैयार रहने का निदेशन दिया, तो गिरिडीह अनुमण्डल भी 'अंग्रेजो—भारत छोड़ो' आन्दोलन से उद्वेलित हुआ । 13 अगस्त, 1942 को पटना जेल से सात राजनीतिक बन्दियों को गिरिडीह रेलवे स्टेशन से हजारीबाग जेल में बस द्वारा भेजने के समाचार के प्रसार पर तीन-चार हजार लोगों द्वारा प्रदर्शन करने तथा बस को क्षत-विक्षत करने पर स्थानीय तहसील अधिकारी ने छोटा नागपुर के आयुक्त को फोन पर सशस्त्र सैनिक भेजने का अनुरोध किया । हजारीबाग उपायुक्त ने लिखा कि गिरिडीह की यह परम्परा है कि वहाँ उत्तेजना का वातावरण होने पर लोग ध्वंसात्मक कार्यवाहियों पर उतर आते हैं। अतः करीब 16–18 हजार कोयला और अभ्रक श्रमिकों पर अगर उपद्रवियों का प्रभाव पड़ा, तो भयावह स्थिति उत्पन्न हो सकती है ।[16] कोडरमा, डोमचांच, छुमरी, धनवार, सतगाँवाँ आदि जगहों में भी क्रान्ति की लहर फैली । रेलवे स्टेशन, डाकघर तथा शराब की दुकानों पर हमले किए गए, और जुलूस निकाले गए । गिरफ्तार किए गए व्यक्तियों में प्रमुख निम्नलिखित थे : सर्वश्री जगन्नाथ सहाय, रजनसिंह, अजीत कुमार नाग (गिरिडीह), अनन्त लाल, कारू राम, मोती राम (डुमरो), पुनीत राय, नरसिंह, मारवाड़ी (धनवार), ब्रजनन्दन प्रसाद, बुलन प्रसाद, नारायण प्रसाद (सतगाँवाँ) ।[17]

इस क्षेत्र की प्राक् स्वातन्त्र्य कांग्रेस पार्टी की इति-वृत्तात्मकता के सर्वेक्षण से विदित होता है कि देश की स्वायत्तता, उसकी आन्तरिक प्रभुता एवं पूर्ण स्वाधीनता की परिकल्पना से अनुप्राणित हो स्थानीय नेताओं ने क्रान्तिकारिता को अपनाया । शैक्षिक, सामाजिक एवं आर्थिक कारण भी उन्हें उस तरफ से लाने में सहायक हुए । कूटनीतिज्ञ अंग्रेज शासकों ने ब्रिटिश शासन से प्रभावित सामाजिक स्थिति पर नियन्त्रण पाने के लिए शिक्षा-पद्धति का नियोजन तथा निदेशन किया, मगर उसी में शिक्षित स्थानीय व्यक्तियों में, सर्वश्री मनोरंजन ठाकुर गुहा, चितरन्जन ठाकुर गुहा, और बजरंग सहाय ने ब्रिटिश सरकार को चुनौती देना शुरू किया । आर्थिक दृष्टि से मध्यवर्गीय मनोरंजन गुहा और चितरंजन गुहा को कालेज की शिक्षा प्राप्त करने और बंगाल के कांग्रेसी नेताओं से प्रभावित हो देश-भक्ति का मार्ग ग्रहण करने में पहल लेने में हिचकिचाहट नहीं हुई, यद्यपि बाद में इन्हें आर्थिक यन्त्रणा का सामना करना पड़ा । बंगला भाषा-भाषी क्षेत्र न होने के कारण इनका प्रभाव सुदूर गाँवों के बजाय शहर तक ही परिलक्षित होता है ।

शिक्षित कायस्थ जाति में जन्मे, सर्वश्री बजरंग सहाय और उनके बड़े भाई जगन्नाथ सहाय, आर्थिक दृष्टि से भरपूर न होने पर भी स्वभावतः सुधारवादी होने के कारण कांग्रेस के आदर्शों से उत्प्रेरित हो इस पार्टी में शामिल हुए । वर्गाधारित एवं जाति धारित नगरेतर समाज में आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से वर्चस्व रखने वाली भूमिहार जाति के अर्द्ध-शिक्षित तथा गरीब श्री रजनसिंह और श्री पुनीत राय राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रचार एवं प्रसार करने के लिए आगे बढ़े । कुछ वैश्य लोगों तथा पिछड़ी जातियों के चन्द लोगों, जैसे सर्वश्री अनन्त लाल भगत, कारू राम डुमरी, नारायण मोदी, झगरु कसेरा, छठू ठठेरा (धनवार), रूपनारायण मोदी

---

[16] डा० के० के० दत्त, 'फ्रीडम मूवमेंट इन विहार', खण्ड 3, पृ० 77 ।

[17] वही, पृ० 77–80।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

(खरगडीह) आदि ने स्वाधीनता संग्राम में हाथ बंटाया, मगर इन जातियों में नेतृत्व नहीं पनप सका। ये कार्यकर्ता अग्रणी जातियों के सर्वश्री बजरंग सहाय (कायस्थ, गिरिडीह), रामनारायण सिंह (राजपूत, चतरा क्षेत्र), कृष्ण बल्लभ सहाय (कायस्थ, हजारीबाग), पुनीत राय (भूमिहार, धनवार), ब्रजनन्दन प्रसाद (कायस्थ, सतगाँवाँ), सदानन्द प्रसाद (कायस्थ) और जगन्नाथ जैसे नेताओं के पथ-प्रदर्शन में कार्य करते रहे।

हरिजनों और आदिवासियों के साथ भी वही स्थिति रही, यद्यपि इन्हें युग-धारा में प्रवाहित करने का प्रयास किया गया और समय-समय पर ये उद्वेलित भी हुए, मगर आदिवासी आन्दोलन के सूत्रधार श्री जयपाल सिंह की वजह से आदिवासियों में कांग्रेस की जड़ें दूर तक स्थायी रूप से न जा सकीं।

मुसलमानों में भी सर्वश्री अब्दुल रजाक अन्सारी, अलीजान, दरागाही मिर्जा, सफायत अली आदि पिछड़े तबके के लोगों ने कांग्रेस को क्रियात्मक सहयोग प्रदान किया, परन्तु मुसलमान सम्प्रदाय की अग्रणी जाति के मु० कुरेशी वकील प्रभृति मध्यवर्गीय लोगों के नेतृत्व में स्थानीय मुस्लिम लीग ने भी कांग्रेस को कुछ धक्का पहुँचाया।

महिलाओं ने भी, जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, इस राजनीतिक आन्दोलन में भाग लिया, मगर सम्पूर्ण महिला समाज के जीवन पर विशेष असर पड़ता नजर नहीं आया।

गाँधी, नेहरू, राजेन्द्र बाबू आदि राष्ट्रीय नेता और मजहरूलहक, सैयद महमूद, श्री कृष्ण सिंह, अनुग्रह नारायण सिंह, कृष्ण बल्लभ सहाय आदि प्रान्तीय स्तर के नेता इस क्षेत्र का दौरा कर कांग्रेस कार्यकर्ताओं में उच्च स्तर की मानसिक तथा नैतिक स्थिति बनाए रखने में सहायक हुए।

ऐसा लगता है कि इस क्षेत्र की पिछड़ी पद-दलित जातियों की समस्याओं से जूझने, उन्हें संवारने, रैयतों के आर्थिक सुधार के लिए सामान्य न्याय दिलवाने और इस प्रकार कांग्रेस की लोकप्रियता गहरे स्तर तक ले जाने में स्थानीय कार्यकर्ता सफल न हो सके। जमींदारों एवं महाजनों से कांग्रेस को चन्दा रूप में आर्थिक सहायता प्राप्त होना इसका एक कारण परिलक्षित होता है। यह ठीक है कि उस समय कांग्रेस में गुटबन्दी न थी, तब अनीति और छद्म की बजाय नीति एवं निष्ठा की बातें थीं। स्वार्थ के बदले परमार्थ और देश-सेवा तथा त्याग जीवन-मूल्य समझे जाते थे। मगर यह भी ठीक है, कि जमींदारों और महाजनों के शोषण से मोचन के लिए पहल-रहित और स्पंदनहीन रैयतों के दुख-दर्द की मुखर प्रतिक्रिया स्थानीय कांग्रेस में न हुई और न उसने प्रान्तीय तथा राष्ट्रीय नेताओं का ही ध्यान इधर आकर्षित कर इसके समाधान हेतु कोई कार्यक्रम अपनाने में सफलता प्राप्त की। यह भी कहा जा सकता है कि गिरिडीह उपमण्डल के कांग्रेसी कार्यकर्ताओं ने महात्मा गाँधी तथा अन्य राष्ट्रीय नेताओं के निदेशनों का सिर्फ पालन किया, अन्यथा उनके निहितार्थ को मद्देनजर रखते हुए वे अवश्य ही उनको गत्यात्मकता प्रदान करते।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

राज्यों में उच्च सदन

सीता श्रीवास्तव

द्विसदनीय व्यवस्था का ब्रिटिश भारत के प्रान्तों में प्रारम्भ भारत शासन अधिनियम 1935 के द्वारा हुआ। इस अधिनियम के अन्तर्गत बम्बई, मद्रास, बंगाल एवं संयुक्त प्रान्त में दो सदनों से युक्त विधानमण्डलों की व्यवस्था हुई। जिन निर्वाचन क्षेत्रों के आधार पर इस विधान-परिषद् का निर्माण हुआ वह अत्यन्त सीमित एवं संकुचित थे, तथा समाज के उच्चवर्गीय, सामन्तवादी हितों के गढ़ थे। परिणामस्वरूप प्रान्तों के उच्च सदनों में बड़े-बड़े जमींदारों, तालुकदारों, राजाओं एवं करोड़पतियों को ही प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ और ये 'प्रतिक्रिया एवं रूढ़िवादिता' के केन्द्र बन गये।[1] यह एक स्थायी संस्था थी, जिसके एक-तिहाई सदस्य प्रति तीन वर्ष के बाद अवकाश ग्रहण करते थे। अतएव इसकी अवधि अनावश्यक रूप से लम्बी रखी गयी थी, जिससे इसकी जन-सम्पर्क की क्षमता पर स्पष्टतः अनुचित प्रभाव पड़ता था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कुछ प्रान्तों में उच्च सदन की व्यवस्था के सम्बन्ध में संयुक्त संसदीय समिति में तथा ब्रिटिश पार्लियामेंट में काफी चर्चा हुई। इस विषय पर भारत में भी और इंग्लैण्ड में भी स्पष्ट मतभेद थे। ब्रिटिश सरकार द्वारा कुछ विशिष्ट प्रान्तों में इस व्यवस्था को प्रारम्भ करने के लिए प्रस्तुत किए गए कारण दो थे—एक तो इन प्रान्तों में पाए जाने वाले कुछ विशेष हित, जिनके लिए यह प्रणाली उपयुक्त थी। दूसरा यह कारण था कि इन प्रान्तों ने किसी-न-किसी समय इस व्यवस्था के प्रति अपनी अभिरुचि एवं स्वीकृति प्रकट की थी।[2] हाउस ऑफ लॉर्ड्स में इस विषय पर होने वाले वाद-विवाद में विधान-परिषद् को राजनीतिक दृष्टि से अनावश्यक ठहराया गया। यह कहा गया कि भारत जैसे रूढ़िवादी एवं प्रतिगामी देश में उच्च सदन की पृथक् व्यवस्था का कोई समुचित आधार न था। इन आक्षेपों के उत्तर में सरकार ने यह स्पष्ट किया कि प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की स्थापना को दृष्टि में रखते हुए यह अनिवार्य था कि अविवेकपूर्ण विधेयकों में समुचित संशोधन एवं पुनर्विचार के हेतु उच्च सदन की स्थापना की जाए। कुछ अन्य प्रान्तों में यह प्रयोग सम्भव नहीं था क्योंकि वहाँ ऐसे उपकरण सुलभ नहीं थे जिनसे इसका निर्माण होता। समाज के विविध हितों एवं विशिष्ट वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व प्रदान करने की दृष्टि से भी कुछ प्रान्तों में उच्च सदन की सार्थकता की पुष्टि की गयी।[3] सन् 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तों की विधान-परिषद्

---

[1] पलांदे, 'भारतीय संविधान', पृ० 127।

[2] जे० एन० वर्मा और एम० एम० घड़ेखान, 'द कांस्टीट्यूशनल लॉ ऑफ इण्डिया एण्ड इंग्लैण्ड टुगेदर विद द गवर्नमेंट आफ इण्डिया एक्ट, 1935', पृ० 463–641।

[3] 'पार्लियामेंटरी डिबेट्स', 3 जुलाई, 1935।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

न तो सर्वथा शक्तिहीन थी और न अत्यन्त शक्तिशाली। आर्थिक मामलों में इसके अधिकार स्पष्टतः सीमित थे। प्रान्तीय बजट का वह भाग, जिसके सम्बन्ध में प्रान्तीय विधानमण्डल को वोट देने का अधिकार था, विधान-परिषद् के समक्ष नहीं प्रस्तुत किया जाता था। राज्यों के वर्तमान उच्च सदन की अपेक्षा इसकी शक्तियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ती हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सन् 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत दोनों सदनों के मतभेदों को सुलझाने के लिए सम्मिलित अधिवेशन की व्यवस्था थी। अधिनियम में व्यवस्था की गयी थी कि ऐसे अधिवेशन की आवश्यकता का निर्णय राज्यपाल (गवर्नर) करेगा और वही उसका आयोजन करेगा। सम्मिलित अधिवेशन में निर्णय बहुमत के द्वारा होगा और उच्च सदन की सदस्य-संख्या निम्न सदन की सदस्य-संख्या की लगभग एक-तिहाई के बराबर ही होगी, इस कारण उसकी ही विजय की सम्भावना थी। इसी आधार पर इसे पुनर्विचार एवं विधेयकों के पारित होने में समुचित विलम्ब उत्पन्न करने वाले सदन का रूप प्रदान किया गया।[4] इसके विपरीत, वर्तमान संविधान में राज्य के दोनों सदनों के विरोधों का निराकरण करने के लिए वही पद्धति अपनायी गयी है जो ब्रिटिश संसदीय अधिनियम सन् 1911 में निहित है।[5] सन् 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत यदि विधानसभा में पारित होने के पश्चात् किसी विधेयक को विधान-परिषद् में गए हुए बारह मास हो जाते थे और वहाँ उनके सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं होता था, तो राज्यपाल (गवर्नर) को संयुक्त अधिवेशन आहूत करने का अधिकार था। यदि अधिनियम अर्थव्यवस्था से अथवा राज्यपाल (गवर्नर) के विशेष उत्तरदायित्व के क्षेत्र से सम्बन्धित हो, तो यह अधिवेशन बारह मास की अवधि के पहले ही बुलाया जा सकता था।[6]

राज्यों का उच्च सदन तथा संविधान सभा—संविधान सभा में उक्त विषय पर विचार-विमर्श के समय यथेष्ट मात्रा में मतभेद प्रकट हुआ। अनेक सदस्यों ने राज्यों में उच्च सदन को सर्वथा अनावश्यक माना। प्रोफेसर के० टी० शाह, एच० वी० कॉमथ, आर० के० सिधवा आदि के मतानुसार राज्यों के लिए उच्च सदन उपयोगी एवं आवश्यक नहीं था।[7] टी० टी० कृष्णमचारी ने भी प्रान्तों में द्विसदनीय व्यवस्था का विरोध किया।[8] श्री ब्रजेश्वर प्रसाद ने यह अभिमत प्रकट किया कि पहले हमें इस सम्बन्ध में एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच जाना चाहिए कि हम उच्च सदन चाहते हैं अथवा नहीं। यदि हमें उच्च सदन रखना है तो उसे कुछ अधिकार तो देने ही पड़ेंगे। उसे विधेयकों को विलम्बित करने का अधिकार तो होना ही चाहिए। यह अवधि पहले की धारा के अनुसार छः मास थी। अब हम उसे घटाकर एक, दो या तीन मास कर रहे हैं। वे इस पक्ष में थे कि विधेयकों में राज्यों के उच्च सदन को कम से कम एक वर्ष के लिए अवरोध उपस्थित करने का अधिकार होना चाहिए, जिससे उस बीच में गम्भीरतापूर्वक उस पर विचार-विमर्श हो सके।[9] श्री हृदयनाथ कुंजरू के अनुसार भी यह समय केवल तीन मास ही नहीं,

---

[4] वही, 22 मार्च, 1935।

[5] डा० अम्बेदकर, 'संविधान सभा वाद-विवाद', खण्ड VII, अंक 34, (अंग्रेजी में)।

[6] 'भारत शासन अधिनियम, 1935' की धारा 74 (2) 909।

[7] हरिविष्णु कॉमथ ने द्वितीय सदन की रचना की 'प्रतिगामी प्रस्ताव' कहकर भर्त्सना की।

[8] 'संविधान सभा वाद-विवाद', 6 जनवरी, सन् 1949, पृ० 1314 (अंग्रेजी में)।

[9] वही, पहली अगस्त, 1949 पृ० 46 (अंग्रेजी में)।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

वरन् उससे अधिक होना चाहिए ।[10]

डा० अम्बेदकर स्वयं भी राज्यों में उच्च सदन को सर्वथा उपयोगी एवं अनिवार्य नहीं मानते थे ।[11] अतएव उन्होंने राज्यों में उच्च सदन की व्यवस्था केवल एक प्रयोगात्मक आधार पर की और उसे संविधान का एक स्थायी अंग नहीं बनाया । सम्भवतः इसी दृष्टिकोण के आधार पर संविधान सभा ने विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधियों को यह निश्चित करने का अधिकार दिया कि उनका विधान मण्डल एक-सदनात्मक होगा अथवा द्विसदनात्मक । संविधान के 169वें अनुच्छेद के अनुसार किसी राज्य की विधान सभा अपने उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से उच्च सदन की समाप्ति अथवा निर्माण के लिए प्रस्ताव पास करके इस आशय की माँग केन्द्रीय संसद से कर सकती है । संसद कानून निर्माण की साधारण प्रक्रिया द्वारा इस निर्णय को विधि का स्वरूप प्रदान कर सकती है । ऐसे विधेयक को अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत सांविधानिक संशोधन-सम्बन्धी विधेयक नहीं समझा जायेगा । और संसद का इस सम्बन्ध में निर्णय साधारण बहुमत के द्वारा होगा । इस प्रकार किसी भी राज्य में उच्च सदन की स्थिति का बना रहना अथवा विनष्ट हो जाना वहाँ की विधान सभा की इच्छा पर निर्भर होगा और यह तथ्य विधान परिषद् की प्रतिष्ठा और स्वतन्त्रता के लिए बहुत ही घातक है । सैद्धान्तिक दृष्टि से एकमात्र प्रयोगात्मक आधार पर संविधान में विधान परिषद् का समावेश ही गलत है । यह निर्णय एक साथ ही दो दिशाओं में अग्रसर होने के निर्णय के समान है जिससे उसकी प्रभावकारी शक्ति ही नष्ट हो जाती है । इस विषय में संविधान सभा को सभी पहलुओं की विवेचना के पश्चात् एक निश्चयात्मक निर्णय द्वारा या तो राज्यों के लिए द्विसदनीय व्यवस्था का निषेध कर देना चाहिए था अथवा विधान परिषद् को संविधान का अनिवार्य अंग बना कर उसको इस प्रकार संगठित करना चाहिए था जिससे कि वह उपयोगी तथा विधेयकों को विलम्बित एवं सही दिशा में संशोधित करने के सम्बन्ध में एक प्रभावकारी भूमिका का निर्वाह कर सकती ।[12]

यह संदिग्ध तथा अनिश्चित स्थिति केवल विधान परिषद् के निर्माण अथवा समाप्ति के सम्बन्ध में ही नहीं है वरन् उसके संगठन तथा अधिकारों के सम्बन्ध में भी है । विधान परिषद् के संगठन के रूप तथा विविध क्षेत्रों में उसके अधिकारों की सीमाएँ तो संविधान के द्वारा निर्धारित की गई हैं, किन्तु किसी राज्य विशेष में विधान परिषद् का होना अथवा न होना वहाँ की विधान सभा की इच्छा के अन्तर्गत रखा गया है जिसे केन्द्रीय संसद कानून का रूप देकर अपनी औपचारिक स्वीकृति देगी । अतएव यह विषय न तो पूर्णतः संविधान के अन्तर्गत रखा गया है और न विशुद्ध रूप से राज्यों की इच्छा के अन्तर्गत, जो कि इस कारण सम्भव नहीं था कि हमारे यहाँ राज्यों का संविधान राष्ट्र के संविधान में ही सन्निहित है और उसका कोई पृथक्

---

[10] प्रारूप संविधान के मूल अनुच्छेद में यह अवधि छः मास थी ।

[11] 'अपने तौर पर मैं यह नहीं कह सकता हूँ कि मैं द्वितीय सदन के बहुत पक्ष में हूँ । मुझे तो यह आंशिक रूप से ही अच्छा लगता है।' 'संविधान सभा वाद-विवाद', 6 जनवरी, 1949, पृ० 1314 ।

[12] इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि संयुक्त राज्य अमरीका में सभी राज्यों की विधायिका द्विसदनीय है । सोवियत रूस तथा दक्षिण अफ्रीका में सभी संघांतरित राज्यों में एक-सदनीय व्यवस्था है । कनाडा के डोमीनियन में आठ प्रान्तों में से केवल दो में उच्च सदन है । स्विट्जरलैण्ड में कुल अट्ठारह कैन्टनों में दो को छोड़कर अन्य सोलह एक सदनीय कैन्टन है ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अस्तित्व नहीं है। कोई भी सामान्य व्यवस्था अपनाने के मार्ग में एक व्यावहारिक कठिनाई यह भी थी कि सन् 1950 में संघांतरित राज्यों में क्षेत्रफल, जनसंख्या तथा राजनीतिक विकास के सम्बन्ध में घोर असमानताएँ विद्यमान थीं। परन्तु यह निर्विवाद है कि विधान परिषद् के निर्माण अथवा समाप्ति के सम्बन्ध में विधान सभा को निर्णय का अधिकार देकर उसके उपयोग तथा महत्त्व की रक्षा असम्भव है।

यह भी विचारणीय है कि जिस आधार पर विधान परिषद् का संगठन हुआ है वह राज्य सभा की अपेक्षा अधिक वैविध्यपूर्ण है। उसमें प्रत्यक्ष निर्वाचन, अप्रत्यक्ष निर्वाचन तथा मनोनयन के सिद्धान्तों का सम्मिश्रण है। शिक्षक वर्ग तथा स्नातकों के विशेष प्रतिनिधित्व द्वारा इसके बौद्धिक स्तर को उठाने का यत्न किया गया है। व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का भी इसमें समावेश हुआ है, परन्तु इस दृष्टि से इसकी आलोचना भी हुई है कि अन्य धन्धों और व्यवसायों को इसमें प्रतिनिधित्व न देकर केवल शिक्षकों को ही दिया गया है, जिससे एक प्रकार के असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न होती है। इस आलोचना के बावजूद यह स्वीकार किया जा सकता है कि राज्य सभा की अपेक्षा विधान परिषद् के संगठन का आधार अधिक विवेक-सम्मत एवं वैविध्य-पूर्ण है, और इस सिद्धान्त की रक्षा करता है कि यदि उच्च सदन हो तो वह उन्हीं वर्गों तथा हितों का प्रतिनिधित्व न करे, जिनका प्रतिनिधित्व निम्न सदन में हुआ है। उदाहरण के तौर पर यह देखा जाता है कि उत्तर प्रदेश की विधान परिषद् में सबसे अधिक संख्या में शिक्षा मन्त्री से प्रश्न पूछे जाते हैं।

यू० पी० सरकार के द्वारा निर्वाचन आयोग के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा गया कि वहाँ की विधान परिषद् में शिक्षकों के निर्वाचन क्षेत्र समाप्त कर दिये जाएँ।

चतुर्थ सामान्य निर्वाचन के पश्चात् कई राज्यों में उच्च सदन को समाप्त करने की दिशा में कदम उठाये गये। इसके पहले बम्बई की विधान सभा ने 4 दिसम्बर,सन् 1953 को 31 के विरुद्ध 182 मतों के बहुमत से विधान परिषद् की समाप्ति का प्रस्ताव पास किया। इसके विपरीत आंध्र प्रदेश में विधान परिषद् अधिनियम, सन् 1957 के द्वारा उच्च सदन का निर्माण हुआ। सन् 1967 के पश्चात् निश्चित रूप से कई राज्यों में उच्च सदन को समाप्त करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। 24 अप्रैल, सन् 1967 को पंजाब विधान सभा ने अनुच्छेद 169 के अन्तर्गत एक सरकारी प्रस्ताव पास करके केन्द्रीय संसद से विधान परिषद् को समाप्त करने की सिफारिश की। बिहार में संविद ने 18 अगस्त, सन् 1967 को विधान-परिषद् को समाप्त करने का निर्णय किया। किन्तु सरकार की अस्थिरता के कारण वहाँ इस आशय का प्रस्ताव पास नहीं हो सका। पश्चिमी बंगाल की विधान सभा में 21 मार्च, सन् 1969 को सभी 222 उपस्थित सदस्यों द्वारा बहुमत से विधान परिषद् को समाप्त करने का प्रस्ताव पास हुआ जिसका समर्थन कांग्रेस ने भी किया। बिहार विधान सभा में उच्च सदन को समाप्त करने का प्रस्ताव 3 अप्रैल, 1970 को पास हुआ यद्यपि बाद में उन्हीं सदस्यों ने इस निर्णय को मई, सन् 1974 तक स्थगित करने का निर्णय लिया। उत्तर प्रदेश की विधान सभा में भी उक्त आशय का प्रस्ताव 29 अप्रैल, सन् 1970 को पास हुआ किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि बिहार और उत्तर प्रदेश में विधान परिषद् की समाप्ति का निर्णय गम्भीरतापूर्ण प्रश्न के सभी पहलुओं पर विचार करके नहीं किया गया। इसी कारण इसके सम्बन्ध में पुनर्विचार की माँग

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

की जा रही है। इससे एक सांविधानिक समस्या भी उत्पन्न हो गई है। साधारणतः सम्बन्धित राज्य की विधान सभा में विधान परिषद् को समाप्त करने का प्रस्ताव पारित हो जाने पर केन्द्रीय संसद में इस आशय का विधेयक उपस्थित होने तथा पारित होने में कोई कठिनाई नहीं होती। किन्तु जैसा कि विधि मन्त्री, श्री हनुमन्तैय्या ने स्पष्ट किया, इस विषय में राज्य सरकार केन्द्र सरकार को सूचना देती है। उत्तर प्रदेश के सम्बन्ध में ऐसी सूचना केन्द्र को राज्य सरकार के द्वारा अभी तक प्राप्त नहीं हुई है।

चतुर्थ सामान्य निर्वाचन के बाद से विधान परिषद् की समाप्ति की दिशा में कुछ राज्यों में जो कदम उठाये गये, उनके लिए मुख्यतः गैर-कांग्रेसी अथवा विरोधी दल उत्तरदायी थे। उनके इस निर्णय में प्रतिक्रिया का भी कुछ अंश परिलक्षित होता है। नये निर्वाचन के बाद राज्य के निम्न सदन में राजनीतिक दलों के प्रतिनिधित्व में उलट-फेर होने से नया दल सत्तारूढ़ हो सकता है, किन्तु उच्च सदन में दलों का प्रतिनिधित्व पहले जैसा ही शेष रहता है। उसमें परिवर्तन होता अवश्य है, किन्तु कुछ विलम्ब से। पश्चिमी बंगाल तथा पंजाब में उच्च सदन के विरुद्ध आक्रोश का यह प्रमुख कारण था कि उनमें कांग्रेस का बहुमत पहले जैसा ही शेष था। अतएव यह निर्णय बहुत अंशों में केवल दलीय हितों एवं तत्कालीन परिस्थितियों द्वारा प्रभावित हुआ। यही कारण है कि कुछ राज्यों, जैसे उत्तर प्रदेश और बिहार में, इस निर्णय को अन्तिम स्वरूप देने के सम्बन्ध में शंकाएँ उठाई जा रही हैं।

प्रश्न यह उठता है कि क्या कुछ राज्यों में उच्च सदन वस्तुतः अनिवार्य है ? इन राज्यों में इसकी सार्थकता का क्या आधार है और यदि सन् 1967 के बाद कुछ राज्यों में विधान परिषद् की स्थिति विवादास्पद बन गई है तो इसका कारण सांविधानिक निदेशों में निहित कोई त्रुटि अथवा न्यूनता है अथवा नहीं ? यह स्पष्ट है कि कुछ राज्य इतने बड़े हैं और उनकी जन-संख्या इतने विविध वर्गों तथा समूहों से निर्मित है कि उनमें विधान परिषद् अवश्य ही राज्य का पूर्ण प्रतिनिधित्व कर पाने में विधान सभा की सहायक बनती है। इसके अतिरिक्त विधेयकों पर पुनर्विचार करके, उनमें आवश्यक संशोधनों का सुझाव देकर तथा निम्न सदन के कार्य भार को हल्का करके इन राज्यों में उच्च सदन महत्त्वपूर्ण भूमिका अवश्य अदा कर सकता है। किन्तु यह तभी सम्भव है जब उसका निर्माण केवल प्रयोगात्मक आधार पर ही न हो, जब उसकी स्थिति और उसकी समाप्ति राज्य की विधान सभा की इच्छा मात्र पर ही निर्भर न हो। ऐसी स्थिति में तो विधान परिषद् विधान सभा के ऊपर इस तरह निर्भर हो जाती है कि उसके अस्तित्व की स्वतन्त्रता तथा सार्थकता ही विनष्ट हो जाती है। अतएव यह आवश्यक है कि इन बातों को दृष्टि में रखकर संविधान के विधान परिषद् सम्बन्धी उपबन्धों में आवश्यक संशोधन किया जाए। राज्यों को प्रारम्भिक अवस्था में यह निर्णय करने का अधिकार देना तो ठीक था कि उनकी विधायिका एक-सदनीय होगी अथवा द्विसदनीय, किन्तु राज्य की विधान सभा का किसी भी समय उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से पास प्रस्ताव से, बिना सांविधानिक संशोधन

---

[13] उत्तर प्रदेश में विधान सभा के 426 में से 240 सदस्यों के द्वारा एक संयुक्त प्रार्थना-पत्र अध्यक्ष को दिया गया जिसमें इस प्रश्न पर पुनर्विचार का सुझाव दिया गया और यह कहा गया कि विधान परिषद् को समाप्त करने का निर्णय जल्दीबाजी में लिया गया।

[14] वही, यह समस्या संयुक्त सोशलिस्ट दल के श्री जार्ज फरनैनडिस द्वारा प्रस्तावित उत्तर प्रदेश और बिहार की विधान सभाओं की समाप्ति से सम्बन्धित विधेयकों के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

की प्रक्रिया का अवलम्बन लिये हुए विधान परिषद् को समाप्त करने का अधिकार, इस सदन की उपयोगिता को सर्वथा समाप्त कर देता है। सन् 1967 के बाद की परिस्थिति में प्रत्येक राज्य के निम्न सदन में दलीय स्थिति इतनी शीघ्रता से परिवर्तित हो रही है, दलीय समूहों और नेताओं के द्वारा इतनी बार दल परिवर्तन किए जा रहे हैं कि विधान सभा के बहुमत का कोई स्थिर विवेकात्मक तथा सैद्धान्तिक आधार शेष नहीं रह गया है। दलीय स्थिति की इस अस्थिरता में यह और भी आवश्यक है कि संविधान की धारा 169 को संशोधित किया जाए और राज्यों में उच्च सदन के निर्माण के लिए अथवा जहाँ वह विद्यमान है, उसे निःशेष करने के लिए भी संविधान के संशोधन की पद्धति को ही अनिवार्य माना जाए।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संस्थान के प्रकाशन

प्रधान सम्पादक : डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

		रु० पै०
1. भारतीय राजनीति के नये मोड़ : दल-बदल और राज्यों की राजनीति	ले० डा० सुभाष काश्यप	20·00
2. रुपए का अवमूल्यन और उसका प्रभाव (अक्तूबर, 1966)		8·00
3. चुनाव, उम्मीदवार और मतदाता (जनवरी, 1967)	ले० पी० एन० कृष्णमणि	3·00
4. दि पॉलिटिक्स ऑफ डिफेक्शन	ले० डा० सुभाष काश्यप	42·50
5. गांधी एण्ड सोशल पॉलिसी इन इण्डिया	ले० डा० सविता	20·00
6. होराइजन्स ऑफ फ्रीडम		36·00
7. इकॉनामिक डेवलपमेन्ट इन इण्डिया एण्ड चाइना	ले० डा० एलेक्जेण्डर एवस्टीन	1·00
8. पार्लियामेन्टरी प्रिविलिजिज एण्ड देयर कोडिफिकेशन	ले० पी० गोविन्द मेनन	3·00
9. इलेक्शन, केण्डीडेट्स एण्ड वोटर्स (संशोधित, 1971)	ले० पी० एन० कृष्णमणि	12·50
10. डिवेलुएशन ऑफ दि रुपी—इट्स इम्पलीकेशन्स एण्ड कॉन्सीक्वेन्सेज (अंग्रेजी का दूसरा संशोधित संस्करण, मार्च, 1968)		20·00
11. यूनियन-स्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया		25·00
12. पॉलिटिक्स एज ए प्रोफेशन	ले० बी० के० एन० मेनन	1·00
13. फ्रन्टियर गाँधी	ले० गिरधारी लाल जुत्शी	17·50
14. पार्लियामेन्ट एण्ड कांस्टीट्यूशनल अमेंडमेन्ट		30·00
15. इन्डो-पाक मेरीटाइम कॉनफ्लिक्ट, 1965 : ए लीगल अप्रेजल	ले० डा० सूर्य प्रकाश शर्मा	
16. लोकपाल—ओम्बुड्स्मान इन इण्डिया	ले० डा० एम० पी० जैन	28·00
17. सिटिजनशिप इन इण्डिया : डुअल नेशनेलिटी एण्ड दि कांस्टीट्यूशन	ले० कुमारी एम० के० मास्टर	20·00
18. पार्लियामेन्टरी इन्स्टीट्यूशन्स इन आस्ट्रेलिया	ले० आर० डब्लू० सी० श्वार्ट्ज	1·00
19. दि प्रेस एण्ड दि जुडीशियरी	ले० एम० हिदायतुल्ला	3·00
20. प्राब्लम्स ऑफ पार्लियामेन्टरी रिफॉर्म्स इन ब्रिटेन	ले० जॉन फ्रीमैन	2·50
21. दि मिनिस्टर एण्ड हिज रिस्पान्सीबिलिटीज	ले० मोरारजी देसाई	7·50
22. जुडीशियल मैथड्स	ले० एम० हिदायतुल्ला	7·50
23. बंगला देश	सम्पादक : डा० सुभाष काश्यप	20·00
24. दि डायरेक्टिव प्रिंसीपल्स ऑफ स्टेट पॉलिसी	ले० जस्टिस के० सदानन्द हैगडे	
25. राजनीति कोश	डा० सुभाष काश्यप और विश्व प्रकाश गुप्त	40·00
26. बैंक राष्ट्रीयकरण		
27. संविधान की आत्मा	ले० डा० सुभाष काश्यप	3·00

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संस्थान के बारे में

सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान का उद्घाटन 10 दिसम्बर, 1965 को भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति और संस्थान के प्रधान संरक्षक डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने किया था। जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संस्थान की स्थापना की गई उनमें मुख्य हैं :

भारतीय संविधान के सभी पक्षों के विकास तथा क्रियान्वय को विशेष रूप से ध्यान में रखते हुए सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन को प्रोत्साहन देना तथा उसकी व्यवस्था करना; विभिन्न देशों की सांविधानिक पद्धतियों और संसदीय संस्थाओं का तथा उनकी समस्याओं और प्रक्रमों का तुलनात्मक अध्ययन करना; विचार-गोष्ठियों, व्याख्यानों, परिसंवादों, परिचर्चाओं तथा सम्मेलनों का आयोजन करना; और सांविधानिक विधि की गतिविधियों, परिपाटियों और प्रथाओं, संसदीय प्रक्रिया, न्यायिक व्याख्या की प्रवृत्तियों तथा अन्य सम्बद्ध विषयों के बारे में प्रबन्धों, अनुसंधान-लेखों तथा पुस्तक-पुस्तिकाओं का प्रकाशन करना।

देश की विशिष्ट विभूतियों के अलावा, अमरीका, सोवियत संघ, ब्रिटेन, कोरिया, नेपाल, मलेशिया, श्रीलंका, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, कनाडा और स्वीडन सहित विश्व के विभिन्न भागों से विद्वानों, विधिवेत्ताओं और सांसदिकों ने संस्थान के तत्त्वावधान में आयोजित विभिन्न अवसरों पर व्याख्यान दिये और परिचर्चाओं में भाग लिया। संस्थान ने अनेक सफल विचार-गोष्ठियों और परिसंवादों का आयोजन किया है, वह संसदीय अधिछात्रवृत्ति कार्यक्रम आरम्भ कर चुका है और संसद-सदस्यों तथा राज्य-विधायकों के लाभार्थ अध्ययन विचार-गोष्ठियों का देश के विभिन्न भागों में आयोजन कर रहा है। वर्तमान समस्याओं पर उसकी अनेक पुस्तक-पुस्तिकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

संस्थान के सभी सदस्यों को संस्थान की त्रैमासिक पत्रिका तथा कुछ अन्य प्रकाशन नियमित रूप से भेजे जाते हैं। सभी सदस्य संस्थान के विशिष्ट पुस्तकालय का उपयोग कर सकते हैं तथा संस्थान के अन्य कार्यकलापों, जैसे विचार-गोष्ठियों, व्याख्यानों, परिचर्चाओं तथा सम्मेलनों में आमन्त्रित रहते हैं तथा उनमें भाग ले सकते हैं।

सामान्य सदस्यता के लिए शुल्क 25 रु० वार्षिक है और आजीवन सदस्यता के लिए 250 रु०। विश्वविद्यालयों, विधायी संस्थाओं और अन्य निगमित निकायों को निगमित सदस्यता प्रदान की जा सकती है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन-संस्थान

प्रधान संरक्षक

श्री वराहगिरि वैंकटगिरि
भारत के राष्ट्रपति

संरक्षक

श्री गोपाल स्वरूप पाठक
भारत के उपराष्ट्रपति

प्रधान

डा० गुरुदयाल सिंह ढिल्लों
अध्यक्ष, लोकसभा

उप प्रधान

डा० राम सुभग सिंह
श्री अशोक कुमार सेन
संसद-सदस्य
श्री मोतीलाल चिमनलाल सीतलवाड,
संसद-सदस्य
श्री के० के० शाह
श्री के० हनुमन्तैया
संसद-सदस्य
आचार्य जे० बी० कृपलानी

कार्याध्यक्ष

डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

कोषाध्यक्ष

जयसुखलाल हाथी

कार्य समिति के सदस्य

श्री लाल कृष्ण आडवाणी, संसद-सदस्य
श्री चन्द्रभान अग्रवाल
श्री भवेन्द्रनाथ बैनर्जी
श्री रुस्तम सोहराबजी गाए
श्री महेश्वरनाथ कौल, संसद-सदस्य
श्री एस० डी० कोठावले
श्री देसराज महाजन
श्री रामनिवास मिर्धा, संसद-सदस्य
श्री वी० जी० रामचन्द्रन्
श्री नित्तूर श्रीनिवास राव
श्री आर० सी० एस० सरकार
श्री एस० एल० शकधर
श्री प्रकाशवीर शास्त्री
डा० नगेन्द्र सिंह
ब्रिगेडियर रणसिंह
श्री ब्रजकिशोर प्रसाद सिंह
श्री जी० एस० एल० श्रीवास्तव

निदेशक

डा० सुभाष काश्यप

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA
मीनाक्षी मुद्रणालय मेरठ में मुद्रित।

वर्ष 3 अंक 3 जुलाई-सितम्बर 1971

लोकतंत्र समीक्षा

सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन-संस्थान
नई दिल्ली

लोकतंत्र समीक्षा

वर्ष 3 **अंक** 3

जुलाई-सितम्बर 1971

"लोकतंत्र समीक्षा" सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान का त्रैमासिक मुख-पत्र है। पत्र में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के निजी विचार हैं। वे न तो किसी तरह संस्थान के विचार हैं और न संस्थान उनके लिए उत्तरदायी है। लेखों, पांडुलिपियों तथा समीक्षाओं आदि के सम्बन्ध में सारा पत्र-व्यवहार **सम्पादक के नाम** से किया जाना चाहिए, किसी अन्य के नाम से नहीं।

लेखकों से निवेदन है कि वे प्रकाशनार्थ रचनाओं की दो टंकित प्रतियाँ भेजें। केवल कार्बन प्रतियों पर विचार नहीं किया जायेगा। अन्यत्र भेजे गये लेखों पर भी विचार नहीं किया जायेगा।

"लोकतंत्र समीक्षा" में प्रकाशित सभी रचनाओं पर संस्थान का पूर्ण प्रतिलिप्यधिकार रहता है और संस्थान की लिखित अनुमति के बिना उनका कोई अंश प्रकाशित नहीं किया जा सकता।

विज्ञापनों और पत्रिका की सदस्यता के बारे में पत्र-व्यवहार **रजिस्ट्रार, सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, 18 विट्ठल भाई पटेल हाऊस, नई दिल्ली–1** के नाम से किया जाना चाहिये। "लोकतंत्र समीक्षा" का वार्षिक शुल्क 15 रुपये है। एक प्रति का मूल्य चार रुपये है। संस्थान के सदस्यों को यह निःशुल्क प्रदान किया जाता है।

सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन-संस्थान

18, विट्ठल भाई पटेल हाउस,
रफी मार्ग,
नई दिल्ली–1

संपादन-मण्डल

अध्यक्ष

डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

सदस्य

सेठ गोविन्द दास
श्री डी० के० कुन्ते
श्री गंगाशरण सिंह
श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा
डा० रामधारी सिंह 'दिनकर'
श्री प्रकाशवीर शास्त्री
डा० नगेन्द्र

सम्पादक

डा० सुभाष काश्यप

सहायक सम्पादक

विश्वप्रकाश गुप्त
ओमप्रकाश चावला

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विषय-सूची

लेख		पृष्ठ
1. सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय	—पी० बी० मुकर्जी	1
2. भारतीय संसद : नई दृष्टि	—लक्ष्मीमल्ल सिंघवी	13
3. भारत और लोकतान्त्रिक विकास की चुनौती	—वी० के० आर० वी० राव	17
4. श्री लालबहादुर शास्त्री : व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं लोकतंत्र	—रामचन्द्र गुप्त	28
5. प्राचीन भारत में नागरिकों के अधिकार	—निर्मला उपाध्याय	37
6. संसद तथा विधानमण्डलों और उनके सदस्यों की शक्तियाँ, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ	—परमानन्द गोविन्दजी बाला	46
7. उपराष्ट्रपति का पद और स्थिति	—बाबूलाल फड़िया	75
8. भारत में अनिवार्य मतदान की व्यवस्था	—राम बहादुर वर्मा	81
9. जनसाधारण में राजनीतिक संचेतना : एक सर्वेक्षण	—रूपचंद सिंह रावत	89
10. नरेशों के निजी कोष एवं संविधान	—कुंजबिहारी श्रीवास्तव	103
11. समाजवाद का लोकतंत्रीय रूप	—डी० सी० जैन	111
12. संसद और मूल अधिकार	—रमेशचन्द्र नागपाल	117
13. सांविधानिक तथा संसदीय घटना-क्रम	—जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी	130
14. राजनीतिक पंचांग	—ओमप्रकाश चावला	144

लोकतंत्र समीक्षा

वर्ष 3 अंक 3

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

हमारे लेखक

1. **न्यायाधिपति श्री पी० बी० मुकर्जी** —मुख्य न्यायाधिपति, कलकत्ता उच्च न्यायालय, कलकत्ता ।
2. **डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी** —कार्याध्यक्ष, सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली ।
3. **डा० वी० के० आर० वी० राव** —संसद सदस्य, नई दिल्ली ।
4. **डा० रामचन्द्र गुप्त** —प्राचार्य, आई० के० महाविद्यालय, इन्दौर ।
5. **डा० निर्मला उपाध्याय** —प्रवक्ता, राजनीति विज्ञान विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर ।
6. **श्री परमानन्द गोविन्दजी बाला** —विधायक, मध्य प्रदेश विधानसभा, भोपाल ।
7. **श्री बाबूलाल फड़िया** —प्राध्यापक, राजनीति-विज्ञान विभाग, राजकीय महाविद्यालय, शाहपुर, जिला भीलवाड़ा (राजस्थान) ।
8. **श्री रामबहादुर वर्मा** —प्रवक्ता, राजनीति-विज्ञान विभाग, फिरोज गाँधी कॉलिज, रायबरेली, (उत्तर प्रदेश) ।
9. **श्री रूपचन्द सिंह रावत** —प्राध्यापक, राजनीति-विज्ञान विभाग, गवर्नमेन्ट डिग्री कॉलिज, पिथौरागढ़, (उत्तर प्रदेश) ।
10. **श्री कुंजबिहारी श्रीवास्तव** —रिसर्च फैलो, सेन्टर फॉर स्टडी ऑफ स्टेट गवर्नमेन्ट, गुजरात हाउस, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–5 ।
11. **डा० डी० सी० जैन** —रीडर, विधि विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर ।
12. **श्री रमेश चन्द्र नागपाल** —प्रवक्ता, विधि संकाय, लखनऊ विश्व-विद्यालय, लखनऊ ।
13. **श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी** —वरिष्ठ पत्रकार तथा लेखक, 55, काका-नगर, नई दिल्ली ।
14. **श्री ओमप्रकाश चावला** —सहायक निदेशक, सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली–1 ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय

पी० बी० मुकर्जी

भारत के संविधान और उसकी प्रस्तावना में इस सुविख्यात सूक्ति का प्रयोग किया गया है कि संपूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतांत्रिक गणराज्य अपने समस्त नागरिकों के लिए अन्य बातों के साथ-साथ 'सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय' प्राप्त करेगा। यह भारत के संविधान की नियामक महत्वाकांक्षाओं में से एक है।

न्याय की इस संकल्पना में दो मुख्य प्रश्न निहित हैं—पहला तो यह कि न्याय है क्या ?, दूसरा यह कि क्या 'सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय' शब्दों के अन्तर्गत न्याय का समूचा क्षेत्र आ जाता है ? दूसरे शब्दों में क्या दूसरे प्रश्न के अन्तर्गत हम व्यक्तिगत न्याय अथवा उस न्याय पर विचार कर सकते हैं जो सामाजिक अथवा आर्थिक अथवा राजनीतिक, किसी भी न्याय के अन्तर्गत नहीं आता।

तीन विचारधाराएँ

विधि-दर्शन में न्याय की संकल्पना के बारे में तीन मुख्य प्रतिस्पर्धी विचारधाराएँ हैं। पहली विचारधारा के अनुसार न्याय विधि का ही दूसरा रूप है—उस विधि का जिसका राज्य अपनी प्रत्यायित सरकार, विधानमंडल, कार्यपालिका और न्यायपालिका, के माध्यम से व्याख्या करता है। दूसरी विचारधारा यह है कि न्याय सदा विधि रूप ही नहीं होता, कुछ स्थितियों में वह विधि को अतिक्रांत भी कर देता है। ऐसा उस समय विशेष रूप से होता है जब कि विधि के प्रशासन से प्रकटतः अन्याय होता हो। यह अन्याय या तो प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों के अनुसार हो सकता है या न्याय का प्रशासन करने वाले व्यक्ति की अनियंत्रित मानव अंतरात्मा के अनुसार। प्रथम विचारधारा के आधुनिक प्रवर्त्तक रोस्को पाउन्ड हैं। वे इस बात पर बल देते रहे हैं कि न्याय और इसके प्रशासन को सदैव उस राज्य और समाज की विधि के अनुसार होना आवश्यक है जिसकी उद्घोषणा विधायी, कार्यकारी और न्यायिक अभिकरणों के माध्यम से राज्य की सरकार द्वारा की जाती है। उन्होंने इस विचार की आलोचना की है कि इस विधि के बाहर भी कहीं न्याय का अस्तित्व हो सकता है क्योंकि उनके अनुसार उस स्थिति में इस बात की आशंका बहुत अधिक होगी कि जो व्यक्ति न्याय का प्रशासन कर रहा हो, कहीं न्याय उसके अनियंत्रित आवेगों, पक्षपातों और नैसर्गिक प्रवृत्तियों के अनुसार निर्धारित न हो। साथ ही इस बात की भी प्रबल संभावना हो सकती है कि विधि का स्वरूप अस्थिर हो जाए तथा वह किसी आकस्मिक विचार की परिणति प्रतीत होने लगे। दूसरी

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विचारधारा के प्रतिपादकों का आग्रह है कि न्याय की संकल्पना तकनीकी तौर पर केवल उद्घोषित विधि तक सीमित नहीं होनी चाहिए। न्याय में उस समाज की अघोषित प्रथाओं तथा अंतरात्मा की भी झलक मिलनी चाहिए, जिसमें उसका प्रशासन हो रहा हो। इस विचारधारा के अनुसार न्याय के क्षेत्र में व्यक्ति-अंतरात्मा को भी कुछ महत्व प्राप्त हो जाता है। नैतिकता, धर्म और व्यावहारिक प्रथायें इस विचारधारा के शक्तिशाली सहायक साधन हैं। इन प्रवर्त्तकों का कथन है कि विधि और न्याय में संगति न होने पर कालान्तर में विधि की ही निन्दा होती है। इस स्थिति में विधि तथा न्याय के बीच जितना अंतराल होता है, उसी के अनुपात में विधि तथा न्याय के बीच पायी जाने वाली असंगतियों को दूर करने के लिए सुधार-आंदोलन तथा क्रांतियाँ बल पकड़ने लगती हैं। तीसरी विचारधारा के अनुसार न्याय एक प्रकार का वर्ग न्याय होता है, विशेषकर पूँजीवादी समाज में। न्यायाधीशों का जिस समाज में प्रशिक्षण और पालन-पोषण होता है, उसमें उनके कुछ पूर्वाग्रह बन ही जाते हैं और समझा जाता है कि उनकी सामाजिक पूर्वपीठिका, पृष्ठभूमि तथा प्रशिक्षण से इन पूर्वाग्रहों को बल प्राप्त होता है। इसका परिणाम है—न्याय की असफलता। मानव अभिकर्ताओं द्वारा किये गये न्याय में कुछ न कुछ आंतरिक त्रुटियाँ रह ही जाती हैं और इसका कारण यह है कि मानव मन, मानव बुद्धि और मानव ज्ञान में ही कुछ आंतरिक त्रुटियाँ हैं लेकिन जब तक मानव अभिकर्त्ताओं को न्याय का प्रशासन करना है, तब तक प्रत्येक न्याय-व्यवस्था में ही इस प्रकार की त्रुटियाँ पाई जायेंगी। इस सिद्धान्त का निहितार्थ है एक प्रकार का सामूहिक न्याय, जिसके बारे में कहा जाता है कि राज्य या सरकार उसका निर्वैयक्तिक रूप से शासन करती है। लेकिन राज्य या सरकार पर भी पूर्वाग्रह या पक्षपात के वही आरोप लगाये जा सकते हैं जो व्यक्तियों के ऊपर लगाये जाते हैं।

न्याय के मानक

जासेफ पाइपर ने न्याय के तीन मूल मानकों का निर्धारण किया है : (1) पारस्परिक अथवा आपस में विनिमेय न्याय जिसके कारण व्यक्तियों के सम्बन्धों में व्यवस्था आती है। इसे वे 'सामूहिक न्याय' अथवा 'विनिमेय न्याय' कहते हैं। (2) व्यवस्थाकारी न्याय जो समुदाय तथा समुदाय के अंग व्यक्तियों के सम्बन्धों में तालमेल बैठाये। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत विधि और व्यवस्था के बीच अभिन्न सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है; और (3) विधिक अथवा सामान्य न्याय, जो समाज के सदस्यों और पूर्ण समाज के सम्बन्धों में व्यवस्था की स्थापना करता है। अनुपाती न्याय (डिस्ट्रीब्यूटिव जस्टिस) के सम्बन्ध में अरस्तू की मान्य परिभाषा है .... 'अन्याय अपना सर उस समय उठाता है जब समानों के साथ असमानता के आधार पर और असमानों के साथ समानता के आधार पर व्यवहार किया जाय।' अरस्तू के इस सिद्धान्त में समता और न्याय को समानार्थक समझा गया है। परन्तु समता है क्या ? इस प्रश्न का अभी भी समाधान होना शेष है। समता की संकल्पना के विषय में अनेक वादविवाद और शास्त्रार्थ हुए हैं। एक विधि-व्यवस्था में न्याय को विभिन्न स्थितियों में विभिन्न भूमिकाएँ निभानी पड़ सकती हैं। उसे मुक्त व्यापार पर आधारित अर्थ-व्यवस्था के प्रयोजन सिद्ध करने पड़ सकते हैं, उसे समस्त उत्पादनशील उद्यमों के सार्वजनिक अथवा राष्ट्रीय स्वामित्व का हित साधन करना पड़ सकता है अथवा उससे संसदीय बहुदलीय लोकतंत्र अथवा एक दलीय

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

राजनीतिक व्यवस्था के उद्देश्यों की पूर्ति की अपेक्षा की जा सकती है। न्याय का यह सिद्धान्त एक अर्थ में न्याय का राजनीतिक दृष्टिकोण है यद्यपि इसे सामाजिक न्याय के मानक के अधीन स्वीकार किया जाता है और बहुधा इससे कतिपय राजनीतिक अथवा आर्थिक दर्शनों के हित साधन की अपेक्षा की जाती है। समता की संकल्पना पर राजनीतिक समता, सामाजिक समता, आर्थिक समता, अवसरों की समता के रूप में विभिन्न खण्डों में विचार किया जाता है। इस कारण न्याय के समानार्थक के रूप में समता की समस्या उपेक्षित हो जाती है। अमरीकी शिक्षा संस्थाओं में हाल ही में पृथक्ता के जो मामले उठे हैं, उनमें अमरीकी उच्चतम न्यायालय इस सिद्धान्त का विकास करने का प्रयास कर रहा है कि पृथक्ता और समता का साथ-साथ निर्वाह नहीं हो सकता। समता तीव्र गति से जीवन के प्रति एक समग्र दृष्टिकोण का रूप ग्रहण करती जा रही है। कैल्सन ने व्यापक रूप से दो शीर्षों के अधीन न्याय के विभिन्न सिद्धान्तों का विश्लेषण किया है : (1) न्याय का बुद्धिवादी सिद्धान्त जिसके मुख्य प्रतिपादकों में अरस्तू का नाम आता है; और (2) न्याय का आध्यात्मिक सिद्धान्त जिसके समर्थकों में प्लेटो अग्रणी हैं। अरस्तू और प्लेटो द्वारा प्रतिपादित न्याय का सारतत्व यह है कि न्याय बुद्धिपरक भी होता है और आध्यात्मकपरक भी। उसमें बुद्धि का भी तत्व होता है और शुद्ध अंतरात्मा का भी।

न्याय क्या है ? इस प्रश्न का विवेचन करने के लिए प्राकृतिक न्याय और दैवी न्याय का विवेचन करना आवश्यक है। प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्त आधुनिक न्यायशास्त्र में अब भी शक्तिशाली तत्वों के रूप में विद्यमान हैं और उनके आधार पर न्याय-संगति तथा युक्ति-संगति के आदर्शों को प्राप्त किया जा सकता है। प्राकृतिक न्याय के मुख्य तत्व, जिनका आज भी प्रचलन और अभिव्यक्तिकरण होता है, हैं : (1) सूचना, (2) सुने जाने के पर्याप्त अवसर, (3) दोनों पक्षों के साक्ष्य पर संतुलित रीति से विचार करने के उपरांत ही उसे स्वीकार करना या उसकी आलोचना करना, (4) तर्क-संगत निर्णय, और (5) कोई व्यक्ति अपने मामले में स्वयं निर्णायक न हो।

सामान्यतया यह समझा जाता है कि 'प्राकृतिक न्याय' पदबन्ध प्राकृतिक विधि की रोमन संकल्पना से व्युत्पन्न है। आंग्ल विधि में प्राकृतिक न्याय की संकल्पना को सबसे पहले औपचारिक मान्यता डा० बोहम के मुकदमे से और फिर डा० बैन्टले के मुकदमे से प्राप्त हुई। प्राकृतिक न्याय आधुनिक विधियों और इसकी प्रक्रियाओं में बढ़ती हुई कृत्रिमता और तकनीकीपन के विरुद्ध विरोध प्रदर्शन था। अमरीका ने चौदहवें संविधान संशोधन द्वारा 'उचित प्रक्रिया' धारा का प्रवर्त्तन कर प्राकृतिक न्याय को सांविधानिक गारन्टी के रूप में मान्यता प्रदान की है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19 में युक्तियुक्तता की ओर व्यक्त संकेत करके प्राकृतिक न्याय के मूल तत्त्व का समावेश किया गया है। कई भारतीय संविधियों, यथा व्यावहारिक प्रक्रिया संहिता की धारा 13, आयकर अन्वेषण आयोग अधिनियम, 1947 की धारा 7 (2) और निवारक निरोध पर विचार करते हुए भारत के संविधान के अनुच्छेद 22 (5) और 'पन्नालाल बनाम भारत संघ' के मुकदमे, 1957, एस० सी० आर० 233, में भारत के उच्चतम न्यायालय द्वारा व्याख्या किए गए आयकर अधिनियम की धारा 5 (7) में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। आधुनिक प्रशासनिक विधिशास्त्र में एक प्रवृत्ति यह दृष्टिगत होती है कि हमें प्राकृतिक न्याय तथा न्यायसंगत सुनाई के सिद्धान्त पर अधिक उदारता

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

से अमल करना चाहिए । इस सम्बन्ध में हाउस ऑफ लार्ड्स के 'काण्डा बनाम मलेशिया संघ की सरकार' (1962), ए० सी० 322 पी० सी० और 'रिज बनाम बाल्डविन' (1963), आल० ई० आर० 66 के युक्तियुक्त निर्णयों में चर्चा हुई है ।

दैवी न्याय का सिद्धान्त यदि प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्त से अधिक पुराना नहीं तो प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्त जितना पुराना तो अवश्य है । सामाजिक विकास के प्रारम्भ में धार्मिक आधार ने न्याय के निरपेक्ष आदर्श को प्रतिष्ठापित किया था । यह न्याय के सहज ज्ञानात्मक और प्रेरणात्मक आदर्श का श्रीगणेश था । बाद में, न्याय में निरपेक्ष और सार्वभौम तत्त्वों के विकास के लिए मध्ययुगीन यूरोप का शास्त्रीय दर्शन (स्कोलैस्टिक फिलॉसफी) और इसके अशास्त्रीय प्रसंग उत्तरदायी थे । सहज ज्ञान से तर्क और बुद्धिवादी दर्शन की दिशा में जो प्रगति हुई थी, उसकी ह्यूम ने निंदा की और कहा, 'तर्क, आवेग का, जो मनुष्य को कर्म की प्रेरणा देता है, दास है ।'

तत्पश्चात् न्याय की सापेक्षता के वर्तमान युग का और आदर्श न्याय तथा निश्चयात्मक विधि के बीच द्वैत के युग का आरम्भ होता है । कई विधि-दार्शनिकों और विधि-वेत्ताओं और आस्टीनी तथा नव-आस्टीनी विचारधाराओं के पक्ष-समर्थकों, केल्सन और स्टैमलर ने अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रवर्त्तन-प्रतिपादन किया । विधिशास्त्र के आधुनिक समाज वैज्ञानिक विचारकों, जिनमें रोस्को पाउन्ड और डा० जुलियस स्टोन के नाम उल्लेखनीय हैं, ने इस बात का प्रयास किया कि न्याय के आदर्शों का निरूपण किन्हीं निरपेक्ष शब्दों में न किया जाए बल्कि न्याय को जिस सभ्यता विशेष में लागू होना है, उसके संदर्भ में ही इन आदर्शों का प्रतिपादन हो । यहीं से न्याय-सापेक्षता के सिद्धान्त के एक अंग के रूप में विधि-सम्मत न्याय और विधि-विहीन न्याय के बीच विवाद का युग प्रारम्भ होता है ।

इस समस्या के तनिक सूक्ष्म विश्लेषण से पता चलेगा कि इस विवाद का मूल न्याय और विधि के बीच एक प्रकार के परिकल्पित तादात्म्य में निहित है । अतः स्टैमलर के न्याय सिद्धान्त में न्याय और विधि के बीच यह कहकर सूक्ष्म विभेद किया गया है कि न्याय एक 'आदर्श' है और विधि एक 'संकल्पना' । स्टैमलर के न्याय सिद्धान्त को सही रूप में समझने के लिए आदर्श और संकल्पना के बीच के इस विभेद का मूलभूत महत्त्व है । स्टैमलर के अनुसार 'विधि एक संकल्पना है और जब इस संकल्पना की परिस्थितियाँ विद्यमान होती हैं तब विधि का अस्तित्व होता है । परन्तु न्याय इस अर्थ में एक आदर्श है कि यह ध्रुव तारे की भाँति अप्राप्य है ।' न्याय का दिशा-निर्देश उसी ध्रुव तारे से किया जाना है, भले ही नाविक को वहाँ तक पहुँचने की कोई युक्तिसंगत आशा न हो ।

यह आदर्श न्याय-विधि के बन्धनों को ऐसे कई तरीकों से तोड़-मरोड़ सकता है जिनके बारे में हम पहले से कोई कल्पना नहीं कर सकते । आदर्श न्याय की संकल्पनाओं ने विधि की कठोरताओं को किस प्रकार कम किया है, यह साम्या के सिद्धान्त के उद्भव और विकास से स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है । फिर, न्यायिक व्याख्या लगातार इसी में रत है । आदर्श न्याय की निस्सीमता के कारण उसकी परिभाषा भी 'नेति नेति' बनकर रह जाती है लेकिन इस दिशा में प्रयत्न जारी है । उस अर्थ में न्याय एक यात्रा हो सकती है, गन्तव्य स्थान नहीं । न्याय का और अधिक विश्लेषण करने पर यह ध्यातव्य है कि आधुनिक विधि-संसार में कई आंशिक विचारों का प्रचलन है । 'कार्यकारी न्याय', 'विधायी न्याय' 'न्यायिक न्याय' और 'प्रशासनिक

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

न्याय' जैसी अभिव्यक्तियों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक न्याय के विचारों को समाजवाद, साम्यवाद और नियन्त्रित पूँजीवाद जैसे आधुनिक राजनीतिक आन्दोलनों से गति प्राप्त होती जा रही है। न्याय के मार्क्सवाद और सोवियत सिद्धान्तों, न्याय के समाजवादी सिद्धान्तों, जिनमें कि राष्ट्रीयकरण का सिद्धान्त निहित है, और नियोजित तथा नियन्त्रित पूँजीवाद के न्याय-सिद्धान्तों ने न्याय के एकांगी पक्षों पर, जिनमें वर्ग-साक्षेप न्याय का सिद्धान्त भी निहित है, बल दिया है। सामान्य दृष्टिकोण यह है कि न्याय के आदर्श को समझने के लिए आधुनिक राजनीतिक आन्दोलनों का योगदान न तो महत्त्वपूर्ण रहा है और न ही उल्लेखनीय। आधुनिक काल में इस वाद-विवाद के राहु ने एक निरपेक्ष और समग्र संकल्पना के रूप में न्याय को अंशतः नहीं बल्कि पूरी तरह ग्रस्त कर रखा है।

नियोजन और न्याय

आधुनिक समाज के आर्थिक विधिशास्त्र ने न्याय के विचारों और आदर्शों, उनके प्रशासन और विधिशास्त्रीय मानकों को एक मूल चुनौती दी है। आर्थिक और सामाजिक नियोजन की आवश्यकता ने विधि-शासन को कई क्षेत्रों से तो हटा दिया है और अन्य कई क्षेत्रों में उसकी स्थिति में आमूल परिवर्तन कर दिया है। इस प्रसंग में एक दूरगामी महत्त्व का प्रश्न यह उठाया गया है कि क्या नियोजित अर्थव्यवस्था और विधि-शासन एक-दूसरे के प्रति संगत हैं? इसका महत्त्वपूर्ण निहितार्थ यह है कि क्या नियोजन कई दृष्टियों से विधि-शासन के विरुद्ध है? इस विचार को हायेक ने अपने 'द रोड टु सर्फडम' में व्यक्त किया है। उसके अनुसार इस दासता का उदय इसलिए होता है कि नियोजन के लिए बहुत विस्तृत सरकारी कार्यों की आवश्यकता होती है और यह आवश्यक रूप से व्यक्तियों की स्वाधीनता और स्वतन्त्रता को प्रभावित किये बिना नहीं रहती है। यह विवाद भारत में और भी अधिक तीव्र रूप धारण कर चुका है, जैसा कि हाल ही के बैंकों के राष्ट्रीयकरण के मामले और विभिन्न विधि न्यायालयों में सम्पत्ति अधिकार को दी गयी विभिन्न चुनौतियों से परिलक्षित होता है। कई आर्थिक और अन्य विकासात्मक योजनाओं से सम्बन्धित राष्ट्रीय प्रायोजनाओं को न्यायालयों में हो रही मुकदमेबाजी के कारण रोक लिया गया है, या उनमें विलम्ब किया गया है अथवा उनके कार्यान्वयन में रोड़े अटकाये जा रहे हैं। इनमें से कुछ गतिविधियाँ तो युक्तियुक्त कारणों से ही रही हैं और कुछ के लिए तो कोई आधार ही नहीं है। अतः आज एक ओर तो बड़े राष्ट्रीय, आर्थिक और सामाजिक हितों तथा दूसरी ओर व्यक्तियों या गुटों के अधिकारों और हितों के बीच जो संघर्ष हो रहा है, उसमें न्याय तथा तत्सम्बन्धी विचारों के द्वारा एक नये सन्तुलन तथा एक नये सामंजस्य की स्थापना करना है। अतः यह स्वाभाविक है कि कट्टर न्यायिक और राजनीतिक दृष्टिकोणों से सन्तोषजनक और व्यावहारिक न्याय-प्रशासन की समस्या को कोई प्रभावी समाधान पाने में विशेष सहायता नहीं मिलेगी। इस स्थिति से अनिश्चय का ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया है कि न्याय-प्रशासन के सहायक साधन के रूप में विधि-शासन का उपयुक्त विकास ही नहीं हो सकता है।

प्रो० जी० डब्लू० कीटन ने अपने ग्रन्थ 'दि पार्सिंग ऑफ पार्लियामेन्ट' में आधुनिक कल्याणकारी राज्यों की संकल्पना के चारों ओर एकत्रित होने वाले काले मेघों की ओर संकेत किया है। जिन उल्लेखनीय लक्षणों की ओर प्रो० कीटन ने विशेष संकेत किया है, उनमें मुख्य

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

हैं : (1) वे मानक जो समस्त प्रतिनिहित विधायन और प्रतिनिहित विधायन शक्ति में वृद्धि करते हैं, (2) सिविल कर्मचारियों की अनाम सामूहिक शक्ति, जहाँ जिम्मेदारी का निर्धारण कहीं भी नहीं किया जा सकता है, जहाँ निर्णय के स्रोत का पता लगाना कठिन है और इसके कारणों का कभी भी पूर्ण रूप से पता नहीं चलता है, (3) तेजी से ह्रासमान प्रभावी संसदीय नियन्त्रण, (4) प्रशासनिक न्याय की अराजकतापूर्ण स्थिति, (5) न्यायपालिका की कार्यपालिका पर प्रभावी नियन्त्रण करने में अक्षमता और शक्तिहीनता, और (6) जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में राज्य की कार्यपालिका के हाथों में विभिन्न नियन्त्रण। इन सभी बातों का प्रभाव न्याय की संकल्पना और न्याय के प्रशासन दोनों पर पड़ता है।

प्रो० फ्राइडमैन ने अपने ग्रन्थ 'लीगल थ्योरी' में यह विचार व्यक्त किया है कि हायेक, कीटन और अन्य विचारकों के मत निराशाजनक हैं और विधिशासन का इस प्रकार से समायोजन, संशोधन अथवा व्यापन किया जा सकता है कि नये राजनीतिक दर्शनों में निहित नये विधि-शास्त्र पर उसमें विचार किया जा सके। इन नये राजनीतिक दर्शनों में सेवा और कल्याणकारी राज्यों पर बल दिया गया है ताकि आधुनिक राज्यों के कार्यों और इन राज्यों में विधि और न्याय की भूमिका के बारे में अन्ततः प्रभावशील समाधान प्राप्त हो सके।

निजी सम्पत्ति पर सरकारी नियन्त्रण की मात्रा बहुत हद तक आर्थिक परिस्थितियों की 'आवश्यकता' पर निर्भर करती है, और इस विचार का प्रो० फ्राइडमैन ने भी समर्थन किया है। उनके अनुसार बढ़ती हुई समृद्धि और उपभोक्ता-वस्तुओं की उपलब्धि के परिणामस्वरूप आर्थिक नियन्त्रण में कमी आती है। यूरोप और अमरीका के आर्थिक विकास और इतिहास के पारायण से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते प्रतीत होते हैं। परन्तु प्रोफेसर गॉलब्रेथ अपने 'न्यू इन्डस्ट्रियल स्टेट' में इस विचार से सहमत प्रतीत नहीं होते हैं। उसमें वे अपने 'संशोधित क्रम' (रिवाइज्ड सीक्वेंस) सिद्धान्त का प्रवर्तन करते हैं जिसके अधीन बाजार और उपभोक्ता अब वस्तुओं के उत्पादन पर नियन्त्रण नहीं करते हैं और आधुनिक आर्थिक समाज की विशाल तकनीकी संरचनाएँ ही वास्तव में उपभोक्ताओं के लिए वस्तुओं का निर्धारण करती हैं। परन्तु इससे इस वस्तु-स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता है कि भारत जैसे संघर्षरत नये लोकतन्त्र में, जहाँ पूँजी, विकास और तकनीकी संसाधनों का तो अभाव है, परन्तु अपने प्राकृतिक संसाधनों और सद्य अर्जित स्वतन्त्रता का अधिकतम उपयोग करने की लालसा है, व्यवस्थित नियोजन और नियन्त्रण की परम आवश्यकता है। पश्चिमी जर्मन गणराज्य, 1949 के संविधान से एक ओर तो यह बात झलकती है कि अमरीका ने लोकतन्त्र के आर्थिक पक्षों के बारे में युद्धोत्तर जर्मनी के विचारों को समझा है और दूसरी ओर उससे इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि भूमि, खनिज पदार्थों तथा उत्पादन-साधनों का समाजीकरण होना चाहिए अथवा वे किसी न किसी रूप में सामाजिक नियन्त्रण के अधीन रहने चाहिएँ। प्रो० फ्राइडमैन यह स्वीकार करते हैं कि अमरीकी पूँजीवादी लोकतन्त्र और भारतीय समाजवादी लोकतन्त्र के बीच कितने ही प्रकार के लोकतन्त्र हो सकते हैं। प्रो० फ्राइडमैन की इस विचारधारा में यह सम्भावना निहित है कि इसके आधार पर हम सांविधिक विधि की सीमाओं के भीतर विधि और न्याय की इस नयी संकल्पना का तालमेल बैठा सकते हैं।

अतः न्याय की आधुनिक संकल्पना को नियोजन की चुनौती का सामना करना है। नियोजन आधुनिक समाज की एक आर्थिक और सार्वजनीन वास्तविकता है फिर चाहे यह आधु-

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

निक समाज एक पूँजीवादी समाज हो अथवा समाजवादी या साम्यवादी, अथवा यह कोई विकासशील देश ही क्यों न हो। अतः विधि को नियोजन की सत्ता को स्वीकार करना पड़ेगा और न्याय की ऐसी विधि के साथ निर्वाह करना होगा। एक बात निश्चित है कि नियोजन अभी भी विधि की स्थान पूर्ति नहीं कर सका है। विधि ने अपने इतिहास में कई अत्याचारियों को सीधा कर दिया है। अतः यह आवश्यक प्रतीत होता है कि आधुनिक विधिशास्त्र और न्याय-सिद्धान्त आधुनिक विधियों को प्रेरणा दें तथा उनका मार्ग-दर्शन करें जिससे नियोजन की निरंकुशता और दुरुपयोग पर नियन्त्रण रखा जा सके और नियोजन को विधिक और सामाजिक विधिक व्यवस्था का अंग बनाया जा सके। कुछ सीमा तक नियोजन को विधिशासन के स्थानापन्न बनाने की बजाय इसे उसका अंग बनाने की दिशा में प्रशासनिक विधिशास्त्र से सहायता प्राप्त हो सकती है।

संविधान और नियोजन-विषयक आर्थिक विधिशास्त्र के बीच संकट के जो बादल घुमड़ रहे हैं, उनकी ओर भी ध्यान देना उचित होगा। अमरीकी उच्चतम न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश स्टोन ने 'युनाइटिड स्टेट्स बनाम कैरोलीन प्रोडक्ट्स कम्पनी', 304, यू० ए० 144 में निम्नलिखित सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था : 'सामान्य व्यापारिक सौदों को प्रभावित करने वाले नियामक विधानों को तब तक असांविधानिक घोषित नहीं किया जाना चाहिए जब तक कि किसी ज्ञात अथवा मान्य तथ्य के आलोक में इस धारणा का खण्डन न हो जाये कि उसका आधार युक्तिसंगत है तथा विधायकों को उसकी जानकारी और अनुभव है। जब प्रत्यक्ष रूप से कोई विधायन संविधान के विशिष्ट प्रतिषेध के भीतर प्रतीत हो, तो सांविधानिकता की परिकल्पना के सार्थक होने की थोड़ी-बहुत गुंजाइश हो सकती है।' इससे पता चलता है कि आधुनिक सांविधानिक विधि की आर्थिक विधिशास्त्र के प्रति कितनी आदर-भावना है, विशेष रूप से जब इसे व्यापारिक सौदों के नियमन पर विचार करना होता है। यहाँ उपरिवर्णित युक्तिसंगत आधार और विधायकों की जानकारी और अनुभव के प्रति अधिक आदर की भावना है। 'डेनिस बनाम यू० एस०', 341, यू० एस० 494 और 'येट्स बनाम यू० एस०', 353, यू० एस० 346 के मुकदमों में निर्णय के बाद से आर्थिक विधिशास्त्र के प्रति इस विशेष सांविधानिक दृष्टिकोण का उत्तरोत्तर विकास होता आ रहा है। न्यायाधीश लर्नेड हैंड ने अपने 'बिल ऑफ राइट' में मत व्यक्त किया है कि 'यह मानकर चलने का कोई आधार नहीं है कि कोई विधायक आर्थिक मूल्यों की अपेक्षा वैयक्तिक मूल्यों का चयन कर पाने में कम सक्षम है और कि दूसरे की अपेक्षा पहले पर अधिक प्रमात्रा में न्यायिक पर्यवेक्षण की व्यवस्था करने में कोई सांविधानिक औचित्य नहीं है।' विश्व के अधिकांश आधुनिक संविधान इस पक्ष में हैं कि नियोजन और सामाजिक नियन्त्रण से सम्बद्ध विधि और न्याय की संकल्पना को अधिकाधिक मान्यता प्रदान की जाये। विज्ञान और औद्योगीकरण के आधुनिक युग की एक महान् संकल्पना आर्थिक न्याय है। इसके विभिन्न पक्षों पर विचार करने की आवश्यकता है।

भारत का संविधान और आर्थिक न्याय

भारतीय संविधान में मूल अधिकारों की चर्चा के प्रसंग में अनुच्छेद 23 और 24 में शोषण के विरुद्ध अधिकार का वर्णन किया गया है। भारतीय जनता का शताब्दियों से आन्तरिक और बाह्य रूप से शोषण होता रहा है और इसके परिणामस्वरूप समूचा देश दरिद्र तथा

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कंगाल हो गया है। जो विधि और न्याय-शासन गरीबी और अकिंचनता के अन्याय के निवारण में विधि की सहायता नहीं कर पाता, वह अपने वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त करने में निश्चित रूप से असफल होगा और साथ ही उसकी सार्थकता भी कुछ न होगी। भारतीय संविधान के अनुसार मानवों के पण्य और बेट-बेगार के आपत्तिजनक स्वरूप पर प्रतिबन्ध है, और इस उपबन्ध का कोई भी अतिक्रमण विधि के अनुसार एक दण्डनीय अपराध होगा। इस उपबन्ध के पूर्ण निहितार्थों की अभी तक भारत के विधि-निर्माण करने वाले प्राधिकरणों ने गवेषणा नहीं की है। कुछ विशेष प्रकार के श्रमो से स्त्रियों और बालकों की सुरक्षा के लिए किया गया विधान भारत की संविधि पुस्तकों में देखा जा सकता है, परन्तु आधुनिक संकल्पना में बलात् श्रम और मानव के पण्य और बेट-बेगार की संकल्पना के विकास के लिए कहीं अधिक विशाल सांविधानिक सम्भावनाएँ प्रतीत होती हैं जिनके बारे में न कोई शोध की गयी है और न कोई विश्लेषण। आर्थिक संकल्पना के रूप में मानव के पण्य का क्या स्वरूप है ? आधुनिक आर्थिक संकल्पना में बलात् श्रम क्या है ? अधिकांश भारतीयों के लिए आर्थिक कठिनाइयाँ अधिक विकट और व्यापक हैं। शोषण के विरुद्ध प्रतिबन्ध में जो एकमात्र अपवाद स्वीकार किया गया है, वह है, सार्वजनिक प्रयोजनों के लिए अनिवार्य सेवा की विमुक्ति, बशर्ते कि इस प्रकार का अपवाद धर्म, जाति, नस्ल अथवा वर्ग इनमें से किसी एक के विभेद के आधार पर न किया गया हो। 'सार्वजनिक प्रयोजन के लिए अनिवार्य सेवा' एक ऐसी अभिव्यक्ति है जिसका अभिधार्थ अत्यन्त व्यापक है। यहाँ इस बात का विश्लेषण करने की आवश्यकता है कि अनिवार्य सेवा कितने प्रकार की है ? ऐसी सेवा के क्या-क्या क्षेत्र हैं ? वे किस सीमा तक जा सकते हैं और सार्वजनिक प्रयोजनों के लिए 'अनिवार्य सेवा', अभिव्यक्ति के अन्तर्गत सार्वजनिक प्रयोजनों के क्या उद्देश्य हैं ? भारतीय संविधान के अनुच्छेद 24 के अधीन चौदह वर्ष से कम आयु के बालकों को किसी कारखाने, खान अथवा अन्य किसी संकटमय नौकरी में लगाने पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। यह मानवता के आधार पर आर्थिक न्याय का ही अंग है। संविधान के अनुच्छेद 35 में राज्य को ऐसे विधान के लिए प्राधिकृत किया गया है जिनसे कि संविधान के मूल अधिकारों के उपबन्धों को कार्यान्वित किया जा सके। इन उपबन्धों में आर्थिक न्याय विषयक उपबन्ध भी सम्मिलित हैं। इस अनुच्छेद में यह व्यवस्था की गयी है कि संसद इस संविधान के प्रारम्भ के पश्चात्, ऐसे कार्यों के लिए जो मूल अधिकारों सम्बन्धी अनुच्छेदों के अधीन दण्डनीय अपराध हैं, दण्ड विहित करने के लिए विधि बनायेगी। संविधान के अनुच्छेद 17 के अधीन अस्पृश्यता आर्थिक न्याय का एक अंग है और भारतीय संविधान ने अस्पृश्यता और किसी भी रूप में इसके व्यवहार को समाप्त कर दिया है। भारतीय संविधान के अधीन अस्पृश्यता सामाजिक न्याय का भी अंग है। आर्थिक न्याय के अन्य पक्षों का उदाहरण भारतीय संविधान के अनुच्छेद 39 से दिया जा सकता है जो राज्य-नीति का एक निदेशक सिद्धान्त है। इसमें अन्य बातों के साथ-साथ यह उपबन्धित किया गया है कि सामान्य रूप से नर और नारी सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार होगा; कि समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बँटा हो जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो; कि आर्थिक व्यवस्था का इस प्रकार संचालन हो जिससे धन और उत्पादन साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो; कि पुरुषों और स्त्रियों दोनों को समान कार्य के लिए समान वेतन मिले; कि श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों का स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों की

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो तथा आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर ऐसे रोजगारों में नागरिकों को न जाना पड़े जो उनकी आयु और शक्ति के अनुकूल न हों और शैशव और किशोरावस्था का शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से संरक्षण हो। संविधान के अधीन राज्य-नीति के निदेशक तत्त्वों में आर्थिक न्याय की अन्य महत्त्वाकांक्षाओं में काम पाने, शिक्षा प्राप्त करने तथा कुछ स्थितियों में सार्वजनिक सहायता पाने की व्यवस्था की गयी है और संविधान के अनुच्छेद 41 के अधीन राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर काम पाने, शिक्षा पाने, तथा बेकारी, बीमारी और अंग-हानि और अन्य अनर्ह-अभाव की दशाओं में सार्वजनिक सहायता पाने के अधिकार को प्राप्त कराने का कार्य साधक उपबन्ध करेगा। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 42 में यह घोषणा की गयी है कि राज्य काम की यथोचित और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिए तथा प्रसूति सहायता के लिए प्रबन्ध करेगा। इसके उपरान्त संविधान के अनुच्छेद 43 में एक और उपबन्ध किया गया है जिसमें यह व्यवस्था की गयी है कि राज्य, उपयुक्त विधान या आर्थिक संगठन द्वारा अथवा और किसी प्रकार से कृषि, उद्योग तथा अन्य रोजगारों में लगे हुए श्रमिकों को काम, निर्वाह-मजूरी, शिष्ट जीवन-स्तर तथा अवकाश का सम्पूर्ण उपभोग सुनिश्चित करने वाली काम की दशाएँ तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अवसर प्राप्त कराने का प्रयास करेगा तथा विशेष रूप से ग्रामों में कुटीर उद्योगों को वैयक्तिक अथवा सहकारी आधार पर बढ़ाने का प्रयास करेगा। भारतीय संविधान के अधीन आर्थिक न्याय का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष संविधान के अनुच्छेद 46 में उपबन्धित है कि राज्य जनता के कमजोर वर्गों, विशेषकर अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों की शिक्षा तथा अर्थ-सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा तथा सामाजिक अन्याय और अन्य सब प्रकार के शोषण से उनका संरक्षण करेगा। संविधान के अनुच्छेद 43 में जीवन-स्तर में सुधार के लिए एक सामान्य व्यवस्था है। संविधान के अनुच्छेद 48 में आर्थिक न्याय के अन्तर्गत कृषि और पशुपालन को आधुनिक और वैज्ञानिक प्रणालियों से संगठित करना है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आर्थिक न्याय के जिन पक्षों का हमने वर्णन किया है, वे संविधान के अनुच्छेद 37 के अधीन विधि न्यायालय में वाद-योग्य नहीं हैं, फिर भी, उसी अनुच्छेद में यह स्पष्ट रूप से उपबन्धित किया गया है कि 'इनमें दिये हुए तत्त्व देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि-निर्माण में इन तत्त्वों का प्रयोग करना राज्य का कर्त्तव्य होगा।' अतः यह स्पष्ट है कि आर्थिक न्याय की इन समस्याओं को देश के शासन में मूलभूत स्वीकार किया गया है और विधि-निर्माण में इन सिद्धान्तों का प्रयोग करना राज्य का कर्त्तव्य घोषित किया गया है।

न्याय और सार्वजनिक वित्त

भारतीय संविधान के अधीन सार्वजनिक वित्त आर्थिक न्याय का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। करों का आरोपण और समाहरण इस आर्थिक न्याय का एक भाग है। संविधान के भाग 12 में अनुच्छेद 265 में उपबन्धित किया गया है कि विधि के प्राधिकार के सिवाय कोई कर न तो आरोपित हो सकता है और न समाहृत (संग्रहीत)। करों का आरोपण, समाहरण और विनिधान भारतीय संविधान के अनुच्छेद 269 और 270 में उपबन्धित किया गया है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

राजस्व जुटाने और ऐसे राजस्व का विनिधान करने के मामले में संघ और विभिन्न राज्यों के बीच आर्थिक न्याय की समस्या संघीय संरचना के लिए मूलभूत है। भारतीय संविधान के भाग 12 का पूरा पहला अध्याय और विशेषकर उसमें दिये गये अनुच्छेद 246 से 290 में इस विषय से सम्बन्धित विभिन्न विस्तृत उपबन्ध दिये गये हैं। संविधान के अधीन आर्थिक न्याय के एक भाग का सम्बन्ध समस्त भारतीय क्षेत्र में व्यापार, वाणिज्य और समागम की स्वतन्त्रता से है। भारत जैसे संघीय अथवा संघीय वत् संरचना वाले संविधान में अन्तर्राज्यीय व्यापार और वाणिज्य की स्वतन्त्रता का विशेष महत्त्व है। व्यापार, वाणिज्य और समागम को अबाध रखा गया है। हाँ, उन पर अनुच्छेद 302 से 309 तक के उपबन्धों का अवश्य ही अंकुश है। संघीय संरचना वाले संविधान में अन्तर्राज्यीय व्यापार और वाणिज्य संघ और इसके विभिन्न राज्यों के बीच आर्थिक न्याय का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

न्याय और व्यक्ति

भारतीय संविधान की प्रस्तावना के सुविख्यात अंश 'सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय' पर चर्चा करने के प्रसंग में अगला महत्त्वपूर्ण प्रश्न है : क्या न्याय की व्याप्ति इसके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पक्षों तक ही है ? यदि ऐसा नहीं है तो न्याय के अन्य पक्ष कौन-कौन से हैं ? क्या इस सम्बन्ध में वैयक्तिक न्याय की भी कुछ गुंजाइश हो सकती है ?

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वैयक्तिक न्याय को संविधान के अनुच्छेद 14, 15, 16, 19, 21, 25 और 31 में दिये गये मूल अधिकारों में सांविधानिक मान्यता और संरक्षण प्रदान किया गया है। भारतीय संविधान में वैयक्तिक न्याय का आधारभूत महत्त्व है और इसकी सांविधानिक सम्भावनाएँ भी अनन्त हैं। आधुनिक विश्व के अधिकांश विधिक दर्शन में विधि और न्याय पर समाज-वैज्ञानिक सन्दर्भ में ही विचार किया जाता है। परन्तु इससे हमें इस तथ्य से विमुख नहीं हो जाना चाहिए कि वैयक्तिक न्याय भी हमारे संविधान की संरचना में मूलभूत है। कम से कम मेरा तो यही विचार है। निस्सन्देह वैयक्तिक और सामाजिक न्याय में एक प्रकार का सन्तुलन बनाये रखना आवश्यक है। परन्तु इस सन्तुलन के दोनों पक्षों—एक पक्ष में व्यक्ति और दूसरे में समाज और राज्य—को बनाये रखना है। इस तथ्य के बावजूद कि मानव एक सामाजिक प्राणी है, वह कई दृष्टियों से व्यक्ति ही बना रहता है और तदनुसार उसका व्यवहार पूर्णरूप से व्यक्तिगत ही रहता है। ज्ञान, मन और आत्मा के क्षेत्र में उसके कुछ गहनतम अनुसन्धान व्यक्तिगत अनुसन्धान ही रहते हैं। इन स्रोतों से ही सभ्यता का विकास और वृद्धि होती है। वर्तमान युग के समाज-वैज्ञानिक उन्माद में भारतीय संविधान की महान् प्रस्तावना की अवहेलना नहीं की जानी चाहिए, जिसमें बुलन्द आवाज में बन्धुता के उद्देश्य को रेखांकित करने वाली 'व्यक्ति की गरिमा को सुनिश्चित करने' का उल्लेख किया गया है। अतः वैयक्तिक न्याय सुरक्षित करने के लिए 'व्यक्ति की गरिमा' भारतीय संविधान का एक स्पष्ट रूप से उद्घोषित आश्वासन है। भारतीय संविधान में प्रदत्त मूल अधिकार और आर्थिक न्याय की अन्य संकल्पनाएँ प्रासंगिक ही नहीं हैं, वे आवश्यक भी हैं। लेकिन, व्यक्ति अर्थशास्त्र, राजनीति अथवा समाज के दायरे में ही सिमट कर नहीं रह जाता। वैयक्तिक न्याय का क्षेत्र क्या है, यह विधि जगत के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। उदाहरण के लिए,

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

एकान्तता-नियम (लॉ ऑफ प्राइवेसी) का आज के जगत में बहुत ही शीघ्रता से विलोप होता जा रहा है। आज एकाकी-एकान्त रहना तथा जन-नियन्त्रित और राज्य-नियन्त्रित समाज में अपना अलग अस्तित्व बनाये रख पाना कठिन है। व्यवसाय की एकान्तता, अनुसन्धान की एकान्तता, वैयक्तिक स्वतन्त्रता की एकान्तता, अवकाश का उपयोग करने की एकान्तता और मानसिक विकास और ज्ञान के संवर्धन में एकान्तता आज व्यावहारिक अधिकार हो गये हैं।

अमरीकी उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश होने से पूर्व न्यायाधिपति ब्रेन्डीस ने इस 'एकान्तता अधिकार' पर 'हारवर्ड लॉ रिव्यू' 193·220 (1890) में एक लेख लिखा था। उनके अधिकारपूर्ण विश्लेषण में दिखाया गया है कि आधुनिक युग में किस प्रकार से वैयक्तिक न्याय के अस्तित्व को ही खतरा है। न्यायाधीश कूले ने इस वैयक्तिक एकान्तता के अधिकार को 'अकेला रहने दो' अधिकार कहा है। वैयक्तिक अपराध के बारे में कूले के ग्रन्थ के दूसरे संस्करण के पृष्ठ 29 का पारायण करने पर इस विषय से सम्बन्धित पर्याप्त विचार सामग्री प्राप्त होगी। न्यायाधिपति ब्रेन्डीस विधिक मान्यता द्वारा वैयक्तिक विचारों, भावनाओं और संवेदनाओं के संरक्षण की और उनकी पवित्रता बनाये रखने की वकालत करते हैं। उन्होंने एकान्तता के अधिकार के प्रश्न से सम्बन्धित कुछ प्रमुख मुकदमों का विश्लेषण किया है जिनमें 'प्रिंस अल्बर्ट बनाम स्ट्रेंज', 'मेंक एन० एण्ड जी० 23', 'एबरनेथी बनाम हचिन्सन', 3 एल० जे० सी० एच० 209 (1825); 'टक बनाम प्रोस्टर', 9, क्यू० बी० डी० 639 (1887) और 'पोलर्ड बनाम फोटोग्राफिक कम्पनी' 40 सी० एच० डि० 345 (1888) उल्लेखनीय हैं। विभिन्न विशेषज्ञों के मतों और मुकदमों के विश्लेषण के उपरान्त न्यायाधिपति ब्रेन्डीस इस निष्कर्ष पर पहुँचते प्रतीत होते हैं कि ये निर्णय विचारों, भावनाओं और सम्वेदनाओं के लिए एक सामान्य एकान्तता-अधिकार की ओर इंगित करते हैं और इन्हें संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए, चाहे इनकी अभिव्यक्ति किसी भी रूप में हो—लेखन में, वार्तालाप में, व्यवहार में, स्वभाव में अथवा मौखिक भाव-भंगिमाओं द्वारा। विद्वान् न्यायाधिपति ने 'हारवर्ड लॉ रिव्यू' में एकान्तता अधिकार पर अपने लेख का समापन इन मार्मिक शब्दों में किया है :

> 'फिर भी समाज का संरक्षण मुख्यतया व्यक्ति के अधिकारों को मान्यता प्रदान करने के माध्यम से होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने कार्यों और भूलों के लिए उत्तरदायी हो सकता है। यदि वह किसी चीज को बुरा समझता है और स्वयं ही अपने बचाव के लिए उपलब्ध साधन से उसका मार्जन कर देता है, तो इसके परिणाम के लिए वह स्वयं ही उत्तरदायी होता है। यदि वह उस बुरी चीज का प्रतिरोध करता है, तो लोकमत उसके समर्थन के लिए तैयार हो जाता है। परन्तु क्या उसके पास ऐसा कोई साधन है ? विश्वास किया जाता है कि सामान्य विधि के रूप में एक ऐसे साधन की व्यवस्था है जो शताब्दियों की मन्दी आँच में पका है और जिसका आज उसके लिए उपयुक्त संशोधन कर दिया गया है। सामान्य विधि में किसी व्यक्ति के घर को हमेशा ही उसका दुर्ग समझा गया है जिसका उल्लंघन उसकी आज्ञाओं का निष्पादन करने वाले अधिकारी भी नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार क्या न्यायालय वैधानिक रूप से गठित प्राधिकारी के पास तक पहुँचने का मुख्य प्रवेश द्वार बन्द कर देंगे और निरर्थक तथा असंयत उत्सुकता की पूर्ति के लिए पीछे का द्वार खुला रखेंगे ?'

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

इस प्रकार वैयक्तिक न्याय की समस्या और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि आधुनिक युग में संघर्ष मानव मन को अधीन बनाने के लिए है।

न्याय विषयक किसी भी विधिक परिचर्चा में न्याय की संकल्पना और प्रत्यय का विश्लेषण करना ही पर्याप्त नहीं है। न्याय का पक्ष स्वयं न्याय के समान ही महत्त्वपूर्ण है। मुकदमेबाजी के दृष्टिकोण से न्याय का पक्ष बहुधा विलम्बों, असुविधाओं, अधिक खर्चों और अपरिचित तथा तर्कहीन प्रक्रियाओं से बाधित है। इस बारे में कोई गारन्टी नहीं है कि मुकदमा लड़ने वालों का प्रतिनिधित्व उनकी पसन्द के वकील करेंगे और ऐसे वकील करेंगे, जिन्हें इस मुकदमे के बारे में काफी जानकारी है अथवा जिन्हें इस प्रकार के मुकदमों का अनुभव है। कहा गया है : 'विधि वस्तुतः उपभोक्ताओं के व्यय का वह एकमात्र क्षेत्र है जिसमें उपभोक्ता—प्रभुसत्ता की संकल्पना ने प्रवेश प्रारम्भ नहीं किया है' (देखिए 'इन सर्च ऑफ जस्टिस—द सोसाइटी एण्ड द लीगल सिस्टम', लेखक ब्रायन एवेलस्मिथ-राबर्ट स्टीवन)। मुकदमेबाजी पर आज जो इतना अधिक व्यय होता है, उसके तीन प्रमुख कारण हैं—न्यायालयों का संगठन, न्याय व्यवस्था की अनन्त जटिलताएँ और विधि-व्यवसाय की प्रतिबन्धात्मक प्रथाएँ। अतः नागरिकों को विधि-प्रणाली के उपयोग से पूर्व परामर्श की नितान्त आवश्यकता है। विधि प्रणाली और आधुनिक भारत की आवश्यकताओं के बीच की सदा बढ़ती हुई खाई को बन्द किया जाना चाहिए, ताकि न्याय को प्रगतिगामी लोकतान्त्रिक समाज का एक प्रभावी माध्यम बनाया जा सके। अतः हमें यह विस्मृत नहीं करना चाहिए कि विधिक तकनीक की रीतियाँ पूजा के लिए प्रतिष्ठित प्रतिमाएँ मात्र नहीं हैं, वे तो रचनात्मक राजमर्मज्ञता—न्यायिक, राजनीतिक और विधायी राजमर्मज्ञता—की सेवा में समर्पित उपस्कर-मात्र हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारतीय संसद : नई दृष्टि

लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

संसदीय संस्थाएँ भारतीय शासन-पथ के सदा घूमते रहने वाले पहिए हैं। इन संस्थाओं के कार्य-परिणामों का लेखा-जोखा हमारे नवोदित गणराज्य में लोकतन्त्रात्मक उद्यम के लिए निर्णायक महत्त्व का दस्तावेज है।

व्यापक रूप से कहा जा सकता है कि भारत में संसदीय संस्थाएँ काफी हद तक सफल हुई हैं। इस तरह का सामान्यीकरण व्यापक रूप से ही सच है और उसकी अपनी कुछ स्वाभाविक सीमाएँ हैं क्योंकि मूल्यांकन का और संकटों तथा बाधाओं के कष्टकर अनुभव का काल-विस्तार केवल 21 वर्षों तक परिमित है। हमारी संसदीय संस्थाओं की परीक्षा और उनके परिमार्जन और परिपक्वता की प्रक्रिया शायद दो-तीन दशकों तक और चलेगी।

भारत में संसदीय संस्थाओं के कुछ स्वरूप और पद्धतियाँ स्वतन्त्रता से पहले भी प्रचलित थीं। केन्द्रीय विधान सभा, प्रान्तीय विधान सभाएँ और विधान परिषदें अंग्रेजों के शासन-काल में भी विद्यमान थीं और यद्यपि इन संस्थाओं के पास वास्तविक शक्ति का अभाव था किन्तु भारतीय जनता को संसदीय शासन की शिक्षा देने में उन्होंने पाठशालाओं का काम किया। उन्होंने हमें संसदीय आचार-व्यवहार की शिक्षा दी, और संसदीय शब्दावली की दीक्षा भी। यह उल्लेखनीय है कि भारत के शिक्षित मध्य वर्ग ने जो राजनीतिक दृष्टि से भारतीय समाज का सबसे सशक्त वर्ग था, संसदीय प्रक्रियाओं को चाव से अपनाया था। भारत में लोकतन्त्र के प्रयोग की अपनी सीमाएँ हैं—कुछ तो जन्मजात और कुछ आनुषंगिक। इस महत्त्वपूर्ण प्रयोग में जो सफलता सम्पादित हुई है, उसका श्रेय भारत के शिक्षित मध्य वर्ग को विशेष है। यह उल्लेखनीय है कि राजाओं, पूँजीपतियों अथवा सर्वहारा वर्ग के लोगों ने भारत में संसदीय संस्थाओं की कल्पना में, उसके विषय पर अथवा चिन्तन में उसके कार्यकरण पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डाला है। भारतीय राजनीति के नेताओं का अधिकतर शिक्षित मध्य वर्ग से सम्बन्ध रहा है और इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि भारतीय राजनीति के मुख्य प्रवाह पर मध्य वर्ग के मनोविज्ञान की स्पष्ट छाप है।

इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि उच्च कुल में जन्मे लोग अथवा मुट्ठी भर धनी लोग भारतीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण कारक नहीं हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन अपवाद-कारकों का देश की राजनीति पर अपना प्रभाव है, लेकिन बुनियादी तथ्य यह है कि भारतीय लोकतन्त्र के क्रियान्वय में मध्यवर्ग की निर्णायक भूमिका है। इसलिये भारत में लोकतन्त्र का जो स्वरूप दिखाई पड़ता है, उसमें बीसवीं शताब्दी के मध्यांतर में मध्यवर्ग की विजय और पराजय दोनों मूर्तिमंत हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारतीय संविधान की एक प्रमुख प्रवृत्ति विभिन्न प्रणालियों से सार ग्रहण करने की रही है और उस पर पश्चिम का गाढ़ा रंग है। वह भारत के शिक्षित मध्य वर्ग की आकांक्षाओं का दर्पण है। साथ ही वह भारतीय गणराज्य में राज्य और समाज के संगठन का दृढ़ आधार है। संविधान में भारत के लोगों को प्रभुसत्ता प्रदान की गई है, उसके नागरिकों को मूल अधिकारों का उपहार दिया गया है, देश के शासन में मूलभूत राजनीति के कुछ निदेशक तत्त्वों का आख्यान किया गया है और अर्ध-संघात्मक शासन की व्यवस्था की गई है, जिसके अन्तर्गत केन्द्र तथा भारत संघ के राज्यों के बीच शक्तियों का वितरण किया गया है। संविधान ने देश में संसदीय शासन-प्रणाली की स्थापना की है जिसके अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी है। संविधान की एक सर्जना स्वतन्त्र न्यायपालिका है जिसे स्वयं संविधान की व्याख्या करने और उसकी रक्षा करने का कार्य सौंपा गया है। संविधान गणराज्य के स्थायित्व की आधारशिला है, इसके साथ ही उसमें विधि की सीमाओं के भीतर रहते हुए सामाजिक क्रान्ति के बीज निहित हैं। संविधान किसी वर्ग-विशेष का विधान नहीं है फिर भी वह कुछ मूल अधिकारों का स्रोत है जिनके बारे में न्यायालयों का फैसला मांगा जा सकता है और इसीलिए न्यायालय कारगर ढंग से मूल अधिकारों की रक्षा करने में सक्षम हैं। संविधान ने मूल अधिकारों के संरक्षण और संधारण के लिए राज्य की कार्यकारी और विधायी शक्तियों के प्रयोग पर जो अंकुश लगा रखें हैं, वे इस बात के द्योतक हैं कि लोकतन्त्र और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के बीच जो विरोधाभास है उसका समुचित समाधान आवश्यक है। इन प्रतिबन्धों का उद्देश्य लोकतन्त्र तथा विधि शासन के विरोधी दावों के बीच संतुलन स्थापित करना है।

वास्तविक प्रशासन से सम्बन्धित संविधानेतर मामलों तथा विधायी चर्चाओं में जिनका हमारे देशवासियों के जीवन से घनिष्ठ और व्यापक सम्बन्ध है, मनुष्य के समीकरण और सामर्थ्य की सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। सबसे गहरा और दूरव्यापी प्रभाव है, दल-संगठन का, उसकी संरचना का, उसकी गुणवत्ता का और उसकी संचालन-प्रक्रिया का। समकालीन संदर्भ में श्रीमती इन्दिरा गाँधी के कांग्रेस दल को भारी बहुमत प्राप्त है और लोकमत के प्रति उनकी संवेदनशीलता तथा सहानुभूति काफी हद तक भारत में लोकतंत्र की कार्यशीलता, सार्थकता और भविष्य के प्रमुख निर्णायक तत्त्व हैं।

संसद तथा दल-संगठन को कुछ सीमा तक अपनी कार्य-पद्धति में तालमेल बैठाना पड़ता है लेकिन संसद में दल लगभग सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं और बाहर का दल-संगठन उनके किसी काम में हस्तक्षेप नहीं करता। दल के कार्यक्रमों तथा नीतियों की व्यापक तथा सार्वजनिक रूप से व्याख्या करने का काम मुख्य रूप से दल के मंच से किया जाता है लेकिन कांग्रेस के विभक्त होने के बाद और विशेषत: 1971 के मध्यावधि चुनाव के अनन्तर दल के मंच और दल की समितियों का महत्त्व धीरे-धीरे कम होता गया है। परम्परागत रूप से संसद समस्त केन्द्रीय विधान की स्रोत ही नहीं है, वह एक साँचा भी है जिसमें अखिल भारतीय नीतियाँ और दृष्टियाँ, ढलती और रूप ग्रहण करती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इधर संसद का महत्त्व निरन्तर घटता जा रहा है। कुछ समय से विधि-निर्माण के क्षेत्र में संसद का महत्त्व कम हो गया है और सरकार की निर्णय प्रक्रिया पर भी उसका उतना प्रभाव नहीं रहा है जितना पहले था। संसद की स्थिति अब यह है कि वह न तो सरकार की त्रुटियों का जनता के सन्मुख भली प्रकार उद्घाटन कर सकती

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

है, न सरकार की किसी नीति में बाधक बन सकती है और न उसे सतर्कता की स्थिति में रख सकती है। मंत्रियों की ओर से भी संसद की कुछ-कुछ परोक्ष उपेक्षा होने लगी है। इसी प्रकार, दलगत-संगठन का महत्त्व भी पहले की अपेक्षा बहुत कम हो गया है।

दल-पद्धति को आधुनिक संसदीय संस्थाओं का अनिवार्य अंग माना जाता है और यह बात सकारण भी है। संयुक्त राज्य अमरीका और इङ्गलैंड में प्रतियोगी द्वि-दल-पद्धति है, लेकिन भारत में अनेक राजनीतिक दल हैं और इसका परिणाम यह है कि हम भारत में संसदीय शासन प्रणाली से अधिकतम लाभ प्राप्त नहीं कर सकते। भारत में सानुपात प्रतिनिधित्व के बजाय बहुमत प्रतिनिधित्व की पद्धति होने के बावजूद द्वि-दल-पद्धति का विकास नहीं हो सका। हम कह सकते हैं कि भारतीय राजनीति में सजीव दल-पद्धति न होने के कारण जलाशय में रुके हुए पानी की सी स्थिरता को बढ़ावा मिला है, लेकिन भारत की संसदीय पद्धति की दृष्टि से इस गम्भीर त्रुटि की हम उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। न ही हम किसी बौद्धिक तर्कजाल अथवा सचेत शब्दावली द्वारा ही इस त्रुटि की व्याख्या कर सकते हैं।

भारत के सभी राजनीतिक दलों में एक सामान्य प्रवृत्ति यह पाई जाती है कि उनके नेता और साधारण सदस्य दोनों ही शिक्षित मध्य वर्ग के विभिन्न स्तरों से संबद्ध होते हैं। भारत का राजनीतिक इन्द्रधनुष बहुरंगी है, लोगों की सैद्धांतिक निष्ठाएँ अलग-अलग हैं, निर्वाचन-क्षेत्रों में निर्वाचकगणों की जातिगत आधार पर मतदान करने की प्रवृत्ति है। उनकी विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रति अनुरक्ति है, तथा राजनीतिक अखाड़े के खलीफाओं और पहलवानों के प्रशिक्षण तथा उनकी पृष्ठभूमि में भी भेद है। स्वतन्त्रता के पश्चात् विधायकों की गुणवत्ता में ह्रास होता गया है, जो चिंता का विषय है। दल के जो उम्मीदवार चुने जाते हैं, वे योग्यता के आधार पर नहीं चुने जाते, अधिकतर अत्यन्त साधारण किस्म के उम्मीदवारों का चुनाव होता है। राज्य विधान मंडलों की रचना में गुणात्मक दृष्टि से अनेक त्रुटियाँ पाई जाती हैं। विधायकों में प्रतिभा, विदग्धता और लगन का अभाव पाया जाता है और हमारे सार्वजनिक प्रशासन के गिरते हुए स्तरों का यह एक प्रधान कारण हो सकता है। लगता है कि विशिष्ट क्षेत्र में सफल लोग दलगत राजनीति की आपाधापी और निर्वाचनों के सिरदर्द के कारण राजनीति में प्रवेश नहीं करते। हमारे देश में ऐसे कई कारण पाए जाते हैं जिनके फलस्वरूप चारों ओर अव्यवस्था-सी छा गई है, चिन्तन में अक्षम और कर्मठता में अशक्त लोगों की तूती बोल रही है, गोल-मोल बातों और बढ़े-चढ़े नारों की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। लोगों को किसी दंड का भय नहीं रहा है और पुराने सड़े-गले रीति-रिवाजों के प्रति मोह के पाश अब भी मजबूत हैं। इनमें से कुछ प्रमुख कारण हैं, निर्वाचकों में व्यापक अशिक्षा का साम्राज्य है, जन-सम्पर्क के साधनों का अभाव है, दलों की आर्थिक स्थिति डाँवाडोल है, व्यापक पैमाने पर क्षेत्र-कार्य के प्रति उदासीनता है और जनता सम-सामयिक राजनीति के बड़े-बड़े प्रश्नों के प्रति जागरूक नहीं हैं।

भारतीय संसद राष्ट्र का दर्पण ही नहीं उससे कहीं अधिक है, होनी चाहिए। उसमें भारतीय समाज की शक्ति और सीमा की ही झलक नहीं मिलती, वह राष्ट्र का नेतृत्व भी करती है। सत्तारूढ़ कांग्रेस दल-विभाजन के बाद भी एक व्यापक आधार पर संगठित है। द्वि-दल-पद्धति के अभाव में उचित यही होगा कि सत्तारूढ़ कांग्रेस दलगत अनुशासन को कठोरता से लागू न करे। लगता है कि पाँचवीं लोकसभा की कार्यवाही में पूर्ववर्ती लोक सभाओं की

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भाँति दलीय अनुशासन से अप्रतिबंधित खरी और निर्भीक समालोचना का सम्पुट नहीं पाया जाता। यह कहना गलत नहीं होगा कि वस्तुतः राजनीतिक सत्ता के केन्द्र का दल और संसद से हटकर प्रधानमंत्री के हाथों में स्थानान्तरण हुआ है। संसद में प्रतिपक्ष का प्रभाव क्षीण है, प्रतिपक्ष उतना मुखर, जागरूक, आत्मनिष्ठ और प्रबुद्ध नहीं है जितना तीसरी और चौथी लोक सभा में था। आज संसद केवल सीमित सतर्कता की साधन रही है। नीतियों के निर्माण और संशोधन में संसद सशक्त मार्ग-दर्शन प्रदान करने में अपने को असमर्थ पाती है। भारतीय संसद में अनेक विषयों पर वाद-विवाद होता है और इन विषयों की परिधि अत्यन्त व्यापक है। लेकिन, अब संसद का स्वर पहले जैसा प्रबल नहीं रहा है और वह सरकार को पहले की भाँति अनुशासित रखने में भी असमर्थ है। इसका कारण सिर्फ यही नहीं है कि संसद के गठन में परिवर्तन हो गया है बल्कि यह भी है कि कांग्रेस दल की राजनीति और शक्ति-व्यवस्था बदल गई है और प्रतिपक्ष के नेतृत्व में गुणात्मक दृष्टि से ह्रास हुआ है। जिस सभा में परस्पर-विरोधी हितों के प्रवक्ता हों, वहाँ वाद-विवादों में अप्रासंगिकता, अतिशयोक्ति और वैयक्तिक दोषारोपण और छिद्रान्वेषण का पाया जाना स्वाभाविक है। सदस्यों की व्यक्तिगत गुणात्मकता संसदीय संगठन को बल देती है, किन्तु संस्थानात्मक आधार पर संसदीय प्रणाली में सुधारों की भी बहुत अपेक्षा है। यदि हमें संसदीय लोकतंत्र को अधिक सार्थक बनाना है, तो इसके लिए यह आवश्यक है कि संसद का संयुक्त कार्य-समितियों के रूप में गठन किया जाये और प्रशासन को अधिक उत्तरदायी बनाया जाये।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारत और लोकतांत्रिक विकास की चुनौती

वी० के० आर० वी० राव

भारत अब एक आधुनिक वैज्ञानिक और औद्योगिक समाज का स्थान ग्रहण करने के पथ पर अग्रसर है। इसने अपनी राष्ट्रीय आय को बीस वर्ष और प्रति व्यक्ति आय को पच्चीस वर्ष से कम की अवधि में दुगना करने का लक्ष्य निर्धारित किया है। इसके साथ ही, इसी अवधि में उसने अपने लिये एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था के निर्माण का प्रण किया है जो अपने पैरों पर खड़ी हो सके, स्वयं अपना पोषण कर सके और अपनी आंतरिक क्षमता के फलस्वरूप स्वयं ही विकास के पथ पर अग्रसर हो सके। इस अर्थ में देश को विदेशी सहायता पर निर्भर नहीं रहना पड़ेगा तथा वार्षिक आर्थिक विकास की सन्तोषजनक दर अपने आप ही निश्चित हो जायेगी। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये उसने आर्थिक नियोजन का सहारा लिया है, और अब तक तीन पंचवर्षीय योजनाएँ पूरी की जा चुकी हैं। संप्रति वह चौथी पंचवर्षीय योजना के क्रियान्वय में व्यस्त है।

भारत को त्वरित गति से आर्थिक विकास के प्रयास में जिन कुछ मुख्य समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, उसका कारण यह है कि भारत ने लोकतन्त्र के ढाँचे में ही आर्थिक विकास करने का संकल्प किया है। लोकतन्त्र का यह ढाँचा वास्तव में 'स्वतन्त्र' समाज है। इस सन्दर्भ में स्वतन्त्र की जिस संकल्पना का उपयोग किया गया है, वह पर्याप्त विशद है और उससे प्रेरित होकर मैंने अन्यत्र 'स्वतन्त्र समाज' की निम्नलिखित परिभाषा दी है :[1]

'जब हम किसी 'स्वतन्त्र समाज' की चर्चा करते हैं, तो हमारा आशय एक ऐसे समाज से होता है जहाँ एक सामान्य जन अपने दैनिक जीवन के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और व्यापक पक्षों में पूर्ण स्वतन्त्रता से कार्य कर सकता है। इसका निहितार्थ यह है कि वह दो मूलभूत स्वतन्त्रताओं का उपयोग कर सकने की स्थिति में हो। एक, वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपना कार्य करने की परिस्थितियों का निर्धारण कर सके, अपने वर्तमान जीवनस्तर की रक्षा कर सके, और अपनी इच्छा के विरुद्ध उसमें किसी प्रकार की कमी न आने दे तथा बढ़ी हुई आर्थिक गतिविधियों के परिणामस्वरूप उत्पादन में हुई वृद्धि में अपने विहित अंश का अधिकारी हो सके। दूसरी स्वतन्त्रता उस प्रकार के शासन तन्त्र को प्राप्त करने की है जिसे यदि वह नियन्त्रित करने की स्थिति में न हो तो प्रभावित अवश्य कर सके। परन्तु इन मूलभूत स्वतन्त्रताओं को प्रजातीय रूप से एक ही पदबंध 'लोकतांत्रिक स्वतन्त्रता' के अधीन रखा जा सकता है। इनके प्रभावपूर्ण उपयोग के लिये निर्वाचित शासन, स्वतन्त्र न्यायपालिका, विधि-शासन, वयस्क

[1] 'फ्रीडम एंड डेवल्पमेंट—द चैलेंज', आस्ट्रेलियन इंस्टीट्यूट ऑफ इन्टरनेशनल अफेयर्स, 1960।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

मताधिकार, संघ निर्माण की स्वतन्त्रता (जिसमें व्यापार संघों के निर्माण का अधिकार, और हड़ताल करने के अधिकार भी शामिल हैं), वाक् स्वातन्त्र्य, समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता, और आने-जाने और व्यवसाय की स्वतन्त्रता जैसी साधक स्वतन्त्रताओं की अपेक्षा होती है।'

स्वतन्त्रता इस अर्थ में अपेक्षाकृत एक नवीन संकल्पना है और आर्थिक विकास के प्रारम्भिक दिनों में इसका कहीं अस्तित्व नहीं था। किसी भी प्रमुख पूँजीवादी अथवा साम्यवादी देश में इस अर्थ में उस समय कोई 'स्वतन्त्र समाज' नहीं था जब वह पूर्व-औद्योगिक समाज से औद्योगिक समाज के संक्रमण की प्रारम्भिक और महत्त्वपूर्ण अवस्थाओं में से गुजर रहा था। युनाइटिड किंग्डम, अमरीका, जर्मनी, फ्रांस, जापान और सोवियत संघ आदि देशों का आर्थिक इतिहास इसका पर्याप्त प्रमाण है। वर्तमान काल में चीन इसी ऐतिहासिक प्रक्रिया का दुःखद उदाहरण प्रस्तुत कर रहा है। आर्थिक संदर्भ में पूर्व-औद्योगिक से औद्योगिक समाज के रूप में संक्रमण राजनीतिक अर्थों में स्वतन्त्र समाज के रूप में संक्रमण से बहुत पहले की अवस्था होती है। स्वतन्त्र समाज सर्वत्र आर्थिक विकास की चरम परिणति प्रतीत होता है। परन्तु मुझे लगता है कि हमने आर्थिक इतिहास की शिक्षाओं की उपेक्षा की है और 'स्वतन्त्र समाज' के संदर्भ में ही आर्थिक विकास की गति को बढ़ाने का प्रयास किया है। यहाँ 'स्वतन्त्र समाज' पदबंध का प्रयोग उसी व्यापक अर्थ में हुआ है जिसमें कि मैं पहले कर चुका हूँ।

अस्तु, भारत के आर्थिक विकास के प्रयासों में जो बात सबसे अधिक उल्लेखनीय है, वह है भारत की राजनीतिक व्यवस्था, जिसके अधीन विकास का यह क्रम चल रहा है। भारत ने नवम्बर, 1949 में नया संविधान अंगीकृत किया और उसके बाद से वह पश्चिमी यूरोप के ढंग का ही एक पूर्ण और व्यावहारिक लोकतन्त्र बन गया है। इस वर्ष के आरम्भ में जब पाँचवें सामान्य निर्वाचन हुए, तब यह पहला अवसर था जब लोक सभा के लिये हुए निर्वाचनों के साथ राज्य की विधान सभाओं के लिये निर्वाचन नहीं कराए गए। इस निर्वाचन में मतदान में भाग लेने वाले मतदाताओं की संख्या 15.1 करोड़ थी। इस संख्या से यह स्पष्ट है कि औद्योगिक मजदूरों, गरीब किसानों और कृषि श्रमिकों की एक बहुत बड़ी संख्या अब सरकारी नीति को प्रभावित कर पाने की स्थिति में है, क्योंकि निर्वाचकों और मतदान में वास्तव में भाग लेने वालों में अधिक संख्या इन्हीं की ही है।

इसके साथ ही भारतीय राज्य तन्त्र में औद्योगिक मजदूरों की स्थिति और भी विशेष रूप से दृढ़ और शक्तिशाली है। भारत में पंजीकृत व्यापार संघों के सदस्यों की संख्या 25 लाख है (इस संख्या का महत्व तभी आँका जा सकता है, यदि हम इसकी तुलना इस तथ्य से करें, कि अमरीका में 1930 में व्यापार संघों के सदस्यों की संख्या केवल तीस लाख थी) और इनका पर्याप्त राजनीतिक प्रभाव है। यह प्रभाव केवल संगठन-बद्ध शक्ति के कारण ही नहीं, बल्कि इसलिये भी है कि इनमें से अधिकांश ने भारत के स्वाधीनता संग्राम में प्रमुख भूमिका निभाई है। इनमें से कईयों ने तो कांग्रेस दल के सदस्य के रूप में स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लिया था। अब उनकी संघीय और राज्य सरकारों में गहरी जड़ें हैं।

इसी का परिणाम है कि आज भारत का श्रम सम्बन्धी विधान विश्व के अत्यधिक प्रगतिशील देशों के श्रम सम्बन्धी विधानों की श्रेणी में रखा जा सकता है। आज इस क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के कल्याणकारी हितलाभों, यथा, स्वास्थ्य बीमा, भविष्य निर्वाह निधि और मनोरंजन की सुविधाओं की व्यवस्था की गयी है और श्रमिकों के लिए कारखानेदारों द्वारा

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सस्ते मकानों का प्रबन्ध भी किया गया है। विवादों के निपटाने के लिए समाधान (कांसी लिएशन) और न्याय निर्णय (एडजुडीकेशन) दोनों की व्यवस्था की गयी है और इस उद्देश्य से कई ऐसे श्रम-न्यायाधिकरण स्थापित किये गये हैं जो उद्यमों में लगी पूँजी पर मालिकों द्वारा विहित लाभ प्राप्त करने के पश्चात् बचे हुए लाभ में मजदूरों को बोनस की अदायगी के आदेश दे सकते हैं और वास्तव में देते भी हैं। इस प्रकार आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में, भारत में औद्योगिक मजदूर को काम पाने की स्वतन्त्रता, अनुकूल परिस्थितियाँ और तुलनात्मक मजदूरी दरें प्राप्त हैं, जोकि अन्य देशों के उसके मजदूर बन्धुओं को उन देशों के आर्थिक इतिहास की वैसी ही व्यवस्थाओं में प्राप्त नहीं थीं।

स्वतन्त्रता के संदर्भ में त्वरित गति से आर्थिक विकास के प्रयास से उत्पन्न एक प्रमुख समस्या अपेक्षित स्तरों तक बचत को घरेलू दरों को बढ़ाने की कठिनाई है। योजना आयोग ने देश के समक्ष प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय को 23 वर्ष की अवधि में दुगना करने का लक्ष्य निर्धारित किया था। यदि हम यह बात ध्यान में रखें कि जब योजना कार्यक्रम का श्रीगणेश हुआ था, तो प्रति व्यक्ति आय का स्तर 55 डालर से भी कम था, तो यह लक्ष्य कोई बहुत अधिक महत्त्वाकांक्षापूर्ण प्रतीत नहीं होता है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए उन्हें निवेश-दर में निम्न क्रम से उत्तरोत्तर वृद्धि की अपेक्षा थी : 1950–51 में 6 प्रतिशत, 1955–56 में 7·3 प्रतिशत, 1960–61 में 10·7 प्रतिशत, 1965–66 में 13·7 प्रतिशत, 1970–71 में 16 प्रतिशत और 1975–76 में 17 प्रतिशत।

यदि हम यह कल्पना कर भी लें कि इस अवधि में पर्याप्त मात्रा में विदेशी सहायता मिलती रहेगी और यह भी उम्मीद करें कि इसकी मात्रा 1973–74 तक राष्ट्रीय आय के दो प्रतिशत के बराबर रहेगी, तो भी इसका अर्थ यह होगा कि 23 वर्ष की अवधि में अतिरिक्त बचत की दर दुगनी हो जायगी। वस्तुतः बचत की दर काफी हद तक बढ़नी आवश्यक है—कुछ तो इसलिए कि जनसंख्या में वृद्धि योजना आयोग की प्रत्याशा से कहीं अधिक दर पर हो रही है और कुछ इसलिए कि योजना आयोग के आय-विषयक प्राक्कलनों में अन्तर्निहित सीमांत पूँजी-उत्पादन अनुपात (मार्जिनल कैपिटल आउटपुट रेशियोज) का अनुमान कुछ कम प्रतीत होता है। बचत दर में ऐसी वृद्धि स्वेच्छा से नहीं हो पायेगी और कराधान में पर्याप्त वृद्धि की आवश्यकता होगी।

फिर, इसे समाज के कम समृद्ध वर्गों के सहयोग के बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता है। यदि जनता पर करों की मात्रा में वृद्धि की जाती है तो इससे कई राजनीतिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं क्योंकि भारत में संसदीय राजनीतिक लोकतन्त्र सक्रिय रूप से कार्य-रत हैं। जनसाधारण से अधिक बचतों की अपेक्षा करने के मार्ग में भी कई आर्थिक कठिनाइयाँ हैं क्योंकि उनके वर्तमान उपभोग के लिए उनकी सीमांत प्रवणता पर्याप्त अधिक है। यदि समाज के समृद्ध और धनी वर्ग पर अधिक कर लगाये जाते हैं, तो भी इससे कई कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं, क्योंकि इससे औद्योगिक विशिष्ट वर्ग जिसमें कि न केवल उद्यमी बल्कि प्रबन्धक वर्गीय, तकनीकी और कर्मचारी वर्ग भी सम्मिलित है, की उत्पादन सम्बन्धी गतिविधियों पर अनिष्ट-कर प्रभाव पड़ने की संभावना रहती है। इन वर्गों से व्यक्तिगत बचतों की भी अधिक अपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि इनकी जीवन पद्धतियों पर आर्थिक दृष्टि से विकसित पश्चिमी देशों की जीवन-पद्धतियों के प्रदर्शनात्मक पक्षों का पर्याप्त प्रभाव है और

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

इनके मन में यह धारणा घर कर गयी है कि सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए प्रदर्शन और बाह्याडंबर अनिवार्य है ।

इसी कारण भारत में घरेलू बचतों में अपेक्षित तीव्रता नहीं आ पाई है । इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है कि बचतों और कराधान तंत्र के अधिक वैज्ञानिक संगठन का इष्टतम प्रभाव होगा, परन्तु यह बात भी स्पष्ट है कि देश में बचतों और कराधान की दरों में वृद्धि के लिए जनता के मनोविज्ञान में गहन परिवर्तन की आवश्यकता है । इनमें अन्तर्निहित शिक्षा और संस्थात्मक पुनर्गठन की समस्याएँ विकट हैं और उनका अपेक्षित स्तर पर समाधान नहीं किया जा सका है ।

भारत के सामने जो एक और समस्या है, वह आय और काम के बारे में सार्वजनिक अभिरुचि में अपेक्षित परिवर्तन की है । यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि एक दृष्टि से तो हाल ही के वर्षों में अपेक्षित परिवर्तन हो चुका है । अतः जनसाधारण दरिद्रता को 'भाग्य' समझकर सन्तोष नहीं करना चाहता है । शहरी इलाकों में ही नहीं, ग्रामीण क्षेत्रों में भी जनसाधारण में अपनी वर्तमान आर्थिक स्थिति के प्रति पर्याप्त विक्षोभ है, और सर्वत्र अधिक अच्छे स्तर[2] के लिए माँग बढ़ती जा रही है । पिछले दस वर्षों में औसत राष्ट्रीय उपभोग में जो सुधार हुआ है, वह यद्यपि पर्याप्त नहीं है, परन्तु उससे इस प्रवृत्ति को अवश्य ही प्रोत्साहन मिला है । इसके साथ-साथ, उत्पादन में वृद्धि करने के मार्ग में जो रीति-रिवाज आते हैं, उनके प्रति एक बढ़ती हुई अधैर्य की धारणा है, और साथ ही है नये विचारों और तकनीकों को आजमाने की तत्परता । परन्तु कई अन्य दृष्टियों से यह स्थिति आर्थिक विकास में संवर्धन की दृष्टि से सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती है ।

अतः त्वरित आर्थिक विकास के लिए, आधार सामग्री और उसके परिणामों में एक प्रकार के प्रकार्यात्मक सम्बन्धों के अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य शर्त है । इसका अर्थ है आत्मनिर्भरता की भावना का विकास करना—इस भावना का कि अपने ही प्रयास अपनी आय का निर्धारण करते हैं । इसके लिए यह आवश्यक है कि समाज की संस्थात्मक संरचना किराये या निवेशों से होने वाली आयों को हतोत्साहित करे और उससे मजदूर में यह एहसास पैदा हो कि उसे किये गये काम के लिए उपयुक्त मजदूरी दी जा रही है । इसी कारण से आर्थिक विकास के किसी भी कार्यक्रम में भूमि-सुधारों (जोत जोतने वालों को) को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया जाता है । यह भी आवश्यक है कि आधार सामग्री में वृद्धि करने वालों को यह विश्वास होना चाहिए कि उसके उत्पादन में भी वृद्धि होगी, और बढ़े हुए उत्पादन में उन्हें उपयुक्त अंश भी मिलेगा, अन्यथा आधार सामग्री बढ़ाने में और आर्थिक विकास के प्रवर्धन में उनकी कोई विशेष रुचि नहीं होगी ।

अन्त में, इस प्रकार की भावना का विकास किया जाना आवश्यक है कि आय में वृद्धि केवल आन्दोलन, उपहारों अथवा सम्पत्तिहरण से नहीं की जा सकती है । आय के वितरण में साम्या के लिए आन्दोलन की आवश्यकता हो सकती है, लेकिन इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उत्पादन में वृद्धि होनी चाहिए । यह वृद्धि राष्ट्रीय या समूहगत आधार पर ही

---

[2] इसी तथ्य की प्रत्यक्षता के कारण इन्दिरा कांग्रेस ने 'गरीबी हटाओ' का नारा लगाया और लोगों की गरीबी के खात्मे को 1971 के निर्वाचनों में अपने चुनाव-कार्यक्रमों का केन्द्रीय भाव बनाया ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

आवश्यक नहीं है, बल्कि व्यक्तिगत और निजी आधार पर भी इसकी आवश्यकता है।

इस दृष्टिकोण से भारत को कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। अब भी सर्वत्र यह धारणा व्याप्त है कि आय एक ऐसी वस्तु है जिसे हम किसी की कृपा के रूप में प्राप्त करते हैं, और इसे कोई ऐसी वस्तु नहीं समझा जाता है जिसका सम्बन्ध कर्त्ता के श्रम, पूँजी, उद्यम, जोखिम अथवा किसी अन्य आर्थिक कारण से हो। लम्बे अर्से का विदेशी शासन, जिसने व्यक्तिगत उपक्रम को हतोत्साहित किया और आय की सुरक्षा की कोई व्यवस्था नहीं की, प्रचलित धर्म, जिन्होंने मानव को प्रकृति और वातावरण का विजेता न बनाकर उसमें इनके प्रति याचक का दृष्टिकोण उत्पन्न किया, सार्वजनिक कार्यों के लिए सरकार पर निर्भर रहने की परम्परा, जिसका मार्क्स ने उल्लेख किया है, और ब्रिटिशों द्वारा अपने शासन के दौरान प्रोत्साहित 'माईबाप' की भावना का विकास—इन सभी कारकों से एक साधारण भारतीय अपने आर्थिक सुधार के लिए अपने बाहुबल का सहारा लेने की बजाय सरकार का मुँह ताकना अधिक श्रेयस्कर समझता है।

इस प्रवृत्ति को हाल ही के भारतीय राजनीतिक इतिहास से और भी अधिक प्रोत्साहन मिला। ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आन्दोलन करने वाले भारतीय नेताओं ने भारत की गरीबी का उत्तरदायित्व सरकार पर थोपा। साथ ही स्वतन्त्रता के पश्चात्, अपनी लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था के अधीन सत्तालोलुप नेताओं ने जनता के वोट बटोरने के लिए सरकारी सहायता के एक-दूसरे से बढ़कर वायदे किये। इस समय देश पूर्व-औद्योगिक समाज से औद्योगिक समाज की दिशा में प्रयाण कर रहा है। इस स्थिति में उसके सम्मुख जो सबसे बड़ी समस्याएँ हैं, उनमें एक समस्या यह प्रवृत्ति है कि लोग अपनी आय-वृद्धि के लिए आन्दोलन का तो सहारा लेते हैं लेकिन वे अधिक परिश्रम करने से मुँह मोड़ते हैं। साथ ही उनमें आर्थिक आत्म-निर्भरता का भी अभाव है। यह समस्या दो कारणों से और भी जटिल हो गई है—देश में भूमि-सुधारों की गति धीमी रही है और सहकारी उत्पादन तथा प्रबन्ध में मजदूरों के योगदान की दिशा में भी उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो सकी है। यह कठिनाई उन प्रत्यक्ष आमदनियों के कारण और बढ़ती जा रही है जो लोगों के कठिन परिश्रम का परिणाम नहीं है।

सिद्धान्ततः समाजवादी समाज के लक्ष्य-निर्धारण से इन प्रवृत्तियों में अपेक्षित सुधार हो जाने चाहिएँ थे, परन्तु वास्तव में समाजवादी समाज की दिल्ली अभी बहुत दूर है। वह अभी विचार की स्थिति में है और वैयक्तिक व्यवहार और जीवन-पद्धति के सम्बन्ध में उसके निहितार्थों का विवेचन नहीं किया गया है। इसके परिणामस्वरूप आय के उपयुक्त वितरण की दिशा में आन्दोलन को तो अवश्य दिशा प्राप्त हुई है, परन्तु इससे आर्थिक विकास के नारे के चारों ओर लोगों को एकत्रित कर इस प्रयोजन के लिए उनकी उत्पादन-क्षमता के पूर्ण उपयोग का प्रयास नहीं किया है।

इस क्षेत्र में भारत के सामने तीसरी कठिनाई जनसंख्या की आशातीत वृद्धि है। आर्थिक विकास के इतिहास में जनसंख्या-वृद्धि एक सामान्य लक्षण हुआ करता था और वस्तुतः आर्थिक वृद्धि में इसका सकारात्मक योगदान रहता था। परन्तु, भारत में स्थिति कुछ भिन्न है। हमारी जनसंख्या पहले ही बहुत अधिक है और हमारे दीर्घकालीन तथा अविच्छिन्न इतिहास के कारण हमारे अप्रयुक्त भूमि संसाधन भी असीम नहीं रहे हैं। दस वर्ष की अवधि में आधे

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्रतिशत की जनसंख्या-वृद्धि से भी भारत की जनसंख्या में दो करोड़ की वृद्धि हो जायेगी। वास्तविक तथ्य यह है कि सन् 1961–71 के वर्तमान जनगणना दशक में हमारी जनसंख्या में लगभग ग्यारह करोड़ की वृद्धि हुई है। वर्तमान जनसंख्या की आर्थिक दशा सुधारने के लिए अपेक्षित काम और निवेश के विपुल साधनों की आवश्यकता है क्योंकि हमारी जनसंख्या बहुत अधिक है और उसका आर्थिक स्तर भी इस समय बहुत गिरा हुआ है। जब हम हरेक दशक में होने वाली जनसंख्या-वृद्धि को ध्यान में रखते हैं, और यह फ्रांस या ग्रेट-ब्रिटेन या जर्मनी की समस्त जनसंख्या के बराबर वृद्धि है, तो आर्थिक विकास की यह समस्या और भी अधिक विकट हो जाती है। अतः जनसंख्या में वृद्धि की इस गति को धीमा करने के लिए सक्रिय प्रयासों की आवश्यकता है।

इस परिस्थिति का एकमात्र अनुकूल लक्षण यह है कि आज देश जनसंख्या की समस्या की गम्भीरता के प्रति पूर्णतः सजग है और यह समझता है कि औद्योगिक समाज के निर्माण के मार्ग में यह एक बहुत बड़ी बाधा है। परिवार नियोजन की आवश्यकता के बारे में सार्वजनिक रूप से मतैक्य है। इसका एक अद्वितीय दृष्टान्त पंजाब विधानसभा में एक विरोधी दल के नेता द्वारा की गई कार्यवाही में दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने सन् 1961 की जनगणना के आँकड़ों के प्रकाशन के पश्चात् एक संकल्प प्रस्तावित कर बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या के बारे में चिन्ता व्यक्त की और सरकार द्वारा जन्म दर को कम करने के लिए किये जा रहे उपायों के बारे में जानकारी प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की। भारत में आर्थिक नियोजन में परिवार नियोजन को एक उच्च प्राथमिकता प्रदान की गई है और जनसाधारण को सन्तति-निग्रह अपनाने के बारे में सुविधाएँ प्रदान करने के लिए पर्याप्त साधन जुटाये जा रहे हैं। हाल ही में हुई जनगणना से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि इसका कुछ प्रभाव अवश्य हुआ है।

तथापि, हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि इन उपायों से ठोस परिणामों की अपेक्षा करने के लिए काफी लम्बे समय की आवश्यकता होती है। इस बीच इस 'जनसंख्या विस्फोट' का हमारे आर्थिक नियोजन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। अतः, उदाहरण के लिए, आर्थिक नियोजन के पहले नौ वर्षों में प्रति व्यक्ति आय में अपेक्षित वृद्धि में जिसके बारे में जनसंख्या-वृद्धि की पिछली योजनाओं के आधार पर यह अनुमान था कि यह 16·5 प्रतिशत होगी, सन् 1961 की जनगणना के आँकड़ों के प्रकाशन पर कमी करनी पड़ी और इसे 10·6 प्रतिशत पर स्थिर रखना पड़ा। सन् 1971 के जनगणना के आँकड़ों के बारे में इस प्रकार का कोई प्रयास अभी तक नहीं किया गया है, परन्तु चौथी योजना के प्रलेख में दिये गये सन् 1981 के प्राक्कलनों में यह अपेक्षा की गई है कि राष्ट्रीय आय अपनी सन् 1968–69 की आधारभूत राष्ट्रीय आय से दुगनी हो जायेगी, परन्तु प्रति व्यक्ति आय में केवल 50 प्रतिशत वृद्धि की ही आशा है, यद्यपि इस अवधि में जन्म दर में पर्याप्त कमी हो जायेगी।

भारत के सामने इस क्षेत्र में एक और कठिनाई यह है कि भारतीय जन-मानस पर कई परम्परागत संस्थाओं और ऐतिहासिक शक्तियों का अभी तक बहुत अधिक प्रभाव है और ये शक्तियाँ और संस्थाएँ हमारे आर्थिक विकास के कार्यक्रमों में तर्क-बुद्धिवाद से काम नहीं चलने देतीं। संक्षेप में, इन शक्तियों को हम जातिवाद, भाषावाद और सम्प्रदायवाद कह सकते हैं। यद्यपि जातिवाद से सम्बन्धित कई परम्परागत आदतें, विधि-निषेध और जीवन रीतियाँ अब प्रायः लुप्त हैं अथवा समाप्त होती जा रही हैं, फिर भी एक ही जाति के सदस्यों के बीच

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

रक्त-सम्बन्ध और विशेष सम्बन्धों की भावनाएँ अब भी विद्यमान हैं । वस्तुतः वयस्क मताधिकार के प्रारम्भ में और हमारे देश में संसदीय लोकतन्त्र के निर्बाध कार्यान्वयन से इन्हें नया जीवन प्राप्त हुआ प्रतीत होता है ।

इसी कारण हम किसी ऐसी व्यवस्था का निर्माण नहीं कर सके हैं जिसका मूलमन्त्र कार्य-कुशलता हो और जिसमें मानव-तत्त्व से अधिकतम लाभ उठाने के लिए आर्थिक प्रेरणाओं का भरपूर उपयोग किया जाए । भाषावाद और प्रादेशिकता से भी इसी प्रकार की तर्क-विहीन स्थिति उपलब्ध होती है जबकि निवेश के प्रतिरूपों के पुनर्विन्यास की माँग पैदावार को अधिक करने अथवा राष्ट्रीय आर्थिक वृद्धि को त्वरित करने के आधार के बजाए अन्य आधारों पर की जाती है । साम्प्रदायिकता एक और तर्कविहीन शक्ति है जिसे बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक दोनों सम्प्रदायों से पोषण प्राप्त होता है । इसी के कारण वह राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न होती है, जिसे आर्थिक वृद्धि के लिए प्रेरक तत्व नहीं समझा जा सकता है ।

यह सही है कि देश के नेता, विशेषकर प्रधानमन्त्री, जातिवाद, भाषावाद और साम्प्रदायिकता की शक्तियों पर लगातार प्रहार कर रहे हैं और बता रहे हैं कि अच्छे समाज में इनके लिए कोई स्थान नहीं है तथा वे आर्थिक विकास के मार्ग में बाधक हैं । परन्तु ये शक्तियाँ मूलभूत हैं और इनके पीछे परम्परा तथा इतिहास का बल है । इन पर विजय प्राप्त करने और इनके स्थान पर ऐसी समान राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करने में काफी समय लगेगा, जो न केवल राजनीतिक, बल्कि आर्थिक क्षेत्र में भी कार्यरत हो ।

यहाँ यह भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि इन जातीय और क्षेत्रीय विषमताओं से सम्बन्धित कई सामाजिक और आर्थिक विषमताएँ हैं, जिन्हें अब भाषा के साथ जोड़ा जा रहा है । भारत संघ के घटक राज्यों का पुनर्गठन भाषायी आधार पर किया गया है । इस समस्या का नैसर्गिक समाधान देश की भावात्मक एकता प्रतीत होता है, जोकि न केवल आर्थिक वृद्धि और राजनीतिक सुरक्षा के भौतिकवादी आधारों पर निर्भर हो, बल्कि इस एकता का संवर्धन करने वाली सांस्कृतिक और परम्परागत शक्तियों पर भी आधारित हो । यदि इन तर्कविहीन भावनाओं को जड़ से उखाड़ा जाना है, तो विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों, और क्षेत्रों में विद्यमान जीवन स्तरों और आर्थिक अवसरों की खाइयों को पाटना आवश्यक होगा । भारत सरकार और योजना आयोग इन विषमताओं से लोहा लेने के लिए कृतसंकल्प हैं, परन्तु उनके कार्यों का उपयुक्त मूल्यांकन नहीं किया जा रहा है । इसका कारण हमारी संसदीय शासन-प्रणाली है, विशेषकर संघीय सन्दर्भ में हमारे संघीय और राज्य विधानमण्डल आर्थिक विषमताएँ दूर करने के सम्बन्ध में भारत सरकार और योजना आयोग के प्रयासों की उतनी सराहना नहीं कर पाते, जितनी उन्हें करनी चाहिए ।

मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भारत इन अवरोधक कारकों द्वारा प्रस्तुत की गई कठिनाइयों पर काबू पा लेगा, परन्तु इसमें समय लगेगा । इस कठिनाई को दूर करने के लिए हमें सार्वजनिक शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देना होगा, उसका विस्तार करना होगा और साथ ही पुनर्गठन भी । इन भावनाओं के संस्थानात्मक और मनोवैज्ञानिक मूलों पर ध्यान देने और उनसे लोहा लेने के लिए एक सक्रिय कार्यक्रम की भी नितान्त आवश्यकता है । अस्तु, इनका अस्तित्व मात्र ही आर्थिक विकास के मार्ग में बाधा है और इसके परिणाम-स्वरूप वृद्धि की दर में कमी आती है और यह तर्क बुद्धिवाद और आर्थिक दृष्टि के विकास को रोकता है ! यह तर्क

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

बुद्धिवाद और आर्थिक दृष्टि ही औद्योगिक समाज की स्थापना के लिए एक आवश्यक तत्त्व है।

चूँकि भारत में आर्थिक विकास अब योजनाबद्ध रीति से हो रहा है और इसमें सरकार को मुख्य भूमिका निभानी है, अतः इसके मार्ग में कई प्रकार के दबाव, तनाव और विरोध आने स्वाभाविक हैं, जिनके कारण एकाग्रचित्त और ससंकल्प होकर विकास के लक्ष्य को प्राप्त करना कठिन हो जाता है। सरकार ने सशस्त्र संघर्ष के दौरान जिस संकल्प-निष्ठा का परिचय दिया था, वही संकल्प-निष्ठा आर्थिक विकास के लक्ष्य की सिद्धि के लिए आवश्यक है। इस समय देश में बेरोजगारी और अपूर्ण रोजगार की समस्या अत्यन्त विकट है। जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि से यह समस्या विकटतर होती जा रही है। इस स्थिति में यह आवश्यक है कि एक लोकप्रिय निर्वाचित सरकार अपने विकास कार्यक्रमों में रोजगार की समस्या को सुलझाने की ओर सबसे ज्यादा ध्यान दे। यदि हम आधुनिक आधार पर इतनी बड़ी जनसंख्या के लिए रोजगार की व्यवस्था करेंगे, तो इसके लिए हमें प्रति मजदूर के हिसाब से भारी रकम लगानी होगी। पर अपनी वर्तमान क्षमता को देखते हुए हम ऐसा नहीं कर सकते। किन्तु हमें भारी पैमाने पर रोजगार का प्रबन्ध तो करना ही है। हाँ, हम प्रति मजदूर रकम कम लगायेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि हम आधुनिक उत्पादन-पद्धतियों का नहीं : परम्परागत उत्पादन पद्धतियों का ही प्रयोग करेंगे। पर, इस तरह से तो उद्योग-प्रधान समाज का निर्माण नहीं होगा।

परन्तु आर्थिक वृद्धि के लिए औद्योगिक समाज का सृजन नितान्त आवश्यक है अतः हमारे निवेश्य संसाधन केवल रोजगार की व्यवस्था करने में ही नहीं खप जाने चाहिएँ। हमें जो रकम लगानी है, वह मशीनरी, बिजली और तकनीकी ज्ञान के रूप में लगानी है और इस तरह से अर्थ-व्यवस्था में एक आधुनिक क्षेत्र का निर्माण करना है। इसका अपरिहार्य परिणाम यह होता है कि अर्थव्यवस्था में दो प्रकार के क्षेत्रों का उदय होता है—एक आधुनिक प्रगतिशील और अत्यधिक उत्पादक, और दूसरा परम्परागत, लकीर का फकीर, पिछड़ा और कम उत्पादकता वाला। इन दो क्षेत्रों के बीच के सम्बन्ध, यथा प्रतियोगिता, समन्वय, आयस्तर, प्रगति दरें, आदि, ऐसी समस्याओं का रूप धारण कर लेती हैं जिनसे आर्थिक वृद्धि के इतिहास में औद्योगिक समाजों के सृजन से भी अधिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

यदि हम बाजार में प्रतिस्पर्धा की खुली छूट दे दें, मजदूरी को कम होने दें और श्रमजीवी सर्वहारा के बहुत बड़े वर्ग का उदय होने दें, तो यह भी इस समस्या से निपटने का एक तरीका हो सकता है। अर्थव्यवस्था के समाजीकरण, आधुनिक और परम्परागत दोनों क्षेत्रों के समग्र उत्पादन के संकलन और सभी के लिए अनिवार्य रोजगार की व्यवस्था और सभी उत्पादनों के लिए खुले बाजार की सुविधा—इन उपायों से भी इस समस्या का समाधान किया जा सकता है। परन्तु भारत की इन दोनों प्रकार के समाधानों में आस्था नहीं है। भारत समझौते को तरजीह देता है, इसकी विचारधारा पूर्वाग्रही और कट्टर न होकर सर्वग्राही विचारधारा है। वह समाजवादी समाज के आदर्श को अंगीकार करेगा, परन्तु इसका सम्बन्ध वह मिश्रित अर्थव्यवस्था से स्थापित करेगा जिसमें कि निजी (गैर-सरकारी) उद्यम की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहेगी। वह उत्पादन के आधुनिक साधनों को स्वीकार करेगा, और अत्यधिक औद्योगिक समाज के घटकों का निर्माण करेगा। इसके साथ ही वह परम्परागत तन्त्र की सहायता करेगा, इसके विस्तार में मदद करेगा और आधुनिक प्रतियोगिता से उसकी पूरी-पूरी

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

रक्षा करने का प्रयास करेगा। एक ओर सार्वजनिक क्षेत्र और दूसरी ओर निजी
यह मिश्र अर्थव्यवस्था, एक कठिन समझौता है, जिसके लिए भारत को उसकी
आकार, संसाधनों की सीमा और स्वतन्त्र समाज के ढाँचे के भीतर आर्थिक वि
श्लाघ्य परन्तु दुष्कर संकल्प द्वारा बाध्य किया जा रहा है।

भारत के सामने शीघ्रता से एक औद्योगिक विशिष्ट वर्ग के सृजन की
और इसका अर्थ है ऐसे वर्ग के लोगों का अस्तित्व में आना, जो कि उद्यमशील,
सजग और उत्पादन बढ़ाने के लिए कृतसंकल्प होंगे। इन लोगों का मन विज्ञ
ढला होगा और वे मशीनों तथा आधुनिक औद्योगिक संयन्त्रों और प्रक्रियाओं के
भारतीय उच्च वर्ग की परम्परा साहित्यिक और शैक्षिक रही है। एक शिक्षित भा
चढ़ाकर मशीनों से उलझना पसन्द नहीं करता है और उच्चतम सफलता का
कोण औद्योगिक क्षेत्र और भौतिक उत्पादन में सफलता की अपेक्षा व्यावसायिक
नौकरी में उच्चतम सफलता पाने का रहा है। अब यदि हमें भारत में औद्योगि
सफलतापूर्वक स्थापना करनी है तो हमें यह दृष्टिकोण बदलना पड़ेगा। यहाँ मै
भी उल्लेख कर दूँ कि पिछले दस वर्षों में हमारे उच्च वर्ग के दृष्टिकोण में प
और इसके फलस्वरूप हमारे देश में औद्योगिक विशिष्ट वर्ग का उदय हो रह
अधिकाधिक संख्या में तकनीकी और वैज्ञानिक शिक्षा की ओर उन्मुख हो रहे हैं
शारीरिक श्रम और अपने हाथ-पाँव चलाने के बारे में संकोच को छोड़ रहे हैं
भारतीय अब औद्योगिक उद्यमों की ओर अग्रसर हो रहे हैं और आहिस्ता-अ
अच्छे और रुचिकर ढंग से पैसा कमाने के लिए वे महाजनी के स्थान पर औ
का कार्य कर रहे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि शीघ्र लाभ की इच्छा अब
है और लागत के प्रति सजगता का विकास अपेक्षाकृत धीमी गति से हो रहा है।
विकास अवश्य हो रहा है और इसके साथ ही हमारे तरुणों में यह चेतना भी बल
रही है कि देश में उत्पादन बढ़े। महत्त्वाकांक्षी भारतीय युवक बड़ी खुशी
आजीविका को अपना रहा है और सरकारी असैनिक सेवाओं तथा वृत्तियों का
पर एकाधिकार समाप्त हो चुका है। इस प्रक्रिया के मार्ग की एकमात्र बाधा
परिवर्तन के प्रेरक कारण ऊँची आयों और अधिक धन की परम्परागत प्रेरणाएँ
विकास हो रहा है, परन्तु आचार्य विनोबा भावे के शब्दों में आध्यात्मिकता का
रहा है। उल्टे, भारत में समाज को आधुनिकता के मार्ग पर अग्रसर होने के
त्मिकता के ह्रास और बढ़ती हुई असमता के रूप में इसकी कीमत चुकानी पड़
इस कीमत को हम चुकाना नहीं चाहते हैं। यह एक ऐसी कीमत है जिसे यदि चु
हम विनाश की ओर उन्मुख होंगे और यह हमारे परम्परानिष्ठ समाज के उन
पर होगा जो हमारे लिए शाश्वत महत्त्व के हैं और हमारे चिरंतन मूल्यों
अभिन्न अंग हैं। भारतीय इतिहास में आधुनिक और औद्योगिक समाज के सबसे
प्रधानमन्त्री श्री नेहरू, ने 'भारत, आज और कल' विषय पर अपने विचारोत्
आजाद स्मारक व्याख्यान में कहा था :

'लेकिन मुझे सिर्फ देश की भौतिक उन्नति की ही चिन्ता नहीं है। मुझे
भी चिन्ता है कि लोगों का चरित्र कैसा है और उनमें कितनी गहराई है

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

लोगों ने औद्योगिक तौर-तरीकों से ताकत हासिल की, तो क्या वे दौलत और आराम की जिन्दगी की तलाश में अपने आपको भुला देंगे ? यह तो बड़े दुःख की बात होगी। भारत ने अतीत में जो कुछ अच्छा समझा है, और आधुनिक काल में भी महात्मा गांधी ने जो मिसाल पेश की है, यह उसका निषेध होगा। शक्ति आवश्यक है, पर ज्ञान तो अनिवार्य है। ज्ञान से युक्त होने पर ही शक्ति अच्छी होती है।'

हममें से आज सभी अधिकारों और विशेषाधिकारों की चर्चा करते हैं और इनकी माँग करते हैं, परन्तु प्राचीन धर्म की शिक्षाएँ कर्तव्यों और आभारों से सम्बन्धित शिक्षाएँ थीं। अधिकार तो कर्तव्यों के अनुचर थे और इनका कभी सम्बन्ध-विच्छेद नहीं था।

आज क्या यह सम्भव हो सकता है कि हम विज्ञान और तकनालोजी की इस प्रगति का मन और आत्मा की प्रगति से समन्वय स्थापित कर सकें ? हम विज्ञान के प्रति विमुख नहीं हो सकते हैं क्योंकि वह आज जीवन के मूलभूत तथ्य का प्रतिनिधित्व करता है। इसके साथ ही हम उन सिद्धान्तों के प्रति भी विमुख नहीं हो सकते हैं जिनकी प्रतिष्ठा के लिए भारत ने युगों से प्रयास किया है। अतः हम औद्योगिक प्रगति के मार्ग का तो दृढ़ता और उत्साह के साथ अनुसरण करें, परन्तु साथ ही यह बात याद रखें कि सहिष्णुता, दया, ज्ञान और बुद्धि के बिना भौतिक समृद्धि मिट्टी के समान है। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि 'शान्ति-संस्थापक धन्य है।' पर इस सबके बावजूद हम यह नहीं जानते हैं कि जब भारत एक पिछड़े समाज से विकसित समाज की संक्रान्ति का युग पूर्ण कर चुका होगा, तब भारत में किस अन्तिम प्रणाली का विकास होगा ?

संक्षेप में, आर्थिक विकास की ओर उन्मुख भारत के समक्ष समस्याएँ उन समस्याओं से कहीं अधिक विकट हैं जिनका सामना विश्व के किसी अन्य विकसित समाज को अपने निर्माण अथवा विकास के समय करना पड़ा हो और यही भारत की चुनौती है—लोकतन्त्र से युक्त विकास की चुनौती, स्थिरता से युक्त प्रगति की चुनौती, हिंसा से विरहित वृद्धि की चुनौती। सम-सामयिक भारतीय इतिहास का यह सबसे उल्लेखनीय लक्ष्य है। मैं नहीं जानता कि इस चुनौती का सामना किस प्रकार किया जायेगा। नॉर्मन ब्राउन ने भारतीय इतिहास के अध्ययन के आधार पर भारत के बारे में जो कुछ कहा है, शायद उसमें हमें इस प्रश्न का समाधान प्राप्त हो सकता है :

'यदि पुराना उपयोगी है, तो वह उसे रख सकता है, क्योंकि यदि पुराना उपयोगी न रहे, तो वह उसे बेझिझक त्याग भी सकता है। उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह हिंसात्मक परिवर्तन के दौर से गुजरे, एक साथ ही अपने अतीत से छुटकारा पा ले और अचानक ही बिल्कुल भिन्न रूप में सामने आये। वह धीरे-धीरे उन्नति कर सकता है। वह आजकल की तरह तेजी से भी अपने कदम बढ़ा सकता है। वह विनाशक अपराध-भावना की अनुभूति के बिना ही, अपने आपको परिस्थितियों के अनुरूप ढाल सकता है। कम से कम मेरा तो यही विचार है।'

हाल ही में एक साथ नक्सलवाद के उदय और निर्वाचकों द्वारा अतिवादी दक्षिणपंथ और वामपंथ की अस्वीकृति से हम आगत के प्रति अनिश्चितता की भावना लेकर रह जाते हैं। परन्तु मुझमें यह विश्वास करने का साहस अवश्य है कि नॉर्मन ब्राउन की वाणी सत्य सिद्ध

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

होगी और भारत अतीत का प्रत्याख्यान किये बिना तथा हिंसा का प्रयोग किये बिना ही
का सामाजिक और आर्थिक कायाकल्प करने में सफल होगा। लेकिन मैं यह स्वीकार कर
कि मेरा यह विश्वास अपने देश के भविष्य में रहस्यात्मक आस्था पर आधारित है, उ
वर्तमान स्थिति तथा भावी सम्भावनाओं के किसी वैज्ञानिक तथा युक्तियुक्त मूल्यांकन पर न

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

श्री लालबहादुर शास्त्री : व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं लोकतंत्र

रामचन्द्र गुप्त

यद्यपि लोकतन्त्र के सम्पूर्ण क्षेत्र को किसी एक परिभाषा में सीमित करना दुष्कर कार्य है, तथापि इसका राजनीतिक आशय समझने के लिए हम कुछ प्रमाणिक परिभाषाओं का आश्रय ले सकते हैं। इसके लिए हम स्वतन्त्रता की दो मान्य परिभाषाएँ उद्धृत करेंगे, क्योंकि लोकतन्त्र स्वतन्त्रता के आदर्श पर आधारित एक राजनीतिक व्यवस्था है। पहली परिभाषा टॉमस पेन की है : 'स्वतन्त्रता उस अधिकार में निहित है जिसमें दूसरों के अधिकारों का विरोध नहीं है।'[1] इसका अर्थ है दूसरों के प्रति सम्मान जिसके अभाव में न्याय सम्भव नहीं। दूसरी परिभाषा प्रोफेसर लास्की की है : 'स्वतन्त्रता का अर्थ स्वयं के प्रति ईमानदारी है, जो कि बुराई का प्रतिरोध करने के साहस में सम्भव है।'[2] पहली परिभाषा उदारवाद (लोकतन्त्र का ही एक नाम) के नकारात्मक पहलू अर्थात् उन स्थितियों पर, जिनमें स्वयं का विकास सम्भव है, बल देती है, जबकि दूसरी परिभाषा इस अर्थ में अधिक सकारात्मक है कि वह व्यक्तित्व के विकास का उत्तरदायित्व व्यक्ति पर ही डालती है। दोनों की परिभाषाओं में समाज की अपेक्षा व्यक्ति पर अधिक बल दिया गया है। उदार लोकतन्त्र की यह धारणा है कि राज्य का उद्देश्य उन परिस्थितियों का निर्माण करना है जिनमें रहकर सभी सदस्य अच्छे जीवन की प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर सकें। अरस्तू का भी यही मत था कि जीवन के लिए राज्य का जन्म हुआ है और अच्छे जीवन की प्राप्ति के लिए इसका अस्तित्व है। इसलिए उदारवाद व्यक्तिवादी एवं बुद्धिवादी है। वह इस धारणा पर आधारित है कि मनुष्य विवेकशील प्राणी है तथा वह पूर्ण स्वतन्त्र स्थिति में ही अपने विवेक का प्रयोग कर सकता है।

यह स्वीकार करते ही कि मनुष्य विवेकशील प्राणी है तथा वह स्वतन्त्र रहकर ही अपने विवेक का पूर्ण उपयोग कर सकता है, यह स्वीकार करना होगा कि विचार स्वातन्त्र्य लोकतन्त्र की आधार शिला है। विचार से कर्म प्रेरित होता है और पर्याप्त कार्य-स्वतन्त्रता के अभाव में किसी प्रकार की उन्नति होना असम्भव है। मिल्टन ने इस स्वतन्त्रता को सर्वाधिक महत्त्व उचित ही प्रदान किया था : 'मुझे जानने, अभिव्यक्ति एवं विवेकानुसार तर्क करने का अधिकार अन्य स्वतन्त्रताओं की अपेक्षा अधिक दीजिये।' विचार तो अपनी प्रकृति से ही स्वतन्त्र है; किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार दूसरों के सन्मुख

---

[1] टॉमस पेन, 'द राइट्स ऑफ मैन'।

[2] एच० जे० लास्की, 'ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स'।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता है। विचार स्वतन्त्रता में वाक्-स्वतन्त्रता, मुद्रण की स्वतन्त्रता तथा भाषण की स्वतन्त्रता भी निहित है।

श्री लालबहादुर शास्त्री भी 'लोकतन्त्र' शब्द से यही अर्थ समझते थे। लोकतन्त्र की रूपरेखा निर्धारित करने वाले महान् पाश्चात्य लेखकों की रचनाओं का अध्ययन चाहे उन्होंने न किया हो, किन्तु वे उनके नाम से परिचित थे। सम्भव है उनके जिज्ञासु मस्तिष्क पर इन विचारकों ने अपने प्रभाव छोड़े हों, किन्तु उन्होंने उनके विचारों को स्पष्ट, परिपुष्ट एवं प्रोत्साहित करने से अधिक कुछ नहीं किया। उनके विचारों में मार्क्स को छोड़कर, लॉक, रूसो, मांटेस्क्यू, बेन्थम, जे० एस० मिल तथा रसेल आदि के विचारों के प्रभाव की झलक मिलती है।

भारतीय दर्शन तथा विचारों से ओत-प्रोत श्री शास्त्री, अपने प्रारम्भिक जीवन से ही विवेकानन्द, रामतीर्थ, अरविन्द घोष, टैगोर, तिलक एवं गाँधी जी के दर्शन की ओर आकृष्ट हो गये थे। उन्होंने उनकी रचनाओं तथा भाषणों का अध्ययन व मनन किया था। काशी विद्यापीठ में डा० भगवानदास, आचार्य नरेन्द्रदेव, डा० सम्पूर्णानन्द, डा० श्रीप्रकाश तथा आचार्य कृपलानी जैसे उदारवादी विचारकों का उन पर प्रभाव पड़ा। इन विभूतियों के संसर्ग एवं सम्पर्क ने उनकी विचारधारा को एक नई दिशा प्रदान कर उन्हें 'लोकतन्त्र' तथा 'स्वतन्त्रता' के गहन तथा व्यापक अर्थ समझने में समर्थ बनाया। इन सबसे अधिक लोकतन्त्र के सम्बन्ध में उनके विचारों तथा आदर्शों को प्रेरणा तथा मूर्त रूप देने का श्रेय, उनके राजनीतिक गुरु, श्री जवाहरलाल नेहरू को है, जिनके वे सदैव आभारी रहे। श्री नेहरू ने ही उनके विचारों को मानवीय अनुभूति प्रदान की और यही कारण है कि उनके उदार विचारों में मानवतावाद की भी झलक मिलती है। श्री नेहरू के प्रति आभार प्रकट करते हुए उन्होंने कहा था :

> 'लोकतन्त्र एवं हमारे देश में उसकी क्रियान्विति वास्तव में एक महान् उपलब्धि है। शासन के एक रूप तथा जीवन की पद्धति के रूप में लोकतन्त्र के प्रति जवाहरलाल जी के प्रेम के कारण हम उनके अत्यधिक ऋणी हैं। हमारी प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराएँ भी इससे पर्याप्त साम्य रखती हैं। मैं भारतीय जीवन के उस प्रमुख गुण का उल्लेख करता हूँ जो मानव व्यक्तित्व के प्रति सम्मान तथा सहिष्णुता की भावना के नाम से जाना जाता है। मुझे विश्वास है कि विश्वास, समझौते तथा सौजन्य के द्वारा ही लोकतन्त्र संचालित हो सकता है। मैं इसी भावना के अनुसार अपने को सौंपे गये पद के कर्तव्यों एवं दायित्वों को पूर्ण करूँगा।'[3]

इस प्रकार से जीवन के प्रति उनके मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण ही उनकी लोकतन्त्र में रुचि जागृत हुई तथा उस प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता के क्रमिक ज्ञान से, जिसका अर्थ पाश्चात्य उपयोगितावादी दर्शन के समान ही जन-कल्याण है, इसका विकास हुआ; किन्तु उनके विचारों को दृढ़ता श्री नेहरू के उदारतावाद द्वारा ही प्राप्त हुई।

प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि लोकतन्त्र शब्द से श्री शास्त्री का निश्चित अर्थ क्या था? वास्तविकता तो यह है कि जीवन की विभिन्न स्थितियों में उनके लिए इस शब्द के अर्थ भी बदलते गये। स्वाधीनता संग्राम की अवधि में उनके लोकतन्त्र का आदर्श भारत के लिए स्वशासन तथा प्रतिनिधि शासन की प्राप्ति के ध्येय से पर्याप्त साम्य रखता था।

---

[3] आकाशवाणी से प्रसारित राष्ट्र के नाम सन्देश, 11 जून, 1964।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

इसका अर्थ विदेशी आधिपत्य से मुक्ति तथा सच्चे प्रतिनिधि-शासन की स्थापना था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त उनकी लोकतन्त्र की परिकल्पना में आमूल परिवर्तन आ गया। तब, उनके अनुसार इसका अर्थ केवल स्वशासन तथा प्रतिनिधि-शासन की स्थापना नहीं, अपितु व्यक्तिगत तथा समष्टिगत अनुशासन के साथ-साथ सामाजिक एवं आर्थिक समानता से था। इसके बाद जब वे प्रधानमन्त्री बने तथा उन्हें नाजुक अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का सामना करना पड़ा, तब लोकतन्त्र से उनका तात्पर्य सर्वत्र सद्भावना एवं सौहार्द की प्राप्ति तथा शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति से था। कभी-कभी उनकी लोकतन्त्र की धारणा पर्याप्त व्यापक अर्थ रखती थी जैसा कि उनके निम्न वक्तव्य से स्पष्ट है :

> 'हमें लोकतन्त्र से प्रेम है। हमारे देश में व्यापक वयस्क मताधिकार की व्यवस्था है। हमारे देश में तीन आम चुनाव सम्पन्न हो चुके हैं और मैं कहना चाहूँगा कि वे सम्भवत: विश्व के सबसे बड़े चुनाव थे, जिनमें लाखों लोगों ने अपने मताधिकार का उपयोग किया। ये निर्वाचन शान्तिपूर्वक हुए। इससे यह सिद्ध हो गया कि भारत में लोकतन्त्र की जड़ें गहरी हैं। हमारा उद्देश्य लोकतन्त्र तथा अर्थव्यवस्था में आमूल परिवर्तन है, ताकि हम राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकें। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में हम शान्ति तथा नि:शस्त्रीकरण के समर्थक हैं। मैं जानता हूँ कि फ्रांस भी इन उद्देश्यों में विश्वास रखता है। दोनों देशों को मिलकर इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करना है। यह आवश्यक है कि विभिन्न सिद्धान्तों में विश्वास रखने वाले देश भी मिलकर जीवित रहें। यही कारण है कि हम शान्ति-पूर्ण सह-अस्तित्व की भावना पर अत्यधिक बल देते हैं। यह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है कि परम्परागत शस्त्रों में कमी की जाये तथा पूर्ण नि:शस्त्रीकरण के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार व इसके लिए भरसक प्रयास किये जाएँ। इससे भी अधिक आवश्यकता इस बात की है कि आणविक शस्त्रों की दौड़ समाप्त हो तथा इनके बहिष्कार के लिए यथासम्भव प्रयत्न किये जाएँ। यदि मानवता तथा सभ्यता को जीवित रखना है तो यह अत्यन्त आवश्यक है।'[4]

श्री शास्त्री ने लोकतन्त्र की उस प्रकार की कोई परिभाषा नहीं दी, जिस प्रकार की श्री नेहरू ने दी अथवा अन्य विद्वज्जन एवं राजनीतिज्ञ दिया करते हैं। लोकतन्त्र पर उनके किसी सुनिश्चित वक्तव्य के अभाव में हमें उनके दृष्टिकोण को समझने के लिए संसद तथा जनता के सन्मुख दिये गये भाषणों एवं आकस्मिक उक्तियों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। सत्य तो यह है कि वे लोकतन्त्र की परम्परागत तथा घिसी-पिटी परिभाषाओं से सन्तुष्ट नहीं थे। उनके अनुसार लोकतन्त्र में बहुत से अर्थ निहित हैं, परन्तु जीवन में सर्वाधिक महत्त्व उन्होंने व्यक्ति-गत स्वतन्त्रता को ही प्रदान किया।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के रूप में लोकतन्त्र

श्री शास्त्री के मतानुसार लोकतन्त्र केवल जन-प्रतिनिधित्व तथा सम्पत्ति के समान

---

[4] 8 फरवरी, 1965 को नई दिल्ली, राष्ट्रपति भवन में फ्रांस के प्रधानमन्त्री मोशियो पॉम्पीदू के सम्मान में आयोजित एक भोज के अवसर पर दिये गये श्री शास्त्री के अभिभाषण से उद्धृत।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

वितरण पर आधारित समाजवादी समाज ही नहीं है, अपितु इससे अधिक वह मस्तिष्क से सम्बन्धित है, क्योंकि अन्ततः प्रत्येक वस्तु का सम्बन्ध मस्तिष्क से ही होता है। उनके अनुसार इसमें सबके लिए राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में यथासम्भव समान अवसर की प्राप्ति, प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपनी क्षमता तथा योग्यता के पूर्ण विकास की स्वतन्त्रता, अपने से भिन्न विचार का सम्मान, सामाजिक कल्याण के लिए विभिन्न हितों के सामंजस्य के अतिरिक्त दूसरों के व्यक्तिगत कार्यों में अहस्तक्षेप भी सम्मिलित है। इन सबसे अधिक उनके अनुसार लोकतन्त्र में सत्यान्वेषण भी निहित है। संक्षेप में यह वह राज्य अथवा समाज है जिसमें मानवीय मूल्यों की उपलब्धि एवं व्यक्तित्व के रचनात्मक विकास की स्वतन्त्रता है। विस्तृत अर्थों में, लोकतन्त्र स्थिर न होकर गतिशील है और जैसे-जैसे इसमें परिवर्तन होता जाता है इसका क्षेत्र भी विस्तृत होता जाता है।

श्री शास्त्री जी की धारणा थी कि लोकतंत्रीय समाज का उद्देश्य व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए परिस्थितियाँ उपलब्ध कराना है, किन्तु उन्होंने देखा कि तथाकथित आधुनिक समाज में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता असंख्य प्रकार की निरंकुशता तथा बन्धनों से सीमित है। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि आज भी व्यक्ति अपना जीवन कृत्रिम एवं रूढ़िग्रस्त समाज में व्यतीत कर रहा है तथा उसके विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ शनैः शनैः संकुचित होती जा रही हैं। हमारी वैज्ञानिक और आर्थिक उन्नति तथा आधुनिक प्रयोग के पश्चात् भी व्यक्ति आर्थिक असुरक्षा तथा सामाजिक विषमता की भावना से त्रस्त है। वह सदैव एक ऐसे समूह से घिरा रहता है जो उसके निर्णय को नियंत्रित करता है तथा जो उसके व्यक्तित्व तथा नेतृत्व को अशक्त करता है। जब व्यक्ति समूह में हो तब हम उसके अन्तर के शुभ को आकर्षित नहीं कर सकते। उस समय वह अपना विवेक खो बैठता है तथा गुंडागर्दी एवं अनुत्तरदायित्व की भावना से प्रभावित हो जाता है। श्री नेहरू के समान ही उनका भी विचार था कि जब तक व्यक्ति समूह के प्रभाव से मुक्त रहकर स्वयं के लिए विचार करने का समय नहीं निकाल पाता तब तक वह अपने जीवन तथा व्यक्तित्व की सर्वांगीण उन्नति नहीं कर सकता, जिसके अभाव में वह समाज तथा राजनीतिक व्यवस्था का उपांग मात्र रह जाएगा।

श्री शास्त्री में बौद्धिक दृष्टि से इतनी विलक्षणता तो नहीं थी और न ही श्री नेहरू के समान उन्हें ऐतिहासिक प्रक्रिया का इतना अधिक ज्ञान था, किन्तु स्वभाव से संवेदनशील होने एवं वर्षों तक प्रतिकूल परिस्थितियों में रहने के कारण वे मानव मन में झाँक सकते थे, उसकी विपत्तियों व दुर्भाग्य को समझ सकते थे तथा स्वतंत्रता एवं सुरक्षा के लिए उसकी ललक अनुभव कर सकते थे। उन्होंने भारतीय जनता के एक बहुत बड़े भाग को अभाव, दरिद्रता तथा सामाजिक विषमता से जूझते हुए देखा था। उन्होंने स्वयं भयंकर निर्धनता में जीवन व्यतीत किया था। वे जानते थे कि किसी व्यक्ति के लिए साधनहीन होना कितना कष्टदायक तथा अपमानजनक होता है। कई वर्षों तक कृषकों एवं श्रमिकों के मध्य रहने के कारण वे सामाजिक विषमता तथा अन्तर्बाधाओं के उन विकृत परिणामों से परिचित थे जिनमें भारत का निम्न वर्ग कराह रहा था। यह सत्य है कि लोकतंत्र अथवा समाजवाद से सम्बन्धित उनके विचारों का मूर्त रूप भारत में ही प्राप्त हुआ, फिर भी वे अपनी दूरदर्शिता से वर्तमान समय में मनुष्य के सन्मुख आने वाली समस्त बाधाओं को भली-भाँति समझ सकते थे।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

श्री शास्त्री एक ऐसे व्यापक सामाजिक दर्शन के निर्माण की आवश्यकता अनुभव करते थे, जिसमें मानवीय विचार तथा प्रयत्नों के वास्तविक एवं उदार पक्षों का पूर्ण संकलन हो।[5] गरीबी एवं दरिद्रता में रहने वाले लोगों की निन्दा करना एक अमानवीय कार्य है तथा ऐसा दर्शन जो सामाजिक तथा आर्थिक असमानता एवं समाज में शोषण की अनुमति देता है, वास्तव में दर्शन ही नहीं है। ऐसे दर्शन का श्री शास्त्री के अनुसार लोकतांत्रिक समाज में कोई स्थान ही नहीं। स्वतन्त्रता के अभाव में लोकतंत्र का अस्तित्व ही नहीं। उनके अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ उस वातावरण की प्राप्ति है जिसमें मनुष्य को अपने पूर्ण विकास के लिए अवसर प्राप्त हो, किन्तु सहिष्णुता की भावना के अभाव में विचार या विवेक की स्वतन्त्रता असम्भव है।

यह सहिष्णुता की ही भावना थी जिसने प्राचीन युग से लेकर आज तक समस्त उतार चढ़ाव के उपरान्त भी भारतीय संस्कृति को जीवित रखा। राजनीतिक लोकतंत्र व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का और इसके माध्यम से सहिष्णुता की भावना को प्राप्त करने एवं सुरक्षित रखने का प्रभावशाली साधन है। श्री शास्त्री ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा लोकतन्त्र की महत्ता पर दृढ़तापूर्वक बल देते हुए उन्हें अन्योन्याश्रित बताया और कहा कि उनसे भौतिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक उच्च लाभांश की प्राप्ति के कारण भारत ने लोकतन्त्र को चुना है। उन्होंने अनुभव किया था कि, अन्तिम रूप में, हमारी जनता एवं देश के लिए लोकतांत्रिक व्यवस्था ही उत्तम है तथा यह हमारी प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा के अनुरूप भी है। स्वतन्त्र भारत के संविधान में बौद्धिक स्वतन्त्रता की अपनी दीर्घ परम्परा के साथ ही साथ पाश्चात्य लोकतांत्रिक विचार की भी अभिव्यंजना हुई है।

श्री शास्त्री का मत था कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता राष्ट्र के लिए आवश्यक है तो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता व्यक्ति के लिए। प्रत्येक प्रकार के नियन्त्रण तथा प्रतिबन्ध विकास और उन्नति के मार्ग में बाधक हैं तथा वे आर्थिक अव्यवस्था के अतिरिक्त राष्ट्र तथा व्यक्ति दोनों में विकृति उत्पन्न कर देते हैं। अतः दोनों के लिए स्वतन्त्रता अनिवार्य है।

किन्तु वे व्यक्ति की उस स्वतन्त्रता के समर्थक नहीं थे जो उसे प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त थी। वे राज्य अथवा समाज के अभाव में किसी स्वतन्त्रता की कल्पना नहीं कर सकते थे। वे हॉब्स अथवा बेन्थम के विचारों से सहमत नहीं थे जिन्होंने व्यक्ति को स्वार्थी और अहंकारी माना। वे तो अरस्तू के समान व्यक्ति को सामाजिक तथा राजनीतिक प्राणी मानते थे। अतः श्री शास्त्री के मतानुसार व्यक्तिगत कल्याण समाज-विरोधी नहीं हो सकता। या तो यह सामाजिक कल्याण है अथवा कल्याण ही नहीं, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि अपने किसी काल्पनिक कल्याण अथवा समाज के कुछ प्रमुख वर्गों के हित के लिए राज्य अथवा समाज को व्यक्ति के शोषण का अधिकार प्राप्त है। श्री शास्त्री का आशय था कि व्यक्तिगत हित तथा राज्य अथवा समाज के हितों में कोई विरोधाभास नहीं है। लोकतन्त्र की समस्या ही यह है कि व्यक्तिगत हित तथा सामाजिक हित में संतुलन स्थापित कैसे किया जाए। उनके अनुसार केवल लोकतांत्रिक व्यवस्था में ही दोनों में अधिक से अधिक सामंजस्य स्थापित

---

[5] 'लालबहादुर शास्त्री : व्यक्ति और उसके विचार' में 'सामाजिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान की आवश्यकता' पर श्री शास्त्री के लेख से, 1959।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

किया जा सकता है। लोकतन्त्र में ही मानवीय मूल्यों, अर्थात् विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म, आराधना, समुदाय बनाने तथा कार्य की स्वतन्त्रता एवम् अच्छे जीवन की प्राप्ति सम्भव है। सत्तावादी व्यवस्था में व्यक्ति की उन्नति तथा विकास के लिए कोई अवसर नहीं होते हैं। फासीवाद तथा नाजीवाद ने राज्य एवम् समाज के प्रति अंध श्रद्धा से मनुष्य को सन्तोष प्रदान किया, व्यक्ति की सामर्थ्य तथा योग्यता के माध्यम से नहीं। वह राजनीतिक व्यवस्था जो मानव की स्वतन्त्र चेतना को कुचलती हैं, पूर्ण नहीं है। अतः यदि भारत प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति करना चाहता है तो यह व्यवस्था उसके लिए अनुपयुक्त है।

श्री शास्त्री के अनुसार सहिष्णुता, स्वतन्त्रता तथा मानव के प्रति सम्मान की भावना के कारण ही भारत ने लोकतंत्र को स्वीकार किया है। हमने व्यावहारिक दर्शन स्वीकार कर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रयोग तथा बुद्धिवाद को प्रोत्साहन दिया। भारत ने किसी ऐसी नीति को स्वीकार नहीं किया जो जनसाधारण की रचनात्मक योग्यता को अवरुद्ध करके देश के विकास को ही उलझा दे। उन्होंने मानवतावाद तथा बुद्धिवादी दर्शन का तथा इसके माध्यम से लोकतन्त्र का दृढ़तापूर्वक समर्थन किया। उन्होंने घोषणा की :

> 'हमें स्वयं के लिए प्रयोग, परीक्षण एवम् सत्यान्वेषण की क्षमता नहीं खोना है। सत्य न तो वंशगत है और न सत्ता द्वारा निर्धारित कोई वस्तु है। विज्ञान सत्ता के अस्तित्व को ही अस्वीकृत करता है। कोई भी वैज्ञानिक अन्य किसी वैज्ञानिक को उद्धृत करके किसी सिद्धान्त का समर्थन नहीं करता। गेलिलियो, न्यूटन, आइन्स्टाइन तथा अब नरलीकर ने अपने पूर्ववर्ती वैज्ञानिकों के सिद्धान्तों में परिवर्तन कर दिये। विज्ञान तो क्रांतिकारी है। उसी प्रकार लोकतन्त्र भी है। राजनीति को प्रभावित करने वाले नारे तथा हमारे दैनिक जीवन को आवृत करने वाले अन्धविश्वास केवल तब ही तितर-बितर किये जा सकते हैं जब हमारा भी जवाहरलाल जी के समान ही जीवन के प्रति वैज्ञानिक एवम् विवेकपूर्ण दृष्टिकोण हो।'

इसके साथ ही साथ हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि मानवीय मूल्यों से पृथक् होकर विज्ञान और बुद्धिवाद यहाँ तक कि लोकतन्त्र भी, अणुबम के प्रतीक रूप में निर्मम दक्षता का ही सृजन कर सकते हैं। उन्होंने कहा था : 'विज्ञान के महान् पथ को आध्यात्मिकता से संयमित रखना चाहिये—मानवतावाद तथा वैज्ञानिक भावना हमारे हृदय को सम्पन्न, मस्तिष्क को परिष्कृत एवं कर्म की ओर प्रेरित करे।'[6]

श्री शास्त्री जी का वक्तव्य यह प्रकट करता है कि उन्होंने बुद्धिवाद एवम् विज्ञान का सर्वोपरि मूल्यांकन किया। दोनों जीवन के प्रति उदार हैं। वे क्रांतिकारिता तथा सत्य की खोज में निरन्तर प्रयत्नशील हैं। लोकतन्त्र का भी जीवन तथा वस्तुओं के प्रति दृष्टिकोण विवेकपूर्ण एवम् वैज्ञानिक है। इसे रूढ़िवादिता, शोषण तथा शक्ति के विरुद्ध एक अहिंसक युद्ध प्रारम्भ करना चाहिए। वैज्ञानिक भावना से पृथक् होकर लोकतन्त्र निरंकुशतन्त्र में परिणत होकर सत्तावादी हो जाता है। इसलिए श्री शास्त्री ने कहा था कि मानवता की भावना द्वारा हर सम्भव विकृति से इसकी रक्षा की जानी चाहिए।

आधुनिक लोकतांत्रिक राज्य को प्रायः व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक

---

[6] 14 नवम्बर, 1964 को श्री जवाहरलाल नेहरू पर श्री शास्त्री का भाषण।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

व्यवस्था के सम्बन्ध को निश्चित करने की समस्या का सामना करना पड़ता है। इस बारे में श्री शास्त्री का मत था कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा राज्य की सुरक्षा में किंचित संघर्ष होना अनिवार्य भी है।[7] व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिये उनके हृदय में अत्यधिक सम्मान था तथा वे जन्म से नये एवं उन्मुक्त मार्ग के समर्थक थे। वे केन्द्रीयकरण की सर्वव्यापी प्रवृत्ति के उपरान्त भी व्यक्ति की सुरक्षा पर बल देते थे। आधुनिक लोकतन्त्रीय व्यवस्था में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पूर्ण रूप से आवश्यक है तथा उनका मत था कि मानवीय मूल्यों की प्राप्ति की स्वतन्त्रता के अभाव में लोकतन्त्र का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा, किन्तु वे स्वतन्त्रता के नाम पर उन अनुचित कार्यों के करने की, जिनसे राज्य के संगठन तथा सुरक्षा को क्षति पहुँचती हो, भर्त्सना करते थे। उनके अनुसार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा राज्य के कानून में कोई विरोध अथवा असंगति नहीं होना चाहिये। उन्होंने कहा था : 'हमारी लोकतन्त्रीय व्यवस्था व्यक्ति को स्वतन्त्रता देती है, किन्तु यह स्वतन्त्रता सुव्यवस्थित समाज के हित में अनेक ऐच्छिक प्रतिबन्धों से युक्त है।'

राज्य एक विशेष ध्येय प्राप्ति का साधन है। वह ध्येय व्यक्ति के अन्तिम उद्देश्य अर्थात् कल्याण की प्राप्ति है। यदि कोई व्यक्ति अपनी रक्षा के लिए दूसरों की स्वतन्त्रता को संकट में डालता है तो उसकी स्वयं की स्वतंत्रता तब तक सीमित हो जानी चाहिए जब तक वह भली-भांति यह अनुभव न कर ले कि उसका सच्चा हित दूसरों के हितों का पूर्ण सम्मान करके ही प्राप्त हो सकता है। इसका अर्थ नागरिकों के कार्य-कलापों का नियन्त्रण एवम् संतुलन करना है। फिर, जहाँ समाज में विभिन्न दृष्टिकोणों से एक ही ध्येय की प्राप्ति के लिए विभिन्न अधिकरण कार्य करते हों, वहाँ किसी पर अधिक तथा किसी पर कम महत्त्व देने की अपेक्षा सबको संतुलित एवम् सुव्यवस्थित उन्नति के लिए आश्वासन देने की व्यवस्था होनी चाहिए, किन्तु सुव्यवस्था का अर्थ नागरिकों और उनके ऐच्छिक समुदायों का दमन या उन्मूलन नहीं है। श्री शास्त्री के अनुसार एक स्वस्थ तथा विकासशील समाज के लिए, जो कि निश्चित ही लोकतन्त्रीय समाज है, केन्द्रीय नियन्त्रण तथा व्यक्ति व समुदाय की स्वतन्त्रता आवश्यक है। उनका दृष्टिकोण रसेल के समान था। रसेल ने अपनी पुस्तक 'सत्ता तथा व्यक्ति' (द अथॉरिटी एंड द इंडीविजुअल) में लिखा है 'नियंत्रण के अभाव में अराजकता तथा उपक्रमण के अभाव में निश्चलता रहती है।' श्री नेहरू ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया था 'आधुनिक समाज में व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के साथ ही साथ केन्द्रीकरण तथा सत्ता से हमारी मुक्ति संभव भी नहीं। दोनों में संतुलन कैसे स्थापित हो ?'[8]

श्री शास्त्री न तो अराजकतावादी थे और न आदर्शवादी। उन्होंने इन दोनों की परा-काष्ठाओं से बचकर मध्यम मार्ग ग्रहण किया। उन्होंने दोनों के मध्य एक प्रभावशाली सन्तुलन स्थापित कर भारतीय प्रशासन के लिए एक लक्ष्य निर्धारित किया, जिसके लिए आदर्श लोक-तांत्रिक राज्य को प्रयास करना है। इसी संदर्भ में श्री शास्त्री जी ने लोकतंत्र की व्यक्ति तथा समाज के निश्चित व्यवहार के रूप में भी ऐसी परिभाषा दी थी, जिसे हम व्यक्तिगत तथा

---

[7] लोकमान्य तिलक पर श्री शास्त्री का लेख जो 'लालबहादुर शास्त्री : व्यक्ति एवम् उनके विचार' में छपा है।

[8] नार्मन कजिन्स, 'टॉक्स विद् नेहरू', 1951; विक्टर गोलांवज लन्दन, पृ० 23-24।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सामाजिक अनुशासन कह सकते हैं ।

व्यक्तिगत तथा सामाजिक अनुशासन

केवल लोकतांत्रिक ढांचे की प्राप्ति होना पर्याप्त नहीं है । राजनीतिक ढांचा लोकतंत्र के आदर्शों की प्राप्ति का साधन मात्र है । आर्थिक प्रगति का नाम लोकतंत्र नहीं है । ये लोकतन्त्र के आवश्यक तत्त्व तो हैं, किंतु इन्हें लोकतंत्र नहीं कहा जा सकता । जनसाधारण में, उनकी शिक्षा में, उनकी जीवन पद्धति में, उनके विचारों तथा आचरण में, लोकतंत्र की पृष्ठभूमि तथा आधार होने चाहिएँ । यह अनिवार्यतः जीवन के नैतिक स्तर एवम् मूल्यों की एक योजना है । किसी व्यक्ति तथा वर्ग के कार्य तथा विचार पर ही यह निर्भर करता है कि वह लोकतंत्रवादी है अथवा नहीं । राजनीतिक तथा अन्य समस्याओं तक पहुँचने की एक निश्चित पद्धति को लोकतंत्र कहा जा सकता है, दूसरी को नहीं । लोकतंत्र में लोगों को 'एक ओर भौतिक मूल्य तथा दूसरी ओर आध्यात्मिक एवम् नैतिक मूल्यों में संतुलन बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए । इस प्रकार का संतुलन हमारे समाज को जीवित रखेगा, तथा मुझे विश्वास है कि न केवल हमारे देश के लिए अपितु संपूर्ण मानवता के लिए सहायक होगा ।'[9] श्री शास्त्री के अनुसार एक लोकतंत्रवादी वही हो सकता है जो सभी प्रकार की समस्याओं का हल लोकोपकारी, उदार तथा विशाल दृष्टिकोण से करता है । इस प्रकार से उन्होंने मानवीय बिचारधारा तथा व्यवहार को एक नैतिक पुट दे दिया ।

श्री शास्त्री को लोकतंत्र से अनन्य प्रेम था । उन्होंने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्थन किया, किंतु इसके साथ यह भी स्वीकार किया कि स्वतन्त्रता के साथ-साथ अनुशासन आवश्यक है । लोकतंत्र से जनता में स्वतन्त्रता तथा अनुशासन दोनों का विकास होना चाहिए । कुछ लोगों तथा युवा पीढ़ी का रक्त गर्म होता है तथा उनमें सत्ता को अस्वीकार करने तथा शांति भंग करने की सहज प्रवृत्ति होती है । श्री शास्त्री के मतानुसार यह आवेग पूर्णरूप से स्वाभाविक है तथा इसका मनोवैज्ञानिक आधार है । यह 'विकास प्रक्रिया का अंग है, किन्तु साथ-साथ उत्तरदायित्व की भावना का विकास भी होना आवश्यक है ।' प्रकृति के अनुसार क्रांति पहले और उत्तरदायित्व बाद में आता है । दोनों ही मनुष्य में इतने अधिक सुव्यवस्थित होने चाहिएँ कि उसे संतुलित व उत्तरदायी नागरिक बना दें । लोकतंत्र में नागरिक को आत्म-अनुशासन विकसित करना चाहिए । आरोपित अनुशासन जितना कम होगा तथा आत्म-अनुशासन जितना अधिक होगा, लोकतंत्र का विकास उतना ही अधिक होगा । श्री शास्त्री के अनुसार लोकतंत्र की भावना का अर्थ ही आत्म-अनुशासन की भावना है ।

आत्म-अनुशासन का अर्थ है कि तर्क, विवाद तथा बहुमत की सहमति से जो भी बात स्वीकार कर ली जायें उसे अल्पमत भी सहमति के साथ स्वीकार करे । अल्पमत को असहमत होने तथा बहुमत के निर्णय को चुनौती देने का अधिकार है, किंतु शान्तिपूर्ण तथा लोकतंत्रीय पद्धति से ही । लोकतंत्र रक्तपात तथा उग्र पद्धतियों में विश्वास नहीं करता । यह मुख्यतः 'अपनी जनता के सहयोगपूर्ण प्रयत्नों द्वारा ही' अपने उद्देश्य प्राप्त करता है । इसका अर्थ यह हुआ कि लोकतंत्र में उच्चस्तर के मनुष्य आवश्यक हैं ।

---

[9] 'स्पीचेज ऑफ प्राइम मिनिस्टर लालबहादुर शास्त्री', नई दिल्ली, पृ० 94 ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

श्री शास्त्री की लोकतंत्र की व्याख्या की जड़ें भारत की दार्शनिक एवम् धार्मिक परम्पराओं पर टिकी थीं। भारतीय दर्शन तथा धर्म सदैव ही व्यक्ति तथा समूह के कर्तव्यों पर बल देता है, अधिकारों पर नहीं। हिंदुओं के धर्मग्रंथों में विभिन्न जातियों के धर्म, कार्यों तथा कर्तव्यों की लम्बी सूचियाँ दी गई हैं, किंतु उनमें से किसी में भी अधिकारों की सूची नहीं है। इस प्रकार से सामाजिक दायित्वों के कार्य तथा समूह का आत्मअनुशासन भारतीय विचारधारा की सुपरिचित धारणा है।

श्री शास्त्री के लोकतंत्र सम्बन्धी विचारों में उपर्युक्त दोनों धारणाएँ स्पष्ट हैं। बहुत से अवसरों पर उन्होंने अपने देशवासियों को विशेषकर भारत की नई पीढ़ी को, समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व समझने की एवं नये सामाजिक दायित्वों के अनुकूल अपने व्यवहार को मोड़ने की सलाह दी। उनकी इच्छा थी कि वे लोग भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार कार्य करें जो मानवीय व्यक्तित्व के लिए सम्मान तथा सहनशीलता की भावना के लिए आवश्यक थी।

सहनशीलता तथा शांतिपूर्ण तरीकों के सम्बन्ध में गाँधीजी व नेहरूजी के उपदेशों से श्री शास्त्री जी अत्यधिक प्रभावित थे। उन्होंने उनके प्रमुख सिद्धान्त—साध्य व साधन संयुक्त होना चाहिए तथा अनैतिक साधन श्रेष्ठतम लक्ष्यों को भ्रष्ट कर देता है—के असंख्य सन्दर्भ दिये थे। केवल अहिंसक साधनों से ही सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के ध्येय प्राप्त किये जा सकते हैं। गाँधीजी व नेहरू जी के श्री शास्त्री अत्यधिक आभारी थे तथा नवभारत के निर्माण में उनके महान योगदान को प्रायः स्मरण किया करते थे 'हमारे दिवंगत नेता की स्मृति अभी ताजा है। उनके साथ उस महान् युग का अन्त हो गया जिसे गाँधीजी ने प्रारम्भ किया था तथा जवाहरलाल नेहरू ने सुदृढ़ किया था।'[10]

श्री शास्त्री प्रायः देश के नवयुवकों तथा नवयुवतियों को स्मरण कराते थे : 'आज जिन बहुत से मूल्यों का अस्तित्व वे मानकर चलते हैं वे जवाहरलाल जी तथा गाँधीजी द्वारा राष्ट्र को विरासत में प्राप्त हैं।'[11] अपने गुरुओं के समान वे भी जटिल तथा क्रान्तिकारी समस्याओं को शांतिपूर्ण पद्धतियों से सुलझाने के महत्त्व को स्वीकार करते थे, इन पद्धतियों की अस्वीकृति वे व्यक्तिगत तथा सामाजिक अनुशासन की अस्वीकृति मानते थे, जो उनके अनुसार लोकतन्त्र के लिये आवश्यक है।

---

10 आकाशवाणी से राष्ट्र के नाम प्रसारित सन्देश, 11 जून, 1964।

11 आकाशवाणी से राष्ट्र के नाम प्रसारित सन्देश, 14 नवम्बर, 1964।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्राचीन भारत में नागरिकों के अधिकार

निर्मला उपाध्याय

प्राचीन भारतीय राज्य का उद्देश्य जनता की सर्वांगीण उन्नति करना था, इसके लिए वह प्रतिरक्षा, आन्तरिक व्यवस्था तथा न्याय प्रशासन के कार्य के अतिरिक्त आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं परोपकारी कार्य भी सम्पादित करता था। नागरिकों की उन्नति के लिए जिस प्रकार राज्य के अनेक कार्य विहित थे उसी प्रकार राज्य के अस्तित्व एवं स्थिरता के लिए यह अपेक्षित था कि नागरिक अपने कर्तव्यों का पालन करें।

क्या प्राचीन भारत में नागरिकों के अधिकारों का विवेचन हुआ है ? इस विषय में भिन्न-भिन्न विद्वानों की भिन्न-भिन्न राय है। डा० अनन्त सदाशिव अल्तेकर का कथन है कि प्राचीन भारतीय विचारकों ने साधारणत: नागरिकों के अधिकारों का उल्लेख नहीं किया है, परन्तु राज्य के कर्त्तव्यों का विवेचन किया है और हम राज्य के कर्त्तव्यों के आधार पर ही प्राचीन भारतीय नागरिक के अधिकारों की कल्पना कर सकते हैं।[1] परन्तु इस सम्बन्ध में श्री उपेन्द्रनाथ घोषाल ने यह स्पष्टीकरण दिया है कि धर्मसूत्रों में प्रथम बार उच्चवर्गीय व्यक्तियों के अधिकारों से सम्बन्धित उल्लेख मिलते हैं।[2]

यदि सूक्ष्म अध्ययन किया जाए तो यह स्पष्ट है कि यद्यपि कौटिल्य अर्थशास्त्र में नागरिकों के अधिकारों का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है, परन्तु इतर साहित्य भी इन उल्लेखों से शून्य नहीं है। सामान्यत: सभी विचारकों ने प्रजारंजन और प्रजापालन शासक का कर्त्तव्य बतलाया है। प्रजारंजन और प्रजापालन के कर्त्तव्य इतने विस्तृत थे कि राज्य को इसके निमित्त विविध कार्य करने पड़ते थे और इनमें ही नागरिकों के अधिकार प्रच्छन्न रूप से निहित थे।

नागरिकता-सम्पन्न व्यक्ति को नागरिक कहा जाता है। प्राचीन भारत में नागरिकता किस प्रकार प्राप्त होती थी, इसकी हमें बहुत कम जानकारी है। इस क्षेत्र में श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दू राजतन्त्र' में सराहनीय कार्य किया है। उन्होंने पाणिनी के कुछ सूत्रों के आधार पर नागरिकता प्राप्ति के निम्नलिखित नियम बतलाये हैं :[3]

(1) व्यक्ति को अपने जन्मस्थान के आधार पर नागरिकता मिलती थी।[4]

---

[1] अ० स० अल्तेकर, 'प्राचीन भारतीय शासन पद्धति', पृ० 54।

[2] उ० ना० घोषाल, 'ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दू पोलिटिकल आइडियाज', पृ० 53।

[3] जायसवाल, 'हिन्दू राजतन्त्र', भाग 1, पृ० 162–3।

[4] अष्टाध्यायी, 4.3.90, अभिजनंच।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

(2) किसी राज्य की भूमि पर निवास करने पर भी नागरिकता प्राप्त होती थी।[5] निवास की अवधि कितनी थी इसकी हमें कोई जानकारी नहीं मिलती।

(3) किसी शासक या जानपद के अधिकारी वर्ग या देश के प्रति भक्ति या निष्ठा रखना भी नागरिकता-प्राप्ति का एक आधार था।[6] मद (गणराज्य) का भक्त मदक कहलायेगा और वृजी के प्रति भक्ति रखने वाला वृजिक कहा जाएगा। यहाँ भक्ति का अभिप्राय राजभक्ति से है।[7]

इन उद्धरणों से यह सूचित होता है कि प्राचीन भारत में विदेशियों को भी नागरिकता प्रदान की जाती होगी। नागरिकों को निम्नलिखित अधिकार प्राप्त थे :

स्वतन्त्रता का अधिकार—प्राचीन भारत में व्यक्ति के जीवन के चार उद्देश्य माने गये थे—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन्हें पुरुषार्थ कहा जाता था। राज्य का कार्य इस पुरुषार्थ साधन में सहायता करना था। यद्यपि प्राचीन भारतीय समाज में सभी वर्णों के कर्त्तव्य निश्चित थे और राज्य का कार्यक्षेत्र विस्तृत था, तथापि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अभाव नहीं था। इस विषय में डा० अल्तेकर का कथन है कि प्राचीन भारत में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को हड़पने की बहुत कम गुंजाइश थी। प्राचीन भारतीय विचारकों ने राज्य के विस्तृत कार्य-क्षेत्र का समर्थन इसलिए नहीं किया कि वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का मूल्य नहीं समझते थे किन्तु उनकी यह धारणा थी कि राज्य विभिन्न हितों में उचित सामंजस्य स्थापित करता है इसलिए उसका कार्यक्षेत्र विस्तृत होना चाहिए।[8]

समाज में व्यक्ति के स्थान के विषय में बन्ध्योपाध्याय का कथन है कि प्राचीन भारत में समाज को चार वर्णों में वर्गीकृत किया गया था। प्रत्येक वर्ण के कर्त्तव्यों को विहित किया गया था। प्रत्येक वर्ण की प्रथाओं और अभिसमयों को सामाजिक मान्यता प्राप्त थी और प्रत्येक वर्ण सामाजिक एकता में योगदान देता था। समाज के विभिन्न अंगों को पर्याप्त मात्रा में स्वायत्तता प्राप्त थी, परन्तु स्वतन्त्रता की आधुनिक धारणा से वह स्वतन्त्रता भिन्न थी।[9]

व्यवसाय की स्वतन्त्रता—वर्ण-व्यवस्था पर आधारित प्राचीन भारतीय समाज में यद्यपि विभिन्न वर्णों के व्यवसाय निश्चित थे, तथापि आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन भी किया जा सकता था। गौतम का कथन है कि यदि ब्राह्मण अपने व्यवसाय को ठीक ढंग से नहीं निभा सके तो वह क्षत्रिय का व्यवसाय अपना सकता है।[10] बौधायन की इस विषय में यह उक्ति है कि अपने व्यवसाय को ठीक ढंग से निभा सकने में असमर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय का व्यवसाय अपना सकते हैं।[11] व्यवसाय की स्वतन्त्रता के विषय में वसिष्ठ की यह सम्मति है कि अपने व्यवसाय को अपना सकने में असमर्थ व्यक्ति अपने से निम्न वर्ण के व्यवसाय अपना सकता है,

---

[5] वही, 4.3.89, सोऽस्य निवासः।

[6] वही, 4.3.95, भक्तिः।

[7] जायसवाल, उपर्युक्त, भाग 1, पृ० 163।

[8] अ० स० अल्तेकर, उपर्युक्त, पृ० 60।

[9] न० च० बन्ध्योपाध्याय, 'डेवलपमेण्ट ऑफ हिन्दू पालिटी एण्ड पोलिटिकल थियरीज', भाग 2, पृ० 403–4।

[10] 'गौतम धर्मसूत्र', 7.6।

[11] 'बौधायन धर्मसूत्र', 2.22; 4. 16–18।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

परन्तु इस सिद्धान्त का विलोम नहीं हो सकता, अर्थात् निम्न वर्ण का व्यक्ति अपने से उच्च वर्ण के व्यवसाय को नहीं अपना सकता।[12] विष्णुस्मृति के अनुसार आपत्ति काल में प्रत्येक वर्ण अपने वर्ण से निम्न वर्ण का व्यवसाय अपना सकता है।[13]

संगठन की स्वतन्त्रता—विभिन्न व्यवसायों को अपनाने वाले व्यक्तियों को संगठन बनाने की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। शिल्पियों के संगठन को श्रेणी तथा व्यापारियों के संगठन को निगम या पूग कहते थे। कृषकों, व्यापारियों, चरवाहों, साहूकारों और शिल्पियों को यह अधिकार था कि वे अपने-अपने वर्गों (संगठनों) के सम्बन्ध में नियम बना सकें और इन नियमों को राज्य द्वारा मान्य किया जाता था।[14] मनु तथा याज्ञवल्क्य का यह कथन है कि विभिन्न संघों के समझौते का अतिक्रमण करने वाले को राज्य द्वारा दण्ड दिया जाय।[15] विभिन्न प्रकार के ऐसे संगठन राष्ट्र-विरोधी न बन जाए तथा समाज को त्रास न दें, इसलिए इन पर राज्य द्वारा नियन्त्रण रहता था।[16]

भ्रमण की स्वतन्त्रता—सामान्यतः नागरिकों को भ्रमण की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। रात्रि के कुछ प्रहरों में लोगों की भ्रमण की स्वतन्त्रता नियन्त्रित थी, परन्तु इस समय में भी वैद्य, चिकित्सक, परिचारिका, शवयात्रा ले जाने वाले, सूचनार्थ आवाज करते हुए जाने वाले, आग बुझाने के लिए जाने वाले, तथा जिनके पास राजकीय अनुमति पत्र हों, उन लोगों को भ्रमण की स्वतन्त्रता थी।[17]

दैहिक स्वतन्त्रता—कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है कि अपराध घटित होने के तीन दिन बाद, सबल प्रमाणों के अभाव में शंकित व्यक्ति को कैद नहीं किया जाये।[18] इसका अर्थ यह लिया जा सकता है कि राज्य किसी शंकित व्यक्ति को अनिश्चित काल तक कैद नहीं कर सकता था। इसके अतिरिक्त अभियुक्त को कारण बताए बिना न तो बन्दी बनाया जा सकता था और न कारावास का दण्ड दिया जा सकता था। कौटिल्य के अनुसार यदि कारागार का अध्यक्ष किसी व्यक्ति को उस पर राज्य के प्रकोप का आधार बताए बिना कारागार में रखे तो उससे चौबीस पण जुर्माना लिया जाए।[19]

बन्दियों तथा दासों को स्वतन्त्रता-प्राप्ति का अधिकार—राजा के जन्म दिन, पूर्णिमा, युद्ध में विजय, राज्याभिषेक, राजकुमार के जन्म आदि अवसरों पर बन्दियों को मुक्त किया जाता था।[20] युद्ध-बन्दियों को यदि दास बनाया जाता था तो वे पर्याप्त मात्रा में धन चुकाने

---

[12] 'वसिष्ठ धर्मसूत्र', 2.22–23।
[13] 'विष्णुस्मृति', 3.15।
[14] 'मनुस्मृति', 8.41।
[15] (1) 'मनुस्मृति', 8.220।
(2) 'याज्ञवल्क्यस्मृति', 2.187।
[16] 'अर्थशास्त्र', 4.1.1–3।
[17] वही, 2.36.20, 2.36.23।
[18] वही, 4.8.2।
[19] वही, 4. 9.17।
[20] वही, 2. 36.28, 30।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

पर मुक्त किए जा सकते थे।[21] जो व्यक्ति मुक्त करने की राशि पाने पर भी यदि दास को मुक्त नहीं करता था तो उसे दण्ड दिया जाता था।[22]

शस्त्र धारण की स्वतन्त्रता—सामान्यतः क्षत्रिय वर्ण को शस्त्र धारण करने का अधिकार था। परन्तु विचारकों ने विशेष परिस्थितियों में अन्य वर्णों को भी शस्त्र धारण करने का अधिकार दिया है। धर्मसूत्रों तथा स्मृतिग्रन्थों ने ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को शस्त्र धारण करने की स्वतन्त्रता दी है किन्तु शूद्र वर्ण को इससे वंचित रखा है।[23] मनु की यह धारणा है कि अपने कर्त्तव्यपालन में बाधा आने पर, आपत्तिकाल में, आत्मरक्षा, स्त्री तथा ब्राह्मण की रक्षा के लिए सवर्ण व्यक्ति शस्त्र उठा सकता है।[24] पाणिनी की अष्टाध्यायी में कौंडोपरथ, दाण्डकी, कौष्टकी, जालमानी, ब्राह्मगुप्त जानकि, यौधेय और पश्र्व गणराज्यों को आयुधजीवी संघ कहा गया है।[25] कौटिल्य ने इन्हें शस्त्रोपजीवी संघ कहा है।[26] आयुधजीवी या शस्त्रोपजीवी का अभिप्राय यह है कि इन गणराज्यों के सदस्य शस्त्रविद्या या युद्धकला में निपुण होते थे। सम्भवतः सभी नागरिकों को शस्त्र धारण करने का अधिकार था।

शस्त्र धारण की स्वतन्त्रता के साथ-साथ यह जानना भी आवश्यक है कि प्राचीन भारत में किस वर्ण को सेना में भर्ती करने में प्रधानता दी जाती थी। सामान्यतः क्षत्रिय वर्ण को इसके लिए सर्वाधिक उपयुक्त समझा जाता था। कौटिल्य के अनुसार ब्राह्मण सेना श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि शत्रुपक्ष उसे आसानी से बहका सकता है। अतः युद्धविद्या में निपुण क्षत्रिय सेना को ही सर्वाधिक श्रेष्ठ समझना चाहिए। यदि वैश्य सेना या शूद्रसेना में वीर पुरुषों की अधिकता हो तो उसे भी श्रेष्ठ समझना चाहिए।[27] इससे सूचित होता है कि मौर्य युग में शूद्रों को भी सेना में लिया जाता था। और इससे स्वभावतः उन्हें शस्त्रधारण करने का अधिकार प्राप्त हो जाता था। शुक्र ने जहाँ शूद्र वर्ण को न्यायिक अधिकार से वंचित रखा है वहाँ उसने शूद्र के लिए सेनापति और सैनिक बनने का निषेध नहीं किया है।[28]

समानता का अधिकार—जीवन की विविध सुविधाओं की उपलब्धि के विषय में नागरिकों को समान समझा जाता था। ललितविस्तार के अनुसार लिच्छवियों के गणराज्य में छोटे-बड़े का भेद नहीं था।[29] महाभारत के अनुसार गणराज्य में प्रत्येक व्यक्ति जन्म से समान होता है।[30] परन्तु समानता का सिद्धान्त वर्ण-व्यवस्था के नियमों से परिचालित था। विधि के समक्ष सभी को समान नहीं समझा जाता था। समान अपराध के लिए ब्राह्मण को सौम्य तथा शूद्र को कठोर दण्ड देने का विधान किया गया था।[31]

---

[21] वही, 3.13.11।
[22] वही, 3.13.13।
[23] 'वसिष्ठ धर्मसूत्र', 3.24।
[24] 'मनुस्मृति', 8.348–9।
[25] 'अष्टाध्यायी', 5.3.116–7।
[26] 'अर्थशास्त्र', 11.1.2।
[27] वही, 9.2.19।
[28] 'शुक्रनीतिसार', 2.137।
[29] 'ललितविस्तार', 3.23।
[30] 'महाभारत', शान्तिपर्व, 107.3।
[31] 'अर्थशास्त्र', 4.10.12।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

आर्थिक अधिकार—वैदिक काल में राजा से यह आशा की जाती थी कि वह अपनी प्रजा के लिए धन और वैभव प्राप्त करेगा।[32] मनु के अनुसार सम्पत्ति का संरक्षण करना राज्य का एक मौलिक तत्त्व है और अन्यायियों की समस्त सम्पत्ति राज्य छीन सकता है।[33] महाभारत में यह कहा गया है कि राष्ट्र में जो धनी लोग हों, उनका सदा सम्मान किया जाए, क्योंकि वे भी राज्य के रक्षक होते हैं।[34] इससे प्रतीत होता है कि लोगों को सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त था, क्योंकि इस अधिकार के अभाव में समाज में धनी वर्ग के अस्तित्व की बहुत कम सम्भावना है। कामन्दक ने यह व्यवस्था दी है कि राजा को चाहिए कि वह प्रजा को सम्पन्न करे। राजा को सभी प्राणियों को आजीविका देने की व्यवस्था करनी चाहिए। जो राजा ऐसा नहीं कर पाता, उसको सब कोई इस प्रकार त्याग कर चले जाते हैं जिस प्रकार पक्षी सूखे पेड़ को त्याग देते हैं।[35]

कौटिल्य के अनुसार सभी नागरिकों को सम्पत्ति के स्वामित्व और धारण का अधिकार है, यहाँ तक कि दासों को भी यह अधिकार है। एक दास को अपनी अर्जित सम्पत्ति का स्वामित्व और अपने पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्राप्त था। एक दास की मृत्यु पर उसकी सम्पत्ति उसके सम्बन्धियों को मिलती थी और उनके अभाव में दास के स्वामी को उस पर अधिकार प्राप्त था।[36] किसी सम्पत्ति के स्वामी के विदेश चले जाने पर भी उस सम्पत्ति पर उसका स्वामित्व नष्ट नहीं होता था, परन्तु यदि निरन्तर दस वर्षों तक इसके प्रति उदासीनता दिखाई जाती थी तो फिर इस अधिकार का अन्त हो जाता था। किन्तु यदि वह सम्पत्ति ऐसे व्यक्तियों की हो, जो बालक, बूढ़े, बीमार, आपदग्रस्त, देशत्यागी और राजकीय कार्य के लिए बाहर गये हों, तो दस वर्ष के बाद भी अपनी सम्पत्ति पर उनका अधिकार बना रहता था।[37]

ऋत्विजों तथा राजकर्मचारियों को करमुक्त भूमि का अधिकार था।[38] अनाथों, अपंगों तथा असहाय व्यक्तियों का भरण-पोषण करने का उत्तरदायित्व राज्य का था।[39] सम्पत्ति के स्वामित्व तथा धारण के साथ-साथ नागरिकों को सम्पत्ति के क्रय-विक्रय का अधिकार था, परन्तु लाभांश राज्य द्वारा नियत किया जाता था।[40] श्रमिकों को यह अधिकार था कि वे अपने श्रम के लिए उचित पारिश्रमिक प्राप्त करें। जो स्वामी श्रमिक को उसका उचित पारिश्रमिक नहीं देता था उसे राज्य द्वारा दण्ड दिया जाता था।[41]

जनता के राजनीतिक अधिकार—प्राचीन भारत में जनता प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से शासक के निर्वाचन में भाग लेती थी। उस समय जनता को राजनीतिक शक्ति का स्रोत

---

[32] 'अथर्ववेद', 3.4.4।
[33] 'मनुस्मृति', 7. 123–4।
[34] 'महाभारत', शान्तिपर्व, 87.29–30।
[35] 'कामन्दक नीतिसार', 5.59 ; 5.81।
[36] 'अर्थशास्त्र', 3. 13.13।
[37] वही, 3. 16.13।
[38] वही, 2. 1.5।
[39] वही, 2. 1.11।
[40] वही, 4. 2.15।
[41] वही, 2. 23.5।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

समझा जाता था। वैदिक मन्त्रों के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि विश: या जनता राजा का निर्वाचन (वरण) करती थी और सब लोगों द्वारा स्वीकृत होने पर ही कोई व्यक्ति राजा का पद प्राप्त कर सकता था।[42] किन्तु सम्पूर्ण प्रजा का राजा के निर्वाचन में भाग लेना सम्भव नहीं प्रतीत होता। सम्भवत: वैदिक काल के प्रारम्भ में जब देश का राजनीतिक संगठन छोटे-छोटे नगरों के रूप में रहा होगा, उस समय समग्र जनता राजा के निर्वाचन में भाग लेती रहीं होगी। किन्तु राजनीतिक संगठन का क्षेत्र विस्तृत होने के साथ यह प्रथा सम्भव नहीं रही होगी और बाद में विभिन्न वर्णों व वर्गों के प्रतिनिधि राजा के निर्वाचन तथा अभिषेक में भाग लेने लगे। सर्वसाधारण के प्रतिनिधि के रूप में ग्रामणी राजा के अभिषेक में भाग लेता था।[43] यद्यपि उत्तरवैदिक काल में राजा का पद आनुवंशिक हो गया था, तथापि राजपद पर उसकी नियुक्ति का प्रजा द्वारा अनुमोदन आवश्यक समझा जाता था।[44] राजा के वरण के सम्बन्ध में जनता का अधिकार काफी महत्त्वपूर्ण था। वह किसी सामान्य दोष के कारण भी किसी व्यक्ति को राजा स्वीकार करने से इन्कार कर सकती थी।[45]

लोक सम्मति का प्रभाव—प्राचीन भारत में जनता की सम्मति का आदर किया जाता था। उसकी सहज ही उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। राजा सगर का पुत्र असमंजस खेलते हुए बच्चों को पकड़ कर सरयू में फेंक देता था और स्वयं प्रसन्न होता था। इस पर शहर के प्रतिष्ठित व्यक्ति क्रुद्ध हुए और उन्होंने राजा सगर से कहा कि या तो आप अपने पुत्र को लेकर रहिये या हमको रखिये। इस पर सगर ने मामले की छानबीन की और अपनी जनता का प्रिय बने रहने की इच्छा से अपने पुत्र को आजीवन देश-निष्कासन का दण्ड दिया।[46] राम ने जनमत को दृष्टिगत रखते हुए अपनी पत्नी का परित्याग किया था।[47] महाभारत के अनुसार राजा के लिए यह उचित है कि वह अपने विश्वसनीय गुप्तचरों को समस्त राज्य में इस बात का पता लगाने के लिये भेजे कि प्रजा उसके अतीत दिन के व्यवहार की प्रशंसा करती है या नहीं। वह इस बात का पता लगाये कि प्रजा उसके किस व्यवहार की प्रशंसा करती है और किस व्यवहार की नहीं करती। उसके कौन से कार्य देशवासियों को पसंद हैं और राष्ट्र में उसका यश कैसा है ?[48]

शासनाधिकार—डा० नरेन्द्रनाथ लॉ का कथन है कि बड़े गणराज्यों की राजधानियों में संथागारों (विधायिका भवन) के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण स्थानों, कस्बों तथा गाँवों में भी सार्वजनिक भवन होते थे, जहाँ पर स्थानीय जन प्रशासकीय कार्य करते थे। आरामघरों, जलाशयों आदि का निर्माण, मार्गों की मरम्मत करवाना, बगीचे लगवाना और सार्वजनिक उपयोग के अन्य कार्यों को कराना, आदि ऐसे कार्य थे जिनमें ग्रामवासी सहयोग देते थे। इस

---

[42] 'अथर्ववेद', 3. 4.2।
[43] 'शतपथ ब्राह्मण', 5. 2. 5.1।
[44] 'रामायण', अयोध्याकाण्ड, 2. 21–2।
[45] 'महाभारत', उद्योगपर्व, 149.22–73।
[46] 'रामायण', अयोध्याकाण्ड, 27. 15–19।
[47] 'सीता साध्वपि रामेण त्यक्ता लोकापवादतः।' 'शुक्रनीतिसार', 1. 134।
[48] 'महाभारत', शान्तिपर्व, 89. 15–16।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्रकार, गाँवों तथा कस्बों के मामलों के संचालन में साधारण जन अपनी बुद्धि लगाते थे, जिससे उन्हें राजनीतिक प्रशिक्षण प्राप्त होता था।[49] शासन शासनाधिकार की उपलब्धि भी वर्ण के अनुसार होती थी। उच्च राजनीतिक पदों पर नियुक्ति का सामान्य नियम यह था कि उच्च कुलीन व्यक्ति ही उस पर प्रतिष्ठित हो सकते थे। न्यायिक अधिकार के विषय में विचारकों की यह राय थी कि राजा को स्वयं न्याय कार्य करना चाहिए। यदि वह स्वयं यह कार्य न कर सके तो विद्वान् ब्राह्मण को उस कार्य के लिए नियुक्त करे। ऐसा ब्राह्मण न मिलने पर योग्य क्षत्रिय को, क्षत्रिय न मिलने पर योग्य वैश्य को यह कार्य सौंपे, परन्तु शूद्र को यत्नपूर्वक इस कार्य से दूर रखे।[50] न्यायकार्य में वेदों का ज्ञान आवश्यक था और शूद्रों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं था। किन्तु मन्त्रिपरिषद् में शूद्रों को स्थान दिया जाता था। महाभारत में सैंतीस मन्त्रियों की एक सूची दी गई है। इसके अनुसार मन्त्रिपरिषद् में चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, तीन शूद्र होने चाहिएँ तथा एक सूत हो जो मिश्र वर्ण का हो।[51]

सार्वजनिक अधिकार-कर देने से इन्कार—विचारकों ने अत्याचारी शासन को प्रतिकार करने का अधिकार प्रजा को दिया है। इन मनीषियों ने राजा को बार-बार यह सलाह दी है कि वह धर्मशास्त्रों के अनुसार निश्चित नियमों का अनुसरण करते हुए कर ग्रहण करे। कर राजा का वेतन था जो उसे प्रजापालन के विनिमय में प्राप्त होता था।[52] राजा को यह चेतावनी दी गई कि उसे निश्चित मात्रा में कर लेना चाहिए। कर की अधिकता से राजा के मूल का उच्छेद हो जाता है क्योंकि जनता उसके विरुद्ध हो जाती है और ऐसे राजा का कल्याण सम्भव नहीं होता।[53] जो राजा प्रजा से अत्यधिक कर ले अथवा प्रजा पर अत्याचार करे उसे प्रजा अपने वेतन से वंचित कर सकती थी।

प्रतिरोध का अधिकार—प्रजा की रक्षा करने में असमर्थ राजा के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार जनता को था। महाभारत के अनुसार प्रजा की रक्षा करने में असमर्थ राजा का उसी प्रकार त्याग कर देना चाहिए जिस प्रकार समुद्र में टूटी नाव का परित्याग कर दिया जाता है।[54] शुक्र के अनुसार प्रजापीड़क तथा निरंकुश राजा को जनता चेतावनी दे कि यदि तुम अपना व्यवहार नहीं बदलोगे तो हम तुम्हारा राज्य छोड़कर अन्य सुशासित राज्य में चले जायेंगे। यदि इस चेतावनी का राजा पर कोई प्रभाव न हो तो जनता उसे राज्यसिंहासन से उतार कर उसके स्थान पर उसी के कुल के किसी गुणवान व्यक्ति को पदारूढ़ करे।[55] राजा

---

[49] न० ना० लॉ, 'आस्पेक्ट्स ऑफ एन्शियन्ट इण्डियन पॉलिटी', पृ० 4।

[50] 'शुक्रनीतिसार', 4. 535–37।

[51] 'महाभारत', शान्तिपर्व, 85.7–11।

[52] (1) 'महाभारत', शान्तिपर्व, 71. 10।
(2) 'अर्थशास्त्र', 1. 9।
(3) 'शुक्रनीतिसार', 1. 188।

[53] (1) 'अर्थशास्त्र', 5.2।
(2) 'महाभारत', शान्तिपर्व, 87. 20–21।

[54] 'महाभारत', शान्तिपर्व, 57. 44–45।

[55] 'शुक्रनीतिसार', 4. 109।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विविंश का पुत्र खनिनेत्र एक क्रूर शासक था। इस पर जनता ने उसे पदच्युत कर दिया था।[56]

महाभारत के अनुसार जिस राजा के राज्य में स्त्रियों का सतीत्व हरण हो, वह राजा जीवित होते हुए भी मृतक के समान है। जो राजा प्रजा की रक्षा नहीं करता, केवल उसके धन को लूटता-खसोटता है, जो जनता का नेतृत्व नहीं कर सकता, जो प्रजा का द्वेषी है, जनता को उसे शस्त्र उठाकर मार डालना चाहिए। जनता की रक्षा करने की प्रतिज्ञा करके भी जो राजा जनता की रक्षा नहीं करता, उसका पागल कुत्ते की भांति वध कर डालना चाहिए।[57] राजा वेन निरंकुश तथा अत्याचारी शासक था इस कारण उसका वध कर दिया गया था।[58]

विशेषाधिकारयुक्त वर्ग—प्राचीन भारतीय समाज में नागरिकों को उपर्युक्त अधिकार प्राप्त थे, परन्तु साथ ही समाज में एक विशेषाधिकारयुक्त वर्ग भी था। वर्ण-व्यवस्था की उत्तरोत्तर दृढ़ता के कारण समाज में ब्राह्मण वर्ग को एक विशेष स्थान प्राप्त हो गया था, और इस वर्ग को कुछ विशेष अधिकार प्राप्त थे। कुछ स्मृतियों में पूरे ब्राह्मण वर्ण को ही करमुक्त रखने का आदेश दिया गया है।[59] परन्तु सामान्यतः पूरा ब्राह्मण वर्ण करमुक्त नहीं था, केवल श्रोत्रिय (विद्वान्) ब्राह्मण को करमुक्त रखने की व्यवस्था दी गई है।[60] आदर्श श्रोत्रिय का कर्तव्य अकिन्चनताव्रत धारण कर विद्यार्थियों को वेदशास्त्रादि की निःशुल्क शिक्षा में ही अपना जीवन लगा देना था। उनके पास इतनी सम्पत्ति ही नहीं थी कि उस पर कर लगाया जाये। अन्य ब्राह्मणों से कर लिया जाता था। महाभारत के अनुसार वे ब्राह्मण शूद्र के समान हैं, जो निज वर्णोचित कर्म नहीं करते, जो आलसी हैं और जो ब्राह्मणों में अधम हैं। जो ब्राह्मण वेद न पढ़ते हों और अग्नि में हवन न करते हों, उन सबसे राजा को कर और बेगार लेनी चाहिए।[61] राजा केवल देव समान और ब्रह्म समान ब्राह्मणों से कर न ले।[62]

करमुक्ति के अतिरिक्त इस वर्ग के लिए दण्ड विधान में भी विशिष्टता थी। गौतमधर्मसूत्र के अनुसार राजा ब्राह्मण को शारीरिक दण्ड, कारावास, जुर्माना, देशनिष्कासन आदि दण्ड न दे।[63] बौधायन की यह उक्ति है कि ब्राह्मण को शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए परन्तु जो ब्राह्मण पशुपालन, कृषि आदि कर्म करते हों, या गायक,वादक हों, अथवा नौकरी करते हों, उन्हें शूद्र के समान समझा जाए और वे अपराधी होने पर दण्डनीय हैं।[64]

---

56 'महाभारत', अश्वमेघपर्व, 4. 7-11।

57 अरक्षितारं हर्तारं विलोप्तारमनायकम्।
तं वै राजकलिं हन्युः प्रजाः सन्नह्य निर्घृणम्॥
अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः।
स संहत्य निहन्तव्यं श्वेव सोन्माद आतुरः॥ 'महाभारत', अनुशासनपर्व, 61. 31-3।

58 'महाभारत', शान्तिपर्व, 59.94।

59 यथा ब्राह्मणेभ्यः करादानं न कुर्यात्। ते हि राज्ञो धर्मकराः। 'विष्णुस्मृति', 3.25-6।

60 म्रियमाणो प्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम्। 'मनुस्मृति', 7. 133।

61 अश्रोत्रियाः सर्व एव सर्वे चानाहिताग्नयः।
तान् सर्वान् धार्मिको राजा बलिं विष्टिं च कारयेत्॥ 'महाभारत', शान्तिपर्व, 76. 5।

62 'महाभारत', शान्तिपर्व, 76. 9।

63 'गौतम धर्मसूत्र', 7.7.13।

64 'बौधायन धर्मसूत्र', 2.2; 4.16–20।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

वसिष्ठ ने यह व्यवस्था दी है कि जो ब्राह्मण अपने पवित्र कर्तव्यों का पालन न करते हों उन्हें दण्ड दिया जाए।[65]

जनता के कर्तव्य—किसी समाज की सुदृढ़ता उसके व्यक्तिगत नागरिकों के चरित्र पर निर्भर करती है। समाज में अपने स्थान के अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए। प्राचीन भारत में प्रत्येक वर्ग से यह अपेक्षित था कि वह अपने स्वधर्म अर्थात् अपने कर्तव्य का पालन करे, जिससे सामाजिक सन्तुलन बना रहे।[66] राष्ट्र का प्रत्येक निवासी राष्ट्र का हित अपना हित समझे और राष्ट्र का अहित अपना अहित समझे। मनुष्य सच्ची राष्ट्रीय भावना से परिचालित हों, संकीर्ण स्वार्थ से ऊपर उठ कर राष्ट्र को सर्वोपरि महत्त्व प्रदान करें, तभी राष्ट्र तथा व्यक्ति का उत्थान सम्भव है। जहाँ राजा का कर्तव्य प्रजा का हित-साधन करना है वहाँ प्रजा का भी यह कर्तव्य है कि वह राजनिष्ठ हो।

आलोचना—यद्यपि प्राचीन भारत में नागरिकों को विविध प्रकार के अधिकार प्राप्त थे, और वे उनका उपभोग करते थे, तथापि यह आवश्यक है कि उपर्युक्त तथ्य का अध्ययन तत्कालीन समाज-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था तथा राजनीतिक ढांचे के सन्दर्भ में किया जाना चाहिए। वर्ण-व्यवस्था की रक्षा करना राज्य का प्रमुख कर्तव्य गिना जाता था।[67] और प्रत्येक नागरिक से यह अपेक्षा की जाती थी, कि वह भी इसमें सहायक हो। परन्तु वर्ण-व्यवस्था के आधार पर समाज में जहाँ विभिन्न वर्ग बने हों, शूद्रों को जहाँ अति क्षुद्र स्थान प्राप्त हों और उनके साथ जहाँ कठोर व्यवहार किया जाए, उनके तथा उच्च वर्ण के दण्ड विधान में जहाँ अन्तर किया जाए[68] वहाँ स्वतन्त्रता और समानता के महान् सिद्धान्त लुप्त-प्राय से हो जाते हैं। भारत के प्राचीन विचारकों ने नागरिक को नागरिक समझ कर उसके अधिकारों और कर्तव्यों का विवेचन नहीं किया है, परन्तु उन्होंने पहले इस बात पर विचार किया है कि वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन वर्णों में से किस वर्ण का है। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में उसके स्थान और योग्यता को निर्धारित करने के उपरान्त उसके अधिकारों का विवेचन किया है। आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के दृष्टिकोण से यह उचित नहीं माना जाता।

---

[65] 'वसिष्ठ धर्मसूत्र', 3.4।

[66] 'महाभारत', भीष्मपर्व, 27.35; 42.47।

[67] 'अर्थशास्त्र', 1. 3. 6।

[68] 'बौधायन धर्मसूत्र', 1. 10; 19. 16।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संसद तथा विधानमण्डलों और उनके सदस्यों की शक्तियाँ, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ

परमानन्द गोविन्द जी बाला

विशेषाधिकारों की आवश्यकता

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14 द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को विधि के समक्ष समता की सापेक्ष गारण्टी प्रदान की गयी है किन्तु इसी संविधान के अन्य उपबन्धों के अनुसार संसद तथा विधानमण्डल के सदस्यों को कुछ अधिक अधिकार, शक्तियाँ तथा रियायतें प्रदान की गयी हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि संसद तथा विधानमण्डल के सदस्यों पर यह कर्तव्य-भार है कि वे जन-प्रतिनिधियों के रूप में अत्यन्त निर्भयता से निर्वाचकों की भावना विधानमण्डलों में रखें, प्रशासन की नीतियों का परीक्षण करें तथा विधानमण्डलों में प्रस्तुत किये जाने वाले संकल्पों एवं प्रस्तावों पर निष्पक्ष रूप से अपनी राय प्रस्तुत करें। विधानमण्डलों के भीतर प्रकट की गयी राय अथवा प्रदत्त मत पर यदि किसी प्रकार का अंकुश अथवा बन्धन लगाया गया तो संसद तथा विधानमण्डलों के सदस्यों की निष्पक्षता, निर्भयता एवं दक्षता को प्रभावित किया जाना अत्यन्त सरल होगा। विधानमण्डल का सदस्य निर्भय एवं निष्पक्ष होकर यदि अपने कर्तव्य का निर्वहन नहीं कर सकता तो इस कारण स्वयं संसद तथा विधानमण्डलों की प्रतिष्ठा, गरिमा एवं मर्यादा सुरक्षित नहीं रह सकती। अतः यह आवश्यक समझा गया है कि संसद तथा विधानमण्डलों एवं उनके सदस्यों को ऐसे विशेष अधिकारों से लैस किया जाये जो उनके कर्तव्यों को अबाधित रूप से पूर्ण करवाने में सहायक हो सके। विधानमण्डल एवं संसद की प्रभुसत्ता के संरक्षण के लिए इन विशिष्ट अधिकारों का होना आवश्यक है। अतः विशेषाधिकार वे अधिकार हैं जिन्हें संसद तथा विधानमण्डलों और उनके सदस्यों के सांविधानिक कर्तव्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक समझा गया है।

ब्रिटेन में संसद को यह अधिकार एक लम्बे संघर्ष के पश्चात् प्राप्त हुए हैं। अपनी प्रभुसत्ता की रक्षा के लिए हाउस ऑफ कॉमन्स ने जो संघर्ष किया है वही संघर्ष विशेषाधिकारों का जनक है। सम्राट् के अधिकारों एवं हाउस ऑफ लॉर्ड्स के अधिकारों की तुलना में हाउस ऑफ कॉमन्स ने जिन मूलभूत अधिकारों का उपयोग किया है उन्हीं अधिकारों के समाहार को शब्दबन्ध 'संसदीय विशेषाधिकार' से परिभाषित किया गया है।

भारत में भी संसद तथा विधानमण्डलों एवं उनके सदस्यों की शक्तियों, विशेषाधिकारों तथा उन्मुक्तियों की गारण्टी संविधान के अनुच्छेद 105 तथा 194 द्वारा प्रदत्त की गयी है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संविधान द्वारा प्रदत्त विशेषाधिकार

संविधान द्वारा प्रदत्त संसदीय विशेषाधिकार इस प्रकार हैं :

(1) संविधान के उपबन्धों के अधीन तथा संसद एवं विधानमण्डलों की प्रक्रिया के विनियामक नियमों और स्थायी आदेशों के अधीन रहते हुए संसद तथा विधानमण्डलों में वाक्-स्वातन्त्र्य होगा ।

(2) संसद तथा विधानमण्डलों में या उसकी किसी समिति में कही हुई किसी बात अथवा दिये गये किसी मत के विषय में सदस्यों के विरुद्ध किसी भी न्यायालय में कोई कार्य-वाही नहीं की जा सकती ।

(3) इसी प्रकार संसद एवं विधानमण्डलों या उनके किसी सदन द्वारा प्राधिकृत अथवा उसके अधीन प्रकाशित किसी प्रतिवेदन-पत्र, मतों या कार्यवाहियों के प्रकाशन के विषय में कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती ।

(4) अन्य मामलों में संसद तथा विधानमण्डलों में प्रत्येक सदन तथा उनके सदस्यों एवं समितियों की शक्तियाँ, विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ वही होंगी, जिन्हें संसद अथवा विधानमण्डल समय-समय पर कानून द्वारा परिभाषित करें ।

(5) जब तक संसद अथवा विधानमण्डलों द्वारा अपनी शक्तियाँ, विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ कानून द्वारा परिभाषित नहीं कर ली जातीं तब तक संविधान के प्रारम्भ के समय ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स की जो शक्तियाँ, विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ थीं, वही शक्तियाँ, विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ संसद तथा विधानमण्डलों अथवा उसकी समितियों की होंगी ।

(6) अनुच्छेद 105 (1, 2, 3) व 194 (1, 2, 3) में प्रदत्त शक्तियाँ, विशेषा-धिकार तथा उन्मुक्तियाँ उन व्यक्तियों को भी उपलब्ध होंगी जो यद्यपि किसी भी सदन के सदस्य नहीं हैं किन्तु जिन्हें संविधान के आधार पर संसद या विधानमण्डलों या उनकी समितियों में बोलने तथा कार्यवाही में भाग लेने का अधिकार प्राप्त है, उदाहरणार्थ, मन्त्री जो किसी भी सदन के सदस्य नहीं हैं, महान्यायवादी तथा राज्य का महाधिवक्ता ।

वाक्-स्वातन्त्र्य—अनुच्छेद 105 (1) और 194 (1)

अनुच्छेद 105 (1) तथा 194 (1) के अधीन संसद तथा विधानमण्डलों के सदस्यों को यद्यपि वाक्-स्वातन्त्र्य प्राप्त है किन्तु कोई भी सदस्य, संविधान, संसद तथा विधानमण्डलों के नियमों द्वारा लगाये गये निर्बन्धों की अवहेलना नहीं कर सकता । इस अनुच्छेद के प्रारम्भ में ही 'इस संविधान के उपबन्धों के अधीन' शब्दों का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ केवल इतना ही है कि सदस्य को बोलने की स्वतन्त्रता तो अवश्य दी गयी है किन्तु स्वच्छन्दता नहीं ।

'इस संविधान के उपबन्धों के अधीन संसद या विधानमण्डल में वाक्-स्वातन्त्र्य होगा' शब्दों का प्रयोग किस हद तक सदन में वाक्-स्वातन्त्र्य को सीमित करता है ? संविधान के भाग 3 में अनुच्छेद 14 से अनुच्छेद 31 तक मूल अधिकारों की गारण्टी प्रदान की गयी है । यह अधिकार समता, स्वातन्त्र्य, शोषण के विरुद्ध, धर्म-स्वातन्त्र्य संस्कृति, शिक्षा तथा सम्पत्ति के विषय में हैं । संविधान के भाग 3 में प्रदत्त मूल अधिकारों से असंगत अथवा उन्हें न्यून करने वाले वे कानून जो राज्य द्वारा बनाये जायेंगे उन्हें उच्चतम न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 13 (2) के अनु-सार शून्य घोषित किया जा सकता है । इसी भाग के अनुच्छेद 12 में 'राज्य' की परिभाषा में

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संसद तथा विधानमण्डलों का भी समावेश किया गया है। अतः सरसरी तौर पर भी इन अनुच्छेदों पर दृष्टिपात किया जाये तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यदि संसद या विधानमण्डल द्वारा संविधान के भाग 3 का उल्लंघन किया गया तो सक्षम न्यायालयों द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता है। अनेकों बार उच्च न्यायालयों एवं उच्चतम न्यायालय के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि अनुच्छेद 105 (1) तथा 194 (1) में प्रदत्त वाक्-स्वातन्त्र्य का अधिकार मूल अधिकारों से किस हद तक निर्बन्धित होता है ?

26 मार्च, 1964 को महामहिम राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 143 (1) के अन्तर्गत प्रेषित विशेष निर्देश (स्पेशल रेफरेंस) के उत्तर में राय प्रकट करते हुए[1] उच्चतम न्यायालय ने मत प्रकट किया है कि यदि संविधान के भाग 3 में प्रदत्त मूल अधिकारों एवं अनुच्छेद 194 (3) द्वारा किये गये प्रावधानों में किसी प्रकार का संघर्ष उत्पन्न हो गया हो तो ऐसे संघर्ष का शमन अनुरूप अर्थ (हार्मोनियस कंस्ट्रक्शन) के सिद्धान्त अथवा नियम के आधार पर किया जाना चाहिए। उच्चतम न्यायालय के अनुसार यह नहीं कहा जा सकता कि जब-जब भी अनुच्छेद 194 में प्रदत्त विशेषाधिकारों तथा मूल अधिकारों में संघर्ष उत्पन्न हो, तब-तब सदैव संसदीय विशेषाधिकारों को ही वरीयता प्राप्त होगी। स्पष्ट है कि सामूहिक रूप से मूल अधिकारों एवं संसदीय विशेषाधिकारों के संघर्ष का प्रश्न अभी तक उच्चतम या उच्च न्यायालयों के समक्ष प्रस्तुत नहीं हुआ है किन्तु न्यायालयों के समक्ष अनेक बार ऐसे प्रसंग अवश्य आये हैं जबकि न्यायालयों को विशिष्ट मूल अधिकार तथा संसदीय विशेषाधिकार के सांविधानिक सम्बन्धों पर विचार करना पड़ा है। एम० एस० एम० शर्मा बनाम श्री कृष्ण सिन्हा[2] के प्रकरण में न्यायालय के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित किया गया था कि नागरिकों को संविधान के अनुच्छेद 19 (1) (क) के अनुसार वाक्-स्वातन्त्र्य एवं अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य का अधिकार है तथा संसदीय विशेषाधिकारों तथा अनुच्छेद 19 (1) (क) में प्रदत्त मूल अधिकार के संघर्ष में संसदीय विशेषाधिकारों को वरीयता प्राप्त नहीं हो सकती।

अनुच्छेद 194 (1) में प्रदत्त वाक्-स्वातन्त्र्य का अधिकार तथा अनुच्छेद 19 (1) (क) में प्रदत्त वाक्-स्वातन्त्र्य का अधिकार एक-समान नहीं है। अनुच्छेद 19 (1) (क) उसी अनुच्छेद के उप-अनुच्छेद 2 के द्वारा सीमित कर दिया गया है। सामान्य विधि एवं नियमों के अधीन अनुच्छेद 19 में प्रदत्त वाक्-स्वातन्त्र्य का उपभोग किया जा सकता है किन्तु इसके विपरीत संसद या विधानमण्डल में कही हुई बात पर किसी भी न्यायालय में कार्यवाही नहीं की जा सकती। इस प्रकार अनुच्छेद 194 (1) में प्रदत्त वाक्-स्वातन्त्र्य सामान्य विधि एवं नियमों से निर्बन्धित नहीं किया गया है। इसी तर्क के आधार पर उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय किया कि ये दोनों अधिकार एक-समान है, दोनों ही अलग-अलग हैं। अनुच्छेद 105 (3) तथा 194 (3) के प्रावधान भी सांविधानिक प्रावधान हैं और यह प्रावधान भी उतने ही श्रेष्ठ हैं जितने मूल अधिकारों के प्रावधान हैं। संविधान के निर्माताओं को यह ज्ञात नहीं था कि भविष्य में संसद या विधानमण्डल या उसके सदस्य या उसकी समितियाँ अपने लिए किन-किन विशेषाधिकारों, शक्तियों तथा उन्मुक्तियों की कामना करेंगी, इसलिए उन्होंने विशेषाधिकारों,

---

[1] ए० आई० आर०, 1965, उच्चतम न्यायालय, पृ० 745।

[2] ए० आई० आर०, 1959, उच्चतम न्यायालय, पृ० 395।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

शक्तियों एवं उन्मुक्तियों को कानून द्वारा परिभाषित करना उचित नहीं समझा और वे संविधान के प्रभावशाली होने के दिनांक तक हाउस ऑफ कॉमन्स को जो भी विशेषाधिकार उपलब्ध थे उन्हीं से सन्तुष्ट रहे और उन्होंने उपर्युक्त विशेषाधिकारों को अनुच्छेद 19 (1) के अधीन नहीं रखा। इस अनुच्छेद के प्रावधान सामान्य हैं। किन्तु 194 के प्रावधान विशिष्ट हैं अतः विशिष्ट प्रावधानों को सदैव सामान्य प्रावधानों पर वरीयता प्राप्त होगी। इसी मत की पुष्टि करते हुए उच्चतम न्यायालय ने राष्ट्रपति के विशेष निर्देश के उत्तर में अपनी राय प्रकट की[3] कि अनुच्छेद 194 (1) में प्रदत्त वाक्-स्वातन्त्र्य संविधान के उपबन्धों के अधीन हैं। इस अनुच्छेद का परीक्षण करते समय इस तथ्य का विशेष रूप से ध्यान रखना होगा कि संविधान के वे प्रावधान जिनके अधीन विधानमण्डलों में वाक्-स्वातन्त्र्य प्रदत्त किया गया है, संविधान के साधारण उपबन्ध नहीं हैं वरन् वे उपबन्ध हैं जो विधानमण्डलों की प्रक्रिया का निर्धारण करते हैं। अनुच्छेद 194 (1) को संविधान के विशिष्ट उपबन्धों के अधीन करते समय संविधान-निर्माता यह स्पष्ट कर देना चाहते थे कि विधायक एवं विधानमण्डलों को प्रदत्त वाक्-स्वातन्त्र्य का अधिकार साधारण नागरिकों के वाक्-स्वातन्त्र्य के अधिकार से भिन्न है और दोनों ही अधिकार एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं। अतः अनुच्छेद 19 (1) का उपबन्ध संविधान का वह उपबन्ध नहीं है जिससे अनुच्छेद 194 (1) द्वारा प्रदत्त वाक्-स्वातन्त्र्य निर्बन्धित होता हो।

यद्यपि उच्चतम न्यायालय ने, जहाँ तक अनुच्छेद 19 (1) (क) का सम्बन्ध है, यह मान्य किया है कि वह संसदीय विशेषाधिकारों को निर्बन्धित नहीं करता, परन्तु इस सिद्धान्त को उच्चतम न्यायालय ने अनुच्छेद 21 तथा 22 (2) के सम्बन्ध में मान्य नहीं किया है।

अनुच्छेद 21 के द्वारा इस बात की गारण्टी दी गयी है कि किसी भी व्यक्ति को विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर किसी भी प्रकार के प्राण अथवा दैहिक स्वाधीनता से वंचित नहीं किया जायेगा। यद्यपि एम० एस० एम० शर्मा बनाम श्री कृष्णसिन्हा[4] के प्रकरण में उच्चतम न्यायालय ने यह मान्य किया है कि संसदीय विशेषाधिकार अनुच्छेद 21 से निर्बन्धित हैं तथापि न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया था कि चूँकि बिहार विधान-सभा के विशेषाधिकार, शक्तियाँ एवं उन्मुक्तियाँ वही हैं जो हाउस ऑफ कॉमन्स की हैं, अतः यदि आवेदक अपनी दैहिक स्वतन्त्रता से वंचित भी किया गया तो वह विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार होगा। विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार यदि कोई व्यक्ति दैहिक स्वतन्त्रता से वंचित किया जाता है तो उस स्थिति में अनुच्छेद 21 का उल्लंघन नहीं होगा। राष्ट्रपति द्वारा प्रेषित विशेष निर्देश के उत्तर में पुनः उच्चतम न्यायालय ने अपने पूर्व मत की पुष्टि की है।

श्री गणपति केशवराम रेड्डी बनाम नफीसउल हसन के प्रकरण[5] में उच्चतम न्यायालय के समक्ष श्री मिस्त्री को उत्तर प्रदेश विधान-सभा के अध्यक्ष के आदेश पर निरुद्ध किये जाने का प्रश्न था। श्री मिस्त्री के निरुद्ध किये जाने का विरोध अनुच्छेद 22 (2) की अवहेलना के आधार पर किया गया था। इस अनुच्छेद के अनुसार किसी भी व्यक्ति को जो पुलिस की अभिरक्षा में निरुद्ध किया गया हो उसे बन्दीकरण के स्थान से दण्डाधिकारी के न्यायालय तक यात्रा

---

[3] ए० आई० आर० 1965, उच्चतम न्यायालय, पृ० 745।
[4] ए० आई० आर० 1959, उच्चतम न्यायालय, पृ० 395।
[5] ए० आई० आर० 1954, उच्चतम न्यायालय, पृ० 636।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

के लिए आवश्यक समय को छोड़कर 24 घण्टे के भीतर निकटतम दण्डाधिकारी के समक्ष प्रस्तुत किया जाना अनिवार्य है। इस कालावधि से अधिक दण्डाधिकारी के प्राधिकार के बिना किसी भी व्यक्ति को पुलिस की अभिरक्षा में निरुद्ध नहीं रखा जा सकता। इस प्रकरण में स्वीकृत तथ्यों के आधार पर उच्चतम न्यायालय ने यह मान्य किया था कि चूँकि अनुच्छेद 22 (2) की अवहेलना की गयी थी इस कारण श्री मिस्त्री का बन्दीकरण अवैध था। परन्तु उच्चतम न्यायालय ने शर्मा के प्रकरण में टिप्पणी करते हुए यह मत व्यक्त किया था कि चूँकि इस प्रकरण में महान्यायवादी की स्वीकृति के आधार पर ऐसा निर्णय किया गया था इसलिए श्री मिस्त्री के प्रकरण का निर्णय गम्भीर विचारोपरान्त किया गया है, ऐसा नहीं माना जा सकता। इस निर्णय के पश्चात् पुनः राष्ट्रपति द्वारा प्रेषित विशेष निर्देश के उत्तर में उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि यह नहीं माना जा सकता कि अनुच्छेद 22 (2) विशेषाधिकारों को निर्बन्धित करता है। ऐसा निर्णय अन्तिम रूप से श्री मिस्त्री के प्रकरण में हो चुका है। इस प्रकार यह प्रश्न भविष्य के निर्णय के लिए उच्चतम न्यायालय द्वारा छोड़ दिया गया है।

सदन में न्यायाधीशों के आचरण पर चर्चा

उच्चतम न्यायालय अथवा किसी उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश द्वारा कर्त्तव्य-पालन में किये गये आचरण के विषय में अनुच्छेद 121 तथा 211 के अनुसार सदन में चर्चा नहीं की जा सकती। अनुच्छेद 121 के अनुसार किसी भी न्यायाधीश को हटाने की प्रार्थना करने वाले समावेदन को राष्ट्रपति के समक्ष रखने के प्रस्ताव पर ही केवल संसद में चर्चा की जा सकती है, अन्यत्र नहीं। उड़ीसा उच्च न्यायालय ने सुरेन्द्र महन्ती बनाम नभ कृष्ण चौधरी[6] के प्रकरण में यह मान्य किया है कि अनुच्छेद 194 (1) का वाक्-स्वातन्त्र्य अनुच्छेद 211 से निर्बन्धित होता है। उच्चतम न्यायालय ने भी राष्ट्रपति द्वारा प्रेषित विशेष निर्देश में यह राय प्रकट की है कि अनुच्छेद 121 व 211 संसद या विधानमण्डल में प्रदत्त वाक्-स्वातन्त्र्य को निर्बन्धित करता है।

संसद या विधानमण्डलों की प्रक्रिया विनियामक नियमों और स्थायी आदेश के अधीन

संविधान के अनुच्छेद 118 (1) एवं 208 (1) द्वारा संसद अथवा राज्य विधानमण्डलों को संविधान के उपबन्धों के अधीन अपनी प्रक्रिया तथा कार्य-संचालन के विनियमन के अधिकार प्रदत्त किये गये हैं।

शब्द 'संविधान के उपबन्धों के अधीन' को स्पष्ट करते हुए उच्चतम न्यायालय ने राष्ट्रपति द्वारा प्रेषित विशेष निर्देश के उत्तर में अपना मत व्यक्त किया है कि कोई भी सदन अपनी प्रक्रिया तथा कार्य-संचालन सम्बन्धी नियम संविधान के उपबन्धों के अधीन बना सकता है। यह प्रावधान स्पष्ट रूप से इंगित करता है कि यदि सदन की प्रक्रिया तथा कार्य-संचालन सम्बन्धी नियम बनाने हों तो यह नियम संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों के अधीन होंगे। दूसरे शब्दों में यदि सदन द्वारा अनुच्छेद 194 (2) के अनुसार विशेषाधिकारों के क्रियान्वयन सम्बन्धी नियम बनाने हों तो यह नियम भी नागरिकों के मूल अधिकारों के अधीन बनेंगे।

---

[6] ए० आई० आर० 1958, उड़ीसा उच्च न्यायालय, पृ० 168।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विधानमण्डलों तथा संसद ने अनुच्छेद 105 (1) एवं 194 (1) में प्रदत्त वाक्-स्वातन्त्र्य को अपने नियमों द्वारा निर्बन्धित किया है जो सामान्य रूप से इस प्रकार है : बोलते समय कोई भी सदस्य

(1) किसी ऐसे तथ्य विषय का निर्देश नहीं कर सकता जो किसी भी न्यायालय के विचाराधीन हो ।

(2) किसी भी सदस्य के विरुद्ध व्यक्तिगत आक्षेप नहीं कर सकता ।

(3) संसद अथवा राज्य विधानमण्डल की कार्यवाही के सम्बन्ध में आपत्तिजनक शब्दों का उपयोग नहीं कर सकता ।

(4) संसद अथवा राज्य विधानमण्डल के किसी निर्णय पर रद्द करने वाले प्रस्ताव को छोड़कर अन्य प्रकार से आक्षेप नहीं कर सकता ।

(5) उच्चाधिकार वाले व्यक्तियों के आचरण पर आक्षेप नहीं कर सकता परन्तु मूल प्रस्ताव के आधार पर ऐसे व्यक्तियों के कर्तव्य-पालन में किये गये आचरण पर चर्चा की जा सकती है । उच्चतम अधिकार वाले व्यक्ति वे हैं जिनके आचरण पर संविधान के अनुसार बिना मूल प्रस्ताव के चर्चा नहीं की जा सकती या अध्यक्ष की राय से माने गये ऐसे व्यक्ति हैं जिनके आचरण की चर्चा बिना मूल प्रस्ताव के नहीं की जा सकती ।

(6) अभिद्रोहात्मक, राजद्रोहात्मक अथवा मानहानिकारक शब्दों का उपयोग नहीं कर सकता ।

(7) भाषण के अधिकार का उपयोग सदन के कार्य में बाधा डालने के लिए नहीं कर सकता ।

(8) अध्यक्ष को हटाने के प्रस्ताव को छोड़कर अध्यक्ष की व्यवस्था, आदेश या निर्देश पर कोई प्रश्न नहीं कर सकता ।

उपर्युक्त निर्बन्धों का उल्लंघन किये जाने पर कोई भी सदस्य अध्यक्ष के आदेशानुसार सदन से सत्र के अवशिष्ट काल तक निलम्बित किया सकता है या सदस्य द्वारा बोले गये शब्दों को सदन की कार्यवाही से निकाला जा सकता है या शब्द वापिस लिए जाने का आदेश अध्यक्ष द्वारा दिया जा सकता है । अत्यन्त गम्भीर मामलों में सदस्य को सदन से निष्कासित भी किया जा सकता है ।

अनुच्छेद 105 (1) एवं 194 (1) का क्षेत्र

इन अनुच्छेदों के क्षेत्र पर विचार करते हुए कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा जतीश-चन्द्र घोष बनाम हरिसाधन[7] के प्रकरण में यह निर्णय दिया गया है कि सदस्यों के अधिकार अत्यन्त स्पष्ट हैं । सदन की चहार-दीवारी में बोले जाने वाले शब्दों के लिए सदस्य के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती । सदन द्वारा अधिकृत किसी भी प्रकाशन से उत्पन्न मामले को लेकर उस पर न्यायालय में कार्यवाही नहीं की जा सकती किन्तु सदन के सदस्य के रूप में उसे संविधान के अनुच्छेद 105 (1, 2) एवं 194 (1,2) द्वारा प्रदत्त अधिकारों से अधिक अधिकार प्राप्त नहीं हैं । संक्षेप में संविधान के एवं सदन की प्रक्रिया तथा कार्य संचालन

[7] ए० आई० आर० 1956, कलकत्ता उच्च न्यायालय, पृ० 433–7 ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सम्बन्धी नियमों के अधीन संसद या विधानमण्डलों में किसी भी सदस्य को भाषण की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है ।

अनुच्छेद 105 (2) एवं 194 (2) के अन्तर्गत विधिक कार्यवाही से छूट

संसद या विधान मण्डलों में या उसकी किसी समिति में कही हुई बात अथवा दिये गये किसी मत के विषय में किसी भी सदस्य के विरुद्ध न्यायालय में कोई कार्यवाही नहीं चल सकती ।

अनुच्छेद 105 (1) एवं 194 (1) के समान अनुच्छेद 105 (2) एवं 194 (2) में 'संविधान के उपबन्धों तथा संसद या विधानमण्डल की प्रक्रिया के विनियामक नियमों के अधीन' शब्दों का उपयोग नहीं किया गया है जिसका अर्थ है उप-अनुच्छेद (2) में प्रदत्त गारन्टी संविधान के कतिपय उपबन्धों से निर्बन्धित नहीं की गई है । उप-अनुच्छेद (2) में प्रदत्त गारन्टी संविधान के उपबन्धों के अधीन न होकर अपने आप में पूर्ण तथा स्वतन्त्र है । यह सत्य है कि संविधान के अनुच्छेद 121 तथा 211 के अनुसार उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश के कर्त्तव्य सम्बन्धी आचरण पर सदन में चर्चा नहीं की जा सकती किन्तु यदि कोई सदस्य अनुच्छेद 121 तथा 211 का उल्लंघन कर दे तो उसे उप-अनुच्छेद (2) का संरक्षण प्राप्त होगा और उस पर किसी भी न्यायालय में विधिक कार्यवाही नहीं की जा सकेगी । उड़ीसा उच्च न्यायालय ने सुरेन्द्र महन्ती बनाम नभकृष्ण चौधरी के प्रकरण[8] में इस सिद्धान्त की पुष्टि की है तथा यह ठहराया है कि अनुच्छेद 194 (2) की गारन्टी अनुच्छेद 194 (1) की गारन्टी के समान निर्बन्धित नहीं है ।

राष्ट्रपति द्वारा प्रेषित विशेष निर्देश के उत्तर में उच्चतम न्यायालय द्वारा भी यही मत व्यक्त किया गया है कि यदि कोई विधायक वाक्-स्वातन्त्र्य का उपयोग कर अनुच्छेद 211 का उल्लंघन करता है तो भी उसके विरुद्ध न्यायालय में कार्यवाही नहीं की जा सकती । यदि सदन में बोले गये शब्दों से अथवा दिये गये मत से संविधान में निहित भाग 3 के मूल अधिकारों का उल्लंघन हुआ हो तो भी ऐसा करने वाले सदस्य को किसी न्यायालय में उत्तर-दायी नहीं ठहराया जा सकता । यदि कही हुई बात मानहानिकारक हो अथवा देश के सामान्य कानून का उल्लंघन करती हो तो भी ऐसा करने वाले सदस्य को अनुच्छेद 194 (2) का संरक्षण प्राप्त होगा । वह ऐसे किसी भी उल्लंघन के लिए सदन के अध्यक्ष द्वारा उत्तरदायी ठहराया जा सकता है । उसके विरुद्ध अध्यक्ष द्वारा उचित कार्यवाही भी की जा सकती है, किन्तु ऐसे मामले न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र से परे होंगे । संविधान के निर्माताओं ने अनुच्छेद 194 (2) का क्षेत्र पूर्ण एवं अप्रतिबन्धित रखा है ।

कार्यवाही

संसद या विधान मण्डल में अथवा उसकी समिति में कही हुई बात अथवा दिये गये मत के विषय में सदस्यों को कानूनी कार्यवाही से छूट प्रदान की गई है । क्या शब्द 'कही हुई बात' या 'दिये गये मत' में लिखे हुए शब्द अथवा ऐसे कार्य जो सदन या समिति में होने वाली चर्चाओं से अथवा कार्यवाही से सम्बन्धित हैं, समाविष्ट किये जा सकते हैं ? सदन में होने

[8] ए० आई० आर० 1958, उड़ीसा उच्च न्यायालय, पृ० 168 ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

वाली चर्चा, भाषण या वह सम्पूर्ण क्रिया जो चर्चा या वाद-विवाद से शुरू होकर निर्णय की अवस्था तक पहुँचती है, उसे सदन की कार्यवाही कहा जाता है किन्तु यह संरक्षण उन कार्यों को प्राप्त नहीं है जो यद्यपि सदन की चहार-दीवारी में किए गये हैं किन्तु उनका स्वरूप अपराधात्मक है। यह विशेषाधिकार संसदीय कर्त्तव्यों के परिक्षेत्र तक ही सीमित है।

सार्वजनिक विषयों पर पत्राचार

किसी भी सदस्य का सार्वजनिक विषय पर मन्त्रियों से किया गया पत्राचार संसदीय कर्त्तव्यों के परिक्षेत्र के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। अनुच्छेद 105 (2) या 194 (2) द्वारा प्रदत्त संरक्षण संसद या विधान मण्डल या उसकी समिति में कही हुई बात को प्राप्त है। संसद या विधान मण्डल या उसकी समिति की चहार-दीवारी के बाहर कही गई या लिखी गई बात को उपर्युक्त संरक्षण प्रदान नहीं किया जा सकता। सदस्य तथा उसके निर्वाचकों के मध्य हुए पत्राचार के प्रकाशन को सामान्य नागरिक को प्रदान किये गये अधिकारों से अधिक अधिकार प्रदान नहीं किये जा सकते।[9]

सरकारी रहस्यों का प्रकाशन

संसद या विधान मण्डल में प्रकट किये गये सरकारी रहस्यों के विषयों में सरकारी रहस्य अधिनियम, सन् 1923 के अन्तर्गत कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती किन्तु सरकारी रहस्यों की जानकारी प्राप्त करने का यत्न संसद या विधानमण्डल की कार्यवाही के परिक्षेत्र से बाहर है। अतः ऐसी जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न या किसी व्यक्ति को ऐसी जानकारी देने के लिए लुभाना आदि कार्यों के लिए सदस्य को सरकारी रहस्य अधिनियम, सन् 1923 के अनुसार उत्तरदायी ठहराया जा सकता है।

संसद अथवा विधानमण्डल के द्वारा प्राधिकृत कार्यवाही के प्रकाशन के विषय में विधिक कार्यवाही से छूट

संसद अथवा विधान मण्डल के किसी भी सदन के प्राधिकार के द्वारा या उसके अधीन किसी प्रतिवेदन, पत्र, मतों या कार्यवाहियों के प्रकाशन के विषय में किसी भी न्यायालय में कोई भी कार्यवाही नहीं चलायी जा सकती।

अनुच्छेद 194 (2) में प्रदत्त विधिक कार्यवाही की छूट केवल उन्हीं प्रकाशनों के सम्बन्ध में है जिनका प्रकाशन किसी भी सदन के प्राधिकार से या उसके अधीन हुआ है। अतः स्पष्ट है कि इस संरक्षण को प्राप्त करने के लिए केवल संसद या विधानमण्डल का सदस्य होना पर्याप्त नहीं है। इस विशेषाधिकार के अन्तर्गत विधिक कार्यवाही से छूट प्राप्त करने का दावा करने के पूर्व यह प्रमाणित किया जाना आवश्यक है कि अभियोजन ऐसे विषय के सम्बन्ध में है जो विधान मण्डल की कार्यवाही का अंश है या रोष उत्पन्न करने वाले शब्द ऐसे कार्यवृत्त का अंश है जो किसी भी सदन के प्राधिकार से या उसके अधीन प्रकाशित किये गये हैं।

---

[9] ए० आई० आर० 1956, जतीशचन्द्र बनाम हरिसाधन, कलकत्ता उच्च न्यायालय, पृ० 433।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

वाक्-स्वातन्त्र्य एवं सदन के प्राधिकार से या उसके अधीन प्रकाशित कार्यवृत्त के विषय में विधिक कार्यवाही से छूट के अधिकार के विषय में अनुच्छेद 194 (1) तथा (194) (2) में प्रदत्त संरक्षण पूर्ण एवं निश्चायक है किन्तु इस परिक्षेत्र के अन्तर्गत न आने वाले विषयों का निर्णय सामान्य विधियों के अनुसार होगा। मानहानि के सम्बन्ध में बनायी गयी विधियों ने विधान मण्डलों या संसद की कार्यवाही के प्रकाशन को अपवाद नहीं माना है अतः ऐसे प्रकाशन जो विधान मण्डल या संसद की कार्यवाही के सम्बन्ध में हैं, किन्तु जिनका प्रकाशन सदन के प्राधिकार से या उसके अधीन नहीं हुआ है, सामान्य विधियों की परिधि से बाहर नहीं है।[10]

सुरेशचन्द्र बैनर्जी और अन्य बनाम पुनीत गोआला के प्रकरण[11] के तथ्य इस प्रकार थे कि बंगाल विधानसभा के एक सदस्य ने विधानसभा में दिये गये भाषण को एक समाचार पत्र में प्रकाशित करवाया। सदस्य का भाषण मानहानिकारक था। न्यायालय के समक्ष भारतीय दण्ड विधान की धारा 500 के अन्तर्गत प्रस्तुत किये गये अभियोग पत्र की कार्यवाही में विधानसभा सदस्य ने अनुच्छेद 194 (2) के अन्तर्गत छूट का दावा किया। उच्च न्यायालय ने यह तो मान्य किया कि सदन में बोले गये शब्दों के विषय में किसी भी न्यायालय में कार्यवाही नहीं चलाई जा सकती, किन्तु अभियोग का कारण सदन में कहे गये शब्दों से उत्पन्न न होकर उस प्रकाशन से हुआ था जो सदन के बिना प्राधिकार से हुआ था। इसी प्रकरण में उच्च न्यायालय ने सदस्य के साथ समाचार पत्र के प्रकाशक एवं संपादक को भी दोषी ठहराया था। अतः यदि सदन में कहे गये शब्द मानहानिकारक हैं और उनका प्रकाशन सदन के प्राधिकार से या उसके अधीन नहीं हुआ है तो ऐसे प्रकाशनों के सम्बन्ध में अनुच्छेद 194 (2) के संरक्षण का दावा नहीं किया जा सकता और ऐसे प्रश्नों का निर्णय सामान्य विधियों के अनुसार ही किया जायेगा।

अनुच्छेद 105 (2) तथा 194 (2) का संरक्षण समाचार-पत्रों को प्राप्त नहीं है। कारण उनका प्रकाशन न तो सदन के प्राधिकार से होता है और न ही उसके अधीन। समाचार पत्रों में प्रकाशित होने वाली किसी भी सदन की कार्यवाही यदि मानहानिकारक हो और ऐसा प्रकाशन चाहे कितना ही सद्भाविक क्यों न हो फिर भी उन्हें भारतीय दण्ड विधान की धारा 199 तथा 500 के अधीन उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। इस स्थिति को दृष्टिगत रखते हुए संसद द्वारा संसदीय कार्यवाही (के प्रकाशन की रक्षा) अधिनियम, 1956 पारित किया गया। इस अधिनियम के द्वारा संसदीय कार्यवाही के सद्भाविक प्रकाशन को संरक्षण प्रदान किया गया है किन्तु उस संरक्षण का दावा करने के पूर्व यह सिद्ध करना आवश्यक होगा कि :

(1) प्रकाशन पर्याप्त रूप से सत्य है।

(2) प्रकाशन संसद की किसी भी कार्यवाही का प्रकाशन है।

(3) प्रकाशन लोकहित में है।

(4) प्रकाशन सद्भाविक है।

1956 के अधिनियम के कारण जहाँ तक संसद की कार्यवाही का प्रश्न है उसके

---

[10] ए० आई० आर० 1956, कलकत्ता उच्च न्यायालय, पृ० 433।

[11] ए० आई० आर० 1951, कलकत्ता उच्च न्यायालय, पृ० 176।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विषय में समाचार पत्रों को संरक्षण प्राप्त हो गया है किन्तु जिन प्रदेशों में अभी तक संसद के अधिनियम के अनुरूप अधिनियम नहीं बनाया गया है वहाँ पर समाचार-पत्रों को विधान-मण्डलों की कार्यवाही के प्रकाशन के सम्बन्ध में सामान्य विधियों के अनुसार उत्तरदायी ठहराया जा सकता है ।

कार्यवृत्त से निकाले गये शब्दों का प्रकाशन

भिन्न-भिन्न विधानमण्डलों तथा संसद के नियमों के अनुसार यदि पीठासीन अधिकारी इस राय का हो कि वाद-विवाद या चर्चा में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है

(1) जो अशिष्ट है, या

(2) संसद या विधानमण्डलों या उनकी समितियों की कार्यवाही के सम्बन्ध में आक्षेपजनक शब्दावली का प्रयोग किया गया है, या

(3) सदन के सदस्यों के लिये आक्षेपजनक शब्दावली का प्रयोग किया है,

तो पीठासीन अधिकारी ऐसे शब्दों को निकालने का आदेश दे सकता है ।

पीठासीन अधिकारी के आदेश से कार्यवाही से निकाले गये शब्दों के प्रकाशन के विषय में 1956 के अधिनियम के अन्तर्गत संरक्षण का दावा नहीं किया जा सकता । किसी भी सदस्य के भाषण के किसी अंश को निकाले जाने के पीठासीन अधिकारी के आदेश का अर्थ होता है कि निकाला गया अंश सदन में कभी भी नहीं कहा गया था । ऐसी परिस्थिति में सम्पूर्ण भाषण का सत्य एवं सद्भाविक प्रकाशन भी विधि के अनुसार विकृत तथा असद्-भाविक माना जाएगा तथा ऐसे भाषण का प्रकाशन, जिसमें निकाले गये शब्द भी सम्मिलित हों, न केवल पीठासीन अधिकारी के आदेश की अवेहलना है, वरन् वह प्रथम दृष्टि में सदन का अपमान भी है । इससे सम्पूर्ण सदन का विशेषाधिकार भंग होता है ।

सदस्यों के प्रकाशन के अधिकार पर अन्य निर्बन्ध

सदस्यों के प्रकाशन सम्बन्धी अधिकार पर अन्य प्रतिबन्ध निम्नलिखित है :

(1) सदस्य जो प्रस्ताव या प्रश्न सदन में रखना या पूछना चाहता है उसका प्रकाशन पीठासीन अधिकारी की स्वीकृति के पूर्व नहीं किया जाना चाहिए ।

(2) मन्त्री जिन प्रश्नों का उत्तर सदन में देना चाहता है उन उत्तरों का प्रकाशन उस समय तक नहीं किया जाना चाहिये जब तक सदन में उत्तर नहीं दे दिये गये हों या पटल पर नहीं रख दिये गये हों ।

(3) सदन की गोपनीय बैठकों का विवरण या उसके सम्बन्ध में समाचार सदन की स्वीकृति के बिना प्रकाशित करना वर्जित है ।

(4) किसी भी समिति के समक्ष दिया गया साक्ष्य, प्रतिवेदन या कार्यवृत्त जब तक सदन के पटल पर न रख दिया जाए तब तक उसका प्रकाशन वर्जित है ।

अनुच्छेद 105 (3) तथा 194 (3)

संसद तथा विधान मण्डलों में वाक्-स्वातन्त्र्य एवं उनमें कही गई बात या दिये गये मत के विषय में विधिक कार्यवाही से उन्मुक्ति तथा संसद या विधानमण्डल के प्राधिकार से या

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उसके अधीन किये गये प्रकाशन के विषय में विधिक कार्यवाही से उन्मुक्ति के अतिरिक्त संसद एवं विधानमण्डलों की अन्य शक्तियाँ, विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ अनुच्छेद 105 (3) तथा 194 (3) के अनुसार ऐसी होंगी जैसी समय-समय पर संसद या विधानमण्डलों की विधि द्वारा परिभाषित की जायें। इन अनुच्छेदों के उत्तरार्द्ध में यह प्रावधान किया गया है कि जब तक संसद या विधानमण्डल विधि द्वारा अपने लिये विशेषाधिकार परिभाषित नहीं कर लेते, उस समय तक संसद तथा विधानमण्डलों की शक्तियाँ, विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ वही होंगी, जो ब्रिटिश संसद के हाउस ऑफ कॉमन्स को भारतीय संविधान के प्रभावशील होने के दिन अर्थात् 26 जनवरी, 1950 को प्राप्त थीं। उपर्युक्त अनुच्छेद के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि भविष्य में संसद या विधानमण्डल यदि चाहे तो, विधि द्वारा अपने विशेषाधिकार को परिभाषित कर सकते। या फिर सर्वदा के लिये हाउस ऑफ कॉमन्स को संविधान प्रारम्भ होने के दिन जो अधिकार प्राप्त थे, उनसे वे संतुष्ट रह सकते हैं।

'विधि द्वारा परिभाषित'

अनुच्छेद 105 (3) तथा 194 (3) के पूर्वार्द्ध में 'विधि द्वारा परिभाषित' शब्दों का उपयोग किया गया है अर्थात् भविष्य में जब भी संसद या विधानमण्डलों द्वारा इस सम्बन्ध में कानून बनाया जायेगा तो वह कानून अनुच्छेद 245 के अधीन बनेगा। अनुच्छेद 245 (1) द्वारा संसद या राज्य विधानमण्डलों को यह अधिकार दिया गया है कि संविधान के उपबन्धों के अधीन संसद सम्पूर्ण राज्य क्षेत्र के लिए या उसके किसी भाग के लिये तथा राज्य विधानमण्डल अपने सम्पूर्ण क्षेत्र के लिये या उसके किसी भाग के लिये विधि या कानून बना सकते हैं।

अनुच्छेद 105 (3) तथा 194 (3) का आरम्भ अनुच्छेद 105 (1) तथा 194 (1) के समान 'संविधान के उपबन्धों के अधीन' शब्दों से नहीं होता। स्पष्ट है कि जिस प्रकार उप-अनुच्छेद (1) को संविधान के कतिपय प्रावधानों से सम्बन्धित किया गया है उस प्रकार यद्यपि उप-अनुच्छेद (3) को निर्बन्धित नहीं किया गया है तथापि यह स्पष्ट है कि चूंकि कोई भी नया कानून जो संसद या विधानमण्डल द्वारा बनाया जायेगा वह अनुच्छेद 245 के अधीन होगा और इस प्रकार संविधान के उपबन्धों के अधीन होगा। यदि अनुच्छेद 245 के अनुसार बनाये गये कानूनों द्वारा संविधान के उपबन्धों का उल्लंघन होता है तो सक्षम न्यायालय द्वारा ऐसा कानून शून्य घोषित किया जा सकता है। संविधान के अनुच्छेद 22 (2) द्वारा यह प्रावधान किया गया है कि यदि कोई भी व्यक्ति पुलिस की अभिरक्षा में है तो उसे यात्रा के समय को छोड़कर निकटतम न्यायालय में 24 घण्टे के भीतर प्रस्तुत किया जाना आवश्यक है। अतः यदि संसद या विधानमण्डल भविष्य में अपनी ही शक्तियाँ, विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ विधि द्वारा परिभाषित करते हैं तो ऐसा कानून बनाते समय उन्हें यह ध्यान रखना होगा कि ऐसे कानून में पीठासीन अधिकारी के आदेश से बन्दी बनाये जाने वाले व्यक्ति को 24 घण्टे के भीतर निकटतम न्यायालय में प्रस्तुत किये जाने की व्यवस्था की जाये और यदि ऐसी व्यवस्था नहीं की गई तो ऐसा कानून उस सीमा तक सक्षम न्यायालय द्वारा अवैध या शून्य घोषित किया जा सकेगा। अनुच्छेद 105 (3) तथा 194 (3) के अधीन बनने वाले नये कानून संविधान के उपबन्धों के अधीन ही बन सकते हैं और न्यायालयों को ऐसे

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कानून की जाँच कर उसे शून्य घोषित करने का अधिकार है । इस सिद्धान्त को उच्चतम न्यायालय द्वारा एम० एस० एम० शर्मा के प्रकरण[12] में तथा राष्ट्रपति द्वारा प्रेषित विशेष निर्देश[13] के उत्तर में मान्य किया गया है ।

उप-अनुच्छेद (3) के उत्तरार्द्ध के अवलोकन से स्पष्ट है कि संसद या विधानमण्डलों को वही विशेषाधिकार, शक्तियाँ एवं उन्मुक्तियाँ प्राप्त हैं जो संविधान के आरम्भ होने के दिन तक ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स को प्राप्त थे । अतः विशेषाधिकार का दावा करने के पूर्व यह प्रमाणित किया जाना आवश्यक है कि संविधान के आरम्भ होने के दिन हाउस ऑफ कॉमन्स विशिष्ट विशेषाधिकार सम्पन्न था और उसे ब्रिटिश न्यायालयों ने भी मान्य किया था । यदि किसी विशेषाधिकार की उत्पत्ति हाउस ऑफ कॉमन्स में भारतीय संविधान के प्रभावशील होने के पश्चात् हुई है तो भारतीय संसद या विधान मण्डलों द्वारा ऐसे विशेषाधिकार के विषय में दावा नहीं किया जा सकेगा ।

संविधान के उपबन्धों एवं विशेषाधिकारों का सम्बन्ध

चूँकि उप-अनुच्छेद (3) का पूर्वार्द्ध न्यायालयों की जाँच का विषय बन सकता है इस तथ्य के बावजूद भी कि उप-अनुच्छेद (3) के उत्तरार्द्ध में 'संविधान के उपबन्धों के अधीन' शब्दों का उपयोग नहीं किया गया है उप-अनुच्छेद (3) का उत्तरार्द्ध भी न्यायालयों के परीक्षण का विषय बन सकता है ऐसा तर्क अनेक विधिवेत्ताओं द्वारा प्रस्तुत किया गया है । दूसरे शब्दों में उनका कथन है कि ब्रिटिश परम्परा पर आधारित समस्त शक्तियाँ, विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ जो भारतीय संसद या विधान मण्डलों को प्राप्त हैं, यदि संविधान के उपबन्धों का, उदाहरणार्थ मूल अधिकारों का, उल्लंघन करती हैं, तो सक्षम न्यायालय द्वारा ऐसी शक्तियाँ, विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ अवैध ठहरायी जा सकती हैं ।

दूसरी ओर यह तर्क दिया जाता है कि यदि संविधान के निर्माताओं की यह इच्छा रही होती कि उप-अनुच्छेद (3) को संविधान के अन्य उपबन्धों के अधीन रखा जाये, तो उसे वे उसी प्रकार निर्बन्धित करते जिस प्रकार उन्होंने उप-अनुच्छेद (1) को निर्बन्धित किया है । एम० एस० एम० शर्मा बनाम श्री कृष्ण सिन्हा के प्रकरण[14] में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों पर अनुच्छेद 105 (3) तथा 194 (3) के उत्तरार्द्ध में प्रदत्त विशेषाधिकारों को वरीयता प्राप्त होगी । किन्तु इसके पश्चात् उच्चतम न्यायालय ने राष्ट्रपति द्वारा प्रेषित विशेष निर्देश के उत्तर में यह अभिमत व्यक्त किया है कि शर्मा के प्रकरण में बहुमत के निर्णय का यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि प्रत्येक अवस्था में विशेषाधिकारों को मूल अधिकारों पर वरीयता प्राप्त होगी । उच्चतम न्यायालय द्वारा यह अभिमत व्यक्त किया गया था कि शर्मा के प्रकरण में केवल इतना ही प्रतिपादित किया गया था कि अनुच्छेद 194 (3) के उत्तरार्द्ध में निहित विशेषाधिकार अनुच्छेद 19 (1) क के अधीन नहीं हैं । उच्चतम न्यायालय के अनुसार मूल अधिकारों एवं

---

[12] ए० आई० आर० 1959, उच्चतम न्यायालय, पृ० 395 ।
[13] ए० आई० आर० 1965, उच्चतम न्यायालय, पृ० 745 ।
[14] ए० आई० आर० 1959, उच्चतम न्यायालय, पृ० 395 ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विशेषाधिकार के मध्य उत्पन्न होने वाले टकराव को 'अनुरूप अर्थ' के सिद्धान्त के आधार पर सीमित किया जाना चाहिए। इस विषय पर ऊपर विस्तारपूर्वक विचार किया जा चुका है, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जहाँ तक मूल अधिकारों का प्रश्न है न्यायालयों द्वारा यह मान्य किया गया है कि—

(1) अनुच्छेद 194 (3) के विशेषाधिकार अनुच्छेद 19 (1) के अधीन नहीं है।[15]

(2) अनुच्छेद 20 (2) के द्वारा अनुच्छेद 194 (3) को निर्बन्धित नहीं किया गया है।[16]

(3) अनुच्छेद 22 (2) के सम्बन्ध में केशवराम रेड्डी के प्रकरण का निर्णय अन्तिम निर्णय नहीं माना गया है।[17]

(4) अनुच्छेद 21 द्वारा अनुच्छेद 194 (3) को निर्बन्धित किया गया है।[18]

न्यायालयों द्वारा हस्तक्षेप

संविधान के अनुच्छेद 122 तथा 212 में प्रावधान किया गया है कि न्यायालयों द्वारा संसद या विधानमण्डलों या उसकी समिति की प्रक्रिया में किसी अनियमितता के आधार पर संसद या विधानमण्डलों की कार्यवाही की जाँच नहीं की जा सकती। इसी अनुच्छेद के द्वारा संसद तथा विधानमण्डलों के पदाधिकारियों को जिनपर संविधान के अधीन या संसद या विधानमण्डलों की प्रक्रिया के द्वारा कार्यवाही के विनियमन का उत्तरदायित्व है, न्यायालय के क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त रखा गया है।

सदन द्वारा विधियों का किस प्रकार अर्थ लगाया गया है इस विषय में न्यायालयों को जाँच करने का अधिकार नहीं है।

विधानसभा के क्षेत्राधिकार में आने वाले विषय की न्यायालयों द्वारा समालोचना नहीं की जानी चाहिए।[19]

प्रक्रिया में अनियमितता के आधार पर विधानमण्डल की कार्यवाही को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती।

विधेयकों सम्बन्धी प्रक्रिया के विषय में उच्च न्यायालयों ने हस्तक्षेप करने से सदैव इन्कार किया है। उच्च न्यायालय विधानमण्डलों के आन्तरिक प्रक्रिया के मामलों में हस्तक्षेप किये जाने के विरुद्ध है।[20]

विधानमण्डल की विधायिनी शक्तियों के विषय में उच्च न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता।[21]

विधानमण्डल के समक्ष लम्बित विधेयक को किसी भी उच्च न्यायालय में इस

---

[15] ए० आई० आर० 1965, उच्चतम न्यायालय, पृ० 745।
[16] ए० आई० आर० 1954, इलाहाबाद उच्च न्यायालय, पृ० 395।
[17] ए० आई० आर० 1954, उच्चतम न्यायालय, पृ० 636।
[18] ए० आई० आर० 1951, उच्चतम न्यायालय, पृ० 395।
[19] ए० आई० आर० 1954, इलाहाबाद उच्च न्यायालय, पृ० 395।
[20] ए० आई० आर० 1965, आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय, पृ० 307।
[21] ए० आई० आर० 1956, हैदराबाद उच्च न्यायालय, पृ० 186।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि उसके द्वारा सांविधानिक उपबन्धों का उल्लंघन होगा।

यद्यपि यह सत्य है कि संसद या विधानमण्डलों की प्रक्रिया सम्बन्धी कार्यवाही को अनियमितता के आधार पर न्यायालयीन कार्यवाही का विषय नहीं बनाया जा सकता तथापि यदि विधानमण्डल की कार्यवाही न केवल अविधिक हो वरन् अवैधानिक भी हो तो कलकत्ता उच्च न्यायालय के अनुसार यथोचित आदेश जारी करने का अधिकार न्यायालयों को है।[22]

प्रक्रिया के सम्बन्ध में पीठासीन अधिकारी का निर्णय अन्तिम है।[23]

विधानमण्डलों के पीठासीन अधिकारियों को उच्च न्यायालय की कार्यवाही से उन्मुक्ति प्रदान की गई है।[24]

न्यायाधीशों के विरुद्ध कार्यवाही के सम्बन्ध में संसद या विधानमण्डलों के अधिकार

यदि विधानमण्डल के किसी भी सदन द्वारा स्वयं की मानहानि के सम्बन्ध में किसी व्यक्ति के विरुद्ध दाण्डिक आदेश जारी किये जाते हैं और यदि ऐसे आदेश की वैधानिकता के सम्बन्ध में किसी उच्च न्यायालय में याचिका के रूप में चुनौती दी जाती है और ऐसी किसी याचिका पर न्यायाधीश द्वारा आदेश पारित किये जाते हैं, तो ऐसा करते समय न्यायाधीश न तो विधानमण्डल का अपमान करता है और न ही किसी प्रकार से वह विधान मण्डल के किसी विशेषाधिकार का उल्लंघन करता है। इस सम्बन्ध में विधानमण्डल द्वारा न्यायाधीश पर विशेषाधिकार के उल्लंघन के सम्बन्ध में अपमान के प्रश्न को लेकर कार्यवाही नहीं की जा सकती।

राष्ट्रपति के विशेष निर्देश के उत्तर में उच्चतम न्यायालय द्वारा उपर्युक्त अभिमत प्रकट किया गया है।[25]

किन्तु इस अभिमत को उत्तर प्रदेश की विधानसभा ने मान्य नहीं किया है। उत्तर प्रदेश विधानसभा की विशेषाधिकार समिति ने विधानसभा में प्रस्तुत अपने प्रतिवेदन में जो विधानसभा द्वारा दो अगस्त, 1965 को स्वीकार किया गया है, अभिमत प्रकट किया है कि प्रस्तुत प्रकरण में विधान सभा ने अपने आदेश से श्री 'क' को विधान सभा के अपमान का दोषी ठहराया था। सदन द्वारा उसे दण्डित किया गया और तदनुसार 'क' को कारावास में रखा गया। अतः 'क' को जमानत पर मुक्त किये जाने का आदेश देने का अधिकार न्यायालय को नहीं था। जमानत पर मुक्ति आदेश पारित करते समय न्यायालय ने परम्पराओं का भी ध्यान नहीं रखा। सदन के आदेशों के सम्बन्ध में हस्तक्षेप करने का न्यायालयों को अधिकार नहीं है। अतः यदि न्यायालयों द्वारा सदन का अपमान होगा और जो व्यक्ति न्यायालय में इस प्रकार का हस्तक्षेप किये जाने की याचना करता है या ऐसे व्यक्ति को किसी अन्य व्यक्ति द्वारा सहायता दी जाती है तो वह भी सदन के अपमान का दोषी है। यद्यपि उत्तर प्रदेश विधानसभा ने

---

[22] ए० आई० आर० 1966, कलकत्ता उच्च न्यायालय, पृ० 363।
[23] ए० आई० आर० 1954, इलाहाबाद उच्च न्यायालय, पृ० 395।
[24] ए० आई० आर० 1954, उड़ीसा उच्च न्यायालय, पृ० 11।
[25] ए० आई० आर० 1965, उच्चतम न्यायालय, पृ० 747।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सम्बन्धित न्यायाधीशों तथा अधिवक्ता के विरुद्ध इस आधार पर कार्यवाही नहीं की कि विधानमण्डल तथा न्यायपालिका शासन के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग हैं और दोनों के सम्बन्धों का सुमधुर बने रहना उचित है, तथापि उत्तर प्रदेश विधानसभा द्वारा न्यायाधीशों के आचरण पर अप्रसन्नता व्यक्त की गई है।

उच्चतम न्यायालय के इस निर्णय पर पीठासीन अधिकारियों के सम्मेलन द्वारा भी विचार किया गया था और वे उच्चतम न्यायालय के अभिमत से इतने अधिक उद्विग्न थे कि उक्त सम्मेलन[26] में अनुच्छेद 105 तथा 194 में आवश्यक संशोधन किये जाने का प्रस्ताव भी पारित किया गया। सम्मेलन द्वारा अनुच्छेद 105 व 194 में इस प्रकार का संशोधन किये जाने की माँग की गई थी कि इन अनुच्छेदों की व्याख्या इस प्रकार कभी भी न की जा सके कि संसद, या विधानमण्डल या उसकी समितियों की शक्तियाँ, विशेषाधिकार या उन्मुक्तियाँ संविधान के अन्य उपबन्धों के अधीन हैं।

इसी अवधि में इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा यह अभिमत व्यक्त किया गया कि एक बार यदि यह सिद्धान्त मान लिया गया कि विधानसभा को अपने अपमान के विषय में दण्ड देने का अधिकार है और ऐसे आदेश के औचित्य या वैधानिकता की जाँच न्यायालय द्वारा नहीं की जा सकती तो यह भी मानना होगा कि सदन के आदेशों पर उच्च न्यायालय अपील न्यायालय के रूप में नहीं बैठ सकता। विधानमण्डल को यह निर्णय करने का पूर्ण अधिकार है कि उसका अपमान हुआ है या नहीं।[27]

उच्चतम न्यायालय, इलाहाबाद उच्च न्यायालय तथा उत्तर प्रदेश विधानसभा के अभिमतों का सूक्ष्म अध्ययन किया जाये तो इस निर्णय पर पहुँचना होगा कि सदन द्वारा न्यायाधीशों के विरुद्ध कार्यवाही की जा सकती है या नहीं, इस प्रश्न का अन्तिम रूप से निराकरण होना शेष है।

सामान्य वारंट

सदन का अपमान किये जाने पर तथा सदन द्वारा अधिकृत किये जाने पर पीठासीन अधिकारी द्वारा जारी किये वारंट का निर्वहन सदन के क्षेत्राधिकार के बाहर भी किया जा सकता है। वारंट जारी करने की शक्ति पर संविधान द्वारा क्षेत्राधिकार का निर्बन्ध नहीं लगाया गया है। पीठासीन अधिकारी द्वारा जारी किये गये वारंट का स्वरूप न्यायिक वारंट के स्वरूप के समान है और इस प्रकार के वारंट को कार्यपालिका द्वारा जारी किये गये वारंट के समकक्ष नहीं रखा जा सकता।

बन्दी बनाये जाने के विषय में उन्मुक्ति

सदस्य की सेवाएँ प्राप्त करने का सर्वप्रथम अधिकार संसद या विधानमण्डलों को है। जो व्यक्ति किसी भी सदस्य को बन्दी बनाकर उसके संसदीय कर्त्तव्य में बाधा उत्पन्न करता है वह सम्पूर्ण सदन के अपमान या विशेषाधिकार के उल्लंघन का दोषी है।

---

[26] पीठासीन अधिकारियों का बम्बई सम्मेलन, 11–12 जनवरी, 1965।

[27] ए० आई० आर० 1965, इलाहाबाद उच्च न्यायालय, पृ० 349।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

यद्यपि संविधान में इस उन्मुक्ति का स्पष्ट उल्लेख नहीं है तथापि सदस्य को बन्दी न बनाये जाने की उन्मुक्ति संविधान के अनुच्छेद 105 (3) तथा 194 (3) के द्वारा प्राप्त है। ब्रिटेन में कोई भी संसद सदस्य सत्र के 40 दिन पूर्व, सत्र की अवधि में तथा सत्र समाप्ति के 40 दिन पश्चात् तक बन्दी नहीं बनाया जा सकता। व्यवहार प्रक्रिया संहिता की धारा 135 (क) के अनुसार कोई भी संसद या विधानमण्डल का सदस्य या उसकी समिति का सदस्य सत्र की अवधि में, सत्र या बैठक के 14 दिन पूर्व तथा सत्र समाप्ति के 14 दिन पश्चात् तक बन्दी नहीं बनाया जा सकता। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना उचित होगा कि अनुच्छेद 105 (3) तथा 194 (3) के अनुसार संविधान के प्रभावशील होने के दिनांक तक ब्रिटिश संसद के हाउस ऑफ कॉमन्स को जो अधिकार उपलब्ध थे, वही अधिकार संसद या विधानमण्डलों को प्राप्त हैं। इस प्रावधान के अनुसार व्यवहार प्रक्रिया संहिता के प्रावधान के पश्चात् भी संसद या विधानमण्डल का सदस्य सत्र अवधि में, 40 दिन पूर्व तथा 40 दिन के पश्चात् तक बन्दी नहीं बनाया जा सकता। यद्यपि विशेषाधिकार के उल्लंघन की सूचना तुरन्त दी जानी चाहिए, किन्तु राजस्थान विधानसभा के एक सदस्य को बन्दी बनाये जाने की सूचना विलम्ब से दी गई थी तथा प्रकरण विशेषाधिकार समिति के सुपुर्द किया गया था।

उपर्युक्त उन्मुक्ति सदस्य को व्यवहार प्रक्रिया के सम्बन्ध में ही प्राप्त है। दाण्डिक प्रक्रिया इस उन्मुक्ति की परिसीमा से परे है। यदि कोई सदस्य किसी अपराध का दोषी हो तो वह बन्दी न बनाये जाने की उन्मुक्ति का दावा नहीं कर सकता।

यदि किसी भी सदस्य को उपर्युक्त विशेषाधिकार के उल्लंघन में बन्दी बना लिया गया हो तो सक्षम न्यायालय के सम्मुख बन्दी-प्रत्यक्षीकरण की याचिका प्रस्तुत कर उसे मुक्त करवाया जा सकता है।

पीठासीन अधिकारी को सदस्य के बन्दी बनाये जाने की सूचना

प्रत्येक सदन की प्रक्रिया के नियमों के अधीन जब—

(1) किसी भी सदस्य को दाण्डिक दोषारोपण पर या दण्डनीय अपराध के विषय में बन्दी बनाया गया हो, या

(2) जब किसी भी सदस्य को दण्ड दिया गया हो, या

(3) जब सदस्य कार्यपालिका के आदेश के अन्तर्गत बन्दी बनाया गया हो, या

(4) दण्ड दिये जाने के पश्चात् यदि सदस्य को जमानत पर मुक्त किया गया हो, तो ऐसी अवस्था में सदस्य के बन्दी बनाये जाने की या जमानत पर मुक्त किये जाने की सूचना सम्बन्धित अधिकारियों द्वारा निर्धारित प्रपत्र में सदन के पीठासीन अधिकारी को तुरन्त दी जानी चाहिए। सूचना तुरन्त दी गई है या नहीं, इसकी जाँच करने का अधिकार विशेषाधिकार समिति को है।

बन्दी बनाये जाने की उन्मुक्ति का दावा उस अवस्था में नहीं किया जा सकता जब सदस्य को विधि द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार या तो बन्दी बनाया गया है या उसे अभिरक्षा में रखा गया है।

सभी नागरिक विधि के समक्ष समान हैं। सदस्य के अधिकार नागरिक के अधिकारों से श्रेष्ठ नहीं है। इस नियम का अपवाद केवल सदस्यों के नियमों द्वारा प्रदत्त शक्तियाँ,

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ हैं। अतः जब विशेषाधिकार का प्रश्न नहीं हो तो सदस्य सामान्य नियमों एवं विधियों के ऊपर नहीं हैं। सामान्य विधियों द्वारा जो भी बंधन लगाये गये हों, वे निर्बन्ध सदस्य पर भी लागू होंगे।

अतः यदि सामान्य नियमों या विधियों द्वारा अपराध करने वाले सदस्य को हथकड़ी लगाना आवश्यक हो तो ऐसा किया जा सकता है। सम्बन्धित सदस्य द्वारा इस विषय में विशेषाधिकार का दावा नहीं किया जा सकता, किन्तु सदस्य को हथकड़ी लगाना, और वह भी अनावश्यक रूप से, उचित नहीं माना गया है।

कारावास के नियमों के अनुसार अन्य व्यक्तियों से या सदन के सदस्यों से किये जाने वाले पत्र-व्यवहार पर बन्धन लगाया जा सकता है। यद्यपि बंदी बनाये गये सदस्य को संसदीय पत्र और सूचनायें प्राप्त करने का अधिकार है, किन्तु यदि किसी नियम के अनुसार संसदीय पत्र या सूचनाएँ नहीं दी गई हैं, या उन्हें रोक लिया गया है, तो पीठासीन अधिकारी द्वारा ऐसे मामले में हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता, किन्तु सदस्य द्वारा प्रेषित पत्र कारावास अधिकारियों द्वारा रोके नहीं जा सकते।[28]

सदन के परिसर में सदस्य को बन्दी बनाये जाने से उन्मुक्ति

संसद तथा विधानमण्डलों के कार्य संचालन सम्बन्धी नियमों के अनुसार

(1) संसद या विधान मण्डलों के परिसर में पीठासीन अधिकारी की बिना पूर्वाज्ञा के किसी भी सदस्य को बन्दी नहीं बनाया जा सकता। परन्तु बिहार विधानसभा के परिसर में एक सदस्य को सदन की दैनिक बैठक की समाप्ति के पश्चात् बन्दी बनाया गया था। इस प्रकरण में विधानसभा अध्यक्ष द्वारा सदस्य को बन्दी बनाने की अनुमति प्रदान करने से इन्कार कर दिया था। जब इस मामले में विशेषाधिकार का प्रश्न उठाया गया तो विधानसभा द्वारा इसे सदस्य के विशेषाधिकार का उल्लंघन नहीं माना गया।[29]

(2) पीठासीन अधिकारी की बिना पूर्वाज्ञा प्राप्त किये सदन के परिसर में दीवानी या फौजदारी समन किसी सदस्य को नहीं दिये जा सकते। यद्यपि जैसाकि पूर्व में बताया जा चुका है, सत्र के आरम्भ होने के 40 दिन पूर्व तथा सत्र समाप्ति के 40 दिन पश्चात् तक तथा सत्र की अवधि में किसी भी सदस्य को दीवानी कारावास में बन्दी नहीं बनाया जा सकता, तथापि यह उन्मुक्ति आपराधिक मामले में सदस्य को प्राप्त नहीं है। परन्तु सदस्य को विधान-मण्डलों के नियमों द्वारा बन्दीकरण तथा समन की तामील से उन्मुक्ति दोनों ही प्रकार के दीवानी या आपराधिक मामलों में प्रदान की गई है। इन नियमों का उल्लंघन सदन के विशेषाधिकारों का उल्लंघन है और दोषी व्यक्ति सदन द्वारा दण्डित किया जा सकता है। मद्रास विधानसभा के अध्यक्ष ने सदस्य के बन्दी बनाये जाने की अनुमति प्रदान करने की प्रार्थना को, विशेषा-धिकार का उल्लंघन माना है। परन्तु बिहार विधानसभा का मत इससे विपरीत है।[30]

---

[28] प्रिविलिजिज डाइजेस्ट, 1958, पृ० 93, लोकसभा, तथा ए० आई० आर० 1952, कलकत्ता उच्च न्यायालय, पृ० 632।

[29] प्रिविलिजिज डाइजेस्ट, 1964, पृ० 11, बिहार।

[30] वही।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

शब्द 'सभा के परिसर' का तात्पर्य सभा भवन, सभाकक्षों, दीर्घाओं, और उनको मिलाकर ऐसे अन्य स्थानों से है जिनका पीठासीन अधिकारी समय-समय पर उल्लेख करें।

जूरी सदस्य के रूप में नियुक्ति से उन्मुक्ति

दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 320 (क, क) के अनुसार संसद तथा विधानमण्डलों के सदस्यों को जूरी के सदस्यों के रूप में नियुक्त नहीं किया जा सकता। चूँकि प्रायः सभी राज्यों में मुकदमों की जूरी के द्वारा सुनवाई समाप्त कर दी गई है, अतः इस विशेषाधिकार का विशेष महत्त्व नहीं रह जाता।

सदन के अन्तर्गत दिये गये दस्तावेजों का न्यायालय में प्रस्तुत किया जाना

सदन के प्रक्रिया-सम्बन्धी नियमों के अनुसार सदन की कार्यवाही के या उसकी समितियों की समस्त कार्यवाही के समस्त अभिलेख, दस्तावेज तथा अन्य पत्र जो सदन की सम्पत्ति हैं, सदन के सचिव के आधिपत्य में रहते हैं तथा पीठासीन अधिकारी की पूर्वाज्ञा बिना सदन की कार्यवाही के अभिलेख या दस्तावेज या पत्र सचिव द्वारा नहीं दिये जा सकते।

इस सम्बन्ध में साधारणतया प्रक्रिया यह रही है कि जब कभी किसी न्यायालय द्वारा विधान मंडल या संसद के अभिलेख या दस्तावेज न्यायालय में प्रस्तुत किये जाने का अनुरोध किया जाता है तो पीठासीन अधिकारी या तो सदन के समक्ष मामला रख देता है या फिर मामला सदन की विशेषाधिकार समिति को सौंप दिया जाता है। विशेषाधिकार समिति का प्रतिवेदन प्राप्त होने पर यदि सदन द्वारा माँगे गये अभिलेख या दस्तावेज़ साक्ष्य में प्रस्तुत किये जाने की अनुमति प्रदान की जाती है तो पीठासीन अधिकारी द्वारा नामांकित व्यक्ति सदन के अभिलेख या दस्तावेज को न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत कर सकता है।[31] यद्यपि सदन द्वारा इस बात का स्वयं निर्णय किया जा सकता है कि साक्ष्य में याचित अभिलेख प्रस्तुत किया जाना लोकहित में होगा या नहीं, किन्तु न्यायालय के समक्ष लंबित प्रकरण में याचित अभिलेख प्रकरण से सम्बन्धित है या नहीं, इसका निर्णय न्यायालय द्वारा साक्ष्य अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार किया जायेगा।[32]

दर्शकों को सदन से निकालने का अधिकार

दर्शकों को सदन से बाहर निकालने के अधिकार के सम्बन्ध में विभिन्न विधानमण्डलों एवं संसद द्वारा बनाये गये नियम इस प्रकार हैं :

1. सदन के नेता द्वारा अनुरोध किये जाने पर पीठासीन अधिकारी द्वारा सदन की गोपनीय बैठक के लिये एक दिन निश्चित किया जाता है।

2. जब सदन गोपनीय बैठक के लिए बैठता है तो उस समय कोई भी व्यक्ति जो सदन का सदस्य नहीं है, सभाकक्षों और दीर्घाओं, इत्यादि में नहीं रह सकता। सदन को ऐसे व्यक्ति को बाहर निकालने का अधिकार है परन्तु द्वितीय सदन के सदस्य या पीठासीन अधिकारी

---

[31] प्रिविलिजिज डाइजेस्ट, 1957, पृ० 4, लोकसभा।

[32] वही, 1958, पृ० 50, लोकसभा।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

की अनुज्ञा से कोई भी व्यक्ति सदन की दीर्घाओं में उपस्थित रह सकता है। गोपनीयता का भंग किया जाना सदन का घोर अपमान है ।

सदन का अपमान

ऐसे किसी कार्य को जिसके द्वारा संसद एवं विधानमण्डलों या उसकी समितियों के कार्यों में बाधा उत्पन्न होती है या संसद या विधानमण्डल के किसी अधिकारी के कर्तव्य की पूर्ति में बाधा उत्पन्न होती है, सदन का अपमान या सदन के विशेषाधिकार का उल्लंघन करने वाला कार्य माना जाता है ।

संसद एवं विधान मण्डलों के अपमान या विशेषाधिकार का उल्लंघन करने वाले कार्यों को निम्न श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है ।

स्वयं सदन का अपमान

निम्न कृत्यों से संसद एवं विधान मण्डलों के विशेषाधिकारों का उल्लंघन होता है :

1. सदन की कार्यवाही में बाधा उत्पन्न करना ।[33]

2. सदन के पदाधिकारियों या अधिकारियों को उनके कर्तव्यों को पूर्ण करने से रोकना जैसे मार्शल का सदन के आदेशों का निष्पादन करते समय प्रतिरोध करना ।[34]

3. संसद या विधान मण्डल के सामने बलवा करना या बलवा करने की नीयत से एकत्रित होना ।[35]

4. संसद या विधानमण्डलों के कार्यसंचालन सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन करना या उनकी अवहेलना करना, जैसे साक्षियों को बिगाड़ने का यत्न करना, सदन के समय साक्षी के रूप में उपस्थित होने वाले व्यक्ति के मार्ग में बाधा उत्पन्न करना, मिथ्या साक्ष्य देना, सदन के समनों की तामील के पश्चात् भी अनुपस्थित रहना, मिथ्या दस्तावेज़ प्रस्तुत करना, सदन को धोखा देना या आवश्यक दस्तावेज नष्ट करना । यदि उपर्युक्त समस्त कार्य समितियों के सन्दर्भ में किये गये हों तो उससे भी सदन के विशेषाधिकारों का उल्लंघन होता है ।

5. संसद या विधानमण्डल के सदस्य को रिश्वत देना या देने का यत्न करना ।

6. संसद या विधानमण्डल के परिसर में समनों की तामील करना ।

7. संसद या विधानमण्डल के सत्र में भाग लेने हेतु जाते समय या सत्र समाप्ति पर लौटते समय सदस्य को बन्दी बनाना ।

8. सदस्य पर सत्र में भाग लेने हेतु जाते समय या सत्र की समाप्ति पर लौटते समय प्रहार करना, धमकी देना या दुर्व्यवहार करना या सदन की कार्यवाही के विषय में सदस्य को सताना, उस पर प्रहार करना या धमकी देना ।

9. सदन की कार्यवाही के विषय में या तत्सम्बन्धी आचरण पर या सदस्य के

---

[33] राजस्थान विधान सभा कार्यवाही, दिनांक 10 अप्रैल, 1956; तथा मध्य प्रदेश विधान सभा कार्यवाही, दिनांक 2 अप्रैल, 1960 ।

[34] प्रिविलिजिज डाइजेस्ट, 1961, पृ० 63, पंजाब ।

[35] प्रिविलिजिज डाइजेस्ट, 1957, पृ० 19, विंध्य प्रदेश ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

रूप में किये गये आचरण को अकीर्ति करना ।[36]

10. संसद या विधानमण्डल के परिसर में सदस्य को बन्दी बनाना ।

11. सदन के परिसर में जबकि सदन की बैठक चल रही हो अनियमित तथा अव्यवस्थित आचरण करना, फिर भले ही ऐसा आचरण करने वाले का उद्देश्य सदन की कार्यवाही में बाधा उत्पन्न करना न हो ।

12. सदन में होने वाली चर्चाओं या कार्यवाही के विषय में विकृत समाचार प्रकाशित करना ।[37] किन्तु ऐसे समाचार जो कितने ही अतिशयोक्तिपूर्ण क्यों न हो, यदि सद्भावनापूर्वक प्रकाशित किये जाते हैं तो संसदीय विशेषाधिकारों की कल्पना इस प्रकार नहीं की जानी चाहिये जिससे निष्पक्ष एवं उन्मुक्त मत की अभिव्यक्ति ही समाप्त हो जाये ।[38]

13. सदन की कार्यवाही से निकाले गये अंश को प्रकाशित करना ।

14. समिति के समक्ष दिए गये साक्ष्य या उसके प्रतिवेदन का समय के पूर्व प्रकाशन ।

15. सदन में प्रस्तुत किये गये संकल्पों, प्रस्तावों या प्रश्नों को पीठासीन अधिकारी की स्वीकृति के पूर्व प्रकाशित करना ।

16. किसी भी सदस्य को अभिरक्षा में रखने या बन्दी बनाये जाने की सूचना सम्बन्धित अधिकारी, न्यायाधीश अथवा दण्डाधिकारी द्वारा नहीं दिया जाना ।[39]

17. गोपनीय बैठक के विषय में सूचना देना ।

18. सदन की पूर्वाज्ञा के बिना न्यायालय में सदस्यों या अधिकारियों द्वारा साक्ष्य दिया जाना किन्तु पुलिस अधिकारी के समक्ष बयान देना साक्ष्य देना नहीं माना जायेगा ।[40]

19. सदस्य का व्यक्तित्व धारण करना ।[41]

20. सदन या समिति के समक्ष शपथ लेने से इन्कार करना ।

21. सदस्यों पर विपरीत उद्देश्य आरोपित करना ।[42]

22. प्रश्न या उत्तर सदन में रखे जाने के पूर्व सूचना ब्यूरो द्वारा समाचार प्रकाशित किया जाना ।[43]

23. संसदीय प्रक्रिया का उल्लंघन करने हेतु उकसाना ।

24. सदस्य के भाषण को जानबूझ कर दबाना ।

25. मंत्री, जो सदन का सदस्य नहीं है, के द्वारा सदन की कार्यवाही में भाग लिये जाने पर बार-बार आपत्ति प्रकट करना ।[44]

---

[36] प्रिविलिजिज डाइजेस्ट, 1957, पृ० 5, लोकसभा ।
[37] वही, 1957, पृ० 5, लोकसभा ।
[38] वही, 1958, पृ० 58, मद्रास ।
[39] वही, 1957, पृ० 11, आन्ध्र प्रदेश ।
[40] वही, 1957, खण्ड 4, पृ० 13, मध्य प्रदेश ।
[41] वही, 1957, पृ० 6, लोकसभा ।
[42] वही, 1957, पृ० 9, दिल्ली ।
[43] वही, 1957, पृ० 7, लोकसभा ।
[44] वही, 1958, पृ० 101, मैसूर ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

26. राज्यपाल के अभिभाषण की प्रतियों का सदस्यों को दिये जाने के पूर्व अधिकारी दीर्घा में वितरण किया जाना।[45]

27. सदस्य तथा महान्यायवादी के सम्बन्ध में अकीर्तिकारी आक्षेप करना।[46]

28. अध्यक्ष द्वारा दिये गये निर्णयों के औचित्य के सम्बन्ध में संसद या विधान मण्डलों के पीठासीन अधिकारियों को लिखना।

29. सदस्य के घर की तलाशी लेते समय संसदीय दस्तावेज या प्रतिवेदन जो सदन में नहीं रखे गये हैं, उन्हें पढ़ना।

30. सदस्य द्वारा शासकीय कर्मचारी से सूचना प्राप्त करना और उसे सदन में रखे जाने के पूर्व ही अन्य लोगों को बताना।

कुछ विषय जो सदन के प्रति अपमानकारी नहीं माने गये हैं

(1) **बजट की गोपनीयता**—बजट प्रस्ताव जब तक सदन के समक्ष प्रस्तुत नहीं किये जाते तब तक गोपनीय माने जाते हैं। इस गोपनीयता का संरक्षण करना मन्त्री का कर्तव्य है और यदि बजट-सम्बन्धी गोपनीयता भंग होती है तो सदन को जाँच करने का पूर्ण अधिकार है। किन्तु मन्त्री द्वारा बजट-सम्बन्धी गोपनीयता भंग किये जाने से विशेषाधिकार का उल्लंघन नहीं होता। इस सम्बन्ध में मन्त्री का त्यागपत्र पर्याप्त माना जाता है।

पंजाब विधान-सभा के अध्यक्ष ने बजट की गोपनीयता को भंग करना विशेषाधिकार का प्रश्न माना था किन्तु सदन द्वारा इस विषय को विशेषाधिकार समिति को सौंपने की अनुमति नहीं दी गयी।

एक दूसरे प्रकरण में विशेषाधिकार समिति ने बजट की गोपनीयता के भंग किये जाने के प्रश्न को विशेषाधिकार का उल्लंघन माना किन्तु सदन द्वारा समिति के प्रतिवेदन को स्वीकार नहीं किया गया।

(2) **सत्रावधि में मन्त्री द्वारा सदन के बाहर वक्तव्य दिया जाना**—यद्यपि संसद या विधानमण्डल की अवधि में सदन के बाहर मन्त्री द्वारा नीति-सम्बन्धी घोषणा किया जाना उचित नहीं है तथापि मन्त्री द्वारा सदन के बाहर की गयी घोषणा को विशेषाधिकार का उल्लंघन नहीं माना जा सकता।

संसद या विधानमण्डल के किसी भी सदन में किसी भी विधेयक के प्रस्तुत किये जाने के पूर्व विधेयक के कतिपय प्रावधानों के विषय में समाचार-पत्रों को सूचना देने से भी संसद के विशेषाधिकार का उल्लंघन नहीं होता।

(3) **सदस्य या मन्त्री द्वारा सदन में गलत उत्तर दिया जाना**—सदस्य या मन्त्री पर यह कर्तव्य-भार है कि वह सदन को सही जानकारी प्रदान करे किन्तु यदि किसी कारण सदस्य या मन्त्री सदन को गलत जानकारी देता है तो इस कारण वह सदन के विशेषाधिकार उल्लंघन करने का दोषी नहीं माना जा सकता।

ऐसी अवस्था के लिए सदन द्वारा अग्रलिखित नियम बनाये गये हैं :

---

[45] वही, 1958, पृ० 179, राजस्थान।

[46] वही, 1960, पृ० 4, लोकसभा।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

यदि कोई सदस्य मन्त्री या अन्य सदस्य के वक्तव्य या भाषण में किसी प्रकार की त्रुटि दर्शाना चाहता है तो मामला सदन के समक्ष रखने के पूर्व लिखित रूप से पीठासीन अधिकारी की अनुमति प्राप्त करेगा। तत्पश्चात् वह सदन में मामला उठायेगा। यदि सदस्य के आधिपत्य में इस सन्दर्भ में कोई दस्तावेज या साक्ष्य हो तो वह भी पीठासीन अधिकारी के सम्मुख प्रस्तुत किया जायेगा। यदि पीठासीन अधिकारी चाहे तो यथार्थ स्थिति की जानकारी प्राप्त करने हेतु मामले की ओर मन्त्री या सदस्य का ध्यान आकर्षित कर सकता है। इस प्रकार अनुमति प्राप्त करने के पश्चात् सदस्य सदन में मामला उठा सकता है तथा सदन में वक्तव्य देने के पूर्व वह सदस्य सम्बन्धित मन्त्री या सदस्य को इस बात की सूचना देगा। सदस्य द्वारा अपने आरोप के समर्थन में वक्तव्य दिये जाने के पश्चात् सम्बन्धित मन्त्री या सदस्य द्वारा पीठासीन अधिकारी की अनुमति से आरोपों का उत्तर दिया जा सकता है।[47]

(4) **निर्वाचक द्वारा सदस्य से किया गया पत्र-व्यवहार**—यदि निर्वाचक द्वारा विधान-मण्डल के या संसद के सदस्य से पत्र-व्यवहार किया गया है तो ऐसे पत्रों का प्रकाशन भी सदन के विशेषाधिकारों का उल्लंघन नहीं माना गया है, यद्यपि इस विषय में यह तर्क अवश्य रखा जाता है कि सदन के कार्य-संचालन के लिए ऐसे पत्र-व्यवहार की गोपनीयता रखी जानी आवश्यक है।

(5) चुनाव रद्द होने के उपरान्त भी सदस्य का सदन में बैठना। किन्तु यदि इस सम्बन्ध में राजपत्र में प्रकाशन नहीं हुआ है तो सदस्य द्वारा कार्यवाही में भाग लिए जाने से विशेषाधिकार का उल्लंघन नहीं होगा।

(6) सदन की समिति की सिफारिश को अस्वीकार करना।

(7) मन्त्री द्वारा दिया गया आश्वासन।

(8) अनियमित शपथ लेना।

इस सन्दर्भ में अध्यक्ष ने यह निर्णय दिया था कि सदस्य द्वारा शपथ नियमपूर्वक ली जा रही है अथवा नहीं, यह देखना अध्यक्ष का कार्य है। यदि अनियमित रूप से सदस्य द्वारा शपथ ली गयी है तो वह विशेषाधिकार उल्लंघन करने का दोषी नहीं है।

(9) विरोधी दल के नेता द्वारा अध्यक्ष के आसन पर बैठ जाना। सदन के परामर्श के अनुसार कोई कार्यवाही नहीं की गयी।

(10) सदन के परिक्षेत्र में पुलिस की उपस्थिति,[48] अथवा पुलिस का सदन में प्रवेश करना।[49]

(11) भाषण का अंश सदन की कार्यवाही से निकालने के लिए अध्यक्ष का आदेश।[50]

(12) लोक-हित एवं गोपनीयता के आधार पर मन्त्री द्वारा सदन में दस्तावेज प्रस्तुत करने से इन्कार करना।[51]

---

[47] वही, 1958, भाग 1, पृ० 8–9, लोकसभा।

[48] वही, 1958, भाग 1, पृ० 14, मध्य प्रदेश।

[49] वही, 1958, भाग 1, पृ० 24, राजस्थान।

[50] वही, 1958, भाग 3, पृ० 105, पश्चिमी बंगाल।

[51] वही, 1959, भाग 3, पृ० 119, लोकसभा।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

पीठासीन अधिकारी का अपमान

(1) किसी भी सदस्य या बाहरी व्यक्ति द्वारा पीठासीन अधिकारी के कर्तव्य-सम्बन्धी आचरण की आलोचना नहीं की जा सकती।

(2) पीठासीन अधिकारी पर पक्षपात का आरोप नहीं लगाया जा सकता।

(3) ऐसे किसी विषय पर, जो पीठासीन अधिकारी के निर्णय हेतु विचाराधीन है, या जिस पर पीठासीन अधिकारी का निर्णय अपेक्षित है, चर्चा, जिसके कारण सदन के कार्य में रुकावट उत्पन्न हो सकती है, नहीं की जा सकती।

समितियों का अपमान

जो विशेषाधिकार, शक्तियाँ एवं उन्मुक्तियाँ संसद या विधानमण्डलों के सदनों को प्राप्त हैं वही विशेषाधिकार, शक्तियाँ या उन्मुक्तियाँ संसद या विधानमण्डलों की समितियों को प्राप्त हैं और उन विशेषाधिकारों का उल्लंघन समिति का अपमान होगा जिसके लिए सम्बन्धित व्यक्ति को दण्ड दिया जा सकता है।

सदस्य का अपमान

बाहरी व्यक्ति के ऐसे कृत्य जिसके द्वारा विधानमण्डल या संसद सदस्य की प्रतिष्ठा की हानि हो या सदस्य के रूप में उसके कर्तव्य में बाधा उत्पन्न हो तो इससे सदस्य के विशेषाधिकार का उल्लंघन होगा :

(1) सदस्य के रूप में सदस्य के आचरण पर कीचड़ नहीं उछाली जा सकती।

(2) सदस्य के संसदीय आचरण को जान-बूझकर विकृत करना जिससे सदस्य की मानहानि हो।

(3) किसी भी सदस्य के संसदीय आचरण के सम्बन्ध में उसे अपमानित करना, उस पर प्रहार करना या उसे सताना। इसी प्रकार सदस्य के साथ सदन की कार्यवाही में भाग लेने जाते समय या आते समय उपर्युक्त दुष्कृत्य किये जायें तो उससे भी सदस्य के विशेषाधिकार का उल्लंघन होगा।

(4) किसी भी सदस्य के विरुद्ध सदन को मिथ्या आवेदन-पत्र देना या सदस्य को कोई कार्य-विशेष करने के लिए धमकी भरा पत्र लिखना।

(5) सदस्य को रिश्वत देना।

(6) अनुचित उपायों से सदस्य को प्रभावित करना।

(7) बन्दी बनाये जाने से उन्मुक्ति के प्रावधानों का उल्लंघन कर सदस्य का बन्दी बनाया जाना।

जो विशेषाधिकार नहीं हैं

(1) कोई भी ऐसा कार्य, जिसका सदस्य के संसदीय कर्तव्य से सम्बन्ध नहीं है, विशेषाधिकार का उल्लंघन नहीं होगा। राज्य-सभा के निर्वाचन में सदस्यों द्वारा वोट दिया जाना संसदीय आचरण में सम्मिलित नहीं है, अतः यह आक्षेप कि सदस्य रिश्वत लेकर वोट दे रहा

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

है, विशेषाधिकार की परिधि में नहीं आता ।[52]

(2) सुरक्षा एवं व्यवस्था बनाये रखने के लिए यदि सदस्य का टेलीफोन टेप किया गया तो इस कृत्य के कारण सदस्य के विशेषाधिकार का उल्लंघन नहीं होगा ।

सदन के समक्ष उपस्थित होने वाले साक्षियों की शक्तियाँ, विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ

जब कोई भी व्यक्ति संसद या विधानमण्डल या समिति के समक्ष साक्षी के रूप में बुलाया जाता है तब स्वयमेव वह सदस्यों के समान शक्तियाँ, विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ प्राप्त कर लेता है और यदि ऐसे साक्षियों द्वारा कोई ऐसा कार्य किया गया जिसके द्वारा जिस विषय के सम्बन्ध में उन्हें साक्षी के रूप में बुलवाया गया है, उसमें किसी प्रकार की बाधा का आविर्भाव होता है तो वे विशेषाधिकार के उल्लंघन के दोषी होंगे । अतः किसी भी साक्षी को :

(1) दीवानी कार्यवाही के निष्पादन में बन्दी नहीं बनाया जा सकता ।

(2) साक्ष्य देते समय उसे बोलने की पूर्ण स्वतन्त्रता है ।

(3) यदि उस पर प्रहार किया गया या उसे धमकाया गया या उसे किसी प्रकार की पीड़ा पहुँचाई गयी तो ऐसा कृत्य विशेषाधिकार का उल्लंघन होगा ।

यदि साक्षी द्वारा सदन या उसकी समिति के :

(1) समक्ष साक्ष्य देने से इन्कार किया गया,

(2) समन को टाला गया,

(3) समक्ष शपथ लेने से इन्कार किया गया,

(4) समक्ष उत्तर देने से इन्कार किया गया,

(5) समक्ष सत्य को छिपाया गया या सदन या समिति का तिरस्कार किया गया, तथा

(6) समक्ष अनुचित व्यवहार किया गया;

तो ऐसा कृत्य विशेषाधिकार का उल्लंघन होगा ।

सदन के अधिकारियों के विशेषाधिकार

सदन के अधिकारियों को भी सदस्यों के समान निम्न विशेषाधिकार प्राप्त हैं जिनका उल्लंघन विशेषाधिकार का उल्लंघन है :

(1) अधिकारी के कर्तव्य में बाधा उत्पन्न नहीं की जा सकती ।

(2) अधिकारी का तिरस्कार, या उसे धमकी या पीड़ा नहीं दी जा सकती ।

(3) अपने कर्तव्यों के विषय में उस पर व्यवहार या दण्ड न्यायालयों में कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती ।

(4) दीवानी कार्यवाही के निष्पादन में उसे बन्दी नहीं बनाया जा सकता ।

यदि अधिकारी :

(1) बिना अनुमति न्यायालयों में साक्ष्य देता है अथवा प्रस्तुत करता है,

---

[52] वही, 1964, पृ० 12, गुजरात ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

(2) सदन के आदेशों की अवहेलना करता है,
(3) रिश्वत लेता है,
(4) कर्तव्य पूर्ण करने में लापरवाही करता है,
तो वह विशेषाधिकार के उल्लंघन का दोषी होगा ।

विशेषाधिकार का प्रश्न उठाने की प्रक्रिया

संसद या विधानमण्डलों के नियमों के उपबन्धों के अधीन कोई भी सदस्य अध्यक्ष की सम्मति से, किसी सदस्य के या सभा के या उसकी किसी समिति के विशेषाधिकार के उल्लंघन से सम्बन्धित प्रश्न उठा सकता है ।

बिना लिखित सूचना के विशेषाधिकार का प्रश्न उठाया नहीं जा सकता ।

जिस दिन सदस्य विशेषाधिकार का प्रश्न उठाना चाहता है उस दिन की बैठक प्रारम्भ होने से पूर्व विशेषाधिकार के प्रश्न की लिखित सूचना सदस्य द्वारा सचिव को दी जानी चाहिए ।

यदि विशेषाधिकार के प्रश्न किसी दस्तावेज पर आधारित हैं, तो विशेषाधिकार की सूचना के साथ ऐसे दस्तावेजों का संलग्न होना आवश्यक है ।

विशेषाधिकार के प्रश्न

(1) एक ही बैठक में एक से अधिक प्रश्न नहीं उठाये जा सकते ।
(2) प्रश्न हाल ही में घटित किसी विशिष्ट घटना से सम्बन्धित होना चाहिए ।
(3) विशेषाधिकार के प्रश्न में सदन का हस्तक्षेप आवश्यक है ।

यद्यपि उपर्युक्त नियमों में यह प्रावधान नहीं किया गया है कि विशेषाधिकार के प्रश्न को सदन में उठाये जाने के पूर्व पीठासीन अधिकारी द्वारा इस बात की जाँच की जाये कि प्रथम दृष्टि में विशेषाधिकार का उल्लंघन लक्षित होता है या नहीं । फिर भी, वर्तमान समय में संसद या विधानमण्डलों के पीठासीन अधिकारियों द्वारा यह परिपाटी बना ली गयी है कि वे विशेषाधिकार के प्रश्न को ग्रहण करने के पूर्व इस बात की जाँच करते हैं कि प्रथम दृष्टि में उठाया गया प्रश्न विशेषाधिकार का उल्लंघन है अथवा नहीं ।

यदि पीठासीन अधिकारी द्वारा यह ठहराया जाता है कि उठाया गया प्रश्न नियमानुकूल है तो प्रश्नों के पश्चात् और उस दिन की कार्य-सूची प्रारम्भ करने के पूर्व सम्बन्धित सदस्य को पुकारा जाता है जो अपने स्थान पर खड़ा रहकर विशेषाधिकार का प्रश्न उठाने की अनुमति माँगता है और यदि वह चाहे तो इस सम्बन्ध में संक्षिप्त वक्तव्य भी दे सकता है ।

यदि पीठासीन अधिकारी चाहे तो वह अपनी सम्मति देने से इन्कार कर सकता है जिसके लिए कारण बताना आवश्यक नहीं है, परन्तु यदि वह आवश्यक समझे तो उस सूचना को वह सदन में अपनी अस्वीकृति दर्शाते हुए पढ़ सकता है ।

यद्यपि नियम के अनुसार बैठक प्रारम्भ होने के पूर्व विशेषाधिकार की सूचना दी जाती है और प्रश्नों के पश्चात् ही विशेषाधिकार का प्रश्न उठाया जा सकता है किन्तु पीठासीन अधिकारी द्वारा विषय की अविलम्बनीयता के आधार पर प्रश्नों के पश्चात् बैठक के दौरान किसी भी समय विशेषाधिकार के प्रश्न को उठाये जाने की अनुमति दी जा सकती है ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

यदि सदन के किसी भी सदस्य द्वारा पीठासीन अधिकारी द्वारा अनुमति दिये जाने पर आपत्ति की जाये, तो पीठासीन अधिकारी सदन का मत लेगा और यदि कम से कम निर्धारित संख्या में सदस्य अनुमति दिये जाने के पक्ष में हों तो अनुमति सदन द्वारा दी गयी है ऐसा मान्य किया जायेगा, अन्यथा नहीं। लोकसभा में निर्धारित संख्या 25 है। मध्य प्रदेश विधान-सभा में यह संख्या 10 है।

अनुमति मिलने पर या तो सदन इस प्रश्न पर विचार कर सकता है या उसे सदन में नेता या उठाने वाले सदस्य के प्रस्ताव पर विशेषाधिकार समिति के सुपुर्द कर सकता है। स्वयं पीठासीन अधिकारी द्वारा भी कोई विशेषाधिकार का प्रश्न जाँच, अनुसन्धान या प्रतिवेदन के लिए विशेषाधिकार समिति के सुपुर्द किया जा सकता है।

निम्न विषय विशेषाधिकार के प्रश्नों के रूप में सदन में नहीं उठाये जा सकते :

(1) पीठासीन अधिकारी द्वारा दी गयी व्यवस्था से असहमति।
(2) पीठासीन अधिकारी द्वारा किसी भी प्रश्न का अस्वीकृत किया जाना।
(3) मन्त्री द्वारा प्रश्न का उत्तर देने से इन्कार किया जाना।
(4) सदन में आज्ञाओं का उल्लंघन करना।
(5) अजनबी व्यक्ति का निष्कासन।
(6) सदस्य के निलम्बन आदेश को निरस्त किये जाने हेतु प्रस्ताव।
(7) सदस्यों की अनर्हता सम्बन्धी प्रश्न।

विशेषाधिकार समिति

यह समिति पीठासीन अधिकारी के निर्देशन पर गठित की जाती है। इसके सदस्य पीठासीन अधिकारी द्वारा नामांकित किये जाते हैं, जिनकी संख्या नियमों के अनुसार निश्चित है। समिति द्वारा सौंपे गये प्रत्येक प्रश्न की जाँच की जाती है और प्रत्येक मामले में तथ्यों के अनुसार उसके द्वारा यह निर्धारण किया जाता है कि उसमें किसी विशेषाधिकार का उल्लंघन अन्तर्ग्रस्त है या नहीं, और यदि है, तो वह किस स्वरूप का है और किन परिस्थितियों में हुआ है। मामले के तथ्यों को दृष्टिगोचर रखते हुए उसके द्वारा सिफारिश भी की जा सकती है। अपने प्रतिवेदन में समिति द्वारा यदि आवश्यक हो तो यह भी बताया जा सकता है कि सिफारिशों के क्रियान्वयन में किस प्रक्रिया का अनुसरण किया जाये। सदन में प्रतिवेदन प्राप्त होने के पश्चात् किसी सदस्य द्वारा प्रस्ताव रखे जाने पर उस पर चर्चा की जा सकती है और सदन यदि चाहे तो प्रतिवेदन मूल रूप में या संशोधित रूप में स्वीकार कर सकता है और यदि चाहे तो उसके द्वारा प्रतिवेदन अस्वीकार कर सकता है या उसे पुनः विचारार्थ समिति को सौंपा जा सकता है।

संसद या विधानमण्डलों के दोनों सदनों के मध्य विशेषाधिकार के प्रश्न

जहाँ तक विशेषाधिकारों का सम्बन्ध है, दोनों ही सदनों के विशेषाधिकार समान हैं और दोनों ही सदन एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। दोनों ही सदन एक दूसरे सदन के सदस्य या अधिकार को अपनी विशेषाधिकार समिति के समक्ष उपस्थित होने को बाध्य नहीं कर सकते। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखने योग्य है कि अनुच्छेद 88 तथा 177 के अनुसार प्रत्येक मन्त्री

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

दोनों ही सदनों की कार्यवाही में भाग ले सकता है। किन्तु जिस सदन का वह सदस्य नहीं है उसमें वोट नहीं दे सकता। ऐसे किसी मन्त्री द्वारा या सदस्य द्वारा सदन के विशेषाधिकार का उल्लंघन किया जाये, जिसका वह सदस्य नहीं है, तो उस सदन को सीधे उस सदस्य या मन्त्री के विरुद्ध कार्यवाही करने का अधिकार नहीं है।

इस सम्बन्ध में राज्यसभा तथा लोकसभा की विशेषाधिकार समितियों ने संयुक्त रूप से यह निर्णय लिया है कि—

1. यदि किसी भी सदन में दूसरे सदन के सदस्य या अधिकारी द्वारा सदन के विशेषाधिकार का उल्लंघन करने का आक्षेप किया जाये तो उस सदन के पीठासीन अधिकारी द्वारा दूसरे सदन के पीठासीन अधिकारी को शिकायत की सूचना दी जायेगी।

2. दूसरे सदन के पीठासीन अधिकारी द्वारा सूचना प्राप्त होने पर उस सम्बन्ध में उसी प्रकार की कार्यवाही की जायेगी जिस प्रकार की कार्यवाही उसके अपने स्वयं के सदन के विशेषाधिकार के उल्लंघन में की जाती है।

3. तत्पश्चात् जिस सदन में प्रश्न उठाया गया था उस सदन के पीठासीन अधिकारी की जाँच तथा उस सम्बन्ध में की गई कार्यवाही की सूचना दी जायेगी।

इस सम्बन्ध में यह भी सिफारिश की गई है कि यदि दोषी सदस्य या अधिकारी क्षमा-याचना करता है तो फिर उसके विरुद्ध किसी प्रकार की कार्यवाही करना उचित नहीं होगा।[53]

सदस्यों द्वारा दूसरे सदस्य या उसकी समिति के समक्ष साक्ष्य

यदि कोई सदन या उसकी समिति ऐसे सदस्य का साक्ष्य लेना चाहती है जो उसका सदस्य न होकर दूसरे सदन का सदस्य है तो प्रथम सदन या समिति द्वारा साक्ष्य देने के लिये सदस्य की स्वीकृति प्राप्त की जायेगी। तत्पश्चात् उस सदन या समिति द्वारा दूसरे सदन को अनुमति प्रदान करने का अनुरोध किया जायेगा। साधारणतया ऐसी अनुमति प्रदान कर दी जाती है किन्तु बिना अनुमति साक्ष्य देना सदन के विशेषाधिकार का उल्लंघन है।[54]

सत्रावसान तथा विघटन का प्रभाव

शब्द 'सत्रावसान' से केवल सभा की समाप्ति से तात्पर्य है। इससे सभा के सामने लंबित विषय की समाप्ति नहीं होती। यदि कोई विशेषाधिकार का प्रश्न सदन में लंबित हो और सभा का सत्रावसान हो जाये तो उसे दूसरी सभा में संकल्प द्वारा पुनर्ग्रहण किया जा सकता है।

किन्तु 'विघटन' के कारण चूँकि लोकसभा या विधानसभा का जीवन ही समाप्त हो जाता है अतः नई लोकसभा या विधानसभा द्वारा ऐसे किसी विशेषाधिकार के सम्बन्ध में कार्यवाही नहीं की जा सकती जो पुरानी लोकसभा या विधानसभा के सामने लंबित था।

---

[53] वही, 1958, भाग 4, पृ० 166, लोकसभा।

[54] वही, 1958, भाग 2 तथा 4, पृ० 51 तथा 166, लोकसभा।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

दण्ड

यदि किसी व्यक्ति द्वारा सदन के विशेषाधिकार का उल्लंघन किया जाये तो उसे निम्न दण्ड दिया जा सकता है :

(1) **चेतावनी**—उत्तर प्रदेश विधानसभा के एक सदस्य को विधानसभा के सचिवालय पर आधारहीन आक्षेप लगाने के विषय में चेतावनी दी गई थी। इसी प्रकार पंजाब विधानसभा के एक सदस्य को अध्यक्ष के निर्णय की चुनौती देने के दोष में चेतावनी दी गयी थी।

(2) **भर्त्सना**—लोकसभा में विशेषाधिकार समिति की सिफारिश के अनुसार बम्बई के साप्ताहिक 'ब्लिट्ज' के सम्पादक की भर्त्सना की गई थी। इसी प्रकार मध्य प्रदेश विधानसभा में भी दो साप्ताहिकों के सम्पादकों की भर्त्सना की गई थी।

(3) **कारावास**—सदन के विशेषाधिकार का उल्लंघन किये जाने पर सदन द्वारा दोषी व्यक्ति को कारावास का दण्ड दिया जा सकता है किन्तु सत्रावधि से अधिक दण्ड नहीं दिया जा सकता। किन्तु यदि सदन की राय में सत्रावधि का दण्ड पर्याप्त नहीं है तो आगामी सत्र में पुनः सत्र की अवधि तक कारावास का दण्ड दिया जा सकता है।

(4) **प्रेस दीर्घा से निकाला जाना**—यदि दोषी व्यक्ति प्रेस का प्रतिनिधि है तो सदन द्वारा उसका प्रेस कार्ड रद्द किया जा सकता है। लोकसभा द्वारा साप्ताहिक 'ब्लिट्ज' के प्रतिनिधि को प्रेस दीर्घा में बैठने की सुविधा से वंचित कर दिया गया था तथा उसकी अनुमति रद्द कर दी गई थी।

(5) **निलम्बन**—बाधा उत्पन्न करने वाले सदस्य को अध्यक्ष द्वारा निर्दिष्ट किये जाने पर सत्र के शेष समय की अवधि तक निलम्बित किया जा सकता है।

(6) **निष्कासन**—यदि सदन की राय में सदस्य द्वारा ऐसा कार्य किया गया है जिसके कारण सदस्य के रूप में रहने के योग्य वह नहीं है, तब उसे सदन की सदस्यता से वंचित कर दिया जाता है। सदस्यता से वंचित किये जाने के आदेश का अर्थ है उस स्थान का रिक्त घोषित किया जाना। इस अधिकार का उपयोग संसद तथा विधानसभाओं में किया जा चुका है।

संहिताकरण का प्रश्न

अनुच्छेद 105 (3) तथा 194 (3) द्वारा संसद या विधानमण्डल को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह विधि द्वारा अपनी शक्तियों, विशेषाधिकारों एवं उन्मुक्तियों को परिभाषित करें। किन्तु आज तक भी संसद या किसी विधानमण्डल ने विधि द्वारा अपने विशेषाधिकारों को परिभाषित करने का यत्न नहीं किया है और न ही यह लगता है कि निकट भविष्य में संसद या विधानमण्डलों द्वारा इस सम्बन्ध में कोई कानून बनाया जायेगा। यद्यपि संसद में कई बार यह प्रश्न उपस्थित किया जा चुका है और विधि मन्त्री द्वारा इस सम्बन्ध में यह आश्वासन भी दिया जा चुका है कि शीघ्र ही विशेषाधिकारों को परिभाषित करने का यत्न किया जायेगा तथापि अभी तक ऐसा कोई विधेयक संसद में नहीं रखा गया है। इसका प्रमुख कारण संविधान के अनुच्छेद 105 (3) और 194 (3) हैं जिनके द्वारा ब्रिटिश संसद के हाउस ऑफ कॉमन्स के विशेषाधिकार संसद तथा विधानमण्डलों को दिये गये हैं। यह अधिकार इतने व्यापक और इतने विषयों से सम्बन्धित हैं जिन्हें एक विधान में लाना असम्भव सा है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अनुच्छेद 105 (3) तथा 194 (3) द्वारा यदि संसद या विधानमण्डलों की शक्तियों, विशेषाधिकारों तथा उन्मुक्तियों को विधि द्वारा परिभाषित किया गया तो ऐसा विधान अनुच्छेद 245 के अनुसार बनेगा और यदि ऐसे विधान द्वारा मूलभूत अधिकारों का उल्लंघन हुआ तो अनुच्छेद 13 के अनुसार सम्पूर्ण या उस सीमा तक जहाँ पर मूलभूत अधिकारों का उल्लंघन हुआ है, सक्षम न्यायालयों द्वारा शून्य घोषित किया जा सकेगा। उस अवस्था में संसद या विधानमण्डलों की शक्तियाँ, विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ मूलभूत अधिकारों के अधीन होंगी।[55]

उक्त कारण के अतिरिक्त यदि कोई ऐसा कानून बनाया भी गया तो शासन द्वारा ऐसी ही शक्तियाँ, विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ स्वीकार की जायेंगी जो बहुमत वाले दल के हित में होंगी। सदन के विशेषाधिकारों का प्रश्न दलीय हितों के साथ संयुक्त करना उचित नहीं है।

अतः ऐसा प्रतीत होता है कि अनुच्छेद 105 (3) तथा 194 (3) के कारण विशेषाधिकारों के संहिताकरण का प्रश्न शायद ही संभव हो सके।

अनुच्छेद 105 (4) व 194 (4)

अनुच्छेद 88 तथा 177 द्वारा मन्त्रियों, महान्यायवादी तथा महाधिवक्ता को प्रत्येक सदन की कार्यवाही में भाग लेने का अधिकार है, केवल वे वोट नहीं दे सकते। अतः अनुच्छेद 105 तथा 194 में प्रदत्त अधिकार उन लोगों को भी प्राप्त है जिन्हें सदन के सदस्य न रहते हुए भी सदन की कार्यवाही में भाग लेने का अधिकार है।

---

[55] ए० आई० आर० 1959, उच्चतम न्यायालय, पृ० 395, तथा ए० आई० आर० 1965, उच्चतम न्यायालय, पृ० 745।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उप-राष्ट्रपति का पद और स्थिति

बाबूलाल फड़िया

संविधान के अनुसार भारत के लिए एक उप-राष्ट्रपति की व्यवस्था की गई है। हमारे देश में जिस राजनीतिक पद्धति को अपनाया गया है, संभवतः इस दृष्टि से यह एक निराली ही व्यवस्था है, क्योंकि अन्य संसदीय पद्धति वाले देशों में ऐसा कोई पद नहीं है। संसदीय प्रणाली के जनक, इंग्लैण्ड में भी 'राजा' के बाद 'उपराजा' का कोई प्रावधान नहीं है। यहाँ तक कि भारतीय संघ के अन्य घटकों-राज्यों में भी 'उप-राज्यपाल' जैसा कोई पद नहीं है। विश्व के प्रमुखतम लोकतांत्रिक प्रणाली वाले देशों में केवल संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान में ही इस तरह के पद की स्थापना की गई है। हमारे यहाँ उप-राष्ट्रपति के पद को अमरीका के संविधान से ही ग्रहण किया गया है, जबकि हमारी शासन-व्यवस्था अमरीका की व्यवस्था से एकदम भिन्न है।

संविधान-निर्माताओं के मस्तिष्क में उप-राष्ट्रपति पद की स्थापना का यही प्रधान कारण रहा है कि संविधान के अनुसार कार्यपालिका की शक्ति राष्ट्रपति में निहित मानी गई है और संभवतः कई ऐसे अवसर आ सकते हैं, जबकि राष्ट्रपति की अनुपस्थिति में उप-राष्ट्रपति उनके समस्त कार्यों का भार वहन करेंगे। विश्व के अन्य संविधानों में इस प्रकार की आपदा का सामना करने के लिए विभिन्न तरीके अपनाये गये हैं, जैसे फ्रांस के पंचम गणतन्त्र के संविधान में सीनेट का अध्यक्ष और आयरलैण्ड के संविधान में एक 'विशेष आयोग' राष्ट्रपति की अनुपस्थिति में सर्वोच्च कार्यपालिका शक्ति का उपयोग करता है। यद्यपि भारत में राष्ट्रपति को औपचारिक कार्यपालिका की शक्तियाँ प्रदान नहीं की गई हैं, और न ही यहाँ उप-राष्ट्रपति अमरीका के उप-राष्ट्रपति की भाँति राष्ट्रपति के देहावसान के उपरान्त उनका बचा हुआ कार्यकाल ही पूरा करते हैं, तथापि इसे अनावश्यक और व्यर्थ का पद नहीं कहा जा सकता। जहाँ एक ओर उप-राष्ट्रपति का पद भविष्य में होने वाले राष्ट्रपति के प्रशिक्षण का पद है, वहाँ दूसरी ओर वह राष्ट्रीय एकता एवं प्रतिनिधित्व की समस्या के समाधान का भी आधार रहा है। जिस देश में अनेक जाति, धर्म, क्षेत्रीयता आदि में विभिन्नताएँ हों, वहाँ इनमें सन्तुलन रखना परम आवश्यक है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति पद के सभी प्रत्याशियों का चयन होता रहा है।

योग्यताएँ और कार्यकाल

संविधान के अनुसार उप-राष्ट्रपति पद के उम्मीदवारों के लिए अग्रलिखित योग्यताएँ रखी गई हैं :

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

(1) वह भारत का नागरिक हो ।

(2) वह पैंतीस वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो ।

(3) वह राज्य सभा के सदस्य चुने जाने की योग्यता रखता हो ।

(4) वह भारत सरकार, राज्य सरकार या किसी स्थानीय सरकार का कर्मचारी न हो ।

(5) वह संसद के किसी सदन या राज्य विधानमण्डल का सदस्य न हो । यदि कोई व्यक्ति इनमें से किसी का सदस्य हो, तो उप-राष्ट्रपति चुने जाने के बाद उसका वह स्थान खाली समझा जायेगा ।

(6) संविधान की धारा 102 में वर्णित अयोग्यताएँ भी उसमें नहीं होनी चाहिएँ ।

सामान्यत: उप-राष्ट्रपति का कार्यकाल शपथ ग्रहण करने की तिथि से पाँच वर्ष होता है । यथार्थ में, वह उस समय तक अपने पद पर बना रहेगा जब तक उसका उत्तराधिकारी अपने पद की विधिवत् शपथ नहीं ले लेता । यदि किन्हीं कारणों से कार्यकाल की समाप्ति से पूर्व ही पद खाली हो जाये तो शीघ्र ही नये चुनाव कराये जायेंगे और नया उप-राष्ट्रपति शपथ ग्रहण करने की तिथि से पूरे पाँच वर्ष तक अपने पद पर बना रहेगा । संविधान द्वारा ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है जिसके द्वारा उप-राष्ट्रपति पद के लिए एक व्यक्ति को एक से अधिक बार चुने जाने से रोका जा सके । डा० राधाकृष्णन् पूरे दस वर्ष तक उप-राष्ट्रपति रहे । डा० जाकिर हुसैन पाँच वर्ष तक एवं श्री वी० वी० गिरि लगभग दो वर्ष तक उप-राष्ट्रपति रहे । अत: कार्यावधि के लिए कोई परम्परा स्पष्ट नहीं हो पाई है ।

चुनाव

भारत के उप-राष्ट्रपति संसद के दोनों सदनों के सदस्यों द्वारा एकल संक्रमणीय मत प्रणाली एवं सानुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के द्वारा चुने जाते हैं । ऐसे चुनाव में मतदान गुप्त मतपत्र द्वारा होता है । इस तरह की चुनाव पद्धति अपनाने का यही कारण रहा है कि राष्ट्र के इस गौरवपूर्ण पद के लिए जो भी प्रत्याशी चुना जाये, वह कम-से-कम निर्वाचक मंडल का स्पष्ट बहुमत प्राप्त करने की सामर्थ्य रखता हो । इस पद्धति में यही कमी है कि कभी-कभी ऐसा व्यक्ति भी इस पद के लिए चुना जा सकता है जिसे राज्य सभा का समर्थन प्राप्त न हो । उस समय हास्यास्पद स्थिति उत्पन्न हो जायेगी, जब उप-राष्ट्रपति राज्य सभा के विरोध के बावजूद भी राज्य सभा के सभापति की कुर्सी पर विराजमान हो जायगा । इससे ज्यादा अच्छा यह होता है कि उप-राष्ट्रपति के चुनाव का तरीका राष्ट्रपति के चुनाव के तरीके के अनुरूप ही होता । यद्यपि संविधान सभा में प्रो० के० टी० शाह ने इसी तथ्य पर जोर दिया था, किन्तु डा० अम्बेदकर ने उनके सुझाव की उपेक्षा कर भविष्य के लिए एक व्यावहारिक समस्या छोड़ ही दी है । संविधान के ग्यारहवें संशोधन (1961) के अनुसार उप-राष्ट्रपति के चुनाव के लिए संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक आवश्यक नहीं रही है । उप-राष्ट्रपति का चुनाव मुख्य चुनाव आयुक्त द्वारा कराया जाता है जो कि संसद के प्रति उत्तरदायी है । उप-राष्ट्रपति के चुनाव के बारे में यदि कोई विवाद उत्पन्न होता है, तो भारत का उच्चतम न्यायालय उसका निर्णय करेगा । किन्तु चुनाव-सम्बन्धी समस्त विवादों का निबटारा चुनाव के बाद ही होगा, उससे पूर्व नहीं । उप-राष्ट्रपति को अपना पद ग्रहण करते

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

समय राष्ट्रपति के समक्ष एक शपथ लेनी पड़ती है जिसमें वह संविधान के प्रति वफादार रहने और अपने कर्तव्यों का ठीक तरह से पालन करने के लिए प्रतिज्ञा करता है।

उप-राष्ट्रपति को हटाने का तरीका

उप-राष्ट्रपति को अपने पद से सामान्य तरीके से हटाया जा सकता है, किसी प्रकार के महाभियोग लगाने की आवश्यकता नहीं है। सर्वप्रथम उसे चौदह दिन पूर्व नोटिस देना आवश्यक है, तदुपरान्त राज्य सभा द्वारा ऐसा प्रस्ताव समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित करना आवश्यक है जिसमें उसको हटाने की व्यवस्था हो। लोकसभा के उपस्थित और मतदान करते वाले सदस्यों द्वारा इसका पुष्टीकरण आवश्यक है। जब कभी उप-राष्ट्रपति राष्ट्रपति के पद को धारण करता है, तब उसे महाभियोग लगा कर उसी विधि से हटाया जा सकेगा जिस विधि से संविधान में राष्ट्रपति को हटाने की व्यवस्था है।

वेतन एवं भत्ते

उप-राष्ट्रपति अपना वेतन उप-राष्ट्रपति की हैसियत से नहीं लेता, अपितु राज्य सभा के सभापति की हैसियत से ही लेता है। वास्तव में यह कितनी हास्यास्पद बात है कि उसे अपने स्थायी पद के लिए तो वेतन नहीं मिलता, अपितु उस कार्य के लिए वेतन मिलता है जिसे वह सभापति होने के नाते सम्पादित करता है। 1953 के वेतन एवं भत्तों सम्बन्धी संसदीय अधिनियम के अनुसार उसे 2,200 रु० मासिक वेतन तथा 500 रु० मासिक अन्य भत्ते दिये जाते हैं। उसे आवास के लिए एक सुसज्जित भवन भी बिना किराये के मिलता है। उसे तथा उसके परिवार के सदस्यों को मुफ्त चिकित्सा सुविधा प्राप्त होती है। जब कभी वह सरकारी यात्रा पर होता है उसे यात्रा खर्चे एवं भत्ते दिये जाते हैं। उसका समस्त वेतन एवं भत्ते भारत की संचित निधि से ही दिये जाते हैं। उसके वेतन एवं भत्ते उसकी कार्यावधि के भीतर घटाये नहीं जा सकते।

अपने पद-सम्बन्धी समस्त कार्यों के भली-भांति निर्वहण हेतु उसके लिए एक सचिवालय की भी व्यवस्था की गई है।

उप-राष्ट्रपति के कार्य एवं शक्तियाँ

भारत के उप-राष्ट्रपति के कई प्रकार के कार्य हैं। उसका पहला कार्य राज्य सभा के सभापति के रूप में है। वह इसके अधिवेशनों की अध्यक्षता करता है। उसके राज्य सभा में कार्य लोकसभा के अध्यक्ष से काफी मिलते-जुलते हैं। उप-राष्ट्रपति राज्य सभा में अनुशासन कायम रखता है और आज्ञा भंग करने वाले को सदन से बाहर निकलवा सकता है। उनकी आज्ञा के बिना कोई सदस्य सदन के सम्मुख भाषण नहीं दे सकता। वह सदन के विधेयकों पर बोलने के लिए सदस्यों को बुलाता है और बहस समाप्त होने पर मतदान कराता है, इसके बाद वह मतदान के परिणाम की घोषणा करता है कि विधेयक पारित हो गया अथवा नहीं। जब कभी किसी विधेयक पर मत बराबर हो जाते हैं तब वह अपना 'निर्णायक' मत देता है। वह यह भी निर्णय करता है कि कौन से प्रश्न सदन में पूछने योग्य हैं और कौन

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

से नहीं। वह किसी व्यक्ति को सदन में असंसदीय भाषा के प्रयोग करने की मनाही कर सकता है।

जब विधेयक राज्य सभा द्वारा पारित कर दिये जाते हैं तो विधेयकों पर उसके हस्ताक्षर आवश्यक हैं। वह सदन के सदस्यों के विशेष अधिकारों की रक्षा भी करता है। इन समस्त कार्यों का संपादन भारत के तीनों ही उप-राष्ट्रपतियों द्वारा बड़ी कुशलता एवं निष्पक्षता से किया गया, जिसकी पुष्टि उनके विदाई समारोहों में सदस्यों द्वारा दिये गये भाषणों से होती है।

राज्य सभा की अध्यक्षता के अतिरिक्त उप-राष्ट्रपति अनेक सामाजिक समारोहों पर राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है।

उप-राष्ट्रपति के दूसरे प्रकार के कार्य भी हैं। संविधान की धारा 65 (1) के अनुसार जब राष्ट्रपति की मृत्यु हो जाये या उसे महाभियोग द्वारा हटा दिया जाये या वह बीमार हो जाये, त्याग-पत्र दे दे अथवा किसी कारण से देश से अनुपस्थित हो, तो उसके स्थान पर उप-राष्ट्रपति 'कार्यवाहक राष्ट्रपति' के रूप में कार्य करेगा। ऐसे भी अवसर आ सकते हैं जब राष्ट्रपति का अपहरण हुआ हो अथवा उच्चतम न्यायालय ने उसे किन्हीं कारणों से अयोग्य घोषित कर दिया हो तब भी उप-राष्ट्रपति ही उसके स्थान पर कार्य करेगा। 3 मई, 1969 को प्रातःकाल 11 बजकर 20 मिनट पर अचानक हृदय गति रुक जाने से राष्ट्रपति डा० जाकिर हुसैन का देहावसान हो गया और उप-राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि ने कार्यवाहक राष्ट्रपति का पद सम्भाल लिया। इससे पूर्व भी कई अवसरों पर संविधान की इसी धारा के अन्तर्गत उप-राष्ट्रपति ने राष्ट्रपति के रूप में कार्य किये हैं। जब 1960 (20 जून से 6 जुलाई तक) में डा० राजेन्द्र प्रसाद ने सोवियत संघ की राजकीय यात्रा की तो उनकी अनुपस्थिति में डा० राधाकृष्णन् को राष्ट्रपति पद की शपथ दिलाई गई। किन्तु यह बड़े आश्चर्य की ही बात है कि जब उन्होंने 1956 में नेपाल, 1958 में मलाया, जापान तथा 1959 में कम्बोडिया, वियतनाम, लाओस की यात्रा की तो उस समय उनकी अनुपस्थिति को अनुपस्थिति नहीं माना गया और उप-राष्ट्रपति को राष्ट्रपति पद की शपथ नहीं दिलाई गई। शायद सोवियत संघ की यात्रा के समय तत्कालिक राजनीतिक समस्या ही उपर्युक्त कदम उठाने के लिए जिम्मेदार रही होंगी। उस समय पंजाबी सूबे की माँग को लेकर के जोरों से आन्दोलन चल रहा था। परन्तु कानूनी और सांविधानिक दृष्टि से इस प्रकार का व्यवहार अनुचित ही कहा जाना चाहिए, क्योंकि, राष्ट्रपति विदेशों में भारत के राष्ट्रपति की हैसियत से यात्रा कर रहे थे। इसी प्रकार जब जुलाई, 1961 में डा० राजेन्द्र प्रसाद गम्भीर रूप से बीमार थे तो डा० राधाकृष्णन् को राष्ट्रपति पद की शपथ दिलायी गयी। कुछ महीनों बाद जब वे स्वस्थ हो गये तो उन्होंने अपने पद का कार्यभार पुनः संभाल लिया। जब फरवरी, 1964 में डा० राधाकृष्णन् की आँखों का इलाज चल रहा था, तब भी डा० जाकिर हुसैन को उनके पद की शपथ दिलायी गई।

संविधान के अनुसार ऐसा कोई उपबन्ध नहीं है, जिसके अनुसार जब कभी उप-राष्ट्रपति राष्ट्रपति का पद सम्हाले तो उसे 'राष्ट्रपति' ही कहा जाये। जब श्री गिरि ने डा० जाकिर हुसैन के मरणोपरांत राष्ट्रपति पद की शपथ ली थी, उस समय संसद में इसी तथ्य को लेकर गहन वाद-विवाद छिड़ गया था। उसे आधिकारिक रूप से 'कार्यवाहक राष्ट्रपति'

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कहना ही तर्कसंगत प्रतीत होता है क्योंकि वह अपने कार्यकाल में समस्त कार्यों का संपादन उप-राष्ट्रपति निवास से ही करता है। इस कालावधि में उप-राष्ट्रपति राष्ट्रपति भवन में नहीं बिराजते हैं।

जब उप-राष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा तो उसे वे समस्त शक्तियाँ और उन्मुक्तियाँ प्राप्त होंगी, जो राष्ट्रपति को प्राप्त हैं। उसे वे सभी वेतन और भत्ते भी मिलेंगे, किन्तु धारा 65 (3) के अनुसार संसद इस कार्यकाल में कानून पारित कर उसके वेतन एवं भत्तों सम्बन्धी विशिष्ट व्यवस्था कर सकती है। इस कालावधि में उप-राष्ट्रपति राज्य सभा के सभापति के रूप में कार्य नहीं करेगा और न ही उस हैसियत से वेतन प्राप्त करेगा। इस स्थिति में उप-राष्ट्रपति के राज्य सभा सम्बन्धी कार्यों का संचालन राज्य सभा का उप-सभापति करेगा।

इस कालावधि में उप-राष्ट्रपति को महाभियोग की प्रक्रिया द्वारा ही हटाया जा सकता है। किन्तु क्या इस प्रकार हटाया गया उप-राष्ट्रपति अपने वास्तविक पद से भी पृथक् समझा जायेगा अथवा नहीं ? वर्तमान सांविधानिक प्रावधान के अनुसार उप-राष्ट्रपति के पद से उसे तभी हटाया जा सकेगा जब चौदह दिन की पूर्वसूचना देकर राज्य सभा बहुमत से इस आशय का प्रस्ताव पारित कर दे और लोकसभा के मतदान करने वाले सदस्यों का बहुमत उसकी पुष्टि कर दे। यह एक विचित्र अवस्था ही होगी जबकि महाभियोग से बदनाम उप-राष्ट्रपति राज्य सभा का सभापतित्व तब तक करता रहेगा जब तक उसे अपने यथार्थ पद से नहीं हटाया जाता। मेरे विचार से इस हेतु संविधान में संशोधन कर यह व्यवस्था होनी चाहिए कि यदि कार्यवाहक राष्ट्रपति को महाभियोग से हटाया जाता है तो उस अवस्था में उसे उपराष्ट्रपति के पद से भी उसी तिथि से मुक्त माना जाये।

उप-राष्ट्रपति का एक यह भी दायित्व है कि जब कभी उसे राष्ट्रपति का त्यागपत्र प्राप्त हो वह उसकी सूचना लोकसभा के अध्यक्ष तक पहुँचाए। यहाँ एक विचारणीय प्रश्न है कि जब कभी उप-राष्ट्रपति कार्यवाहक राष्ट्रपति हों, और यदि वे त्यागपत्र देना चाहें तो वे त्यागपत्र कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में देंगे अथवा उप-राष्ट्रपति के रूप में ? साथ ही ऐसा त्याग-पत्र किसे सम्बोधित कर देना उचित होगा ? ऐसी ही स्थिति 1969 में उपस्थित हुई थी जब कार्यवाहक राष्ट्रपति श्री गिरि, त्यागपत्र देना चाहते थे। उन्होंने अपना त्यागपत्र राष्ट्रपति के कार्यालय में भेज दिया और राष्ट्रपति के सचिव ने इसकी सूचना लोकसभा के अध्यक्ष तक पहुँचा दी।

भारत के उप-राष्ट्रपति कई बार विदेशों में भारत के मैत्री सम्बन्ध प्रगाढ़ करने के लिए राजकीय यात्रा पर भी पधारे हैं। डा० राधाकृष्णन् ने कम्बोडिया, लाओस, वियतनाम, अमरीका, हंगरी, नीदरलैण्ड्स, पूर्वी जर्मनी, आदि अनेक देशों की सद्भाव यात्रा की। उनके उत्तराधिकारी डा० जाकिर हुसैन ने भी पश्चिम एशिया और दक्षिणी पूर्वी एशिया के कई देशों में यात्रा की।

हमारे देश की अनेकों सामाजिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक संस्थाओं से उप-राष्ट्रपति का अभिन्न सम्बन्ध रहा है। उदाहरणार्थ, हमारे सभी उप-राष्ट्रपति दिल्ली विश्वविद्यालय के पदेन कुलपति रहे हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उप-राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति

हमारे देश में उप-राष्ट्रपति का पद शान-शौकत और गौरव की दृष्टि से दूसरे नम्बर का माना जाता है। संविधान के अनुसार उसे कोई औपचारिक कार्यपालिका-सम्बन्धी कार्य नहीं सौंपे गये हैं, फिर भी व्यवहार में मन्त्रिमण्डल के समस्त निर्णयों की सूचना उसे दी जाती रही है। दिन-प्रति-दिन की राजनीति से ऊपर होने के कारण विभिन्न राजनीतिक दलों के नेतागण उनसे मिलते रहते हैं और उनके विचारों का सदैव आदर करते हैं। हमारे तीनों उप-राष्ट्रपति राष्ट्रीय जीवन में अपनी दार्शनिक प्रवृत्ति, विद्वत्ता एवं व्यवहार-कुशलता के कारण अपने पद का गौरव बढ़ा रहे हैं। वर्तमान उप-राष्ट्रपति, श्री गोपाल स्वरूप पाठक भी देश के माने हुए विधिवेत्ता रह चुके हैं। जब तक देश का शासक दल हारे हुए राजनीतिज्ञों को इस पद पर आरूढ़ करने का प्रयत्न नहीं करेगा, इस पद के गौरव में वृद्धि होती ही जायेगी। अन्ततः उप-राष्ट्रपति का प्रतिष्ठित पद हमारी सांविधानिक व्यवस्था में नवीन होने के साथ-साथ एक श्रेष्ठ सामाजिक संस्था और एक वैधानिक आवश्यकता है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारत में अनिवार्य मतदान की व्यवस्था

राम बहादुर वर्मा

26 जनवरी, 1950 को नया संविधान लागू होने पर भारत के प्रत्येक वयस्क स्त्री-पुरुष को मतदान का अधिकार दिया गया । संविधान में स्पष्ट लिखा गया है कि संसद के प्रत्येक सदन अथवा किसी राज्य के सदन या प्रत्येक सदन के लिए निर्वाचन हेतु प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र के लिए एक साधारण निर्वाचक नामावली होगी तथा केवल धर्म, मूलवंश, जाति लिंग या इनमें से किसी एक के आधार पर कोई व्यक्ति ऐसी किसी नामावली में सम्मिलित किये जाने के लिए अपात्र न होगा अथवा ऐसे किसी निर्वाचन क्षेत्र के लिए किसी विशेष निर्वाचक नामावली में सम्मिलित किये जाने का दावा न करेगा ।[1] लोकसभा तथा प्रत्येक राज्य की विधानसभा के लिए निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होगा अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति जो भारत का नागरिक है तथा 21 वर्ष से कम अवस्था का नहीं है तथा संविधान अथवा समुचित विधानमण्डल द्वारा निर्मित किसी विधि के अधीन अनिवास, चित्त-विकृति, अपराध अथवा भ्रष्ट या अवैध आचार के आधार पर अनर्ह कर दिया गया है, ऐसे किसी निर्वाचन में मतदाता के रूप में पंजीबद्ध होने का हकदार न होगा ।[2]

वयस्क मताधिकार के बावजूद अगर हम पिछले चार आम चुनावों एवं उसके बाद होने वाले मध्यावधि चुनावों का अध्ययन करें, तो हमें पता चलता है कि प्रत्येक चुनाव में मतदाताओं के एक बड़े भाग ने मताधिकार का प्रयोग नहीं किया । मतदान केन्द्रों पर उपस्थित मतदाताओं की अपेक्षा अनुपस्थित मतदाताओं का प्रतिशत थोड़ा ही कम रहा है । यह बात निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है :

अनुपस्थित मतदाता

तालिका 1—लोकसभा

आम चुनाव का वर्ष	अनुपस्थित मतदाताओं का प्रतिशत
1952	55·37
1957	52·46
1962	46·60
1967	39·67
1971 (मध्यावधि चुनाव)	45·73

[1] 'भारत का संविधान', अनुच्छेद 325 ।

[2] वही, अनुच्छेद 326 ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

तालिका 2—विधानसभा

आम चुनाव का वर्ष	अनुपस्थित मतदाताओं का प्रतिशत
1952	54·70
1957	51·77
1962	46·78
1967	39·57

इस प्रकार हम मतदाताओं में चुनाव के प्रति काफी उदासीनता देखते हैं। यद्यपि पहले आम चुनाव से चौथे आम चुनाव तक अनुपस्थित मतदाताओं का प्रतिशत निरन्तर घटता रहा है परन्तु इससे यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि सात-आठ चुनावों के बाद यह संख्या घटकर बहुत कम हो जायेगी। चौथे आम चुनाव के बाद हुए मध्यावधि चुनावों में अनुपस्थित मतदाताओं का प्रतिशत पहले की अपेक्षा घटने के बजाय बढ़ा है। अमरीका, इंग्लैंड तथा फ्रांस जैसे प्रजातान्त्रिक देशों में, जहाँ सैकड़ों वर्षों से चुनाव हो रहे हैं, अनुपस्थित मतदाताओं का प्रतिशत 20 से 25 के बीच रहा है। भारत के केरल प्रान्त में, जहाँ कि मतदाता सबसे अधिक जागरूक एवं शिक्षित हैं और जहाँ अब तक सात से अधिक बार चुनाव हो चुके हैं, 1970 के मध्यावधि चुनाव में अनुपस्थित मतदाताओं का प्रतिशत करीब 25 रहा।

चुनाव में मतदाता अधिकतम संख्या में भाग लें, इसके लिए अनिवार्य मतदान का तरीका अपनाया जा सकता है। भारत के मुख्य चुनाव आयुक्त एस० पी० सेन-वर्मा ने तीन वर्ष पूर्व ही इस तरीके को भारत में अपनाने का सुझाव दिया था। ऊटाकमण्ड (तमिलनाडु) में मुख्य चुनाव अधिकारियों की एक बैठक को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा कि भारतीय चुनावों में कहीं-कहीं पचास प्रतिशत से भी कम मतदान हुआ है। मतदाताओं की यह उदासीनता चुनाव को एक मजाक बना देती है। अतः भारतीय संसद को अनिवार्य मतदान का कानून बना देना चाहिए और जो मतदाता चुनाव में भाग न लें उन पर कुछ जुर्माना लगाया जाये, जो पचास रुपये से अधिक न हो।[3]

कुछ लोग चुनाव में बीमारी, घर से अनुपस्थित रहने या किसी दुर्घटना के कारण वोट देने में असमर्थ रहते हैं, परन्तु ऐसे लोगों का प्रतिशत बहुत कम है। अधिकांश लोग केवल चुनाव के प्रति उदासीनता एवं उपेक्षा के कारण मतदान केन्द्रों पर नहीं जाते। मतदाता मत देने की परवाह ही नहीं करते। यदि उन्हें वोट न देने के कारण किसी न्यायालय के सामने उपस्थित होना पड़ेगा और जुर्माना देना पड़ेगा तो वह उदासीनता दिखाने के पहले दो बार सोचेगा।[4]

विश्व के विभिन्न देशों में अनिवार्य मतदान पद्धति

मुख्य चुनाव आयुक्त एस० पी० सेन-वर्मा का यह सुझाव नया नहीं है। विश्व के विभिन्न देशों में अनिवार्य मतदान का तरीका बहुत पहले से अपनाया गया है। सर्वप्रथम 1836 में अमरीकी कालोनी प्लाईमाउथ में इसे अपनाया गया। 1846 में वर्जीनिया ने भी इसे

---

[3] 'नॉर्दर्न इण्डिया पत्रिका', 6 सितम्बर, 1968।

[4] एस० पी० सेन-वर्मा, 'नॉर्दर्न इण्डिया पत्रिका', 19 सितम्बर, 1968।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अपनाया। वर्जीनिया में मतदान में भाग न लेने वाले पर 200 पौण्ड तम्बाकू जुर्माना किया जाता था। बाद में कई देशों ने अनिवार्य मतदान को अपनाया। बेल्जियम में 1893 में और आस्ट्रेलिया में 1925 में अनिवार्य मतदान पद्धति लागू की गई।[5] आज बेल्जियम, नीदरलैण्ड्स, लक्जमबर्ग, आस्ट्रिया, ब्राजिल, इक्वेडोर, निकारगुआ आदि प्रजातान्त्रिक देशों एवं क्यूबा, रुमानिया, चैकोस्लोवाकिया जैसे साम्यवादी देशों में अनिवार्य मतदान की पद्धति है। इन देशों में मतदान में भाग न लेने पर जुर्माना किया जाता है परन्तु जुर्माने की मात्रा विभिन्न देशों में अलग-अलग हैं। अनुपस्थित मतदाताओं पर जुर्माना करने के इस तरीके को 'मनी फाईन प्लान' की संज्ञा दी जाती है।

'मनी फाईन प्लान' से मतदान में भाग लेने वालों की संख्या बढ़ी है। आस्ट्रेलिया में 1924 के चुनाव में मतदान 59·36 प्रतिशत था परन्तु 1925 में अनिवार्य मतदान पद्धति लागू होने पर प्रतिशत बढ़कर 91·39 हो गया। 1955-56 के चुनावों में मतदान प्रतिशत 95 था। स्विट्जरलैण्ड के उदाहरण से यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि जिन कैन्टनों में अनिवार्य मतदान है, वहाँ मतदान प्रतिशत 80 से 90 के बीच है, परन्तु जिन कैन्टनों में मतदान ऐच्छिक है, वहाँ पर मतदान प्रतिशत 40 से 50 प्रतिशत के बीच है।[6]

तालिका 3

चुनाव वर्ष	मतदान प्रतिशत	
	कैन्टन जहाँ पर अनिवार्य मतदान है	कैन्टन जहाँ पर ऐच्छिक मतदान है
1935	87·7	61·8
1943	82·5	58·0
1947	83·6	54·9
1951	80·8	51·9
1955	78·6	53·3
1959	80·4	41·1

मतदान—अधिकार या कर्त्तव्य ?

अनिवार्य मतदान पर सैद्धान्तिक रूप से विवाद इस बात को लेकर है, कि मतदान अधिकार है या कर्त्तव्य ? यदि मतदान अधिकार है तो व्यक्ति को इसे पूरा करने के लिए उसी प्रकार बाध्य नहीं किया जा सकता जिस प्रकार भाषण देने, सभा-संगठन बनाने, आदि अन्य अधिकारों को पूरा करने के लिए उसे बाध्य नहीं किया जा सकता। यदि मतदान एक कर्त्तव्य है, तो राज्य को इस बात का अधिकार है कि वह नागरिकों को इसे पूरा करने के लिए बाध्य

[5] विलियम गुडमैन, 'द पार्टी सिस्टम इन द यूनाइटेड स्टेट्स', डी० वान नास्ट्रैंड कम्पनी, प्रिंस्टन, 1964, पृ० 576।

[6] लैस्ली लिप्सन, 'डेमोक्रेटिक सिवलीजेशन', आक्सफोर्ड, न्यूयार्क, 1964, पृ० 287।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

करे। मतदान एक अधिकार है, यह इस बात से जुड़ा है कि प्रभुसत्ता जनता में निहित है। प्रभुसत्ता में हिस्सेदार होने के नाते व्यक्ति को मतदान का अधिकार है। मतदान एक कर्त्तव्य है, यह इस सिद्धान्त से जुड़ा है कि प्रभुसत्ता राष्ट्र में निहित है। अतः मतदान में भाग लेकर मतदाता अपने कर्त्तव्य को पूरा करता है।

अनिवार्य मतदान के पक्ष में तर्क

1. अमरीकी राजनीतिक विचारक विलियम गुडमैन का मत है कि यह सत्य है कि मतदान एक व्यक्तिगत अधिकार है, परन्तु यह एक कर्तव्य है और सरकार द्वारा इसे लागू किया जाना चाहिए, क्योंकि यह पूरे समाज के लिए लाभकारी है।[7] इसका पहला उदाहरण ईसा पूर्व छठी शताब्दी में एथेन्स में सोलन द्वारा बनाया गया वह कानून था जिसमें नागरिक विवाद होने की दशा में प्रत्येक नागरिक के लिये कोई-न-कोई पक्ष लेना आवश्यक था। अगर कोई नागरिक किसी भी पक्ष में नहीं रहता है, तो उसे दण्ड दिया जायेगा, क्योंकि बहुत अधिक अनुपस्थिति से तानाशाही को प्रोत्साहन मिलेगा।

2. लोकतन्त्र की सफलता इस बात में है कि नागरिक राजनीतिक दृष्टि से अधिक-से-अधिक चेतन एवं सक्रिय हों। अनेक कमियों के बावजूद भी प्रजातन्त्र शासन का सबसे अच्छा रूप है परन्तु यह तभी जीवित बना रह सकता है, जबकि जनता राजनीतिक क्रियाकलापों में सक्रिय रुचि ले। वास्तव में प्रजातन्त्र में मुख्य निदेशक शक्ति सामान्य आदमी की सामान्य बुद्धि है। यदि एक बार सामान्य आदमी की चुनाव में रुचि कम हो जायेगी तो प्रतिनिधिमूलक सरकार का अस्तित्व खतरे में पड़ जायेगा। अतः जनता को मतदान के लिये बाध्य करना अन्ततः सच्चे जनमत को जानने में मदद देगा एवं प्रजातन्त्र की जड़ें मजबूत करेगा। मतदान केन्द्र पर जाने के लिए बाध्य करना वैसे ही है जैसे बच्चे को स्कूल जाने के लिए बाध्य करना। जिस प्रकार अनिवार्य सार्वजनिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य अधिक-से-अधिक बच्चों को स्कूल में लाना है, उसी प्रकार अनिवार्य मतदान का उद्देश्य अधिक-से-अधिक मतदाताओं को मतदान केन्द्र पर लाना है।

3. वर्तमान ढाँचे में जो लोग दलों की नीतियों, कार्यक्रमों एवं व्यक्तित्व के आधार पर सबसे तर्कसंगत ढंग से प्रतिनिधियों को चुन सकते हैं, वे मतदान केन्द्रों पर नहीं जाते। चारों आम चुनावों एवं मध्यावधि चुनावों के आँकड़ों के अध्ययन से यह पता चलता है कि अशिक्षित एवं राजनीतिक दृष्टि से कम चेतना वाले इलाकों एवं मजदूर बहुल क्षेत्रों में, जहाँ पर मतदाताओं की बौद्धिक क्षमता कम है, मतदान का प्रतिशत अधिक है। आज भारत के बौद्धिक वर्ग में राजनीति के प्रति वितृष्णा पैदा हो रही है। यह निःसन्देह स्वस्थ प्रजातन्त्र के लिए खतरनाक बात होगी। इस दिशा में बौद्धिक वर्ग को जाने से अनिवार्य मतदान रोक सकता है। प्रजातन्त्र का आधार जनता की सहमति है और अनिवार्य मतदान से सहमति का दायरा बढ़ता जायेगा।

4. अनिवार्य मतदान से जनता में एक नयी राजनीतिक चेतना का जन्म होगा। चूँकि वोट देना ही है, इसलिए मतदाता देश-विदेश की समस्याओं, विभिन्न राजनीतिक दलों

[7] विलियम गुडमैन, उपर्युक्त, पृ० 577।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

की नीतियों एवं कार्यक्रमों को समझने का प्रयत्न करेगा। मतदान का प्रयोग करते-करते लोग सही ढंग से अपने इस अधिकार का प्रयोग करना सीख जायेंगे। जनता की राजनीति में बढ़ती हुई रुचि प्रजातन्त्र के लिए निःसंदेह लाभकारी होगी एवं उसकी जड़ें मजबूत करेगी।

5. अनिवार्य मतदान के पक्ष में सबसे बड़ा तर्क सैद्धान्तिक की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक है। इसका सबसे बड़ा उद्देश्य लोगों को मतदान केन्द्र पर ले जाकर यह निश्चित करना है कि प्रतिनिधियों के चुनाव में पेशेवर राजनीतिज्ञों की पकड़ कम हो।[8] इससे न केवल पेशेवर राजनीतिज्ञों की पकड़ राजनीति पर कम होगी वरन् अपने समर्थकों की बूथ पर जाने देने एवं विरोधियों को मतदान केन्द्र पर जाने से रोकने की जो घटनाएँ सुनायी पड़ती हैं, उनकी पुनरावृत्ति को भी रोका जा सकेगा।

अनिवार्य मतदान के विपक्ष में तर्क

अनिवार्य मतदान के विपक्ष में कई तर्क दिये जाते हैं। राजनीतिक विचारक क्लिंटन रोसीटर का मत है[9] कि मैं केवल अधिक मतदान के लिए अधिक मतदान का पक्षपाती नहीं हूँ। अधिक मतदान से अमरीका की राजनीति पर कोई व्यावहारिक प्रभाव नहीं पड़ेगा। यह अभी सिद्ध होना बाकी है कि अधिकतम मतदान का रिकार्ड प्रजातन्त्र की सफलता का द्योतक है। लिप्सन का भी यही मत है कि अनिवार्य मतदान की दूरदर्शिता में अभी भी सन्देह है। यदि एक उदासीन एवं अज्ञानी व्यक्ति को मतदान करने के लिए मजबूर कर भी दिया गया, तो इससे प्रजातन्त्र को क्या प्राप्त होगा ?[10]

लिप्सन की शंका के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यह आवश्यक नहीं कि अनिवार्य मतदान ऐसे लोगों को ही मतदान केन्द्र पर लाये जो कि राजनीतिक दृष्टि से उदासीन एवं विचारशून्य हों। ऐसे लोग जो कि कुलीनता या बड़प्पन के कारण मतदान के लिए पंक्ति में खड़ा होना अपना अपमान समझते हैं, मतदान में आयेंगे। शिक्षित वर्ग में भी अनुपस्थित मतदाताओं की संख्या कम नहीं है। भारत में स्नातक निर्वाचन क्षेत्रों में भी मतदान का औसत सत्तर प्रतिशत तक है। इसके अलावा अनिवार्य मतदान होने पर निष्क्रिय मतदाता भी निर्वाचन में रुचि लेगे एवं राजनीतिक दृष्टि से चेतन होंगे।

अनिवार्य मतदान पद्धति में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। बी० कृष्णन् के मत से[11] यह जरूरी नहीं कि जो प्रयोग एक देश में सफल हो गया हो वह भारत में भी सफल हो। जिन राष्ट्रों में अनिवार्य मतदान है वहाँ मतदाताओं की संख्या भारत की अपेक्षा बहुत कम है। भारत में संयुक्त राज्य अमरीका की अपेक्षा दुगने मतदाता हैं। अनिवार्य मतदान में सब लोग वोट देने जायेंगे, तो इनके लिए अतिरिक्त मतदान केन्द्र बनाने पड़ेंगे, अधिक सरकारी कर्मचारियों एवं पुलिस के सिपाहियों की आवश्यकता पड़ेगी। इसमें खर्च भी बढ़ेगा और विभिन्न गुटों में झगड़े की सम्भावना भी बढ़ेगी। परन्तु यह तर्क उपयुक्त नहीं है। प्रजातन्त्र में जनता

---

[8] एस० पी० सेन-वर्मा, 'नॉर्दर्न इण्डिया पत्रिका', 14 सितम्बर, 1968।

[9] क्लिंटन रोसीटर, 'पार्टी एण्ड पॉलिटिक्स इन अमेरिका', कार्नेल, 1961, पृ० 185

[10] लैस्ली लिप्सन ,उपर्युक्त, पृ० 282।

[11] बी० कृष्णन्, 'नॉर्दन इण्डिया पत्रिका', 5 फरवरी, 1969।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

के दृष्टिकोण को मुख्य रूप से चुनाव से ही जाना जा सकता है, अतः खर्चे की बात तर्कसंगत नहीं है।

अनिवार्य मतदान पद्धति में एक कठिनाई अवश्य उत्पन्न होगी। वह यह है कि नियम का उल्लंघन करने वालों को अदालत में लाना पड़ेगा, उन पर अभियोग चलाना एवं उन्हें दण्ड देना पड़ेगा। यह सब जटिल एवं समयसाध्य प्रक्रिया होगी। दण्ड से बचने के लिये लोग घूस देंगे जिससे भ्रष्टाचार बढ़ेगा। यदि भारत में 10 प्रतिशत व्यक्ति वोट देने नहीं जाते तो इसका मतलब 2·5 करोड़ लोग अनुपस्थित मतदाता हुए। चुनाव के बाद इतने लोगों पर अभियोग चलाना और यह पूछना कि ये मत देने क्यों नहीं आये, एक लम्बी प्रक्रिया है। कुछ मामलों में निश्चित रूप से छूट देनी पड़ेगी जैसे व्यक्तिगत या पारिवारिक बीमारी, परिवार में जन्म या मृत्यु, आवश्यक कार्यवश घर से बाहर रहना आदि। यह निश्चित करना भी कठिन होगा कि अनुपस्थित मतदाता कहाँ तक सही प्रमाण दे रहा है। दण्ड से बचने के लिए लोग झूठे डाक्टरी प्रमाणपत्र देंगे या अन्य बहाने बनायेंगे। इससे झूठ बोलने की एक ऐसी प्रवृत्ति का जन्म होगा जो बड़े पैमाने पर होगी। यह एक ऐसा मजबूत तर्क है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

1968 में ऊटाकमण्ड में हुए सम्मेलन में प्रधान निर्वाचन आयुक्त श्री एस० पी० सेन-वर्मा के अनिवार्य मतदान के सुझाव का मुख्य चुनाव अधिकारियों ने इसलिए विरोध किया कि कानून द्वारा वोट देने के लिए बाध्य करना लाभदायक नहीं होगा। उनका मत था कि मतदान के प्रति रुचि वैधानिक प्रतिबन्धों के अलावा अन्य उपायों से भी उत्पन्न की जा सकती है।[12]

अनिवार्य मतदान का विकल्प

अनिवार्य मतदान का एक दूसरा विकल्प भी है। प्रचार के द्वारा या सार्वजनिक संगठनों के द्वारा जनता को मतदान में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है। अमरीका में इसके लिए 'नेशनल गेट आउट टू वोट क्लब' है। यह दलों से अलग एक संगठन है। इसका मुख्य कार्यालय वाशिंगटन में है तथा विभिन्न राज्यों में इसकी शाखाएँ हैं। इसका उद्देश्य जनता को यह बताना है कि वोट देना एक सामाजिक कर्त्तव्य है। वोट दो, चाहे जिसको दो। यह क्लब पोस्टरों एवं समाचार पत्रों में विज्ञापन के जरिए जनता को मतदान केन्द्र पर जाने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। भारत में चौथे आम चुनाव में इन्डियन जूनियर चेम्बर ने इस प्रकार के प्रयत्न किये थे। पोस्टरों के माध्यम से इन्डियन जूनियर चेम्बर ने जनता से मत देने की अपील की थी। 1971 के मध्यावधि चुनाव (लोकसभा) में मुख्य चुनाव आयुक्त ने समाचारपत्रों एवं सिनेमा की स्लाइडों के जरिए मतदाताओं से बार-बार यह निवेदन किया था कि मत देना आपका पवित्र कर्त्तव्य है, अतः चुनाव के दिन सब काम छोड़कर मतदान अवश्य करें।

विभिन्न राजनीतिक दल भी प्रचार के द्वारा मतदान का प्रतिशत बढ़ाने में मदद दे सकते हैं। वे अपने समर्थकों के माध्यम से इस प्रकार का प्रभावशाली प्रचार करा सकते हैं।

---

[12] 'नॉर्दर्न इण्डिया पत्रिका', 8 सितम्बर, 1968।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारतीय जनसंघ ने इस दिशा में काम करने के लिए एक तरीका अपनाया है—'नवनिर्वाचक दिवस' मनाना[13] इसके अनुसार दल के सदस्य उन नवयुवकों के पास जायेंगे जो कि 21 वर्ष के होने पर नए-नए मतदाता बने हैं। ऐसे नए मतदाताओं को बताया जायेगा कि उन्हें मत-प्रयोग का अधिकार मिल गया है और वे समझ-बूझकर इसका इस्तेमाल करें।

मतदाताओं को अधिक-से-अधिक संख्या में मतदान करने के लिए भारत में एक और तरीका अपनाया गया है, वह है चलते-फिरते मतदान केन्द्रों की व्यवस्था। मई, 1969 में सुल्तानपुर संसदीय निर्वाचन-क्षेत्र में इसका प्रयोग किया गया था। मुख्य चुनाव आयुक्त एस० पी० सेन-वर्मा ने कहा कि चलता-फिरता मतदान केन्द्र न केवल भारत में वरन् समूचे विश्व में प्रथम बार अपनाया जा रहा है। सुल्तानपुर जिले के लम्हुआ विधानसभा निर्वाचन-क्षेत्र के तीन गाँवों में इसका प्रयोग किया गया। यह चलता-फिरता मतदान केन्द्र प्रातः 7 से 9 बजे तक एक गांव में, 9 से 11 तक दूसरे गाँव में तथा 11 से 5 बजे तक तीसरे गाँव में स्थित था। एस० पी० सेन-वर्मा का मत है कि इसने अनोखी सफलता प्राप्त की है। सुल्तानपुर संसदीय निर्वाचन-क्षेत्र में, जहाँ पर कि मतदान का औसत 16·7 प्रतिशत था, चलते-फिरते मतदान केन्द्र के तीन गाँवों में मतदान पचास प्रतिशत तक था।[14] चलते-फिरते मतदान का तरीका चाहे कितना ही अच्छा क्यों न हो, सम्पूर्ण देश में इसकी व्यवस्था नहीं की जा सकती। इसके लिए इतने ट्रकों एवं बसों की आवश्यकता पड़ेगी, जितना कि प्राप्त होना असम्भव है। इसके अलावा प्रत्येक गाँव को जोड़ने वाली ऐसी सड़कों का अभाव है, जहाँ से होकर ट्रक या बसें विभिन्न गाँवों में जा सकें।

नयी कांग्रेस के भूतपूर्व अन्तरिम अध्यक्ष एवं वर्तमान नियोजन मन्त्री, श्री चिदम्बरम् सुब्रह्मण्यम् ने अनुपस्थित मतदाताओं का प्रतिशत कम करने लिए एक सुझाव दिया है।[15] उनका मत है कि जो व्यक्ति मतदान न करे, उसे तुरन्त दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए, जैसा कि अनिवार्य मतदान पद्धति के समर्थक कहते हैं। इसके स्थान पर यह होना चाहिए कि जो व्यक्ति मतदान में हिस्सा न ले उसका नाम निर्वाचक नामावली से हटा दिया जाये जिससे कि अगले आम चुनाव में वह हिस्सा न ले सके।

मतदाताओं को अधिकतम संख्या में मतदान केन्द्रों पर ले जाने के लिए उपर्युक्त तरीकों में से कोई-न-कोई तरीका अवश्य अपनाना पड़ेगा वरना मतदान के प्रति मतदाताओं की बढ़ती हुई उदासीनता प्रजातन्त्र के लिए खतरे का केन्द्र-बिन्दु बन सकती है। मेरे विचार से अपनी तमाम कमजोरियों एवं इससे उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों के बावजूद अनिवार्य मतदान का तरीका सर्वोत्तम है। विश्व में जहाँ भी इसका प्रयोग किया गया, चमत्कारिक परिणाम निकले और मतदान का प्रतिशत एकदम ऊँचा हो गया। सार्वजनिक संगठनों द्वारा मतदाताओं को प्रोत्साहित करना, राजनीतिक दलों के द्वारा प्रचार या चलते-फिरते मतदान का तरीका, जहाँ भी अपनाया गया, सन्तोषप्रद परिणाम नहीं दे सका। 'नेशनल गेट आउट टू वोट क्लब' के बावजूद अमरीका में अनुपस्थित मतदाताओं का प्रतिशत 25 से 30 के बीच रहा है।

---

[13] 'नवभारत टाइम्स', 10 जनवरी, 1968।

[14] 'द नेशनल हेरल्ड', 20 मई, 1969।

[15] 'द स्टेट्स', 3 अप्रैल, 1971।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विभिन्न राजनीतिक दल तो मतदाताओं को मतदान केन्द्र पर ले जाने का कार्य करते ही हैं, परन्तु इससे भी मतदान का प्रतिशत बहुत नहीं बढ़ा । चलते-फिरते मतदान केन्द्र का तरीका अव्यावहारिक है । इसलिए मेरे विचार से अनिवार्य मतदान का तरीका ही सर्वोत्तम है । इसे भारत में भी अपनाया जाना चाहिए और इसके लिए आवश्यक सांविधानिक या कानूनी व्यवस्था की जानी चाहिए ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

जनसाधारण में राजनीतिक संचेतना : एक सर्वेक्षण

रूप चन्द सिंह रावत

[सन् 1964 से 1968 तक जिला गढ़वाल के कुछ शहरी एवं ग्रामीण भागों में डा० पी० एन० मसलदान, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय के निर्देशन में सामाजिक सर्वेक्षण किया गया था। सर्वेक्षण का विषय था 'गढ़वाल में सरकार तथा राजनीति'। इस विषय के ऊपर लखनऊ विश्वविद्यालय ने सन् 1970 में पी-एच० डी० की उपाधि भी लेखक को प्रदान की थी।

सर्वेक्षण के हेतु जो साक्षात्कार अनुसूची स्वीकार एवं प्रयोग की गयी थी उसमें कुछ प्रश्न इस विषय के ऊपर भी थे कि लोग संसद एवं विधानसभाओं के संगठन, कार्य तथा उपयोगिता के बारे में कितना जानते हैं ? प्रश्नावली का प्रयोग शोध-कर्ता के द्वारा स्वयं साक्षात्कार प्रणाली (इण्टरव्यू मेथड) के आधार पर किया गया तथा इस प्रकार आँकड़ों की प्राप्ति भी स्वयं ही की गयी।]

प्रजातन्त्र में कानून निर्माण करने वाली सभाएँ समाज की दर्पण मात्र होती हैं। इन्हें हम इस रूप में तभी समझ सकते हैं जबकि नागरिकों को इन सभाओं के कार्य एवं उपयोगिता के सम्बन्ध में यथोचित सूचना एवं जानकारी उपलब्ध हो। भारतवर्ष में नागरिकों को इस सम्बन्ध में कितनी जानकारी है, इसके लिए निम्नलिखित कुछ विषयों पर लोगों से सूचना प्राप्त की गयी।

केन्द्रीय तथा राज्य व्यवस्थापिकाएँ कहाँ स्थित हैं ?

सर्वप्रथम प्रश्न सूचनादाताओं (रेसपोन्डेन्ट्स) से यह पूछा गया था कि क्या वे बता सकते हैं कि उनकी संसद तथा राज्य विधानसभा कहाँ स्थित है ? सूचनादाताओं के उत्तरों का विवरण निम्नलिखित रूप में है :

तालिका संख्या 1—संसद तथा विधानसभा के स्थान के बारे में जानकारी

कुल प्रतिवादी—650

	शुद्ध उत्तर	अशुद्ध उत्तर	कुछ मालूम नहीं	सही उत्तरों का प्रतिशत
संसद	384	162	104	59%
विधानसभा	305	8	77	46·9%

प्रश्न : आपकी संसद व विधानसभा कहाँ-कहाँ स्थित हैं ?

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उपर्युक्त तालिका के आँकड़ों से स्पष्ट है कि राज्य विधानसभा कहाँ स्थित है इससे अधिक लोगों को यह मालूम है कि भारतीय संसद कहाँ स्थित है क्योंकि इस सन्दर्भ में 59 (संसद) तथा 46·9 (विधानसभा) प्रतिवादियों ने सही उत्तर दिये हैं।

राज्य विधानसभा से संसद की स्थिति के बारे में अधिक प्रतिशत लोगों को क्यों मालूम है, इसके लिए निम्नलिखित कारण उत्तरदायी समझे जा सकते हैं :

(क) जिला गढ़वाल के किसी भी भाग से लखनऊ की अपेक्षा दिल्ली अधिक नजदीक है। फलस्वरूप भारतीय संसद के नेताओं का गढ़वाल में आना-जाना अधिक होता है। गढ़वाल के स्थानीय नेताओं के साथ भी यही बात लागू होती है। उनके व्यक्तिगत सम्बन्ध तथा दल-सम्पर्क भी इसी तथ्य को निर्देशित करते हैं।

(ख) दिल्ली तुलनात्मक रूप में नजदीक होने के कारण गढ़वाल के लोग जीविका-उपार्जन हेतु दिल्ली अधिक संख्या में जाते हैं। कहा जाता है दिल्ली का प्रत्येक आठवाँ व्यक्ति पर्वतीय है। जाड़े की ऋतु में तो लगता है, मानों गढ़वाल की 80 प्रतिशत आबादी दिल्ली आ गयी हो। इन दो कारणों से भी केन्द्रीय सरकार और संसद के बारे में वहाँ के लोगों को राज्य विधानसभा की तुलना में जानकारी अधिक होना स्वाभाविक ही है।

जिन उत्तरदाताओं (रिंसपोंडेन्ट्स) ने सही उत्तर दिये उनका वर्गीकरण निवास-स्थान के आधार पर निम्नलिखित प्रकार से किया गया है :

तालिका संख्या 2—सही उत्तर देने वाले प्रतिवादियों का निवास-स्थान के आधार पर वर्गीकरण

कुल प्रतिवादी—क्रमश: 384 तथा 305

	संसद	राज्य विधानसभा
1. शहरी	64	66
2. अर्द्ध-शहरी	39	27
3. नौकरी शहरों में करते हैं किन्तु कुछ समय के लिए गाँवों में आये हैं	83	70
4. ग्रामीण	198	142

निदर्शन (सेंपल) में शहरी प्रतिवादियों की संख्या केवल 100 थी।

संसद के संगठन के बारे में जानकारी

दूसरा प्रश्न सूचनादाताओं से यह पूछा गया था कि 'क्या आप बता सकेंगे कि भारतीय संसद का संगठन क्या है ? अर्थात् उसमें कौन-कौन से लोग सम्मिलित हैं तथा उसके कितने अंग हैं ?' प्रतिवादियों के उत्तरों (रिसपोंसेज) का वर्गीकरण अग्रलिखित रूप से किया गया है :

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

तालिका संख्या 3—संसद के संगठन के बारे में ज्ञान

कुल प्रतिवादी—650

1. पर्याप्त ज्ञान	115	17·7 %
2. आंशिक ज्ञान	252	38·7 %
3. अशुद्ध उत्तर	95	14·6 %
4. कोई ज्ञान नहीं	188	28·9 %

पर्याप्त ज्ञान उन प्रतिनिधियों का समझा गया जिन्होंने निम्नलिखित में से कोई एक उत्तर दिया हो :

तालिका संख्या 4—पर्याप्त ज्ञान के अन्तर्गत सम्मिलित किये गये उत्तर

कुल प्रतिवादी—115

1. संसद के अन्तर्गत राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, मन्त्रीगण तथा लोकसभा सम्मिलित हैं	30	26 %
2. संसद में लोकसभा, राज्यसभा तथा मन्त्री-गण सम्मिलित हैं	36	31·3 %
3. लोकसभा तथा राज्यसभा दोनों का सम्मिलित नाम ही संसद है	31	29·9 %
4. संसद के तीन अंग होते हैं—राष्ट्रपति, राज्यसभा तथा लोकसभा	18	15·6 %

जिन प्रतिवादियों ने भारतीय संसद के संगठन को बताने के सन्दर्भ में कम-से-कम लोकसभा या राज्यसभा का नाम बताया उन्हें तालिका संख्या 3 के 'आंशिक ज्ञान' वाली श्रेणी में रखा गया है। देखा यह गया है कि समाज में लोकसभा, राज्यसभा की तुलना में अधिक लोकप्रिय है। यह सत्य निम्नलिखित तालिका के आँकड़ों से भी प्रतीत हो रहा है :

तालिका संख्या 5—राज्यसभा एवं लोकसभा की लोकप्रियता

कुल प्रतिवादी—252

1. राज्यसभा ही संसद है	82	32·5 %
2. लोकसभा का दूसरा नाम ही संसद है	170	67·6 %

तालिका संख्या 3 से व्यक्त है कि 28·7 प्रतिशत प्रतिवादियों को भारतीय संसद के अंगों एवं संगठन के बारे में कोई ज्ञान नहीं है। इन उत्तरदाताओं का निवास-स्थान के आधार पर वर्गीकरण निम्नलिखित तालिका में किया गया है :

तालिका संख्या 6—संसद के संगठन इत्यादि के बारे में अज्ञान प्रदर्शित करने वाले उत्तरदाताओं का निवास-स्थान के आधार पर वर्गीकरण

कुल प्रतिवादी—188

1. शहरी प्रतिवादी	18	9·6 %
2. ग्रामीण प्रतिवादी	170	90·4 %

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

तालिका संख्या 3 से यह भी प्रतीत होता है कि 14·6 प्रतिशत प्रतिवादियों ने संसद के संगठन के बारे में अशुद्ध उत्तर दिये। यह प्रतिवादी मुख्यतया संसद और राज्य विधान-सभाओं में भेद नहीं कर पा रहे थे।

संसद के सदनों के बारे में ज्ञान

सूचनादाताओं से दूसरा प्रश्न संसद के संगठन के उस पहलू पर पूछा गया था जिसे कि संविधान-निर्माताओं ने संघीय शासन-व्यवस्था के कारण अपनाया था। सूचनादाताओं से यह प्रश्न यह जानने के लिए पूछा गया था कि वे इस व्यवस्था से अवगत हैं कि नहीं। उपलब्ध उत्तरों का निम्नलिखित तालिका में विश्लेषण किया गया है :

तालिका संख्या 7—भारतीय संसद के सदनों के बारे में ज्ञान

कुल प्रतिवादी—650

1. एक सदन	182	28 %
2. दो सदन	104	16 %
3. दो सदन किन्तु एक सदन का नाम अशुद्ध	21	3·2 %
4. एक सदन, किन्तु नाम अशुद्ध	44	6·7 %
5. दो से अधिक सदन	25	3·8 %
6. कोई ज्ञान नहीं	274	42·1 %

प्रश्न था : भारतीय संसद के कितने सदन हैं ?

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि सबसे अधिक प्रतिशत उन प्रतिवादियों का है जिन्होंने स्वीकार किया कि उन्हें इसके बारे में कोई ज्ञान नहीं है कि भारतीय संसद में कितने सदन हैं। सर्वेक्षण करते समय मालूम हुआ कि वास्तव में इनमें से (274 प्रतिवादियों में से) बहुत सारे प्रतिवादी लोकसभा या राज्यसभा का नाम तो जानते थे किन्तु उन्हें 'सदन' का अर्थ नहीं आता था। काफी वाद-विवाद करने के बाद भी यह स्वीकार करना पड़ा कि वास्तव में वे 'सदन' या 'संसद' के मुख्य-मुख्य अंगों से पूर्णतया या आंशिक रूप से अनभिज्ञ थे। निम्न-लिखित तालिका में इन 42·1 प्रतिशत प्रतिवादियों का वर्गीकरण शिक्षा-स्तर के आधार पर किया गया है :

तालिका संख्या 8—संसद के सदनों के बारे में अनभिज्ञ 274 प्रतिवादियों का शिक्षा-स्तर के अनुसार वर्गीकरण

कुल प्रतिवादी—274

1. अशिक्षित	64
2. कक्षा 1 से 5 तक	89
3. कक्षा 6 से 8 तक	85
4. कक्षा 9 से 12 तक	30
5. बी० ए० तथा उससे ऊपर	6

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

तालिका संख्या 7 से व्यक्त होता है कि 3·2 तथा 6·7 प्रतिशत प्रतिवादियों ने संसद के दो या एक सदन बताये किन्तु उनमें से दो या एक सदन का नाम गलत बताया। प्रतिवादी राज्य विधानसभा को भी केन्द्रीय संसद का एक सदन मान रहे थे।

जिन 16 प्रतिशत प्रतिवादियों ने संसद के दोनों सदनों का नाम लिया, उनका शिक्षा-स्तर के आधार पर निम्नलिखित तालिका में वर्गीकरण किया गया है :

तालिका संख्या 9—शिक्षा-स्तर के आधार पर प्रतिवादियों का वर्गीकरण

कुल प्रतिवादी—104

1. अशिक्षित	11
2. कक्षा 1 से 5 तक	19
3. कक्षा 6 से 8 तक	37
4. कक्षा 9 से 12 तक	32
5. बी० ए० तथा इससे ऊपर	5

भारतीय संसद के कितने सदन होने चाहियें ?

इस तथ्य को जानने के लिए कि संविधान-निर्माताओं ने संसद के संगठन के बारे में जो व्यवस्था कर दी है वह नागरिकों को भी मान्य है कि नहीं, एक प्रश्न पूछा गया था कि उनकी राय में संसद के कितने सदन होने चाहिएँ। उपलब्ध उत्तरों को निम्नलिखित तालिका में रखा गया है :

तालिका संख्या 10—संसद के कितने सदन हों

कुल प्रतिवादी—650

1. एक ही सदन होना चाहिए	222	34·1 %
2. द्विसदनात्मक व्यवस्था उचित है	109	16·7 %
3. देश (अर्थात् संघ) में जितने राज्य हैं, उतने ही संसद के सदन भी होने चाहिएँ	89	13·7 %
4. कोई राय व्यक्त नहीं कर सकते	230	35·4 %

जिन 34·1 प्रतिशत प्रतिवादियों ने एक ही सदन अपनाये जाने के बारे में राय व्यक्त की, उनसे आगे यह भी पूछा गया कि वे क्यों ऐसी राय दे रहे। जो कारण उन्होंने इस राय को व्यक्त करने के बारे में बताये, उनका विश्लेषण निम्नलिखित तालिका में किया गया है :

तालिका संख्या 11—एक सदन अपनाये जाने के कारण

कुल प्रतिवादी—222*

1. इससे देश की एकता व्यक्त होगी	53	23·9 %
2. अधिक सदनों पर खर्चा भी अधिक होता है	76	34·2 %
3. राज्यसभा राज्यों के लिए विशेष		

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कुछ नहीं कर रही है	27	12·2 %
4. संसद के कार्यों में बाधा पड़ती है तथा कानून का निर्माण शीघ्र नहीं होता	14	6·2 %
5. जनता प्रत्यक्ष रूप से केवल एक सदन के सदस्यों का चुनाव करती है	48	21·6 %
6. शायद और देशों में भी संसद का एक ही सदन होता है, जैसे ब्रिटेन या अमरीका	16	7·2 %
7. अंग्रेजों के शासनकाल में भी एक ही सदन था	7	3·1 %

* कुछ प्रतिवादियों ने एक से अधिक उत्तर दिये।

जिन प्रतिवादियों ने अधिक खर्चे के कारण, संसद के कार्यों में बाधा पड़ने के कारण या अंग्रेजों के शासन की व्यवस्था के कारण एकसदनीय संसद-व्यवस्था के पक्ष में राय दी वे या तो अधिक पढ़े-लिखे थे या वे ग्राम पंचायत के या क्षेत्रीय समिति के, या जिला परिषद् के निर्वाचित सदस्य थे। स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं की सदस्यता के आधार पर 222 प्रतिवादियों का वर्गीकरण निम्नलिखित तालिका में किया गया है :

तालिका संख्या 12—स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं की सदस्यता के आधार पर वर्गीकरण

	कुल प्रतिवादी 222*	
1. ग्राम पंचायत के प्रधान या उपप्रधान	15	6·9 %
2. ग्राम सभा के सदस्य	106	47·7 %
3. क्षेत्रीय समिति के सदस्य	9	4·0 %
4. जिला परिषद् के सदस्य	2	0·9 %
3. नगरपालिका, कैन्ट बोर्ड या नोटीफाइड एरिया समिति के सदस्य	4	1·8 %
6. छात्र संघ, कर्मचारी संघ या अन्य किसी संस्था के सदस्य	14	6·2 %
7. बिना किसी संस्था के सदस्य	82	36·9 %

* कुछ प्रतिवादी एक से अधिक संस्थाओं के सदस्य हैं।

तालिका 10 से स्पष्ट हो रहा है कि 16·7 प्रतिशत प्रतिवादियों ने द्विसदनात्मक व्यवस्था के पक्ष में राय दी है। कारण पूछे जाने पर उन्होंने निम्नलिखित कारण बताये :

तालिका संख्या 13—द्विसदनात्मक व्यवस्था स्वीकार करने के पक्ष में कारण

	कुल प्रतिवादी 109*	
1. संसदीय कार्य अधिक है इसलिये दो सदनों का होना आवश्यक है	17	15·5 %
2. कानून निर्माण के लिए अधिक आदमियों की आवश्यकता होती है	21	18·3 %

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

3. एक सदन राज्यों का भी होना चाहिए इसलिए एक सदन का नाम राज्यसभा है	31	28·4 %
4. द्विसदनात्मक व्यवस्था ही संविधान-निर्माताओं ने स्वीकार की है अतः हम क्यों इसका विरोध करें	24	22·0 %
5. अधिकतर देशों में द्विसदनात्मक व्यवस्था है इसलिए भारतवर्ष के लिए भी यही व्यवस्था उचित होगी	10	9·1 %
6. राज्यों में भी दो ही सदन होते हैं इसलिए केन्द्र में भी होने आवश्यक है	19	17·4 %
7. योग्यतम प्रतिनिधियों के लिए एक अलग से सदन होना चाहिए।	12	11·0 %

* कुछ प्रतिवादियों ने एक से अधिक राय दी।

तालिका 10 से यह भी व्यक्त हो रहा है कि 35·4 प्रतिशत प्रतिवादी अपनी कोई भी राय व्यक्त करने की स्थिति में नहीं थे। इसमें से कुछ तो संसद के संगठन इत्यादि से थोड़ा बहुत अवगत थे किन्तु वे इसलिए अपनी राय व्यक्त करने से इन्कार कर रहे थे कि वे इतने पढ़े-लिखे नहीं हैं कि उनकी राय उचित हो तथा उनकी राय से कोई विशेष प्रभाव पड़ रहा हो। सर्वेक्षण कर्त्ता ने बहुत प्रयत्न किया कि ऐसे प्रतिवादी अपनी राय व्यक्त करें क्योंकि उसके लिए तो उनकी राय बहुमूल्य एवं प्रभावशाली थी किन्तु सफलता प्राप्त न हो सकी।

भारतीय संसद के कार्यों के सम्बन्ध में लोगों का ज्ञान

नागरिकों के लिए संसद की क्या उपयोगिता है तथा उसके बारे में उन्हें कितना ज्ञान है इस तथ्य को जानने के लिए प्रतिवादियों से संसद के कार्यों के बारे में प्रश्न पूछा गया। सूचना-दाताओं ने संसद के जो कार्य बताये उनका विश्लेषण निम्नलिखित तालिका में किया गया है :

तालिका संख्या 14—संसद के कार्यों के सम्बन्ध में जानकारी

कुल प्रतिवादी 650*

1. देश के लिए प्रशासकों को नियुक्त करना	47	7·2 %
2. लोगों की इच्छानुसार देश पर शासन करना	21	3·2
3. वाद-विवाद करना तथा कानून निर्माण करना	68	10·4 %
4. देश के लिए विभिन्न नीतियों का निर्धारण करना, जैसे विदेश नीति, खाद्य सामग्री नीति, वाणिज्य नीति, इत्यादि	63	9·7 %
5. गम्भीर निर्णय लेना जैसे युद्ध की घोषणा करना, किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन घोषित करना, मध्यावधि चुनाव करवाना, इत्यादि	45	6·9 %
6. पंच-वर्षीय योजना तैयार करना,	126	19·3 %
7. देश के लिए खर्च की व्यवस्था करना	81	12·3 %
8. राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करना	54	8·3 %

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

9. एम० पी० तथा एम० एल० ए० लोगों को चुनाव लड़ने के लिए टिकट देना	70	10·7 %
10. कोई ज्ञान नहीं	210	23·9 %

* कुछ सूचनादाताओं ने एक से अधिक उत्तर दिये।

जिन प्रतिवादियों ने यह उत्तर दिये कि संसद का कार्य प्रशासकों की नियुक्ति करना, वाद-विवाद व कानून निर्माण करना, देश के लिए विभिन्न नीतियों का निर्धारण करना, गम्भीर निर्णय लेना तथा देश के लिए खर्च की व्यवस्था करना है, वे अन्य प्रतिवादियों से तुलनात्मक रूप में अधिक पढ़े-लिखे थे, उनका मुख्य व्यवसाय कृषि न था, वे शहरी जगहों में रह चुके थे, उनका आर्थिक स्तर अन्य सूचनादाताओं से उच्च था, वे राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने वाले थे तथा गाँवों या शहरों के कल्याणकारी कार्यों में उनका प्रभावशाली सहयोग था। इन सब तथ्यों के आधार पर ऐसे प्रतिवादियों का फिर से वर्गीकरण करना यहाँ सम्भव तो नहीं हो पायेगा किन्तु उनमें से केवल एक तथ्य अर्थात् व्यवसाय के आधार पर, उन प्रतिवादियों का वर्गीकरण निम्नलिखित तालिका में किया जा रहा है जिन्होंने यह उत्तर दिया कि भारतीय संसद का मुख्य कार्य वाद-विवाद तथा कानून का निर्माण करना है :

तालिका संख्या 15—व्यवसाय के आधार पर वर्गीकरण

कुल प्रतिवादी—68

1. कृषि	4	5·8 %
2. कृषि तथा व्यापार	6	8·8 %
3. कृषि तथा बढ़ईगीरी	1	1·5 %
4. कृषि तथा नौकरी	8	11·6 %
5. व्यापार	16	23·2 %
6. अध्यापन एवं अध्ययन	19	27·9 %
7. नौकरी (निजी क्षेत्र)	3	4·4 %
8. नौकरी (सरकारी क्षेत्र)	9	13·2 %
9. अन्य	2	2·9 %

तालिका संख्या 14 के आँकड़ों से स्पष्ट है कि अधिकतम प्रतिशत (32·9 प्रतिशत) वाले प्रतिवादियों को संसद के कार्यों के बारे में कोई ज्ञान नहीं है। वास्तव में यह प्रतिवादी संसद या पार्लियामेंट का अर्थ नहीं समझ पा रहे थे। इन्हीं को जब यह पूछा गया कि आपके एम० पी० और एम० एल० ए० लोग क्या काम करते हैं तो उन्होंने बहुत अच्छे उत्तर दिये। अप्रकाशित शोध ग्रन्थ 'गढ़वाल में सरकार तथा राजनीति' की तालिका संख्या 34, अध्याय 4 के आँकड़े इस सन्दर्भ में सहायक हैं।

विधानसभा के संगठन के बारे में ज्ञान

एक और प्रश्न सूचनादाताओं से राज्य विधानसभा के संगठन के बारे में पूछा गया था। इस प्रश्न को पूछने के दो उद्देश्य थे—एक तो यह कि लोगों को विधानसभा के बारे में कितना मालूम है और दूसरा यह कि संसद के बारे में लोगों की जानकारी अधिक है या राज्य विधानसभा के बारे में। प्राप्त उत्तर अग्रलिखित तालिका में प्रस्तुत किये गये हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

JULY 1968

17 Wednesday

बनी हुई है इसी रूप के मंदिर हरण कोट उदयगिरि में प्राप्त है ये देवालय पांचवी शताब्दी के ही मानीदि कहु वा मंदिर रूप उन प्रारंभ ऐतिहासिक क्रम का पता लगाना स्वतंत्र जो शिखरों या मुंडामों में दिखाई देते हैं गुप्त कालीन देवालयों में सांची के मंदिर प्रमुख है इसके दक्षिण के उपरान्त पत्थर वाले मंदिरों में Kihole और Lodkhan मंदिर है लगभग छठवीं शताब्दी का है इन मंदिरों की दिवारों भी पत्थर की है इनमें बीच २ में ऑकोर स्तम्भों की योजना है फिर इस तरह के मंदिर कला की दृष्टि से इतने महत्वपूर्ण नहीं है लेकिन देवालय के प्रारंभिक स्थिति को स्पष्ट करते हैं नीचे गुप्त कालके कुछ के प्रमुख देवालयों की विशेषताओं का प्रभाव डालेंगे जो प्रारंभिक कालों से साथ की है उनमें देवालय दृष्टि से विशेषताएँ

18 Thursday

गुप्त कला की मूर्ति कला के क्रम में गुप्तकाल में काफी उन्नति की है गुप्तकाल की मूर्तिकला की दो प्रमुख विशेषताएं है। इनमें अधिक मौलिकता है जिससे कि देवीय आकृतियों का स्पष्ट रूप से अवलोकन किया गया है। गुप्तकालीनों में अधिक मूर्तिकला में अलंकरण और मूर्तियों को उच्च स्थान दिया है इसलिए इसे शास्त्रीय कोटि में। - ये देवालय नागौद रियासत में है। 1920 में एक अंग्रेज बंगली ने सबसे पहले इसका पता लगाया है वर्तमान समय में खंडित अवस्था में है एकमात्र Symlim का अवशेष ही दृष्टिगोचर है। लेकिन आश्चर्य की बात तो उसके मुंह चबूतरे को देखते हुए दार्शनिक पक्ष के होने का ज्ञान होता है। यहां के मूर्तिगृह के द्वार खंभों पर अपने २ पर गंगा और यमुना की मूर्ति बनायी गई है उपरांत पर अलंकरण बने है द्वार के नीचे पर अलंकरण बने है। उड़ते हुए किन्नर

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

9. ए
लड़
10. को

वाद-वि
निर्णय
रूप में
उनका
वाले थे
सब तथ्य
पायेगा
वर्गीकर
संसद क

1. कृषि
2. कृषि
3. कृषि
4. कृषि

प्रतिवादि
या पार्लिय
पी० और
अप्रकाशि
के आँकड़े

विधानस

था। इस
कितना म
विधानस

JULY 1968

Monday 15

निर्माण हुआ होगा। कुम्भकार का अवशेष भी उक्त प्रसाद वस्तु का समर्थन करता है।

मौर्य राज प्रसाद

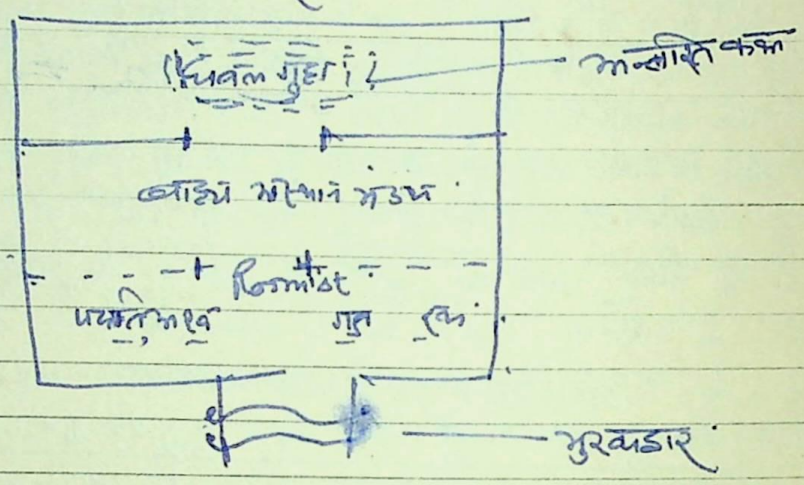

Tuesday 16

Stati
7.VII.68

इस तरह से हम कह सकते हैं कि गुप्तकाल से गर्व पुरातात्विक दृष्टि से कोई भी निर्मित देवालयवस्तु तो नहीं दिखाई देती है। पर जैसा कि उपर कहा गया है इनकी रूपरेखा साहित्यों में, मुद्रालय तथा अन्य स्मारकों के शिलापटों में मिलता है।

देवालय का विकसित रूप — भारतीय देवालयों के विकास का आदिम रूप साँची के गुप्त कालीन मंदिरों में देखने को मिलता है। उनमें वर्गाकार कक्ष या गर्भ के सामने मंडप है इसके सामने चार मोटे स्तम्भ हैं इन देवालयों की उपरी छत सीधी और सपाट

JULY

S	M	T	W	T	F	S
	1	2	3	4	5	6
7	8	9	10	11	12	13
14	15	16	17	18	19	20
21	22	23	24	25	26	27
28	29	30	31			

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

JULY 1968

13 Saturday

Sah 30.VI.68

बाणभट्ट ने राजा हर्ष के प्रसाद में तीन ब्राह्मण का वर्णन किया है जिसे वे कन्या कहते हैं राजा प्रसाद के प्रथम प्रांगण में चतुरंगिनी सेना के प्रबंध के साथ राजभवन के कर्मचारियों की व्यवस्था भी थी द्वितीय प्रांगण सभासदन होता था जिसे मंत्रणागृह सम्मेलनभवन भी कहा जा सकता है मौर्य प्रसाद वस्तु में से बाह्य आस्थामंडप कहते हैं इसका व बहुत व्यवहार मुगलकालीन दीवाने आम के सादृश्य है। तृतीय प्रांगण का प्रमुख स्थान है जो देवल ग्रह कहा जाता था गंगा राजा स्वयं रहते थे राजोद्यान तड़ाग राजभवन देवग्रह भी तृतीय प्रांगण के निकट ही होते थे। राजा प्रसाद अनेक तल्ले के होते थे जिसे भूमि या तल कहते थे तल्लों के क्रम

14 Sunday

पर प्रसाद एवं भूमिक द्विभूमिक त्रिभूमिक और नवभूमिक तब भी होते थे। उत्कीर्ण चन्द्रशिला से सोपान मार्ग से ऊपरी प्रसाद पर पहुंचते थे। प्रसाद के आदि तल में कई कमरे होते थे प्रसाद के नीचे के तल में कई छोटे २ कमरे होते थे जिसमें रसोई महामंडप, स्नानघर (यंत्रधाराग्रह) और नालियां Cenels होते थे। ऊपरी भाग केवल नहाने के काम में आता था राजा जिस कक्ष में रहते थे उसे देवल ग्रह या श्री गर्भ कहा जाता था भारतीय वस्तु कला में दिवइन्द्रियों की योजना अति प्राचीन है। प्रकाश और वायु परिवहन की वैज्ञानिक कार्य के साथ सौन्दर्य प्रवेश में भी इसका महत्वपूर्ण स्थान है अतः हम आनुमान कर सकते हैं कि अर्थशास्त्र के आधार पर कथित इस संक्षिप्त विवरण के अनुकूल ही मौर्य प्रसाद का

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

9. ए
ल
10. क

वाद-
निर्णय
रूप मे
उनक
वाले
सब त
पायेग
वर्गीक
संसद

8. नौ
9. अन

प्रतिवा
या पा
पी० अ
अप्रका
के आँ

विधान

था। इ
कितन
विधान

JULY 1968

Thursday 11

कलरवी जनार्दन।

मूर्तिकला में देवियाँ।— विश्व में देवी शक्तियों का स्वरूप अति प्राचीन काल से सर्वोच्च रहा है। यही कारण है कि जब पिता सृष्टि पर ब्रह्मा विश्व सृष्टि में सफल हुए तो भगवान शंकर ने कहा नारी के दो प्रकार हैं। ग्रिफिथ महोदय का कथन है कि यह अलंकारिक चित्रण इतने अधिक व विविध है इनकी पुनर्वृत्ति बहुत ही कम है गुहा 4 एक ही स्तम्भबोधिका में अङ्कित है दो वृषभों का संघर्ष अत्यंत स्वाभाविक है गुहा 12 अन्तरित मंडप के छत पर अंकित विभिन्न मुद्राओं एवं अंकित हस्तों की पंक्ति कलाकार के पक्षी जगत के पुष्प विवेचन का दिग्दर्शन करता है।

Friday 12

कथात्मक चित्रण।—

इसके अधिकतर जातक कथाओं अर्थात् बुद्ध के पूर्व जन्मों से घटित वृत्तान्तों का ही वर्णन है। अजन्ता के कथात्मक चित्रों में से लगभग 20 जातकों का समीकरण हो चुका है। (पूरा का पूरा चित्रण) उनमें से मुख्य हैं, छद्दन्त, वेसन्तर, महाहंस, मात्रपोषक कपि, महाकपि, महिष, मच्छ, रुरु, शिवि, सुतसोम, रुरुपंडित आदि इन जातक कथाओं में एक न एक पारमीताओं का पालन बुद्ध द्वारा हुआ है और सब में करुण रस प्रधान है।

JULY						
S	M	T	W	T	F	S
	1	2	3	4	5	6
7	8	9	10	11	12	13
14	15	16	17	18	19	20
21	22	23	24	25	26	27
28	29	30	31			

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

तालिका संख्या 15—राज्य विधानसभा के संगठन के बारे में जानकारी

कुल प्रतिवादी 650

1. पर्याप्त ज्ञान	179	27·5 %
2. आंशिक ज्ञान	94	14·4 %
3. अशुद्ध उत्तर	173	26·6 %
4. कोई ज्ञान नहीं	204	31·3 %

प्रश्न—क्या आपको राज्य विधानसभा (उत्तर प्रदेश) का संगठन मालूम है ?

उपर्युक्त तालिका से व्यक्त है कि विधानसभा के बारे में 27·5 प्रतिशत प्रतिवादियों को पर्याप्त जानकारी है। इस वर्ग के अन्तर्गत जिन उत्तरों को रखा गया उनका विश्लेषण निम्नलिखित तालिका में है :

तालिका संख्या 16—27·5 प्रतिशत प्रतिवादियों* के विधानसभा के बारे में उत्तर

1. जिस सभा में एम० एल० ए० लोग जाकर बैठते हैं उसी को विधानसभा कहते हैं	69	38·5 %
2. जहाँ एम० एल० सी० तथा एम० एल० ए० एकत्रित होते हैं उसे विधानसभा कहते हैं	48	26·9 %
3. मन्त्रियों, एम० एल० ए० तथा एम० एल० सी० लोगों की सामूहिक सभा का नाम ही विधानसभा है	32	17·8 %
4. जिस सभा का मुखिया राज्यपाल होता है और एम० एल० ए० लोग जिसके सदस्य होते हैं, उसे विधानसभा कहते हैं	43	23·0 %
5. जो सभा लखनऊ में बैठकर हम लोगों के लिए कानून बनाती है, शासन करती है, मन्त्रियों की नियुक्ति करती है, उसी को विधानसभा कहा जाता है	54	30·1 %

* कुछ प्रतिवादियों ने एक से अधिक उत्तर दिये।

तालिका संख्या 15 से यह भी स्पष्ट है कि 14·4 प्रतिशत सूचनादाताओं ने आंशिक शुद्ध उत्तर दिये हैं। इस वर्ग के अन्तर्गत जो उत्तर रखे गये, उनका वर्गीकरण निम्नलिखित तालिका में दिया गया है :

तालिका संख्या 17—14·4 प्रतिशत* आंशिक शुद्ध उत्तरों का वर्गीकरण

1. हमारे द्वारा चुने गये प्रतिनिधि ही विधानसभा का निर्माण करते हैं	40	42·5 %
2. जहाँ एम० पी०, एम० एल० ए० तथा एम० एल० सी० लोग जाकर बैठते हैं उसे विधान-सभा कहते हैं	45	47·9 %
3. उत्तर प्रदेश की सरकार का नाम ही विधान-सभा है।	15	15·9 %
4. एम० एल० ए० तथा शासन करने वाले लोगों की सम्मिलित सभा को विधानमण्डल कहा जाता है	36	38·3 %

* कुछ प्रतिवादियों ने एक से अधिक उत्तर दिये।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

तालिका संख्या 15 से यह भी स्पष्ट है कि 31·3 प्रतिशत प्रतिवादी कोई जानकारी व्यक्त नहीं कर पाये। इस सन्दर्भ में भी प्रेक्षण के आधार पर यह व्यक्त किया जा सकता है कि लोगों को अपने एम० एल० ए० तथा एम० एल० सी० लोगों के बारे में सन्तोषजनक जानकारी प्राप्त है किन्तु वे विधानसभा या विधानपरिषद् जैसे नामों एवं संस्थाओं से पूर्णतया अवगत नहीं हैं। देखा गया है कि शिक्षित लोग भी इन संस्थाओं एवं इनके संगठन से अपरिचित हैं। यह तथ्य निम्नलिखित तालिका के आँकड़ों द्वारा भी प्रमाणित किया जा सकता है :

तालिका संख्या 18—विधानसभा के संगठन की जानकारी न रखने वाले 204 प्रतिवादियों का शिक्षा-स्तर के आधार पर वर्गीकरण

1. अशिक्षित	51	28·9 %
2. कक्षा एक से पाँच तक	49	24·0 %
3. कक्षा छः से आठ तक	62	30·3 %
4. कक्षा नौ से बारह तक	37	18·1 %
5. बी० ए० तथा उससे ऊपर	5	2·4 %

संसदीय एवं विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों के बारे में ज्ञान

कुछ प्रश्न प्रतिवादियों से इस सम्बन्ध में भी पूछे गये थे कि उनके क्षेत्रों के विधानसभा एवं संसद सदस्य कौन हैं ? यह प्रश्न इसलिए भी पूछे गये थे ताकि यह मालूम हो सके कि उनका अपने प्रतिनिधियों से कितना सम्पर्क है, उन्हें राजनीतिक गतिविधियों से कितना लगाव है, उनके प्रतिनिधि कितने लोकप्रिय हैं तथा उन्हें लोकतन्त्रीय संस्थाओं के बारे में कितना ज्ञान है।

सर्वप्रथम सूचनादाताओं से यह पूछा गया था कि 'क्या वे अपने एम० एल० ए० तथा एम० पी० के नाम बता सकेंगे ?' उत्तर निम्नलिखित तालिका में दिये गये हैं :

तालिका संख्या 19—विधानसभा एवं संसदीय सदस्यों के बारे में जानकारी

कुल प्रतिवादी 650

	संसदीय सदस्य		विधानसभा सदस्य	
शुद्ध उत्तर	505	77·7 %	428	65·8 %
अशुद्ध उत्तर	92	14·1 %	86	13·3 %
कोई ज्ञान नहीं	53	8·2 %	136	20·9 %

प्रश्न—आपके क्षेत्र के संसद एवं विधानसभा के लिए कौन व्यक्ति प्रतिनिधि हैं ?

तालिका संख्या 19 के आँकड़ों को देखते हुए प्रतीत होता है कि लोकतन्त्रीय प्रक्रिया तथा संस्थाएँ भारतवर्ष के शहरी एवं ग्रामीण राजनीतिक जीवन में अच्छी तरह समा गई हैं और यहाँ के नागरिक अपनी राजनीतिक परिपक्वता की ओर तीव्र गति से बढ़ रहे हैं। उपर्युक्त तालिका के आँकड़े यह स्वीकार करने को बाध्य करते हैं कि भारत के नागरिकों में राजनीतिक जागरूकता सन्तोषप्रद है और लोकतन्त्रीय प्रणाली को उन्होंने पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संसदीय एवं विधानसभा के सदस्यों के निर्वाचन के बारे में जानकारी

दूसरा मुख्य प्रश्न इस सम्बन्ध में सूचनादाताओं से पूछा गया कि एक संसदीय एवं विधानसभा के सदस्य का निर्वाचन कौन करता है एवं कैसे होता है। प्रतिवादियों के उत्तरों का विश्लेषण निम्नलिखित तालिका में किया गया है :

तालिका संख्या 20—संसदीय एवं विधानसभा के सदस्यों के निर्वाचन के सम्बन्ध में ज्ञान

कुल प्रतिवादी 650

	संसदीय सदस्य		विधानसभा सदस्य	
शुद्ध उत्तर	266	40·9 %	242	37·2 %
आंशिक शुद्ध उत्तर	180	27·7 %	235	36·1 %
अशुद्ध उत्तर	67	10·3 %	35	5·4 %
कोई ज्ञान नहीं	137	21·0 %	138	21·2 %

उपर्युक्त तालिका से प्रतीत होता है कि 27·7 तथा 36·1 प्रतिशत प्रतिवादियों ने संसदीय एवं विधानसभा के सदस्यों के निर्वाचन के सम्बन्ध में आंशिक शुद्ध उत्तर दिये हैं। यह सूचनादाता मुख्यतया यह उत्तर देते हुए पाये गये कि 'सभी स्त्री, पुरुष व बच्चे इन लोगों को वोट देते हैं और जिसे सबसे अधिक वोट मिलते हैं वही व्यक्ति निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है' या इनमें से कुछ प्रतिवादियों ने यह भी कहा कि 'जिन लोगों से कुछ राजनीतिक दलों के कार्यकर्त्ताओं ने वोट देने को कह दिया वही लोग विधानसभाओं के सदस्यों का चुनाव करते हैं'।

जिन प्रतिवादियों ने संसद एवं विधानसभा के सदस्यों के निर्वाचन के बारे में उत्तर देने में असमर्थता व्यक्त की वे या तो अशिक्षित थे, या उनका मुख्य व्यवसाय कृषि था, या वे राजनीतिक गतिविधियों में भाग नहीं लेते थे या वे उन जगहों के निवासी थे जो शहरी क्षेत्रों से दूर थीं तथा जहाँ आने-जाने के साधनों की बहुत कमी थी।

संसद तथा विधानसभा सदस्य जनता के लिए क्या करते हैं ?

व्यवस्थापिका के सदस्यों की उपयोगिता जनता अपने लिये क्या समझती है, इस तथ्य की जाँच करने के लिए भी प्रतिवादियों से पूछा गया कि उनके प्रतिनिधि उनके लिए क्या-क्या कार्य करते हैं। एक दूसरा उद्देश्य इस प्रश्न को पूछने का यह भी था कि जनता अपने प्रतिनिधियों को विधायकों के रूप में कितना जानती है और प्रतिनिधि भी अपनी छाप जनता के ऊपर कैसे छोड़ते हैं ? प्रतिवादियों के बहुत आश्चर्यजनक एवं चित्ताकर्षक उत्तरों का विश्लेषण निम्नलिखित तालिका में किया गया है :

तालिका संख्या 21—संसद एवं विधानसभा के सदस्यों के कार्यों की जानकारी

कुल प्रतिवादी 650*

1. अपने निर्वाचन क्षेत्र के लोगों के हितों की देख-रेख करना	52	8 %

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

2. अपने क्षेत्र की समस्याओं, कठिनाइयों तथा मांगों को सरकार के आगे रखना	70	10·7 %
3. केवल चुनाव लड़ना	142	21·8 %
4. झूठे वायदे करना, जनता में भ्रष्टाचार फैलाना तथा समाज में तनाव की स्थिति पैदा करना	104	16·0 %
5. भ्रष्टाचारिता के आधार पर पैसा कमाना	33	5·0 %
6. वाद-विवाद एवं कानून निर्माण करना	112	17·2 %
7. देश के लिए योजनायें तैयार करना	85	13·0 %
8. देश पर शासन करना	51	7·8 %
9. वे हमारे लिए कुछ नहीं करते	65	10·0 %
10. चुनाव के समय जनता से वोट माँगना	72	11·0 %
11. निर्वाचित हो जाने के बाद दिल्ली और लखनऊ में बैठ जाना	24	3·7 %
12. जिला गढ़वाल की उन्नति के लिए प्रयत्न करना तथा सरकार को बाध्य करना कि यहाँ की उन्नति की जाय	36	5·5 %
13. कोई ज्ञान नहीं	74	11·3 %

*कुछ प्रतिवादियों ने एक से अधिक कार्य बताये।

उपर्युक्त तालिका के आंकड़ों से स्वयं विदित है कि संसदीय एवं विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों को प्रतिवादियों ने सामाजिक इन्जीनियर, समाज सेवक, मध्यस्थ एवं कानून निर्माण के स्रोत के रूप में स्वीकार किया। प्रजातन्त्र में विधायक के इन सब रूपों को स्वीकार किया गया है। प्रजातन्त्र में विधायक को इन सब रूपों में माना जाना कोई असंगत बात भी नहीं होती।

इसके साथ ही साथ प्रतिनिधियों का नकारात्मक स्वरूप सूचनादाताओं के द्वारा प्रतिबिम्बित हुआ। 21·8, 16·5, 10 तथा 11 प्रतिशत प्रतिवादियों ने व्यक्त किया कि प्रतिनिधियों का कार्य केवल चुनाव लड़ना, झूठे वायदे करना व भ्रष्टाचार फैलाना, भ्रष्टाचारिता के आधार पर पैसा कमाना, चुनाव के समय जनता से वोट माँगना तथा निर्वाचित हो जाने के वाद दिल्ली और लखनऊ में बैठ जाना है। सबसे मुख्य बात इन प्रतिवादियों की यह थी कि तुलनात्मक रूप से उनका शिक्षा-स्तर उच्च था, उनका मुख्य व्यवसाय नौकरी था, उनमें राजनीतिक चेतना अधिक थी, वे समाचार-पत्र पढ़ते थे तथा उनका निवास-स्थान या आना-जाना शहरी जगहों में पाया गया। ऊपर वर्णित नकारात्मक तथ्यों में से यहाँ पर केवल एक नकारात्मक तथ्य (कि एम० पी० तथा एम० एल० ए० लोगों का कार्य केवल चुनाव लड़ना है) को व्यक्त करने वाले 21·8 प्रतिशत प्रतिवादियों को व्यवसाय एवं शिक्षा-स्तर के आधार पर अग्रांकित तालिकाओं में वर्गीकृत किया जा रहा है :

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

तालिका संख्या 22—142 प्रतिवादियों का व्यवसाय के आधार पर वर्गीकरण

1. केवल कृषि	12	8·4 %
2. कृषि तथा व्यापार	21	14·8 %
3. कृषि तथा कोई एक अन्य पूरक व्यवसाय	32	22·5 %
4. अध्यापन तथा अध्ययन	26	18·3 %
5. केवल व्यापार	22	15·5 %
6. नौकरी : निजी एवं सरकारी क्षेत्र	28	19·7 %
7. अन्य	1	0·7 %

संसदीय एवं विधानसभा के सदस्यों की कार्यावधि के सम्बन्ध में जानकारी

यह तथ्य जानने के लिए कि क्या लोग स्थायी सरकारी कर्मचारियों और चुने हुए प्रतिनिधियों के बीच भेद करने के योग्य भी हैं या नहीं, प्रतिवादियों से पूछा गया कि संसदीय एवं विधानसभा के सदस्यों की कार्यावधि क्या होती है ? उत्तर निम्नलिखित रूप से उपलब्ध हुए :

तालिका संख्या 23—संसदीय तथा विधानसभा के सदस्यों की कार्यावधि

कुल प्रतिवादी 650

1. शुद्ध (सही) उत्तर	456	70·1 %
2. अशुद्ध उत्तर	103	15·8 %
3. कोई ज्ञान नहीं	91	14·0 %

उपर्युक्त तालिका से विदित है कि 14 प्रतिशत प्रतिवादियों ने व्यवस्थापिका के निर्वाचित सदस्यों की कार्यावधि के बारे में कोई जानकारी व्यक्त करने में असमर्थता प्रकट की। यह प्रतिवादी मुख्यतया अशिक्षित एवं अधिक आयु वाले थे। आयु के आधार पर इनका वर्गीकरण निम्नलिखित तालिका में किया गया है :

तालिका संख्या 24—91 सूचनादाताओं का आयु के आधार पर वर्गीकरण

1. 20 से 35 वर्ष तक	8	8·7 %
2. 36 से 45 वर्ष तक	15	16·4 %
3. 46 से 55 वर्ष तक	49	53·8 %
4. 56 से 65 वर्ष तक	13	14·2 %
5. 66 वर्ष से ऊपर	6	6·6 %

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि 55 से 65 वर्ष तथा 65 से ऊपर वाली श्रेणी के प्रतिवादियों का प्रतिशत तुलनात्मक रूप से कम है। इसका एक मात्र कारण यह है कि समस्त प्रतिवादियों में से (जिन्हें सेंपल में लिया गया) इस आयु वर्ग के लोगों की संख्या केवल 97

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

है। इसके विपरीत 36 से 45 वर्ष तथा 46 से 55 वर्ष की श्रेणियों के सूचनादाताओं की संख्या अधिकतम है—कुल 431 (शोध-ग्रंथ का प्रथम अध्याय इस सम्बन्ध में सहायक है) अर्थात् कुल प्रतिवादियों का यह 66·3 प्रतिशत इन्हीं श्रेणियों के प्रतिवादियों का है।

शुद्ध उत्तर देने वाले प्रतिवादियों का यह अधिक प्रतिशत (70·1 प्रतिशत) लोकतन्त्र के पक्ष में तो है ही, किन्तु पंच-वर्षीय योजनाओं ने भी लोगों की ज्ञान वृद्धि में सहायता दी है। अशिक्षित व कम शिक्षित प्रतिवादियों ने उत्तर दिया कि 'चूँकि योजनाएँ भी पाँच वर्ष के लिए ही बनती हैं तो संसदीय तथा विधानसभा के सदस्य भी पाँच ही वर्ष के लिए होते होंगे, क्यों-कि चुनाव भी शायद पाँच वर्ष के बाद ही होते हैं।'

तालिका संख्या 23 से यह भी स्पष्ट है कि 15·8 प्रतिशत प्रतिवादियों ने अशुद्ध उत्तर दिये हैं। इनके उत्तरों को निम्न तालिका में वर्गीकृत कर दिया गया है :

तालिका संख्या 25—103 प्रतिवादियों के विभिन्न अशुद्ध उत्तर*

1. सरकार जब चाहे तब विधानसभा एवं संसदीय सदस्यों की सदस्यता समाप्त कर सकती है	33	32 %
2. यह मुख्य मन्त्री एवं प्रधानमन्त्री का अधिकार है कि वह जब चाहे तब सदस्यता समाप्त कर दे	44	42·7 %
3. राष्ट्रपति एवं राज्यपाल का ही यह एकमात्र अधिकार है (इच्छा मात्र) कि वह जब चाहे तब संसद तथा विधान-सभा के किसी सदस्य को निकाल दे या उसकी नौकरी समाप्त कर दे	17	16·5 %
4. यह अधिकार मतदाताओं का है कि कभी भी उनकी सदस्यता समाप्त कर दें	9	8·7 %
5. यह तो ईश्वर के हाथ की बात है	5	4·8 %

*कुछ प्रतिवादियों ने एक से अधिक उत्तर दिये।

उपर्युक्त तालिका में वर्गीकृत उत्तरों का अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि प्रतिवादी राज्य प्रमुख, कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका में अन्तर करने में असमर्थ हैं तथा सांविधानिक व्यवस्था से भी अपरिचित हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

नरेशों के निजी कोष एवं संविधान
(एक वैधानिक व्याख्या)

कुंज बिहारी श्रीवास्तव

शासक कांग्रेस पार्टी के दस-सूत्रीय आर्थिक कार्यक्रम के क्रियान्वयन हेतु इन्दिरा सरकार ने सितम्बर, 1970 में नरेशों को प्राप्त होने वाले 'निजी कोष' एवं उनके निर्दिष्ट विशेषाधिकारों के उन्मूलन का निर्णय किया। इसके लिए सरकार के समक्ष दो रास्ते थे : प्रथम तत्कालीन विधि-मन्त्री पी० गोविन्द मेनन के अनुसार निजी कोष की समाप्ति राष्ट्रपति के कार्यकारी आदेश द्वारा, जो संविधान के अनुच्छेद 53 (1) के अन्तर्गत सन्निहित है, समाप्त कर दी जाए। द्वितीय, नरेशों के निजी कोष की समाप्ति संविधान में संशोधन करके संविधान के अनुच्छेद 291 (नरेशों के निजी कोष के सन्दर्भ में), अनुच्छेद 362 (नरेशों के अधिकार एवं विशेषाधिकार के संदर्भ में) एवं अनुच्छेद 366 (22) (जो नरेश शब्द की व्याख्या करता है) को समाप्त करके की जाए। सरकार ने इसके लिए संविधान में संशोधन का निश्चय कर[1] लोकसभा में संविधान का 24वाँ संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया।[2] परन्तु संसद ने संशोधन विधेयक अस्वीकृत कर दिया।[3]

---

[1] संविधान संशोधन का रास्ता क्यों अपनाया गया, इस सम्बन्ध में प्रधानमन्त्री ने स्वयं ही संसद में स्वीकार किया कि उन्होंने इस मामले को सुलझाने के लिए संविधान में संशोधन का जनतांत्रिक स्वरूप स्वीकार किया है न कि कार्यकारी आदेश। इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि सभी राजनीतिक दलों ने, केवल जनसंघ, स्वतन्त्र, भाक्रान्द एवं कुछ निर्दलियों को छोड़कर, निजी कोष की समाप्ति के लिए प्रधानमन्त्री से अनुरोध किया था। अतः विधेयक को दोनों सदनों में उपयुक्त बहुमत मिल जाने की पूर्ण आशा थी, लेकिन विधेयक के लोकसभा में प्रस्तुत होते ही संगठन कांग्रेस ने इसका यह कहकर विरोध किया कि वे यद्यपि नरेशों के निजी कोष का उन्मूलन चाहते हैं, लेकिन वे विधेयक के इस स्वरूप को नापसंद करते हैं। उनके अनुसार इस विधेयक में यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक था कि नरेशों को दिया जाने वाला मुआवजा क्या होगा। उन्हें इस बात की आशंका थी कि विधेयक पास हो जाने के बाद शासक कांग्रेस मुआवजे के सम्बन्ध में भूतपूर्व नरेशों से राजनीतिक सौदेबाजियाँ भी कर सकती है।' 'द टाइम्स ऑफ इण्डिया', 2 सितम्बर, 1970।

[2] संशोधन विधेयक लोकसभा में प्रस्तुत करने के पूर्व बड़ौदा के महाराजा गायकवाड़ ने राष्ट्रपति को नरेशों की ओर से दिये गये एक पत्र में यह आग्रह किया कि इस विधेयक पर सर्वप्रथम अनुच्छेद 143 के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय की राय ले ली जाये। परन्तु सरकार ने इसे स्वीकार न किया। 'द टाइम्स ऑफ इण्डिया', 21 फरवरी, 1970।

[3] लोकसभा में विधेयक के पक्ष में 339 एवं विपक्ष में 154 मत आए, राज्यसभा में इस विधेयक के पक्ष में 149 एवं विपक्ष में 75 मत मिले। यह विधेयक राज्यसभा द्वारा केवल 1 मत के अभाव में पारित न हो सका। अतः सांविधानिक विधि के अनुसार यह विधेयक केवल राज्यसभा द्वारा ही नहीं, वरन् पूर्ण संसद द्वारा ही अस्वीकृत हो गया।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विधेयक की संसद द्वारा अस्वीकृति को सरकार ने अपनी प्रतिष्ठा का विषय बना कर इसे प्रभावी करने का संकल्प किया। अतः विधेयक को प्रभावी करने हेतु सरकार के समक्ष तीन विकल्प थे। प्रथम, संशोधन विधेयक को नए सिरे से पुनः संसद में लाया जाए। परन्तु लोकसभा के दो नियम इस कार्य में बाधक थे। इन नियमों के अनुसार कोई भी विधेयक यदि संसद द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता है तो विधेयक संसद के उसी सत्र में एवं 6 मास के पूर्व विचार के लिए नहीं लाया जा सकता।[4] द्वितीय, संसद के दोनों सदनों का संयुक्त बैठक बुलाकर इसे पास किया जाए, परन्तु संशोधन विधेयक के सम्बन्ध में संविधान में संयुक्त अधिवेशन का कोई प्रावधान नहीं है। तृतीय, राष्ट्रपति के आदेश द्वारा नरेशों की मान्यता समाप्त कर दी जाय।[5] अतः सरकार के पास केवल तृतीय मार्ग ही अवशेष था जिससे कि विधेयक तुरन्त प्रभावी किया जा सकता था। फलतः मन्त्रिमण्डल की सलाह पर राष्ट्रपति ने एक आदेश द्वारा अनुच्छेद 366 (22) में वर्णित नरेशों की मान्यता समाप्त कर दी[6] जिससे नरेशों को मिलने वाले 'निजी कोष' भत्ते एवं उनके विशेषाधिकार स्वयमेव समाप्त हो गये।

राष्ट्रपति के आदेश के विरुद्ध नरेशों ने संविधान के अनुच्छेद 32[7] के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय में इस आशय का वादपत्र प्रस्तुत किया कि (क) राष्ट्रपति के 6 सितम्बर, 1970 के आदेश को असांविधानिक, अधिकारातीत एवं अवैध करार दिया जाए तथा उस आदेश को खारिज करने का आदेश दिया जाए; (ख) वादियों की मान्यताएँ बरकरार रखी जायें, तथा उनके निजी कोष, व्यक्तिगत अधिकार एवं विशेषाधिकार जो कि उन्हें नरेशों के रूप में प्राप्त हैं, कायम रखने की घोषणा की जाए, (ग) भारत सरकार को यह निर्देश दिया जाय कि वह नरेशों के निजी कोष को देती रहे तथा उनकी मान्यताओं और निजी अधिकारों एवं विशेषाधिकारों को कायम रखे जिससे प्रसंविदा तथा विलयन समझौते के आधार को कार्यान्वित एवं दृष्टिगत रखा जा सके।

राष्ट्रपति के आदेश की वैधता को इस आधार पर चुनौती दी गई कि (1) राष्ट्रपति को यह अधिकार नहीं है कि वह नरेशों को एक बार दी हुई मान्यता को समाप्त कर दे, (2) यह मान लेना कि राष्ट्रपति को नरेशों की मान्यता समाप्त करने का अधिकार है, इस आशय से जुड़ा हुआ है कि वह राजाओं के उत्तराधिकार को भी मान्यता दे। बिना उत्तराधिकार की मान्यता दिये राष्ट्रपति का यह आदेश अवैध एवं अनुचित है, (3) एक समूह में सभी नरेशों

---

[4] संसद यदि चाहे तो इस विधि में संशोधन कर 6 मास की अवधि को कम कर सकती है।

[5] इस संदर्भ में कुछ संविधानशास्त्रियों का विचार और मत है कि संविधान की धारा 367 के अनुसार 'जनरल क्लाजेज एक्ट,' 1897 का प्रयोग संविधान की विवेचना के लिए किया जा सकता है। 'जनरल क्लाजेज़ एक्ट' 1897 की धारा 16 के अनुसार नियुक्ति अधिकार के अन्तर्गत ही नियुक्ति मुक्ति और नियुक्ति समाप्ति अधिकार भी समझा जायेगा। इस प्रकार उनके विचार से संविधान की धारा 366 (22) और 'जनरल क्लाजेज़ एक्ट' की धारा 16 के अनुसार राष्ट्रपति को नरेशों को मान्यता प्रदान करने का अधिकार है तो उन्हें मुक्त और समाप्त करने का भी अधिकारी समझा जायेगा।

[6] इस सम्बन्ध में यह भी तर्क दिया गया कि जहाँ संविधान का अनुच्छेद 366 (22) राष्ट्रपति को यह अधिकार देता है कि वह एक व्यक्ति को नरेश की मान्यता दे सकते हैं, वही सामान्य विधि के अनुसार राष्ट्रपति उस नरेश की मान्यता समाप्त भी कर सकते हैं तथा पूर्व अवसर पर राष्ट्रपति द्वारा एक नरेश (महाराजा बड़ौदा) की मान्यता समाप्त कर दी गई थी तथा राष्ट्रपति के इस अधिकार को न्यायालय ने भी वैध माना था।

[7] अनुच्छेद 32। सांविधानिक उपचारों के अधिकार।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

की मान्यता समाप्त करने का राष्ट्रपति का आदेश उनके कार्यकारी अधिकार के निरंकुश उपयोग का प्रतीक है, (4) किसी भी रूप में, आदेश की भावना अनैतिक है क्योंकि यह सरकार की उस नीति को क्रियान्वित करती है जिसे कि सरकार संविधान में संशोधन कर क्रियान्वित करने के लिए संसद में उपयुक्त मत न प्राप्त कर सकी।

यद्यपि भूतपूर्व नरेशों के सन्धियों, अनुबन्धों आदि के अन्तर्गत उत्पन्न विवाद के सम्बन्ध में न्यायालय में वादपत्र प्रस्तुत करने की व्यवस्था नहीं है[8] लेकिन उच्चतम न्यायालय ने अनुच्छेद 14 (विधि के समक्ष समता) तथा अनुच्छेद 19 (व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार) तथा इस आधार पर कि चूँकि यह वाद पूर्व नरेशों की सन्धियों से सम्बन्धित न होकर राष्ट्रपति के अधिकार से सम्बन्धित है, नरेशों का वादपत्र विचारार्थ स्वीकृत किया। इस सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय के समक्ष निम्न प्रश्न विचारणीय थे :

1. संविधान के अनुच्छेद 366 (22) की सीमा या अभिप्राय क्या है ? क्या यह राष्ट्रपति को नरेशीय व्यवस्था के उन्मूलन की शक्ति प्रदान करता है ?

2. क्या अनुच्छेद 291 सरकार पर कोई आदेशात्मक कर्तव्य आरोपित करता है और शासकों को कोई सह-उत्तरदायी अधिकार प्रदान करता है ?

3. अनुच्छेद 362 की सीमा (अभिप्राय) क्या है ?

4. क्या अनुच्छेद 363 न्यायालयों के क्षेत्राधिकार को वहिष्कृत करता है जिससे वह ऐसे तत्त्वों पर विचार न करें कि राष्ट्रपति का आदेश उनकी अधिकार सीमा के बाहर हैं और क्या ये आदेश अनुच्छेद 291 और 362 में संविधान द्वारा प्रदत्त नियमों को भंग करने वाले हैं ?

5. क्या संविधान के अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत दिये गये वादपत्र बनाये रखने योग्य हैं ? इससे अभ्यर्थना करने वालों के कौन से मौलिक अधिकार, यदि कोई हों, उल्लंघित हुए हैं ?

अभ्यर्थियों ने अपने दावे का आधार संधियों एवं करारों को न बनाकर सांविधानिक उपबन्धों को बनाया। उनके अनुसार राष्ट्रपति का आदेश संविधान के अनुच्छेद 366 (22), 291 एवं 362 के अर्थों एवं सन्निहित भावनाओं को नष्ट करता है तथा यह संसद के ऊपर एक आक्रमण है, क्योंकि संसद इन अनुच्छेदों के संशोधन प्रस्ताव को अस्वीकृत कर चुकी है। राष्ट्रपति का यह कृत्य अनुच्छेदों के मूल तत्त्व को ही नष्ट करता है। यह संसद की इच्छा के प्रतिकूल है। इस प्रकार राष्ट्रपति का यह आदेश परोक्ष रूप से संविधान की उल्लंघन प्रक्रिया को प्रभावित करता है।

वादियों के अनुसार नरेशों की गद्दी खाली नहीं रखी जा सकती और उत्तराधिकारी की नियुक्ति परिवार के नियम एवं प्रथाओं के अनुसार होती है। सभी नरेशों के एक साथ बिना उनके उत्तराधिकारी को घोषित किए अमान्यीकरण का विस्तृत आदेश अनुच्छेद 366 (22) 'नरेशों की व्याख्या' के संदर्भ में नहीं आता।

भारतीय संघ ने अन्य बातों के अतिरिक्त अपने शपथ-पत्र द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट किया कि निजी कोष विषयक वादपत्र को विचाराधीन नहीं माना जा सकता, क्योंकि नरेशों

[8] अनुच्छेद 363।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

के निजी कोष एवं विशेषाधिकार की प्राप्ति के अधिकार-सम्बन्धी स्रोत राजनीतिक समझौते एवं राजनीतिक पेन्शन के ही रूप में मान्य थे। इस सन्दर्भ में अनुच्छेद 291 से यह स्पष्ट होता है कि भारत सरकार निजी कोष की अदायगी के लिये बाध्य नहीं है, तथा संविधान के अनुच्छेद 291 एवं 362 वादी एवं अन्य शासकों को कोई व्यवहृत अधिकार नहीं प्रदान करते हैं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि अनुच्छेद 366 (22) के अन्तर्गत शासकों को मान्यता सम्बन्धी प्रश्न 'राज्य नीति का ही एक विषय' है। एतदर्थ 6 सितम्बर, 1970 के प्रसारित आदेश के लिये राष्ट्रपति पूर्णतया समर्थ हैं तथा यह आदेश किसी अनुचित उद्देश्य के लिये नहीं जारी किया गया था एवं उस आदेश द्वारा अनुच्छेद 14, 19 (1) च एवं 31 (1) की प्रत्याभूति अथवा संविधान के अन्य किसी अनुच्छेद का प्रत्याक्रमण भी नहीं किया गया।

उपर्युक्त सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट किया गया कि अनुच्छेद 363 में व्यक्त हस्तक्षेप के वर्जन को दृष्टिगत कर यह विवाद न्यायालय के क्षेत्राधिकार के बाहर है क्योंकि निवेदकों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अथवा सम्पत्ति का अधिकार खतरे में नहीं था और अन्त में यह कि राष्ट्रपति का कार्य पूर्णतया वैध एवं बन्धनकारी था, क्योंकि यह भारत की सम्प्रभुता के प्रयोग में एक राजनीतिक कृत्य था, जिसके कारण न्यायालय यह कह सकता था कि कुछ भी इसके क्षेत्राधिकार के बाहर नहीं है।

उच्चतम न्यायालय ने भूतपूर्व नरेशों की मान्यता समाप्त करने वाले राष्ट्रपति के आदेश को बहुमत (9-2) से अवैध घोषित करते हुए यह निर्णय दिया कि नरेशों के विशेषाधिकार एवं निजी कोष सम्पत्ति के अधिकार के अधीन यथापूर्व कायम रहेंगे।

इस सम्बन्ध में पूर्ववर्णित आधार पर दी गई चुनौती के सम्बन्ध में न्यायालय ने निम्न निर्णय दिये :

प्रथम प्रश्न संविधान के अनुच्छेद 366 (22) की सीमा या अभिप्राय से था। इस सम्बन्ध में न्यायालय ने यह कहा कि यह अनुच्छेद एक व्याख्यात्मक धारा है जिसके अनुसार राष्ट्रपति को किसी व्यक्ति को नरेश के रूप में मान्यता देने का अधिकार है। किन्तु यदि यह मान लिया जाय कि अनुच्छेद 366 (22) के अन्तर्गत राष्ट्रपति किसी व्यक्ति की नरेश के रूप में मान्यता समाप्त भी कर सकते हैं तो इस धारा से कोई ऐसा अर्थ नहीं निकलता है कि राष्ट्रपति संविधान की महत्त्वपूर्ण व्यवस्थाओं को भी रद्द कर सकते हैं। यह कहना कि राष्ट्रपति कार्यपालिका के प्रमुख होने के नाते भूतपूर्व नरेशों की मान्यता समाप्त कर सकते हैं 'विधि के शासन' की मौलिक धारणा के विपरीत है। इस अनुच्छेद के अन्तर्गत 'फिलहाल' शब्द का अर्थ यह कदापि नहीं है, कि राष्ट्रपति का किसी व्यक्ति को 'अस्थायी तौर पर मान्यता' देने का अधिकार है और न ही उसे किसी नरेश को 'एकतरफा कार्रवाई' के द्वारा मान्यता देने अथवा न देने का अधिकार है। क्योंकि 'फिलहाल' शब्द यह अर्थ देता है कि प्रत्येक रियासत का एक शासक होगा। अगर पहला मान्यताप्राप्त नरेश मर जाता है अथवा नरेशत्व त्याग देता है तो उसका एक उत्तराधिकारी नियुक्त किया जायेगा और एक राज्य के एक समय में एक से अधिक नरेश नहीं होंगे।

न्यायालय के समक्ष दूसरा विचारणीय प्रश्न अनुच्छेद 291 से सम्बन्धित था। इस अनुच्छेद की व्याख्या करते हुए न्यायालय ने निर्देश दिया कि सरकार निजी कोष देने के लिए बाध्य है। किसी राशि को भारत के संचित कोष से दिये जाने के निर्धारण का अर्थ यह

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

व्यवस्था कर देना है कि जिसको यह राशि मिलनी है, उसके बारे में संसद के निर्णय द्वारा भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता और यह निर्धारण सम्बद्ध धारा के सही अमल का पर्याप्त कारगर आश्वासन है। न्यायालय ने कहा कि निजी कोष देने का निर्देश संदिग्ध शब्दों में कतई नहीं दिया गया है। सम्बन्धित धारा स्वयं स्पष्ट है। धारा के स्रोत और रीति के अतिरिक्त यह भी व्यवस्था है कि नरेशों को जो निजी कोष दिया जायेगा वह आयकर से मुक्त होगा। न्यायालय ने अपने निर्णय में कहा कि भारत के राष्ट्रपति को संविधान से बाहर ऐसा कोई राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं है जिसका प्रयोग वह नागरिकों के, जिनमें नरेश भी शामिल हैं, विरुद्ध कर सकता है।

अनुच्छेद 362 के सम्बन्ध में न्यायालय ने कहा कि इसकी संरचना किंचित् भिन्न है। यह अनुच्छेद विधायी और प्रशासकीय कृत्यों के क्रियान्वयन को प्रतिबन्धित करता है। पारस्परिक समझौते से उत्पन्न शासकों के व्यक्तिगत अधिकारों और विशेषाधिकारों की मान्यता स्पष्ट नहीं है। किन्तु यह आदेश कि विधायी और प्रशासकीय शक्ति के क्रियान्वयन में गारंटी को उचित आदर प्राप्त होंगे, स्पष्टतया व्यक्तिगत अधिकारों, विशेषाधिकारों और प्रभुत्व की स्वीकृति तथा मान्यता को लक्षित करता है। व्यक्तिगत अधिकारों, विशेषाधिकारों और प्रभुत्व से सम्बन्धित पारस्परिक समझौते के अन्तर्गत गारन्टी और आश्वासनों की प्रतिबन्धात्मक शक्ति को संविधान सुदृढ़ करता है। लेकिन अनुच्छेद 291, जिसमें शाही थैली की भुगतान की गारन्टी से भिन्न अनुच्छेद 362 के अन्तर्गत शासकों द्वारा सम्पादित प्रारम्भिक समझौते और करारनामे के अन्तर्गत बन्धन की गारन्टी है, उन विधायी कृत्यों को रोकता है, जो व्यक्तिगत अधिकारों और विशेषाधिकारों को प्रभावित करते हैं यथा आयकर अधिनियम, 1922, 1961, समुद्रीय सीमाशुल्क अधिनियम, 1878 के अधीन अधिसूचना व्यवहार प्रक्रिया संहिता, 1908 तथा दण्ड प्रक्रिया संहिता 1898।

न्यायालय ने अनुच्छेद 363 (जो कि न्यायालय के क्षेत्राधिकार को बहिष्कृत करता है) के सम्बन्ध में निर्णय दिया कि न्यायालयों को संविधान के अनुच्छेद 366 (22), 291, 362 तथा 363 की व्याख्या करने तथा उनका सही अर्थ निश्चित करने का अधिकार है। अनुच्छेद 363 के अन्तर्गत न्यायालयों के क्षेत्राधिकार पर सीमित पाबन्दी है। न्यायालय के निर्णय के अनुसार राष्ट्रपति में संविधान के बाहर किसी प्रकार का राजनीतिक अधिकार निहित नहीं है। राष्ट्रपति को संविधान के अन्तर्गत अधिकार मिले हैं। अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय की शक्ति अथवा अनुच्छेद 226 के अन्तर्गत उच्च न्यायालयों की शक्ति की इस आधार पर उपेक्षा नहीं की जा सकती कि राष्ट्रपति ने राजनीतिक शक्ति का उपयोग किया है।

न्यायालय के समक्ष अन्तिम विचारणीय प्रश्न यह था कि अभ्यर्थना करने वालों के कौन से मौलिक अधिकार, यदि कोई हों, उल्लंघित हुए हैं? इस सन्दर्भ में न्यायालयों ने यह निर्णय दिया कि निजी कोष संविधान के अनुच्छेद 16 और 21 के अधीन गारन्टी युक्त 'सम्पति' है। न्यायालय ने यह माना कि निजी कोष 'सम्पत्ति' है क्योंकि इसका भुगतान संविधान के अन्तर्गत अनिवार्य है और नरेश 'भारत के नागरिक' हैं। अतः उनको उनकी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता। सरकार नागरिकों पर सार्वभौमिकता या राजनीतिक

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकी ?[9]

न्यायालय के इस निर्णय के बाद से ही यह विवादास्पद प्रश्न प्रारम्भ होता है कि क्या अब भी नरेशों के निजी कोष की समाप्ति की जा सकती है[10] विशेष रूप से इस परिस्थिति में जबकि न्यायालय ने इसे नरेशों की व्यक्तिगत सम्पत्ति करार दे दिया हो ।[11] कुछ दृष्टियों से संविधान के भाग 3 में वर्णित मौलिक अधिकार एवं भाग 4 में दिये गये राज्य-नीति के निदेशक तत्त्व परस्पर विरोधी हैं। एक ओर तो संसद को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी व्यक्ति की सम्पत्ति ले सके[12] तो दूसरी ओर राज्य का यह कर्तव्य होता है, कि वह इस बात को व्यवस्था करे, जिससे लोककल्याण हेतु समुचित सामाजिक व्यवस्था बन सके ।[13] इस सम्बन्ध में सांविधानिक पर्यवेक्षकों में सामाजिक व्यवस्था की परिभाषा के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी विचारधाराएँ रही हैं। न्यायमूर्ति हेगडे ने इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट किया कि सामाजिक व्यवस्था जिसको हम क्रियान्वित करना चाहते हैं वह व्यवस्था होनी चाहिये जिसे संविधान ने स्वयमेव भाग 4 में प्रतिपादित किया है। साथ ही हमें किसी भी ऐसे सिद्धान्त से बचना चाहिये जो कि अनुभवहीन तर्कों पर आधारित हो ।[14] अब यदि सरकार यह समझती है कि जब समाज का आधे से अधिक वर्ग अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकने में असमर्थ है, रोजगार की समस्या एक विकट रूप धारण किए हुए है, बच्चों के लिए स्वास्थ्य-वर्धक खाद्य की समस्या तथा जनता के भोजन एवं आवास की समस्या और भी जटिल है, नरेशों के निजी कोष की समाप्ति करने से एक युक्तियुक्त सामाजिक व्यवस्था बनाई जा सकती है, तो इस सम्बन्ध में यह कठिनाई उत्पन्न होती है कि नरेशों के निजी कोष की समाप्ति किस तरह से की जाये। यथास्थिति में यदि संसद इसकी समाप्ति संविधान में संशोधन करके करना चाहे, तो पहली कठिनाई यह है, कि संसद किसी भी व्यक्ति को उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति से वंचित नहीं कर सकती है। द्वितीय, पंचम लोकसभा के चुनाव के पश्चात् लोकसभा में शासक कांग्रेस पार्टी की शक्ति में पर्याप्त वृद्धि हुई है जब कि राज्यसभा में इसकी शक्ति का ह्रास हुआ है। अतः यह

---

[9] मुख्य न्यायाधिपति श्री हिदायतुल्ला ने अपने निर्णय में कहा है कि भारत सरकार के मामले में कुछ त्रुटियाँ विशेष परिस्थितियों के कारण हुई हैं। पहली बात यह सोचने की है कि मुकुट की सर्वोच्च सत्ता भारत सरकार के राष्ट्रपति को मिल गई है। इस सर्वोच्च सत्ता वाली व्यवस्था में शासक को मान्यता मुकुट से एक उपहारस्वरूप मिलती थी, पर रियासतों के एकीकरण के इतिहास को तथा संविधान के अनुच्छेद 291, 362 और 366 (22) को दृष्टि में रखते हुए राष्ट्रपति की कोई सर्वोच्च सत्ता नहीं रह जाती।

[10] मध्यावधि निर्वाचन के तुरन्त बाद ही प्रधानमन्त्री, श्रीमती इन्दिरा गाँधी, ने समुचित सांविधानिक विधियों द्वारा नरेशों के निजी कोष की समाप्ति के दृढ़ संकल्प को पुनः दोहराया है।

[11] न्यायपीठ के अधिकांश न्यायाधीशों द्वारा निजी कोष को सम्पत्ति मानने के पश्चात् यह अनुभव किया जा रहा है कि जिस प्रकार संविधान संशोधक विधेयक पहले पेश किया गया था उससे काम नहीं चलेगा क्योंकि उसे उच्चतम न्यायालय पुनः मौलिक अधिकारों में परिवर्तन मानकर अवैध घोषित कर सकता है।

[12] गोलकनाथ विवाद (1967) में उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय दिया है कि संसद को यह अधिकार नहीं है कि वह संविधान के भाग 3 में वर्णित मौलिक अधिकारों में कोई संशोधन कर सके, क्योंकि अनुच्छेद 368 संविधान में संशोधन की प्रक्रिया निर्धारित करता है तथा संसद को मौलिक अधिकारों में संशोधन का कोई अधिकार नहीं देता।

[13] अनुच्छेद 39।

[14] 'द टाइम्स आफ इण्डिया', 28 फरवरी, 1971।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अब भी आवश्यक नहीं है कि जो विधेयक लोकसभा द्वारा पास हो जाय उसे राज्यसभा पास ही कर दे। यदि यह मान भी लिया जाय कि संसद से सरकार इससे सम्बन्धित विधेयक पारित करा सकती है[15] तो निजी कोष की समाप्ति से सम्बन्धित केवल दो ही रास्ते हो सकते हैं :

(1) अनुच्छेद 368 के पूर्व निम्नलिखित शब्द जोड़ दिये जायें, 'संसद इस अनुच्छेद में वर्णित विधियों के अनुसार संविधान के किसी भी अंश में संशोधन कर सकती है' तथा यह भी जोड़ दिया जाये कि 'इस अनुच्छेद के अन्तर्गत बनी किसी भी विधि के सन्दर्भ में अनुच्छेद 13 लागू नहीं होगा'।

(2) इस सम्बन्ध में दूसरी विधि यह हो सकती है कि संसद के एक विधेयक द्वारा अनुच्छेद 13 (2) की समाप्ति कर दी जाये। इसकी समाप्ति के बाद मौलिक अधिकारों के संशोधन में कोई बाधा नहीं आ सकेगी। यह न्यायसंगत भी होगा क्योंकि इसके पूर्व ही अनुच्छेद 13 (2) समाप्त हो चुका होगा।

यद्यपि इसकी भी कोई गारन्टी नहीं है कि उच्चतम न्यायालय मौलिक अधिकारों में हस्तक्षेप कह कर इसे अवैध घोषित न कर दे। अतः ऐसी परिस्थिति से बचने के लिए संसद न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाकर एवं प्रगतिशील विचारों के न्यायाधीशों की नियुक्ति कर गोलकनाथ केस में दिये गये निर्णय में संशोधन करवा सकती है।[16] समय-समय पर बदलती हुई परिस्थितियों में संविधान का संशोधन विकासशील समाज में आवश्यक भी है। संविधान एक गतिशील प्रलेख है, इसे जड़ नहीं बनाया जा सकता। प्रधानमन्त्री स्वर्गीय नेहरू ने नवम्बर, 1948 में संविधान सभा में कहा था कि यद्यपि हमने इस संविधान को उतना कठोर एवं स्थायी बनाया है जितना कि बना सकते हैं फिर भी संविधान में स्थायित्व नहीं है। यदि किसी चीज को स्थायी बना दिया जाता है तो इससे राष्ट्र की, चेतनायुक्त लोगों की प्रगति रुक जाती है। किसी भी परिस्थिति में हम इस संविधान को इतना दृढ़ नहीं बना सकते थे कि बदलते हालात को नजर-अन्दाज कर सकते। जबकि विश्व निरन्तर प्रगति की स्थिति में है और हम तीव्र परिवर्तन के दौर से गुजर रहे हैं, जो कुछ आज के लिए अच्छा हो सकता है

---

[15] पंचम लोकसभा में सत्तारूढ़ कांग्रेस की सदस्य संख्या 350 है तथा संसोपा, प्रसोपा, दोनों साम्यवादी दलों, द्रमुक एवं मुस्लिस लीग दलों को छोड़कर, जिन्होंने कि गत 24 वें संशोधन विधेयक के समय सरकार का समर्थन किया था, विरोधियों की संख्या निर्दलियों सहित केवल 88 है। राज्यसभा में सत्तारूढ़ कांग्रेस, संसोपा, प्रसोपा, दोनों साम्यवादी दलों, द्रमुक एवं मुस्लिम लीग की सम्मिलित संख्या 92+8+4+8+10+7+4= 133 है। यद्यपि राज्यसभा में इस विधेयक को 2/3 बहुमत मिलने में अब भी आशंका है, लेकिन संगठन कांग्रेस ने अपने बम्बई अधिवेशन (14 एवं 15 मई, 1971) में निजी कोष उन्मूलन विधेयक का समर्थन करने का विश्वास प्रकट किया है।

[16] यद्यपि संसद न्यायाधीशों के वेतन भत्ते में कमी नहीं कर सकती, उनको पदनिवृत्त नहीं कर सकती, लेकिन न्यायाधीशों की पद-संख्या बढ़ाकर (अनुच्छेद 124–2) प्रगतिशील विचारों के न्यायाधीशों की नियुक्ति की सलाह राष्ट्रपति को दे सकती है तथा इस समय गोलकनाथ केस में बहुमत बनाने वाले तीन न्यायाधीशों के अवकाश प्राप्त कर लेने से निर्णय के समय से लेकर अब तक पाँच नये न्यायाधीशों की नियुक्ति हो जाने से और कम से कम तीन नये न्यायाधीशों के स्थान अवशिष्ट होने से, न्यायालय द्वारा निर्णय पर एक नवीन दृष्टिपात करने के आसार अच्छे हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

यह नहीं कहा जा सकता कि कल के लिये भी पूर्णतः उचित हो'[17] अतः यदि सरकार राजनीति से दूर हटकर समाज की बदलती हुई आवश्यकताओं के संदर्भ में संविधान में युक्तियुक्त संशोधन करती है तो यह सरकार की प्रगतिशील नीतियों का परिचायक होगा।

उपसंहार

सम्पूर्ण तथ्यों का सिंहावलोकन करने के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि सरकार ने निजी कोष उन्मूलन सम्बन्धी 24 वां संशोधन विधेयक संसद में प्रस्तुत करते समय संविधान सभा की भावना एवं उसकी कार्य प्रणाली पर समुचित ध्यान नहीं दिया था अन्यथा ऐसी कठिनाई अवश्य न उत्पन्न हुई होती। यह सत्य है कि संविधान सभा ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त नरेशों की रियासतों का भारत संघ में विलय द्विपक्षीय वार्ता द्वारा किया था तो क्या इस समय उसे द्विपक्षीय वार्ता द्वारा नहीं सुलझाया जा सकता ? यह अवश्य ही किया जा सकता है, क्योंकि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि नरेशों ने आज के प्रगतिशील समाज को समझा न हो। यदि ऐसा किया जाता है तो कम-से-कम कुछ समय तक सरकार संसद, उच्चतम न्यायालय एवं मौलिक अधिकारों के विवाद से बच सकती है।

---

[17] कान्स्टीट्यूएन्ट एसेम्बली डिबेट्स, खंड 7, पृष्ठ 322।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

समाजवाद का लोकतंत्रीय रूप

डी० सी० जैन

वर्तमान शताब्दी में भारत में समाजवादी परम्परायें तीन विभिन्न विचारधाराओं पर आधारित हैं। इनमें पहला वह सामुदायिक समाजवाद है जिसकी कल्पना गाँधी जी ने की और जिसे भूदान आन्दोलन द्वारा विनोबाजी और सामुदायिक समाज के प्रतिबोध द्वारा श्री जयप्रकाश नारायण कार्यान्वित कर रहे हैं। गाँधी जी का राम-राज्य एक राज्य-विहीन समाज की कल्पना थी जो सत्य, प्रेम व अहिंसा पर आधारित था। पर यह सब एक अत्युत्तम सामाजिक व्यवस्था की कल्पना मात्र रहा है। वैसे राम-राज्य की स्थापना क्या कभी हम कर सकेंगे ?

गाँधीवादी समाजवाद को आशातीत सफलता न मिलने के कारण भारत में एक नये प्रकार के समाजवाद का प्रादुर्भाव हुआ और वह है साम्यवादी समाजवाद। 1917 की रूसी-क्रान्ति ने जो आशातीत सफलता प्राप्त की उसके फलस्वरूप साम्यवाद रूसी सीमा में बंधा न रह सका और उसकी प्रतिध्वनि भारत में भी गुंजित होने लगी। रूसी साम्यवाद में जो साम्राज्य विरोधी तत्त्व थे उनका प्रयोग भारत स्वतन्त्रता संग्राम में कर सकता था। भारतीय जनता व जन-नेताओं का ध्यान इन सम्भावनाओं की ओर सहज ही आकृष्ट हुआ। काँग्रेस के कई जनप्रिय नेता, विशेषतया पं० नेहरू इस ओर विशेष रूप से आकर्षित हुए और मार्क्स व लेनिन के विचारों से काफी प्रभावित भी हुए। समाज के दलित व शोषित वर्ग ने साम्यवाद व मार्क्सवाद को दरिद्रता व अज्ञान के उन्मूलन का एक मात्र उपाय समझ लिया।

परन्तु कुछ ही वर्षों में यह स्पष्ट हो गया कि यह धारणा भ्रांतिमूलक थी। साम्यवादी नेताओं के प्रेरणा स्रोत भारत से बाहर थे और अज्ञात हाथों द्वारा इन नेताओं का मार्ग-दर्शन होता था। यह आवश्यकता अनुभव की गयी कि इस प्रकार के क्रिया-कलापों व गति-विधियों को राष्ट्रीय भावना के हित में नियन्त्रित किया जाय और गाँधीवादी समाजवाद को अधिक व्यावहारिक बनाया जाये। दूसरे शब्दों में यह आवश्यकता अनुभव की गई कि मार्क्स व गाँधी जी के विचारों का समन्वय हो। इस प्रकार एक नई—तृतीय—विचारधाराका जन्म हुआ जिसमें मार्क्सवाद व गाँधीवाद का समन्वय, सामंजस्य व समीकरण है। इसे हम लोक-तान्त्रिक समाजवाद की संज्ञा दे सकते हैं। पं० नेहरू के विचारों में हम इस विचारधारा की पूर्ण अभिव्यक्ति पाते हैं। हमारी द्वितीय पंचवर्षीय योजना के द्वारा समाजवादी समाज को राष्ट्रीय उद्देश्य घोषित किया गया। उसके पश्चात् की सभी योजनायें लोकतान्त्रिक समाजवाद की प्राप्ति की दिशा में अग्रसर हैं। लोकतान्त्रिक समाजवाद का उद्देश्य एक जातिविहीन, वर्ग-हीन समाज की स्थापना है जो लोकतन्त्रीय विधारधारा पर आधारित हो और जिसमें

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

वैयक्तिक गरिमा व सामाजिक न्याय अक्षुण्ण रहे। ऐसे समाज की स्थापना शान्तिपूर्ण, सहकारिता व लोकतान्त्रिक गतिविधियों द्वारा ही सम्भव है। ऐसे समाज की उपलब्धि के लिये हम क्या करें ?

इस उद्देश्य की प्राप्ति के कई उपाय सम्भव हैं। एक उपाय स्वयं संविधान-निर्माताओं ने हमारे सम्मुख रखा है। सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय उसका एक अनिवार्य अंग है। भारतीय संविधान द्वारा एक प्रजातन्त्रात्मक गणतन्त्र की स्थापना की गई है। संविधान की प्रस्तावना में इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख है कि इस संविधान के द्वारा भारतीय जनता को सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय उपलब्ध होगा। संविधान के एक प्रमुख अध्याय—राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व—में समाजवाद के उपर्युक्त तीसरे रूप का पूर्ण समावेश है।

लौवेनटीन ने विश्व के प्रमुख संविधानों के लिये यह सही कहा है कि उन संविधानों ने स्वतन्त्रता तो प्रदान की है और उसे अक्षुण्ण रखने का आश्वासन भी दिया है परन्तु रोटी व आर्थिक सुरक्षा के सम्बन्ध में वे मूक हैं। हमारे संविधान के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। मौलिक अधिकार निरंकुश शासन के विरुद्ध सर्वाधिक उपयोगी अस्त्र हैं परन्तु निजी एवं व्यक्तिगत शक्ति का अपरिमित प्रयोग भी उतना ही हानिकारक है जितना सरकार को असीमित अधिकार प्रदान करना। निजी व व्यक्तिगत शक्तियों का केन्द्रीकरण लोकतान्त्रिक शक्तियों के लिये घातक होता है। हमारे संविधान-निर्माताओं ने इस ओर समुचित ध्यान दिया और सरकार को राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों के अध्याय द्वारा निर्देश दिया कि ऐसे प्रयत्न करना उसका उत्तरदायित्व है और सरकार इस दिशा में प्रयत्नशील रहे कि आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो और वह जन-साधारण व समाज के विभिन्न वर्गों में समान रूप से विभाजित हो सके। संविधान में दिये गये ये आर्थिक नीति-निदेशक तत्त्व लोकतन्त्रीय समाजवाद की स्थापना की दिशा में एक ठोस प्रयास हैं।

नीति-निदेशक तत्त्वों की पूर्ति ही मौलिक अधिकारों की वास्तविक उपलब्धि होगी। संविधान की प्रस्तावना में जिन स्वतन्त्रताओं, भ्रातृत्व, एकता व न्याय का उल्लेख है उन सबकी प्राप्ति नीति-निदेशक तत्त्वों की पूर्ण उपलब्धि पर ही सम्भव है। मौलिक अधिकार यदि ध्येय हैं तो नीति-निदेशक तत्त्व उसकी प्राप्ति के उपाय हैं। एक अच्छे जीवन का दर्शन है तो दूसरा उस दर्शन का प्रयोग। मौलिक अधिकार राज्य के नकारात्मक दायित्व हैं और नीति-निदेशक तत्त्व सकारात्मक।

नीति-निदेशक तत्त्वों में ऐसे आर्थिक व सामाजिक सिद्धान्तों का निरूपण है जिनके द्वारा अर्वाचीन आदर्शों व प्रमापकों को परिष्कृत व परिमार्जित करके लोकतन्त्र सम्मत नये समाजवाद की स्थापना सम्भव है। संविधान की प्रस्तावना में इन सिद्धान्तों की घोषणा करने के पश्चात् निरक्षरता, निर्धनता व अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए ही संविधान-निर्माताओं ने उन प्रयत्नों की ओर नीति-निदेशक तत्त्वों के अध्याय द्वारा संकेत किया है जिनको क्रियान्वित करना संघीय व राज्य सरकारों का नैतिक उत्तरदायित्व है। संविधान सभा के प्रमुख सदस्य गाँधी जी के विचारों से प्रभावित थे। वास्तव में, उनमें से अधिकांश का विचार गाँधी जी के समाजवाद की स्थापना ही था। फिर भी कुछ अंशों में वे गाँधीवादी समाजवाद के आदर्शवादी व अप्राप्य होने के दोषों से दूर रहने के प्रयत्न में सफल हो सके हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों के आधार पर समाजवाद के इस नवीन लोकतन्त्रीय रूप की निम्न विशेषतायें होंगी :

(1) राज्य का कर्त्तव्य है कि वह जन-हित का विशेष ध्यान रखते हुए एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करे जिसमें सभी को सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय मिल सके ।

(2) समाज का प्रत्येक सदस्य अपने जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक सामग्री अर्जित कर सके और अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण व सर्वतोमुखी विकास करने में समर्थ हो ।

(3) जन्म, जाति व वर्ग के भेदभाव किसी भी व्यक्ति को अपने आपको योग्य नागरिक के गुण व योग्यता प्राप्त करने से वंचित न करें ।

(4) सभी कामगरों को उचित भृति (मजूरी) मिले । समाज के दुर्बलतर विभाग को विशेष सुविधायें व संरक्षण मिलें ।

(5) धन वर्ग-विशेष अथवा व्यक्ति विशेष के हाथों में केन्द्रित न होकर समाज के विभिन्न वर्गों व जन-साधारण में समान रूप से वितरित हो ।

इस व्यवस्था की आलोचना करते हुए जैनिग्स ने कहा है कि भारतीय संविधान के चतुर्थ अध्याय के प्रत्येक पृष्ठ पर सिडनी व बीट्रिस वेब के भूतों की छाया स्पष्ट दृष्टिगत होती है । इसके द्वारा फेबियन समाजवाद के एक विचित्र रूप की स्थापना की गई है । इस समाजवाद को हम कोई भी संज्ञा दें इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इसके द्वारा एक ऐसे समाज की स्थापना की व्यवस्था की गई है जो मानवता व सहिष्णुता पर आधारित है । इसके द्वारा समाजवाद, व्यक्तिवाद व समूहवाद के सिद्धान्तों का संश्लेषण करने का प्रयत्न किया गया है । इसमें वे बातें सम्मिलित हैं जो एक प्राचीन देश पर एक नये राष्ट्र के लिये आवश्यक हैं । हमारे संविधान के नीति-निदेशक तत्त्वों पर किसी वाद विशेष का बुरा प्रभाव नहीं पड़ा है, केवल गाँधीवाद के एक परिष्कृत रूप को ही सम्मुख रखा गया है जिसे हम लोकतन्त्रीय समाजवाद कह सकते हैं और जिसके द्वारा त्रस्त मानवता की सेवा सम्भव है, जिसका मूल आधार मानवता व नैतिकता है । भारतीय सभ्यता की एक अद्वितीय विशेषता यह रही है कि वह प्राचीनता को त्यागे बिना ही एक ऐसे सिद्धान्त का निर्माण कर सकती है जिसमें प्राचीनता व आधुनिकता दोनों का अपूर्व सम्मिश्रण हो । इस नवीनतम समाजवाद का निरूपण भारतीय संविधान की विश्व राजनीतिक विधारधारा को एक नूतन देन है ।

लोकतन्त्रीय समाजवाद की स्थापना का एक अन्य उपाय है कि समाजवाद की शिक्षा दी जाये । हमारे पाट्यक्रम इस प्रकार नियोजित हों कि उनमें सामाजिक न्याय के गुणों, सह-कारिता व श्रम की महत्ता व गरिमा की पुस्तकों द्वारा शिक्षा न दी जाये बल्कि अध्यापक व छात्र दोनों द्वारा इन सिद्धान्तों का व्यवहार में प्रयोग हो ।

हमें कृषि व उद्योग दोनों ही क्षेत्रों में उत्पादन बढ़ाना चाहिए । राष्ट्रीय आय का बढ़ना मात्र ही पर्याप्त नहीं है, आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्रीय सम्पत्ति व आय का सम्यक् विभाजन भी हो । देश के विभिन्न राजनीतिक दलों के यही उद्देश्य होने अपेक्षित हैं ताकि वे समाजवाद की व्यावहारिक शिक्षा जन-जन तक पहुँचा सकें । हमें व सरकार को उन संस्थानों को प्रोत्साहन देना चाहिए जो सामाजिक न्याय की प्राप्ति और सहकारी जीवन की उपलब्धि की दिशा में जागरूक व प्रयत्नशील हैं ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

शक्ति का एक स्थान पर केन्द्रित होना समाजवाद व लोकतन्त्र दोनों के विरुद्ध है। इसीलिये संविधान में पंचायतों की स्थापना की व्यवस्था की गई जिससे गाँवों-गाँवों तक लोकतन्त्र की हवा पहुँचे और समाजवादी शक्तियाँ प्रबल हों। इस प्रणाली की सफलता के लिये वर्तमान परिस्थितियों का पुनरावलोकन कर पंचायत-प्रणाली में समुचित सुधार किये जाने चाहियें।

उपर्युक्त सभी उपायों की सफलता राज्य के प्रयत्नों पर ही सम्भव है। समाजवाद का यह एक ज्वलंत प्रश्न रहा है कि राज्य के प्रति उसकी प्रतिक्रिया कैसी हो ? समाजवादियों के एक वर्ग का विचार है कि राज्य को उत्पादन के सभी उपायों का संरक्षक, नियन्त्रक ही नहीं, अपितु स्वामी बनाकर ही हम आर्थिक सुरक्षा प्राप्त कर सकते हैं। दूसरी ओर, विपरीत विचारधारा वाले अराजकतावादियों का कथन है कि राज्य सभी प्रकार के शोषण का प्रमुख उद्गम है और उसके विनाश द्वारा ही सामाजिक व्यवस्था की स्थापना सम्भव है। बाकुनिन का कथन है कि 'राज्य एक विशाल श्मशान भूमि है जहाँ मानव-व्यक्तित्व के विभिन्न प्रतिरूपों की बलि चढ़ा कर उन्हें दफन कर दिया जाता है।'

अनैतिक व्यक्तियों व अनैतिक उपायों द्वारा कभी नैतिक समाज की स्थापना नहीं हो सकती, इसलिये समाजवाद की आधार-शिला नीति-सम्मत होनी चाहिए। साम्यवादी समाजवाद यह नहीं मानता और यही उसका भीषण दोष है। पिछले कुछ वर्षों में बंगाल व देश के कुछ अन्य भागों में जो कुछ घटा है वह इन दोषों का ज्वलन्त प्रमाण है। हमें ऐसा समाजवाद नहीं चाहिए जिसका निर्माण देशवासियों की लाशों पर हो, जो भाई के रक्त से सींचा जाये। ऐसा समाजवाद हमारी सभ्यता व संस्कृति के अनुरूप नहीं होगा।

ऊपर मैंने एक नवीन समाजवाद की स्थापना के सम्बन्ध में कुछ चर्चा की है। अब हम जरा इस पर विचार करें कि समाजवाद के लोकतन्त्रीय रूप से हमारा क्या अभिप्राय है ? लोकतन्त्र व गणराज्य प्राचीन भारत की जानी-मानी राजनीतिक विशेषतायें हैं। युग-परिवर्तन के साथ ही लोकतन्त्र के अर्थ में अवश्य परिवर्तन हुए हैं। लोकतन्त्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें जनहित के सभी निर्णय उन्हीं लोगों द्वारा किये जाते हैं जो स्वयं शासित हैं, शासक नहीं। लोकतन्त्रीय सरकार का हर निर्णय जनमत पर निर्भर होता है। लोकतन्त्र स्वशासन का पर्यायवाची है, वहाँ केवल जनता पर स्वहित के लिये जनता ही कर लगाती है। इन कार्यों के लिये प्रगतिशीलता लोकतन्त्र का आवश्यक अंग है। लोकतन्त्र प्रणाली में परिवर्तनशीलता एक गुण है।

समाजवाद के लोकतन्त्रीय स्वरूप को स्पष्टतः समझने के लिये लोकतन्त्रीय प्रणाली की कुछ आवश्यक विशेषताओं का उल्लेख उपयोगी होगा। कुछ वर्ष हुए, बैंकाक में विश्व के विधि-वेत्ताओं के सम्मेलन ने निम्न निर्णय लिये थे :

(1) विधि द्वारा शासन की पूर्ण उपलब्धि केवल लोकतन्त्रीय शासन में ही सम्भव है।

(2) लोकतन्त्रीय सरकार से तात्पर्य है ऐसी सरकार, जिसका शक्ति-स्रोत स्वयं जनता है।

(3) निष्पक्ष चुनावों के आधार पर लोकतन्त्रीय सरकार की स्थापना।

(4) अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारतीय संविधान में जिस प्रकार की सरकार की स्थापना की गई है उसमें उपर्युक्त सभी गुणों का समावेश है। इस प्रकार समाजवाद अपने नवीनतम रूप में और लोकतन्त्रीय भावना, दोनों ही संविधान द्वारा समान रूप से अपेक्षित हैं।

देश के प्रमुख राष्ट्र-नेता महात्मा गाँधी और पण्डित नेहरू दोनों को ही भारत में राष्ट्रवादी व लोकतन्त्रीय समाजवाद की स्थापना का श्रेय है। उनकी कल्पना का समाजवाद लोकतन्त्र की पराकाष्ठा थी। उक्त समाजवाद का वास्तविक लोकतन्त्रीय रूप किस प्रकार लक्षित होता है इसके लिए हम हाल ही में घटित कुछ घटनाओं पर यहाँ दृष्टिपात कर सकते हैं।

देश की विकासशील अर्थव्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि शीर्ष उद्योगों का भावी विकास राज्य की जिम्मेदारी हो। इस श्रेणी में हमें सुरक्षा, अणु-शक्ति, लोहा व इस्पात तो रखने ही हैं, इसमें मुख्य व्यापार भी सम्मिलित किये जाने चाहिएँ। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर वर्तमान केन्द्र सरकार ने बैंकों के राष्ट्रीयकरण का ऐतिहासिक निर्णय लिया। उच्चतम न्यायालय द्वारा बैंक राष्ट्रीयकरण अधिनियम को असांविधानिक घोषित किये जाने पर, सरकार द्वारा उक्त निर्णय को ध्यान में रखते हुए पुनः अध्यादेश जारी करना, भारत में सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय की उपलब्धता का एक उच्च प्रमाण है।

राजाओं के प्रिवी पर्स समाप्ति का निर्णय भी केन्द्रीय सरकार की समाजवाद में आस्था का प्रतीक होने के साथ ही भारतीय लोकतान्त्रिक शक्ति का द्योतक भी है। जन्म से छोटे-बड़े के भेद-भाव रखने वाले विचारों व अधिकारों की समाप्ति आज समय की पुकार है। प्रिवी पर्स व राजाओं के विशेषाधिकार व उन्मुक्तियों के उन्मूलन के निर्णय से समाज का लोकतन्त्रीय रूप निखर उठा है। वैसे संविधान के अनुच्छेद 131 व 363 के अन्तर्गत राजाओं द्वारा प्रिवी पर्स उन्मूलन को देश के किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती, फिर भी सामाजिक व राजनीतिक न्याय के नाम पर यदि इस प्रश्न पर राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय की राय ले लें तो वह समाजवादी, लोकतन्त्रीय व मानवीय भावनाओं के अनुरूप ही होगा।

यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि संसद व विधानसभा के सदस्यों को संविधान द्वारा जो विशेषाधिकार व उन्मुक्तियाँ प्राप्त हैं, उनको भी समाजवाद के लोकतन्त्रीय रूप के अनुरूप संहिताबद्ध किया जाना चाहिए ताकि नागरिकों को उनका स्पष्ट ज्ञान हो जाये और इन मामलों में भी न्यायालय निष्पक्ष व निर्भय रूप में न्याय कर सकें। सरकार व संसद-सदस्यों द्वारा इस विचार की मान्यता समाजवाद के लोकतन्त्रीय रूप का नया मानक प्रस्तुत करेगी। इसी प्रकार, सामाजिक न्याय यह अपेक्षा करता है कि न्यायालय तक जाना हर नागरिक के सामर्थ्य में हो, न्याय सस्ता हो। इसके लिए सरकार की ओर से वैधिक सहायता का प्रबन्ध किया जाना लोकतन्त्रीय समाजवाद की दिशा में एक ठोस कदम होगा।

किसी भी राष्ट्र को गाँधी व नेहरू जैसे नेता सदा उपलब्ध नहीं होते परन्तु उनके दिखाये हुए मार्ग पर चलकर हम अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में अवश्य सफल होंगे। आज जनता के सहयोग के बिना सरकार के कोई प्रयत्न सफल नहीं हो सकते। आवश्यक है कि राजनीतिक नेता निजी स्वार्थों से ऊपर उठकर हृदय से सहयोग की भावना द्वारा देश के कल्याण में लगें। निजी स्वार्थ को प्रधानता देने वाले व्यक्ति बदलते हुए समय के तेवर पहचानें। हमें आगे बढ़ना है और तेजी से बढ़ना है। हमारे सन्मुख दो ही विकल्प हैं : एक तो ऐसे कल्याण-

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कारी राज्य की स्थापना जिसमें समाजवाद के उस नवीन रूप की, जिसकी संक्षिप्त रूपरेखा मैंने ऊपर प्रस्तुत की, सभी विशेषताएँ लक्षित हों। दूसरे, साम्यवादी शक्तियों के सन्मुख हम झुक जायें और समाजवाद के लोकतन्त्र-विरोधी रूप को अपनायें जहाँ न न्याय है, न भातृत्व, न समानता और न स्वातन्त्र्य। जहाँ अरक्षा, आतंक व भय है, न संविधान के प्रति श्रद्धा है, न व्यक्तित्व के विकास के प्रयत्न हैं और न मानवीय भावनाओं से अनुप्रेरित शासन-शक्ति। जितना शीघ्र हम डार्विन के इस मत को अंगीकार कर लें उतना ही श्रेयस्कर होगा कि लोकतन्त्रीय प्रणाली समाजवाद की प्राप्ति के लिए केवल अनिवार्य ही नहीं है वह उसकी एक उपलब्धि भी है। आज हमें यह समझ लेना चाहिए कि समाजवाद व लोकतन्त्र में वही सम्बन्ध है जो हवा व श्वास में, ईंधन व आग में, जीवन व प्रेम में है। हमें शान्तिपूर्वक व समझदारी से निर्णय लेना है ताकि गाँधी व नेहरू के सुखद स्वप्न निकट भविष्य में साकार हो सकें।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संसद और मूल अधिकार

रमेश चन्द्र नागपाल

सम्माननीय उच्चतम न्यायालय ने गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य[1] में यह निर्णय दिया है कि संसद मौलिक अधिकारों में वृद्धि करने के लिए तो संविधान के तृतीय भाग में संशोधन कर सकती है, लेकिन उन अधिकारों में कमी करने की शक्ति उसे प्राप्त नहीं है।

विद्वान् न्यायाधीशों ने बहुमत[2] द्वारा संविधान के सम्बन्धित प्रावधानों की जो व्याख्या की है, उसकी पर्याप्त आलोचना की जा सकती है लेकिन इस लेख का उद्देश्य यह नहीं। इस लेख में विधिशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह विवेचन किया जायेगा कि क्या संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों की प्रकृति एवं संसद की शक्ति में किसी प्रकार का बुनियादी मतभेद है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि संसद को इन अधिकारों में न्यूनता लाने की शक्ति नहीं होनी चाहिए ?

यह तो निर्विवाद है कि मौलिक अधिकार अत्यधिक मूल्यवान् हैं तथा उन पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। तथापि, इनके सम्बन्ध में हमें अन्ध दृष्टि-कोण नहीं अपनाना चाहिए। हमारा दृष्टिकोण तर्कसंगत, व्यावहारिक तथा गतिशील होना चाहिए।

अब इस विषय का निम्नलिखित रूपरेखा के आधार पर विवेचन किया जायेगा :

(1) क्या ये अधिकार प्राकृतिक हैं ?

(2) इन अधिकारों का 'सांविधानिक रूप' क्या है ?

(3) क्या संसद की रचना एवं उत्तरदायित्व को ध्यान में रखकर उसे इन अधिकारों में न्यूनता लाने की शक्ति प्रदान की जा सकती है ?

(1) प्राकृतिक अधिकार

इतिहास-क्रम को देखने से विदित होता है कि भूतकाल में इस प्रकार के अधिकारों के प्रवक्ताओं ने इनको सम्माननीय स्थान देने के लिए इन्हें 'प्राकृतिक' अधिकार की संज्ञा दी

---

[1] ए० आई० आर० (जिल्द 54), 1967, उच्चतम न्यायालय, पृ० 1643।

[2] इस निर्णय के बहुमत में थे—सर्वश्री सुब्बा राव (प्रधान न्यायाधिपति), जे० सी० शाह, एस० एम० सीकरी, जे० एम० शीलट, सी० ए० वैद्यलिंगम् तथा एम० हिदायतुल्ला। अल्पमत में थे—सर्वश्री के० एन० वांचू, वी० भार्गव, जी० के० मित्तर, आर० एस० वचावत तथा वी० रामस्वामी।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

है। इसमें सन्देह नहीं कि इन विद्वानों और विचारकों ने इन अधिकारों की आवश्यकता एवं महत्ता का उचित मूल्यांकन किया, लेकिन वे इनकी प्रकृति का सही विश्लेषण नहीं कर पाये।

राजनीति एवं विधिशास्त्र के सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में कदाचित् ही कोई अन्य प्रत्यय इतना अस्पष्ट हो, जितने कि 'प्राकृतिक विधि' तथा तज्जनित या तत्सम्बन्धी 'प्राकृतिक अधिकार' के प्रत्यय हैं। इनसे किसी ऐसी निश्चित विधि-प्रणाली का बोध नहीं होता जो किसी भी समय किसी भी स्थान पर लागू की गयी थी। इन अधिकारों का प्रतिपादन करने वालों में एकमत का पूर्ण अभाव है। ग्रोशस, हॉब्स, स्पिनोजा, लॉक, रूसो इत्यादि सभी विचारक 'प्राकृतिक अवस्था', 'प्राकृतिक विधि' व 'प्राकृतिक अधिकार' के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न ही नहीं, बल्कि परस्पर-विरोधी विचारों को प्रस्तुत करते हैं। हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में हर व्यक्ति प्रत्येक दूसरे व्यक्ति के लिए भेड़िये के समान खतरनाक है, लेकिन वही प्राकृतिक अवस्था लॉक के लिए एक स्वर्ण-युग के समान है, जिसमें सभी व्यक्ति समान व स्वतन्त्र हैं तथा कोई किसी की जीवन-स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की हानि नहीं करता। जॉन ऐडम तथा टॉमस जेफरसन के अनुसार 'प्राकृतिक अधिकारों' का सीमांकन नहीं हो सकता,[3] जबकि रूसो का मत है कि आत्म-सुरक्षा के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने प्राकृतिक अधिकार समाज की सेवा में समर्पित कर देने चाहिएँ।

वस्तुतः 'प्राकृतिक अधिकार' सूत्र का प्रयोग प्रत्येक विचारक[4] ने अपने उन व्यक्तिगत विचारों के नामकरण के लिए किया जो उसके विवेक व चिन्तन के अनुसार उचित व आवश्यक थे। उन्होंने 'प्रकृति' की शरण इसलिए ली कि उन्हें इनका अस्तित्व सिद्ध करने का बोझ न उठाना पड़े, क्योंकि जो 'प्राकृतिक' है वह 'स्वयंभू' या 'स्वयंसिद्ध' है। वह तो प्रतिपादित करने की वस्तु नहीं, बल्कि समझने व दर्शन करने की वस्तु है।

यह एक भ्रम है कि हमारे कानून तथा अधिकार प्रकृति-प्रदत्त हैं। उनकी उत्पत्ति या तो जन-रीतियों से हुई है, या वे समाज के राजनीतिक सम्प्रभु द्वारा घोषित तथा स्थापित किये गये हैं। अतः 'प्राकृतिक अधिकार' अभिव्यक्ति निरर्थक है। जेरेमी बेन्थम ने इनका सही लक्षण विवेचन करते हुए कहा है कि यह कथन 'रूपक' मात्र है,[5] अर्थात् इसका कोई वाचिक अर्थ नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी में ही विधिशास्त्रियों ने इस प्रत्यय का त्याग करना प्रारम्भ कर दिया था। सन् 1894 में 'नेचुरल राइट्स' शीर्षक अपनी पुस्तक की भूमिका लिखते हुए प्रोफेसर डेविड जी० रिची ने कहा है कि प्राकृतिक अधिकारों की आलोचना करते समय वह उस विचारधारा का हनन करने में लगा हुआ था जिसका पहले से ही हनन हो चुका था।[6]

यदि 'अधिकार' प्रत्यय की विधि-शास्त्रीय परिभाषा का विश्लेषण किया जाये तो तथाकथित 'प्राकृतिक अधिकारों' की वास्तविक प्रकृति स्पष्ट हो जाती है। अधिकार वह हित है जिसे किसी विधि-नियम द्वारा मान्यता तथा सुरक्षा प्राप्त होती है।[7] 'प्राकृतिक अधिकारों' के प्रवक्ताओं ने वस्तुतः व्यक्ति के अनेक हितों को ही 'प्राकृतिक अधिकार' कहकर पुकारा है।

---

[3] एडगर जोर्डन हाइमर, 'जुरिस्प्रूडैन्स' (1962), पृ० 52।

[4] डेविड जी० रिची, 'नैचुरल राइट्स' (1894), पृ० 90।

[5] जेरोम हाल, 'रीडिंग्स इन जूरिस्प्रूडेन्स', बीसवाँ संस्करण, पृ० 166।

[6] देखिये ऊपर पादटिप्पणी 4, पुस्तक की भूमिका।

[7] सामण्ड, 'जुरिस्प्रूडेन्स' (1966), बारहवाँ संस्करण पृ० 218।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

जूलियस स्टोन के अनुसार यदि समाजशास्त्र की दृष्टि से देखा जाये तो प्राकृतिक विधि-शास्त्री, फ्रांस के क्रान्तिकारी, अमरीका के संविधान-निर्माता तथा न्यायालय 'प्राकृतिक अधिकारों' के नाम पर वास्तव में व्यक्ति की अनेक यथार्थ इच्छाओं व माँगों को ही प्रस्तुत कर रहे हैं।[8] प्रसिद्ध अमरीकी सामाजिक विधि-शास्त्री रोस्को पाउण्ड के अनुसार सत्रहवीं सदी से लेकर उन्नीसवीं सदी के अन्त तक विधि-शास्त्र ने मनुष्य के सभी हितों को व्यक्ति के 'प्राकृतिक अधिकार' में समाविष्ट करने का प्रयास किया है।[9] प्रकृति से सम्बन्ध स्थापित होने पर उन हितों, माँगों व इच्छाओं को प्रचारात्मक दृष्टिकोण से बहुत बल मिला[10] क्योंकि व्यक्ति की आवश्यकताओं, हितों व माँगों की पूर्ति के लिए विचारक जिन मान्यताओं, आदर्शों, जीवन-मूल्यों व सामाजिक, राजनीतिक ढाँचे की स्थापना करना चाहते थे उसे एक दार्शनिक आधार प्राप्त हो गया।

मनोविज्ञान व समाजशास्त्र के अनुसार इन हितों को मान्यता व सुरक्षा प्रदान करने से जीवन की उन परिस्थितियों का निर्माण होता है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास के लिए तथा समाज के सुखमय संगठन के लिए अत्यावश्यक हैं। उदाहरण के लिए समानता का अधिकार[11] इसलिए आवश्यक है कि समान-स्तर के व्यक्तियों में भेद-भाव करने से, जिनकी हानि होती है, उनको असन्तोष होगा। इससे उनको स्वयं भी मानसिक व भौतिक कष्ट होता है तथा ये समाज में तनाव की स्थिति उत्पन्न करने की कोशिश करते हैं। 'वाक् तथा अभिव्यक्ति' की स्वतन्त्रता इसलिए आवश्यक है कि जीवन के विभिन्न पहलुओं पर व्यक्ति अपना मत सच्चाई व ईमानदारी से व्यक्त करने के फलस्वरूप संकट में न पड़ सके। इससे उसे सरकार की नीतियों व कार्यों की आलोचना करने का साहस होता है, अन्यथा सरकार स्वेच्छाचारिणी ही बन सकती है। धार्मिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता इस कारण है कि लोगों को अपना धर्म अत्यन्त प्रिय होता है। कुछ लोग तो धर्म के आगे अपना जीवन तृणमात्र समझते हैं। अतः किसी धर्म का दमन करके समाज में शान्ति का वातावरण स्थापित करना असम्भव है। सम्पत्ति के अधिकार की इसलिये आवश्यकता है कि सम्पत्ति व्यक्ति की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है। इस साधन के अभाव या असुरक्षा में जीवन-यापन कठिन हो जाता है। ऐसे और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

अतः जीवन की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही यह तय किया जाना चाहिए कि व्यक्ति के किस हित को कानून द्वारा किस सीमा तक मान्यता व सुरक्षा प्रदान की जाये। दूसरे शब्दों में उसे किस अंश तक वैधानिक अधिकार का रूप प्रदान किया जाये तथा कहाँ उस

---

[8] जूलियस स्टोन, 'द प्रॉविन्स एण्ड फंक्शन ऑफ लॉ' (1961), पृ० 490।

[9] 'ए सर्वे ऑफ सोशल इन्टरेस्ट्स', 'हार्वर्ड लॉ रिव्यू', 1943–44, जिल्द 57, अंक 1, पृ० 5।

[10] क्रेन ब्रिन्टन, 'नेचुरल राइट्स', 'एन्साइक्लोपीडिया ऑफ द सोशल साइन्सेज', पन्द्रहवाँ मुद्रण, 1963, जिल्द 11–12, पृ० 299–302।

[11] समानता का सही अर्थ यह है कि किसी विशेष दृष्टिकोण से जो व्यक्ति एकरूप हैं, उनके साथ एक ही प्रकार का व्यवहार किया जाये तथा उस दृष्टिकोण से जिनमें भेद है, उनके साथ भिन्न व्यवहार किया जाना चाहिए। समानता के सिद्धान्त का यह अर्थ कदापि नहीं कि सभी व्यक्तियों के साथ एक-सा ही व्यवहार किया जाये तथा उनकी विभिन्नताओं को अनदेखा कर दिया जाये। भिन्नताओं से विमुख होकर सबके साथ एक ही प्रकार का आचरण करना तो समानता का उल्लंघन है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

पर राज्य द्वारा बन्धन लगाया जायें । इसके लिए दो पहलुओं को ध्यान में रखना पड़ता है :

(1) व्यक्ति की व्यक्तिगत माँगों को इतनी मान्यता व सुरक्षा न प्रदान की जाये कि वह अन्य किसी व्यक्ति या समाज के लिए हानिकारक रूप धारण कर ले ।

(2) व्यक्ति को इतना अधिक अधिकार न प्राप्त हो जाये कि राज्य उसे आत्महानि से भी न बचा सके । कुछ व्यक्ति इतने समझदार नहीं होते या परिस्थितियों से इतने विवश होते हैं कि वे अपने अधिकारों का अपने वास्तविक हित के लिए प्रयोग करने में अक्षम होते हैं । वे किसी स्थूल हित की पूर्ति के पीछे अपनी ही गम्भीर हानि कर बैठते हैं ।[12] प्रत्येक व्यक्ति का जीवन न केवल उसकी ही सम्पत्ति है, बल्कि व्यक्ति के समाज का अंग होने के नाते वह समाज की भी सम्पत्ति है । उसको आत्महानि से बचाना, सामाजिक प्रबुद्धता के प्रतीक राज्य का कर्तव्य है । किसी व्यक्ति को आत्महानि से बचाना सामाजिक हित के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना कि एक व्यक्ति के न्यायोचित हित की किसी अन्य व्यक्ति की आक्रामक प्रवृत्ति से रक्षा करना । इन दो पहलुओं को निगाह में रखकर प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्येक हित का पूर्ण रूप से संयोजन करना किसी भी सामाजिक व्यवस्था में सम्भव नहीं । फलतः उन्हें अंशतः मान्यता दी जाती है तथा अंशतः वे अस्वीकार कर दिये जाते हैं । दूसरे शब्दों में वे हित युक्तिसंगत सीमाओं के साथ (या अन्तर्गत) ही वैध अधिकार बनाये जाते हैं । तात्पर्य यह है कि कोई भी अधिकार निस्सीम या अप्रतिबन्धित नहीं हो सकता ।

कई कारणों से जीवन में सदैव परिवर्तन होते रहते हैं । परिवर्तित परिस्थितियों से

---

[12] इस सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय द्वारा निर्णीत दो विवाद उल्लेखनीय है :

(1) विजय काटन मिल्स बनाम अजमेर राज्य (1955, एस० सी० आर० 752) । अजमेर के कमिश्नर ने 56 रुपए न्यूनतम वेतन निर्धारित कर दिया । इस पर विजय काटन मिल्स के स्वामियों ने मिल बन्द कर दी । करीब 1500 मजदूर जो उस मिल में काम करते थे बेकार हो गये । अब वे न्यूनतम निर्धारित वेतन से भी कम वेतन पर काम करने को तैयार हो गये । लेकिन न्यूनतम वेतन अधिनियम (द मिनिमम वेजेज एक्ट) 1948 के अन्तर्गत यह दण्डनीय होने के कारण मिल मालिकों तथा मजदूरों दोनों ने इस अधिनियम के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में याचिका प्रस्तुत की कि इस अधिनियम द्वारा उनकी उद्योग व संविदा की स्वतन्त्रता पर अनुचित सीमा लगती है । यहाँ पर केवल मजदूरों के तर्क से हमारा सम्बन्ध है । वे न्यूनतम वेतन से भी कम (इस विवाद में केवल 35 रुपये) वेतन पर कार्य करने की स्वतन्त्रता की माँग स्वतन्त्रता-प्रेम के कारण नहीं कर रहे थे बल्कि बेगारी से पीड़ित होकर ही आत्महानि कर रहे थे । न्यायालय ने कहा कि मजदूर के अच्छे जीवन-स्तर के लिए तथा उसे उद्योगपतियों के शोषण से बचाने के लिए न्यूनतम वेतन रखना आवश्यक है । इससे संविदा की स्वतन्त्रता पर जो बन्धन लगता है वह युक्तिसंगत ही है ।

(2) मनोहरलाल बनाम पंजाब राज्य (ए० आई० आर० 1961, उच्चतम न्यायालय, पृ० 418) । पंजाब सरकार ने पंजाब ट्रेड एम्पलायीज एक्ट, 1940 द्वारा (क) कार्य देने वालों को ऐसे मजदूरों को काम पर लगाने से वर्जित कर दिया जिन्होंने श्रम के अधिकतम घण्टों तक किसी अन्य उद्योग में श्रम कर लिया हो तथा (ख) श्रमिकों को भी निर्धारित श्रम से अधिक कार्य करने से वर्जित कर दिया ताकि धन के लोभ में वे अपने स्वास्थ्य की हानि न कर बैठें ।

इस विवाद में प्रार्थी व उसका पुत्र छुट्टी के दिन भी दुकान खोले हुए थे । सरकार ने उनके विरुद्ध उपर्युक्त अधिनियम के अन्तर्गत कार्यवाही की । प्रार्थी ने कहा कि यह अधिनियम उस पर लागू नहीं होता क्योंकि वह स्वयं तथा अपने परिवार के सदस्यों की सहायता से अपना निजी कार्य करता है । उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि अपना कार्य करने वाले व्यक्ति को भी उसके स्वास्थ्य की रक्षा के लिए अधिक श्रम न करने देना युक्तिहीन नहीं है ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

साम्य रखने के लिए सामाजिक ढाँचे तथा जीवन-मूल्यों में भी समयानुसार परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। इसका प्रभाव अधिकारों की योजना पर भी पड़ सकता है। परिस्थिति हमें अधिकारों में वृद्धि करने की अनुमति दे सकती है और इसके विपरीत उनमें न्यूनता लाने के लिए विवश भी कर सकती है। अधिकारों की कोई व्यवस्था सनातन या अमर नहीं रह सकती।

उच्चतम न्यायालय ने अनेक विवादों में मूल अधिकारों के सम्मान में जिन चुनिन्दा विशेषणों का प्रयोग किया है कि वे 'सर्वोपरि' हैं, 'पवित्र' हैं, 'अविच्छेद्य' हैं, 'अनुलंघनीय' हैं,[13] विधि शास्त्र के दृष्टिकोण से उन सबका अर्थ अधिकारों की उपयोगिता व 'आवश्यकता की परिधि में ही लगाया जाना चाहिए क्योंकि ये अधिकार 'मानवीय' हैं, मानव द्वारा व्यक्ति व समाज के कल्याण के लिए कल्पित एवं निर्मित किये गये हैं। इस परिधि को तोड़कर इनका अर्थ खोजना केवल भावना का प्रवाह है, चिन्तन नहीं।

2. मानव अधिकारों का सांविधानिक रूप

भारतीय संविधान के तृतीय खण्ड में इस प्रकार के अधिकारों को 'मूल अधिकार' के नाम से वर्णित किया गया है। इनके 'मूल' होने का आधार यह है कि कोई भी विधि-नियम इनका अतिक्रमण नहीं कर सकता।[14]

किसी भी अधिकार के वैधानिक रूप का विवेचन करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि अधिकार के दोनों रूपों—भाव रूप और संविधान में शब्दबद्ध रूप—में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। भाव रूप में अधिकार अनिश्चित, असीम व नमनशील होता है परन्तु शब्दबद्ध हो जाने पर वह सीमित, निश्चित व कठोर हो जाता है। अतः शब्दों में भेद होने पर अधिकार में भी भेद हो जाता है। मनुष्य के अधिकारों को अनेक देशों व कालों में लिपिबद्ध किया गया है।[15] लेकिन उन सब लेखों में परस्पर बहुत ही भिन्नता मिलती है।

---

[13] इन सब विशेषणों को, उन विवादों सहित, जिनमें इनका उल्लेख किया गया है, प्रधान न्यायाधिपति सुब्बाराव ने गोलकनाथ के वाद-विवाद में दिये गये अपने निर्णय में संग्रहीत कर दिया है। देखिए पीछे पादटिप्पणी, पृ० 1657।

[14] अनुच्छेद 13 के अनुसार :

(1) इस संविधान के प्रारम्भ होने से ठीक पहिले भारत राज्य-क्षेत्र में सब प्रवृत विधियाँ उस मात्रा तक शून्य होंगी जिस तक कि वे इस भाग के उपबन्धों से असंगत हैं।

(2) राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनायेगा जो इस भाग द्वारा दिये अधिकारों को छीनती या न्यून करती हो और इस खण्ड के उल्लंघन में बनी प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी।

यहाँ 'राज्य' की परिभाषा बहुत व्यापक है। अनुच्छेद 12 के अनुसार 'राज्य' के अन्तर्गत (1) भारत की सरकार और संसद, तथा राज्यों में से प्रत्येक की सरकार और विधानमण्डल, तथा भारत राज्य-क्षेत्र के भीतर अथवा भारत-सरकार के नियन्त्रण के अधीन सब स्थानीय और अन्य पदाधिकारी भी हैं।

[15] मानवीय अधिकारों के प्रमुख लेख निम्न हैं :

मेग्ना कार्टा (1215), इंग्लैंड का बिल ऑफ राइट्स (1689), अमरीका के राज्यों के प्रारम्भिक संविधानों के साथ संलग्न 'बिल्स ऑफ राइट्स' विशेषतः वर्जीनिया व पेनसिलवेनिया संघों के संविधानों में, (1776), फ्रांस की मनुष्य व नागरिकों के अधिकारों की घोषणा (1789), अमरीकी संविधान के प्रथम दस संशोधन (1789–91), फ्रांस के 1793 के संविधान में अधिकारों की घोषणा (यह संविधान कभी भी लागू न हो

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अर्थात् अलग-अलग लेखों में एक ही अधिकार की परिभाषा, क्षेत्र व सीमाओं में अन्तर आ जाता है। संक्षेप में, अधिकार के सारतत्त्व ही में भिन्नता है।

न्यायालय किसी अधिकार को, उसके शब्दबद्ध सांविधानिक रूप में भी, लागू कर सकते हैं। अनुमान व उपमा के आधार पर उसमें कमी-बेशी नहीं कर सकते। एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट हो जायेगा। 'वाक्-स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य' का अधिकार बहुत ही महत्त्वपूर्ण अधिकार है। भारतीय संविधान इसे प्रदान भी करता है।[16] लेकिन इसकी गारन्टी केवल राज्य के ही विरुद्ध प्राप्त है, व्यक्तियों के विरुद्ध नहीं। अतः जब 'क' भाषण कर रहा हो तब यदि 'ख' उसके मुँह पर हाथ रखकर उसका बोलना बन्द कर देता है, तो यह 'क' के किसी मौलिक अधिकार का उल्लंघन नहीं है। यह किसी साधारण नागरिक अधिकार का अपहरण है। इसी तरह सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार को संविधान द्वारा सुरक्षा प्राप्त है। लेकिन यह केवल राज्य के कार्यों के विरुद्ध है व्यक्तियों के विरुद्ध नहीं।[17] इसलिए 'मौलिक अधिकार' यह कथन कुछ निश्चित अधिकारों के निश्चित रूप के लिए ही प्रयुक्त होता है। यह कथन सभी मानवीय अधिकारों का तथा भिन्न-भिन्न स्थितियों में विस्तृत उनके अर्थों का परिचायक नहीं है। अनेक मानवीय अधिकार, जो संयुक्त राष्ट्र संघ की मानवीय अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा (1948) में उल्लिखित हैं, भारतीय संविधान के मौलिक अधिकारों के अध्याय में अप्राप्य है।[18] दूसरे शब्दों में, वे अधिकार स्वयं में चाहे कितने भी पूर्ण हों, भारतीय विधि-व्यवस्था में मौलिक अधिकारों की तरह लागू नहीं किये जा सकते।

अधिकारों का शब्दबद्ध कोई भी रूप पूर्ण नहीं हो सकता। संविधान-निर्माताओं की दृष्टि की सीमा भाषा की अस्पष्टता तथा अनायास भूल-चूक इत्यादि कई कारणों से लेखन

पाया), फ्रांस के 1795 के संविधान में अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की घोषणा। इसके बाद 19वीं तथा 20वीं सदियों में तो इस प्रकार की घोषणाओं की बाढ़ सी आ गयी। इस समय सर्वप्रमुख मानवीय अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा (1948) है। यह घोषणा संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा स्वीकृत की गयी। इसके विरुद्ध एक भी मत नहीं पड़ा।

[16] अनुच्छेद 19 (1) (क)।

[17] पी० डी० शामदासानी बनाम द सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया लि० (ए० आई० आर० 1952, उच्चतम न्यायालय, पृ० 59)। इस विवाद में प्रार्थी ने कहा कि अनुच्छेद 19 (1) (च) तथा अनुच्छेद 31 (1) द्वारा प्रदत्त सम्पत्ति सम्बन्धी उसका अधिकार सेन्ट्रल बैंक द्वारा अपहृत किया गया है। न्यायालय ने निर्णय किया कि बैंक गैर-सरकारी संस्था है और गैर-सरकारी व्यक्तियों द्वारा सम्पत्ति के अधिकार का उल्लंघन अनुच्छेद 19 में नहीं आता। न्यायालय ने कहा कि अनुच्छेद 19 की भाषा व संरचना तथा संविधान के तृतीय खण्ड में इसकी स्थिति से यह स्पष्ट है कि उस अनुच्छेद का उद्देश्य केवल राज्य के कार्यों के विरुद्ध उन अधिकारों की सुरक्षा प्रदान करना है। इस निर्णय से स्पष्ट ज्ञात होता है कि न्यायालय संविधान की भाषा से बँधा होता है।

[18] उदाहरणतः, परिवार तथा पत्र-व्यवहार में अनाधिकृत हस्तक्षेप के विरुद्ध अधिकार, (अनु० 12), निरंकुश ढंग से राष्ट्रीयता का अपहरण करने के विरुद्ध अधिकार (अनुच्छेद 15), विवाह करने व परिवार स्थापित करने का अधिकार (अनुच्छेद 16), काम का, व्यवसाय के स्वतन्त्र चुनाव का, काम की न्यायसंगत तथा हितकर शर्तों का तथा बेकारी के विरुद्ध सुरक्षा का अधिकार (अनुच्छेद 23 (1)), आराम तथा सवेतन अवकाश का अधिकार (अनुच्छेद 24), रोग, बेकारी, वैधव्य, वृद्धावस्था में सामाजिक सुरक्षा व सामाजिक सेवाओं का अधिकार (अनुच्छेद 25 (1)), मातृत्व तथा बचपन में विशिष्ट निगरानी का अधिकार (अनुच्छेद 25 (2)), अवैध सन्तान को वैध सन्तान के समान सामाजिक सुरक्षा का अधिकार (अनुच्छेद 25 (2)), शिक्षा का अधिकार (अनुच्छेद 26) इत्यादि।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

में त्रुटि रह सकती है, और अधिकार अपने प्रारम्भिक लिखित रूप में जीवन की बदलती परिस्थितियों में अनुपयोगी या हानिकारक हो सकता है। विवेक तो इसी में है कि जब कभी कोई कमी मालूम हो तो, उसे दूर कर लिया जाये। ऐसा करने के लिए अधिकार को बढ़ाया भी जा सकता है तथा कभी अधिकार को न्यून करना भी आवश्यक हो सकता है। इस पर आपत्ति करने का कोई सैद्धान्तिक आधार नहीं हो सकता क्योंकि कहीं न्यूनता भी निर्दोष हो सकती है। दृष्टान्त के लिये यहाँ संविधान के प्रथम व सोलहवें संशोधनों को देखा जा सकता है।

रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य[19] में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि राज्य को 'सार्वजनिक-व्यवस्था' के आधार को लेकर वाक्-स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर युक्तिसंगत सीमा लगाने का अधिकार नहीं है, क्योंकि संविधान के अनुच्छेद 19 (2) में इस आधार को लिखा नहीं गया। न्यायालय ने यहाँ पर अपने को संविधान की भाषा का अतिक्रमण करने में असमर्थ पाया। संविधान लागू होने के एक वर्ष में ही 'संशोधन द्वारा' सार्वजनिक व्यवस्था को भी भाषण की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाने के आधारों में लिखा दिया गया। इसका कभी कहीं विरोध नहीं हुआ, जबकि इससे वाक्-स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य सम्बन्धी मौलिक अधिकार में न्यूनता आती है।[20] कारण यह है कि संविधान-निर्माताओं का यह अभिप्राय हो ही नहीं सकता था कि भारतीय नागरिकों को सार्वजनिक व्यवस्था के विरुद्ध भी भाषण की स्वतन्त्रता प्राप्त हो। इसके बारे में यही कहा जा सकता है कि उनसे अनायास भूल हो गयी जिसे ठीक करने में कोई अनौचित्य नहीं था।

---

[19] ए० आई० आर० 1950, उच्चतम न्यायालय, पृ० 124।

[20] न्यायाधीश हिदायतुल्ला ने गोलकनाथ के विवाद में इस संशोधन को उचित ठहराया है। उनका मत है कि सार्वजनिक व्यवस्था का भाव 'राज्य की सुरक्षा' के कथन में निहित है जिसके आधार पर वाक्-स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर प्रतिबन्ध आरोपित करने की शक्ति राज्य को शुरू से ही प्राप्त थी। अतः संशोधन सीमा के अन्तर्गत ही है।

रमेश थापर के विवाद में उच्चतम न्यायालय ने 'राज्य की सुरक्षा' को इतना व्यापक अर्थ देने से स्पष्ट इन्कार कर दिया कि उसमें सार्वजनिक व्यवस्था भी सम्मिलित है लेकिन बाद में बिहार राज्य बनाम श्रीमती शैल बाला देवी (ए० आई० आर० 1952, उच्चतम न्यायालय, पृ० 329) के विवाद में न्यायालय ने कहा कि रमेश थापर के विवाद में उसका यह मन्तव्य नहीं था कि सार्वजनिक व्यवस्था किसी भी अवस्था में राज्य की सुरक्षा के अन्तर्गत नहीं आती।

न्यायाधीश हिदायतुल्ला के अनुसार बाद के निर्णय से स्पष्ट होता है कि सार्वजनिक व्यवस्था का आधार पहले से ही प्रतिबन्ध के लिए स्वीकृत था। अतः उसको संशोधन द्वारा प्रतिबन्ध का आधार बनाना मौलिक अधिकार का अपहरण नहीं था।

यह तर्क अत्यन्त आश्चर्यजनक है। न्यायालय अपना निर्णय तो बदल सकता है, लेकिन जब तक उसने अपना निर्णय नहीं बदला, वह कानून की शक्ति रखता है। इस अनुमान के आधार पर कि न्यायालय कभी कदाचित् अपना मत परिवर्तन कर ले, उस निर्णय के विपरीत कुछ नहीं किया जा सकता। यदि न्यायाधीश हिदायतुल्ला का तर्क मान लिया जाये तो किसी भी निर्णय का महत्त्व नहीं रह जायेगा। स्वयं गोलकनाथ के निर्णय के बारे में कोई निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि उच्चतम न्यायालय इसे भविष्य में कभी नहीं बदलेगा। तो क्या इस अनुमान के आधार पर इसकी उपेक्षा की जा सकती है? इसका उत्तर नकारात्मक ही हो सकता है। इसी तरह रमेश थापर के निर्णय के बाद संशोधन द्वारा एक वर्जित आधार को सम्मिलित करना मौलिक अधिकार में स्पष्टतः न्यूनता करना है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सन् 1963 में 16वें सांविधानिक संशोधन द्वारा राज्य को अधिकार दिया गया कि वह भारत की प्रभुसत्ता व अखण्डता के हित में वाक्-स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य, एकत्र होने व प्रदर्शन करने[21] तथा संघ बनाने[22] के मौलिक अधिकारों पर नियन्त्रण लगा सकता है।[23] यह तो सोचा भी नहीं जा सकता कि संविधान-निर्माताओं की इच्छा थी कि भारत की अखण्डता व प्रभुसत्ता के विरुद्ध भी इन अधिकारों को अक्षुण्ण रखा जाय। उन्होंने कदाचित् यह मान लिया था कि सब भारतवासियों का हृदय देश-प्रेम की भावना से इतना ओत-प्रोत है कि कोई भी व्यक्ति देश के विरुद्ध कुछ कहेगा या करेगा ही नहीं। लेकिन बाद में यह ज्ञात हुआ कि यह तो बहुत बड़ी भूल हो गयी। देश का इतना सौभाग्य अभी कहाँ, कि सभी नागरिक देश-प्रेमी सिद्ध हों। अतः इस रिक्तता की पूर्ति के लिए संशोधन आवश्यक हो गया। इसकी उपयोगिता पर कोई भी आपत्ति नहीं उठा सकता। अतः इसका भी कभी विरोध नहीं हुआ।

इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि संविधान में इस प्रकार की त्रुटियाँ समयानुसार बार-बार हो सकती हैं और राष्ट्र की समृद्धि, शान्ति व प्रगति के लिए मौलिक अधिकारों में न्यूनता लाने के लिए हमारे विवेक का आह्वान कर सकती हैं। इस स्थिति में मौलिक अधिकारों के प्रारम्भिक रूप से ही चिपके रहना केवल हठधर्मी है, स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं।

मौलिक अधिकारों के लिए प्रयुक्त इन विशेषणों का कि वे 'सर्वोपरि' हैं, 'पवित्र' हैं, 'अविच्छेद्य' हैं, 'अनुलंघनीय' हैं, अर्थ, संविधान की व्याख्या के दृष्टिकोण से[24] यह नहीं लगाया जा सकता कि वे हर परिस्थिति में अपरिवर्तनीय हैं। मौलिक 'अधिकार' कहने का तात्पर्य केवल यही है कि राज्य उनका उल्लंघन तब तक नहीं कर सकता, जब तक इसकी अनुमति संविधान के ही किसी प्रावधान से न प्राप्त हो। इस प्रकार के प्रावधान स्थान-स्थान पर प्राप्त हैं। स्वयं संविधान के तृतीय भाग में ऐसे अनेक प्रावधान हैं। उदाहरणतः अनुच्छेद 15 (3), (4), अनुच्छेद (16) (3), (4), (5), अनुच्छेद 19 (2) से (6) तक, अनुच्छेद 23 (3), अनुच्छेद 25 (2), अनुच्छेद 28 (2), अनुच्छेद 31 (4) और (5), अनुच्छेद 33 तथा अनुच्छेद 34। इसी तरह आपत्काल में अनुच्छेद 19 में प्रदत्त स्वतन्त्रताएँ स्वतः निलम्बित हो जाती हैं।[25] राष्ट्रपति को संविधान से शक्ति प्राप्त है कि वह आपात्काल में आदेश देकर किसी या सभी मौलिक अधिकारों के लिए न्यायालय के दरवाजे बन्द कर सकता है एवं तत्सम्बन्धी न्यायालय में चल रही सभी कार्यवाही बन्द कर सकता है।[26] यदि इन अनुच्छेदों के अन्तर्गत राज्य किसी व्यक्ति को मौलिक अधिकारों से वंचित करता है तो उपर्युक्त सारे विशेषण उसकी कुछ भी सहायता नहीं कर सकते। मौलिक अधिकारों की वैधानिक श्रेष्ठता इसी में है

---

[21] अनुच्छेद 19 (1) (ख)।
[22] अनुच्छेद 19 (1) (ग)।
[23] अनुच्छेद 19 (2), (3) और (4)।
[24] विधि-शास्त्र के अनुसार इन विशेषणों का अर्थ क्या है? इसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है।
[25] अनुच्छेद 358।
[26] अनुच्छेद 359।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कि यदि राज्य संविधान की अनुमति के बिना उसका उल्लंघन करता है तो उसका यह कार्य प्रभावहीन होगा। इसके अतिरिक्त या अधिक महत्त्व इन अधिकारों को देना विधि-व्याख्या के नियमों के अनुसार कोई अर्थ नहीं रखता।

3. संसद और मूल अधिकारों की न्यूनता

अब समस्या यह उठायी जाती है कि क्या संसद को मूल अधिकारों में कमी करने की शक्ति है ?

सर्वप्रथम हम संविधान के प्रावधानों का निरीक्षण कर लें। अनुच्छेद 368 में संविधान-संशोधन सम्बन्धी प्रावधान दिये गये हैं। शुरू-शुरू में शंकरी प्रसाद बनाम संघ[27] नामक विवाद में उच्चतम न्यायालय ने सर्व-सम्मति से यह निर्णय दिया कि इस अनुच्छेद द्वारा संसद को मौलिक अधिकारों में परिवर्तन करने, वृद्धि करने और न्यूनता लाने की शक्ति प्राप्त है। सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य[28] नामक विवाद में 3:2 के बहुमत से उच्चतम न्यायालय ने इस निर्णय को पुनः स्वीकृति प्रदान कर दी। इस विवाद में न्यायालय में मतभेद हो जाने के कारण गोलकनाथ के विवाद में 11 न्यायाधीशों की पीठ के समक्ष इस प्रश्न को रखा गया। इस विवाद में केवल 1 के बहुमत से न्यायालय ने अपना पहले का निर्णय बदल दिया और यह मत व्यक्त किया कि यद्यपि संसद को मौलिक अधिकारों में वृद्धि करने की शक्ति प्राप्त है, तथापि उनमें न्यूनता लाने की शक्ति उसको प्राप्त नहीं है। कोई भी व्यक्ति निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि उच्चतम न्यायालय कब तक इस निर्णय को सही मानता रहेगा।

इस ऐतिहासिक निर्णय से सम्बन्धित क्षेत्रों में वाद-विवाद का एक ज्वार सा उमड़ पड़ा जबकि इसी विषय पर इसके पूर्व के निर्णयों को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया था। इसी से अनुमान होता है कि इस निर्णय में कहीं कुछ त्रुटि है।

स्वर्गीय श्री नाथ पाई ने चौथी लोकसभा में एक संविधान संशोधन विधेयक भी रखा था जिसके अनुसार अनुच्छेद 368 में परिवर्तन करके संसद को मौलिक अधिकार न्यून करने की शक्ति स्पष्ट भाषा में प्रदान कर दी जाती। चौथी लोकसभा के भंग होने के साथ ही वह विधेयक भी व्यपगत हो गया।

प्रश्न है : क्या संसद को यह शक्ति प्रदान की जानी चाहिए ?

इस प्रश्न का उत्तर संसद पर विश्वास करने पर निर्भर करता है। ऐसा मानने का कोई ठोस कारण नहीं है कि संसद के सदस्य अपनी इस शक्ति का प्रयोग अनुचित ढंग से करेंगे। वे जनता के प्रतिनिधि होते हैं, तथा जनता के हित-साधन के लिए प्रतिज्ञाबद्ध। यदि वे अपनी शक्ति का प्रयोग मौलिक अधिकारों को अनावश्यक रूप से कम करने के लिए करेंगे, तो जनता-जनार्दन के हाथों चुनाव में दण्ड भी पायेंगे। यह भय उनको मौलिक अधिकारों के प्रति बहुत ही संयत व सावधान रहने के लिये बाध्य करता रहेगा। ब्रिटेन की संसद की ओर देखने से हमें इस बारे में पर्याप्त आश्वासन मिलता है। ब्रिटेन में संसद को

---

[27] ए० आई० आर० 1951, उच्चतम न्यायालय, पृ० 458।

[28] ए० आई० आर० 1965, उच्चतम न्यायालय, पृ० 845

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

वैधानिक सर्वप्रभुसत्ता प्राप्त है। वह किसी भी विधि को बना सकती है, परिवर्तित कर सकती है और समाप्त कर सकती है। उसकी शक्ति के बारे में यह उक्ति उचित ही प्रसिद्ध है कि वह पुरुष को स्त्री व स्त्री को पुरुष बनाने के अतिरिक्त हर नियम बना सकती है। लेकिन उस विधानपालिका ने भी अपने देशवासियों के मूल अधिकारों को नगण्य नहीं समझा। इसका कारण बहुत ही सुबोध है। जिन व्यक्तियों को हर पाँचवें वर्ष जनता के पास मत के लिए याचना करनी है, वे जनता का अहित करने का दुस्साहस कैसे कर सकते हैं? जब तक जनहित में कोई विवशता व आवश्यकता न हो, तब तक वे मौलिक अधिकारों में कमी लाने का प्रयास नहीं करेंगे।

जिस समय उदार परम्पराओं का उदय हुआ अर्थात् व्यक्ति के मानव अधिकारों का प्रतिपादन किया गया, उस समय के विधि-निर्माता और आज के विधि-निर्माता में बहुत बड़ा अन्तर है। ये अधिकार स्वेच्छाचारी राजाओं के विरुद्ध जन-साधारण के व्यक्तित्व को सम्मानीय स्थान देने के लिए ही प्रतिपादित किये गये थे, ताकि अपने वैभव, शान-शौकत और राज-कोश भरने के लिए वे प्रजा पर मनमाना कर न लगा सकें, लोगों की सम्पत्ति न छीन सकें, सरकारी अत्याचारों तथा कुव्यवस्था के विरुद्ध बोलने वालों को दण्ड या कारावास न दे सकें, किसी को भी अपनी आस्था व विचारधारा के विपरीत कोई धर्म मानने के लिए लाचार न कर सकें। वस्तुतः ये अधिकार निरंकुश राजतन्त्र को अनुशासित करने के लिए ही प्राप्त किये गये थे। लेकिन आज के विधि-निर्माता वंशानुक्रम से जीवन-भर के लिए राज-शासन प्राप्त करने वाले निरंकुश व्यक्ति नहीं हैं, बल्कि वे जनता द्वारा ही चुने हुए प्रतिनिधि हैं। वे एक सीमित अल्प-काल के लिये ही संसद के सदस्य होते हैं। उस अवधि के पश्चात् उन्हें पुनः अवसर अपनी योग्यता प्रमाणित करने पर ही मिल सकता है। इसके लिए उन्हें प्रतिपल यह ध्यान रखना पड़ता है कि वे जनहित के विपरीत कोई कार्य न करें। यदि वे अपने व्यक्तिगत हित के लिए जनता के मानव अधिकारों के साथ खिलवाड़ करेंगे, तो फौरन ही यह उनके विरोधियों का चुनाव मन्त्र बन जायेगा। अतीत के विधि-निर्माताओं और वर्तमान विधि-निर्माताओं में यह ऐतिहासिक भेद हमें नहीं भूलना चाहिए। मौलिक अधिकारों की न्यूनता के औचित्य से इसका निकट का सम्बन्ध है।

समाज के सभी सदस्य शिक्षा व शिष्टता के एक ही स्तर पर नहीं हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अपने स्वार्थ के लिये औरों का अहित करने से नहीं चूकते। जन-प्रतिनिधियों का यह कर्तव्य हो जाता है कि ऐसे समाज-विरोधी तत्त्वों से जन-साधारण की रक्षा करें। सम्भव है कि किसी परिस्थिति में कोई व्यक्ति अपने किसी मौलिक अधिकार की सहायता से ही अन्य लोगों की हानि कर रहा हो, ऐसी अवस्था में उसके मौलिक अधिकार को न्यून करना उसी तरह से जनहित में है, जिस प्रकार एक स्वेच्छाचारी राजा को अंकुश में लाने के लिए मानव अधिकारों की स्थापना करना। इससे कुछ लोगों के अधिकारों में कमी तो आती है, लेकिन असंख्य लोगों के अधिकारों में वृद्धि होती है।[29]

---

[29] न्यायाधीश दास के अनुसार एक व्यक्ति के अनुचित कार्यों पर बन्धन लगाना वास्तव में उससे पीड़ित व्यक्ति की रक्षा करना है। अतः जिन व्यक्तियों की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाया जाता है, उनके आत्मगत भाव के आधार पर स्वतन्त्रता-सीमांकन के बारे में निर्णय नहीं देना चाहिये, लेकिन वस्तुगत रूप से देखना चाहिये कि

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

व्यक्तिगत अधिकारों को कम करने से राजा को लाभ ही लाभ होता था, क्योंकि वह तो जीवन भर के लिये शासक होता था, परन्तु संसद-सदस्यों के लिए मौलिक अधिकार कम करने से अन्त में व्यक्तिगत हानि भी है। कोई भी संसद-सदस्य किसी भी समय एक साधारण नागरिक की तरह हो सकता है। यदि नागरिकों के सामान्यतः व्यक्तिगत अधिकार कम होंगे, तो भूतपूर्व संसद-सदस्य के भी अधिकार कम हो जायेंगे।

आजकल राज्य पर समाज की प्रगति व समृद्धि के लिये अनेक उत्तरदायित्व हैं। उनमें कुछ विषय तो ऐसे हैं जो मौलिक अधिकारों से कम महत्त्व नहीं रखते जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा, आर्थिक नियोजन, राष्ट्र की रक्षा, आदि-आदि। यदि राज्य के हाथ सदा के लिये किसी भी क्षेत्र में बँधे रहते हैं तो इन उत्तरदायित्वों के निर्वाह में अनेक समस्यायें आ सकती हैं। यह एक सही सिद्धान्त है कि जिसके ऊपर उत्तरदायित्व लादे जाते हैं उसको सामर्थ्य भी प्रदान की जानी चाहिये। इस सम्भावना को पूर्णतः समाप्त नहीं किया जा सकता कि कोई परिस्थिति ऐसी भी आ सकती है, जिसमें किसी महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिये किसी मौलिक अधिकार में कमी लाना अनिवार्य हो। यदि संसद के पास ऐसा करने की शक्ति नहीं होगी तो वह स्थिति का सामना कैसे कर सकेगी ?

यह विचार मान्य नहीं हो सकता कि जीवन-हानि होने पर भी संविधान में लिखित मौलिक अधिकार अक्षुण्ण ही बने रहें। इसका अर्थ तो यह हुआ कि हम लोग संविधान के लिये बने हैं न कि संविधान हमारे लिये। समाज संविधान अपने सुचारु संचालन के लिये बनाता है न कि उसको ढोने के लिये। नियम, विधि आदि जीवन को सुविधामय बनाने के लिये निर्मित होते हैं। वे जीवन के लिये हैं, जीवन उनका दास नहीं। जब वे जीवन के लिये भार हो जाते हैं तो जीवन उनको बदलने के लिये माँग करता है। यदि इस माँग को कुचला जाता है तो अदम्य जीवन शक्ति उनके बन्धन तोड़ कर रख देती है। जीवन का आधार जिजीविषा (जीने की इच्छा) है, न कि कोई विशेष नियम या विधि।

यह सत्य है कि यदि कोई नियम बहुत समय तक लाभप्रद सिद्ध हुआ है तो उसमें परिवर्तन करने से पूर्व अनेक विकल्प निकालने का प्रयास करना चाहिये परन्तु जब परिवर्तन अनिवार्य हो जाये तो मोह या हठधर्मी करना बौद्धिक और भावनात्मक परिपक्वता की कमी है। अतः मौलिक अधिकारों की सुरक्षा उनको पूर्णतः कठोर बनाने में नहीं है बल्कि उन्हें कम करने की जब चर्चा उठे तो ऐसा किये बिना ही उपस्थित समस्या किस तरह हल की जा सकती है, इसके बारे में बुद्धिमता से उपाय निकालने में है। यदि परिस्थिति की माँग उनमें कमी करना अनिवार्य कर दे तो ऐसा करना ही बुद्धिमत्ता है, अन्यथा वह अधिकार कष्टकर हो जायेगा और जनता को न केवल उसी से घृणा एवं विद्वेष हो जायेगा, बल्कि पूरे संविधान से ही। तब वह इस संविधान रुपी जुए को उतार फेंकने का प्रयास करेगी। कठोर नियम क्रान्ति का आह्वान करते हैं।

इसमें संविधान-निर्माताओं की कोई अवमानता नहीं। हमारे संविधान-निर्माता भी

उससे कितने अधिक व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की रक्षा होती है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सामाजिक हित को अन्य अधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक हितों के समक्ष गौण बनाना आवश्यक हो सकता है। (ए० के० गोपालन बनाम मद्रास राज्य, 1950; एस० सी आर०, पृ० 88)।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अतिमानव न थे, यद्यपि वे बहुत योग्य थे, तथापि वे भी मनुष्य थे, उतने ही योग्य मनुष्य उनके बाद भी हो सकते हैं। एक जीवन्त समाज को इतना आत्मविश्वास होना ही चाहिये कि उसमें सदैव महान् से महानतर व्यक्ति उत्पन्न करने की शक्ति है। व्यक्तिगत स्तर पर भी लोगों में इतना आत्मविश्वास होना चाहिये कि भूतकाल में हुए योग्य से योग्य लोगों से भी योग्यतर होने की उनमें क्षमता है। ऐसा आत्मविश्वास जीवन की आवश्यकता है। अन्यथा भविष्य कैसे उज्जवल होगा ? यदि समाज हर काल की संसद के सदस्यों को भी उनसे कम योग्य न समझे और न ही संसद सदस्य भी अपने को उनसे सदैव नीचा ही समझें, तो इससे संविधान के निर्माताओं का महत्त्व कम नहीं हो जाता।

संविधाननिर्माताओं ने अपनी सुबुद्धि के अनुसार संविधान की रचना की। वे जानते थे कि संविधान चिरकाल की वस्तु है। अतः वे केवल अपनी परिस्थितियों के घेरे में ही नहीं रहे होंगे। फिर भी उनका अधिकतर ध्यान तत्कालीन परिस्थितियों व समस्याओं में ही उलझा रहा होगा तथा भविष्य का उनका चित्र भी तत्कालीन अवस्था में रंगा हुआ होगा। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि देश-काल की सीमाओं को पूरी तरह से तोड़ना कल्पनाशक्ति के लिए भी असम्भव है। अतः संविधान की कोई बात वर्तमान से बेमेल भी हो सकती है। उसे सुधारने का अधिकार वर्तमान पीढ़ी व उसके प्रतिनिधियों को होना ही चाहिये। यदि इस चिन्तन पर आपत्ति की जाती है तो इसका अर्थ यह हुआ कि 1948-50 की पीढ़ी ने जो संविधान बना दिया है, भविष्य की सारी पीढ़ियाँ उससे बँधी रहनी चाहियें तथा उनको स्वतन्त्रतापूर्वक अपना जीवन-संचालन करने का अधिकार नहीं है। यह तो एक प्रकार की दासता होगी। किसी भी पीढ़ी को अधिकार नहीं कि आने वाली पीढ़ियों को अनन्त काल तक बांध कर रख सके। मानव अधिकारों के महासेनानी टामस पेन ने भी अपनी सशक्त लेखनी से, एक पीढ़ी द्वारा दूसरी पीढ़ी को बाँधे रखने का प्रबल विरोध किया है।[30]

यदि मौलिक अधिकारों को अक्षुण्ण मान लिया जायेगा तो उनकी वही भूमिका हो जायेगी जो इतिहास में धर्मग्रन्थों की रही है। बुद्धिजीवी अब इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि धर्मग्रन्थों की कठोरता मानव के बौद्धिक, मानसिक, नैतिक और सांस्कृतिक विकास में

---

[30] 'किसी भी देश में किसी भी पीढ़ी में ऐसे व्यक्ति न थे, न होंगे और न कभी हो सकते हैं, जिनके पास भविष्य की पीढ़ियों को अनन्त काल तक बाँध रखने या नियन्त्रण में रखने का अधिकार या शक्ति हो, या यह आदेश देने का अधिकार हो कि विश्व का शासन कैसे होना चाहिए और कौन सा शासन होना चाहिये। अतः वे सारी धाराएँ, अधिनियम व घोषणायें, जिनके द्वारा उनके निर्माताओं ने ऐसा करने का प्रयास किया है, जिसका न उन्हें अधिकार था और न ही क्रियान्वित करने की शक्ति उनके पास थी, स्वतः ही निरर्थक और अस्तित्वहीन हैं। हर युग और हर पीढ़ी अपने पूर्व के युग और पीढ़ी के समान ही हर विषय में अपने कार्य को करने के लिये स्वतन्त्र होनी ही चाहिए। मृत्यु के बाद भी 'शासन करने का अहं और दम्भ सभी अत्याचारों से अधिक हास्यास्पद व धृष्टतापूर्ण है। मनुष्य मनुष्य की सम्पत्ति नहीं, न ही आने वाली पीढ़ियां गुजरी हुई पीढ़ियों की। अपने काल की आवश्यकताओं के अनुसार कार्य करने के लिये हर पीढ़ी सक्षम है और होनी ही चाहिये। सुविधा मृतकों को नहीं बल्कि जीवित लोगों को दी जानी है। जब व्यक्ति गुजर जाता है तो उसके साथ ही उसकी शक्तियाँ और आवश्यकतायें भी समाप्त हो जाती हैं। उसका इस जगत के क्रिया-कलापों से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। अतः कौन शासन होना चाहिये, सरकार का संगठन और प्रशासन कैसे होने चाहिये, इस बारे में निर्देश देने का उसका कोई अधिकार नहीं रह जाता। 'राइट्स ऑफ मेन,' पैलिकन प्रकाशन (1969), पृ० 63-64।'

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कभी-कभी बड़े रोड़े अटकाती रही है। यही कार्य अब संविधान का हो जायेगा।

सांविधानिक अधिकारों की अक्षुण्णता 'संविधान की तानाशाही' की स्थापना करेगी। यह तानाशाही किसी एक व्यक्ति या किसी एक दल की तानाशाही से कम कष्टकर नहीं होगी।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सांविधानिक तथा संसदीय घटना-क्रम
(अप्रैल, 1971-सितम्बर, 1971)

जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी

नवनिर्वाचित भारतीय संसद ने इस काल में अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए 24वाँ संशोधन विधेयक पारित कर दिया और इसी काल में उसे आधी से अधिक राज्य विधानसभाओं का समर्थन भी प्राप्त हो गया। इसके कारण उच्चतम न्यायालय द्वारा गोलकनाथ मामले में दिए हुए निर्णय को पलट दिया गया और संसद को संविधान के मौलिक अधिकारों में भी परिवर्तन करने का अधिकार प्राप्त हो गया। इसी काल में गुजरात और पंजाब की विधानसभाएँ भंग कर दी गईं। एक अन्य दृष्टि से भी यह छमाही महत्त्वपूर्ण रही, क्योंकि राजस्थान और आन्ध्र प्रदेश जैसे राज्यों में बहुत दिनों से शासन करने वाले मुख्यमन्त्रियों ने त्यागपत्र दे दिया और उनके स्थान पर नये मुख्यमंत्री बनाये गये। उच्चतम न्यायालय ने भी सांविधानिक और संसदीय कार्यों में चुनावों के कारण तो अधिक रुचि दिखाई ही, एक यह निर्णय भी कर दिया कि पेंशन पाना एक व्यक्ति का मौलिक अधिकार है और उसे देना या न देना सरकार की इच्छा पर निर्भर नहीं है। राष्ट्रपति ने भी एक अध्यादेश द्वारा साधारण बीमा उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर दिया। पड़ौसी नेपाल, बर्मा, लंका और पाकिस्तान भी सांविधानिक व संसदीय घटनाक्रमों से प्रभावित रहे और बंगला देश का आन्दोलन पूर्ववत् जारी रहा। भारतीय संसद ने भारत-सोवियत शान्ति और सहयोग की संधि को अपना समर्थन प्रदान कर दिया। चुनावों के पश्चात् पश्चिम बंगाल विधानसभा भंग कर दी गई और वहाँ राष्ट्रपति का शासन कायम हुआ तथा उत्तर प्रदेश में पं० कमलापति त्रिपाठी की अध्यक्षता में नया मन्त्रिमण्डल बनाया गया।

केन्द्र

संसद

संसद ने अप्रैल के प्रथम सप्ताह में राष्ट्रपति के अभिभाषण पर अपनी स्वीकृति दे दी और अन्तरिम बजट पारित कर दिया। अधिवेशन समाप्त हो गया। इस बीच में राष्ट्रपति ने दो अध्यादेश निकाले। एक के द्वारा आन्तरिक सुरक्षा का नियमन किया गया और दूसरे अध्यादेश द्वारा, जो 13 मई को निकाला गया, साधारण बीमा उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। साथ ही साथ केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल का विस्तार भी किया गया। 24 अप्रैल को श्री सी० सुब्रह्मण्यम्

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

योजना मन्त्री नियुक्त हुए और 2 मई को श्री उमाशंकर दीक्षित को मन्त्रिमण्डल का सदस्य बनाया गया। लेकिन राज्यमन्त्रियों और उपमन्त्रियों की संख्या में वृद्धि हुई और मन्त्रिपरिषद् की सदस्य-संख्या 55 हो गई, जिनमें 15 मन्त्रिमण्डल के सदस्य, 22 राज्य मन्त्री और 18 उपमन्त्री थे। 2 मई को शपथग्रहण समारोह हुआ जिसमें 18 व्यक्तियों ने शपथ ली।

संसद का बजट अधिवेशन 24 मई से प्रारम्भ हुआ और 12 अगस्त को समाप्त हो गया। वैसे, राज्यसभा का अधिवेशन 14 अगस्त को समाप्त हुआ। बीच में एक महीने के लिए राज्यसभा अवश्य छुट्टी कर गई थी। संसद के इस अधिवेशन में 28 मई को वित्त मन्त्री श्री यशवंतराव चव्हाण ने 220 करोड़ रु० के नये कर प्रस्तावित किये, यद्यपि कुल घाटा 397 करोड़ रु० का दिखाया गया था। इससे पूर्व 24 मई को ही रेलमंत्री श्री के० हनुमन्तैया ने रेल-बजट प्रस्तुत किया था जिसमें उन्होंने न केवल भाड़े में वृद्धि की, बल्कि शयन-कक्ष में सवारी करने वाले यात्रियों पर तथा कुछ अन्य किरायों में वृद्धि घोषित की। इस प्रकार उन्होंने भाड़े में वृद्धि से 21 करोड़ 80 लाख रु० की प्राप्ति का अनुमान लगाया। तीसरे दर्जे के टिकट पर भी 20 पैसे से लेकर 1 रु० तक के किराये तक की और ऊपर के दर्जों पर 50 पैसे से लेकर 2 रु० तक के किराये की वृद्धि की गई।

जैसे ही लोकसभा और राज्यसभा की बैठकें 24 मई को प्रारम्भ हुईं, प्रधानमन्त्री ने बंगलादेश की स्थिति पर एक वक्तव्य दिया और बताया कि किस प्रकार पूर्वी बंगाल से 35 लाख शरणार्थी भारत आ चुके हैं। इनमें हिन्दू-मुसलमान, बौद्ध, ईसाई, सभी शामिल हैं। उन्होंने कहा कि ऐसी स्थिति पैदा होनी चाहिए जिससे कि ये शरणार्थी अपने सुरक्षा और कल्याण के प्रति आश्वस्त होकर पूर्वी बंगाल लौट जायें।

उसी दिन संसद के आठ सदस्यों ने, जिनमें सात राज्यसभा के थे और एक लोकसभा का, सत्तारूढ़ कांग्रेस में सम्मिलित होने की घोषणा की। इसके पश्चात् राज्यसभा के दो अन्य सदस्य तथा लोकसभा के निर्दलीय सदस्य श्री इन्दुलाल याज्ञिक भी सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये और राज्यसभा में सत्तारूढ़ कांग्रेस दल की सदस्य-संख्या 97 हो गई।

संसद ने बजट पारित कर दिया और प्रायः सभी कर-प्रस्ताव छोटे-मोटे संशोधनों के साथ स्वीकार कर लिए गये। संसद में 24वें संविधान-संशोधन विधेयक पर जो चर्चा रही, वह बड़े उच्च स्तर की थी। लोकसभा में सरकार की ओर से विधिमन्त्री श्री गोखले के अतिरिक्त शिक्षा मन्त्री श्री सिद्धार्थ शंकर रे ने भी भाग लिया और प्रतिपक्ष के महत्त्वपूर्ण दलों के सदस्यों ने विधेयक का जोरदार समर्थन किया। केवल जनसंघ और स्वतन्त्र दल ऐसे थे जिन्होंने इस विधेयक का विरोध किया और परिणामस्वरूप विधेयक प्रचण्ड बहुमत से पारित हो गया और यही स्थिति राज्यसभा में रही, जहाँ पर सरकार को और भी अधिक बहुमत मिला और एक अवसर पर तो विरोध में केवल 3 मत पड़े। इस विधेयक के अनुसार संसद को यह अधिकार प्राप्त हो गया कि वह मौलिक अधिकारों में भी परिवर्तन कर सकती है और गोलकनाथ सम्बन्धी मामले में उच्चतम न्यायालय के निर्णय को पलट दिया गया। लोकसभा में दो अन्य संशोधन विधेयक भी प्रस्तुत किये गये। एक विधेयक के अनुसार यह सुझाव दिया गया है कि संविधान में प्रदत्त मौलिक अधिकारों में जहाँ पर 'प्रतिकर' शब्द है वहाँ पर 'रकम' लिख दी जाये जिससे कि न्यायालयों को यह जाँच करने का अधिकार न रहे कि किसी वस्तु का अधिग्रहण करते समय जो रकम दी जा रही है वह उसके वास्तविक मूल्य के बराबर है या नहीं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

दूसरे संशोधन विधेयक में, जिसे प्रधानमन्त्री ने प्रस्तुत किया था, यह व्यवस्था की गई कि भूतपूर्व देशी नरेशों के जेबखर्च तथा विशेषाधिकार को समाप्त किया जाए और संविधान में इस सम्बन्ध में जो-जो भी धाराएँ हैं उन्हें हटा दिया जाये। पिछले अधिवेशन में इन विधेयकों पर विचार नहीं हो सका, जिसका कारण सम्भवतः यह था कि 24वां संशोधन विधेयक तभी पारित माना जाता जब राज्य की विधानसभाओं में से आधी से अधिक उसे स्वीकार कर लें। चूँकि यह स्थिति हो चुकी है, इसलिए नवम्बर के अधिवेशन में इस पर विचार किया जायेगा।

विदेश मन्त्री सरदार स्वर्ण सिंह ने 9 अगस्त को संसद में यह घोषणा की कि भारत और सोवियत संघ ने एक शान्ति-मैत्री और सहयोग की सन्धि पर हस्ताक्षर किये हैं। इस सन्धि की घोषणा का सदन ने तुमुल करतल ध्वनि से स्वागत किया।

पश्चिम बंगाल की संयुक्त सरकार में मतभेद होने के कारण पश्चिम बंगाल में पुनः राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। मणिपुर में भी राष्ट्रपति शासन लागू किया गया और संसद को इस बार गुजरात, मैसूर, पश्चिम बंगाल, मणिपुर आदि के राज्यों के बजट भी पारित करने पड़े। सदन में कुछ विशेष घोषणाएँ की गयीं। इनमें एक यह थी कि राष्ट्रपति और राज्यपालों के निजी झण्डे 15 अगस्त से समाप्त कर दिये जायेंगे और वहाँ पर तिरंगे झण्डे ही फहराए जायेंगे। राज्यसभा में सूचना तथा प्रसारण राज्यमन्त्री श्रीमती नन्दिनी सत्पथी तथा कम्पनी कार्य मन्त्री श्री के० वी० रघुनाथ रेड्डी ने यह घोषणा की कि समाचारपत्रों के स्वामित्व को विस्तार देने के लिए उनका पुनर्गठन किया जायेगा। लोकसभा और राज्य-सभा के उपाध्यक्षों के वेतन और भत्ते बढ़ाने के लिए एक विधेयक भी पारित किया गया। इस-के अनुसार उनके वेतन में 250 रु० मासिक की वृद्धि की गई तथा उनको आतिथ्य सत्कार के लिए 250 रु० माहवार का भत्ता देने का निर्णय हुआ।

संसद की 9 समितियों का पुनर्गठन किया गया। लोकसभा और राज्यसभा के 22 सदस्यों की लोकलेखा समिति के अध्यक्ष द्रमुक दल के श्री इरा सेजियर बनाये गये। लोकसभा की प्राक्कलन समिति के 30 सदस्य नियुक्त किये गये और इस समिति के अध्यक्ष सत्तारूढ़ कांग्रेस के श्री कमलनाथ तिवारी नियुक्त किये गये। लोकसभा की ही सार्वजनिक उपक्रम समिति में 10 सदस्य नियुक्त किये गये जिसके अध्यक्ष सत्तारूढ़ दल के श्री एम० वी० राणा नियुक्त किये गये। लोकसभा की कार्यवाही-समिति का पुनर्गठन कर उसमें 14 नये सदस्य नियुक्त किये गये। अध्यक्ष समिति की अध्यक्षता करते हैं। सत्तारूढ़ कांग्रेस के श्री आर० डी० भण्डारे की अध्यक्षता में 15 सदस्यों की एक विशेषाधिकार समिति नियुक्त की गई। एक अन्य समिति सदस्यों की अनुपस्थिति सम्बन्धी है, जिसके 15 सदस्य नियुक्त किये गये और अध्यक्ष बंगला कांग्रेस के श्री सतीशचन्द्र सामन्त बनाये गये। सरकारी आश्वासनों के कार्यान्वयन को देखने के लिए तेलंगाना प्रजा समिति दल के नेता डा० मेलकोटे के नेतृत्व में 15 सदस्यों की एक समिति नियुक्त की गई। इसी प्रकार 15 सदस्यों की एक नई याचिका समिति बनाई गई जिसके अध्यक्ष सत्तारूढ़ कांग्रेस के श्री अनन्तप्रसाद शर्मा नियुक्त किये गये। उपाध्यक्ष श्री जी० जी० स्वैल की अध्यक्षता में 15 सदस्यों की एक ऐसी समिति नियुक्त की गई जो निजी सदस्य-विधेयकों (प्राइवेट मेम्बर्स बिल्स) और प्रस्तावों में प्राथमिकता का निर्णय करती है। अध्यक्ष की अध्यक्षता में 14 सदस्यों की एक नियम-समिति नियुक्त की गई और श्री विक्रम महाजन की अध्यक्षता में 15 सदस्यों की एक ऐसी समिति नियुक्त की गई जो अधीनस्थ विधि-निर्माण

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

से सम्बन्धित है। संसद-सदस्यों के वेतन और भत्तों के सम्बन्ध में 15 सदस्यों की एक समिति नियुक्त की गई जिनमें 10 लोकसभा के और 5 राज्यसभा के सदस्य हैं।

संसद ने साधारण बीमा अध्यादेश को कानून का रूप दे दिया। 3 मई से लेकर 20 मई तक केन्द्रीय सरकार ने राष्ट्रपति द्वारा 5 अध्यादेश जारी किये थे। ये थे : पश्चिमी बंगाल सुरक्षा अध्यादेश, त्रिपुरा सम्बन्धी द्वितीय संशोधन अध्यादेश, आन्तरिक सुरक्षा अध्यादेश, साधारण बीमा अध्यादेश, बंगला वित्त बिक्री-कर अध्यादेश, स्वर्ण नियन्त्रण संशोधन अध्यादेश और दिल्ली सिख गुरुद्वारा प्रबन्धक अध्यादेश। इन सारे अध्यादेशों को अधिनियम के रूप में संसद के दोनों सदनों ने पारित कर दिया।

उच्चतम न्यायालय

उच्चतम न्यायालय ने अनेक प्रश्नों पर महत्त्वपूर्ण निर्णय दिये। सांविधानिक दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण निर्णय बिहार के भूतपूर्व डिप्टी इंस्पेक्टर ऑफ स्कूल, देवकी नन्दन प्रसाद, की याचिका पर दिया हुआ 4 मई का निर्णय था जिसमें उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि पेन्शन पाने का अधिकार मूल अधिकार के अन्तर्गत सम्पत्ति का अधिकार है और बिहार सरकार के डायरेक्टर द्वारा उनको नौकरी से अलग करना तथा पेन्शन जब्त करना अवैध है।

उच्चतम न्यायालय ने यह भी निर्णय दिया कि कोई विश्वविद्यालय क्षेत्रीय भाषा को ही, जो बहुसंख्यक समुदाय की भाषा हो, शिक्षा और परीक्षा का एकमात्र माध्यम नहीं बना सकता, यदि ऐसा करने से अल्पसंख्यकों को अपनी उचित लिपि, भाषा और संस्कृति को कायम रखने तथा अपनी इच्छा के अनुसार शिक्षा संस्था चलाने के मौलिक अधिकारों का हनन होता है। यह निर्णय पंजाबी विश्वविद्यालय के पिछली 15 जून के उस आदेश के विरुद्ध दिया गया जिसमें कहा गया था कि विश्वविद्यालय के प्रवेश-कोर्स का एकमात्र माध्यम और परीक्षा का माध्यम पंजाबी भाषा होगी। यह निर्णय संविधान की धारा 29 और 30 के अन्तर्गत डी० ए० वी० कालेज, भटिण्डा तथा कुछ अन्य लोगों की याचिकाओं पर दिया गया था। न्यायालय ने इसी निर्णय में जो 5 मई को दिया गया था, यह भी कहा कि आर्यसमाज पंजाब में एक धार्मिक अल्पमत है और उसे संविधान में 29वीं-30वीं धाराओं के अन्तर्गत अल्पमतों को सांस्कृतिक व शिक्षा सम्बन्धी कार्यों के लिए जो मौलिक अधिकार दिये गये हैं, उनका उपयोग करने का हक है।

दिल्ली के एक पत्रकार श्री पी० सी० लखनपाल ने दिल्ली उच्च न्यायालय में एक याचिका द्वारा संसद के इस अधिकार को चुनौती दी कि 28 जुलाई के लोकसभा के कार्यक्रम में 24वें और 25वें संविधान संशोधन विधेयक सम्मिलित करने का अध्यक्ष को कोई अधिकार नहीं था। लेकिन दिल्ली उच्च न्यायालय ने अपने 12 अगस्त के निर्णय में इस याचिका को अस्वीकार कर दिया और कहा कि संसद के सदनों को अपनी कार्यवाही में क्या रखना है और क्या नहीं रखना है, इसके बारे में उन्हें पूर्ण सत्ता प्राप्त है और संसद की कार्यवाही के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती।

उच्चतम न्यायालय में इस काल में कुछ नई नियुक्तियाँ हुईं। कलकत्ता के प्रसिद्ध वकील श्री एम० सी० राय और गुजरात हाईकोर्ट के न्यायाधीश न्यायमूर्ति श्री पालेकर ने उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के पद की शपथ ली। इसी न्यायालय के न्यायमूर्ति श्री विश्वमित्र

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भार्गव ने अवकाश ग्रहण किया और दिल्ली उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री एच० आर० खन्ना तथा केरल उच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री मैथ्यू उच्चतम न्यायालय के नए न्यायाधीश नियुक्त किये गये।

राज्य

असम

असम विधानसभा का बजट 22 मार्च को वित्तमन्त्री श्री कामाख्याप्रसाद त्रिपाठी ने प्रस्तुत किया था। इसमें 43·81 करोड़ रु० का घाटा दिखाया गया था। इसे विधानसभा ने पारित कर दिया और बैठक के बाद 10 जून को मन्त्रिपरिषद् का विस्तार कर दिया गया। विधानसभा के उपाध्यक्ष श्री जोगेन्द्र सेकिया ने उपाध्यक्ष-पद से त्यागपत्र दे दिया और 10 जून को मन्त्रिपरिषद् का जो विस्तार हुआ उसमें वे मन्त्रिमण्डल के सदस्य बनाये गये। विधिमन्त्री श्री अब्दुल मातिब मजूमदार ने भी अपने पद से त्यागपत्र दे दिया, क्योंकि विशेषाधिकार समिति ने उनके विरुद्ध कुछ शिकायतें की थीं।

आंध्र प्रदेश

आंध्र प्रदेश में इस काल की मुख्य घटना मुख्यमन्त्री श्री के० ब्रह्मानन्द रेड्डी का त्यागपत्र और उनके स्थान पर उनके मन्त्रिमण्डल के ही शिक्षा मन्त्री श्री नरसिंहराव का मुख्य-मन्त्री के पद पर चुना जाना था। श्री नरसिंह राव तेलंगाना के हैं और बहुभाषा-भाषी हैं तथा हिन्दी, तेलुगु, मराठी और उर्दू के विद्वान् के रूप में प्रसिद्ध हैं। उन्होंने आंध्र प्रदेश में परीक्षण के तौर पर कुछ परीक्षाएँ समाप्त करवा दी हैं और राज्य सरकार ने इस सम्बन्ध में जाँच के लिए जो समिति नियुक्त की थी उसके वे अध्यक्ष थे।

आंध्र प्रदेश विधानमण्डल का वर्षाकालीन अधिवेशन 17 जुलाई से प्रारम्भ हुआ, जिसमें राज्यपाल श्री खण्डू भाई देसाई ने दोनों सदनों में अपना अभिभाषण दिया। जब वे अपना अभिभाषण पढ़ रहे थे तब तेलंगाना प्रजासमिति के सदस्यों ने 'जय तेलंगाना' का नारा लगाया और संसोपा के एक सदस्य श्री बद्री विशाल पत्ती ने आपत्ति की कि राज्यपाल अपना भाषण अंग्रेजी में पढ़ रहे हैं और बाद में वे सभात्याग करके भी चले गये। 30 जुलाई को राज्य के वित्तमन्त्री श्री के० विजयभास्कर रेड्डी ने बजट पेश किया जिसमें 319·95 करोड़ रु० की राजस्व आय और 305·87 करोड़ रु० का खर्च दिखाया गया था। लेकिन कुल मिलाकर 9 करोड़ रु० के घाटे का बजट था। तथापि, कोई नए कर नहीं लगाये गये। इस अधिवेशन से पूर्व मुख्यमन्त्री श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी ने मन्त्रिपरिषद् के विभागों में भी परि-वर्तन किया था।

आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश न्यायमूर्ति श्री के० वी० एल० नरसिंहन् 5 जून को न्यायमूर्ति कुमारैया के स्थान पर प्रधान न्यायाधीश नियुक्त हुए।

उड़ीसा

उड़ीसा सरकार का 3 अप्रैल को श्री विश्वनाथ दास के मुख्यमन्त्रित्व में निर्माण हुआ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

इस सरकार में स्वतन्त्र दल, उत्कल कांग्रेस और झारखण्ड पार्टी सम्मिलित थीं। 3 अप्रैल से पहले उड़ीसा में राष्ट्रपति शासन था। विधानसभा ने 12 जुलाई को श्री विश्वनाथ दास की सरकार में अपना विश्वास प्रकट किया, जबकि बजट पर हुई चर्चा में एक माँग पर कटौती का प्रस्ताव 50 के विरुद्ध 65 मत आने से गिर गया।

उत्तर प्रदेश

उत्तर प्रदेश की संयुक्त विधायक सरकार ने 30 मार्च को त्यागपत्र दे दिया था और इसलिए 4 अप्रैल को श्री कमलापति त्रिपाठी मुख्य मन्त्री बनाये गये और उन्होंने सात सदस्यों के मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया।

12 जुलाई को वित्त मन्त्री श्री नारायणदत्त तिवारी ने 48·30 करोड़ के घाटे का एक बजट पेश किया, पर कोई नये कर नहीं लगाये। 3 जुलाई को उत्तर प्रदेश के राज्यपाल ने एक अध्यादेश द्वारा उत्तर प्रदेश की 12 चीनी मिलों को सरकार के प्रबन्ध में ले लिया था। लेकिन इस आदेश को इलाहाबाद उच्च न्यायालय में एक याचिका द्वारा चुनौती दी गई और न्यायालय ने अध्यादेश का परिपालन रोक दिया। याचिका में कहा गया था कि यह अध्यादेश संविधान की धारा 31 और 40 के विरुद्ध है तथा राज्य के क्षेत्राधिकार से बाहर है।

उत्तर प्रदेश विधानसभा में 27 जुलाई को संगठन कांग्रेस के सदस्य श्री कृष्णानन्दराय द्वारा यह शिकायत करने पर, कि उपाध्यक्ष ने उन्हें सवाल करने से रोका है, काफी तनाव हो गया और सदन की कार्रवाई कुछ देर के लिए स्थगित करनी पड़ी। बाद में मुख्य-मन्त्री के अनुरोध पर श्री कृष्णानन्द राय ने अपना आरोप वापिस ले लिया। 5 अगस्त को उत्तर प्रदेश मन्त्रिपरिषद् में कुछ मामूली परिवर्तन किये गये।

केरल

केरल की संयुक्त मोर्चा सरकार के विरुद्ध 5 अप्रैल को विधानसभा में एक अविश्वास प्रस्ताव रखा गया, जो 7 अप्रैल को 48 के विरुद्ध 69 मत आने के कारण गिर गया। केरल कांग्रेस के 13 सदस्यों ने मतदान में भाग नहीं लिया। इस अविश्वास प्रस्ताव में विरोधी दलों ने रमणकुट्टी रिपोर्ट के आरोपों को दोहराया था। जिसमें कृषि विश्वविद्यालय के लिए जिस ढंग से जमीन प्राप्त की गई, उसकी आलोचना की गई थी। गृह सचिव ने त्रावणकोर-कोचीन कैमिकल्स कम्पनी में की गई नियुक्तियों पर जो रिपोर्ट दी थी उसके बारे में मुख्यमन्त्री श्री अच्युत मेनन ने कहा कि उनकी सरकार ने उस रिपोर्ट को स्वीकार कर दिया है। विधानसभा की बैठक समाप्त होने के पश्चात् 10 मई को केरल के राज्यपाल श्री० वी० विश्वनाथन् ने एक अध्यादेश जारी कर सब निजी जंगलों को राज्य सरकार के प्रबन्ध के अन्तर्गत ले लिया। केरल विधानसभा की बैठक पुनः 16 जुलाई को हुई और उसने एक के बहुमत से मार्क्सवादी सदस्य का इस आशय का एक गैर-सरकारी प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि केन्द्रीय सरकार आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम, सन् 1971 को वापिस ले ले। संयुक्त समाजवादी दल तथा प्रजा-समाजवादी दल के सम्मिलन के परिणामस्वरूप केरल में प्रजासमाजवादी दल की एक शाखा ने सरकार का समर्थन करने का निर्णय किया, परन्तु बाद में उनमें मतभेद हो गये जिसके परिणाम-स्वरूप केरल सरकार में कुछ अस्थिरता-सी दिखायी देने लगी। इस सबके कारण सत्तारूढ़

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कांग्रेस ने यह निर्णय कर लिया कि केरल की सरकार में वह भी सम्मिलित होगी। बहुत दिनों तक यह झगड़ा चलता रहा कि मन्त्रिमण्डल में कुल सदस्य कितने हों और उनमें कांग्रेस की कुल संख्या कितनी हो। बाद में केरल सरकार ने कम्युनिस्ट सदस्यों की संख्या में एक की कमी करने का निर्णय कर लिया और 13 सदस्यों के मन्त्रिमण्डल में सत्तारूढ़ कांग्रेस के 5 मन्त्री हों, इस सिद्धान्त पर समझौता हो गया।

गुजरात

गुजरात के मुख्यमन्त्री श्री हितेन्द्र देसाई ने 31 मार्च को अपनी मन्त्रिपरिषद् का त्याग-पत्र राज्यपाल को भेज दिया था, लेकिन कोई दूसरा दल मन्त्रिमण्डल न बना सका और श्री हितेन्द्र देसाई ने 7 अप्रैल को पुनः अपना नया मन्त्रिमण्डल बनाया। लेकिन यह मन्त्रिमण्डल भी बहुत दिन न चल सका और 13 मई को राष्ट्रपति श्री गिरि ने विधानसभा भंग कर दी तथा राज्य-शासन अपने हाथों में संभाल लिया। मन्त्रिमण्डल ने 14 मई को जो विभिन्न आठ समितियाँ नियुक्त की थीं, वे भी भंग कर दीं।

गोआ

गोआ विधानसभा में 7 अप्रैल को श्री एस० के० देसाई, मंजूगांवकर के स्थान पर उपाध्यक्ष नियुक्त किये गये। श्री गांवकर ने इसलिए त्यागपत्र दे दिया था कि उनके विरुद्ध सत्तारूढ़ महाराष्ट्रवादी गोमन्तक दल के कुछ सदस्यों ने आरोप लगाये थे और मुख्यमन्त्री श्री बन्दोडकर ने भी कुछ अपील की थी। श्री एस० के० देसाई को मतदान के अवसर पर 31 सदस्यों के सदन में 14 की अपेक्षा 16 मत प्राप्त हुए और एक मत अवैध घोषित कर दिया गया। थोड़े दिन बाद ही 16 अप्रैल को मुख्यमन्त्री श्री दामोदर बन्दोडकर के विरुद्ध युनाइटेड गोआन दल के सदस्य श्री आर० एस० फर्नांडीज ने जूता दिखाया, क्योंकि बन्दोडकर ने यह आरोप लगाया था कि इन्होंने दल-बदल करने के लिए 50 हजार रुपये लिये हैं। इस कारण विधानसभा की कार्यवाही को कुछ देर के लिए स्थगित करना पड़ा।

जम्मू-कश्मीर

जम्मू-कश्मीर में 20 मई को मुख्यमन्त्री श्री गुलाम मुहम्मद सादिक ने अपने साथियों में विभागों का पुनः वितरण किया। इसके परिणामस्वरूप बिना विभाग के मन्त्री श्री त्रिलोचन दत्त कृषि, सिंचाई और बाढ़ नियन्त्रण के मन्त्री बना दिये गये।

जम्मू-कश्मीर उच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री सैयद मुर्तजा फजलअली ने, जो गैर-कानूनी कार्यवाही निरोधक अधिकरण के अध्यक्ष नियुक्त हुए थे, कश्मीर सरकार के आदेश को वैध घोषित कर दिया जो शेख अब्दुल्ला, मिर्जा अफजल बेग और श्री जी० एम० शाह के विरुद्ध था। जनमत-संग्रह मोर्चा भारत में कश्मीर के विलय को अन्तिम नहीं मानता और भारत से जनमत-संग्रह की माँग करता है, इसका अर्थ यह होता है कि कश्मीर भारत का अभिन्न अंग नहीं है और यह निर्णय दिया कि कश्मीर सरकार का 15 जून का निर्णय वैध है। इस निर्णय के पश्चात् 5 जुलाई को जम्मू-कश्मीर सरकार ने उक्त तीनों व्यक्तियों पर एक नया आदेश लागू कर दिया जिसके अनुसार उन्हें कश्मीर से बाहर रहना था।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

तमिलनाडु

तमिलनाडु में 26 मई को नये राज्यपाल श्री के० के० शाह ने शपथ ग्रहण की। राज्य सरकार द्वारा नियुक्त केन्द्र तथा राज्य सम्बन्धों पर राजमन्नार समिति ने 27 मई को अपनी रिपोर्ट दी। इस समिति ने बहुत से सुझाव दिये जिनमें कुछ ये थे कि अन्तर्राज्य परिषद् बनाई जाए और संविधान के अनुच्छेद 256, 257 और 339, जिनके अनुसार केन्द्र राज्य सरकारों को आदेश दे सकता है, समाप्त कर दिए जाएँ। अन्तर्राज्य परिषद् में सभी राज्यों के मुख्यमन्त्री या उनके प्रतिनिधि हों और प्रधानमन्त्री उसकी अध्यक्षता करें। कोई भी विधेयक जो राष्ट्रीय महत्त्व का हो और जिसका एक या एक से अधिक राज्यों पर प्रभाव पड़ता हो, उस परिषद् के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत किया जाए और उन विचारों को संसद के समक्ष रखा जाय तथा साधारणतया वे केन्द्र और राज्यों के ऊपर लागू हों। यह भी सुझाव था कि राज्यपालों की नियुक्ति से पहले राज्य मन्त्रिमण्डलों से सलाह ले ली जाय और राज्यपालों के लिए आदेश पत्र हों जिनके अनुसार वे काम करें।

राज्य का पिछले बजट 19 जून को मुख्यमन्त्री श्री एम० करुणानिधि ने प्रस्तुत किया जिसमें 12 करोड़ रु० की अतिरिक्त आय की व्यवस्था थी। इससे कुल घाटा 47 करोड़ का रह गया। 16 जुलाई को बजट की एक माँग पर बोलते हुए राज्य के शिक्षामन्त्री ने घोषणा की कि समस्त विधायकों को प्रतिमास 100 रुपये का एक भत्ता मिला करेगा। तमिलनाडु सरकार ने 4 अगस्त को संविधान की धारा 139 के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय में एक अपील दाखिल की जिसके अनुसार यह आदेश माँगा गया था कि केन्द्रीय सरकार कावेरी जल विवाद को एक अधिकरण के सुपुर्द न करे। उच्चतम न्यायालय ने राज्य को मैसूर सरकार के विरुद्ध कार्यवाही रोकने का आदेश तो नहीं दिया, लेकिन भारत सरकार और मैसूर सरकार को नोटिस दिया कि वे तीन सप्ताह के अन्दर बतायें कि इस प्रकार का आदेश पत्र क्यों न दिया जाये।

नागालैण्ड

नागालैण्ड की विधानसभा में घाटे का जो बजट 22 मार्च को वित्त मन्त्री श्री जमीर ने प्रस्तुत किया था वह पारित कर दिया गया। इस बजट में 4·33 करोड़ रुपये का घाटा दिखाया गया था।

पंजाब

13 जून को जब पंजाब सरकार के मुख्यमन्त्री श्री प्रकाश सिंह बादल ने त्यागपत्र दे दिया और राज्यपाल डा० डी० सी० पावटे ने पंजाब विधानसभा भंग कर दी, तो 15 जून से राष्ट्रपति ने राष्ट्रपति-शासन लागू कर दिया। श्री प्रकाश सिंह बादल के जब 17 समर्थक अकाली सदस्यों ने श्री गुरनामसिंह के नेतृत्व में एक दूसरा दल बना लिया और इससे पूर्व 12 जनवरी को जब श्री त्रिलोचन सिंह रियासती ने मन्त्रिमण्डल से इस्तीफा दे दिया तो यह स्थिति आई। परन्तु यह नाटक बड़े मनोरंजक ढंग से समाप्त हुआ। जैसे ही सरदार गुरनाम सिंह ने अकाली दल से अलग होकर अपना पृथक् अकाली दल बनाया तो उन्हें यह आशा हो गई कि वे कांग्रेस दल के समर्थन से सरकार बना सकेंगे और वे अपने समर्थकों का जुलूस लेकर राज्यपाल से मिलने राजभवन गये, परन्तु वे राज्यपाल से मिलने नहीं पाये और बाहर इन्तजार ही करते

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

रहे, जबकि प्रकाशसिंह बादल ने अपना त्यागपत्र राज्यपाल को दे दिया और राज्यपाल से यह सिफारिश की कि वे विधानसभा को भंग कर नये चुनाव करायें। इसलिए जब विधानसभा के भंग करने के आदेश की घोषणा हुई तो सरदार गुरनामसिंह और कांग्रेस दल के सदस्यों ने राज्यपाल की कड़ी आलोचना की कि राज्यपाल ने दूसरे दल को सरकार बनाने का मौका नहीं दिया और जब तक उन्हें यह विश्वास न हो जाता कि दूसरा कोई दल स्थायी सरकार नहीं बना सकता, तब तक विधानसभा भंग नहीं करनी चाहिए थी। लेकिन जब एक बार विधानसभा भंग कर दी गई तो राष्ट्रपति के पास राष्ट्रपति-शासन लागू करने के अलावा कोई दूसरा चारा नहीं रहा। सन् 1967 के बाद पंजाब में सरकार का यह चौथा पतन था। इसके पश्चात् साम्यवादी नेता श्री सत्यपाल डंग तथा श्री त्रिलोचनसिंह रियासती ने प्रकाशसिंह बादल मन्त्रि-मण्डल के सदस्यों के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोप लगाये और यह माँग की कि इनकी अदालती जाँच हो। राज्यपाल ने प्रारम्भिक जाँच करवा कर यह निर्णय दे दिया कि जाँच आयोग की नियुक्ति की जायेगी।

पश्चिमी बंगाल

2 अप्रैल को पश्चिमी बंगाल विधानसभा के गैर-मार्क्सवादी दलों का एक मन्त्रिमण्डल श्री अजयकुमार मुखर्जी के नेतृत्व में बना। इसमें सत्तारूढ़ कांग्रेस, मुस्लिम लीग, बंगला कांग्रेस, संसोपा के कुछ सदस्य तथा गोरखा लीग सम्मिलित थे। 3 मई को अपूर्व मजूमदार विधानसभा के अध्यक्ष और श्री पीयूष कांत मुखर्जी उपाध्यक्ष चुने गये। मतदानों के अवसर पर सरकार के पक्ष में 140 और विपक्ष में 132 मत आये। 5 मई को राज्यपाल श्री एस० एस० धवन ने दोनों सदनों के समक्ष भाषण दिया, लेकिन विरोधी दल के नेता श्री ज्योति बसु तथा अन्य विरोधी सदस्य सभा-त्याग कर गये।

विधानसभा के लिए जिन तीन स्थानों पर उपचुनाव हुए, उनमें से मार्क्सवादी साम्य-वादी दल को तीन में से 2 स्थान मिले। पश्चिमी बंगाल में जो स्थिति बनती जा रही थी उसको देखते हुए 25 जून को राज्यपाल श्री धवन ने विधानसभा भंग कर दी। विधानसभा भंग करने का सुझाव मुख्यमन्त्री श्री अजयकुमार मुखर्जी ने दिया था। बाद में श्री मुखर्जी ने 28 जून को अपने मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों का त्यागपत्र दे दिया और 30 जून को पश्चिमी बंगाल में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। पश्चिमी बंगाल में नई दिशा देने के लिए दो और निर्णय किये गये। पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल श्री एस० एस० धवन लम्बी छुट्टी पर चले गये और 21 अगस्त को श्री एन्थनी लेंसलोट डियाज ने पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल का पद सम्भाल लिया। इसके साथ ही साथ मन्त्रिमण्डल ने यह निर्णय भी किया कि केन्द्र का एक मन्त्री पश्चिमी बंगाल की समस्याओं को निपटाने के लिए विशेष रूप से नियुक्त किया जायेगा और शिक्षामन्त्री श्री सिद्धार्थ शंकर रे इस कार्य के लिए नियुक्त किये गये। श्री रे ने कलकत्ते में अपना एक कार्यालय भी खोल लिया।

कलकत्ता उच्च न्यायालय ने पश्चिमी बंगाल हिंसात्मक गतिविधि प्रतिरोधक अधिनियम को संविधान के प्रतिकूल घोषित कर 13 सितम्बर को 51 नजरबन्दियों की रिहाई का आदेश दे दिया। लेकिन उच्चतम न्यायालय ने इस निर्णय के विरुद्ध सरकार की अपील को विचारार्थ स्वीकार कर लिया।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

बिहार

बिहार के संयुक्त विधायक दल मन्त्रिमण्डल का 5 अप्रैल को विस्तार किया गया और 6 नये मन्त्री और नियुक्त किये गये और इसके बाद 10 अप्रैल को पुनः 5 नये मन्त्री नियुक्त किये गये और इस प्रकार मन्त्रिपरिषद् की संख्या 52 हो गयी जिसमें 25 मन्त्रिमण्डल के सदस्य थे। लेकिन फिर भी आन्तरिक झगड़ों के कारण तथा विधायक दल के कुछ दलों की सदस्य-संख्या कम होने के कारण यह मन्त्रिमण्डल बहुत दिन न चल सका और मुख्यमन्त्री श्री कर्पूरी ठाकुर को त्यागपत्र देना पड़ा तथा 2 जून को श्री भोला पासवान शास्त्री एक नई संयुक्त सरकार के मुख्यमन्त्री बने जिसमें प्रमुख सदस्य सत्तारूढ़ कांग्रेस दल के थे। सन् 1967 के चुनावों के बाद बिहार का यह नवाँ मन्त्रिमण्डल था। पहले दिन केवल तीन मन्त्रियों ने शपथ ली और 9 जून को 8 और मन्त्री नियुक्त किये गये। चूँकि विधानसभा 1 जून को समवेत होने वाली थी, लेकिन उसी दिन श्री कर्पूरी ठाकुर ने अपने दल की शक्ति क्षीण होते देखकर त्यागपत्र दे दिया था, इसलिए विधानसभा की बैठक स्थगित कर दी गई और आवश्यक कार्य अध्यादेशों द्वारा चलाये गये। बिहार मन्त्रिमण्डल ने अध्यादेशों द्वारा जोत-सीमा को कम करने और नागरिक सम्पत्ति पर सीमा लगाने का निर्णय किया।

मणिपुर

मणिपुर में राष्ट्रपति शासन 16 अप्रैल से फिर 6 महीने के लिए बढ़ा दिया गया। पहले 16 अक्तूबर को मणिपुर विधानसभा भंग की गई थी और राष्ट्रपति शासन लागू किया गया था।

मध्य प्रदेश

मध्य प्रदेश विधानसभा में जनसंघ के एक सदस्य ने विधानसभा के अध्यक्ष श्री के० पी० पाण्डे के विरुद्ध एक प्रस्ताव उपस्थित कर माँग की कि उन्हें अपने पद से हटा दिया जाय। मुख्यमन्त्री श्री श्यामाचरण शुक्ल ने जनसंघ के नेता श्री वी० एस० प्रधान के इस प्रस्ताव का विरोध किया और प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया। मुख्यमन्त्री श्री श्यामाचरण शुक्ल ने 18 अप्रैल को एक भूतपूर्व राज्यमन्त्री श्री सज्जनसिंह विश्नार को कांग्रेस दल की सदस्यता से मुअत्तिल कर दिया। उन पर आरोप लगाया गया था कि उन्होंने दल के सम्बन्ध में सार्वजनिक वक्तव्य दिये हैं और उनसे पूछा गया कि उनके विरुद्ध क्यों न अनुशासन की कार्यवाही की जाय। 15 मई को मुख्यमन्त्री ने चार मन्त्रियों के विभाग बदल दिये। श्री गंगाराम तिवारी से श्रम विभाग लेकर श्री के० एन० प्रधान को दे दिया गया। श्री देवीसिंह से जेल विभाग लेकर महन्त विशाऊदास को दे दिया गया।

महाराष्ट्र

महाराष्ट्र विधानसभा ने 24 मार्च को उपस्थित बजट पारित कर दिया। इस बजट में कोई नये कर नहीं लगाये गये थे और 35·18 करोड़ का घाटा दिखाया गया था। राज्य की आय वित्तमन्त्री श्री वानखेड़े के अनुसार 2·3 प्रतिशत बढ़ गई थी। राज्य की प्रति व्यक्ति आय 692 रुपये से बढ़कर 731 रुपये प्रतिवर्ष हो गई।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विदर्भ नेता श्री जामवन्त धोते ने लोकसभा के चुनाव में पराजित होने के कारण विधानसभा की सदस्यता से भी त्यागपत्र दे दिया, परन्तु बाद में वे नागपुर मतदाता क्षेत्र से होने वाले उपचुनाव में सत्तारूढ़ कांग्रेस के उम्मीदवार श्री ऋषभचन्द्र शर्मा को हरा कर लोकसभा के सदस्य चुने गये।

मेघालय

बंगलादेश से शरणार्थियों की समस्या को निपटाने के लिए 3 मई को श्री डार्विन डिंगबोह पुग मेघालय मन्त्रिमण्डल में पुनर्वास राज्यमन्त्री बनाये गये।

मेघालय विधानसभा में 15 जून को सन् 1971–72 का बजट पेश किया गया। वित्तमन्त्री श्री लिंगरोह ने बजट पेश करते हुए बताया कि 2·86 करोड़ रुपये का घाटा हुआ है। लेकिन किसी नये कर का सुझाव नहीं दिया गया।

मैसूर

मैसूर में राष्ट्रपति शासन को 27 मई से 6 महीने के लिए और आगे बढ़ा दिया गया। 27 मार्च को मैसूर में पहली बार राष्ट्रपति शासन लागू हुआ था।

राजस्थान

राजस्थान विधानसभा में 27 मार्च को वित्त-मन्त्री श्री मथुरादास माथुर ने 25·51 करोड़ रुपये का घाटे का जो बजट उपस्थित किया था वह स्वीकार कर लिया गया। 29 अप्रैल को राजस्थान विधानसभा में विरोधी दलों के सदस्यों तथा सत्तारूढ़ दल के कुछ सदस्यों ने यह माँग की कि बंगला देश की अस्थायी सरकार को तुरन्त मान्यता दी जाये। विधानसभा में सिंचाई तथा बिजली-मन्त्री श्री रामप्रसाद लड्ढ़ा के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोप लगाये गये और उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। उनका त्यागपत्र तो स्वीकृत नहीं हुआ, लेकिन राजस्थान के मुख्यमन्त्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया ने, जो 17 साल से राजस्थान के मुख्यमन्त्री थे, 8 जुलाई को अपना त्यागपत्र दे दिया। उस समय विधानसभा में उनका पूर्ण बहुमत था। 9 जुलाई को उनके स्थान पर श्री बरकतुल्ला खाँ मुख्यमन्त्री बनाये गये। भारत के किसी भी राज्य में वे ऐसे मुख्यमन्त्री हैं जो अपने राज्य में अल्पमत सम्प्रदाय के हों। उन्होंने श्री सुखाड़िया की सरकार के अनेक मन्त्रियों को अपने मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित नहीं किया, विशेष तौर पर उनको जिनके बारे में भ्रष्टाचार के आरोप थे। राजस्थान के विधानसभा उपाध्यक्ष श्री पूनमचन्द विश्नोई मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित किये गये और 19 जुलाई को उन्होंने विधानसभा के उपाध्यक्ष-पद से इस्तीफा दे दिया।

हरियाणा

पहली अप्रैल को विशाल हरियाणा दल के सदस्य श्री श्यामचन्द ने सत्तारूढ़ कांग्रेस में सम्मिलित होने का निर्णय किया और 30 अप्रैल को जनसंघ के श्री रणधीर सिंह ने भी अपने दल से त्यागपत्र दे दिया। 25 मई को मुख्यमन्त्री श्री बंसीलाल ने मन्त्रियों के विभाग

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

बदल दिये और 21 जुलाई को एक उप-मन्त्री श्री रामप्रकाश ने जो लोकसभा के सदस्य चुन लिए गये थे, मन्त्रि-परिषद् की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। इस प्रकार वे 5 महीने तक लोकसभा के सदस्य और राज्य के उपमन्त्री बने रहे।

हिमाचल प्रदेश

हिमाचल प्रदेश विधानसभा ने 6 अप्रैल को राज्यपाल के प्रति धन्यवाद का प्रस्ताव पारित कर दिया। 18 अप्रैल को हिमाचल प्रदेश की सरकार ने मन्त्रियों और विधायकों का वेतन उतना ही करने का निर्णय किया जितना पंजाब में था। 2 मई को राष्ट्रपति गिरि ने श्री डी० बी० लाल को स्थानापन्न मुख्य न्यायाधीश घोषित किया। इससे पूर्व श्री ध्रुव राम और श्री चेतराम उच्च न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त किये जा चुके थे।

विदेश

अफगानिस्तान

अफगानिस्तान के नये प्रधानमन्त्री डा० अब्दुल जहीर की मन्त्रि-परिषद् को 26 जुलाई को अफगान लोकसभा ने 13 के विरुद्ध 180 मतों से स्वीकृति प्रदान की। यह मतदान नीति-विषयक चर्चा पर हुआ जो 19 दिन चली। इस चर्चा में कुछ सदस्यों ने बंगला देश के सम्बन्ध में अफगान सरकार की नीति की आलोचना करते हुए कहा कि अफगान सरकार ने पूर्वी बंगाल में पश्चिमी पाकिस्तान के अत्याचारों की निन्दा क्यों नहीं की ?

अमरीका

राष्ट्रपति निक्सन ने 16 अगस्त को देश में आपत्काल की घोषणा की और यह निर्णय किया कि तीन महीनों में न तो मूल्यों में वृद्धि की जायेगी और न वेतनों में। उन्होंने यह भी घोषणा की कि बाहर से आने वाले माल पर 10 प्रतिशत का सरचार्ज लगाया जायेगा। यह उन्होंने डालर की रक्षा के लिए किया। परन्तु इसका विश्व मुद्रा-नीति और मुद्रा-स्थिति पर बहुत प्रभाव पड़ा जिसके परिणामस्वरूप यूरोप के अनेक देशों और जापान की मुद्राओं के डालर के साथ जो मूल्य निश्चित थे वे समाप्त कर दिये गये।

जापान

जापान के रक्षा-मन्त्री श्री केकीची मशुहरा ने 1 अगस्त को इसलिए त्यागपत्र दे दिया कि जापानी वायुसेना के एक विमान की एक यात्री-विमान से भिड़न्त हो गयी जिसमें यात्री-विमान में सफर करने वाले 162 व्यक्ति मारे गये। श्री मशुहरा 5 जुलाई को ही मन्त्रि-परिषद् के सदस्य हुए थे जबकि मन्त्रिमण्डल का पुनर्गठन हुआ। वे पहले उस स्थान पर गये जहाँ दुर्घटना हुई थी और उसके बाद उन्होंने प्रधानमन्त्री श्री सातो को अपना त्यागपत्र दे दिया।

नेपाल

नेपाल के मन्त्रिमण्डल में पिछले 6 महीनों में काफी परिवर्तन हुए। नेपाल नरेश ने

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

14 अप्रैल को नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया था जिसमें श्री कीर्तिनिधि विष्ट प्रधानमन्त्री बनाये गये। मन्त्रिमण्डल में सात सदस्य थे। इसके बाद पहली अगस्त को 2 अन्य मन्त्री सम्मिलित किये गये। 26 अगस्त को ही श्री कीर्तिनिधि विष्ट ने अपने मन्त्रिमण्डल का त्यागपत्र दे दिया। लेकिन 29 अगस्त को नेपाल नरेश ने उन्हें पुनः प्रधानमन्त्री नियुक्त किया और एक नई सरकार बनाई।

पाकिस्तान

पाकिस्तान सरकार ने 7 अगस्त को घोषित किया कि बंगला देश के 79 सदस्य जो अवामी लोग के टिकिट पर चुने गये थे, राष्ट्रीय असेम्बली के सदस्य नहीं रहेंगे और उनके स्थान पर नये सदस्य चुने जायेंगे। 11 अगस्त को शेख मुजीबुर्रहमान के विरुद्ध पश्चिमी पाकिस्तान में गुप्त मुकदमा प्रारम्भ हुआ।

बंगला देश

17 अप्रैल को बंगला देश के मन्त्रिमण्डल ने मुजीब नगर में बंगला देश को एक स्वाधीन और प्रभुतासम्पन्न गणराज्य घोषित किया। यह घोषणा गणराज्य के स्थानापन्न राष्ट्रपति श्री सैयद नजरुल इस्लाम ने बंगला देश के झण्डे फहराने के साथ की। 18 अप्रैल को एक अन्तरिम संविधान तैयार किया गया जिसके अनुसार जनता की केन्द्रीय, क्षेत्रीय, परगना और ब्लाक-स्तर पर सलाहकार समितियाँ बनाई जायेंगी। बंगला देश की सरकार को यह अधिकार दिया गया कि जब तक संविधान-सभा संविधान नहीं बना लेती उसके निर्णय अन्तिम माने जायेंगे।

बर्मा

बर्मा के राष्ट्राध्यक्ष जनरल नेविन ने घोषणा की कि बर्मा का एक नया संविधान बनाया जायेगा। 15 जुलाई को जनरल नेविन प्रधानमन्त्री बने।

मिस्र

मिस्र के नये राष्ट्रपति श्री अनवर सादत ने मिस्र की संसद को भंग कर दिया और 27 अक्तूबर, 71 को नये चुनाव करने की घोषणा की। साथ ही साथ मिस्र, लीबिया और सीरिया का एक महासंघ बनाने का निर्णय भी किया गया। इस सम्बन्ध में सरकारी प्रस्ताव पर जनमत लिया गया और मिस्र में 99·95 प्रतिशत, सीरिया में 96·4 प्रतिशत और लीबिया में 98·4 प्रतिशत मतदाताओं ने तीनों राज्यों के महासंघ बनाने का निर्णय दिया, जिसके परिणामस्वरूप तीनों राज्यों का महासंघ बन गया और श्री अनवर सादत उसके अध्यक्ष निर्वाचित हुए। तीनों देश आन्तरिक मामलों में अपना निर्णय करने में स्वाधीन होंगे, लेकिन प्रतिरक्षा तथा वैदेशिक मामलों में एक-सी नीति पर चलेंगे। इस महासंघ में सूडान के भी सम्मिलित होने की व्यवस्था है। लेकिन 19 जुलाई को सूडान में एक सैनिक क्रान्ति हो गई जिसमें राष्ट्रपति निमेरी को पदच्युत कर दिया गया। लेकिन तीन दिन पश्चात् 22 जुलाई को

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

वे पुनः अपने आसन पर पहुँच गये। परिणामस्वरूप सूडान का सम्मिलित होना स्थगित हो गया।

यर्दन

यर्दन में भी अन्य अरब राज्यों की भाँति 7 सितम्बर को एक दल की सरकार बनाई गई। यर्दन-नरेश ने साम्यवादी दल पर प्रतिबन्ध लगा दिया और यर्दन नेशनल लीग को ही राज्य में एकमात्र राजनीतिक दल घोषित किया।

यूगोस्लाविया

राष्ट्रपति मार्शल टीटो 29 जुलाई को यूगोस्लाविया के पाँच वर्ष के लिए पुनः राष्ट्रपति चुन लिए गये। इसके अतिरिक्त यूगोस्लाव संसद ने 22 सदस्यों का एक अध्यक्ष-मण्डल नियुक्त किया जिसमें प्रत्येक यूगोस्लाव राज्य से तथा दो स्वायत्तशासी सूबों से प्रतिनिधि चुने गये। नये संविधान के अनुसार मार्शल टीटो जीवनपर्यन्त इस अध्यक्षमण्डल के अध्यक्ष रहेंगे और उनकी मृत्यु के पश्चात् अध्यक्षमण्डल के अध्यक्ष बारी-बारी से बदलते जायेंगे।

श्रीलंका

श्रीलंका की संविधान-सभा ने 20 जुलाई को एक प्रस्ताव पारित कर वर्तमान संविधान-सभा को संविधान स्वीकृत हो जाने के बाद 6 वर्ष के लिए संसद का रूप देने का निर्णय किया।

श्रीलंका के न्याय-मन्त्रालय ने यह निर्णय किया है कि अब श्रीलंका की अपीलें ब्रिटेन की प्रीवि कौन्सिल को नहीं जाया करेंगी और श्रीलंका में ही एक सर्वोच्च न्यायालय होगा जिसमें मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त 6 अन्य न्यायाधीश होंगे। इनका कार्यकाल पाँच वर्ष का होगा।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

राजनीतिक पञ्चांग

(1 जनवरी, 1971–30 जून, 1971)

ओम प्रकाश चावला

1 जनवरी : राजस्थान विधानसभा के सदस्य श्री शेषराम की गोली मारकर हत्या कर दी गयी ।

हरियाणा मन्त्रि-परिषद् के चारों संसदीय सचिवों की पदोन्नति करके उन्हें उपमन्त्री बना दिया गया । उसी दिन श्रीमती शारदा रानी को मुख्य संसदीय सचिव नियुक्त किया गया ।

14 देशीय राष्ट्रमण्डल के अध्यक्षों और पीठासीन अधिकारियों का सम्मेलन समाप्त । यह सम्मेलन 28 दिसम्बर, 1970 को को आरम्भ हुआ ।

2 जनवरी : तमिलनाडु विधान-परिषद् का सत्रावसान कर दिया गया ।

3 जनवरी : चैकोस्लोवाकिया के संघीय शासन में कई नई नियुक्तियाँ की गयीं । इनमें दो उपप्रधानमन्त्रियों की नियुक्ति की घोषणा भी की गयी ।

4 जनवरी : तमिलनाडु विधान-परिषद् के लिए उप-चुनाव में डी० एम० के० के श्री ई० एम० हनीफा निर्वाचित हुए ।

5 जनवरी : तमिलनाडु के राज्यपाल ने विधानसभा को भंग कर दिया ।

6 जनवरी : उच्चतम न्यायालय ने पटना उच्च न्यायालय के निर्णय की पुष्टि की और श्री वाई० पी० श्रीवास्तव (प्रसोपा) का चुनाव रद्द कर दिया ।

मैसूर विधानसभा के एक स्वतन्त्र सदस्य ने नई कांग्रेस में शामिल होने के निर्णय की घोषणा की ।

7 जनवरी : उत्तर प्रदेश विधानसभा के कांग्रेस (संगठन) सदस्य दल-त्याग कर नई कांग्रेस में शामिल हो गये ।

8 जनवरी : मद्रास उच्च न्यायालय ने तमिलनाडु विधान-परिषद् के सदस्य श्री एस० नारायणस्वामी का चुनाव रद्द कर दिया ।

9 जनवरी : उड़ीसा के मुख्यमन्त्री श्री आर० एन० सिंह देव ने अपनी मन्त्रि-परिषद् का त्यागपत्र दे दिया ।

10 जनवरी : बिहार मन्त्रि-परिषद् का विस्तार कर इसके सदस्यों की संख्या 11 से 26 कर दी गयी ।

11 जनवरी : उड़ीसा में राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति शासन प्रख्यापित किया गया और राज्य विधानसभा को निलम्बित कर दिया गया ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

गुजरात के शिक्षामन्त्री श्री गोवर्धन दास चोखावाला ने राज्य की मन्त्रि-परिषद् और कांग्रेस (संगठन) से त्यागपत्र दे दिया।

उत्तर प्रदेश विधानसभा के सदस्य श्री नेपालसिंह, भारतीय क्रान्ति दल से त्यागपत्र देकर सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये।

12 जनवरी : केन्द्रीय सरकार ने गैर कानूनी गतिविधियाँ (निवारक) अधिनियम के अधीन काश्मीर के जनमत मोर्चे पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

भूतपूर्व ब्रिटिश विदेश मन्त्री श्री सैल्विन लॉयड को ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स का नया अध्यक्ष चुना गया।

13 जनवरी : भूतपूर्व केन्द्रीय उपमन्त्री श्री भानु प्रकाश सिंह सत्तारूढ़ कांग्रेस से त्यागपत्र देकर जनसंघ में शामिल हो गये।

14 जनवरी : उत्तर प्रदेश विधानसभा के संसोपा सदस्य श्री शम्भु नाथ चौधरी अपने दल से त्यागपत्र देकर भारतीय क्रान्ति दल में शामिल हो गये।

पंजाब के समाज-कल्याण मन्त्री श्री भगत सिंह ने लोकसभा के चुनाव में भाग लेने के लिए पंजाब मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया।

17 जनवरी : भंग लोकसभा के सदस्य श्री नाथपाई का देहान्त।

श्रीलंका के गणतन्त्रीय संविधान के लिए प्रारूप प्रस्ताव श्रीलंका की संविधान-सभा में प्रस्तुत कर दिये गये।

18 जनवरी : भारतीय जनसंघ का पाँचवाँ चुनाव घोषणा-पत्र प्रकाशित किया गया।

श्री पाल चन्द्र किनलेकर को गोआ, दमन और दिव विधानसभा का सदस्य निर्वाचित किया गया।

19 जनवरी : संसोपा का पाँचवाँ चुनाव घोषणा-पत्र प्रकाशित किया गया।

राजस्थान के संसोपा विधायक श्री मुकुट बिहारी लाल गोयल ने अपने दल से त्यागपत्र दे दिया।

20 जनवरी : उच्चतम न्यायालय ने सत्तारूढ़ कांग्रेस को 'बैलों की जोड़ी' का चुनाव-चिन्ह इस्तेमाल करने से मना कर दिया।

राज्यसभा के एक निर्दलीय सदस्य श्री विपिनपाल दास नई कांग्रेस में शामिल हो गये।

श्री बलवन्त सिंह ने सन् 1971–72 के बजट प्राक्कलन पंजाब विधानसभा में प्रस्तुत किये।

21 जनवरी : तमिलनाडु उच्च न्यायालय ने वह अधिकार पृच्छा रिट रद्द कर दी जिसमें लोकसभा भंग किए जाने के बाद श्रीमती गांधी के प्रधानमन्त्री के पद पर बने रहने को चुनौती दी गयी थी।

डा० हरेकृष्ण मेहताब ने नई कांग्रेस में शामिल होने के अपने निर्णय की घोषणा की।

22 जनवरी : न्यायाधिपति श्री एस० एम० सीकरी, न्यायाधिपति श्री जे० सी० शाह की जगह उच्चतम न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश बने।

श्री बनमाली पटनायक जन-कांग्रेस के छः अन्य सदस्यों के

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

साथ सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हुए ।

23 जनवरी : उड़ीसा में राज्य विधानसभा भंग कर दी गयी और राज्य पर राष्ट्रपति शासन आरोपित कर दिया गया ।

24 जनवरी : सत्तारूढ़ कांग्रेस ने अपना पाँचवाँ चुनाव घोषणा-पत्र जारी किया ।

श्री बृन्दावन त्रिपाठी ने सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल होने के निर्णय की घोषणा की ।

25 जनवरी : न्यायाधिपति मिर्जा हमीदुल्लाह बेग ने हिमाचल प्रदेश के मुख्य न्यायाधीश का कार्य-भार सम्भाला ।

हिमाचल प्रदेश के संघ-शासित राज्य-क्षेत्र को राज्य का दर्जा प्रदान किया गया ।

श्री श्रीलघा अथनी को उप-चुनाव में राज्य विधानसभा का सदस्य निर्वाचित घोषित किया गया ।

उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री श्री त्रिभुवन नारायण सिंह मनीराम में हुए उप-चुनाव में हार गये ।

युगाण्डा के राज्याध्यक्ष डा० मिलटन अबोटे को सैनिक क्रान्ति में पदच्युत कर दिया गया ।

27 जनवरी : धर्मदेवगढ़ के महाराज चन्द्रचूड़ ने सत्तारूढ़ कांग्रेस से त्याग-पत्र देकर भारतीय जनसंघ में शामिल होने के अपने निर्णय की घोषणा की ।

28 जनवरी : स्वतन्त्र पार्टी ने अपना पाँचवाँ चुनाव घोषणा-पत्र जारी किया ।
महाराष्ट्र की विधान परिषद् के सदस्य श्री आर० पी० समर्थ का निधन ।

29 जनवरी : मैसूर के परिवहन मंत्री श्री मुहम्मद अली ने राज्य मन्त्रिमंडल से त्यागपत्र दे दिया ।

30 जनवरी : संगठन कांग्रेस की राज्यसभा की सदस्या कुमारी शान्ता वशिष्ठ अपने दल से त्यागपत्र देकर सत्तारूढ़ काँग्रेस में शामिल हो गयीं ।

पंजाब राज्य विधानसभा के निर्दलीय सदस्य श्री कपूरसिंह ने अकाली दल में शामिल होने का फैसला कर लिया ।

31 जनवरी : मैसूर के विधि और श्रम मंत्री श्री के० पुट्टास्वामी ने राज्य मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया ।

1 फरवरी : श्री देव कान्त बरुआ को बिहार के नए राज्यपाल के पद की शपथ दिलायी गयी ।

3 फरवरी : केरल विधानसभा की संसोपा सदस्या श्रीमती पेनामा जैकब ने अपने दल से त्यागपत्र दे दिया ।

मैसूर के सत्तारूढ़ कांग्रेस के विधायक श्री बजरू महादेव का सिर पर लगी चोटों के कारण निधन ।

4 फरवरी : सर्वश्री वटल नागराज और बी० बी० गंगाधर ने मैसूर विधानसभा में एक नये गुट के निर्माण की घोषणा की ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उड़ीसा के भूतपूर्व मुख्य मंत्री श्री बीरेन मित्र उत्कल कांग्रेस में शामिल हो गये ।

5 फरवरी : युगाण्डा में मेजर जनरल इदी अमीन को नये राज्याध्यक्ष के पद की शपथ दिलायी गयी ।

6 फरवरी : दिल्ली महानगर परिषद् के सत्तारूढ़ कांग्रेस के सदस्य श्री फतेहसिंह संगठन कांग्रेस में शामिल हो गये ।

पंजाब मंत्रिपरिषद् में समाज कल्याण मंत्री डा० भगतसिंह ने लोकसभा के चुनाव में भाग लेने के लिए मंत्रि-परिषद् से त्यागपत्र दे दिया ।

7 फरवरी : महाराष्ट्र विधानसभा के दो सदस्यों श्री ए० पी० शेतिए और डा० डब्ल्यू० एस० मदकर सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये ।

स्विट्जरलैंड में स्त्रियों के लिए राष्ट्रीय मताधिकार का प्रवर्त्तन ।

9 फरवरी : बिहार में संविद मन्त्रिमण्डल का विस्तार किया गया ।

हरियाणा विधानसभा में राज्य की वित्त-मंत्री श्रीमती ओम प्रभा जैन ने बजट प्रस्तुत किया ।

मैसूर की विधान परिषद् के सदस्य श्री डी० मुनीचिनापा सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये ।

10 फरवरी : असम राज्य विधानसभा के सदस्य श्री सहादत अली जोतदार प्रसोपा से त्याग-पत्र देकर सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये ।

बिहार में संविद मंत्रिमण्डल का फिर से विस्तार किया गया ।

11 फरवरी : जम्मू-कश्मीर राज्य विधानसभा में श्री शमीम अहमद शमीम ने राज्य जनता पार्टी (स्टेट पीपुल्स पार्टी) का निर्माण किया ।

महाराष्ट्र विधानसभा के सर्वश्री पी० डी० राहन गोडसे, जी० एन० वाजपेयी, भइया लाल पटेल, सत्तारूढ़ कांग्रेस से त्यागपत्र देकर संगठन कांग्रेस में शामिल हो गये ।

12 फरवरी : श्री मुमताज मुहम्मद खाँ ने संगठन कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया ।

15 फरवरी : जम्मू-कश्मीर मन्त्रि-परिषद् का विस्तार किया गया ।

बिहार के 14 संसोपा विधायकों ने राज्य विधानसभा में एक विसम्मत गुट का निर्माण किया ।

16 फरवरी : हरियाणा विधानसभा अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दी गयी ।

उत्तर प्रदेश के स्वास्थ्य विभाग के राज्य-मन्त्री डा० पी० डी० कपूर ने राज्य मन्त्रि-परिषद् से त्यागपत्र दे दिया ।

राजस्थान के स्वतन्त्र विधायक श्री सुमेर सिंह अचानक मृत पाये गये ।

17 फरवरी : जम्मू-कश्मीर मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों के विभागों का पुनर्वितरण किया गया ।

उत्तर प्रदेश राज्य विधानसभा के सत्तारूढ़ कांग्रेस के सदस्य

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

श्री अतीक-उर-रहमान मृत पाये गये।

बिहार मन्त्रि-परिषद् के विभागों का पुनर्वितरण किया गया।

18 फरवरी : उच्चतम न्यायालय ने प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी का प्रधानमन्त्री के पद पर बने रहना वैध ठहराया।

20 फरवरी : मलेशिया की लोकप्रिय सरकार की पुनर्स्थापना की गयी।

सीरिया के अंतरिम राज्याध्यक्ष श्री अहमद-अल-खतीब ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया।

राजस्थान के विधायक डा० ओमदत्त भाटी का दिल का दौरा पड़ने से निधन हो गया।

मैसूर के समाज-कल्याण मन्त्री श्री वी० एल० पाटिल ने राज्य मन्त्रि-परिषद् से त्यागपत्र दे दिया।

22 फरवरी : दिल्ली उच्च न्यायालय ने वह रिट याचिका रद्द कर दी जिसमें कि प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी पर सरकारी-तन्त्र के इस्तेमाल का आरोप लगाया गया था।

24 फरवरी : इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने वह रिट याचिका रद्द कर दी जिसमें कि प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के पद पर बने रहने की चुनौती दी गयी थी।

मैसूर विधान-परिषद् के सदस्य श्री एम० वी० कुलकर्णी और विधानसभा के सदस्य श्री शिव गौड़पाद सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये।

25 फरवरी : गुजरात के संगठन विधायक श्री कांजीभाई कचराभाई मोरी सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये।

संसोपा के अधिकृत स्कन्ध ने मध्य प्रदेश के तीन दलीय विधायकों को निलम्बित कर दिया।

27 फरवरी : इटली की रिपब्लिकन पार्टी ने इटली की मिली-जुली सरकार से अपना समर्थन वापिस ले लिया।

1 मार्च : तमिलनाडु राज्य विधानसभा के निर्वाचन प्रारम्भ।

2 मार्च : मध्य प्रदेश विधानसभा की सदस्या श्रीमती ललिता देवी ने विधानसभा से त्यागपत्र दे दिया।

3 मार्च : पाकिस्तान की असेम्बली का उद्घाटन-अधिवेशन अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया।

मलेशिया के संसद-सदस्यों की वाक्-स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाये गये।

त्रिनीदाद और टोबैगो में भारतीय उच्चायुक्त श्री सैयद मुजफ्फर आगा को जमायका में उच्चायुक्त प्रत्यायित किया गया।

5 मार्च : उड़ीसा राज्य विधानसभा के लिए निर्वाचन हुए।

उच्चतम न्यायालय ने बेरूबाड़ी मुकदमे में अपना निर्णय

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सुरक्षित रखा ।

8 मार्च : श्री सत्यनारायण सिन्हा ने मध्य प्रदेश के राज्यपाल का कार्य-भार ग्रहण किया ।

गुजरात में मन्त्रि-परिषद् का विस्तार किया गया ।

9 मार्च : असम के राज्यपाल श्री वी० के० नेहरू ने विधानसभा के बजट अधिवेशन का उद्घाटन किया ।

10 मार्च : श्री त्रिग्वे ब्रेटली को नार्वे का नया प्रधानमन्त्री नियुक्त किया गया ।

आस्ट्रेलिया के प्रधानमन्त्री श्री जॉन गॉर्टन को, वहाँ की संसद के बहुमत का समर्थन न रहा और श्री विलियम मेकमाहोन को आस्ट्रेलिया का प्रधानमन्त्री नियुक्त किया गया ।

पश्चिमी बंगाल में निर्वाचन हुए ।

11 मार्च : मध्य प्रदेश में सत्तारूढ़ कांग्रेस विधायक श्री मानक लाल अग्रवाल ने राज्य विधानसभा से त्यागपत्र दे दिया ।

मध्य प्रदेश के सूचना और प्रचार विभाग में राज्य-मन्त्री श्री बालकवि बैरागी ने राज्य की मन्त्रि-परिषद् से त्यागपत्र दे दिया ।

आन्ध्र प्रदेश के वित्त-मन्त्री ने राज्य विधानसभा में बजट प्राक्कलन प्रस्तुत किये ।

12 मार्च : उप-रेलमन्त्री श्री मुहम्मद यूनस सलीम ने केन्द्रीय मन्त्रि-परिषद् से त्यागपत्र दे दिया ।

तुर्की के प्रधानमन्त्री श्री सुलेमान डेमायरल ने त्यागपत्र दे दिया ।

असम मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों में विभागों का पुनर्वितरण किया गया ।

13 मार्च : जम्मू-कश्मीर विधानसभा का बजट अधिवेशन राज्यपाल श्री भगवान सहाय द्वारा प्रारम्भ किया गया ।

मध्य प्रदेश के सिंचाई मन्त्री श्री चाँदमल लूमिया ने राज्य मन्त्रि-परिषद् से त्यागपत्र दे दिया ।

सुरक्षा विभाग के केन्द्रीय राज्य-मन्त्री श्री नरेन्द्र सिंह माहिदा ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया ।

राजस्थान के सत्तारूढ़ कांग्रेस विधायक सर्वश्री शीश राम ओले और मूलचन्द काटेवा दल की प्राथमिक सदस्यता से निलम्बित कर दिये गये ।

14 मार्च : श्री फतेह सिंह राव गायकवाड़ ने गुजरात मन्त्रि-परिषद् से त्यागपत्र दे दिया ।

मत्स्य-पालन और क्रीड़ा विभाग के राज्य-मन्त्री श्री एस० आर० ए० एस० अपाला नायडु ने आन्ध्र मन्त्रि-परिषद् से त्यागपत्र दे दिया ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

श्री एम० करुणानिधि को तमिलनाडु का मुख्यमन्त्री नियुक्त किया गया ।

15 मार्च : तमिलनाडु में मन्त्रिमण्डल की स्थापना की गयी।

पाँचवीं लोकसभा को आहूत करने के लिए अधिसूचना जारी की गयी ।

16 मार्च : बिहार के बजट प्राक्कलन राज्य विधानसभा में पेश किये गये ।

राज्यसभा के सदस्य श्री कृष्ण मोहन सिंह ने सत्तारूढ़ कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया ।

तुर्की की सेना के अधिकारियों को जबरदस्ती सेवा-निवृत्त कर दिया गया ।

श्रीलंका की संविधानसभा ने श्रीलंका के डोमीनियन पद को समाप्त करने के बारे में सहमति व्यक्त की ।

डा० किरिल इगनातोव के स्थान पर डा० एंजल तोदारोव बुल्गारिया के स्वास्थ्य-मन्त्री घोषित किये गये ।

उच्चतम न्यायालय ने श्री त्रिभुवन नारायण सिंह को उत्तर प्रदेश के मुख्य-मन्त्री बनाये जाने को वैध ठहराया ।

सर्वश्री धुरबूख और चेतराम को हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त किया गया ।

गुजरात विधानसभा में राज्य के बजट प्राक्कलन पेश किये गये ।

सर्वश्री एच० एम० पटेल और महीपतराय मेहता ने गुजरात विधानसभा में अपने स्थानों से त्यागपत्र दे दिया ।

17 मार्च : बिहार विधान-परिषद् के सदस्य श्री रघुनाथ प्रसाद सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये ।

राज्यसभा के सदस्य, श्री सूरजमल शाह सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये ।

श्री जम्बू बंत धोते ने महाराष्ट्र विधानसभा से त्यागपत्र दे दिया ।

सर्वश्री शंकर दयाल शर्मा और उम्मैद सिंह ने मध्य प्रदेश विधानसभा से त्यागपत्र दे दिया ।

सर्वश्री शिवनाथ सिंह, मूलचन्द डागा, छुट्टन लाल और डा० हरीप्रसाद ने राजस्थान विधानसभा से अपने त्यागपत्र दे दिये ।

श्री ई० के० मोयदू को केरल उच्च न्यायालय का अतिरिक्त न्यायाधीश नियुक्त किया गया ।

18 मार्च : केन्द्रीय मन्त्रि-परिषद् को शपथ दिलाई गई ।

मैसूर के मुख्यमन्त्री ने त्यागपत्र दे दिया ।

जम्मू-कश्मीर का बजट राज्य विधानसभा में पेश किया गया ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

19 मार्च : केरल का बजट राज्य विधानसभा में पेश किया गया ।

20 मार्च : सर्वश्री राम प्रकाश, मुख्तियार सिंह मलिक और राव वीरेन्द्र सिंह ने हरियाणा विधानसभा के अपने स्थानों से त्यागपत्र दे दिये ।

22 मार्च : उत्तर प्रदेश के बजट प्रस्ताव राज्य विधानसभा में प्रस्तुत किये गये ।

नागालैण्ड का बजट वहाँ की विधानसभा में प्रस्तुत किया गया ।

मध्य प्रदेश का बजट राज्य विधानसभा में पेश किया गया ।

गोआ का बजट संघ-शासित राज्य-क्षेत्र की विधानसभा में प्रस्तुत किया गया ।

असम के बजट प्राक्कलन राज्य विधानसभा में पेश किये गये।

आन्ध्र प्रदेश विधानसभा ने विधानसभा को भंग करने के प्रस्ताव के विरोध में मत दिया ।

लोकसभा के एक निर्दलीय सदस्य श्री पी० वी० बी० राजू सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये ।

श्री गुरदयाल सिंह ढिल्लों लोकसभा के फिर अध्यक्ष चुन लिए गये ।

23 मार्च : संसद में अन्तरिम रेल-बजट पेश किया गया ।

राष्ट्रपति ने संसद के दोनों सदनों के समक्ष अपना अभिभाषण दिया ।

श्री ब्रायन फाल्कार को उत्तरी आयरलैण्ड का प्रधानमन्त्री चुना गया ।

सियरा लियोन में सैनिक क्रान्ति ।

अर्जेन्टाइना के राष्ट्रपति को बर्खास्त कर दिया गया ।

24 मार्च : संसद में केन्द्रीय अन्तरिम बजट प्रस्तुत किया गया ।

महाराष्ट्र का बजट राज्य विधानसभा में प्रस्तुत किया गया ।

श्रीलंका की सरकार ने श्रीलंका की संसद का दूसरा सदन समाप्त करने का निर्णय लिया ।

25 मार्च : पाकिस्तानी सेना ने पूर्वी बंगाल में प्रहार करना आरम्भ कर दिया ।

जनरल अलजान्द, आगस्टिन लान्यूसेस को अर्जेन्टाइना का नया राष्ट्रपति नामित किया गया ।

तमिलनाडु का बजट राज्य विधानसभा में पेश किया गया ।

एंग्लो-इण्डियन नेता श्री फ्रैंक एन्थनी को लोकसभा का सदस्य नामित किया गया ।

27 मार्च : पश्चिमी बंगाल के बजट प्राक्कलन संसद में पेश किये गये ।

राजस्थान का बजट राज्य विधानसभा में पेश किया गया ।

श्री जी० जी० स्वैल को लोकसभा का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

29 मार्च : श्रीलंका में आपातकालीन स्थिति की घोषणा ।

30 मार्च : उत्तर प्रदेश मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया ।

31 मार्च : गुजरात के मुख्यमन्त्री ने त्यागपत्र दे दिया ।

तमिलनाडु से राज्यसभा के सदस्य श्री आर० टी० पार्थसारथी सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये ।

1 अप्रैल : हरियाणा विधानसभा के सदस्य श्री श्याम चन्द्र सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये ।

बिहार मन्त्रि-परिषद् के विरुद्ध प्रस्तावित निन्दा-प्रस्ताव वापस ले लिया गया ।

राज्यसभा के सदस्य श्री जयसुख लाल हाथी सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये ।

2 अप्रैल : पश्चिमी बंगाल के नये मन्त्रिमण्डल को शपथ दिलाई गई ।

श्री रणजीत सिंह ने हिमाचल प्रदेश विधानसभा से त्यागपत्र दे दिया ।

3 अप्रैल : उड़ीसा के नये मन्त्रिमण्डल को शपथ दिलाई गई ।

मेजर जनरल अब्दुल रहमान रब्लेफावी ने सीरिया में नई सरकार का निर्माण किया ।

4 अप्रैल : उत्तर प्रदेश के नये मन्त्रिमण्डल को शपथ दिलाई गई ।

5 अप्रैल : बिहार मन्त्रिमण्डल का विस्तार किया गया ।

6 अप्रैल : हिमाचल प्रदेश विधानसभा ने राज्यपाल के प्रति धन्यवाद का प्रस्ताव पास कर दिया ।

श्री हितेन्द्र देसाई को गुजरात का मुख्यमन्त्री नियुक्त किया गया ।

एक्वाडोर के रक्षामन्त्री को त्यागपत्र देने के लिए मजबूर किया गया ।

7 अप्रैल : केरल विधानसभा ने मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव को रद्द कर दिया ।

श्री एस० के० देसाई को गोआ विधानसभा का उपाध्यक्ष चुना गया ।

8 अप्रैल : हिमाचल प्रदेश के मन्त्रियों और विधायकों के वेतनों में वृद्धि की गई ।

10 अप्रैल : बिहार मन्त्रिमण्डल का फिर विस्तार किया गया ।

11 अप्रैल : मध्य प्रदेश के अध्यक्ष के विरुद्ध निन्दा-प्रस्ताव राज्य विधानसभा ने रद्द कर दिया ।

12 अप्रैल : श्री नन्दकिशोर मिश्र को उड़ीसा विधानसभा का अध्यक्ष चुना गया ।

बंगला देश सरकार द्वारा एक छः सदस्यीय मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया गया ।

14 अप्रैल : श्री कीर्तिनिधि बिष्ट को नेपाल का प्रधानमन्त्री नियुक्त किया गया ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

16 अप्रैल : गोआ विधानसभा में अव्यवस्था।

मणिपुर में राष्ट्रपति शासन की अवधि बढ़ा दी गई।

17 अप्रैल : संयुक्त अरब गणराज्य, सीरिया और लीबिया का संघ बनाया गया।

बंगला देश के स्वतन्त्र प्रभुसत्ता सम्पूर्ण गणराज्य की घोषणा की गई।

18 अप्रैल : बंगला देश गणराज्य के अन्तरिम संविधान को अन्तिम रूप प्रदान किया गया।

श्री सज्जन सिंह विशनार को मध्य प्रदेश विधानसभा के सत्तारूढ़ कांग्रेस दल से निलम्बित कर दिया गया।

19 अप्रैल : भारत में लाओस के नये राजदूत ने अपने परिचय-पत्र प्रस्तुत किये।

20 अप्रैल : कम्बोदिया के प्रधानमन्त्री ने त्यागपत्र दे दिया।

श्री जामवंतराव बी० धोते लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हो गये।

21 अप्रैल : राजस्थान विधानसभा ने उद्योग, श्रम और योजना विभागों की माँगों को स्वीकार कर लिया।

यमन की राष्ट्रपतीय परिषद् ने त्यागपत्र दे दिया।

डा० सियाका स्टीवन्स को सियारा लियोन का राष्ट्रपति नामित किया गया।

23 अप्रैल : श्री जीन क्लॉड दुपालियर को हैती राज्य का राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया।

24 अप्रैल : श्री चिदम्बरम् सुब्रह्मण्यम् को केन्द्रीय योजना-मन्त्री नियुक्त किया गया।

28 अप्रैल : उच्चतम न्यायालय ने तमिलनाडु विधान-परिषद् के लिए श्री एस० नारायण स्वामी के निर्वाचन के बारे में पहले के अन्तरिम आदेशों की पुष्टि कर दी।

29 अप्रैल : श्री विट्ठल राव एन० गाडगिल राज्यसभा के लिए चुन लिये गये।

राजस्थान विधानसभा में माँग की गई कि बंगला देश को मान्यता प्रदान की जाये।

30 अप्रैल : श्री आर० धर्मलिंगम् तमिलनाडु विधान-परिषद् के सदस्य चुन लिये गये।

हरियाणा विधानसभा के सदस्य श्री रणधीर सिंह सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये।

2 मई : केन्द्रीय मन्त्रि-परिषद् का विस्तार किया गया।

न्यायाधिपति श्री डी० बी० लाल को हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के कार्य करने के लिए नियुक्त किया गया।

संयुक्त अरब गणराज्य के उपराष्ट्रपति को बर्खास्त कर दिया गया।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

श्री के० के० शाह को तमिलनाडु का राज्यपाल नियुक्त किया गया ।

3 मई : जनरल लोन नाल को फिर से कम्बोदिया का प्रधानमन्त्री नियुक्त किया गया ।

पश्चिमी बंगाल विधानसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का निर्वाचन किया गया ।

श्री डारविन डींग बोह पुघ को मेघालय मन्त्रिमण्डल में पुनर्वास मन्त्री नियुक्त किया गया ।

4 मई : उच्चतम न्यायालय ने घोषणा की कि पेन्शन प्राप्त करना एक मूल अधिकार है ।

5 मई : उच्चतम न्यायालय ने घोषणा की कि कोई भी प्रादेशिक भाषा विश्व-विद्यालय-स्तर पर एकमात्र शिक्षा-माध्यम नहीं हो सकती है ।

पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल ने राज्य विधानसभा में अभिभाषण दिया ।

7 मई : श्री बीजू पटनायक राज्यसभा के सदस्य चुने गये ।

राष्ट्रपति ने अतिरिक्त सुरक्षा बनाये रखने के सम्बन्ध में अध्यादेश जारी किया ।

9 मई : यूगोस्लाविया की संघीय सभा के अध्यक्ष का निधन ।

10 मई : केरल में निजी बसों के सम्बन्ध में अध्यादेश जारी किया गया ।

श्री हितेन्द्र देसाई ने गुजरात के राज्यपाल को अपनी सरकार का त्यागपत्र दे दिया ।

राज्यसभा के संसोपा सदस्य, श्री रुद्र नारायण झा का निधन ।

13 मई : केन्द्रीय सरकार ने 'आम बीमा' अपने हाथ में ले लिया ।

गुजरात में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया ।

पश्चिमी जर्मनी के वित्त-मन्त्री ने त्यागपत्र दे दिया ।

15 मई : मध्य प्रदेश के चार मन्त्रियों के विभागों का पुनर्वितरण किया गया ।

16 मई : अफगानिस्तान के प्रधानमन्त्री ने त्यागपत्र दे दिया ।

17 मई : मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय ने मन्त्रियों के पदनामों के हिन्दी समानक परिचालित किये ।

संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति अनवर सादत ने पुलिस विभाग का कार्य-भार सम्भाल लिया ।

भूटान ने भारत में अपना विदेशी दूतावास स्थापित किया ।

18 मई : पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय ने भारत के निर्वाचन आयोग का वह आदेश रद्द कर दिया जिसमें कि श्री इकबाल सिंह को मत-पर्चियों का निरीक्षण करने की अनुमति दी गई थी ।

20 मई : जम्मू व कश्मीर मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों में विभागों का पुनर्वितरण किया गया ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

असम के विधि-मन्त्री ने राज्य की मन्त्रि-परिषद् से त्यागपत्र दे दिया ।

21 मई : श्रीलंका की प्रतिनिधि सभा (हाउस ऑफ रेप्रिजेन्टेटिव्ज) ने सीनेट को समाप्त करने का विधेयक स्वीकार कर लिया ।

उत्तर प्रदेश में मन्त्रि-परिषद् का विस्तार किया गया ।

24 मई : मैसूर में राष्ट्रपति शासन की अवधि बढ़ा दी गयी ।

राज्यसभा के सात सदस्य और लोकसभा के एक सदस्य सत्तारूढ़ कांग्रेस में शामिल हो गये ।

प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने लोकसभा में बंगला देश के बारे में वक्तव्य दिया ।

रेलवे बजट संसद में प्रस्तुत किया गया ।

25 मई : हरियाणा मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों के विभागों का पुनर्वितरण किया गया ।

26 मई : ट्रिनिडाड और टोबैगो संसद के निर्वाचनों के परिणामों की घोषणा की गई ।

सत्तारूढ़ कांग्रेस के केन्द्रीय संसदीय बोर्ड ने संसद-सदस्य श्री एस० एस० महापात्र को निलम्बित कर दिया ।

श्री के० के० शाह को तमिलनाडु के राज्यपाल पद की शपथ दिलाई गई ।

27 मई : राजमन्नार समिति ने तमिलनाडु सरकार को अपनी रिपोर्ट पेश कर दी ।

ब्रिटिश संसद के लिए तीन उप-चुनाव कराये गये ।

28 मई : उत्तर प्रदेश विधानसभा में प्रसोपा गुट के नेता सत्तारूढ़ कांग्रेस दल में शामिल हो गये ।

संसद में केन्द्रीय बजट पेश किया गया ।

2 जून : श्री भोला पासवान शास्त्री को बिहार के मुख्यमन्त्री पद की शपथ दिलाई गई ।

3 जून : दक्षिण कोरिया के नये प्रधानमन्त्री की नियुक्ति की गई ।

श्री एल० पी० सिंह ने नेपाल नरेश को अपना प्रत्यय-पत्र प्रस्तुत किया ।

यूगोस्लाविया ने सामूहिक राष्ट्रपति मण्डल-व्यवस्था अपनाने का फैसला किया ।

5 जून : श्री के० वी० एल० नरसिंहम् को आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया गया ।

6 जून : श्री श्याम सुन्दर नाथ को गिनी में भारत का राजदूत नियुक्त किया गया ।

पश्चिमी बंगाल विधानसभा के लिए उप-चुनाव कराये गये ।

बंगला देश के प्रभारी राष्ट्रपति ने बंगला देश की समस्या के समाधान के लिए अपनी शर्तें प्रस्तुत कीं ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विधि आयोग ने केन्द्रीय सरकार को अपनी दूसरी रिपोर्ट पेश की ।

9 जून : डा० अब्दुल जहीर को अफगानिस्तान का नया प्रधानमन्त्री नियुक्त किया गया ।

10 जून : असम मन्त्रि-परिषद् का विस्तार किया गया ।

13 जून : पंजाब के राज्यपाल ने पंजाब विधान-सभा भंग कर दी ।

श्रीलंका ने नये संविधान में मूल अधिकार शामिल करना स्वीकार कर लिया ।

14 जून : डा० के० एस० शेल्वांकर को सोवियत संघ में भारत का राजदूत नियुक्त किया गया ।

15 जून : अवैध गतिविधियाँ (निवारक) न्यायाधिकरण ने अखिल भारतीय जम्मू-कश्मीर जनमत-संग्रह की कार्यवाहियों को अवैध घोषित किया ।

श्री वी० पी० सिंह और श्री दिलकिशोर प्रसाद सिंह राज्य-सभा के सदस्य निर्वाचित हो गये ।

मेघालय राज्य का बजट राज्य विधानसभा में पेश किया गया ।

16 जून ; विहार के मन्त्रियों में विभागों का पुनर्वितरण किया गया ।

लोकसभा ने शेख अब्दुल्ला के उस भाषण पर चर्चा की जिसमें उन्होंने जम्मू-कश्मीर राज्य के देश से अलग होने का प्रचार किया था ।

17 जून : संसद की तीन समितियों के लिए लोकसभा में निर्वाचन हुए ।

श्री दाशो शिख्र लामा को भूटान की राष्ट्रीय असेम्बली का अध्यक्ष चुना गया ।

जापान के उदार लोकतान्त्रिक दल (लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी) ने उच्च सदन में बहुमत प्राप्त कर लिया ।

18 जून : पंजाब का सन् 1971–72 का बजट संसद में पेश किया गया ।

19 जून : सन् 1971–72 के लिए तमिलनाडु के बजट प्रस्ताव राज्य विधानसभा में पेश किये गये ।

राष्ट्रपति ने एक अधिसूचना जारी कर भारत के योजना आयोग के कार्यों और स्थिति के बारे में स्पष्टीकरण किया ।

20 जून : श्रीलंका की संविधान-सभा ने संसद की अवधि को बढ़ा दिया ।

भारत की पत्र (प्रेस) परिषद् ने अपने अधिकार-क्षेत्र के बारे में स्पष्टीकरण किया ।

21 जून : राज्यसभा ने संसद के अधिकारियों के वेतन और भत्ते-सम्बन्धी (संशोधन) विधेयक स्वीकार कर लिया ।

उड़ीसा उच्च न्यायालय ने इस वर्ष 9 और 10 जनवरी को राज्य के राज्यपाल द्वारा किये गये कार्यों के बारे में अपने विचार प्रकट किये ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्रो० जी० बी० कनितकर महाराष्ट्र की विधान-परिषद् के लिए चुन लिये गये।

22 जून : लोकसभा ने मैसूर राज्य विधानमण्डल (शक्तियों का प्रतिनिधान) विधेयक पास कर दिया।

बोलीविया में सशस्त्र सेनाओं के लिए आपातकालीन स्थिति की घोषणा की गयी।

25 जून : पश्चिमी बंगाल राज्य विधानसभा भंग कर दी गई।

28 जून : बर्मा के राष्ट्रपति जनरल नेविन ने घोषणा की कि देश के लिए नया संविधान तैयार किया जायेगा।

श्री सीताराम केशरी बिहार से राज्यसभा के सदस्य चुन लिये गये।

लोकसभा ने पूरे दिन देश की समस्या पर चर्चा की।

पाकिस्तान के राष्ट्रपति ने देश के लिए नये संविधान का प्रस्ताव रखा।

30 जून : अमरीकी उच्चतम न्यायालय ने प्रेस की स्वतन्त्रता की पुष्टि कर दी।

यूगोस्लाविया का महासंघ बनाया गया।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान का नवीनतम प्रकाशन

राजनीतिशास्त्र पर हिन्दी में विश्वकोश के ढंग की
पहली और अत्यन्त प्रामाणिक कृति

सम्पादक : डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

राजनीति कोश

(A DICTIONARY OF POLITICAL SCIENCE)

डा० सुभाष काश्यप एवं विश्व प्रकाश गुप्त

राजनीति कोश की कुछ उल्लेखनीय विशेषताएँ

प्रस्तुत कोश में मूल संकल्पनाओं सम्बन्धी 1000 प्रविष्टियों का परिभाषात्मक विवेचन किया गया है ।

प्रत्येक प्रविष्टि में सबसे पहले मूल अंग्रेजी शब्द, इसके बाद कोष्ठक में उसका नागरी लिप्यन्तरण, फिर उसका हिन्दी पर्याय, तदनन्तर प्रविष्टि का विवेचन और सबसे अन्त में प्रतिनिर्देश है ।

कोश के अन्त में पाठकों की सुविधा के लिए कोश में प्रयुक्त समस्त पारिभाषिक और विवेच्य शब्दों की हिन्दी-अंग्रेजी और अंग्रेजी-हिन्दी शब्दावलियाँ तथा अनुक्रमणिकाएँ दी गई हैं ।

कोश में केवल शब्दों तथा शब्दबन्धों के पर्याय और उनके प्रयोग ही नहीं सुझाये गये, वरन् उन वस्तुओं, विचारों, संकल्पनाओं, संस्थाओं, आन्दोलनों आदि के बारे में सूचना भी दी गई हैं जिनके लिए शब्द अन्ततः प्रतीक-मात्र होते हैं ।

प्रविष्टियों के विवेचन में भारतीय परिप्रेक्ष्य का निरन्तर ध्यान रखा गया है और जिन सांविधानिक, संसदीय अथवा संकल्पनावाची शब्दों के विवेचन में भारतीय सन्दर्भ अपेक्षित था, वहाँ उसका यथास्थान उल्लेख कर दिया गया है ।

राजनीतिशास्त्र जैसे विषय में अंग्रेजी शब्दों के हिन्दी-पर्यायों का हिन्दी-पाठक के लिए उस समय तक कोई अर्थ नहीं होता जब तक कि अंग्रेजी शब्द के साथ संयुक्त मूल संकल्पना की व्याख्या न की जाये । हिन्दी के अधिकांश पारिभाषिक समानकों का अभी हाल ही में निर्माण अथवा अंगीकरण हुआ है और वे सर्वत्र प्रचलित भी नहीं हैं । प्रयोग द्वारा इन शब्दों की विभिन्न छटाएँ विकसित होंगी और उन्हें अर्थ-विकास, अर्थ-संकोच तथा अर्थादेश की विभिन्न प्रक्रियाओं के दौर से गुजरना पड़ेगा । शब्दार्थों के स्थिरीकरण की इस प्रक्रिया में प्रस्तुत कोश जैसे प्रयासों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहेगी और हिन्दी-पाठकों के साथ ही साथ हिन्दी-अनुवादक भी इससे पूर्णरूपेण लाभान्वित होंगे ।

डिमाई आकार में लगभग छह सौ पृष्ठ

मूल्य : 40·00 रुपये

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

लोकतन्त्र समीक्षा का विशेषांक

भारत के राजनीतिक दल : सिद्धियाँ और सम्भावनाएँ

'लोकतन्त्र समीक्षा' का आगामी अक्तूबर-दिसम्बर, 1971 अंक **'भारत के राजनीतिक दल : सिद्धियाँ और सम्भावनाएँ'** विषय पर विशेषांक होगा। विशेषांक में विभिन्न राजनीतिक दलों पर स्वयं उनके नेताओं तथा विशिष्ट विद्वानों द्वारा लिखे गये लेखों के अतिरिक्त भारत में राजनीतिक दलों के कार्यक्रमों तथा उनके क्रियान्वय से सम्बद्ध विषयों पर चुने हुए लेख भी होंगे। साथ ही इस विषय पर एक विस्तृत सन्दर्भ साहित्य सूची भी संलग्न होगी।

विशेषांक के कुछ लेखक

श्री ई० एम० एस० नम्बूद्रिपाद, श्री के० संथानम्, प्रोफेसर हीरेन्द्र नाथ मुकर्जी, श्री प्रकाशवीर शास्त्री, डा० परिमल कुमार दास, श्री डी० आर० मनकेकर, डा० सीताराम अकिंचन, डा० ब्रजेन्द्र प्रताप गौतम, श्री यज्ञदत्त शर्मा, श्री बलराज मधोक, डा० परमात्माशरण, श्री प्रेम भसीन, डा० निर्मला उपाध्याय, श्री चिरंजी लाल शर्मा, राव वीरेन्द्र सिंह, श्री ओम प्रकाश दीपक, डा० जे० सी० जौहरी, श्री जवाहरलाल कौल, श्री कुन्ज बिहारी श्रीवास्तव, श्री एम० वेंकटरंगय्या, श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, डा० ओम नागपाल, श्री एस० एस० भण्डारी, श्री श्यामधर मिश्र, कुमारी स्नेह प्रभा रस्तोगी आदि।

विशेषांक के कुछ विषय

राजनीतिक दल और भारतीय लोकतन्त्र, दल-नेतृत्व और राष्ट्रीय दायित्व, भारतीय प्रजातन्त्र और नेतृत्व की प्रत्याशाएँ, भारत में लोकतन्त्र का भविष्य, संक्रमणकालीन राजनीति और लोकतन्त्र, दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र, भारतीय राजनीतिक दलों का संकट, भारत के राजनीतिक दल— इस दशक में, दल-बदल, भारतीय राजनीति में प्रादेशिकता की भावना, भारतीय संसद और विरोध पक्ष, कांग्रेस दल और भारतीय राजनीति में जातिवाद, राजनीतिक दल और प्रशासन, भारतीय राजनीतिक दलों का भारतीय संघवाद पर प्रभाव, हमारी आवश्यकता— दल या मोर्चे, उत्तर प्रदेश में संविद राजनीति, 1971 के लोकसभा के चुनाव आदि।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संस्थान के प्रकाशन

प्रधान सम्पादक : डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

		रु० पै०
1. भारतीय राजनीति के नये मोड़ : दल-बदल और राज्यों की राजनीति	ले० डा० सुभाष काश्यप	20·00
2. रुपए का अवमूल्यन और उसका प्रभाव (अक्तूबर, 1966)		8·00
3. चुनाव, उम्मीदवार और मतदाता (जनवरी, 1967)	ले० पी० एन० कृष्णमणि	3·00
4. दि पॉलिटिक्स ऑफ डिफेक्शन	ले० डा० सुभाष काश्यप	42·50
5. गांधी एण्ड सोशल पॉलिसी इन इण्डिया	ले० डा० सविता	20·00
6. होराइजन्स ऑफ फ्रीडम		36·00
7. इकॉनामिक डेवलपमेन्ट इन इण्डिया एण्ड चाइना	ले० डा० एलेक्जेण्डर एवस्टीन	1·00
8. पार्लियामेन्टरी प्रिविलिजिज एण्ड देयर कोडिफिकेशन	ले० पी० गोविन्द मेनन	3·00
9. इलेक्शन, केण्डीडेट्स एण्ड वोटर्स (संशोधित, 1971)	ले० पी० एन० कृष्णमणि	12·50
10. डिवेलुएशन ऑफ दि रुपी—इट्स इम्पलीकेशन्स एण्ड कॉन्सीक्वेन्सेज (अंग्रेजी का दूसरा संशोधित संस्करण, मार्च, 1968)		20·00
11. यूनियन-स्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया		25·00
12. पॉलिटिक्स एज ए प्रोफेशन	ले० बी० के० एन० मेनन	1·00
13. फ्रन्टियर गाँधी	ले० गिरधारी लाल जुत्शी	17·50
14. पार्लियामेन्ट एण्ड कांस्टीट्यूशनल अमेंडमेन्ट		30·00
15. इन्डो-पाक मेरीटाइम कॉनफ्लिक्ट, 1965 : ए लीगल अप्रेजल	ले० डा० सूर्य प्रकाश शर्मा	
16. लोकपाल—ओम्बुड्स्मान इन इण्डिया	ले० डा० एम० पी० जैन	28·00
17. सिटिजनशिप इन इण्डिया : डुअल नेशनेलिटी एण्ड दि कांस्टीट्यूशन	ले० कुमारी एम० के० मास्टर	20·00
18. पार्लियामेन्टरी इन्स्टीट्यूशन्स इन आस्ट्रेलिया	ले० आर० डब्लू० सी० श्वार्ट्ज	1·00
19. दि प्रेस एण्ड दि जुडीशियरी	ले० एम० हिदायतुल्ला	3·00
20. प्राब्लम्स ऑफ पार्लियामेन्टरी रिफॉर्म्स इन ब्रिटेन	ले० जॉन फ्रीमैन	2·50
21. दि मिनिस्टर एण्ड हिज रिस्पान्सीबिलिटीज	ले० मोरारजी देसाई	7·50
22. जुडीशियल मैथड्स	ले० एम० हिदायतुल्ला	7·50
23. बंगला देश	सम्पादक : डा० सुभाष काश्यप	20·00
24. दि डायरेक्टिव प्रिंसीपल्स ऑफ स्टेट पॉलिसी	ले० जस्टिस के० सदानन्द हैगडे	
25. राजनीति कोश	डा० सुभाष काश्यप और विश्व प्रकाश गुप्त	40·00
26. बैंक राष्ट्रीयकरण		
27. संविधान की आत्मा	ले० डा० सुभाष काश्यप	3·00

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संस्थान के बारे में

सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान का उद्घाटन 10 दिसम्बर, 1965 को भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति और संस्थान के प्रधान संरक्षक डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने किया था। जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संस्थान की स्थापना की गई उनमें मुख्य हैं :

भारतीय संविधान के सभी पक्षों के विकास तथा क्रियान्वय को विशेष रूप से ध्यान में रखते हुए सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन को प्रोत्साहन देना तथा उसकी व्यवस्था करना; विभिन्न देशों की सांविधानिक पद्धतियों और संसदीय संस्थाओं का तथा उनकी समस्याओं और प्रक्रमों का तुलनात्मक अध्ययन करना; विचार-गोष्ठियों, व्याख्यानों, परिसंवादों, परिचर्चाओं तथा सम्मेलनों का आयोजन करना; और सांविधानिक विधि की गतिविधियों, परिपाटियों और प्रथाओं, संसदीय प्रक्रिया, न्यायिक व्याख्या की प्रवृत्तियों तथा अन्य सम्बद्ध विषयों के बारे में प्रबन्धों, अनुसंधान-लेखों तथा पुस्तक-पुस्तिकाओं का प्रकाशन करना।

देश की विशिष्ट विभूतियों के अलावा, अमरीका, सोवियत संघ, ब्रिटेन, कोरिया, नेपाल, मलेशिया, श्रीलंका, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, कनाडा और स्वीडन सहित विश्व के विभिन्न भागों से विद्वानों, विधिवेत्ताओं और सांसदिकों ने संस्थान के तत्त्वावधान में आयोजित विभिन्न अवसरों पर व्याख्यान दिये और परिचर्चाओं में भाग लिया। संस्थान ने अनेक सफल विचार-गोष्ठियों और परिसंवादों का आयोजन किया है, वह संसदीय अधिछात्रवृत्ति कार्यक्रम आरम्भ कर चुका है और संसद-सदस्यों तथा राज्य-विधायकों के लाभार्थ अध्ययन विचार-गोष्ठियों का देश के विभिन्न भागों में आयोजन कर रहा है। वर्तमान समस्याओं पर उसकी अनेक पुस्तक-पुस्तिकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

संस्थान के सभी सदस्यों को संस्थान की त्रैमासिक पत्रिका तथा कुछ अन्य प्रकाशन नियमित रूप से भेजे जाते हैं। सभी सदस्य संस्थान के विशिष्ट पुस्तकालय का उपयोग कर सकते हैं तथा संस्थान के अन्य कार्यकलापों, जैसे विचार-गोष्ठियों, व्याख्यानों, परिचर्चाओं तथा सम्मेलनों में आमन्त्रित रहते हैं तथा उनमें भाग ले सकते हैं।

सामान्य सदस्यता के लिए शुल्क 25 रु० वार्षिक है और आजीवन सदस्यता के लिए 250 रु०। विश्वविद्यालयों, विधायी संस्थाओं और अन्य निगमित निकायों को निगमित सदस्यता प्रदान की जा सकती है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन-संस्थान

प्रधान संरक्षक

श्री वराहगिरि वैंकटगिरि
भारत के राष्ट्रपति

संरक्षक

श्री गोपाल स्वरूप पाठक
भारत के उपराष्ट्रपति

प्रधान

डा० गुरुदयाल सिंह ढिल्लों
अध्यक्ष, लोकसभा

उप प्रधान

डा० राम सुभग सिंह
श्री अशोक कुमार सेन
संसद-सदस्य
श्री मोतीलाल चिमनलाल सीतलवाड,
संसद-सदस्य
श्री के० के० शाह
श्री के० हनुमन्तैया
संसद-सदस्य
आचार्य जे० बी० कृपलानी

कार्याध्यक्ष

डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

कोषाध्यक्ष

जयसुखलाल हाथी

कार्य समिति के सदस्य

श्री लाल कृष्ण आडवाणी, संसद-सदस्य
श्री चन्द्रभान अग्रवाल
श्री भवेन्द्रनाथ बैनर्जी
श्री रुस्तम सोहराबजी गाए
श्री महेश्वरनाथ कौल, संसद-सदस्य
श्री एस० डी० कोठावले
श्री देसराज महाजन
श्री रामनिवास मिर्धा, संसद-सदस्य
श्री वी० जी० रामचन्द्रन्
श्री नित्तूर श्रीनिवास राव
श्री आर० सी० एस० सरकार
श्री एस० एल० शकधर
श्री प्रकाशवीर शास्त्री
डा० नगेन्द्र सिंह
ब्रिगेडियर रणसिंह
श्री ब्रजकिशोर प्रसाद सिंह
श्री जी० एस० एल० श्रीवास्तव

निदेशक

डा० सुभाष काश्यप

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

मीनाक्षी मुद्रणालय मेरठ में मुद्रित।

वर्ष 3 अंक 4 अक्तूबर-दिसम्बर, 1971

1-7-72
पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी

लोकतंत्र समीक्षा

भारतीय राजनीति और राजनीतिक दल
विशेषांक

सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन-संस्थान
नई दिल्ली

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

लोकतंत्र समीक्षा

वर्ष 3 अंक 4

अक्तूबर-दिसम्बर 1971

"लोकतंत्र समीक्षा" सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान का त्रैमासिक मुख-पत्र है। पत्र में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के निजी विचार हैं। वे न तो किसी तरह संस्थान के विचार हैं और न संस्थान उनके लिए उत्तरदायी है। लेखों, पाण्डुलिपियों तथा समीक्षाओं आदि के संबंध में सारा पत्र-व्यवहार **सम्पादक** को सम्बोधित किया जाना चाहिए, किसी व्यक्ति विशेष के नाम से नहीं।

लेखकों से निवेदन है कि प्रकाशनार्थ रचनाओं की दो टंकित प्रतियाँ भेजें। केवल कार्बन प्रतियों पर विचार नहीं किया जाएगा। पूर्व प्रकाशित अथवा प्रकाशनार्थ अन्यत्र भेजे गये लेखों पर भी विचार नहीं किया जाएगा।

"लोकतंत्र समीक्षा" में प्रकाशित सभी रचनाओं पर संस्थान का पूर्ण प्रतिलिप्यधिकार रहता है और संस्थान की लिखित अनुमति के बिना उनका कोई अंश प्रकाशित नहीं किया जा सकता। "लोकतंत्र समीक्षा" का वार्षिक मूल्य 15 रुपये है। एक प्रति का मूल्य 4 रुपये है।

संस्थान के सदस्यों को "लोकतंत्र समीक्षा" निःशुल्क प्रदान किया जाता है। संस्थान की सदस्यता के बारे में पत्र-व्यवहार **रजिस्ट्रार, सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, 18, विट्ठलभाई पटेल हाउस, रफी मार्ग, नई दिल्ली-1** के नाम से किया जाना चाहिए।

पत्रिका की प्रतियों के लिए, वार्षिक ग्राहक बनने के लिए तथा विज्ञापन, आदि व्यावसायिक पक्ष के लिए, प्रकाशक और वितरक **रिसर्च पब्लिकेशन्स इन सोशल साइन्सेज़, 2/44 अन्सारी रोड, दरिया गंज, दिल्ली-6** से पत्र-व्यवहार करें।

सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन-संस्थान

18, विट्ठलभाई पटेल हाउस

रफी मार्ग

नई दिल्ली-1

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारतीय राजनीति

और

राजनीतिक दल

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारतीय राजनीति और राजनीतिक दल

समस्याएँ और सम्भावनाएँ

सम्पादन मण्डल

अध्यक्ष

डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

सदस्य

सेठ गोविन्द दास

श्री गंगाशरण सिंह

श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा

डॉ० रामधारी सिंह दिनकर

श्री प्रकाशवीर शास्त्री

श्री डी० के० कुन्ते

डॉ० नगेन्द्र

सम्पादक

डॉ० सुभाष काश्यप

सहायक सम्पादक

विश्व प्रकाश गुप्त

ओम प्रकाश चावला

सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान के लिए प्रकाशित

रिसर्च : दिल्ली

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान
18, विट्ठलभाई पटेल हाउस, रफी मार्ग, नई दिल्ली-1 के लिए
रिसर्च पब्लिकेशन्स इन सोशल साइन्सेज, 2/44 अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-6
द्वारा प्रकाशित

© 1972, सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली ।

मीनाक्षी मुद्रणालय, मेरठ तथा जागती जोत प्रेस नई दिल्ली-48 में मुद्रित

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्राक्कथन

आधुनिक राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से राजनीतिक दल उदारवादी संसदीय लोकतंत्र के रथ के पहिए की भाँति हैं। लोकमत हमारी राज्य-व्यवस्था की धुरी है। राजनीतिक दल लोकमत और लोकनिष्ठा को संस्थानात्मक अभिव्यक्ति देते हैं। हमारा प्रजातंत्र विचारों की प्रतियोगिता और विकल्प के स्वातंत्र्य की मूल प्रस्थापनाओं पर आधारित है और राजनीतिक दल उन प्रस्थापनाओं के आधार और माध्यम हैं। यह स्वाभाविक है कि राजनीतिक दलों का सामर्थ्य और उनकी अपूर्णताएं हमारी प्रजातांत्रिक राजनीति में प्रतिफलित और प्रतिबिम्बित होती हैं। अंततोगत्वा राजनीतिक दलों का यथार्थ हमारे संविधान और हमारी संसदीय प्रणाली का यथार्थ है, हमारे राजनीतिक विकास-क्रम का संदर्भ है। राजनीतिक "दशाओं" और "दिशाओं" के समझने में और उनकी व्याख्या में दलों के अध्ययन और विश्लेषण की अनिवार्यता सुस्पष्ट और स्वयंसिद्ध है।

भारत में राजनीतिक दलों की बहुलता का एक पक्ष यह है कि वे राजनीतिक विचारों की अप्रतिबंधित प्रतियोगिता के लिए एक विशाल, बहुरंगी मंच प्रस्तुत करते हैं जिस पर राजनीति के प्रत्येक दृष्टिकोण और हर पहलू के लिए स्थान उपलब्ध है। विविधता की यह अद्वितीय प्रदर्शनी कभी-कभी एक मेले या नौटंकी की तरह लगने लगती है। या फिर यह कहा जाए कि राजनीतिक दलों का उत्पादन हमारे देश का कुटीर उद्योग बन गया है। दलों का बाहुल्य हमारी राजनीति में जहां स्वच्छन्द, स्वातंत्र्य और वैयक्तिक उत्केन्द्रीयताओं का परिचायक है वहाँ एक दृष्टि से हमारे बहुलवादी समाज में प्रतिनिध्यात्मक भी है। किन्तु इस दल-बाहुल्य के अतिरेक से हमारी राजनीति की व्यवस्था विशृंखल और दिशाभ्रमित हो जाती है, विचारों की प्रतियोगिता अस्पष्ट, धूमिल और उद्देश्यहीन लगने लगती है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

1971 में पाँचवीं लोकसभा के निर्वाचन से हमारी राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा और कार्यक्रम की विषयवस्तु का प्राधान्य और प्रधानमंत्री के व्यक्तित्व का देशव्यापी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है ; दल-बाहुल्य और मिली-जुला सरकारों के प्रति जनता की अरुचि भी उसके निर्वाचन-व्यवहार में परिलक्षित होती है। 1972 में राज्यों के चुनावों में कांग्रेस दल का और प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी का प्रभुत्व और प्राधान्य और भी अधिक प्रखर और परिव्यापक हुआ है। भारतीय राजनीतिक दलों के इतिहास में और राष्ट्रीय नेतृत्व की परम्परा में यह एक महत्वपूर्ण अध्याय है। एक ओर विरोधी पक्ष की सर्वतोमुखी पराजय ने कांग्रेस और साम्यवादी दल (तथा तमिलनाडु में द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम और उड़ीसा में स्वतंत्र दल) के अतिरिक्त सभी दलों को हताशा और विवशता के अनिश्चयात्मक मोड़ पर खड़ा कर दिया है और संसद तथा विधानमंडलों में विरोध और समालोचना का स्तर और मनोबल क्षीणकाय और दुर्बल हो गया है। दूसरी ओर जनता के संवर्धित समर्थन से प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी और कांग्रेस दल पर एक गुरु-गंभीर दायित्व आया है जिसके सम्यक् निर्वाह के लिए दल के संगठन को अधिक व्यापक, सुपात्र, सकुशल, सशक्त और गत्यात्मक बनाना आवश्यक होगा। परिवर्तित परिस्थतियों में राजनीतिक दलों का भावी स्वरूप और समीकरण, उनकी विधा और शैली और उनके मोर्चे और मंच क्या होंगे, ये प्रश्न आज हमारी संसदीय और लोकतंत्रात्मक राजनीति के ज्वलंत प्रश्न हैं।

प्रस्तुत संकलन के माध्यम से भारत में राजनीतिक दलों के स्वरूप एवं उनकी समस्याओं और संभावनाओं से संबंधित सामग्री पाठकों के सम्मुख रखी जा रही है। हमें यहाँ संगृहीत विभिन्न लेख अगस्त 1971 से दिसम्बर 1971 तक प्राप्त हुए और तब से अब तक, जबकि यह सामग्री पाठकों के हाथों में पहुँच रही है, देश की राजनीति के अध्ययन की तथा उभरते हुए आयामों की यथार्थ व्याख्या की उत्कट अपेक्षा है। तथापि, यह संकलन एक कालखण्ड के पर्यवेक्षण के रूप में और समकालीन राजनीति को समझने के प्रयत्न की दृष्टि से मूल्यवान सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

हमें इस संकलन के लिए प्रायः 1,000 पृष्ठों की सामग्री प्राप्त हुई जिसमें से चयन और सम्पादन के बाद भी लगभग 600 पृष्ठ बच रहे हैं। इन्हें एक जिल्द के रूप में प्रकाशित करना सुगम नहीं है। फलतः हम इसे दो खण्डों में प्रकाशित कर रहे हैं। पहले खण्ड में राजनीतिक दलों की मुख्य प्रवृत्तियों—राजनीतिक दल और लोकतंत्र, नेतृत्व की समस्याएं, दल-बदल, ध्रुवीकरण, दल-निरपेक्ष लोकतंत्र, जातिवाद, विरोध पक्ष तथा राजनीतिक दल और संघवाद आदि विषयों पर लेख प्रकाशित किए जा रहे हैं। दूसरे खण्ड में देश के प्रमुख राजनीतिक दलों पर उनके नेताओं अथवा विशिष्ट विद्वानों के लेख होंगे। हमें आशा है कि इस सामग्री के प्रकाशन से हिन्दी में जिज्ञासु पाठकों को राजनीतिक दलों पर आधारभूत ठोस सामग्री उपलब्ध हो सकेगी। जहाँ दलीय राजनीति की चर्चा हो वहाँ यत्र-तत्र अतिशयोक्ति का संस्पर्श अथवा मोह का आविर्भाव सर्वथा अप्रत्याशित नहीं है, विशेषतया यदि विद्वान लेखकों का सक्रिय दलीय संबंध हो। मुझे आशा है कि सुधी पाठक विवेक-संगत आलोचना की तुला पर प्रस्तुत सामग्री का परीक्षण करेंगे और यदि कहीं संयत वस्तुनिष्ठता अथवा संतुलन और औचित्य का अतिक्रमण हुआ प्रतीत होता हो तो मेरा आग्रह है कि उसे प्रस्तुत सामग्री के संदर्भ में कुछ क्षमाशील उदारता के साथ देखा जाये। कहना न होगा कि प्रकाशित सामग्री में व्यक्त विचारों के लिए संस्थान अथवा सम्पादन-मंडल का कोई उत्तरदायित्व नहीं हैं।

नई दिल्ली-1
21 मार्च, 1972

लक्ष्मीमल्ल सिंघवी
अध्यक्ष, सम्पादन मंडल तथा कार्याध्यक्ष,
सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन-संस्थान
नई दिल्ली-1

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

हमारे लेखक

श्री के० सन्थानम	भूतपूर्व केन्द्रीय मंत्री, भारत सरकार।
श्री डी० आर० मनकेकर	भूतपूर्व सम्पादक दैनिक 'द मदरलैंड' और 'द टाइम्स ऑफ इंडिया'।
डॉ० सीताराम अंकिचन	सहायक निदेशक, सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली।
डॉ० ब्रजेन्द्र प्रताप गौतम	अध्यक्ष, राजनीति विभाग, दुर्गनारायण कालिज, फतेहगढ़।
श्री यज्ञदत्त शर्मा	कार्यालय मंत्री, भारतीय जनसंघ, केन्द्रीय कार्यालय, नई दिल्ली।
डॉ० (श्रीमती) निर्मला उपाध्याय	व्याख्याता, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर, राजस्थान।
श्री चिरंजीलाल शर्मा	लेखक और पत्रकार, बदायूं।
श्री नेमिशरण मित्तल	लेखक और पत्रकार, हरिद्वार (उ०प्र०)।
डॉ० परिमलकुमार दास	व्याख्याता, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई बिल्ली।
श्री ओम प्रकाश दीपक	लेखक और पत्रकार, नई दिल्ली।
श्री प्रकाशवीर शास्त्री	भूतपूर्व संसद-सदस्य।
डॉ० रमेशनारायण माथुर	रीडर, राजनीति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्व-विद्यालय, दिल्ली।
श्री जवाहर लाल कौल	उप-सम्पादक और रिपोर्टर 'दिनमान', नई दिल्ली।
डॉ० जगदीश चन्द्र जौहरी	उप-निदेशक, सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली।
श्री कुंजबिहारी श्रीवास्तव	रिसर्च फेलो, सेन्टर फॉर द स्टडी ऑफ स्टेट गवर्नमेन्ट्स, वाराणसी।
डॉ० एम० वेंकटरंगैय्या	भूतपूर्व प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, बम्बई और आंध्र विश्वविद्यालय।
प्रो० हीरेन्द्र नाथ मुकर्जी	संसद-सदस्य।
प्रो० बलराज मधोक	भारतीय जनसंघ के वरिष्ठ नेता और भूतपूर्व संसद-सदस्य।
डॉ० सुशील चन्द्र सिंह	अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, कुरुक्षेत्र विश्व-विद्यालय, कुरुक्षेत्र, हरियाणा।
श्री सत्यपाल मलिक	भूतपूर्व संसदीय अधिछात्र, सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली।
श्री मोहनलाल शर्मा	व्याख्याता, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अनुक्रम

प्राक्कथन

1
राजनीतिक दल और भारतीय लोकतंत्र
के० सन्थानम 1

2
दल-नेतृत्व और राष्ट्रीय दायित्व
डी० आर० मनकेकर 4

3
भारतीय प्रजातंत्र और नेतृत्व की प्रत्याशाएं
सीताराम अकिंचन 9

4
भारत में लोकतंत्र का भविष्य
ब्रजेन्द्र प्रताप गौतम 18

5
संक्रमणकालीन राजनीति और लोकतंत्र
यज्ञदत्त शर्मा 34

6
दल-निरपेक्ष लोकतंत्र
निर्मला उपाध्याय 41

7
दल-निरपेक्ष लोकतंत्र
चिरंजीलाल शर्मा 61

8
भारतीय राजनीतिक दलों का संकट
नेमिशरण मित्तल 67

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

9
वर्तमान दशक में भारत के राजनीतिक दल
परिमल कुमार दास 87

10
भारतीय राजनीति और राजनीतिक दल
ओम प्रकाश दीपक 95

11
भारतीय राजनीति में दल-बदल
प्रकाशवीर शास्त्री 105

12
भारतीय राजनीति में प्रादेशिकता की भावना
रमेश नारायण माथुर 111

13
भारतीय संसद और विरोधपक्ष
जवाहर लाल कौल 120

14
कांग्रेस दल और भारतीय राजनीति में जातिवाद
जगदीश चन्द्र जौहरी 124

15
राजनीतिक दल और प्रशासन
कंजबिहारी श्रीवास्तव 132

16
भारतीय संघवाद पर राजनीतिक दलों का प्रभाव
एम० वैंकटरंगैय्या 144

17
आज की आवश्यकता—दल अथवा मोर्चे ?
हीरेन्द्र नाथ मुकर्जी 155

18
समान विचार वाले दलों का ध्रुवीकरण
बलराज मधोक 160

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

19
1971 के लोकसभा के चुनाव
सुशील चन्द्र सिंह 173

20
उत्तर प्रदेश में संविद राजनीति
सत्यपाल मलिक 181

21
राजस्थान में राजनीतिक दलों की दल प्रबोधन भूमिका
मोहनलाल शर्मा 199

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

राजनीतिक दल और भारतीय लोकतन्त्र

के० सन्थानम

भारतीय राजनीतिक दलों की संरचना और वे दल किस प्रकार कार्य करते हैं, ये भारतीय राजनीति के अत्यन्त असन्तोषजनक लक्षण रहे हैं। इनमें से कुछ दलों का संगठन वैसे ही चला आ रहा है जिस प्रकार का कि स्वाधीनता से पूर्व था और दल नेताओं ने अपने दल को संघात्मक संसदीय लोकतन्त्र की नई परिस्थितियों के अनुकूल ढालने का अथवा उनके अनुसार परिवर्तन करने का कोई प्रयास नहीं किया है। जनसंघ और स्वतन्त्र दल जैसे नये दलों का संगठन भी अन्य दलों के संगठनों से अधिक भिन्न नहीं है। ये सभी दल लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद के साम्यवादी विचार पर आधारित हैं, जिसमें सत्ता ऊपर से नीचे की ओर प्रवाहित होती है और लोकप्रिय आधार होने का दम भरा जाता है। इसके अपवाद तमिलनाडु के द्रमुक जैसे आंचलिक दल हैं।

इन तथाकथित राष्ट्रीय राजनीतिक दलों के मुख्य दोष ये हैं कि ये दल न तो लोकतान्त्रिक हैं, न संघीय, और न ही निष्ठावान् और अनुशासन-प्रिय। शिखर से तल की ओर आते-आते दल की शक्ति और प्रभाव में कमी आती जाती है। दल की उच्चतम कार्यपालिका को वरिष्ठ मण्डल या 'हाई कमान' कहा जाता है और वास्तव में उसी का दल में प्रभुत्व होता है। जिन राज्यों में दल के हाथ में सत्ता की बागडोर होती है, वहाँ दल का हाई कमान राज्य का मुख्य मन्त्री नामित करता है, उसके मन्त्रिमण्डल के सहयोगियों के बारे में निर्णय करता है और राज्य के समस्त मन्त्रिमण्डल को एक अधीनस्थ अभिकरण के रूप में समझता है। हाई कमान राज्यों में दल की शाखाओं को भंग कर देता है और उनके स्थान पर तदर्थ समितियों की स्थापना कर सकता है। इसका उदाहरण हमें हाल ही में मिला जबकि नई कांग्रेस के हाई कमान ने प्रधानमन्त्री की इच्छा के अनुसार पाँच राज्यों में कार्य समितियों को भंग कर दिया।

स्वाधीनता से पूर्व संगठनात्मक स्कन्ध दल संगठन का शक्तिशाली अंग हुआ करता था। दल का संसदीय अथवा विधायी स्कन्ध एक अधीनस्थ स्कन्ध था क्योंकि इसकी अपनी कोई वास्तविक सत्ता नहीं थी और किसी भी राजनीतिक संकट के समय इसके सदस्यों को त्यागपत्र देना पड़ता था। स्वाधीनता के बाद इस स्थिति में आमूल परिवर्तन हुआ। हरेक दल के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सदस्य संसद अथवा राज्य विधानसभाओं के लिए दल के उम्मीदवार हो गये और केवल वे लोग ही दल के संगठन कार्य के लिए बाहर रह गये जो किसी न किसी कारण से आम चुनावों में भाग न ले सके। इन परिस्थितियों में विधानसभाओं के भीतर के दल नेता ही अधिक प्रभावशाली नेता हो गये और प्रधानमन्त्री अथवा मुख्यमन्त्री ही वास्तविक नेताओं के

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

रूप में उभरे । दुर्भाग्यवश, स्वाधीनता पूर्व की दलीय संरचना को उसी रूप में बनाये रखने से यह स्थिति और भी अधिक जटिल हो गई । इन वास्तविकताओं को मान्यता न देने के कारण ही पिछले राष्ट्रपतीय निर्वाचन के अवसर पर कांग्रेस के संगठन का विघटन हुआ । हाल ही में नई कांग्रेस में ही इस आशय के प्रयास किये जा रहे हैं जिनसे बाह्य स्कन्ध की संसदीय स्कन्ध पर फिर से प्रभुता स्थापित हो सके, परन्तु मेरा विचार है कि प्रधानमन्त्री इतनी अनाड़ी नहीं हैं कि इसको चुपचाप सहन कर लें ।

संघीय शासन प्रणाली का सार तत्त्व यह है कि राज्य सरकारें और उनके नेतागण अपने क्षेत्र में अपने तौर पर उतने ही प्रभुतासम्पन्न हैं जितने कि केन्द्रीय सरकार और संसद । इसका आशय यह है कि संविधान के सन्तोषप्रद रूप से संचालन के लिए राजनीतिक दल की राज्य शाखाओं को भी उतनी ही मात्रा में स्वायत्तता प्रदान की जानी चाहिए और दल के केन्द्रीय संगठन को दृढ़ रूप से अपने कार्य-क्षेत्र को केवल अखिल भारतीय महत्त्व के विषयों तक ही सीमित रखना चाहिए । इसी बात को जरा विस्तार से कहा जाये तो हम यह कह सकते हैं कि राजनीतिक दल की राज्य शाखा अपने आप स्वायत्त निर्वाचन क्षेत्र समितियों पर आधारित हो और इन समितियों का निर्वाचन हरेक निर्वाचन क्षेत्र के प्राथमिक सदस्यों द्वारा किया जाना चाहिए । यदि किसी दल का संगठन इस प्रकार से किया जाये तभी वह लोगों से सम्पर्क बनाये रख सकता है और ऐसे प्रतिनिधियों को लगातार प्रस्तुत करने की स्थिति में हो सकता है, जोकि निर्वाचकों को स्वीकार्य होते हैं और मतदाताओं के विचारों, कठिनाइयों और चिन्ताओं को सामान्यतया अभिव्यक्ति प्रदान कर सकते हैं । अब यह एक आम बात हो गई है कि विभिन्न निर्वाचनों के लिए यह सुनिश्चित किये बिना ही उम्मीदवारों का चुनाव कर दिया जाता है कि वे वहाँ स्वीकार्य हैं अथवा नहीं । और तो और, राज्य विधानसभा के लिए उम्मीदवार के विषय पर भी दल की राज्य-शाखा को दल के हाई कमान की आज्ञा माननी पड़ती है । कुल मिलाकर इसका परिणाम यह होता है कि दल प्रणाली के कार्यान्वयन से संविधान द्वारा प्रदत्त सीमा तक भी राज्य की स्वायत्तता को नकारा जाता है । इसके परिणामस्वरूप सर्वाधिकारवादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है ।

आज नेतृत्व का आधार न तो लोकसेवा है और न ही निर्वाचकों में लोकप्रियता । अतः विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों में मौलिक निष्ठा का अभाव है और वे विशुद्ध राजनीतिक अवसरवाद की भावना से कार्य कर रहे हैं । सत्ता के लोभ में उन्हें दल बदलने में कोई संकोच नहीं होता है और दलों का विघटन और गुटबन्दी ऐसी रोजमर्रा की घटनाएँ होकर रह गई हैं कि राजनीतिक दल लगातार लोगों की नजरों से गिरते जा रहे हैं । केवल निर्वाचनों के अवसरों पर ही हरेक राजनीतिक दल पोस्टरों, विज्ञापनों और आकर्षक नारेनुमा वायदों पर अत्यधिक धन खर्च करके जनता को हतप्रभ करने में अन्य दलों को मात देना चाहता है । इसमें कोई हैरानी नहीं है कि राजनीतिक दलों के मनोबल में कमी दृष्टिगत होती है जिससे निर्वाचकों पर भी इसका वैसा ही हतोत्साही प्रभाव हो रहा है । भारत जैसे देश के अपेक्षाकृत अबोध निर्वाचक मण्डलों में दल की परम्पराओं के प्रति दृढ़ निष्ठा और स्थानीय नेताओं की ईमानदारी से ही मतदाताओं का निरन्तर मार्गदर्शन किया जा सकता है । वर्तमान अवस्था में किसी भी निर्वाचन के बारे में पूर्वानुमान करना कठिन है । लोकसभा के लिए कराया गया पिछला निर्वाचन इसका ज्वलंत उदाहरण है । अतः राजनीतिक दलों पर कुछ न कुछ अंश में व्यवस्था

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

और सत्यनिष्ठा अवश्य आरोपित की जानी चाहिए।

मेरे कहने का आशय यह नहीं है कि राजनीतिक संगठनों के स्वातन्त्र्य अधिकार में किसी प्रकार का हस्तक्षेप किया जाये, परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि संसद को यह सुनिश्चित कराने की भी शक्ति न रहे कि राजनीतिक दल नैतिकता, ईमानदारी और कुशलता के सामान्य नियमों का भी पालन न कर सकें। राजनीतिक दलों के पंजीकरण, सदस्यता नियमों के बनाने और हिसाब-किताब के वार्षिक लेखापरीक्षण के बारे में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। दल के सदस्य बनाने और सदस्यों की सदस्यता समाप्त करने, निर्वाचनों में उम्मीदवार खड़ा करने और उन उम्मीदवारों का दल के प्रति आभार सुनिश्चित करने के लिए उपयुक्त प्रक्रिया की व्यवस्था कराने में तो किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती है। दल के प्रति निष्ठा में यह बात भी शामिल होनी चाहिए। दल की सदस्यता से त्यागपत्र देते हुए दल के माध्यम से प्राप्त सभी सुविधाओं को छोड़ने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। इन आधारों पर यदि कोई कानून तैयार किया जाये तो उससे दल प्रणाली के उपयुक्त मूल्यांकन में अत्यधिक सहायता मिलेगी जिसमें कि कई छोटे-मोटे गुटों का लोप हो जायेगा और कुल मिलाकर तीन या चार सुसंगठित और अनुशासित दल रह जायेंगे। राजनीतिक दलों के लिए किसी एक व्यक्ति के नेतृत्व पर आश्रित रहना भारतीय लोकतन्त्र के लिए खतरनाक है। परन्तु इसका यह विकल्प भी कोई अधिक अच्छा न होगा कि अगर एक व्यक्ति के नेतृत्व के स्थान पर एक उत्तरदायित्व-विहीन केन्द्रीकृत गुट की स्थापना कर दी जाये। दल को तो नीचे से ऊपर की ओर लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के माध्यम से कार्य कर सकने की स्थिति में होना चाहिए ताकि हरेक अवस्था में नेतागण अपने अन्तिम समर्थकों (निर्वाचकों) के प्रति वास्तव में उत्तरदायी हो सकें।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

दल-नेतृत्व और राष्ट्रीय दायित्व

डी० आर० मनकेकर

जिन विकास-वैज्ञानिकों ने तीन महाद्वीपों—एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका—के उत्थानशील देशों में राजनीतिक विकास की प्रक्रिया का अध्ययन किया है, उनका निष्कर्ष है कि उभरती हुई प्रत्याशाओं की क्रान्ति विफल होकर उभरती हुई निराशाओं के रूप में परिणत हो जायेगी। गत दो दशकों में उत्थानशील देशों के अनुभव से शिक्षा मिलती है कि आधुनिकीकरण के लक्ष्य तक पहुँचने वाला मार्ग न सीधा है, न सुगम। वह मार्ग तो कंटकाकीर्ण है, उसमें विघ्न-बाधाओं और अवरोधों का कोई अन्त नहीं है।

जिन देशों ने आधुनिकीकरण के शूल भरे पथ पर अपने पग बढ़ा दिये हैं उन्हें विकास की वेदना-पूर्ण प्रक्रिया से होकर गुजरना ही गुजरना है। वे इससे बच नहीं सकते। इन देशों का यह पीड़ा-भोग उसी प्रकार का है कि जैसे कि मनुष्यों को संकटमय शैशव-काल की 'विकास-वेदनाओं' की अनुभूति करनी ही करनी पड़ती है। बच्चा पहले घुटनों के बल चलना सीखता है, फिर खड़ा होता है, खड़े होकर चलता है, तब कहीं दौड़ पाता है। यदि बच्चा पैदा होते ही दौड़ना चाहे तो नहीं दौड़ सकता। यही स्थिति विकासशील राष्ट्र की है। वह आधुनिकता के वांछित लक्ष्य तक बिना कष्ट झेले नहीं पहुँच सकता। इसीलिए गुन्नार मर्डल ने अपने वरेण्य ग्रन्थ 'एशियन ड्रामा' में एशिया के दृश्य का नैराश्यपूर्ण चित्र अंकित किया है।

अल्प-विकसित देश के आधुनिकीकरण की जटिल प्रक्रिया में अनेक अन्तर्विरोध होते हैं और ये अन्तर्विरोध शीघ्र ही उजागर हो जाते हैं और वे एक विषाक्त चक्र का सृजन करते हैं जिसमें जो भी प्रगति हुई हो, वह व्यर्थ हो जाती है। इस सम्बन्ध में डेनियल लर्नर ने यह ठीक ही कहा है कि दरिद्रता के विषाक्त चक्र में अविच्छिन्न आर्थिक उन्नति असम्भव हो जाती है। जब कभी प्रगति का एक कदम आगे उठता है, तभी समाज-व्यवस्था की कोई प्रतिगामी प्रवृत्ति दो कदम पीछे धकेल देती है।

उदाहरण के लिए भारत तथा अन्य अनेक विकासशील देशों में प्रगति मार्ग की सबसे बड़ी रुकावट अत्यधिक जनसंख्या है। इसके कारण विकास की सारी योजनाएँ निष्फल हो जाती हैं। विकासशील देश आर्थिक विकास के लिए जो प्रयत्न कर रहे हैं, उनकी तुलना उस व्यक्ति की उलझन से की जा सकती है जिसे जहाँ का तहाँ खड़ा रहने के लिए भी तेजी से दौड़ना पड़ता है। इस स्थिति में संचय असम्भव हो जाता है और जहाँ बचत नहीं की जा सकती, वहाँ आगे बढ़ना सम्भव नहीं है।

एक अन्य विषाक्त चक्र कम उत्पादन का है। आर्थिक निवेश के लिए बचतें न होने पर साज-सामान और उपकरण में कमी हो जाती है और इस कमी के फलस्वरूप उत्पादन का

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

स्तर गिर जाता है। अल्पविकसित देश उद्योग-धन्धों का अभाव होने के कारण निर्धन होते हैं और वे निर्धन होने के कारण उद्योग-धन्धों का विकास नहीं कर सकते।

उत्थानशील देशों की स्वतन्त्रता को जैसे ही एक दशक बीता, वे अशान्ति और हिंसा के वात्याचक्र से घिर गये। इसका कारण था उनकी अतृप्त आकांक्षाएँ जिनकी आग को संकुचित-दृष्टि दल नेताओं ने आपस में होड़-सी बद कर भड़काया। निराशा के दो परिणाम होते हैं। उसके फलस्वरूप लोगों में आक्रामक तथा हिंसात्मक वृत्ति पैदा हो सकती है। उसके फलस्वरूप लोग निराशा और उदासीनता के गह्वर में भी गिर सकते हैं।

इस तरह के राजनीतिक संकट से लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के विकास में बाधा उत्पन्न होती है और नवोदित कृशकाय राज्य के प्राण संकट में पड़ जाते हैं। ल्यूसियन डब्ल्यू० पाई ने लिखा है, 'संक्रमणकालीन देशों में उदासीनता और विस्फोट राजनीतिक घटना-चक्र के अभिन्न अंग बन जाते हैं जिसके फलस्वरूप देश में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और राजनीतिक प्रक्रिया का दम घुटने लगता है।'

एक कठिनाई और है। राजनीतिक स्वतन्त्रता भी एक नशे की तरह है। पराधीन देशों के जो नागरिक कुछ समयपूर्व तक निष्क्रिय और अकर्मण्य पड़े रहे हों, वे स्वतन्त्रता पाते ही स्वाधीन देशों के नागरिकों के रूप में अपने अधिकारों तथा परमाधिकारों के प्रति जागृत हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में विकासशील देश को सांस्कृतिक बहुलवाद के अन्तर्विरोधों का सामना करना पड़ता है। इसका एक श्रेष्ठ उदाहरण पूर्वी बंगाल है। पूर्वी बंगाल पाकिस्तान का अंग है लेकिन फिर भी वहाँ राष्ट्रवाद का ज्वार उमड़ पड़ा है। निर्माणोन्मुख राष्ट्र के सांस्कृतिक और नृवंशीय समूह स्वतन्त्रता के सोमरस का पान करते ही अपनी पृथक् राजनीतिक सत्ता के लिए उत्कंठित हो उठते हैं।

जिन राष्ट्रों ने हाल में ही स्वतन्त्रता पाई हो, उनकी राजनीतिक चेतना की तत्काल अभिव्यक्ति पृथक्तावादी और केन्द्रापसारी प्रवृत्तियों में दृष्टिगत होती है। इससे सशक्त अधो-राष्ट्रीय निष्ठाओं तथा अपरिपक्व राष्ट्रीय निष्ठा के बीच द्वन्द्व छिड़ जाता है। विभिन्न अधो-राष्ट्रीय निष्ठाओं के बीच तीव्र प्रतियोगिता की भावना के कारण सच्चे राष्ट्रत्व का निर्माण नहीं हो पाता और लोग अपने राज्य के प्रति पूरी तरह से समर्पित नहीं हो पाते। अशिक्षा, अंध-विश्वास और सामाजिक अनुशासनहीनता, सीमित दृष्टिकोण तथा समयातीत संस्थाएँ प्रगति के मार्ग में अन्य रुकावटें हैं।

कुल मिलाकर बीसवीं सदी के विकासोन्मुख राष्ट्रों के सम्मुख कठिनाइयों का अम्बार लगा हुआ है। यदि विकास-वैज्ञानिकों की बात को सच माना जाये तो इन देशों की प्रगति 'एक कदम आगे, दो कदम पीछे' ढंग से होगी और उन्हें परिपक्वता तथा आधुनिकता के स्वर्ग तक पहुँचने के लिए अराजकता की नहीं तो अशान्ति तथा उग्र राजनीतिक प्रयोगों की वैतरणी पार करनी होगी।

इसलिए, हमें यह देखकर आश्चर्य नहीं होता कि यद्यपि अधिकांश विकासशील देशों ने लोकतन्त्रों के रूप में अपनी यात्रा प्रारम्भ की थी, लेकिन शीघ्र ही उन्होंने एक दल पद्धति अथवा नग्न अधिनायकवाद का रास्ता पकड़ लिया। अधिकांश विकासशील देशों के कर्णधारों को लगा कि उनकी जनता पाश्चात्य ढंग के लोकतन्त्र की कठिनाइयों का सामना नहीं कर सकती। जिन कुछ देशों के पैर राजनीतिक दृष्टि से स्थिर नहीं हो सके थे उन्हें लगा कि उनके

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

लिए तो लोकतन्त्र विलास की वस्तु है जिसका व्यय वे सहन नहीं कर सकते । संयुक्त राष्ट्र संघ के 1964 में प्रकाशित एक ग्रंथ में कहा गया था कि उस समय संयुक्त राष्ट्र संघ के 133 सदस्य-राष्ट्र थे और उनमें केवल 30 राष्ट्रों में ही संगठित विरोधी दलों को काम करने की अनुमति थी ।

भारत में भी शुरू से ही एक दल की प्रवृत्ति विद्यमान रही है । हाँ, यह अवश्य है कि वह पूरी तरह संसदीय लोकतन्त्र के ढाँचे में खप गई है । डेविड रॉकफेलर ने 'स्पैन' के हाल के एक अंक में प्रकाशित अपने एक विचारोत्तेजक लेख में कहा है कि एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के अनेक देशों में नये आर्थिक विकास से समाज में नये तथा विघटनकारी राजनीतिक और सामाजिक तनाव उत्पन्न हो गये हैं । उन्होंने लिखा है, 'आर्थिक विकास एक परिवर्तनशील प्रक्रिया है । यद्यपि उससे नये अवसरों का निर्माण होता है, लेकिन उससे जीवन और कर्म के प्रति पुरानी आदतें और दृष्टिकोण नष्ट हो जाते हैं । उसमें प्रत्याशाएँ जितनी तीव्र गति से उभरती हैं, उतनी तीव्र गति से वे पूरी नहीं हो पातीं । यह एक ऐतिहासिक मृगमरीचिका है कि आर्थिक विकास से शान्ति तथा सामाजिक सामंजस्य का सोता अपने-आप फूट पड़ता है ।'

इसलिए, रॉकफेलर ने आर्थिक वृद्धि और विकास के बीच भेद माना है और कहा है कि सन् 1970-80 में मूलतः विकास का रूप यह होना चाहिए कि लोगों को इस बात की शिक्षा दी जाये कि वे आधुनिक समाज में रचनात्मक तथा आत्म-परितोषकारी भूमिका का निर्वाह कर सकें । उनके अनुसार विकास का प्रयोजन उन परिस्थितियों का निर्माण करना है जिनमें राष्ट्रों के बीच अपेक्षाकृत कम तनाव हों । इसके विपरीत आर्थिक वृद्धि का प्रयोजन प्रत्याशाओं को उत्पन्न करना है । इन प्रत्याशाओं की जिस तीव्र गति से पूर्ति हो सकती है, उससे कहीं तीव्र गति से उनका निर्माण होता है ।

इन अनेकमुखी तथा कठिन समस्याओं से जूझने के लिए अत्यन्त योग्य, परिपक्व, राजमर्मज्ञोचित, देशभक्तिपूर्ण, सार्वजनिक सेवा की भावना से ओतप्रोत तथा प्रयोजनशील नेतृत्व की आवश्यकता है । तभी विनाश से बचा जा सकता है । इस समय हमारे सम्मुख दो प्रश्न हैं : एक, क्या लोकतन्त्र हमारी इतनी ऊँची अपेक्षाओं को पूरा कर सकता है ? दो, इन विकट दायित्वों की पूर्त्ति के लिए जिस ऊँचे नेतृत्व की आवश्यकता है, क्या हमारे देश में वह नेतृत्व विद्यमान है ?

अच्छा हो या बुरा, हमारे देश में संसदीय लोकतन्त्र जीवित रहेगा । 24 वर्षों और पाँच महानिर्वाचनों के बाद हम उसके अभ्यस्त हो गये हैं और हमें उससे स्नेह हो गया है । इसका कारण यह है कि हमारे देश में सामाजिक अनुशासन का अभाव है और संसदीय लोकतन्त्र में भी कट्टरता नहीं पाई जाती । उल्टे उसमें 'मुक्ति' की भावना निहित है । फलतः, हमारे सामाजिक संगठन तथा संसदीय लोकतन्त्र में सौहार्द स्थापित हो जाता है । अतः, संसदीय लोकतन्त्र के सम्मुख जो समस्याएँ हैं, उन्हें सुलझाने की दृष्टि से वह कितना ही अक्षम तथा अनुपयुक्त क्यों न हो, लेकिन हमें उसके साथ निर्वाह तो करना ही है । इसलिए, हमारे सामने एक ही विकल्प है—हम अपने नेतृत्व की गुणवत्ता तथा कार्य-निष्पादन के स्तरों में तथा राजनीतिक दलों के सार्वजनिक आचरण की संहिता में सुधार करें । इन्हीं समस्याओं को ध्यान में रखते हुए वाल्टर लिपमैन ने कहा था, 'इतने कम समय में, इतने बड़े पैमाने पर, इतनी

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सुदूर-व्यापी क्रान्ति के लिए भारतीय नेताओं में गतिशीलता तथा अनुशासन की आवश्यकता होगी लेकिन उनमें इन दोनों गुणों का अभाव है', लिपमैन को इस बात में सन्देह था कि 'क्या भारत न्यूनाधिक रूप से ब्रिटेन के ढंग पर निर्मित प्रकृत सरकार के माध्यम से अपनी समस्याओं का समाधान कर सकता है।' उन्होंने आगे चल कर कहा था, 'लेकिन मेरा विचार है कि भारत को जिन जटिल तथा दुर्दांत समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, वैसी समस्याओं का समाधान स्वयं अंग्रेज भी उग्र राजनीतिक परिवर्तनों के बिना नहीं कर सकते थे।'

गत 24 वर्षों में हमें लोकतन्त्रात्मक पद्धति के क्रियान्वय के जो अनुभव हुए हैं, उनसे यह विषादपूर्ण तथ्य उजागर हो जाता है कि हमारे राजनीतिक दल तथा उनके नेता इन अपेक्षाओं की कसौटी पर बुरी तरह असफल हुए हैं। इससे भी अधिक दुःख की बात यह है कि समय के साथ इन नेताओं की कार्यक्षमता तथा स्तर में सुधार के स्थान पर निरन्तर ह्रास ही हुआ है। हो सकता है कि उनकी राजनीतिक अक्षमता अपरिपक्वता के कारण हो, पर उनमें राजनीतिक ईमानदारी का जिस व्यापक आधार पर अभाव पाया जाता है और देश के सच्चे हित के प्रति उनके आचरण में जिस उपेक्षा का भाव परिलक्षित होता है, उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। उनका अनुत्तरदायित्व तथा संकुचित दृष्टिकोण देखकर देश के बुद्धि-जीवियों को धक्का पहुँचा है लेकिन राजनीतिज्ञों ने बुद्धिजीवियों की सर्वथा उपेक्षा की है।

दल के राजनीतिज्ञ केवल एक ही देवी के उपासक हैं और वह है वोट-माता। इस देवी को प्रसन्न करने के लिए वे बड़े से बड़ा—सच्चाई तक का—बलिदान करने के लिए तैयार रहते हैं। दल जनता के बीच ऐसी आशाएँ जगा देते हैं जिन्हें वे जानते हैं कभी पूरी नहीं कर सकते। इस क्षेत्र में विभिन्न दलों के बीच एक-दूसरे से आगे निकल जाने की बाजी सी लगी हुई है। वोट बटोरने के चक्कर में उन्होंने विधि-शासन की कपाल-क्रिया नहीं कर डाली तो उस पर प्राणांतक प्रहार अवश्य किया है। उनके कृत्यों से लोकतन्त्र की नींव तक हिल गई है। वे रौद्रमूर्ति वोट-माता से इतने त्रस्त हैं कि अपने विधानमण्डलों में जिन कानूनों को पास करते हैं, व्यवहार में उन्हीं कानूनों की हत्या करते उन्हें संकोच नहीं होता। इस तरह वे 'मुँह में राम बगल में छुरी' के सजीव दृष्टान्त बन जाते हैं।

मर्डल ने विकासशील एशियाई देशों की सरकारों पर यह आरोप लगाया है कि वे सामाजिक दायित्वों का—अर्थात् ऐसे दायित्वों का जिनसे समाज का भला हो—पालन नहीं कर रही हैं। वे ऐसे दायित्वों से बचने का प्रयास कर रही हैं जो उनके अपने हित में न हों। मर्डल का कहना है कि जो दायित्व हैं, उनका भी ठीक से पालन नहीं किया जा रहा है। उनका मत है, 'आज के दक्षिण एशियाई देशों और औद्योगिक क्रान्ति के आरम्भ में पाश्चात्य देशों की स्थिति में सबसे प्रमुख अन्तर यह है कि एशियाई देशों में सामाजिक अनुशासन का स्तर बहुत नीचा है।'

इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि हमारे देश में गत कुछ वर्षों में सार्वजनिक जीवन का स्तर बहुत गिर गया है। देश में सामूहिक हिंसा तथा छात्रों के बीच अनुशासनहीनता बढ़ी है जिसकी जिम्मेदारी पूरी तरह राजनीतिक दलों तथा नेताओं के ऊपर हैं। इन दलों तथा नेताओं ने अकसर विधि की अवहेलना की है तथा सड़कों की राजनीति का आश्रय लिया है। देश के सार्वजनिक और प्रशासनिक जीवन में भ्रष्टाचार की वृद्धि के लिए सत्तारूढ़ राजनीतिज्ञ दोषी हैं लेकिन भ्रष्टाचार के अपराधों के लिए दण्ड प्रायः निम्न

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

स्तर के प्रशासकों को ही दिया जाता है। राजनीतिज्ञों को जो भ्रष्टाचार के लिए मुख्य रूप से दोषी हैं, कभी-कभार ही दण्ड दिया जाता है।

सभी राजनीतिज्ञ समाजवाद की चर्चा करते हैं क्योंकि ऐसा करना फैशन हो गया है और इससे वोट-माता प्रसन्न होती है। वस्तु-स्थिति यह है कि इन राजनीतिज्ञों में से आधे तो अपने समाजवाद के वक्तव्यों में सच्चे नहीं हैं और आधे यह नहीं जानते कि वे क्या कह रहे हैं। उनके लिए तो समाजवाद राजनीतिक दुकान में 'प्रदर्शन की एक वस्तु' है। सरकार इस तरह के समाजवादी कार्य तो कर रही है जैसे कि राजाओं को उनके विशेषाधिकारों से वंचित कर देना या आई० सी० एस० के लोगों से उनके स्वीकृत विशेषाधिकार छीन लेना या शहर के लोगों पर कर बढ़ा देना। इन स्थितियों में प्रभावित निर्वाचकों की संख्या बहुत कम होती है और उनका निर्वाचनों में कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं होता तथा ऐसे प्रयत्नों से वोट-माता अप्रसन्न नहीं होती।

लेकिन ग्रामीण मतदाता वोट-माता का मूर्तिमन्त रूप है। सरकार के लिए उसे सन्तुष्ट रखना आवश्यक है। यही कारण है कि राजनीतिक दलों में किसानों का समर्थन पाने की होड़-सी लगी हुई है और वे किसानों के भूमि-कर को माफ करने के वायदों में भी एक-दूसरे से आगे बढ़ जाना चाहते हैं। हमारा देश कृषि-प्रधान देश है; और देश के कुल उत्पादन का आधा उत्पादन किसानों की देन है। लेकिन वे अपनी खेती की उपज पर केवल एक प्रतिशत कर देते हैं जो संसार में सबसे कम है। इसके विपरीत चीन में खेती की जितनी उपज होती है, उसका 25 प्रतिशत कर के रूप में सरकार को दिया जाता है। यह कहना कि भारत का गरीब किसान अधिक कर नहीं दे सकता, पूरी तरह सच नहीं है। यह सच है कि इस देश के 30 प्रतिशत शीर्षस्थ किसान कुल उपज का 70 प्रतिशत पैदा करते हैं और वे आसानी से देश के विकास में अपना उचित अंश दे सकते हैं। 'हरित क्रान्ति' के कारण यह बात अब और भी अधिक युक्ति-संगत और व्यावहारिक हो गई है।

इस बात को सभी लोग मानते हैं कि सत्तारूढ़ दल तथा विरोधी दल दोनों ही 'राजनीति' के कारण आमदनी के इस अछूते स्रोत का उपयोग करने से कतराते रहे हैं। भारत के धनी किसान जिलों में राजनीतिक अधिनेता भी हैं और देहातों में मतों पर उनका एकाधिकार है। राजनीतिक दल इन 'वोट-स्वामियों को अप्रसन्न नहीं करना चाहेंगे क्योंकि यदि वे इन्हें असन्तुष्ट करते हैं तो इससे उन्हें हानि होगी। परिणामस्वरूप सरकार शहर के लोगों पर करों का बोझ बढ़ाती चली जा रही है। यह स्वाभाविक ही है कि कृषि-प्रधान देश में विकास का व्यय कृषि-क्षेत्र को ही वहन करना चाहिए। भारत में स्थिति इससे उल्टी है। यहाँ औद्योगिक क्षेत्र कृषि-क्षेत्र को प्रोत्साहित कर रहा है। इस सम्बन्ध में एक अमरीकी कृषि-विशेषज्ञ का कहना है कि यह तो विकास के क्रम का विपर्यय है जो आश्चर्यजनक है।

इसलिए, यदि किसी विकासशील देश को विकास की प्रसव-वेदना से बचना है और विकासावरोधी विषाक्त चक्रों में नहीं फंसना है, तो यह आवश्यक है कि नये ढंग के राजनीतिक नेता तथा दल तैयार हों। ये नेता ईमानदार, प्रयोजनशील तथा कर्मठ होने चाहियें। हमें आज वाग्वीर नहीं कर्मवीर नेताओं की आवश्यकता है। ये नेता सिद्धान्तनिष्ठ होने चाहियें जो अपने कर्त्तव्यों का साहसपूर्वक पालन कर सकें और जिन्हें वोट-माता को अप्रसन्न करने में भी भय न हो।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारतीय प्रजातंत्र और नेतृत्व की प्रत्याशाएँ

सीताराम अकिंचन

स्वस्थ नेतृत्व की परम्परा प्रजातंत्र की आधारशिला है। ऐसी परम्परा के अभाव में प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था निष्प्राण हो जाती है और सम्बन्धित देश को अधिनायकवाद या अराजकता की ओर अग्रसर करती है। विश्व के अधिकांश विकासशील देशों में जहाँ अपरिपक्व परिस्थितियों में प्रजातंत्रात्मक संस्थाएँ थोप दी गयी थीं, ऐसा ही दुर्भाग्य रहा क्योंकि वहाँ इन संस्थाओं का स्थान, लोक समर्थन के अभाव में, नूतन फासिज्म से जनित सैनिक अधिनायकवाद ने ले लिया। पर भारत का राजनीतिक इतिहास इससे कुछ भिन्न रहा है। स्वतंत्रता के पश्चात् वरिष्ठ राजमर्मज्ञों (वैटरेन प्रिंसिज[1]) ने निजी स्वार्थ-सिद्धि हेतु रुढ़िग्रस्त आर्थिक विशिष्ट वर्गों (एलीट) से सांठ-गांठ कर ली और परिणामतः वे देश में ऐसी राजनीतिक जागृति न ला सके जो यहाँ के बुद्धिजीवियों एवं जनसमुदाय को प्रजातंत्रात्मक विचारों एवं महत्वाकांक्षाओं के प्रति उदासीन होने से रोक सकती। इसके साथ ही 'नये राजनीतिक विशिष्ट वर्ग' जिनका साधारण सामाजिक वर्ग से उद्भव हुआ था, दिन-प्रति-दिन आदर्शवाद की भ्रांति के दल-दल में फँसते गये। उनमें देश की वर्तमान समस्याओं के वैज्ञानिक विश्लेषण की रंचमात्र भी चेतना न रही। यही कारण है कि आज राष्ट्र की नियति को शताब्दियों पुराने शक्तिशाली अधिकारीतंत्र के हाथों में छोड़ दिया गया है जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में और निर्णय के प्रत्येक स्तर पर पूर्ववत् अपनी निरंकुश भूमिका अदा कर रहा है। यह सत्य है कि लोगों के हृदयों में प्रजातंत्र के प्रति प्रेम और निष्ठा अब भी कायम है तथापि हमारे देश का राजनीतिक स्वरूप नौकरशाही राज्य-व्यवस्था से मिलता-जुलता है। अतः हमारी पहली आवश्यकता यह है कि हम एक स्वस्थ अधिराजनीतिक संरचना का निर्माण करें। यह वह आधार होगा जिस पर पोषित स्वस्थ नेतृत्व हमारे प्रजातंत्र को अधिनायकवादी राज्य या विध्वंसात्मक अराजकता की ओर अग्रसर होने से रोक सकेगा। ये दोनों हमारे कट्टर शत्रु हैं जिनके जाल में एक बार फँसने पर हमारे लिए मुक्ति का कोई मार्ग नहीं रहेगा।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के ऐतिहासिक दिन से ही भारत का जनगण इसके लिए संघर्षरत रहा है कि देश में एक आदर्श प्रजातंत्रात्मक गणराज्य की स्थापना हो। इस संघर्ष के फलस्वरूप पिछले कुछ वर्षों में भारत के लोग बहुत हद तक कुछ वांछित महत्त्वपूर्ण सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन लाने में सफल हुए। ये परिवर्तन उन प्रासंगिक संस्थाओं को शक्तिशाली

---

[1] मांटेस्क्यू के 'एस्प्री दे ल्वा' ('विधि की अंतरात्मा') ग्रंथ का एक शब्द जिसका अर्थ है किसी राजनीतिक स्थिति में शक्तिशाली व्यक्तियों का एक समूह।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

बनाने के लिए आवश्यक थे, जिनका विकास उपनिवेशवादी नीतियों और किंचित् सांस्कृतिक अन्तर्विरोधात्मक प्रवृत्तियों के कारण शिथिल पड़ गया था। सामाजिक पुनर्निर्माण की दिशा में यह महत्त्वपूर्ण कदम था जो संविधान-सभा द्वारा जनगण के हित में पारित कार्यक्रम के अनुरूप था। भारत के लोगों की ओर से संविधान-सभा ने अपने सम्मुख निम्न लक्ष्य निर्धारित किये थे :

(1) भारत का एक संपूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य के रूप में निर्माण;

(2) उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता तथा प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराना, और

(3) उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाना।

उपर्युक्त लक्ष्यों की पूर्ति के मूल में भावना यह थी कि इस देश में एक ऐसे कल्याणकारी राज्य पर आधारित प्रजातंत्र की स्थापना हो जो संसार के लिए एक चुनौती ही नहीं बल्कि प्रेरणा बन सके। भारत का संविधान जो इसी उद्देश्य से संविधान-सभा द्वारा पारित हुआ था आज भी स्वतंत्रता और उससे सम्बद्ध सिद्धांतों का कीर्ति-स्तंभ है। इस दृष्टि से भारतीय संविधान स्वयं में न केवल स्वतंत्रता और प्रजातंत्र के आदर्शों का शक्तिशाली रक्षक है,[2] बल्कि वह एक माध्यम भी है जिसके द्वारा देश में चल रही उस सामाजिक क्रांति[3] को गति मिली जिसकी नींव पंडित नेहरू जैसे तत्कालीन राजमर्मज्ञों एवं विचारकों ने रखी थी। इस सम्बन्ध में ताया जिनकिन ने यह ठीक ही कहा है :

> '(तब से) भारत एक ऐसी क्रांति से गुजर रहा है जो दो दृष्टियों से अभूतपूर्व है। यह विश्व की एकमात्र समाजवादी क्रान्ति है। पुनश्च यह एक ऐसी क्रान्ति है जिसे प्रजातंत्रात्मक ढंग और विधि के आदर्शों के अनुरूप अमल में लाया गया है। यह एक ऐसी सफल क्रान्ति है जिसके प्रति सम्भवतः विश्व अनभिज्ञ रहा। फिर भी यह इतनी महत्त्वपूर्ण क्रान्ति है कि जब यह समाप्त होगी तब भारत का वर्गीकृत समाज लगभग स्वीडन के समतायुक्त समाज का रूप ले चुकेगा। इसके अतिरिक्त यदि यह क्रान्ति जिसे हम 'नेहरूवादी क्रान्ति' कह सकते हैं, सफल रही तो यह घटना न केवल विश्व के लिए विकास का एक विशेष मानदण्ड बनेगी बल्कि इसकी तुलना

---

[2] जयप्रकाश नारायण, 'ऑरगैनिक डेमोक्रेसी', 'स्टडीज इन इन्डियन डेमोक्रेसी', एस० पी० अय्यर और आर० श्रीनिवासन (संपादक), नई दिल्ली, द एलाइड पब्लिशर्स प्रा० लि०, 1965, पृ० 325-44।

[3] 'भारत का संविधान उन नये सामाजिक-राजनीतिक सिद्धान्तों का मूर्तिमंत स्वरूप है जिन्हें हमारे स्वाधीनता-आन्दोलन के समय सबसे ऊँचा स्थान दिया गया था। ये सिद्धान्त भारतीय जीवन के सन्दर्भ में निश्चय ही क्रान्तिकारी और अग्रदर्शी थे। यही वह संदर्भ है जिसमें भारत का संविधान प्रगतिशील है, यहाँ तक कि एक क्रान्तिकारी दस्तावेज है। यदि पूर्ण रूप से विचार किया जाये तो वह भारतीय समाज की वर्तमान वास्तविकताओं से दो कदम आगे था और अभी भी है। भारतीय संविधान की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है : उसका लोकतंत्रात्मक और उदारवादी स्वरूप। उसके क्रोड़ में क्रांति के बीज नहीं हैं, लेकिन उसमें कुछ क्रांतिकारी विचार पुष्पित और पल्लवित अवश्य हुए हैं। यदि हम इन आदर्शों को भारतीय जीवन के साँचे में ढाल सकें, उनके निकट भी पहुँच सकें, तो यह भारतीय क्रांति के आध्यात्मिक लक्ष्य की भौतिक सिद्धि होगी।' डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी, 'भारत का संविधान—वैधिक क्रांति का वाहन', 'लोकतंत्र समीक्षा', वर्ष 1 : अंक 4 (अक्तूबर-दिसम्बर, 1969), पृ० 16-17।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

में साम्यवाद पुराना पड़ जायेगा और बर्बर लगने लगेगा।[4]

सच पूछा जाये तो सुव्यवस्थित सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में भारत का अनुभव विशेषत: उस व्यवस्था के लिए एक सुस्पष्ट चुनौती रहा है जिसे यूरोप के साम्यवादी देशों में तथाकथित 'वैज्ञानिक क्रान्ति'[5] के नाम से स्थापित किया गया था। इसके ठीक विपरीत भारत की सामाजिक क्रान्ति में वह प्रक्रिया आवेष्टित है जिसके द्वारा देश की प्रच्छन्न सामाजिक एवं आर्थिक शक्तियों को उचित रूप से गतिशील बनाया जा सके। यह प्रक्रिया कल्याणकारी राज्य की स्थापना का महत्त्वपूर्ण साधन है जो 'कार्यवाही के सम्बन्ध में प्रजातंत्रात्मक नीतिशास्त्र' से निर्देशित होती रही है न कि उस राजनीतिक एवं आर्थिक द्वयर्थकता से जो साम्यवाद के हठधर्मी सिद्धान्तों का मूल स्वर है। यही कारण है कि हमारे प्रजातंत्र का प्रत्यय जो मूलत: पाश्चात्य जगत के उदार आदर्शों के अनुरूप गढ़ा गया था, अब वर्तमान तथ्यों और समस्याओं के आलोक में कुछ अपरिहार्य संशोधनों का विषय बना हुआ है। विगत वर्षों में हमारे राजमर्मज्ञों द्वारा आधुनिकीकरण की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर उपयोगी समाजवादी सिद्धान्तों का अंगीकरण इसका प्रमाण है। इस देश के विशाल जनसमुदाय ने भी तत्कालीन राजनीतिक उथल-पुथल के माध्यम से यह इच्छा व्यक्त की कि देश के राजनीतिक एवं आर्थिक सिद्धान्तों में ऐसे आवश्यक संशोधन किये जायें जो राष्ट्र के सर्वांगीण विकास को वांछित दिशा में ले जा सकें।

यह सत्य है कि आज हमारा राजनीतिक जीवन अभूतपूर्व संक्रमणकाल से गुजर रहा है। विदेशी पर्यवेक्षक हमारे प्रजातंत्र को सशंकित दृष्टि से देखता है। उसे यहाँ के विशाल जनसमुदाय की सामाजिक चेतना और राजनीतिक सहभागिता में विश्वास नहीं। वह यह मानने को भी तैयार नहीं कि इस देश की राजनीतिक प्रक्रिया के योग्य नेतृत्व उपलब्ध है जो प्रजातंत्रात्मक संस्थाओं के विकास का संबल बन सके। इस संदेह के पीछे यही तर्क दिया गया है कि यहाँ चुनाव की दशाएँ उपयुक्त नहीं क्योंकि चुनाव-प्रक्रिया में सम्मिलित अधिकांश जनसमुदाय अशिक्षित है और नेताओं द्वारा शोषित होता रहता है, यहाँ शासकों एवं शासितों के मध्य की सामाजिक एवं आर्थिक दूरी दिनोदिन बढ़ती जा रही है, यहाँ सत्तासंपन्न राजनीतिक दल अपनी अन्तर्निहित क्रान्ति के बावजूद भी समाज की मूल समस्याओं का तर्कसंगत समाधान ढूँढ़ने में असफल रहा है, देश की आर्थिक प्रगति की समस्या प्राकृतिक एवं सामाजिक शक्तियों के वैज्ञानिक दोहन के साधनों के अभाव में एक मृगमरीचिका मात्र बन गयी है, और अन्ततः यहाँ राजनेताओं एवं प्रतिनिधियों की क्षमता और चरित्र दिनोदिन निकृष्ट हुए हैं। ये सारे

---

[4] ताया जिनकिन, 'नेहरूइज्म् : इण्डियाज रेवोलूशन विदाउट फियर', 'स्टडीज इन इंडियन डेमोक्रेसी', उपर्युक्त, पृ० 733।

[5] मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा का एक विशिष्ट पद। विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए 'व्यवस्थित बनाम वैज्ञानिक क्रांति' (फ्रेंच से अनूदित); सीताराम अकिंचन के 'ला देमोक्रेसी अनैंद : ले प्रोब्लेम ए ले पेर्सपेक्तिव' (भारत में प्रजातंत्र : समस्याएँ और भविष्य) शोध ग्रंथ का एक अंश। लेखक ने यह शोध ग्रंथ पेरिस विश्वविद्यालय के सॉव्र द सोसियोलोजी इस्तोरिक में डी० लिट० की उपाधि के लिए प्रस्तुत किया था। इसके अतिरिक्त रेमों आरों के 'ह्वा एसे स्युर लाज ऐंद्यूस्त्रियेल' (औद्योगिक समाज : विचार और विकास पर तीन निबन्ध) पेरिस, प्लों 1965 भी द्रष्टव्य है। रेनहार्ट एण्ड संस ने 'इंडस्ट्रियल सोसायटी : थ्री ऐसज ऑन आइडियाज एण्ड डैवलपमेंट' नाम से इस ग्रंथ का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कारण विदेशी पर्यवेक्षक के हृदय में संदेह का बीज बोते हैं।

स्पष्ट है कि यदि हम पूर्णतावादी होने का स्वांग न रचें तो विदेशी पर्यवेक्षक की उपर्युक्त दलील हमें तर्कसंगत दिखाई देगी। उसकी यह दलील निराधार नहीं अपितु एक निष्पक्ष और गूढ़ विश्लेषण का विषय है जिसे हम इस छोटे निबन्ध में समंजित करने का आडम्बर नहीं कर सकते। अतः इस निबन्ध के सीमित स्थान और उद्देश्य को ध्यान में रख कर हम नेतृत्व एवं प्रतिनिधित्व के मनो-सामाजिक पहलू का आलोचनात्मक विश्लेषण करेंगे। यह एक ऐसी समस्या है जिस पर हमारी प्रजातंत्रात्मक राजनीतिक संरचना की अखण्डता और निरन्तरता निर्भर करती है। इस दृष्टि से यह निबन्ध दो भागों में बाँटा गया है— पहले भाग में हम चुनाव-प्रक्रिया पर जो जनसमुदाय की राजनीतिक सहभागिता का माध्यम है विचार करेंगे; और दूसरे भाग में हम नेतृत्व के गुणों तथा प्रतिनिधित्व की प्रामाणिकता और प्रभाव पर विचार करेंगे। निबन्ध के अन्तिम भाग में हम नेतृत्व की प्रत्याशाओं पर स्थानीय, क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय दृष्टि से प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

यह प्रायः कहा गया है कि सामान्य चुनाव प्रजातंत्र के लिए अनिवार्य हैं। यह वह उपाय है जिसके द्वारा नागरिक अपने मनोनुकूल प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन करते हैं। दूसरे शब्दों में चुनाव नागरिकों की उस इच्छा को व्यक्त करते हैं जिसके अनुसार वे अपने आप पर शासन कर सकें। चुनाव के माध्यम से ही एक प्रजातंत्रात्मक समाज की आकांक्षाएँ और आस्थाएँ शासन की विभिन्न शाखाओं में प्रतिबिम्बित होती हैं।[6] एक दी हुई व्यवस्था में राजनीतिक परिवर्तन लाने में और उसके सदस्यों के राजनीतिक व्यवहार को परिष्कृत करने में चुनाव अपनी जो भूमिका अदा करते हैं, वे समाज के चरित्र को ही नहीं बल्कि राष्ट्र की नियति को भी निर्धारित करती हैं।

पिछले दो चुनावों के आश्चर्यजनक परिणाम और उनके सुदूर एवं विस्तृत सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव इस बात के प्रमाण हैं कि हमारी संसदीय प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था एक ऐसे धरातल पर उग रही है, जहाँ इसकी जड़ें सबल और सुरक्षित रह सकेंगी। महत्त्व की बात तो यह है कि जिस देश की जनसंख्या 55 करोड़ हो (जिसमें अधिकांश लोग अब भी अशिक्षित हों और लगभग $5\frac{1}{2}$ लाख गाँवों में निवास करते हों) वहाँ यह चुनाव दर्शनीय और सफल ढंग ने सम्पन्न किये गये। ऐसे प्रत्येक चुनाव में 60 से अधिक प्रतिशत मतदाताओं ने पूरे उत्साह से भाग लिया। विरोधी दल अपनी आन्तरिक निर्बलताओं और संघर्ष के बावजूद भी शक्ति और संख्या की दृष्टि से विकसित हो रहा है। इसका प्रमाण यह है कि पिछले लोकसभा चुनाव में सत्तारूढ़ राजनीतिक दल को अभूतपूर्व बहुमत प्राप्त होने के बावजूद भी विरोधी दल स्वायत्त शासन के क्षेत्र में सबल और सुसंगठित हुए। लोकमत पहले की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है जो शासन की विभिन्न गतिविधियों पर अपना प्रभाव डाल रहा है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि भारत का जनगण यह जानकर कि पड़ौसी देशों में प्रजातंत्र का शैशव सैनिक अधिनायकवाद के द्वारा कुचल दिया गया, अब अधिक सतर्क है और पूरी तरह चैतन्य होकर उन प्रयत्नों में जुट गया है जिनके द्वारा देश के सामाजिक एवं आर्थिक लक्ष्य प्रजातंत्रात्मक

---

[6] वीरेन्द्र नारायण, 'जनरल एलेक्शन्स एण्ड स्टेट पालिटिक्स', 'स्टेट पालिटिक्स इन इंडिया', मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1965, पृ० 619।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्रक्रिया में पूरे हो सकें।

किन्तु भारत में प्रजातंत्रात्मक संस्थाओं के स्वस्थ विकास की समस्या कुछ अन्य बातों की भी अपेक्षा करती है। यहाँ की विशाल जनसंख्या की भौतिक समस्याओं के शीघ्र समाधान के लिए आर्थिक विकास के अतिरिक्त इस बात की भी आवश्यकता है कि निर्णय लेने के विभिन्न स्तरों पर लोकमत को जागृत किया जाए।[7] जागृत एवं सतर्क लोकमत का निर्माण, ऐसे कुशल एवं योग्य नेतृत्व पर निर्भर करता है जो पूर्णरूपेण यह अनुभव करे कि प्रजातंत्र एक प्रभावशाली साधन है जिसके द्वारा राष्ट्र की सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति सतत, सुनिश्चित तथा सुरक्षित रह सकती है। दुर्भाग्यवश, भारत में नेतृत्व एवं प्रतिनिधित्व की दशाएँ संतोषजनक नहीं हैं। भारत में नेतृत्व की समस्याओं के हाल में ही जो अध्ययन हुए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि हमारे नेता लोकतंत्रात्मक जीवन-पद्धति के प्रति पूरी तरह समर्पित नहीं हैं, उन्हें संपूर्ण समाज के हित साधन की उतनी चिन्ता नहीं होती जितनी अपने व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की। वे राष्ट्रीय समस्याओं की अपेक्षा स्थानीय समस्याओं में अधिक उलझे रहते हैं। उनकी सांस्कृतिक पीठिका उन्हें सत्तावादी बना देती है जिसका फल यह होता है कि वे अपने सामाजिक कर्त्तव्यों तथा दायित्वों के प्रति उदासीन हो जाते हैं।

यह स्पष्ट है कि लोकमत का नेता बनने का यह अर्थ नहीं कि सम्बन्धित व्यक्ति किसी विशिष्ट जनसंख्या का यथार्थ प्रतिनिधि बन जाये। लोकमत 'मतैक्य' या 'सर्व सहमति' का पर्यायवाची नहीं। लोकमत कुछ सुनिश्चित समस्याओं के सम्बन्ध में व्यापक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति होता है। वह एक प्रकार की राजनीतिक मनःस्थिति अथवा परिवर्तन की आकांक्षा है। इसके विपरीत सर्व-सहमति का अर्थ यह है कि किसी कार्य-पद्धति के प्रति व्यापक सहमति है, अधिकांश लोग किसी सिद्धांत, रूढ़ि अथवा अभिप्रेरणा के प्रति विनत हैं— उनकी यह प्रवृत्ति तर्कसंगत हो या नहीं। इसके विपरीत लोकमत का अर्थ है कुछ निश्चित वस्तुओं अथवा व्यक्तियों के सम्बन्ध में मानकीकरण की प्रक्रिया। पर सर्व-सहमति का अर्थ है राजनीतिक कार्य-पद्धतियों के प्रति स्पष्ट वचनबद्धता।[8] इसीलिए, सर्व-सहमति विभिन्न समस्याओं के सन्दर्भ में अलग-अलग रूपों में उपस्थित होती है और यह उसका लोकमत से आधारभूत भेद है।

नेतृत्व का अर्थ है—किसी विशिष्ट भौगोलिक तथा मानवीय स्थिति में प्रतिस्पर्धात्मक विचारों, भावनाओं, प्रवृत्तियों, आवश्यकताओं एवं महत्त्वाकांक्षाओं का सविवेक तथा सचेत समन्वय। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस विशेष स्थिति में नेतृत्व का आविर्भाव होता है, उस

---

[7] 'प्रबुद्ध लोकमत क्या है? निश्चय ही वह जनता की आवाज (वॉक्स पोपुली) नहीं है? हाँ, यह अवश्य है कि जब तक अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य तथा अन्य मानसिक स्वतन्त्रताएँ उपलब्ध न हों, तब तक लोकमत का अस्तित्व नहीं हो सकता। लेकिन 'प्रबुद्ध लोकमत' शब्दबंध में 'प्रबुद्ध' तथा 'लोक' दोनों ही 'मत' के महत्त्वपूर्ण विधायक गुण हैं। जिस 'मत' में इन दोनों गुणों का अभाव हुआ, वह या तो जनता का दुराग्रह होगा या शासन के आदेश की प्रतिध्वनि। लोकतन्त्रात्मक संस्थाओं के संचालन में उसका कोई उपयोग नहीं होगा।' ए० बी० लाल, 'पब्लिक ओपीनियन इन इंडियन डेमोक्रेसी', 'स्टडीज इन इंडियन डेमोक्रेसी', उपर्युक्त, पृ० 5। अमेरिकन सोशियोलॉजिकल रिव्यू, 13 फरवरी, 1948 में लुई वर्थ का लेख 'कंसेन्सस एण्ड मास कम्युनिकेशन' भी देखिए।

[8] देखिए, जार्ज बालॉदियेर, आंत्रोपोलोजी पोलिटिक, पेरिसः प्लों, 1965, पृ० 165; टालकॅट पार्सन्स 'स्ट्रक्चर एण्ड फंक्शन इन मॉडर्न सोसाइटीज', न्यूयार्क, रेटिलेज केगन, 1967, पृ० 452।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

स्थिति का अपना ही महत्त्व है पर नेतृत्व के उदय में इन विरोधी तत्त्वों के समन्वय-सामंजस्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से नेता का भावन उस सजीव चित्रपटल के रूप में किया जा सकता है जहाँ समाज के बहुरंगीय तत्त्व अपनी छटा दिखाते हों और समाज का पूर्ण बिम्ब उपस्थित करते हों। यही कारण है कि गम्भीरता, तर्कसम्मतता, व्यवहारनिष्ठा और व्यापक दृष्टिकोण जैसे तत्त्वों को नेतृत्व के आवश्यक गुण समझा गया है। गम्भीरता का अर्थ यह नहीं कि हम आवेश को तिलांजलि ही दे दें। कारण यह है कि जीवन में आवेश का भी अपना महत्त्व है और समुदाय के सृजनात्मक प्रयोजनों की पूर्त्ति के लिए उसकी आवश्यकता है। तर्कसम्मतता का अभिप्राय है कि कर्त्ता विभिन्न परिस्थितियों में जो कार्य करे, उसे उन कार्यों के परिणामों की चेतना बनी रहे। व्यवहार-निष्ठा का आश्वासन है कि व्यक्ति का चिन्तन तथ्यों के व्यापक ज्ञान तथा गूढ़-गहन प्रबोध से प्रेरित हो। अन्त में, व्यापक दृष्टिकोण में यह निहित है किसी भी अन्तिम निर्णय पर पहुँचने से पहले स्थिति-विशेष के समस्त प्रासंगिक अन्तर्सम्बन्धों पर विचार किया जायगा। विकासशील देशों की समस्याओं से सफलता और साहसपूर्वक जूझने का काम वही व्यक्ति कर सकते हैं जिनमें ये गुण कूट-कूट कर भरे हों।[9] इस प्रकार का नेतृत्व अपने आप में एक प्रतिमान होता है। वह मानक लोकमत का निर्माण करता है और स्थानीय, क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय स्तरों पर विभिन्न सन्दर्भों में सर्वसहमति को ढालता है। उसमें एक निरपेक्ष मानक का नहीं, विभिन्न प्रतिमानों का अन्तर्भाव हो सकता है। इस तरह का नेतृत्व अनेक कारकों पर अपनी दृष्टि रखता है जो विभिन्न परिस्थितियों के परिणाम होते हैं। यह नेतृत्व प्रतिनिधिक स्वरूप धारण कर लेता है और 'प्रमानीकृत समनुरूपता' के साँचे में ढल जाता है। इसलिए, नेता को विभिन्न समूहों के विभिन्न सांस्कृतिक धरातलों के बीच ताल-मेल बैठाना पड़ता है और समूहों के आन्तरिक तथा बाह्य विवादों को सुलझाने के लिए उन उपायों के बीच समन्वय स्थापित करना पड़ता है जिनके इन समूहों के लोग अभ्यस्त हो जाते हैं। समूह का उचित मार्ग-दर्शन करने के लिए नेता को एक साथ अनेक बातों का ध्यान रखना पड़ता है, उसे यह देखना पड़ता है कि समूह को क्या-क्या सुविधाएँ उपलब्ध हैं जिनके आधार पर किसी विवादास्पद प्रश्न के सम्बन्ध में संतुलित निर्णय किया जा सकता है, इस निर्णय से जो हित प्रभावित होते हैं, वे कहाँ तक एक दूसरे के संगत हैं और सम्बद्ध समूहों में इन हितों के प्रति कितनी प्रबल जागरूकता है और नेता विभिन्न रीतियों से लोकमत के प्रति जो भावना प्रकट करता है, लोगों का उसके प्रति किस सीमा तक विश्वास है।[10] इस दृष्टि से आदर्श नेतृत्व समूह के विभिन्न संघर्षरत हितों के बीच संराधन और समझौता ही नहीं है, वह उनके प्रति सामाजिक तथा नैतिक उत्तरदायित्व का पूर्वाग्रह-मुक्त ज्ञान भी है।

स्थानीय स्तर पर नेता सामाजिक दृष्टि से सुसंगठित उन लोगों के समुच्चय का प्रतिनिधित्व करता है जो समाज-संगठन के उच्चतर धरातलों पर अपने प्रतिनिधित्व की आकांक्षा से प्रेरित हों। सच तो यह है कि प्रतिनिधित्व के इन धरातलों से ही यह बात निर्धारित होती है कि राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप कैसा है, उसकी व्याप्ति कैसी है। अपने

---

[9] ए० बी० शाह, 'पब्लिक ओपिनियन इन इंडियन डेमोक्रेसी', 'स्टडीज इन इंडियन डेमोक्रेसी', उपर्युक्त, प० 518।

[10] वही, पृ० 519।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अस्तित्व की रक्षा के लिए उद्यमशील कोई भी छोटा समाज यह चाहता है कि वह राजनीतिक प्रक्रिया में सक्रिय भाग ले और यह सामूहिक संरचना के ताने-बाने में संस्थाओं की परिधियों के विस्तार से ही हो सकता है।[11] इसी प्रकार, कोई भी सामूहिक सत्ता अपनी विभिन्न कार्यात्मक इकाइयों के कारगर समन्वय के बिना जीवित नहीं रह सकती। यही कारण है कि कोई सामूहिक इकाई सामाजिक और सांस्कृतिक अवयवों का निर्जीव निकाय या संनिधान नहीं[12] प्रत्युत उन अवयवों के समूह की कार्यात्मक प्रणाली है।

एक नेता जो कि किसी स्थानीय समुदाय का प्रतिनिधित्व करता है, विभिन्न समूहों के बीच एक सजीव कड़ी बन जाता है जिसके माध्यम से वे समूह विभिन्न समस्याओं पर अपने विचार एवं दृष्टिकोण प्रकट करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि नेता अपने जन-समुदाय के विचारों एवं महत्त्वाकांक्षाओं का सजीव दर्पण बनने के पश्चात् ही प्रजातन्त्र की कार्य-प्रणाली में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। ऐसे नेताओं के अभाव में जो यथार्थ प्रतिनिधित्व की सजीव प्रतिमा बन सकें, प्रजातन्त्र का कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

एक योग्य नेता के प्रतिनिधित्व की परिधि सम्बन्धित स्थानीय समुदाय के, जिसमें उसके व्यक्तित्व का अभ्युदय एवं निखार हुआ, इर्द-गिर्द ही नहीं होती। यथार्थ प्रतिनिधित्व की सक्रियता के और भी स्तर होते हैं जैसे क्षेत्र, राज्य एवं राष्ट्र। इन स्तरों पर ही स्थानीय राजनीति को समुचित स्थान मिलने पर और उसके प्रभावशाली होने पर पूरी व्यवस्था को बल मिलता है। विभिन्न स्थानीय समस्याओं और चुनौतियों के समस्त योग से ही एक संघानीय राज्य की राजनीतिक रूपरेखा बनती है। एक लेखक ने ठीक ही कहा है कि 'संघानीय प्रजातन्त्र में राजनीति एक लम्बी चादर की भाँति है जिसमें बहुत सारे स्थानीय पैबन्द लगे होते हैं'।[13] इस तरह राजनीति का राज्य एवं परिधीय दोनों स्तरों पर अन्तर्भूत या व्यापक होना वह अपरिहार्य दशा है जिसमें प्रजातन्त्र और प्रगति की जुड़वाँ महत्त्वाकांक्षाओं को पोषित और विकसित किया जाता है। यही कारण है कि यदि केन्द्रीय और स्थानीय समुदाय के मध्य की अन्तःक्रिया राजनीतिक संतुलन पर आधारित न हो तो पूरी प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था हिलने लगती है। यदि देखा जाय तो भारतीय प्रजातन्त्र की सबसे बड़ी समस्या यह रही है कि राष्ट्रीय हितों को स्थानीय एवं संकीर्ण स्वार्थों से कैसे सुरक्षित रखा जाय। विगत वर्षों में भारत के संघ-शासन को अतिवादी स्थानिकता के अनुचित दबावों तथा निग्रहों से जूझना पड़ा है।

यह स्पष्ट है कि संघानीय संरचना जो इस विविधतापूर्ण देश की प्रभुसत्ता तथा एकता को सुरक्षित रखने का माध्यम है, तभी सबल होगी जब एक जागृत नेतृत्व की परम्परा स्थानीय क्षेत्रों को राज्य से और राज्यों को राष्ट्र से एक प्रभावशाली कड़ी के रूप में जोड़ने में सफल हो। लेकिन आजकल हमें जिन प्रवृत्तियों के दर्शन हो रहे हैं, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं :

---

[11] एस० एन० आइजेनस्टाड्ट, 'सोशल चेन्ज, डिफरेन्शिएशन एण्ड एवोल्यूशन', 'अमेरिकन सोशल रिव्यू', 29, 1964।

[12] पेरिटिम ए० सोरोकिन, 'द सोश्योलोजिकल थ्योरीज ऑफ टु-डे', न्यूयार्क, रेनहर्ट एण्ड कम्पनी, 1969।

[13] जी० बी० माथुर, 'लिंक पॉलिटिक्स', 'स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया,' उपर्युक्त, पृ० 609।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

1. चुने हुए प्रतिनिधि सामान्यतः अपने-अपने चुनाव-क्षेत्रों के हितों के पोषण के लिए अत्यधिक उत्साही होते हैं ।
2. राज्य स्तर पर नेता किसी भौगोलिक या सांस्कृतिक क्षेत्र के हितों की पूर्ति और उसकी भौतिक समृद्धि के लिए ऐसे सन्तुलित विचारों से काम नहीं लेते जो राष्ट्रीय सन्दर्भ में प्रासंगिक हों ।

उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ निम्न सारणी से स्पष्ट हो जाती हैं । इस सारणी[14] को एक सामूहिक अध्ययन के आधार पर तैयार किया गया था जिसके अन्तर्गत संसद में आये विभिन्न प्रश्नों के स्वरूप और सन्दर्भ का विश्लेषण किया गया था :

प्रश्न का स्वरूप	19 जुलाई, 1971	20 जुलाई, 1971	21 जुलाई, 1971
1. स्थानीय महत्त्व के प्रश्न	22	17	24
2. राज्य स्तर की राजनीति से सम्बन्धित प्रश्न	2	14	3
3. राष्ट्रीय महत्त्व के प्रश्न	8	6	5
4. स्थान विशेष से सम्बन्धित प्रश्न पर जिनका राष्ट्रीय महत्त्व हो	1	—	—
कुल	33	37	32

उपर्युक्त प्रवृत्तियों का परिणाम स्पष्ट है । भारतीय प्रजातन्त्र का बीज उपजाऊ धरती में उगता जरूर रहा है किन्तु इसके फलने-फूलने की दशाएँ अब भी पर्याप्त नहीं । भारत में लोकतन्त्र के विकास की अनुकूल दशा वह होगी जिसमें जनता के बीच राजनीतिक चेतना का प्रसार हो और ऐसे स्वस्थ तथा विवेकशील नेतृत्व का उन्नयन हो जो स्थानीय और संकीर्ण हितों को अवरुद्ध कर राष्ट्रीय तथा सार्वभौम मूल्यों को गति दे सके । तभी हमारे देश की संरचना को बल मिल सकेगा और उसमें विवेकशीलता तथा सार्वभौम मूल्यों का संचार हो सकेगा ।[15]

मात्र यह कहने से कि इस देश में प्रत्येक वयस्क नागरिक को मत देने का अधिकार है, हमारी प्रजातन्त्र की परिभाषा पूरी नहीं होती । 30 करोड़ से भी अधिक ऐसे मतदाताओं का अस्तित्व मात्र रेत के असंख्य कणों की एक नींव जैसा है जिस पर प्रजातन्त्र की संरचना प्रतिष्ठित नहीं हो सकती । यह वैसा ही ढोंग होगा जो अनेक विकासशील देशों में किया गया और जिसका परिणाम निकला सैनिक अधिनायकवाद । यदि हमें एक प्रभावशील नेतृत्व

[14] सीताराम अकिंचन, 'ला देमोक्रॉसी अनैद : ले प्रोब्लेम ए ले पेर्संपेक्तिव', उपर्युक्त, पृ० 213 ।

[15] सीताराम अकिंचन, 'लॉ कौम्युनोते यूर्बेन ए ले वालर कोसमोपोलीत' (नागरिक समुदाय और सार्वभौमिक मूल्य) । लेखक का ग्रन्थ जो पेरिस विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए प्रस्तुत किया गया था और सिदाब, पेरिस 1970, से प्रकाशित हुआ है । विशेषतः उपर्युक्त शोधग्रन्थ के चौथे भाग को देखिए जिसका शीर्षक है 'ला कोएज्यों क्यूल्तूरेल ए ले वालर कोसमोपोलीत' (सांस्कृतिक समनुरूपता और सार्वभौमिक मूल्य), पृ० 217–68 ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

और व्यापक प्रतिनिधित्व की परम्परा को स्थापित करना है तो आवश्यक है कि हम रेत के उन अनगिनत कणों को एकत्रित कर उनमें चेतना का संचार करें। तभी इस देश के चैतन्य नागरिकों की एक ऐसी सजीव शिला का निर्माण होगा जिस पर इस महान् देश के गगनचुम्बी कीर्ति-स्तम्भ को और भी ऊँचा उठाया जा सकेगा, और भी सुडौल तथा सशक्त बनाया जा सकेगा।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारत में लोकतन्त्र का भविष्य

ब्रजेन्द्र प्रताप गौतम

एक-एक कर एशिया के नवोदित राष्ट्रों को अधिनायकतन्त्र की गोद में जाते देखकर भारत में ही नहीं अपितु समस्त संसार में यह प्रश्न दिन-प्रति-दिन महत्त्वपूर्ण बनता जा रहा है कि भारत में जनतन्त्र का भविष्य क्या है ? चीन, हिन्देशिया, बर्मा, नेपाल, श्रीलंका, पाकिस्तान, आदि विभिन्न एशियाई देशों में जनतन्त्र के शव पर अधिनायकवाद की जिस अट्टालिका का निर्माण किया गया उसकी कहानी की पुनरावृत्ति क्या भारत में भी होगी ? क्या भारत में भी जनतन्त्र का प्रयोग असफल हो जायेगा ? प्रश्न का महत्त्व भारत की दृष्टि से तो है ही, परन्तु संसार की दृष्टि से भी है । संसार में द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् लगभग 90 नवीन राष्ट्रों ने जन्म लिया है । ये सभी नवोदित राष्ट्र बड़ी उत्सुकता के साथ भारत में जनतन्त्र के प्रयोग को देख रहे हैं । यदि भारत में जनतन्त्र का यह प्रयोग असफल हुआ तो इन नवीन राष्ट्रों की जनतन्त्र पर से आस्था उठ जायेगी और इस बात की सम्भावना बढ़ जायेगी कि कहीं वे अधिनायकवाद के चंगुल में न फँस जाएँ । हाँ, यह दूसरी बात है कि चाहे फिर वे स्वयं अपना दिल बहलाने के लिए अथवा संसार को धोखा देने के लिए अपनी शासन-प्रणाली को 'बुनियादी जनतन्त्र', 'लोकवादी जनतन्त्र', 'निर्देशित जनतन्त्र', आदि नामों से पुकारने लगें ।

भारतीय जनतन्त्र के भविष्य का विवेचन करने से पूर्व हम यह कहना चाहेंगे कि जनतन्त्र से हमारा तात्पर्य एक शासन-प्रणाली से ही नहीं वरन् एक जीवन-पद्धति से भी है । जैसा कि संयुक्त राज्य अमरीका के महान् कवि वाल्ट ह्विटमैन ने कहा था : 'ओ मित्र ! क्या तुमने भी यही समझा था कि जनतन्त्र केवल निर्वाचन के लिए, और एक दल के नाम के लिए है ? मैं कहता हूँ जनतन्त्र का सच्चा उपयोग यही है कि वह यहाँ से आगे बढ़कर आचरण में, मानवों के बीच परस्पर के श्रेष्ठतम व्यवहारों में, और उनके विश्वासों में पुष्पित एवं पल्लवित हो—धर्म में, साहित्य में, विद्यालयों और महाविद्यालयों में—सम्पूर्ण व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक जीवन में जनतन्त्र ही जनतन्त्र हो····' । जीवन-पद्धति के रूप में क्या भारत में जनतन्त्र का भविष्य उज्ज्वल है ? यह भी सच है कि जनतान्त्रिक जीवन-पद्धति, जनतांत्रिक शासन प्रणाली में ही सम्भव है । जनतान्त्रिक शासन-प्रणाली के अभाव में जनतान्त्रिक जीवन-पद्धति नारेबाजी हो सकती है, ठोस वास्तविकता नहीं ।

वास्तव में, भारत में जनतन्त्र का भविष्य क्या है, इस प्रश्न पर दो मत हैं : एक ओर तो वे आशावादी हैं जिन्हें कोई कारण नहीं दीखता कि भारत में जनतन्त्र का प्रयोग असफल हो । उनकी दृष्टि में गत बीस वर्षों में भारत का संविधान सफलतापूर्वक कार्यान्वित

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

होता रहा है। भारत में चार महानिर्वाचन तथा एक मध्यावधि निर्वाचन सन् 1971 में हो चुके हैं जो इस बात के प्रमाण हैं कि जनतन्त्र के प्रति जनता की गहरी आस्था है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में विचारों की स्वतन्त्रता और अपने से भिन्न विचारों और उनके रखने वालों के प्रति सहिष्णुता एवं सद्भावना पायी जाती रही है। जनता की अहिंसा में आस्था और शान्तिपूर्ण ढंग से झगड़ों को निपटाने की प्रवृत्ति, वयस्क मताधिकार पर आधारित जनतन्त्र में जनसाधारण और पिछड़े वर्गों के सम्मान और हितों की रक्षा, न्यायपालिका के प्रति श्रद्धा और पंचायत राज योजना के अन्तर्गत राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण के कारण जनतन्त्र की लहर गाँवों तक में दौड़ती जा रही है।

परन्तु यह चित्र का एकांगी पक्ष है। चित्र का एक पक्ष और भी है। आदर्श तथा आशावाद के पंख उतार कर यथार्थ की धरती पर चलते ही हम अनुभव करेंगे कि भारत में जनतन्त्र का जो उज्ज्वल रूप दर्शाने का प्रयत्न किया गया है, यह यथार्थ से भिन्न है। कितने ही विद्वान् भारत में जनतन्त्र के भविष्य के विषय में चिंतित हैं।

स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि सत्य क्या है। क्या भारत में जनतन्त्र का भविष्य उज्ज्वल है ? अथवा नहीं ? किसी भी निर्णय पर पहुँचने के पूर्व यह आवश्यक होगा कि हम भारत की राजनीतिक, सामाजिक, और आर्थिक परिस्थितियों पर दृष्टिपात करें। हम यह देखें कि वे कौनसी शर्तें हैं जो किसी भी देश में जनतन्त्र को सफल बनाती हैं। क्या वे शर्तें, वे परिस्थितियाँ भारत में उपस्थित हैं ?

किसी भी जनतान्त्रिक देश की सफलता के लिए यह आवश्यक है वहाँ पर एक सशक्त विरोधी दल हो, राजनीतिक दल कम से कम हों, जनता शिक्षित हो, समाज में समृद्धि और आर्थिक समानता हो, जनता में अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति अनुरक्ति हो, लोगों में जनतन्त्र के प्रति निष्ठा हो, देश में एकता हो, वह बाह्य आक्रमणों से अपनी रक्षा कर सकता हो, व्यक्ति का चरित्र उच्च हो और वे देश के कानूनों का पालन करते हों तथा समाज में भ्रष्टाचार न हो। हम इनमें से प्रत्येक का विश्लेषण करेंगे।

राजनीतिक दल

किसी देश में जनतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक होता है कि वहाँ राजनीतिक दलों की संख्या कम से कम हो। संयुक्त राज्य अमरीका में अन्य कारणों के अतिरिक्त जनतन्त्र की सफलता का एक कारण यह भी है कि वहाँ द्वि-दल पद्धति—डेमोक्रेटिक और रिपब्लिकन दल—है। अमरीका के दलीय संगठन अत्यन्त ही कठोर, नियन्त्रित एवं केन्द्रित होते हैं। यद्यपि वहाँ अन्य राजनीतिक दल हैं और रहे हैं, तो भी राजनीतिक प्रणाली मुख्य रूप से सदैव ही से दो धाराओं में प्रवाहित होती रही है। अन्य दलों को मैदान में उतरते देखते भी हैं तो वे निर्वाचन में सफलता के निकट नहीं पहुँच पाते। अमरीकी राजनीति में तीसरे दल के निर्माण के समस्त प्रयत्न विफल हो चुके हैं। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि छोटे-छोटे दल जिस कार्यक्रम को लेकर उठते हैं वह दोनों दलों के द्वारा अपना लिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त छोटे-छोटे दलों के पास योग्य नेतृत्व और आर्थिक दृढ़ता की भी कमी रहती है। एक अन्य बात यह भी है कि अमरीका में जाति-भेद, वर्ण-भेद, धर्म-भेद आदि का कोई महत्त्व नहीं है, अतः वहाँ अन्य दल नहीं पनप पाते।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

ग्रेट ब्रिटेन में 20वीं शताब्दी में श्रमिक दल एक तीसरे राजनीतिक दल के रूप में उदित हुआ, परन्तु इसके साथ ही साथ धीरे-धीरे उदार दल का लोप होता गया। एक दल शासन में रहा तो दूसरा विरोध में। साम्यवादी दल भी अपनी जड़ें जमाने का प्रयत्न गत 25 वर्षों से कर रहा है। परन्तु इंग्लैण्ड में दो ही राजनीतिक दलों के बीच सत्ता केन्द्रित रही है और उदार दल तथा साम्यवादी दल की देश की राजनीति में कोई स्पष्ट और निर्णायक भूमिका नहीं रही है। इन कारणों से इंग्लैण्ड में बहुदल पद्धति का विकास नहीं हो सका है।

इन देशों के अतिरिक्त जिन अन्य यूरोपीय देशों में प्रमुख राजनीतिक दलों की संख्या तीन से अधिक रही है, वहाँ संसदीय शासन-पद्धति ने सिर पटक दिया है। फ्रांस, पाकिस्तान नैपाल, इन्डोनेशिया आदि इस कथन के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इन देशों में अत्यधिक राजनीतिक दल होने के कारण किसी भी एक दल को संसद में स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होता, अतः संयुक्त मन्त्रिमण्डल गठित करने पड़ते हैं जो कि स्थिरता प्रदान नहीं करते। ऐसे संयुक्त मन्त्रिमण्डल कभी-कभी तो एक ही रात्रि में भंग हो जाते हैं। फ्रांस में तो इस अव्यवस्थित, ऊबड़-खाबड़ राजनीतिक दल पद्धति के कारण मन्त्रिमण्डल और संसद ही भंग नहीं हुई, किन्तु संविधान भी बदल दिये गये। भारत में सन् 1967 के महा-निर्वाचन के बाद पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा तथा केरल के उदाहरणों को सामने रखकर अनुमान लगा सकते हैं कि संयुक्त मन्त्रिमण्डल कितने अस्थायी होते हैं और किस प्रकार वे संसदीय शासन-प्रणाली के लिए भयावह स्थिति पैदा कर सकते हैं।

इस दृष्टि से यदि भारत की राजनीतिक स्थिति पर दृष्टिपात किया जाय तो अत्यधिक निराशा होती है। प्रथम महानिर्वाचन में भाग लेने वाले कुल 77 राजनीतिक दल थे जिनमें से निर्वाचन आयोग ने 14 को अखिल भारतीय दल की मान्यता दी थी यद्यपि उनमें से कुल 8 ने ही अखिल भारतीय स्तर पर कार्य किया था। शेष स्थानीय दल ही थे जिनमें विकसित राजनीतिक संगठनों की कोई विशेषता नहीं थी। इनमें से अधिकांश दल किन्हीं शक्तिशाली व्यक्तियों के व्यक्तिगत प्रभाव अथवा क्षेत्र-विशेष में रहने वाले वर्ग की जातीय या सामूहिक अपील पर निर्भर थे। देश के राजनीतिक जीवन में अखिल भारतीय स्तर के दलों में से इण्डियन नेशनल कांग्रेस, भारतीय साम्यवादी दल, हिन्दू महासभा, परिगणित जाति-संघ, समाजवादी दल—ये पाँच दल ही महत्त्व रखते थे। शेष तीन कृषक-मजदूर प्रजा पार्टी, रामराज्य परिषद् और जनसंघ का निर्माण निर्वाचन से पूर्व ही हुआ था।

क्षेत्रीय तथा प्रान्तीय दलों में से केवल गणतन्त्र परिषद्—उड़ीसा और बिहार; अकाली-दल—पेप्सू व पंजाब; कृषक-श्रमिक पार्टी—बम्बई, हैदराबाद और मध्य प्रदेश, कृषिकार लोक पार्टी—मद्रास राजस्थान और बम्बई; साम्यवादी ब्लॉक—पश्चिमी बंगाल, मद्रास, पंजाब और बिहार; क्रान्तिकारी समाजवादी दल—त्रावणकोर-कोचीन, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल, ने एक से अधिक राज्यों में अपने प्रत्याशी खड़े किये।

शेष दलों में से झारखण्ड पार्टी, लोकसेवक संघ और जनता पार्टी—केवल बिहार, तमिलनाडु, टायलर्स पार्टी, कामनवील पार्टी, जस्टिस पार्टी और मुस्लिम लीग—मद्रास; प्रजा पार्टी—उत्तर प्रदेश; खेदुत संघ—सौराष्ट्र, उड़ीसा, और तमिलनाडु कांग्रेस—त्रावणकोर-कोचीन तक सीमित थीं। इनके अतिरिक्त असम, मणिपुर और उत्तरी बंगाल के पहाड़ी क्षेत्रों में अनेक कबाइली संगठन थे।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

द्वितीय मध्य निर्वाचन में जनता के आकर्षण तथा रुचि के केन्द्र मुख्यतः चार अखिल भारतीय दल—कांग्रेस, प्रजा समाजवादी दल, साम्यवादी दल और जनसंघ—ही थे। प्रथम महानिर्वाचन में अखिल भारतीय मान्यता प्राप्त हिन्दू महासभा, परिगणित जाति संघ तथा रामराज्य परिषद् वैसी मान्यता प्राप्त करने के प्रयत्न में रहे परन्तु उन्हें अधिक सफलता न मिल सकी। हिन्दू-महासभा केवल मध्य प्रदेश में तथा राम राज्य परिषद् राजस्थान में प्रादेशिक दल की मान्यता प्राप्त कर सके। परिगणित जाति संघ को मान्यता बम्बई, पंजाब, तथा हिमाचल प्रदेश में मिली। डा० राम मनोहर लोहिया द्वारा गठित समाजवादी दल ने भी अखिल भारतीय स्तर की मान्यता प्राप्त करने के लिए प्रयास किया। क्षेत्रीय एवं प्रादेशिक दलों में उड़ीसा की गणतन्त्र परिषद्, बिहार की झारखण्ड पार्टी तथा जनता पार्टी, बम्बई की कृषक पार्टी का प्रभाव प्रथम महानिर्वाचन के समान ही रहा और कुछ प्रादेशिक दलों की स्थिति द्वितीय मध्य निर्वाचन में सुदृढ़ रही। इनके अतिरिक्त कुछ नये प्रादेशिक दलों का भी उदय हुआ। इन में बम्बई की महागुजरात जनता परिषद्, केरल की मुस्लिम लीग, मद्रास की द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम तथा हिमाचल प्रदेश की यूनाइटिड इण्डिपेंडेन्ट फ्रंट, आदि सम्मिलित थीं। बम्बई में संयुक्त महाराष्ट्र समिति ने भी बम्बई प्रान्त में बम्बई के प्रश्न को लेकर काफी लोकप्रियता अर्जित कर ली थी। मद्रास में असन्तुष्ट कांग्रेसियों ने भी एक नया दल बनाया जिसका नाम कांग्रेस रिफॉर्म कमेटी रखा। इस प्रकार प्रथम तथा द्वितीय महानिर्वाचनों में राजनीतिक दलों में कोई विशेष परिवर्तन उपस्थित नहीं हुआ।

तृतीय महानिर्वाचन में 18 बड़े और छोटे दलों ने भाग लिया। स्वतन्त्र पार्टी की स्थापना सन् 1959 ई० में पंडित जवाहरलाल नेहरू की समाजवादी नीति के विरोध में हुई। डा० राम मनोहर लोहिया के समाजवादी दल ने सर्वप्रथम दल के रूप में प्रत्याशियों को खड़ा किया। इन दलों ने कांग्रेस, समाजवादी दल, प्रजा समाजवादी दल और जनसंघ की भाँति अखिल भारतीय दलों के समान होने की मान्यता प्राप्त कर ली। नये राजनीतिक दलों को इस महानिर्वाचन में आशातीत सफलता मिली। क्षेत्रीय दलों में मद्रास में डी० एम० के० दल, पंजाब में अकाली दल और उड़ीसा में गणतन्त्र परिषद् को अच्छी सफलता मिली। इस प्रकार 1962 के चुनावों द्वारा प्रकट किया गया राजनीतिक दलों द्वारा भारत का राजनीतिक मानस और चित्र 1952 और 1957 के महानिर्वाचनों द्वारा प्रस्तुत की गई तस्वीर से अधिक भिन्न नहीं था। इस बीच अखिल भारतीय और क्षेत्रीय राजनीतिक दलों में वृद्धि ही हुई। इस महानिर्वाचन के उपरान्त कांग्रेस विरोध के नाम पर ध्रुवीकरण करने का प्रयत्न आरम्भ हुआ। दक्षिणपंथी एवं वामपंथी दलों में यह मत बनने लगा कि वैचारिक आधार पर समान विचार वाले दलों और तत्त्वों के ध्रुवीकरण का कोई गैर-कांग्रेस लोकतन्त्री विकल्प प्रस्तुत किया जाये जिससे कांग्रेस को सत्ता से पदच्युत किया जा सके।

चतुर्थ महानिर्वाचन में साम्यवादी दल दो भागों में बँट गया और दो अखिल भारतीय स्तर के दल बने। इन दोनों दलों में आपसी तनाव था और वे एक-दूसरे से आगे बढ़ने के प्रयत्न करने लगे। दोनों दल तीनों महानिर्वाचनों में एक समान ही सशक्त रहे। प्रजा समाजवादी और संयुक्त समाजवादी दल एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में सक्रिय रहे। भारतीय जनसंघ, स्वतन्त्र पार्टी, आदि अखिल भारतीय दलों के अतिरिक्त क्षेत्रीय दलों की भी भरमार हुई। कांग्रेस के भीतर भी असन्तुष्ट लोगों ने अनेक राज्यों में विद्रोह कर स्थानीय दल बनाकर

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

चुनाव में भाग लिया जैसे केरल और पश्चिमी बंगाल में। कश्मीर में नेशनल कान्फ्रेंस को पुनरुज्जीवित किया गया। इस निर्वाचन में सम्प्रदायवाद के साथ जातिवाद का आश्रय भी राजनीतिक दलों ने लिया। इस महानिर्वाचन में मजलिस ए-मुशावरात और इत्तहाद ए-मुसलमीन जैसे घोर सम्प्रदायवादी दल को भी काम करने का अवसर मिला।

लोकसभा के मध्यावधि निर्वाचन के समय निर्वाचन आयोग ने नियम बनाकर राजनीतिक दलों की संख्या पर नियन्त्रण किया और नियम था—किसी भी दल को एक राज्य या संघीय राज्य क्षेत्र में मान्यता के लिए आवश्यक है कि उसके प्रत्याशियों को कुल वैध मतों के चार प्रतिशत से कम मत प्राप्त न हुए हों, इस गणना में उन प्रत्याशियों के मत नहीं जोड़े जाते जिनकी जमानत जब्त हो जाती है। चतुर्थ महानिर्वाचन के परिणामों के आधार पर सात राजनीतिक दलों—भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, स्वतन्त्र पार्टी, भारतीय जनसंघ, संसोपा, समाजवादी दल, मार्क्सवादी-साम्यवादी दल, प्रसोपा—को बहुराज्यीय दल के रूप में मान्यता प्रदान कर अखिल भारतीय दल स्वीकार किया गया। कांग्रेस के भी दो गुटों में बँट जाने बाद 1971 के मध्यावधि निर्वाचन में सात से बढ़ कर आठ अखिल भारतीय दल हो गये। इसके अतिरिक्त राज्य-स्तर पर रिपब्लिकन पार्टी, द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम, अकाली दल, भारतीय क्रान्ति दल, आदि दल रहे। तेलंगाना प्रजा समिति, मुस्लिम लीग, मुस्लिम मजलिस, आदि भी राज्य स्तर के दलों की स्थापना चतुर्थ महानिर्वाचन के उपरान्त हुई थी। इस प्रकार राजनीतिक दलों—अखिल भारतीय स्तर, बहुराज्यीय स्तर, एवं राज्यीय स्तर—की संख्या में वृद्धि होती रही है और साम्प्रदायिकता एवं जातीयता के आधार पर नये दलों को वरीयता प्राप्त हुई है। स्पष्ट है कि यह स्थिति देश में जनतन्त्र के भविष्य को शंकास्पद करती है।

इसी से मिलती-जुलती एक बात यह भी है कि किसी भी देश में जनतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक है कि वहाँ एक सशक्त विरोधी दल हो जो आवश्यकता पड़ने पर सत्ताधारी दल का स्थान ग्रहण कर सके। बहुमत दल शासन चलाता है तथा विरोधी दल उसकी आलोचना कर उसे सचेत करता है। राजनीतिक दल विभिन्न स्वार्थों तथा हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। जनता इन्हीं दलों के माध्यम से अपनी कठिनाइयों को सरकार तक पहुँचाती है। इस प्रकार जनता तथा सरकार के बीच विरोधी दल कड़ी का काम करते हैं। वे सरकार तथा जनता के बीच सामंजस्य स्थापित करते हैं। जनतन्त्र में यदि सरकार पर जनता का नियन्त्रण न रहे तो जनतन्त्र सफल नहीं हो सकता। नियन्त्रण को व्यावहारिक रूप देने का सर्वोत्तम माध्यम विरोधी दल ही है। हमारे देश में स्वाधीनता-प्राप्ति के उपरान्त से एक सशक्त विरोधी दल का अभाव रहा है जिसके कारण सत्ताधारी दल पर कोई अंकुश न रहने से वह निष्क्रिय, भ्रष्ट एवं अनुत्तरदायी हो गया है। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद सन् 1964 तक पंडित जवाहरलाल नेहरू वर्चस्व की चरम सीमा पर रहे और जनतान्त्रिक ढाँचे में सन् 1952, सन् 1957 और सन् 1962 के महानिर्वाचनों में कांग्रेस की विजय से उनकी स्थिति विश्व के किसी बड़े से बड़े सम्राट या अधिनायक से कम नहीं थी और सन् 1962 के उपरान्त पंडित गोविन्द वल्लभ पन्त तथा मौलाना अबुल कलाम आजाद के निधन के पश्चात् कांग्रेस में ऐसा कोई नेता नहीं था जो उनके विरोध में स्वतन्त्र मत व्यक्त कर सके। वही नीतियाँ निर्धारित करते थे और वही उनको कार्यान्वित करते थे। उन्होंने विरोधी दल को सशक्त ही नहीं होने दिया। विरोधी दल कांग्रेस का विरोध करते हुए भी पण्डित नेहरू का विरोध करने में घबराते

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

थे। खुलकर विरोध करने वाले एकमात्र नेता थे डा० राम मनोहर लोहिया तथा उनके अनुयायी। परन्तु जनता में डा० साहब और उनके दल की तस्वीर नहीं उभर सकी। कांग्रेसी लोग इस चित्र को सदैव धूमिल ही करते रहे। अतः पण्डित नेहरू का देश में 15 वर्षों तक एकछत्र राज्य रहा। उनके निधन के पश्चात् भारत के प्रधानमन्त्री मूलतः राष्ट्रवादी एवं यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाने वाले श्री लाल बहादुर शास्त्री बने। उन्होंने गरीबी देखी थी और उसका अनुभव भी किया था। इस कारण वह भारतीय परम्परा और संस्कृति से अनुप्राणित थे और देश के चित्त को राष्ट्रीयता के साँचे में ढालना चाहते थे। उनके 18 माह के शासन काल में विरोधी पक्ष कुछ सशक्त अवश्य हुआ था परन्तु उनका शीघ्र निधन हो जाने के कारण भारत की बागडोर पुनः नेहरू वंश को मिली। पंडित जी की एकमात्र सन्तान श्रीमती इन्दिरा गाँधी भारत की प्रधानमन्त्री बनीं। 1967 के चौथे महानिर्वाचन में विरोधी दल केन्द्र में तथा राज्यों में भी अपेक्षाकृत सशक्त रूप में उभरा लेकिन 1971 के लोकसभा मध्यावधि निर्वाचन में श्रीमती गाँधी को आशातीत सफलता प्राप्त हुई और विरोधी दल क्षीण हो गया।

आगे की तालिका–1 में विरोधी दलों की लोकसभा में गत चार महानिर्वाचनों तथा सन् 1971 के मध्यावधि निर्वाचन में और राज्य विधान सभाओं में गत चार महानिर्वाचनों में स्थिति के तुलनात्मक आँकड़े प्रस्तुत किये गये हैं।

संसद तथा राज्य विधानसभाओं में विरोधी दलों के विजयी उम्मीदवारों की संख्याओं के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि गत 20 वर्षों के बाद भी देश में सशक्त विरोधी दल बनना तो क्या, विरोधी दल बनने के आसार तक प्रकट नहीं हुए। भारत में एक सशक्त विरोधी दल के अभाव में सत्तारूढ़ कांग्रेस भ्रष्ट, निरंकुश एवं अनुत्तरदायी हो रही है। उसमें निहित स्वार्थों का बोलबाला हो रहा है। उसके आन्तरिक अनुशासन की शृङ्खला दिन पर दिन टूट रही है। अनुशासनहीन, भ्रष्ट एवं स्वार्थी तत्त्वों के अतिरिक्त कांग्रेस की शिथिलता का कारण, जो बाद में उसके बिखरने और टूटने का कारण होगा, यह है कि कांग्रेस के विभाजन के बाद भी दोनों कांग्रेस में तीन विचारधाराएँ चल रही हैं। एक ओर तो कांग्रेस का एक गुट उग्र समाजवादी अर्थात् प्रच्छन्न साम्यवादी है, दूसरी ओर उसमें उग्र पूँजीवादी तत्त्व विद्यमान हैं। इन दोनों परस्पर-विरोधी तत्त्वों के बीच मध्यमार्गीय विचार के लोग संतुलन बनाये हुए हैं परन्तु न तो सन्तुलन रह पाया है और न ध्रुवीकरण ही वास्तविक अर्थों में हुआ है।

राजनीतिक दलों के विषय में आशंका का कारण राजनीतिक दलों की अधिकता और ऐसे दलों का अस्तित्व है जो जनतंत्र में विश्वास नहीं रखते। साम्यवादियों ने जो तीन दलों—सी० पी० आई०, सी० पी० आई० (एम०) और सी० पी० आई० (एम०-एल०) (नक्सलवादी) में विभक्त हो गये हैं कभी भी जनतंत्र को समाप्त कर सोवियत संघ या चीनी आदर्श के अधिनायकवाद को स्थापित करने के अपने उद्देश्य को छिपाया नहीं। उन्होंने खुल्लमखुल्ला संविधान को नष्ट करने और हिंसक क्रान्ति लाने की बात कही है परन्तु फिर भी निर्वाचनों में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। साम्यवादी दल ने प्रथम महानिर्वाचन में लोकसभा में 16 और राज्य विधानसभाओं में 106 स्थान प्राप्त कर यह प्रमाणित कर दिया कि भारत में बहुत से लोग साम्यवादी सिद्धान्तों से प्रभावित हैं क्योंकि उस समय दल पर अनेक राज्यों में प्रतिबन्ध भी लगा हुआ था। साम्यवादी दल ने द्वितीय महानिर्वाचन में लोकसभा में 27 तथा

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सारिणी—1 : संसद तथा विधानसभाओं में विरोधी दलों की स्थिति

दल	संसद					विधानसभाएँ			
	1971	1967	1962	1957	1952	1967	1962	1957	1952
1. प्रसोपा	2	13	12	19	21	156	159	208	197
2. संसोपा	3	23	—	—	—	180	13	—	—
3. भारतीय जनसंघ	22	35	14	4	3	268	116	46	30
4. स्वतंत्र पार्टी	8	42	18	—	—	256	171	—	—
5. साम्यवादी दल	23	23	29	27	16	122	174	177	106
6. मार्क्सवादी-साम्यवादी दल	25	19	—	—	—	127	40	—	—
7. विभिन्न दल एवं निर्दलीय	82*	81	62	73	85	732	634	633	680

* डी० एम० के० 23, संगठन कांग्रेस 16, तेलंगाना प्रजा समिति 10, बी० के० डी० 1, निर्दलीय एवं अन्य 32।

राज्य विधानसभाओं में 177 स्थान प्राप्त किये। इस प्रकार प्रथम महानिर्वाचन की तुलना में स्थानों तथा मत प्रतिशत में वृद्धि हुई। तृतीय महानिर्वाचन में विरोधी दलों में सर्वाधिक मत साम्यवादी दल को ही प्राप्त हुए। इसे लोकसभा में 29 और राज्यों की विधानसभाओं में कुल मिलाकर 207 स्थान प्राप्त हुए। चतुर्थ महानिर्वाचन में लोकसभा में दोनों गुटों को 42 तथा राज्यों की विधानसभाओं में कुल मिलाकर 249 स्थान मिले। चतुर्थ महानिर्वाचन के उपरान्त तथा कांग्रेस के विभाजन के पश्चात् श्रीमती इन्दिरा गाँधी और उनकी सरकार की सोवियत संघ पर बढ़ती हुई निर्भरता, सन् 1971 के मध्यावधि निर्वाचनों में इन्दिरा काँग्रेस और सी० पी० आई० में गठजोड़, कांग्रेस के अन्दर अनेक प्रच्छन्न साम्यवादियों और सहयात्रियों का प्रवेश तथा पश्चिमी बंगाल में इन्दिरा काँग्रेस और सी० पी० आई० की संयुक्त सरकार तथा केरल में इन्दिरा काँग्रेस के बल पर साम्यवादी सरकार का गठन इस बात का द्योतक है कि भारत की राजनीति और प्रशासन में साम्यवादियों का प्रभाव बढ़ रहा है। जिन-जिन प्रदेशों में वे लोकतंत्री ढंग से सत्ता के भागीदार बने हैं वहाँ पर बाद में उन्होंने जनतंत्र की जड़ें खोदने और सत्ता का प्रयोग हिंसक क्रान्ति के लिए भूमि तैयार करने के लिए किया है जैसा कि पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया व रोमानिया में। साम्यवादी दल एक राजनीतिक शून्य में प्रवेश कर अपना स्थान बना सकता है जैसा कि पश्चिमी बंगाल में। वास्तव में इस प्रकार साम्यवाद का भय भारत में जनतंत्र के लिए सबसे बड़ा भय है। भारत का साम्यवादी दल लेशमात्र भी जनतंत्र में विश्वास नहीं करता है। साम्यवाद और जनतंत्र में वही सम्बन्ध है जो श्मशान घाट और शान्ति में है। साम्यवाद स्वयं में एक अच्छी शासन-पद्धति हो सकती है, लेकिन वह जनतान्त्रिक कदापि नहीं है। फिर साम्यवादी दल की निष्ठा देश के प्रति नहीं है जैसा कि सन् 1962 और सन् 1965 के आक्रमणों के समय प्रदर्शित हुआ। स्वर्गीय ख्रुश्चेव, स्वर्गीय पंडित जवाहरलाल नेहरू के अभिन्नतम मित्र थे परन्तु चीनी आक्रमण के समय 'प्रावदा' और 'इजवेस्तिया' ने कहा था कि चीन हमारा भाई है और भारत हमारा मित्र। साम्यवादी दल के इतिहास से स्पष्ट होता है कि उसने राष्ट्रीय आवश्यकताओं एवं राष्ट्रीय आन्दोलनों के ऐतिहासिक मोड़ के समय भी देश की जनता का साथ नहीं दिया बल्कि वह सोवियत संघ और चीनी साम्यवादी शासन से संचालित तथा निर्देशित होता रहा।

तो क्या भारत की जनता स्वतंत्र पार्टी तथा अन्य ऐसे सहगामी दलों का साथ दे ? निश्चय ही तृतीय महानिर्वाचन में जो कि स्वतंत्र पार्टी का प्रथम प्रयास था, इस दल को आश्चर्यजनक सफलता मिली। इसे केन्द्र में 18 और राज्यों की विधानसभाओं में 171 स्थान प्राप्त हुए। काँग्रेस का एक वर्ग स्वतंत्र पार्टी की नीतियों का तभी से समर्थन करता रहा है। काँग्रेस के विभाजन के उपरान्त मध्यावधि निर्वाचन में चार-दलीय समझौते में संगठन काँग्रेस और स्वतंत्र पार्टी ने प्रमुख भूमिका अदा की। इस दल का अस्तित्व तभी तक कुछ बना हुआ है जब तक कि इसे राज्य छिन जाने तथा प्रिवी पर्स की समाप्ति से क्षुब्ध राजे-रानियों तथा पूँजीपतियों और उच्च पदाधिकारियों का सहयोग मिलता रहता है। वास्तव में निर्वाचन-विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि दल को जनता का कोई समर्थन प्राप्त नहीं है। दल का अनुशासन कठोर न होने से मझधार में दल की नैया डगमगा सकती है।

यदि लोकतान्त्रिक समाजवादी दल आपस में मिल कर कार्य करें तो एक सशक्त विरोधी दल का निर्माण हो सकता है। परन्तु प्रसोपा का दुर्भाग्य रहा है कि इस दल पर ही

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सबसे अधिक भीषण तुषारापात 20 वर्षों में होते रहे हैं। संसोपा में भी डा० राममनोहर लोहिया के निधन के पश्चात् विघटन एवं अनुशासनहीनता के संकेत मिलने लगे। परन्तु स्वर्गीय जवाहरलाल जी के बाद से समाजवाद के सिद्धान्तों के प्रति जनता की आस्था बढ़ती जा रही है। लोकतान्त्रिक समाजवादी दलों में नेतागिरी के प्रश्न तथा दलों के कुछ नेताओं के दुराग्रह के कारण देश में समाजवादी आन्दोलन की प्रगति नहीं हो पा रही है।

ऐसी स्थिति में दृष्टि जनसंघ पर जा टिकती है, जो सतत साधना, कठोर परिश्रम तथा अनुशासित व निःस्वार्थ कार्यकर्त्ताओं के बल पर निरन्तर प्रगति कर रहा है। उत्तर भारत में चार महानिर्वाचनों में इसने पर्याप्त शक्ति बटोर ली है। सैद्धान्तिक दृष्टि से जनसंघ एक गैर-साम्प्रदायिक दल है। वह भारत की संस्कृति और परम्परा के अनुकूल है। साधारण हिन्दू जनता इसको कुछ अच्छा समझती है। परन्तु राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण संघ के नेता पार्टी की नीति का निर्धारण करते हैं। अतः इस दृष्टि से जनसंघ साम्प्रदायिक दल है। सन्तुलित आर्थिक व्यवस्था का समर्थन, अनुशासित कार्यकर्ताओं की सेना तथा उग्र राष्ट्रवादी विचार होते हुए भी जब तक जनसंघ पर से साम्प्रदायिकता का कलंक नहीं उतरता, तब तक इस देश की पृष्ठभूमि में उसके लिए कोई विशेष स्थान नहीं है।

संक्षेप में ये भारत के प्रमुख राजनीतिक दल हैं। कांग्रेस जर्जर हो रही है, टूट चुकी है। वह दो भागों में विभक्त हो चुकी है परन्तु उसकी टक्कर का दूसरा कोई दल नहीं है। किसी भी विरोधी दल को जनता का समर्थन प्राप्त नहीं है। दूसरे लोकतन्त्री दलों में वास्तविक रूप में ध्रुवीकरण होने के लक्षण भी दिखायी नहीं दे रहे। परन्तु साम्यवादी विचार एवं नीतियाँ अवश्य पनप रही हैं और इनके प्रभाव को लोकतन्त्री दल रोक नहीं पा रहे। स्वयं इन्दिरा काँग्रेस में भी प्रच्छन्न साम्यवादियों और सहयोगियों का प्रवेश जोरों पर जारी ही नहीं है वरन् वह दल की नीतियों में भी प्रमुख भूमिका अदा कर रहा है। सुव्यवस्थित और स्वस्थ राजनीतिक दल-पद्धति के अभाव में जनतंत्र का भविष्य संदिग्ध हो सकता है।

आर्थिक समृद्धि और समानता

जनतंत्र की सफलता का एक अन्य महत्त्वपूर्ण आधार आर्थिक समृद्धि व आर्थिक समानता है। कोई भी देश, जो साम्यवादी हो, किसी भी प्रकार से भारत का शुभेच्छु नहीं हो सकता। भारत की जनता निर्धन, दलित और अविकसित है। कोई भी देश, जहाँ मनुष्य और मनुष्य के मध्य आर्थिक असमानता की खाई गहरी हो, क्रान्ति को आह्वान देता है। प्रोफेसर हेरल्ड जे० लास्की के अनुसार आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता व जनतंत्र एक ढोंग है व अपूर्ण है। इस दृष्टि से यदि हम भारत की आर्थिक परिस्थितियों का अध्ययन करें तो एक बार पुनः निराशा ही हाथ लगेगी। आचार्य जे० बी० कृपलानी जी ने कहा था : 'मेरे विचार से भारत में जनतंत्र को सबसे बड़ा खतरा जनसाधारण की गरीबी और व्यापक बेरोजगारी से है। आज देश में बेकारी, बेरोजगारी और भुखमरी चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के मध्याह्न तक भी कम होती नहीं दिखायी दे रही है।' प्रथम योजना के प्रारम्भ में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या 50 लाख थी, द्वितीय योजना के प्रारम्भ में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या बढ़कर 70 लाख हो गई। द्वितीय योजना के अंत में बेकारों की संख्या 90 लाख हो गई। सन् 1965–66 में कुल एक करोड़ व्यक्ति बेकार थे, सन् 1970–71 तक 2·3 करोड़

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

व्यक्ति श्रम बाजार में प्रवेश कर चुके हैं। इसी प्रकार सरकारी आँकड़ों के अनुसार हमारी राष्ट्रीय और प्रति व्यक्ति आय सन् 1948–49 में क्रमशः 8,650 करोड़ व 249·6 रुपये से सन् 1959–60 में बढ़कर 12,950 करोड़ रुपये तथा 304·8 रुपये हो गयी। वह सन् 1969–70 में बढ़कर 31,174 करोड़ रुपये तथा 329·9 रुपये हो गयी। यद्यपि आँकड़ों की दृष्टि से देश प्रगति-पथ पर है पर प्रगति की गति बहुत धीमी है।

आर्थिक विपन्नता के बाद दूसरा रोग है—आर्थिक असमानता। जिस देश में आर्थिक असमानता का रोग व्याप्त हो, जहाँ समाज धनवान और निर्धन दो भागों में विभाजित हो, वहाँ जनतंत्र कभी भी नहीं टिक सकता। आर्थिक समानता के साथ ही सम्बद्ध एक अन्य बात भी है—सामाजिक समानता। आचार्य जे० बी० कृपलानी ने कहा है :

> 'सामाजिक और आर्थिक समानता जनतांत्रिक स्वतंत्रता के लिए सामग्री प्रदान करती हैं। पहली के अभाव में दूसरी अपूर्ण है। 19वीं शताब्दी में बिना किसी सामाजिक व आर्थिक समानता के राजनीतिक स्वतंत्रता की बात करना सम्भव था; किन्तु अब तो इस बात को बिलकुल मान्यता मिल चुकी है कि जब आर्थिक और सामाजिक समानता एवं स्वतंत्रता न हो तो राजनीतिक स्वतंत्रता की सम्भावना बहुत कम हो जाती है।'

जनतंत्र एक शासन-पद्धति ही नहीं, एक जीवन पद्धति भी है और जीवन-पद्धति के नाते आर्थिक समानता के साथ-साथ सामाजिक समानता भी जनतंत्र का एक आवश्यक अंग है। भारत में आर्थिक और सामाजिक समानता का अभाव है। इसके बावजूद कि देश की सरकार का उद्देश्य समाजवादी सिद्धान्तों पर समाज की रचना करना है, आज भी देश में स्वतंत्रतापूर्व काल के राजे-महाराजों और प्रजा के समान दो वर्ग विद्यमान हैं। देश में एक ओर ऐसा वर्ग है जो बिना कोई परिश्रम किए सारे दिन वातानुकूलित होटलों के मखमली सोफों पर सुरा-सुन्दरी के स्वप्न में डूबा हो तथा जिसे विलास की समस्त सामग्री उपलब्ध हो और दूसरी ओर वह अभागा दलित और शोषित वर्ग है जो सारे दिन खून-पसीना एक करने के पश्चात् भी अपने परिवार के लिए दो वक्त की रोटी नहीं जुटा पाता और अपने बच्चों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध नहीं कर पाता। निस्संदेह शासन की ओर से आर्थिक असमानता को मिटाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। परन्तु ये प्रयत्न या तो निष्फल हैं या अपूर्ण। आज देश में अमीर और अधिक अमीर तथा गरीब और अधिक गरीब होता जा रहा है। समाजवाद के नाम पर सरकारी पूँजीवाद को स्थापित किया जा रहा है और जनता के आर्थिक जीवन पर सरकारी नियन्त्रण बढ़ाया जा रहा है। व्यापार, उद्योग और बैंकों तथा अन्य आर्थिक गतिविधियों को सरकार के अधिकार में लाने पर भी जनता को कोई विशेष सुविधा नहीं हुई है। यदि देश में आर्थिक समानता का अभाव हो तो सामाजिक समानता बहुत दूर की बात है।

स्पष्ट है कि आर्थिक दृष्टि से भी देश की वर्तमान परिस्थितियाँ भारी असन्तोष को जन्म देती हैं। इस असन्तोष में एक क्रान्ति के आह्वान के लक्षण दिखायी देते हैं। वह क्रान्ति जनतंत्र के विरुद्ध भी हो सकती है और साम्यवाद व फासीवाद के समर्थन में भी।

जनशिक्षा व जनतंत्र के प्रति निष्ठा

जनतंत्र की सफलता के लिए एक अन्य आवश्यक आधार है कि वहाँ की जनता शिक्षित

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

हो। एक सच्चे जनतंत्र में वयस्क स्त्री और पुरुष दोनों को मताधिकार प्राप्त होता है। जनतंत्र की नींव ही इस अधिकार पर टिकी हुई है। सफल जनतंत्र के लिए यह आवश्यक है कि जनता सुशिक्षित हो। सम्भवतः इसी कारण आज से सौ वर्ष पूर्व जॉन स्टुअर्ट मिल ने लिखा था, 'मैं इसे सर्वथा आवश्यक समझता हूँ कि किसी ऐसे व्यक्ति को मत देने का अधिकार न हो, जो न पढ़ सकता हो और न लिख सकता हो, साथ ही यह भी कि जो अंकगणित के प्रश्न न कर सकता हो।'

हमारे पड़ौसी देश पाकिस्तान में जनतंत्र की असफलता का एक महत्त्वपूर्ण कारण वहाँ की जनता का अशिक्षित होना था। राष्ट्रपति अयूब खाँ ने जनतंत्र को समाप्त करके सैनिकवाद की नींव रखते समय कहा था, 'पाकिस्तान में जनतंत्र की असफलता का मुख्य कारण यह है कि वहाँ 95 प्रतिशत जनता अशिक्षित है, इसके विपरीत यदि संयुक्त राज्य अमरीका की ओर देखा जाए तो वहाँ जनतंत्र की सफलता का कारण यह है कि 95 प्रतिशत जनता शिक्षित है।'

यह वास्तव में संतोष का विषय है कि देश में शिक्षा के प्रति जनमत बनता चला जा रहा है। साक्षर व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि हो रही है। इस समय देश की 32 प्रतिशत जनता साक्षर है और शिक्षा प्राप्त करने के लिए जनता आतुर है तथा सरकार सहायक। देश में सहस्रों विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई है और हो रही है। समाज के पिछड़े और अनुसूचित भाइयों को नाना प्रकार की सुविधाएँ शिक्षा-प्राप्ति के लिए सरकार द्वारा दी गयी हैं और अन्य सुविधाएँ देने के लिए योजनाएँ भी जारी हैं। निश्चय ही इस शिक्षा के साथ-साथ जनतंत्र की नींव भी दृढ़ होती जायेगी।

परन्तु क्या हमारी शिक्षा पद्धति से जनमत में जनतंत्र के प्रति निष्ठा उत्पन्न हो रही है? जिस देश के निवासियों में जनतंत्र के प्रति निष्ठा न हो, वहाँ जनतंत्र सफल नहीं हो सकता। यद्यपि हमारी आधुनिक शिक्षा प्रणाली एक ओर ऐसी अवश्य है कि जिसके द्वारा विद्यार्थी के मन में जनतंत्र के प्रति आस्था उत्पन्न हो, वह यह जान जाये कि जनतंत्र ही सर्वोत्तम शासन-प्रणाली और जीवन-पद्धति है, परन्तु समाज की घटनाएँ और परिस्थितियाँ कुछ और ही कहती हैं। राज्य की विधानसभा और राष्ट्रीय सम्मान की प्रतीक लोकसभा के अध्यक्ष की आज्ञा का पालन न कर सदस्य न जाने क्यों अजनतांत्रिक व्यवहार करते हैं। कभी कभी तो विधानसभाओं में हुल्लड़ और हंगामों को देख कर ऐसा लगता है कि हमारे बड़े-बड़े नेताओं की जनतंत्र के प्रति आस्था नहीं है।

दल-बदल की बढ़ती हुई बीमारी जनतंत्र के विकास और उसके भविष्य के लिए और बड़ा खतरा बन गयी है। जनतंत्र में दल-बदल बिल्कुल अनहोनी बात नहीं। विचारों और नीतियों के मामले में तीव्र मतभेद की सूरत में संसार के कई बड़े-बड़े जनतंत्रवादी नेताओं ने भी किसी समय अपने दल बदले थे। इस प्रकार का दल-बदल असाधारण बात होती है। उसे बिलकुल बन्द करना सम्भव नहीं और जनतंत्र के सम्यक् विकास के लिए सम्भवतः उचित भी नहीं। परन्तु देश में सन् 1967 के महानिर्वाचन के बाद से जो दल-बदल हो रहा है, उसका वैचारिक मतभेदों से दूर का भी रिश्ता नहीं। ये दल-बदल गद्दियों या धन के लालच में हो रहे हैं। इन दल-बदलुओं ने अनेक राज्यों में राजनीतिक क्रान्ति ला दी और किसी भी मन्त्रिमण्डल की स्थिरता और स्थायित्व के विषय में सन्देह पैदा कर दिया। यदि दल-बदल की

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

बीमारी बढ़ती गयी तो इससे जनतंत्र के साथ-साथ सार्वजनिक जीवन भी कलुषित हो जायेगा और जनता की आस्था जनतंत्र और जनतंत्र के नाम पर चुने गये विधायकों और शासकों पर से उठ जायेगी। इसके अतिरिक्त आज का नागरिक यह अनुभव करता है कि देश में भ्रष्टाचार बढ़ रहा है, कानून उल्लंघन की घटनायें दिन-प्रति-दिन होती रहती हैं, आर्थिक विकास की गति बहुत ही धीमी है, विघटनकारी शक्तियाँ बढ़ती जा रही हैं, हमारे आन्तरिक एवं बाह्य मामलों में विदेशी शक्तियों द्वारा दबाव डाले जाते हैं, जनता अपनी समस्याओं का समाधान तुरन्त नहीं कर पाती है। स्वाभाविक रूप से इसलिए जनता में जनतंत्र के प्रति आस्था कम होती जा रही है। आचार्य जे० बी० कृपलानी ने कहा है कि जब शासक दल पर दबाव पड़ जाता है और वह कानून का पालन करवाने में असमर्थ हो जाता है, तब लोग स्वयं ही सुदृढ़ एवं स्थायी सरकार के विषय में सोचना प्रारम्भ कर देते हैं। फिर वे लोग अधिनायकवाद से भी भयभीत नहीं होते। साधारण व्यक्ति विचारधाराओं की परवाह नहीं करते। उन्हें तो बस यही चिन्ता रहती है कि राज्य का कार्य चलता रहे। यदि जनतंत्र उसे नहीं कर सकता है या नहीं करता है तो वे प्रसन्नता से अधिनायकवाद को स्वीकार कर लेते हैं।

राष्ट्रीय एकता

राष्ट्रीय एकता के अभाव में जनतन्त्र तो क्या कोई भी शासन-पद्धति नहीं टिक सकती। परन्तु जनतन्त्र तो विशेष रूप से राष्ट्रीय एकता की माँग करता है। विशेष कारण यह है कि अधिनायकतन्त्र में तो बलपूर्वक एकता थोपी जा सकती है और विघटनकारी शक्तियों का दमन किया जा सकता है, जैसा कि चीन में किया गया, किन्तु जनतन्त्र में यह सम्भव नहीं, क्योंकि उसमें उतनी निर्दयता और कठोरता को स्थान नहीं है।

भारत में राष्ट्रीय एकता की समस्या इसलिए भी अधिक विकट है कि यहाँ जनतन्त्र अभी शैशवावस्था में है। परन्तु कुछ व्यक्तियों के अनुसार यह सर्वाधिक चिन्ता का विषय है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत में विघटनकारी शक्तियाँ बढ़ती जा रही हैं। कहना कठिन है कि स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों में भारत में राष्ट्रीय एकता की जो लहर व्याप्त थी, आज वह ढूँढ़ने से भी नहीं मिलती है। हम भूल गये हैं कि देश का जब भी पतन हुआ है, वह विदेशी आक्रमणों के द्वारा नहीं, और न ही बाह्य शत्रुओं के द्वारा, वरन् इसका पतन हमारी आपस की फूट और वैमनस्य के कारण हुआ है।

सन् 1971 के मध्यावधि-निर्वाचनों के विश्लेषण से पता चलता है कि प्रत्याशियों ने निर्धन और अपढ़ मतदाताओं के मत लेने के लिए नारी, धर्म, जातिवाद, अल्पसंख्यकों को सुरक्षा और साथ-साथ धन का प्रयोग कर मत प्राप्त किये जो देश के लिए खतरा है। हर दो-चार महीनों में भारत के किसी न किसी स्थान पर साम्प्रदायिक दंगे हो जाते हैं जिनका उपयोग निर्वाचन में दलों के प्रत्याशी करते हैं। भाषा, जातीय भावना तथा उत्तर-दक्षिण के प्रश्न को लेकर भी कहीं न कहीं तनाव उपस्थित रहता ही है। कुछ तत्त्व जो भारत की अपेक्षा दूसरे देशों के प्रति अधिक निष्ठावान् सिद्ध हुए हैं, पनप रहे हैं।

जातीय भावना तो देश में इतनी व्याप्त हो गई है कि वह देश के सम्पूर्ण प्रशासन को घुन बनकर खा रही है। यही नहीं, शिक्षा-संस्थाओं में भी इसका प्रचलन जोरों से व्याप्त हो गया है। सत्ताधारी दल से लेकर जाति-विरोधी साम्यवादी और समाजवादी दल तक सभी

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

जातिवाद के शिकंजे में जकड़ते जा रहे हैं। निर्वाचनों में प्रत्याशियों को खड़ा करते समय जातिगत आधार को विशेष प्रश्रय दिया जाता है। जातिगत हित के लिए राष्ट्रीय हित का बलिदान किया जा रहा है। देश में राजनीतिक गतिविधियाँ भी जातिवाद के नाम पर संचालित और नियन्त्रित हो रही हैं।

इसी प्रकार क्षेत्रीयता भी राष्ट्रीय एकता व प्रगति में बाधा बनती जा रही है। प्रान्तों एवं क्षेत्रीयता के हितों के लिए आन्दोलन, भाई-भाई का खून, सीमाओं के लिए झगड़े, नदी-नहर के पानी के लिए विवाद तो आये दिन की चर्चा हैं। गोआ महाराष्ट्र में जाये कि मैसूर में, चण्डीगढ़ पंजाब में जाये कि हरियाणा में, हिमाचल प्रदेश पंजाब में रहे या अलग, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, हरियाणा तथा दिल्ली को मिलाकर विशाल हरियाणा बनाया जाये, इन विषयों को लेकर बड़े-बड़े आन्दोलन खड़े किये जाते रहे हैं, हजारों व्यक्ति हड़ताल और भूख-हड़ताल करते हैं। छोटे-छोटे प्रश्नों को लेकर लोग आत्मदाह करने की चेतावनी देते रहते हैं।

इन सबसे बढ़कर भाषा को लेकर विशेषकर राष्ट्र-भाषा हिन्दी को लेकर देश में किसी भी समय व्यापक रूप से संघर्ष हो सकता है। अहिंन्दी भाषी व्यक्ति तथा कुछ आंग्लवादी विद्वान् अंग्रेजी को भारत में लादे रखना चाहते हैं तो दूसरी ओर हिन्दी-प्रेमी अहिन्दी भाषियों पर हिन्दी थोपना चाहते हैं। दोनों में से कोई भी झुकने को तैयार नहीं। समझौता केवल राष्ट्रीय सम्मान की हत्या करके ही हो सकता है, नहीं तो भयानक संघर्ष की पूर्ण सम्भावना है।

परन्तु देश की संकटापन्न अवस्था में देश के सभी भागों से एकता की जो आवाज उठती रही है तथा सन् 1962 और सन् 1965 के आक्रमण के समय जिसका सजीव परिचय मिला, उससे प्रमाणित होता है कि भारत एक है और लोगों ने सभी धर्मों, जातियों, प्रदेशों तथा भाषाओं के भेदभाव समाप्त कर डटकर युद्ध में साथ दिया। परन्तु युद्ध या संकट स्थायी वस्तु नहीं है। सदैव ही जनता को युद्ध का भय दिखाकर एक बनाये रखना कठिन है। महत्त्व-पूर्ण प्रश्न है कि क्या संकट अथवा युद्धकाल की एकता शान्तिकाल में भी बनी रहेगी ? देश में जनतन्त्र का भविष्य स्थायी एकता पर निर्भर होता है।

व्यक्तिगत चरित्र तथा सामाजिक नैतिकता

जनतन्त्र की सबसे बड़ी दुर्बलता सामाजिक अनैतिकता तथा राष्ट्रीय चरित्र का अभाव है और दुर्भाग्यवश भारत में अनैतिकता, चरित्रहीनता और भ्रष्टाचार चरम सीमा पर पहुँच चुके हैं। भ्रष्टाचार, प्रशासन के सब अंगों तथा समाज के सभी क्षेत्रों में प्रवेश कर जनतन्त्र की जड़ों पर प्रहार कर रहा है। इस सामाजिक अनैतिकता के कारण समाज में खुले आम रिश्वत-खोरी और काला बाजारी का बोलबाला है। राष्ट्रीय धन और राष्ट्रीय चरित्र की चिन्ता किये बिना चारों ओर लोलुपता की होड़ लगी है। चरित्र, नैतिकता व धर्म के सब बन्धन ढीले हो गये हैं। समाज में देखा यह जा रहा है कि अयोग्य, चाटुकार, धूर्त और अवसरवादी व्यक्ति आगे बढ़ते जा रहे हैं। यहाँ तक कि समाचार-पत्र एवं पत्रिकाओं में आये दिन पढ़ने को मिल रहा है कि सरस्वती के पवित्र विद्यामन्दिर भी भ्रष्ट और चरित्रहीन व्यक्तियों की दूषित गतिविधियों के शिकार हो गये हैं। हमारे विद्यार्थियों ने पाश्चात्य देशों का अनुकरण भौतिक सुखों के लिए तो कर लिया है परन्तु उनके गुणात्मक विकास का अनुकरण नहीं किया जिसका परिणाम है कि शिक्षित युवक पश्चिमी देशों के युवकों की तुलना में दोनों ही प्रकार से पीछे

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

होता जा रहा है ।

विविध रूपों में हमारी भ्रष्टता व चरित्रहीनता का नमूना सामने आ रहा है। उदाहरणार्थ वी० पी० मेनन ने कहा है :

'चुनावों में बढ़ते हुए खर्चों के कई दुष्परिणाम हुए हैं । एक चुनाव जीतने के लिए आवश्यक खर्च वैधानिक रूप से नहीं किया जा सकता । इसलिए वह छिपाकर खर्च किया जाता है । इस प्रवृत्ति ने कानून के उल्लंघन की प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन दिया है जो कि अनैतिकता से चुपचाप समझौता करना है । जीतने के मौके बढ़ाने के लिए उम्मीदवार अपनी जेब से अधिक खर्च करता है और जब वह विधानसभा या संसद में चुनकर चला जाता है तो वह हमेशा इस ताक में रहता है कि कब उसका घाटा पूरा हो । बस, इसी प्रकार भ्रष्टाचार स्थान लेता है ।'

फलस्वरूप चुनाव अधिकाधिक खर्चीले होते जा रहे हैं । अब किसी साधारण व्यक्ति के लिए जिसके पीछे अपने या अपने दल के धन का बल न हो चुनाव लड़ना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो गया है ।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी उत्सुकतापूर्ण जानकारियाँ प्राप्त हुई हैं जिनके आधार पर देश में लोकतन्त्र के भविष्य के प्रति सन्देह उत्पन्न होता है । उदाहरण के लिए, अब न्याय-पालिका की स्वतन्त्रता उतनी पवित्र नहीं रही है जितनी कि पहले थी । भारत के महा-न्यायवादी ने सार्वजनिक रूप से इस बात पर खेद प्रकट किया है कि न्यायाधीशों का चयन गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी आधार पर किया जाता है। 'हमने अपने न्यायाधीश चुनने और उनके अवकाश के बाद किसी प्रशासनिक पद पर उनको नियुक्त करने की पद्धति से उनकी स्वतन्त्रता और कार्य-क्षमता को कमजोर कर दिया है ।' परन्तु गत तीन वर्षों में उच्चतम न्यायपालिका द्वारा सरकारी दबाव के होते हुए भी दिखाई गई निष्पक्षता और स्वतन्त्रता जनतन्त्र की सफलता और उसके भविष्य के लिए एक शुभ लक्षण है परन्तु न्यायपालिका के अधिकार पर छापा मारने के भी प्रयत्न चल पड़े हैं और भविष्य में शीघ्र ही संविधान में परिवर्तन कर उच्चतम न्यायालय के पंख ही काट देने की योजना है जो कि जनतन्त्र के लिए खतरे की घण्टी की सूचक है ।

राष्ट्रीय चरित्र का प्रभाव कितने ही पहलू रखता है । यह जनतन्त्र की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है कि मन्त्रिमण्डल सच्चे सिद्धान्तों का पालन करे । अनेक राज्यों के मन्त्रि-मण्डलों पर भ्रष्टाचार के आरोप लगाये गये । शासन कांग्रेस ने अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिए मन्त्रिमण्डलों को गिराया भी और राष्ट्रपति शासन घोषित कराकर अपने दल की सरकार बनवायी । विरोधी दलों के मन्त्रिमण्डलों का जो गत वर्षों में भाग्य निर्णय हुआ, वह जनतन्त्र की खुली हत्या ही समझी जा सकती है ।

यह सब तथ्य यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि व्यक्तिगत चरित्रहीनता, सामा-जिक अनैतिकता तथा दलगत स्वार्थ हमें सामाजिक दृष्टि से एक अराजकता की ओर अग्रसर कर रहे हैं । हम जाने-अनजाने ही उस अवस्था की ओर बढ़े चले जा रहे हैं जो किसी राष्ट्र की मौत का सन्देश हो सकती है । जब स्वयं शासन ही इस आने वाली व्यवस्था का भागीदार हो तो फिर उसे सुधारेगा कौन ? भूतपूर्व संसद-सदस्य श्री हरि विष्णु कामथ ने संसद में कहा था कि 'यदि शीघ्र ही इस भ्रष्टाचार को रोकने के प्रयत्न न किये गये तो भारत में जनतन्त्र की

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

वही दशा होगी जो चीन में च्यांग सरकार की हुई।' यह सर्वविदित है कि चीन में च्यांग सरकार के पतन, जनतन्त्र की हत्या तथा साम्यवादी क्रान्ति की सफलता का एक ही कारण था—च्यांग सरकार में भ्रष्टाचार की चरम सीमा।

समापन

भारत की इन वर्तमान परिस्थितियों का अध्ययन करते हुए जो चित्र हमारे सामने आता है वह वास्तव में हमारे लिए चिन्ता का विषय है। हम स्वर्गीय डा० सम्पूर्णानन्द से सहमत हैं कि भारत में विचारों की स्वतन्त्रता और अपने से भिन्न विचारों और उनके रखने वालों के प्रति सहिष्णुता और सद्भाव भारतीय संस्कृति तथा दर्शन के मूल आधार रहे हैं। 'एको सद् विप्रा बहुधा वदन्ति', 'आत्मवत् सर्वभूतेषु', 'सर्वधर्म समभाव' आदि वैदिक मन्त्र और सूक्तियाँ इसी तथ्य की परिचायक हैं। यही देश में विभिन्न मान्य विधियों और विचारधाराओं तथा जीवन दर्शन के निर्बाध विकास और उसके मानने वालों के परस्पर सद्भाव का रहस्य है। इस परम्परा के रहते हुए भारत में साम्यवाद अथवा फासीवाद ढंग का अधिनायकवाद जड़ नहीं जमा सकता।

अतः विचारों की स्वतन्त्रता की दृष्टि से भारत जनतन्त्र के लिए अत्यन्त उपयुक्त देश रहा है। सम्भवतया यही कारण है कि संसार में जनतन्त्र का सर्वप्रथम उदय भारत में ही हुआ। प्लेटो की 'रिपब्लिक' और उसके प्रेरणा-स्रोत एथेन्स के जनतन्त्र से शताब्दियों पूर्व भारत में प्रभुसत्तासम्पन्न गणराज्य उपस्थित थे। भारत में वैदिक युग से ही जनतन्त्रीय संस्थाएँ—पंचायत, सभा, समिति, श्रेणी आदि किसी न किसी रूप में बनी रहीं। अतः विचार-स्वातन्त्र्य और जनतन्त्री संस्थाओं की यह दीर्घ एवं पुरातन परम्परा भारत में जनतन्त्र की सफलता और उसके उज्ज्वल भविष्य के पक्ष में सबसे बड़ा तर्क है।

दूसरे, देश में जनसाधारण की अहिंसा में आस्था है और वह अपने विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से निपटाने के लिए तैयार रहता है। इससे भी जनतन्त्रीय व्यवस्था को बल मिलता है। जनतन्त्र और हिंसा एक-दूसरे की शत्रु हैं और उनका एक साथ निर्वाह नहीं हो सकता। इससे जनता में अहिंसा के प्रति आदर अधिक है और यह जनतन्त्र के पनपने के लिए अनुकूल वातावरण की सृष्टि करता है।

वयस्क मताधिकार पर आधारित जनतन्त्र में जनसाधारण शोषित और पीड़ित लोगों के सम्मान और हितों की रक्षा करना और अपने अधिक मतों के बल पर राज्य-सत्ता भी अपने हाथ में लेना सम्भव होता है। देश की पीड़ित, शोषित, और पिछड़ी जनता को अब यह अनुमान हो रहा है और इनका निहित स्वार्थ जनतन्त्र की सफलता में ही पूरा हो सकता है।

संविधान में उच्चतम न्यायपालिका को संविधान का संरक्षक माना गया है और न्यायपालिका ने समय-समय पर नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा की है। गत कुछ वर्षों में न्यायपालिका ने जिस स्वतन्त्रता एवं निर्भीकता का परिचय दिया है उससे जनता में न्याय-पालिका के प्रति आस्था बढ़ी है। यह सब देश में जनतन्त्र को पनपने में बल देते हैं।

यदि हम देश में जनतन्त्र को पनपते हुए देखना चाहते हैं तो हमें इन समस्याओं पर ध्यान देना ही होगा। यदि देश में एक स्वस्थ विरोधी दल की स्थापना नहीं होती तो संसदात्मक जनतन्त्र दम तोड़ देगा क्योंकि विरोधी दल के अभाव में आर्थिक समृद्धि की गति

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

धीमी रहेगी, भ्रष्टाचार पर कोई रोक-थाम नहीं होगी तथा शासन की कार्य-क्षमता अवरुद्ध हो जायेगी।

साथ ही जनतन्त्र की सफलता के लिए देश को एकता के सूत्र में गूँथना होगा, जाति-पाँति, भाषा-धर्म आदि के विवादों को समाप्त करना होगा, व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय चरित्र का उत्थान करना होगा तभी जनतन्त्र के प्रति हमारी निष्ठा का निर्माण सम्भव हो सकेगा और तभी जनतन्त्र के भविष्य के प्रति आशा व्यक्त की जा सकेगी। निश्चय ही हम इस दृष्टि से आशावादी हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संक्रमणकालीन राजनीति और लोकतन्त्र

यज्ञदत्त शर्मा

स्वतन्त्रता का आधार

शब्द 'स्वतन्त्र' में दो शब्दों का समावेश है 'स्व' तथा 'तन्त्र'। 'स्व' का अर्थ है अपना स्वरूप। इस स्वरूप की सुख साधना में सहायक सूत्र-समुच्चय का नाम है 'तन्त्र'। सामूहिक जीवन में यही तन्त्र आन्तरिक आस्थाओं से अनुप्राणित एवं वाह्य प्रयोग-प्रथाओं से सुबद्ध होकर, सामाजिक जीवन की स्वस्थता तथा गति को बनाये रखने वाली परम्पराओं को जन्म देता है।

स्वतन्त्रता शब्द की दार्शनिक व व्यावहारिक व्याख्या से पाठकों को यह समझना सरल होगा कि स्वराज्य-प्राप्ति के तत्काल उपरान्त राष्ट्र के कर्णधारों के करणीय कर्तव्यों में प्राथमिक दिशाएँ क्या होनी चाहिएँ ?

स्थायी सूत्र

निस्सन्देह इस सन्दर्भ में हमारे सचेत अथवा प्रबुद्ध मन-मस्तिष्क ने स्वतन्त्र जीवन की प्राथमिक अनिवार्यताओं को एक सीमा तक अनुभव किया था। 600 से अधिक छोटे-बड़े राज्यों को राष्ट्रीय एकता की मालिका में पिरोना, संविधान का निर्माण, आर्थिक जीवन में सेवा अथवा व्यापार मात्र के अनुपजाऊ मुद्दों से जन-जीवन की दिशा को मोड़ कर कृषि तथा उद्योग के उपजाऊ क्षेत्रों की ओर बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करना, तथा इन धन्धों को विज्ञान-विशुद्ध आधुनिक विधि से परिचालित करने के लिए स्थायी प्रयत्नों का जारी रखना आदि उल्लेखनीय तथा सराहनीय कार्य हैं। किन्तु विश्व के पटल पर महान् व्यक्तित्व के विकास की महत्त्वाकांक्षा रखने वाले राष्ट्र जीवन की व्यापक व्यवस्था की दृष्टि से इतने मात्र को न तो पर्याप्त कहा जा सकता है, न मौलिक माना जा सकता है।

प्राथमिक आवश्यकता तो जन-मानस को ऐसे ध्येय-मन्त्र से दीक्षित करने की थी, जिसके द्वारा 'स्व' का साक्षात्कार होता और लोक-मानस में सृजनात्मक सुवृत्तियाँ स्वयं स्फूर्त होतीं। इन सद्वृत्तियों को हम अपने औपचारिक तन्त्र में ढाल कर ऐसी राजनीतिक परम्पराओं, शासन संस्था अथवा प्रशासकीय यन्त्र को विकसित करते जिनके समवेत प्रयत्नों से हमारी स्वतन्त्रता, स्थायी व सुदृढ़ बनती तथा हम संसार में सोद्देश्य समृद्ध संगठित समाज के रूप में देखे जाते।

मैंने ऊपर की दोनों कण्डिकाओं में अपने विषय की दार्शनिक भूमिका रखी है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

राजनीति-शास्त्र की इन बुनियादी भित्तियों को खड़े किये बिना राष्ट्र-मन्दिर की रचना सम्भव नहीं ।

वर्तमान विकृति

देर तक दासता के गहरे गड्ढे में पड़े रहने के कारण, अथवा इससे उभरने के लिए सदियों तक परकीयों से संघर्षरत रहने के कारण हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन का वितान उलझ गया था । बीच की कुछ शताब्दियों के पराभव काल को ही राष्ट्रीय प्रतिमा का अर्थ अथवा वर्तमान विकृति को इति मान लेना बहुत बड़ी भूल होगी । निस्सन्देह आज की स्थिति हमारे लिए एक चुनौती है । गत चौथाई शताब्दी में अव्यवस्था और अनाचार, अभाव और असमानताएँ, अरक्षा और असामाजिकता, पर-राज्य की भूमि से उठकर, स्वराज्य मन्दिर की छत को छू रही हैं । एक जीवमान सावयव सत्ता के रूप में समाज की प्रकृति को प्रकट करने वाली अथवा विकृति के निराकरण सहित सुकृति का संस्कार भरने वाली सजीव संस्थाएँ, परिवार, जाति, वर्ण, पंचायत, सम्प्रदाय, सम्पत्ति, राज्य, आदि सब, रूढ़ियों, स्वेच्छाचार, भ्रष्टाचार आदि का आगार बनकर सामान्य जन का विश्वास-भंजन कर संकीर्णता व स्वार्थ के स्रोत बनकर रह गई हैं । आज का नागरिक इनके नाम से नाक-भौं सिकोड़ता है । इससे बढ़कर दुर्दैव क्या होगा ? किन्तु क्या ऐसी दुर्व्यवस्था से पराभूत होकर हम अपना सन्तुलन गवाँ बैठें ? स्वर्गीय पं० दीनदयाल उपाध्याय तथा स्वर्गीय डा० सम्पूर्णानन्द सरीखे प्रज्ञा-पुरुषों ने अपने अनुभवतप्त जीवनकाल में यह चर्चा उठाई थी कि स्वतन्त्र भारत का कोई अपना जीवन-दर्शन चाहिए, जिसके द्वारा स्वराज्य की स्वस्थ कल्पना एवं धारणा हो सके । किन्तु उन मनीषी महापुरुषों का सुविचारित भाव वादों के विवाद में बह गया । खेदपूर्वक कहना पड़ता है कि देश के कतिपय नेताओं की परानुमुखी वृत्ति भारतीय सत्त्व-तत्त्व के रत्नागार का सम्यक् मूल्यांकन तथा अधिग्रहण न कर पाई ।

राजनीति के दर्शन एवं व्यवहार की दृष्टि से भारत का अतीत अनुपम रहा है । इस देश के विचारक न केवल जनतन्त्र व गणतन्त्रात्मक व्यवस्था से परिचित थे अपितु यहाँ सदियों तक शक्तिशाली गणतन्त्र कायम रहे हैं । अस्थिर राजनीति के महा प्रवातों में भी ग्राम व जाति पंचायतों की व्यवस्था में लोक स्वराज्य सुरक्षित रहा है । यह सत्य है कि शासन की मूर्धन्य कल्पना अर्वाचीन व्यवस्थाओं अथवा वर्तमान पाश्चात्य पद्धतियों से भिन्न थी । इन भावों का यह अर्थ सर्वथा नहीं कि हम विश्व-मानव की उच्चतम उपलब्धियों से मुँह मोड़ लें । विश्व का ज्ञान और अनुभव हमारी अपनी थाती एवं सम्पत्ति है । ज्ञान-विज्ञान देश काल की सीमाओं से मुक्त किसी विशेष राष्ट्र की बपौती नहीं होते । उन पर मानव ही नहीं प्राणिमात्र का समान अधिकार होता है । प्राणि-मात्र के कल्याण के लिए जहाँ से जो मिले उसे प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना हमारी पुरातन परम्परा रही है । हमने सागर की गहराइयों तक जाकर, उसका मंथन कर, अमृत-विष जो मिला, जन-कल्याण में वह सब लिया है । यह स्पष्ट है कि पूर्व की सुकृति को वर्तमान की विकृति के अन्धकार से बचने के लिए, प्रकाश-बिम्ब अथवा प्रेरणा-स्रोत के रूप में तो प्रयुक्त किया जा सकता है, किन्तु उसे अद्यतन प्रकृति मान लेना बहुत बड़ी भूल होगी । प्रकृति वह तभी मानी जायेगी, जब वह अन्तःकरण के आचार के आधार पर भौतिक व्यवहार की कसौटी पर खरी उतरेगी ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कसौटी क्या ?

हम किसी भी व्यवस्था का विचार करें उस व्यवस्था के खरेपन की कसौटी कठिनाई व संकटों के वे क्षण ही माने जायेंगे, जब सब बिखरने पर भी ऐसी सुविचारित स्थिति का स्वर-ताल कायम रहे। वह अपना गठन व सुरीलापन न गँवा दे। हम इस कसौटी पर गत तीन वर्षों के किये-धरे को परख सकते हैं। सन् 1967 के चौथे बड़े चुनाव के उपरान्त देश की राजनीतिक स्थिति ही नहीं अपितु विधि विधान का भी सारा वितान बिखर गया। एक बार तो लगा कि सब तान टूट गई। अस्थिर राजनीति के पहले झटके में ही वैधानिक, शासनिक एवं प्रशासनिक, सम्पूर्ण व्यवस्थाएँ पिघले मोम के समान अपना गठन गँवाने लगीं। विधान और उसके मूलभूत सिद्धान्त—विधायिका एवं न्यायपालिका के परस्पर सम्बन्ध, राष्ट्रपति के कर्तव्य की लक्ष्मण रेखाएँ, राज्यों में राज्यपालों के विवेकजन्य अधिकारों की मर्यादा, विधायक सदनों में अध्यक्ष के आचरण की परिसीमाएँ, केन्द्र व राज्यों के परस्पर सम्बन्ध, प्रशासनिक उच्चाधिकारियों की निष्ठाएँ आदि सब विवाद के विषय बन गये। ऐसा प्रतीत हुआ मानो गत 25 वर्षों में हम राष्ट्र मन्दिर में नहीं तिनकों की छाया में सोते रहे। अस्थिरता का एक झोंका आया और सब चरमरा गया।

सन् 1945 में विश्व का दूसरा महायुद्ध समाप्त हुआ। जापान, इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, रूस, टर्की आदि देश तब उस युद्ध की प्रलयंकारी पीड़ा से कराह रहे थे। लगभग एक-दो सालों के अन्तर से उन देशों ने बरबादी और भारत ने आजादी से अपने जीवन का नूतन अध्याय आरम्भ किया। किन्तु आज उनका और हमारा अन्तर कितना है यह निर्विवाद विषय है। साथ ही हमारी जनशक्ति—प्रकृति प्रदत्त साधन सम्पदा की भी उन देशों से कोई तुलना नहीं। कमी कहाँ है ? हमारे मन्त्र में या तन्त्र में ?

लोकतन्त्र

लोकतन्त्र को हमने शासन व्यवस्था अथवा राजनीतिक क्षेत्र में व्यवहार का सैद्धान्तिक आधार माना है। यहाँ लोकतन्त्र की परिभाषा पर विचार करते हुए वर्तमान राजनीतिक जीवन (सत्ता पक्ष हो व विरोधी) की समस्वरता का मूल्यांकन करना चाहिए।

लोकतन्त्र लोकाधिकार की प्रतिष्ठा एवं लोक कर्तव्य के निर्वाह का एक सबल एवं सफल साधन है। जिस प्रकार जीवन अविभाज्य एवं परिपूर्ण इकाई है, लोकतन्त्र की कल्पना भी जीवन के प्रति उतनी ही अविभाज्य है। मानव के पूर्ण जीवन में खण्डित लोकतन्त्र की कल्पना नहीं की जा सकती। केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं आर्थिक अथवा सामाजिक क्षेत्र में भी इसकी उतनी ही अनिवार्यता है। एक स्थान पर लोकतन्त्र का अभाव दूसरे पहलू पर उसे स्वतः ही दुर्बल बना देता है।

सहिष्णुता, व्यक्ति की प्रतिष्ठा में विश्वास एवं समष्टि के प्रति एकात्मकता की अनुभूति लोकतन्त्र के प्राण हैं। इस निष्ठात्रयी के अभाव में लोकतन्त्र का बाहरी मुखौटा नाटकीय छलना मात्र है। ये आस्थाएँ लोकतन्त्र को प्राणवन्त बनाती हैं। इनके बिना इसमें जड़ता आती है। लोकतन्त्र की मूल चेतना को बनाये रखते हुए देश काल की स्थिति के अनुसार इसकी रूपरेखा को सतरंगी किया जा सकता है अर्थात् इसमें विविधता लाई जा सकती है।

लोकतन्त्र सम्बन्धी इस निष्ठात्रयी का वर्तमान राजनीतिक जीवन में कितना अभाव

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

है ? भाषा, पंथ, अथवा जाति भेद के नाम पर उत्पन्न विवादों में सहिष्णुता कहाँ है ? सूबों के नाम पर खड़े किये गये प्रश्न नगरों से होकर ग्रामों तक आ पहुँचे हैं। लगता है, गली और घर तक भी जायेंगे। अस्पृश्यता या जातिवाद की रूढ़ियों का कलुष व्यक्ति की प्रतिष्ठा में अनास्था का ही परिचायक है। नदी के पानी अथवा प्रदेशों की सीमाओं के विवाद में हम देश के नाते एक हैं इस एकात्मकता की विशाल अनुभूति का अनुभव कहाँ है ? ऐसे सद्भाव की तो इस स्वार्थी मनोवृत्ति में गन्ध भी नहीं प्रतीत होती। इन दोषों का शिकार केवल जनसामान्य को नहीं समझना चाहिए, वे तो राजनीतिक दलों की सस्ती सिद्धि का हथियार हैं।

इन निष्ठाओं के विकास हेतु कुछ निम्न सुझाव हैं—

(1) वर्तमान स्थिति में ऐसे मंच का विकास अविलम्बनीय आवश्यकता है जो राजनीतिक जगत के सामूहिक मानस की आत्म-चिन्तन की भूमिका बना सके। पक्षपात रहित बुद्धि से आचरण की ऐसी न्यूनतम मर्यादाएँ तय कर सके, जो उक्त निष्ठात्रयी को जनमानस में जगा सके। मेरा भाव किसी राजनीतिक आचार संहिता के विकास से है।

(2) परिवार, जाति, पंचायत, आदि परम्परागत संस्थाओं अथवा आधुनिक नगर-पालिका आदि स्थानीय निकायों, व उद्योग, व्यापार, कृषि एवं सेवाओं के क्षेत्र के संघों को, दलीय राजनीति से दूर रखकर, केवल संस्था व क्षेत्र विशेष के उद्देश्यों की पूर्ति का ही माध्यम बनाना चाहिए। ये संस्थाएँ लोकतन्त्री भावना के प्रशिक्षण केन्द्र के रूप में विकसित होनी चाहिएँ। राजनीति के बड़े अखाड़ों को मतभेद जन्य तीव्र तप्त ज्वालाओं तथा आघात-प्रत्याघात के उग्र आवेशों से इन आधारभूत संस्थाओं को बचाना चाहिए। अन्यथा विषय पर निष्पक्ष, आवेश-रहित, समन्वयकारी, सर्वहितकारी भावना से विचार करना कठिन हो जायेगा।

(3) शिक्षा में ऐसे दर्शन को व्यापक एवं व्यवस्थित रूप से समाविष्ट किया जाये जो समन्वय तथा सहिष्णुता की गणित आदि शास्त्रों के समान सीख देता हो। यह असम्भव अथवा कल्पनामात्र नहीं है। भारत के दार्शनिक तत्त्वज्ञान अथवा व्यवहार शास्त्र की अगणित विचार सरणियों में सर्वत्र सृष्टि की विभिन्न सत्ताओं अथवा जीवन के जुड़े-जुड़े अंगों में दृश्य-भेद स्वीकार करते हुए भी, बाह्य-भौतिक जीवन की विविधतापूर्ण अनेकता में आन्तरिक आत्मिक एकता को ही, आधार मानकर हमारे सांस्कृतिक अथवा सामाजिक जीवन में समन्वयकारी भावनाओं का स्वर सजीव रहा है। इस देश की यह युगों पुरानी निष्ठा है कि मानवीय प्रवृत्ति मानव के संस्कार-सन्निकर्षों का परिणाम है। प्रवृत्ति के अनुसार रुचि, तथा रुच्यनुरूप मत बनता है। संस्कारों में स्वाभाविक असमानता के कारण, मतों में भिन्नता होनी भी स्वाभाविक है। एक ही परिवार के सदस्यों में रुचि-भेद के कारण भोजन के अलग-अलग पदार्थों में रस प्राप्ति अथवा अरुचि पर परिजनों को कभी अटपटा नहीं लगता क्योंकि यह स्वाभाविक है। अतः किसी परिष्कृत या संस्कृत समाज में सबका एकमत होना न सम्भव है, न स्वाभाविक।

सत्ता दल का दायित्व

लोकमनोवृत्ति को लोकतन्त्र के अनुरूप ढालने में सत्ता में बैठे तत्त्वों का सबसे बड़ा दायित्व है। चौथे बड़े चुनाव के उपरान्त विधायक सदनों की शोभा एवं उनकी प्रतिष्ठा को धक्का लगा है। मारपीट की घटनाएँ भी घटी हैं। इस अशोभनीय दौड़ से कोई दल दूर नहीं

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

रहा । इसमें सबने भाग लिया है । किन्तु सबसे आगे सत्ता दल ही रहा है । पंजाब के लछमनसिंह गिल मन्त्रिमण्डल ने पुलिस अधिकारियों को योजनापूर्वक सदन में बुलाकर इस पाप की पराकाष्ठा कर दी । यदि सत्ता दल, सत्ता तथा बहुमत के मद में चूर होकर प्रतिपक्ष के न्याय-संगत अथवा अत्यन्त औचित्यपूर्ण पक्ष की भी उपेक्षा करता रहेगा अथवा सदन के सामने उपस्थित विषय को विवेकपूर्ण विवेचन के स्थान पर दलीय स्वार्थ की संकीर्ण दृष्टि से ही देखेगा अथवा संहिताओं की परिभाषा का और सदन की प्रक्रिया व परम्परा का पक्षपात से सदैव दुरुपयोग किया जायेगा या दोहरे मानदण्ड कायम किये जायेंगे, तो विरोधी दलों से सदन की शोभा व प्रतिष्ठा को बनाये रखने की आशा दुराशा-मात्र होगी । लोकतन्त्र शब्द का जो शासन पद्धति में रूढ़ हो गया है मूल वास्तव में शासक की मनोवृत्ति में है । यदि शासक की मनोरचना में लोकतन्त्र का अभाव है तो इस तथाकथित लोकतन्त्र शासन में जनभावनाओं की अनुभूति का सदैव अभाव रहेगा ।

विरोधी दलों का कर्त्तव्य

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने सन् 1956 के अपने अमृतसर प्रस्ताव में संसदीय प्रकार की चुनाव प्रणाली में विश्वास प्रकट किया । विधायक सदनों में निर्वाचित सदस्य तथा मिले-जुले मन्त्रिमण्डलों के सदस्यों के रूप में विरोधी दलों के सदस्यों को भी लोकतन्त्र के प्रतीक भारतीय संविधान के प्रति शपथ ग्रहण करनी पड़ती है । इसमें संविधान के प्रति वचनबद्धता का संकल्प दोहराया जाता है । क्या यह सब ईमानदारी से कहा या किया जाता है ? हमारे अन्तर की गहरी आस्था इस प्रश्न पर पिछड़ जाती है । आन्तरिक श्रद्धा शून्य शब्द केवल कण्ठ से ध्वनित होने वाली वायु तरंगें मात्र हैं । इन्हें शक्ति पुँज शब्द ब्रह्म नहीं कहा जा सकता । गाँधी जी ने सत्य और अहिंसा की जो आँधी चलाई हमारी पीढ़ी के लोगों ने उसमें खेत-खलिहानों व कल-कारखानों के श्रमिक पुरुष-महिला, सुपढ़-अपढ़ सबको उड़ते देखा । क्या इस आँधी में केवल जड़ वायु का वेग था अथवा स्वीकृत मन्त्र के प्रति अन्तर की दृढ़ निष्ठा का चतन्यपूर्ण तेज ? यह तेज ही शब्द ब्रह्म कहलाता है ।

आवश्यकता है कि राजनीतिक दलों के माननीय नेता अपने दल के सामान्य कार्य-कर्ताओं में प्रयत्नपूर्वक लोकतन्त्र के प्रति मन-वचन-कर्म की एकरसता जगायें । इसका बार-बार आग्रह हो । असहिष्णुता, आवेशपूर्ण कुवृत्ति, अथवा स्वेच्छाचार न केवल देश के राजनीतिक वातावरण को विगाड़ेगा अपितु दल की स्थिति को भी बेसुरी बना देगा । अतः इस दिशा में सम्भव सावधानी बरतनी चाहिए ।

यह खेदजन्य आश्चर्य है कि कतिपय बुद्धिवादी जन भी वर्तमान अव्यवस्थाओं से ऊबकर कभी तो पूरे लोकतन्त्र के विचार पर ही और कभी अपने देश में इसकी सफलता पर सन्देह करने लगते हैं और कुछ लोग तो अधिनायकवाद की वकालत भी करते हैं । यह विचार सर्वथा त्याज्य है । ऐसा स्वप्न में भी न सोचना चाहिए । लगभग 20–30 वर्ष पूर्व लोग शल्य चिकित्सा (सर्जरी) से भयभीत होते थे । आज उसका विकास होने पर लोग चीरफाड़ की चिकित्सा में शंका नहीं करते । ठीक इसी प्रकार दोष अविकसित लोकतन्त्र में है । विकास की पूर्ण स्थिति सर्वथा सुखकारी होगी । उसे ही लाने में शक्ति जुटानी चाहिए ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संसदीय अथवा अध्यक्षीय प्रणाली

अस्थिर राजनीतिक स्थिति में यह विवाद भी उठा है कि हमें चालू संसदीय प्रणाली बदलनी चाहिए। वर्तमान संसदीय प्रणाली में देश की एकता को धक्का लग सकता है। प्रदेशों में स्वायत्त अधिकारों की पुकार नई समस्याओं को जन्म दे सकती है। श्री अशोक मेहता ने अध्यक्षीय प्रकार की अमरीकी प्रणाली को प्रदेशों में लागू करने का सुझाव दिया था। पर संसदीय ढंग की लोकतन्त्र प्रणाली हमारे देश में लगभग 50 वर्षों से अधूरे-पूरे रूप में प्रचलित है। हमें इसका विकास करना चाहिए।

अध्यक्षीय या संसदीय प्रणालियाँ अमरीका अथवा ब्रिटेन में एक दिन में नहीं उभरीं। वे वहाँ के इतिहास की सहज उपज हैं। जैसे उन पद्धतियों का अपने देश की परिस्थितियों में विकास हुआ हमें भी वर्तमान चालू संसदीय पद्धति का सुघड़ रूप से विकास करना चाहिए। सामाजिक जीवन में छूत-छात का अभिशाप राजनीतिक जीवन में वरदान नहीं हो सकता। किन्तु दलों को मेले में लगने वाली सस्ते सौदे की दुकानें न होकर सिद्धान्तों तथा नीतियों के आधार पर गठित करना होगा। जनसामान्य को आदर्श उद्देश्यों की कसौटी पर ही इन दलों को परखना चाहिए।

चुनाव पद्धति में सुधार

हमारी चुनाव पद्धति में पर्याप्त सुधार की गुंजाइश है। सबसे पहले तो सन् 1967 तक के पिछले 20 वर्षों तक राजनीति में एक दल का एकाधिकार रहने के कारण अनेक अस्वस्थ परम्पराएँ पनपती रहीं। जातिवाद का संकट चुनाव की दोषपूर्ण पद्धति से पनपा। आंग्ल-अमरीकी ढंग की इस बहुमत पद्धति में जहाँ दलों को एक जाति अथवा चुनाव क्षेत्र के बहुसंख्य वर्ग के दुरुपयोग की लत लगी वहाँ बहुसंख्य जाति अथवा वर्गों ने भी दलों को अपने तुच्छ स्वार्थों की लपेट में लेना आरम्भ कर दिया।

राजनीति में पूँजी का अमर्यादित प्रवेश भी इसी चुनाव पद्धति के दोष के कारण हुआ। चुनाव में खर्चे की सीमा का कानून इस देश की विधि व्यवस्था का सबसे बड़ा उपहास है। चुनाव का खर्चा दल करेगा या प्रत्याशी यह विवाद का विषय बना हुआ है। राजनीति में पूँजी के प्रभाव अथवा अभाव के अभिशाप से बचने के लिए यह दायित्व राज्य अपने ऊपर ले। चुनाव आयोग को स्वस्थ स्वायत्त संगठन का रूप देकर चुनाव के खर्चों की जिम्मेदारी इसी सगठन पर रखनी उचित होगी।

इस प्रकार के सभी छोटे-बड़े दोष मिलकर लोकतन्त्र का गला घोटते हैं: एक, दल अथवा व्यक्ति को, जो साधनहीन है, मतदाताओं के सामने अपना न्यायसगत पक्ष रखने के लिए भी साधनों का अभाव और दूसरी ओर, केवल साधन-सम्पन्नता के कारण अयोग्य का मतदाता के मनमस्तिष्क पर प्रभाव। यह स्थिति लोकतन्त्र के स्वस्थ विकास में सहायक नहीं हो सकती। हमें सूची पद्धति से, जो यूरोप के अनेक देशों में चालू है, दल के सिद्धान्त तथा नीतियों के लिए मतदाता से मत माँगना चाहिए। चुनाव सूची पद्धति से करवाये जा सकते हैं अन्यथा पश्चिमी जर्मनी के समान दोनों पद्धतियों का समन्वय किया जा सकता है।

प्रश्न यहाँ भी मन की शुद्धता तथा मस्तिष्क के सुविचार का आयेगा। ब्रिटेन की चुनाव व्यवस्था में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक ऐसे पापपूर्ण कुकृत्य होते थे जिनकी हम

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कल्पना भी नहीं कर सकते । किन्तु जहाँ उस राष्ट्र ने मन बनाकर लोकतन्त्र की नींव, इस चुनाव व्यवस्था में स्वस्थ परम्पराओं के विकास का एक बार वज्र संकल्प किया तो सन् 1911 से आज तक वहाँ की चुनाव व्यवस्था में किसी भ्रष्ट व्यवहार का उदाहरण नहीं मिला । यह स्थिति अनुकरणीय तथा सराहनीय है ।

राजनीति में संक्रमण काल समस्या काल ही कहलाता है । इसमें न अधीर होने की आवश्यकता है, न राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य के प्रति शंका करने का कारण । लोकतन्त्र हमारी प्रकृति है । हमारे जटिल जीवन की बहुमुखी समस्याओं में समन्वय का सूत्रधार लोकतन्त्र भाव ही हमारा एकमात्र सम्बल तथा पूर्ण समाधान रहा है और रहेगा ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र

निर्मला उपाध्याय

वर्तमान समय की सर्वाधिक लोकप्रिय शासन पद्धति लोकतन्त्र के स्वरूप के विषय में विभिन्न विचारकों तथा विद्वानों द्वारा अनेक प्रकार के विचार प्रस्तुत किये गये हैं। विशाल देश-राज्यों ने प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की सफलता को सन्देहास्पद बना दिया, अतः अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र की परम्परा अधिक ग्राह्य हुई। अप्रत्यक्ष लोकतन्त्रीय शासन-पद्धति का स्वरूप निर्धारण, निर्वाचन द्वारा होता है। निर्वाचन का संगठित तथा व्यवस्थित रूप से संचालन करने के लिए राजनीतिक दल अत्यावश्यक माने जाते हैं। दलपद्धति के समर्थन में यह तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं कि दलीय संगठन के अभाव में सिद्धान्तों की एकीकृत अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, किसी भी नीति का क्रमबद्ध विकास नहीं हो सकता।[1] दलों के बिना निर्वाचक-गण पंगु समझे जाते हैं। परन्तु इन दलों द्वारा राजनीतिक प्रशिक्षण के नाम पर जनता को किस प्रकार पथभ्रष्ट किया जाता है, इस पर भी मनीषियों ने मनन किया है, तथा स्वस्थ शासनव्यवस्था के लिए एवं दलगत राजनीति के दोषों से बचने के लिए अपने विकल्प प्रस्तुत किये हैं।

वर्तमान राजनीति में विशृंखलता फैलती जा रही है। दलों के आदर्शों के विस्तार की अपेक्षा उनका स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण, आदर्शों का अवमूल्यन, व्यक्तिगत तथा विशेष हितों के लिए दल-निष्ठा का परिवर्तन, विधायकों का क्रय-विक्रय, दल की आन्तरिक अनुशासनहीनता, दलों के बीच अवसरवादी मित्रता तथा सरकार की अस्थिरता आदि आज के विचारणीय विषय बन गये हैं।[2] ऐसी परिस्थिति में, जहाँ राजनीति जनता को भुलावे में डालती है, वोट के लिए हमारी वासनाओं को भड़काती है, हमारे मन को सत्ता के नाटक पर केन्द्रित करती है, वहाँ दलगत राजनीति की अपेक्षा सहयोग की राजनीति आवश्यक है। एक दल अथवा दूसरे दल की सत्ता जनता की सत्ता नहीं है, अतः ऐसी अवस्था में आमूल क्रान्ति अपेक्षित है।[3]

दलगत राजनीति पर आधारित शासन व्यवस्था में सभी का कल्याण—सर्वोदय—एक मृगमरीचिका सदृश है। सर्वोदय के लिए इससे भिन्न व्यवस्था अपेक्षित है। इसके लिए जन-उपक्रम तथा जनशक्ति के संवर्धन की आवश्यकता है। सर्वोदय विचारकों के अनुसार राज्य की दबावकारी शक्ति के स्थान पर सहयोग की राजनीति की प्रतिष्ठापना से वास्तविक स्वराज्य की उपलब्धि हो सकती है।

---

[1] मेकाइवर, 'माडर्न स्टेट', पृ० 399।

[2] जयप्रकाश नारायण, 'बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का 52वाँ दीक्षान्त भाषण', 18 फरवरी, 1970।

[3] राममूर्ति, 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 14।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र की आवश्यकता

लोकतन्त्र की सफलता की पूर्वधारणा के रूप में राजनीतिक दल तथा मुक्त निर्वाचन आवश्यक कहे जाते हैं। किन्तु क्या केवल सरकार को चलाने के लिए हम दलगत राजनीति के अवांछनीय तथा अभिशप्त प्रभावों को सहन करते रहें ? यदि जनता के शासन और लोकतन्त्र के लिए निर्वाचन अपरिहार्य हैं तो राजनीति में निहित दोषों और कमियों को इस आशा से सहन करना होगा कि दूषित राजनीति का दलदल किसी न किसी दिन अवश्य दूर होगा और लोकतन्त्र का स्वच्छ, शान्त और सुस्वादु जल नीचे से ऊपर आयेगा।[4] भारत में दल-सापेक्ष लोकतन्त्र के स्थान पर दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र के आदर्श का प्रतिपादन करते समय विचारकों ने संसदात्मक पद्धति, राजनीतिक दल और वर्तमान निर्वाचन के दोष आदि विषयों पर प्रकाश डाला है।

संसदात्मक पद्धति के दोष

संसदात्मक पद्धति दलगत राजनीति के आधार पर कार्य करती है। इस व्यवस्था में व्यवस्थापिका तथा मन्त्रिमण्डल के सदस्य दलबन्दी के आधार पर चुने जाते हैं। भारत में जिस ढंग से दलपद्धति कार्य कर रही है उससे लोकतन्त्र की सबसे संकुचित परिभाषा भी सार्थक नहीं होती कि लोकतन्त्र बहुमत का शासन है। निर्वाचन के बाद कई राज्यों में अल्पमत की सरकारें बनती हैं। तदुपरान्त अनुभव यह बतलाता है कि आज के व्यापक निर्वाचन में, जिनमें शक्तिशाली केन्द्र-नियन्त्रित दलों द्वारा प्रचुर धन और कपटपूर्ण साधनों से गोलमाल फैलाई जाती है, मतदाता की अपेक्षा दलों तथा प्रचार साधनों के पीछे निहित शक्ति तथा हितों का प्रतिनिधित्व होता है।[5]

संसदात्मक पद्धति के कट्टर समर्थक दल-पद्धति के दोषों को स्वीकार करते हैं परन्तु उसका विकल्प नहीं देखते और उसे अपरिहार्य मानकर उसके गुणों का गान करते हैं। परन्तु सर्वोदय विचारक दल-पद्धति को मुख्यतः दोषी न मानकर संसदात्मक लोकतन्त्रीय पद्धति को दोषी मानते हैं, जो दलों को उत्पन्न करती है।[6] इन विचारकों का कथन है कि भारत ने संसदात्मक पद्धति को अपनाया परन्तु अपनी परिस्थितियों पर विचार नहीं किया।[7] भारतीय संसदात्मक लोकतन्त्र का एक मुख्य दोष यह है कि इस प्रणाली का बाहर से आयात किया गया है, इसलिए वह इस देश की जनता के स्वाभाविक प्रेम तथा भक्ति को आकृष्ट करने में असफल रही है। संसदात्मक लोकतन्त्र में राजनीतिक शक्ति-प्राप्ति की प्रतिस्पर्धा, भ्रष्टाचार तथा कुत्सित आचरण को प्रोत्साहन देती है। महात्मा गाँधी ने संसदात्मक पद्धति की भर्त्सना की है। उन्होंने ब्रिटिश संसद की, जिसे संसदों की जननी कहा जाता है, तुलना बाँझ स्त्री तथा वेश्या से की है। उनके अनुसार वह बाँझ इसलिए है कि उसने अभी तक कोई अच्छा कार्य नहीं किया। वह वेश्या इसलिए है कि जो मन्त्रिमण्डल वह बनाती है उसके वश में रहती है।

---

[4] वही, पृ० 10।

[5] जयप्रकाश नारायण, 'सोशलिज्म, सर्वोदय एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 215।

[6] वही, पृ० 218।

[7] सुरेशराम, 'विनोबा एण्ड हिज मिशन', पृ० 437।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

समय-समय पर विभिन्न प्रधानमन्त्री उसके स्वामी बनते रहते हैं।[8] संसद के सदस्य ढोंगी और स्वार्थरत होते हैं। सभी स्वयं की चिन्ता में मग्न हैं। जिस समय महत्त्वपूर्ण विषयों पर चर्चा होती है, उस समय उसके सदस्य लम्बी तानते हैं, या बैठे-बैठे झपकियाँ लिया करते हैं। कभी कभी वे इतना चिल्लाते हैं कि सुनने वाले घबरा जाते हैं। जो जिस दल का सदस्य होता है, वह आँख मूँदकर उसी को अपना वोट देने को बाध्य है। संसद दासता की प्रतीक है और राष्ट्र का खर्चीला खिलौना है।[9] ब्रिटिश संसद के इन दोषों को दृष्टिगत रखते हुए हमें भारत में संसदात्मक पद्धति के स्थान पर अन्य पद्धति अपनानी चाहिए।

संसदात्मक पद्धति का केन्द्र प्रधानमन्त्री होता है, जो संसद में बहुमत दल का नेता होता है। इस व्यक्ति में जन-उत्तरदायित्व की भावना का अभाव होता है। प्रायः प्रधानमन्त्री दल की भलाई के कार्यों में लगे रहते हैं। उन्हें वास्तव में देशभक्त नहीं कहा जा सकता। यद्यपि वे रिश्वत नहीं लेते, परन्तु दूसरों के दबाव में आ जाते हैं। अपने उद्देश्य साधन के लिए वे लोगों को सम्मान (पद) की रिश्वत देते हैं। उनमें वास्तविक ईमानदारी अथवा जागृत चेतना शक्ति नहीं होती।[10] राष्ट्र के ऐसे कर्णधार राष्ट्र का उन्नयन करने में सक्षम नहीं हो सकते। संसदात्मक पद्धति बहुमत का शासन है। विनोबा जिसे एक मत से चलना कहते हैं, वह संसदात्मक पद्धति से भिन्न है।[11]

चुनाव का युद्ध

अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र में चुनाव अत्यावश्यक होते हैं। वर्तमान अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र में दलीय आधार पर चुनाव लड़े जाते हैं। सर्वोदय विचारकों की दृष्टि में यह उचित नहीं है। उनके अनुसार पक्षसत्ता से मनुष्य की मनोवृत्ति बँट जाती है, उसका सम्प्रदाय बन जाता है, और फिर नागरिकता उम्मीदवारी में परिणत हो जाती है। विनोबा के शब्दों में, 'फिर चुनाव लड़ा जाता है। अमरीका वाले कहते हैं, मैं चुनाव में दौड़ रहा हूँ। वह उस चुनाव को रेस —घुड़दौड़ समझ रहा है। कोई उसे दौड़ समझता है, कोई कुश्ती। परन्तु चुनाव लड़ रहा हूँ, ऐसा मत कहो—चुनाव खेल रहा हूँ, कहो। इससे व्यक्ति की मनोवृति में अन्तर आ जायेगा और पारस्परिक कटुता नहीं फैलेगी।'[12]

आज जिसे लोकसत्ता के नाम से सम्बोधित किया जाता है, उसमें हर कोई व्यक्ति चुना जा सकता है, और सब लोग उसे चुनते हैं। इससे जो सरकार बनती है वह भीड़तन्त्र बन जाता है।[13] चुनाव में लोकप्रियता का नीलाम किया जाता है। दादा धर्माधिकारी ने इस पर कटाक्ष करते हुए लिखा है कि फ्रांस की क्रान्ति पर कई पुस्तकें लिखी गईं। कुछ पुस्तकें

---

[8] एम० के० गांधी, 'हिन्द स्वराज्य', पृ० 24।
[9] वही, पृ० 25।
[10] वही, पृ० 26।
[11] दादा धर्माधिकारी, 'सर्वोदय दर्शन', पृ० 218।
[12] (क) विनोबा भावे, 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 18।
(ख) दादा धर्माधिकारी, 'सर्वोदय दर्शन', पृ० 197।
[13] वही, पृ० 198।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्रगतिशील लेखकों ने लिखी । कार्लाइल, थामस पेन, विलियम कोबेट, आदि ने फ्रान्सीसी क्रान्ति के पक्ष में पुस्तकें लिखीं, एडमण्ड बर्क ने उसके विरुद्ध । वह जीर्णमतवादी (अनुदारवादी) था । किन्तु उसने एक बात पते की लिखी—जब इस तरह का भीड़ का राज्य हो जाता है, तो क्या होता है ? नेता कौन है ? जो लोकप्रियता के नीलाम में सबसे बड़ी बोली बोल सकता है, वह नेता बन जाता है । एक ओर से लोकप्रियता का नीलाम होता है और दूसरी ओर से उम्मीदवार की उम्मीदवारी का नीलाम होता है । जिस लोकसत्ता का नीलाम हो सकता है और जिस लोकसत्ता में उम्मीदवारों का नीलाम होता है, वह लोकसत्ता वास्तविक या यथार्थ लोकसत्ता नहीं है ।[14]

संसद में बहुमत पाने वाले को अपना बहुमत बनाये रखने की चिन्ता रहती है, लोक-कल्याण की नहीं ।[15] निर्वाचनों को चाहे जितना महत्त्व दिया जाय, सामाजिक उत्थान में वह तात्त्विक सहायता नहीं देंगे । आज हमारे पास केवल औपचारिक लोकतन्त्र है । लोकतन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति का भाग होता है । अतः प्रत्येक के साथ विचारणा करने के बाद वोट प्राप्त करने चाहिएँ ।[16] चुनावों ने जातिवाद का पोषण किया है । इस पद्धति को बदलना आवश्यक है । आज के चुनावों में धनवान व्यक्ति ही भाग ले सकते हैं । ऐसी स्थिति में निर्धन तथा मूक जनता अपनी आवाज कैसे उठाये ?[17] समाज में अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक के वर्गभेद बन गये हैं । यदि मतदान की असंगतियों को उनके सुधार के बिना कायम रहने दिया जायेगा, और यदि पाश्चात्य पद्धति को, जिसमें दलों का महत्त्वपूर्ण अस्तित्व है, जहाँ एक दल सत्तारूढ़ हो तथा दूसरा विरोधी हो, तथा दोनों में निरन्तर मतभेद हो, भारत में चलने दिया जायेगा तो कुछ भी सारपूर्ण कार्य नहीं हो सकेगा । एक पक्ष दूसरे पक्ष के कार्य को बिगाड़ने और उसमें अवरोध उत्पन्न करने में लगा रहेगा । एक बार जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि हमने निर्वाचनों को विश्वास के साथ अपनाया था, परन्तु निश्चय ही इसमें गम्भीर दोष हैं, जिन्हें दूर करना आवश्यक है । हम जो कुछ पश्चिम से स्वीकार करते हैं उसमें हमें अपने विवेक का प्रयोग करना चाहिए ।[18]

वर्तमान लोकशाही (लोकतन्त्र) में चूँकि निर्वाचन प्रत्यक्ष मतदान पर निर्भर है, प्रतिनिधि तथा मतदाता के मध्य सम्पर्क बहुत कम होता है ।[19] निर्वाचन-क्षेत्र बहुत विस्तृत होते हैं । निर्वाचन व्यय-साध्य होते हैं, जिससे भ्रष्टाचार के अवसर बने रहते हैं । आज के चुनावों में प्रतिनिधियों के लिए किसी न किसी दल की सहायता के बिना सफल होना कठिन है । इससे यह स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि वे जनता के प्रतिनिधि नहीं किन्तु वास्तव में दल के दास होते हैं । आज की लोकशाही में स्वतन्त्र चिन्तन तथा स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की पद्धति का अभाव है ।[20]

---

[14] वही ।

[15] वही, पृ० 202 ।

[16] विनोबा भावे, 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 20 ।

[17] वही, पृ० 21 ।

[18] वही, पृ० 22 ।

[19] श्री मन्नारायण, 'गांधीवादी संयोजन के सिद्धान्त', पृ० 117 ।

[20] शंकरराव देव, 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 45 ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

जब तक लोकशाही के इन दोषों का मूलोच्छेद नहीं होता, तब तक इसके माध्यम से सर्वोदय समाज की उन्नति नहीं हो सकती।[21] आज की लोकशाही जनता द्वारा नहीं, अपितु उसके उम्मीदवारों द्वारा संचालित होती है। आज की लोकशाही दलीय लोकशाही है। इसमें जनता को स्वाश्रयी बनने से रोका है।[22] दलगत उम्मीदवारों में कभी परस्पर विश्वास नहीं आ सकता। वे अपने उत्कर्ष के लिए दूसरों का अपकर्ष चाहते हैं।[23] अतः वर्तमान निर्वाचन पद्धति में परिवर्तन की आवश्यकता है।

दलीय राजनीति की असफलता

आज का लोकतन्त्र राजनीतिक दलों के बन्धन में बंधा हुआ है। इसका मुख्य कारण यह है कि समाज में ऐसे उदात्त व्यक्तियों का अभाव है, जिनका कार्य तथा विचार सर्वोदय की भावना से प्रेरित हो, तथा जो किसी बाहरी शक्ति के दबाव के बिना, स्वतन्त्र निर्णय ले सकें। स्वशासित प्रतिनिधियों का अभाव जनता को किसी न किसी दल का आश्रय लेने को प्रेरित करता है।[24] दलगत राजनीति देश तथा जनता के कल्याण की अपेक्षा दल के कल्याण की चिन्ता करती है। पहले जनता ने अपने अधिकारों के लिये राजाओं के विरुद्ध संघर्ष किया था। उस समय राजनिष्ठा और लोकनिष्ठा का विरोध था। अब लोकनिष्ठा और पक्षनिष्ठा का विरोध है।[25]

दलगत राजनीति के समर्थकों की मान्यता है कि लोगों का कल्याण हम तभी कर सकते हैं जब हमारे हाथ में सत्ता हो। सत्ता तभी आ सकती है, जब हमारे साथ टीम हो। टीम भी इतनी बड़ी होनी चाहिये कि दूसरों की अपेक्षा अधिक संख्या हो। इसलिये फिर चिन्ता क्या होती है कि पहले टीम बनायें, इसके बाद यह चिन्ता होती है कि हमारी टीम काफी बड़ी हो, और तत्पश्चात् यह चिन्ता होती है कि उस टीम के हाथ में लोककल्याण करने की सत्ता बनी रहे। इस प्रकार पक्ष-सत्ता और पक्ष-निष्ठा के कारण मनुष्य दुश्चक्र में फँस जाता है।[26]

दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र के समर्थकों का कथन है कि दलगत राजनीति में जनता का चारित्रिक पतन होता है। जनता को स्वतन्त्र मनन, विचार तथा अभिव्यक्ति का वातावरण नहीं मिलता। आज के राजनीतिक दल और उनकी कार्यपद्धति जनता को असहाय बनाते हैं। वे सभी लोकतन्त्र रूपी भवन की छत-निर्माण में व्यस्त हैं, आधार बनाने में नहीं। लोकतन्त्र का आधार जन-उपक्रम है। वर्तमान व्यवस्था में सभी उम्मीदवार जनता से वोट माँगते हैं और कहते हैं कि हम तुम्हारे लिये यह कार्य करेंगे, वह कार्य करेंगे। परन्तु कोई भी जनता को अपने ऐच्छिक कार्यों के लिये प्रोत्साहित नहीं करता।[27] दलगत विरोध खलनायकता को जन्म देते हैं, राजनीतिक नैतिकता को दबा देते हैं, गोलमाल, षड्यन्त्र तथा अनैतिकता को प्रोत्साहित

---

[21] वही।
[22] वही, पृ० 44।
[23] दादा धर्माधिकारी, 'सर्वोदय दर्शन', पृ० 231।
[24] शंकरराव देव, 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 46।
[25] दादा धर्माधिकारी, 'सर्वोदय दर्शन', पृ० 205।
[26] वही।
[27] जयप्रकाश नारायण, 'पीपल्स वॉलन्टरी एक्टीविटी इज़ द फाउन्डेशन ऑफ डेमोक्रेसी', पृ० 6।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

करते हैं। दल जनता को विभाजित करते हैं। दल के हाथों में सत्ता के केन्द्रीकरण के कारण जनता शासन में भाग लेने से वंचित रहती है। दल जो कि राजनीतिज्ञों का छोटा समूह है वह जनता के नाम से शासन करता है तथा लोकतन्त्र और स्वशासन का भ्रम फैलाता है।[28]

जयप्रकाश नारायण ने इस बात पर प्रकाश डाला है कि राजनीतिक दलों द्वारा समाज का वातावरण किस प्रकार दूषित कर दिया जाता है। उन्हीं के शब्दों में 'मैंने दल तथा सत्ता राजनीति से स्वयं को इसलिये विलग नहीं कर लिया कि मैं भग्नाशा हो चुका था, परन्तु मेरे सामने यह स्पष्ट हो गया था कि राजनीति से अच्छाई नहीं मिलेगी। दलपद्धति ने, जिसमें सत्ता-प्राप्ति का भ्रष्ट तथा छलपूर्ण संघर्ष सहजात होता है, मुझे बेचैन कर दिया है। मैंने देखा कि किस प्रकार धन, संगठन तथा प्रचार के साधनों से युक्त दल स्वयं को जनता पर थोप देते हैं। कैसे जनता का शासन दल का शासन बन जाता है, कैसे दल का शासन एक वर्ग का शासन बन जाता है। लोकतन्त्र को केवल मतदान तक सीमित कर दिया जाता है, और मतदान का यह अधिकार भी शक्तिशाली दलों द्वारा कठोर रूप से सीमित कर दिया जाता है। ये दल अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं। व्यवहारतः मतदाताओं को केवल उन्हीं को चुनना पड़ता है।'[29]

वर्तमान राजनीतिक दलों के संगठन इतने व्यवस्थित हैं कि लोगों को दल पर निर्भर रहना पड़ता है। एक व्यक्ति किसी स्थान के लिये बहुत योग्य उम्मीदवार हो सकता है, परन्तु यदि वह दल के नेताओं में से किसी का अपना आदमी नहीं है, तो उसे चुनाव का टिकट मिलने की कोई आशा नहीं। दलों के उम्मीदवारों (प्रतिनिधियों) के लिये विधानांगों में दल के सचेतकों द्वारा बार-बार हिदायतें जारी की जाती हैं।[30] जहाँ दलीय राजनीति का बोल बाला है, वहाँ एक दल सत्ता के सूत्र को अपने हाथों में रखता है तथा दूसरा दल उससे वंचित रहता है। परिणामतः दोनों में निरन्तर संघर्ष रहता है।[31]

दलीय लोकतन्त्र में जनता को एक महान् त्रुटि का सामना करना पड़ता है। वह है—सामाजिक कल्याण के लिये लोकशाही पूर्ण रूप से सत्ता पर निर्भर है। परिणामतः जनता की अपनी योग्यताओं और क्षमताओं में से श्रद्धा उठ गई है और वह राजसत्ता पर अधिकाधिक आश्रित होती जा रही है। अन्ततः चूँकि व्यक्ति अपनी सभी सुविधाओं के लिये दूसरों पर आश्रित हो जाते हैं अतः वे अपनी स्वतन्त्रता खो देते हैं।[32] फिर ऐसे लोकतन्त्र को स्वतन्त्रता का मूर्त रूप कैसे कहा जा सकता है? जयप्रकाश नारायण के अनुसार दलपद्धति जनता को निवीर्य बनाती है, वह जनता की शक्ति और उपक्रम के विकास के लिये कार्य नहीं करती, न वह जनता के स्वशासन की स्थापना में तथा अपने विषयों का स्वयं प्रबन्ध करने में सहायता करती है। दलपद्धति जनता को भेड़ की स्थिति में रखने की कोशिश करती है। इन भेड़ों की

---

[28] जयप्रकाश नारायण, 'सोशलिज्म, सर्वोदय एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 28।

[29] जयप्रकाश नारायण, 'फ्राम सोशलिज्म टु सर्वोदय', पृ० 32, 34।

[30] (क) श्री मन्नारायण, 'गाँधीवादी संयोजन के सिद्धान्त', पृ० 118।
(ख) शंकरराव देव, 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 45।

[31] विनोबा भावे, 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 22।

[32] (क) एम० के० गाँधी, 'सर्वोदय', पृ० 75।
(ख) शंकरराव देव, 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 45।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संप्रभुता का एकमात्र कार्य सामयिक तौर पर अपने ग्वालों को चुनना है, जो उनकी देखरेख करे। इसमें स्वतन्त्रता स्वराज्य के दर्शन नहीं होते।[33]

दलगत राजनीतिज्ञ केवल सत्ता हथियाने या उसे कायम रखने तथा विरोधियों को बाहर निकालने में रुचि लेते हैं। उनके व्याकरण में केवल तीन काल हैं—चुनावपूर्वकाल, चुनावकाल तथा चुनाव के बाद का काल।[34] इन तीनों कालों में वे केवल दल की भलाई में व्यस्त रहते हैं। चुनावों में वे आचार संहिता की तीन बातें अपनाते हैं :[35]

(१) आत्म-प्रशंसा।

(२) परनिन्दा।

(३) जी-भरकर असत्य भाषण।

वर्तमान भारत में राजनीति का अर्थ तीन बातें हैं :[36]

(१) राष्ट्र, सत्य या आत्मा की अपेक्षा दल के प्रति भक्ति।

(२) किसी भी मूल्य पर सत्ताप्राप्ति।

(३) अन्तिम मान्यता के रूप में कानूनी या सशस्त्र मान्यता।

राजनीतिक दलों ने जनता का पारस्परिक मनोमालिन्य बढ़ाया है, यहाँ तक कि जलाशयों पर दलीय आधार पर स्नान-घाट बन जाते हैं।[37] दलगत राजनीति ने जनता के साहस को कुंठित किया है। जनता अपने प्रतिनिधियों को स्वामी समझ बैठी है। यह समझने की आवश्यकता है कि हम स्वामी हैं, और प्रतिनिधि सेवक हैं। परन्तु परिस्थिति यह है कि स्वामी स्वयं सेवक का सेवक बन गया है। सर्वोदय, ग्रामदान, शान्ति सेना ये सभी बतलाते हैं कि हमें अपना कार्य आप करना चाहिये। हम किसी दल को वोट देकर अपने आप को सत्ता के आधीन कर देते हैं। जन-उपक्रम तथा जनशक्ति के संवर्धन के लिये हमें दलों से मुक्ति पानी है।[38]

दलगत राजनीति में विरोधी पक्ष

सामान्यतः यह स्वीकार किया जाता है कि विरोधी पक्ष से दलों का सन्तुलन बना रहता है और यह लोकतन्त्र की सफलता के लिये आवश्यक है। कुछ सीमा तक यह मान्यता ठीक हो सकती है, परन्तु सर्वोदय चिन्तन की दृष्टि में लोकतन्त्र के स्वास्थ्य और सुरक्षा के लिये इतना पर्याप्त नहीं है। दल पद्धति लोकतन्त्र की सर्वोत्तम पद्धति नहीं है।[39] उनके विचारानुसार इस पद्धति में विरोधी पक्ष के सदस्य भी स्वतन्त्र नहीं रहते। उन्हें भी अपने दल

---

[33] जयप्रकाश नारायण, 'फ्रॉम सोशलिज्म टु सर्वोदय', पृ० 35।

[34] सुरेशराम, 'विनोबा एण्ड हिज मिशन', पृ० 439।

[35] वही, पृ० 440।

[36] वही, पृ० 441।

[37] वही, पृ० 438।

[38] विनोबा भावे, 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 24।

[39] (क) विनोबा भावे, 'भूदान-यज्ञ', पृ० 115।
(ख) श्री मन्नारायण, 'गाँधीवादी संयोजन के सिद्धान्त', पृ० 217।
(ग) जयप्रकाश नारायण, 'पीपल्स वॉलन्टरी एक्टीविटी इज़ द फाउन्डेशन ऑफ डेमोक्रेसी', पृ० 2।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

के पक्ष में वोट देना पड़ता है, अन्यथा उनसे त्यागपत्र माँग लिया जाता है।[40] आज प्रायः सबकी मनोवृत्ति यह हो गई है कि अपनी सीट बनी रहे। ऐसी मनोवृत्ति स्वस्थ लोकतन्त्र का निर्माण नहीं कर सकती।

खलनायकता

राजनीतिक दल जहाँ जनता को उचित मार्गदर्शन प्रदान नहीं करते वहाँ खलनायकता उस स्थिति को अधिक बिगाड़ देती है। राजनीति में जन-सेवी भावना से प्रवेश न करके ऐसे व्यक्ति स्वहित या अपने वर्गहित में प्रयत्नशील रहते हैं। ये खलनायक जनता से वोट प्राप्त करने के लिये जनता से झूठे वायदे करते हैं।[41] राजनीतिक दलों में नेता स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं। आरम्भ में वे उदार तथा सहायक होते हैं, परन्तु वाद में वे व्यावसायिक बन जाते हैं। अन्ततः एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब वे स्थायी हो जाते हैं और हटाये नहीं जा सकते।[42] जनता स्वयं अक्षम नेता की योग्यताओं पर निर्भर करने लगती है।[43]

दल-सापेक्ष लोकतन्त्र का विकल्प — दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र

सर्वोदय विचारकों ने दलगत राजनीति के विषय में उपर्युक्त विचार व्यक्त किये हैं। दल-सापेक्ष लोकतन्त्र में सत्ता की राजनीति क्रियान्वित होती है, जो स्वस्थ लोकतन्त्र का निर्माण नहीं कर सकती। अतः इन विचारकों ने दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र का आदर्श प्रस्तुत किया है। ऐसे लोकतन्त्र में बहुमत के आधार पर नहीं, अपितु सर्व-सम्मति से कार्य होंगे। दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र में राजनीति (सत्ता की राजनीति) की अपेक्षा लोकनीति (जनता की राजनीति) क्रियाशील होगी। सर्वसम्मति की उपलब्धि के लिए इन्होंने ग्राम-पंचायतों की प्राचीन परम्परा को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया है।[44] उनके अनुसार ग्राम-पंचायतों की प्राचीन परम्परा दलपद्धति की नहीं, अपितु सम्पूर्ण समाज को एक मान कर चलने वाली सुगठित लोकतन्त्र की थी। पंचों को प्रत्यक्ष परमेश्वर माना जाता था।

पंचों के चुनाव प्रायः सर्वसम्मति से होते थे। जहाँ पर सब एकमत नहीं होते थे, वहाँ पर्ची-प्रथा से काम लिया जाता था। वर्तमान समय में हमारे लिये यह आवश्यक है कि पंचायतों को दलगत राजनीति के अखाड़े नहीं बनायें। उसे दल और सम्प्रदायों के विचारों से अलग और ऊपर रखकर संस्कारशील उदार पद्धति से चलायें, तभी भारत का, उसकी सच्ची प्रकृति के अनुरूप निर्माण हो सकता है।[45] विनोबा के शब्दों में 'भारत का राजनीतिक अनुभव हमारी ग्राम पंचायत में रहा है, जहाँ उसूल (मान्यता) था कि पाँच बोले परमेश्वर। पाँच बोले परमेश्वर का अर्थ यह होता है कि एक बोले, दो बोले, परमेश्वर तो होता ही नहीं है,

---

[40] दादा धर्माधिकारी, 'सर्वोदय दर्शन, पृ० 204।

[41] जयप्रकाश नारायण, 'सोशलिज्म, सर्वोदय एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 216।

[42] राबर्ट माइकेल्स, 'पोलिटिकल पार्टीज', पृ० 364।

[43] गोर्डन हेण्ड्स, 'ब्रिटिश जरनल ऑफ पॉलिटिकल साइन्स', जिल्द 1, भाग 2, अप्रैल 1971, पृ० 160।

[44] श्री मन्नारायण, 'गांधीवादी संयोजन के सिद्धान्त', पृ० 178।

[45] वही।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

लेकिन तीन या चार बोले परमेश्वर भी गलत है। आज यह राजनीतिक कानून है कि जो बहुमत कहेगा वैसा होगा। लेकिन हमने तो यह माना कि सारे पंचों की एक राय होनी चाहिये। पाँचों पंच एक राय बनायेंगे, तब कोई प्रस्ताव पास होगा। इसको मैं पाँच बोले परमेश्वर कहता हूँ।'[46] इस विचार से काम करने पर आज के बहुसंख्यक और अल्पसंख्यकों के झगड़े मिट सकते हैं।

जनता की सत्ता—लोकनीति

लोकतन्त्र चूँकि जनता का शासन है, इसलिये उसमें जनशक्ति—लोक सत्ता—का सर्वाधिक महत्त्व निर्विवाद है। जनशक्ति प्राथमिक है तो सरकार या शासन गौण है। विनोबा के अनुसार सरकार एक बाल्टी के समान है तो जनता कुएँ के समान है। यदि कुएँ (जल के स्रोत) में ही पानी नहीं होगा तो बाल्टी में कहाँ से आयेगा ? अतः हमें पानी के स्रोत—जनता तक पहुँचना होगा। जो काम सरकार नहीं कर सकती वह जनता कर सकती है। अतः लोक-शक्ति या नागरिक सत्ता (अहिंसक स्वाश्रित जनशक्ति) का निर्माण आवश्यक है। यह दण्डशक्ति या राज्य की कानूनी शक्ति से भिन्न है। आज समाज में जो विशृङ्खलता है, उसका मूल कारण यह है कि हमने जनशक्ति के महत्त्व की उपेक्षा कर दी है। आज सभी की आँखें शासन सत्ता के केन्द्र दिल्ली पर लगी हुई हैं। आज लोगों की यह भ्रममूलक धारणा है कि अंगीठी पर रखे हुए पात्र के पानी में से वाष्पशक्ति आती है। परन्तु वे भूल जाते हैं कि वाष्पशक्ति अंगीठी में जलने वाली आग से उत्पन्न होती है, ऊपर का पानी तो उसका साधनमात्र है। यदि अंगीठी में गर्मी है, तभी पानी उबलने पर वाष्पशक्ति बन सकती है। ग्रामों की गर्मी दिल्ली को गरम कर सकती है।[47]

लोकशक्ति का निर्माण आज की सर्वोच्च आवश्यकता है। लोकशक्ति द्वारा नियन्त्रित समाज में बहुमत का शासन निश्चेष्ट होगा। वहाँ जनता की सर्वसम्मति से, एक कुटुम्ब के समान कार्य होगा। ऐसे समाज में सरकार होगी परन्तु वह एक बन्धनकारी शक्ति न होकर सामंजस्यकारी तथा एकरसता उत्पन्न करने वाली शक्ति होगी। ग्रामदान एक शासन-मुक्त, समरस तथा पक्षातीत (दल-निरपेक्ष) समाज बनाना चाहता है।[48]

लोकशक्ति सैनिक या कानूनी मान्यता पर आधारित नहीं होती। यह शक्ति चाहती है कि जनता स्वयं अपने पैरों पर खड़ी हो और सरकार पर कम से कम निर्भर हो। वास्तविक तथा स्थायी शान्ति का एकमात्र मार्ग यह है कि जनता अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं करे।[49] जनता के अनुशासन में वृद्धि तथा प्रशासन में कमी तब होगी जब समस्त कानूनों के पीछे दण्ड का अधिष्ठान न होकर लोकसम्मति का अधिष्ठान होगा।[50] सर्वोदय में राजशक्ति के स्थान पर लोकनीति की स्थापना पर बल दिया जाता है।[51] विनोबा ने लोकनीति की सागर

---

[46] विनोबा भावे, 'भूदान-यज्ञ', पृ० 116।
[47] सुरेशराम, 'विनोबा एण्ड हिज मिशन', पृ० 408।
[48] वही, पृ० 413।
[49] वही।
[50] दादा धर्माधिकारी, 'सर्वोदय दर्शन', पृ० 230।
[51] जयप्रकाश नारायण, 'पीपल्स वॉलन्टरी एक्टीविटी इज द फाउन्डेशन ऑफ डेमोक्रेसी', पृ० 5।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

से उपमा दी है। उनके अनुसार लोकनीति जीवन का ऐसा सर्वव्यापी मार्ग है कि जो इसके विरोध का प्रयत्न करेगा वह गिरेगा। नदियाँ कभी सागर का विरोध नहीं करेंगी। यदि करेंगी तो सूख जायेंगी। वर्तमान व्यवस्था उसी समय बदलेगी, जब जनता बदल जायेगी।[52]

राजनीतिक लोकतन्त्र तब तक अपूर्ण रहता है जब तक उसके साथ आर्थिक एवं सामाजिक लोकतन्त्र न हो। भूदान आन्दोलन इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है जो वर्तमान दलगत भेदों को मिटा करके लोकनीति स्थापित करना चाहता है। लोकनीति को जयप्रकाश नारायण जनता की राजनीति कहते हैं। सर्वोदय विचारक लोकनीति और राजनीति में निम्न-लिखित अन्तर बतलाते हैं :[53]

लोकनीति		राजनीति
1. जनता की राजनीति	—	सत्ता तथा राज्य की राजनीति।
2. इसका मूलाधार लोकशक्ति या नागरिक सत्ता है।	—	इसका मूलाधार दण्ड शक्ति या राज्यसत्ता (कानूनी और सैनिक) है।
3. सत्य के प्रति श्रद्धा	—	सम्बन्धित दल के प्रति श्रद्धा।
4. जनकल्याण में रुचि	—	अपने दल के उत्कर्ष तथा दूसरों के दल के अपकर्ष में रुचि।
5. सार्वभौम सम्बन्ध	—	कुछ धनवानों या सत्ताधारियों से सम्बन्धित।
6. वर्तमान निर्वाचन में परिवर्तन तथा सामाजिक परिवर्तन पर बल	—	वर्तमान निर्वाचन पर केन्द्रित
7. हृदय की एकता का प्रयत्न	—	हृदय को विभाजित करने का प्रयत्न।

लोकनीति की स्थापना

अहिंसक स्वाश्रयी लोकतन्त्र की उपलब्धि केवलमात्र वर्तमान लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण से नहीं होगी। राजनीति को, सत्तावाद को, विकेन्द्रित कर देने से सत्तावाद विकेन्द्रित हो जाता है, परन्तु सत्तावाद का अर्थ लोकनीति नहीं है। लोकनीति उससे भिन्न है।[54] लोकनीति की स्थापना के लिये नीचे की ओर से शक्ति का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। लोकतान्त्रिक समाजवादी सत्ता के विकेन्द्रीकरण की बातें करते हैं, परन्तु विकेन्द्रीकरण ऊपर से जनता को शक्ति देने मात्र से नहीं हो जाता—ऐसी जनता जो राजनीतिक रूप से पुंसत्वहीन हो गई है और जिसकी स्वशासन की क्षमता को दलपद्धति तथा सत्ता के केन्द्रीकरण ने यदि नष्ट नहीं किया तो पीछे अवश्य धकेल दिया है। आज विधान सभा के कानूनों द्वारा पंचायतों की स्थापना की जाती है। ये सच्ची पंचायतें नहीं हैं और न यह गाँधी जी का ग्राम स्वराज्य ही है। गाँधी जी का कथन था कि पंचायतें अपने द्वारा बनाये गये कानूनों के अनुसार ही कार्य कर सकती

---

[52] विनोबा भावे, 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 18।

[53] सुरेशराम, 'विनोबा एण्ड हिज मिशन', पृ० 442।

[54] दादा धर्माधिकारी, 'सर्वोदय दर्शन', पृ० 225।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

हैं। समुदाय के जीवन को स्व-नियमित करने की क्षमता की सर्जना अवश्य करनी होगी, उसे विकेन्द्रीकरण के नाम पर ऊपर से थोपा नहीं जाये। इस पद्धति का आरम्भ नीचे से होना चाहिये। जनता के सम्मुख स्वशासन तथा स्वप्रबन्ध का कार्यक्रम रखना चाहिये तथा रचनात्मक एवं पक्षातीत प्रणाली द्वारा उन्हें सहायता दी जाय ताकि वे उसे व्यवहार में लागू कर सकें। राष्ट्रीय स्तर पर ऐसे कार्यक्रम के निमित्त गाँधी जी कांग्रेस दल को पक्षातीत लोक-सेवक-संघ के रूप में परिवर्तित करने की सोच रहे थे।[55]

विनोबा जी का कथन है कि जब तक दलगत राजनीति के दोष हैं तब तक स्वतन्त्रता तथा विश्वास नहीं रह सकते। पारस्परिक अविश्वास के वातावरण में स्वराज्य के दर्शन नहीं हो सकते। हमें ऐसे ग्राम स्वराज्य की स्थापना करनी है, जहाँ कोई दलगत मतभेद न हो। सभी दलों के मतभेद के कारणों को हमें खोज निकालना चाहिये। यदि सभी का उद्देश्य जन-कल्याण कहना है, तो वे सभी ग्रामोत्थान में क्यों नहीं लग जाते? ऐसा होने पर वास्तविक स्वराज्य स्थापित होगा।[56]

आर्थिक लोकतन्त्र के अभाव में राजनीतिक लोकतन्त्र की स्थापना सही अर्थों में नहीं हो सकती। सर्वोदय विचारक यह मानते हैं कि इसके लिये समाज में आर्थिक असन्तुलन का निवारण प्राथमिक आवश्यकता है। उनके अनुसार वर्तमान लोकशाही की बुनियादें तब बदलेंगी, जब हमारी आर्थिक इकाई, प्रशासकीय इकाई और प्रतिनिधिक इकाई,[57] इन तीनों में कम से कम अन्तर रहेगा। समाज सारा का सारा उत्पादकों का होगा, उसमें मालिक कोई नहीं होगा। इसके लिये आर्थिक क्षेत्र में पहला कदम होगा, अनुत्पादक के स्वामित्व का विसर्जन। दूसरा कदम होगा, उत्पादक के स्वामित्व की स्थापना; और तीसरा कदम होगा, स्वामित्व का ही निराकरण। उस समाज में स्वयंपूर्णता की दृष्टि से विकेन्द्रीकरण होगा और उस विकेन्द्रित समाज में प्रतिनिधित्व और प्रशासन दोनों यथासम्भव समव्याप्त होंगे। प्रशासन का उद्देश्य वस्तु-नियन्त्रण होगा, व्यक्ति-नियन्त्रण नहीं। यह प्रशासन से अनुशासन की ओर जाने का कदम है। प्रशासन कम होता चला जायेगा, अनुशासन बढ़ता चला जायेगा।[58]

उम्मीदवारी की समाप्ति

वर्तमान लोकशाही के आधार परिवर्तन का दूसरा कदम होगा—उम्मीदवारी नहीं रहेगी। सम्पत्ति का विभाजन और संग्रह का विसर्जन करने से समाज में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होगी कि एक नागरिक को दूसरे नागरिक से बहुत डर नहीं रह जायेगा—सत्ता की आकांक्षा कम हो जायेगी।[59] उस समाज में केन्द्रीय शासन के पास नैतिक सत्ता अधिक होगी,

---

[55] (क) जयप्रकाश नारायण, 'पीपल्स वॉलन्टरी एक्टीविटी इज द फाउन्डेशन ऑफ डेमोक्रेसी', पृ० 7।
(ख) जयप्रकाश नारायण, 'फ्रॉम सोशलिज्म टु सर्वोदय', पृ० 36।

[56] विनोबा भावे, 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 22।

[57] 'मतदान का क्षेत्र प्रतिनिधिक इकाई है। तालुका, जिला और उसके नीचे की इकाई प्रशासन की इकाई हैं।' दादा धर्माधिकारी, 'सर्वोदय दर्शन', पृ० 220।

[58] वही, पृ० 225।

[59] वही, पृ० 226।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्रत्यक्ष व्यवस्था की सत्ता विकेन्द्रित होगी अर्थात् स्थानीय शासन के पास रहेगी। विकेन्द्रित शासन में मतभेद के अवसर बहुत कम हो जाते हैं, इसलिये पक्षभेद की बहुत कम गुंजाइश रहती है।[60]

आज की लोकशाही में वोट छीने जाते हैं और वोट बेचे जाते हैं। कहने को तो यहाँ गरीब आदमी का राज्य हो गया है परन्तु गरीब आदमी दुःखी है। हमें ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करनी है जिससे वोट छीना और बेचा नहीं जाय।[61] इसके लिये आर्थिक स्वयंपूर्तता आवश्यक है। लोकतन्त्र की सुदृढ़ता के लिये यह भी आवश्यक है कि अल्पसंख्यकों को विचार-स्वातन्त्र्य हो। अल्पसंख्यकों में आत्मबल होना चाहिये। दण्ड-बल, शस्त्रबल और संख्या-बल के सामने सिर झुकाये बिना आत्म-संकेत के अनुसार चलने की स्वतन्त्रता नागरिक का आत्म-मर्यादावाचक लक्षण है।[62] यही वास्तविक स्वराज्य है।

दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र के सम्बन्ध में मानवेन्द्रनाथ राय का कथन था कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था का सार नागरिकों में इस भावना का विकास करता है कि शासनतन्त्र में उनका भी साझा है। समाज के आमूल पुनर्निर्माण के लिये व्यक्ति को प्राथमिक मानना आवश्यक है। राय ने संगठित लोकतन्त्र का निरूपण किया, जिसके अन्तर्गत शिखर पर बैठा हुआ कोई प्रचण्ड शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति आदेश नहीं देगा, अपितु शक्ति जनता की स्थानीय समितियों के हाथों में होगी। राय की संगठित लोकतन्त्र और दलविहीन लोकतन्त्र की धारणा के अनुसार राज्य का ढाँचा संगठित स्थानीय लोकतान्त्रिक निकायों के आधार पर निर्मित होना चाहिये। ये निकाय राष्ट्र के राजनीतिक विद्यालयों का कार्य करेंगे और जनता को अपने सामाजिक तथा राजनीतिक उत्तरदायित्वों को चतुराई के साथ पूरा करने का प्रशिक्षण देंगे।[63]

दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र में निर्वाचन की पद्धति

सर्वोदय विचारकों की यह मान्यता है कि वर्तमान प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली में अनेक दोष हैं। ये निर्वाचन जनता को कोई वास्तविक शिक्षा नहीं देते। राष्ट्र की गम्भीर आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं का समाधान शान्तिपूर्वक करने के लिये यह आवश्यक है कि आम चुनाव की पद्धति समाप्त कर दी जाय। वर्तमान निर्वाचित सदस्य कार्य करते रहें, उनमें से कुछ सदस्य समयान्तर से बदल दिये जायें।[64]

शक्ति का हस्तान्तरण तथा प्रशासन का विकेन्द्रीकरण तब तक नहीं हो सकता जब तक स्थानीय शासन के केन्द्र तथा सत्ताओं की स्थापना नहीं होती तथा जब तक सरकार के विभिन्न अंगों में वैधानिक और चेतन सम्बन्ध न हों।[65] ग्रामसभा तथा मतदाता परिषद् के माध्यम से चुनाव होने चाहिएँ। इस सम्बन्ध में जयप्रकाश नारायण ने एक विस्तृत योजना

---

[60] वही, पृ० 227।
[61] वही, पृ० 228–232।
[62] वही, पृ० 233।
[63] एम० एन० राय, 'न्यू ह्यूमेनिज्म', पृ० 12।
[64] जयप्रकाश नारायण, 'सोशलिज्म, सर्वोदय एण्ड डमोक्रेसी', पृ० 218।
[65] जयप्रकाश नारायण, 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 25।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्रस्तुत की है।[66] उनके अनुसार एक निर्वाचन-क्षेत्र में ठीक ढंग से बुलाई गई आम सभा में, प्रत्येक ग्राम सभा, मतदाता समिति, जिसे मतदाता परिषद् कहा जायेगा, के लिये दो प्रतिनिधि चुने। तत्पश्चात् मतदाता परिषद् की बैठक हो। इसका अर्थ यह है कि राज्य-विधायिका या संसद से सम्बन्धित ग्राम सभाएँ—निर्वाचन-क्षेत्र—उस क्षेत्र के किसी भी केन्द्रीय स्थान पर निर्वाचित प्रतिनिधियों की बैठक बुलाये। मतदाता परिषद् चुनाव के लिये अपने उम्मीदवार खड़े करें। उम्मीदवारों के नाम आमन्त्रित किये जायं। तत्पश्चात् प्रत्येक प्रस्तावित तथा समर्थित नाम के लिये मतदान हो। वे व्यक्ति जिन्हें अमुक मत-संख्या (जैसे ३० प्रतिशत) से अधिक मत मिल जायं वे उस क्षेत्र से राज्य विधायिका या संसद के लिये उम्मीदवार घोषित कर दिये जायं।

लोकतन्त्र के उचित संचालन के लिए यह अपेक्षित है कि मतों का विभाजन यथा-सम्भव कम हो। विभिन्न शैक्षणिक तथा सांविधानिक साधनों द्वारा ऐसी व्यवस्था की जाय कि मतदाता परिषद्, एक सीट के लिए केवल एक उम्मीदवार ही खड़ा करे। (जहाँ एक-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र हों।) लोकतान्त्रिक सिद्धान्त में यह एक दोष है कि एक निर्वाचन क्षेत्र में, निर्वाचित प्रतिनिधि के चाहे जितने विरोधी हों, फिर भी वह पूरे निर्वाचन-क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करने वाला समझा जाता है। इस दोष के निवारण के लिए यह उचित है कि एक उम्मीदवार ही खड़ा किया जाय। यदि ऐसा न हो सके तो निम्नलिखित पद्धति काम में लायी जाय :[67]

मतदाता परिषद् द्वारा निर्वाचित उम्मीदवार के नाम उस क्षेत्र की समस्त ग्राम-सभाओं को भेज दिये जायें। इसके बाद प्रत्येक उम्मीदवार के नाम पर मतदान हो। यहाँ निम्नलिखित विकल्पों में से कोई भी विकल्प अपनाया जाय :[68]

(1) सर्वाधिक मत प्राप्त उम्मीदवार के सम्बन्ध में एक घोषणा प्रेषित की जाय कि ग्रामसभा, उच्चतर सभा के लिए उसे प्रतिनिधि के रूप में भेजना चाहती है। ऐसे सभी उम्मीदवारों में से जिसे सर्वाधिक मत प्राप्त हो, उसे उस क्षेत्र से राज्य-विधायिका या संसद (जिसके लिए वह चुना गया है) के लिए सदस्य घोषित कर दिया जाय।

(2) यह उचित होगा कि प्रत्येक ग्रामसभा की बैठक में प्रत्येक उम्मीदवार को मिलने वाले मतों को नोट किया जाय, ताकि पूरे निर्वाचन-क्षेत्र की विभिन्न ग्राम-सभाओं की बैठक में प्रत्येक उम्मीदवार को प्राप्त मत गिने जा सकें और सर्वाधिक मत-प्राप्त व्यक्ति उस निर्वाचन-क्षेत्र का प्रतिनिधि हो।

ऐसी निर्वाचन पद्धति यह बतलाती है कि ग्रामसभा प्रशासकीय मशीनरी का मूल आधार है। यह पद्धति लोकतन्त्र के ऊपरी स्तर को निम्न स्तर से मिलाती है। यह ग्राम-सभाओं को स्थानीयता से ऊपर उठाती है, उन्हें सम्मान, शक्ति और महत्त्व प्रदान करती है।

---

[66] यह योजना सन् 1967 के आम चुनावों के सन्दर्भ में प्रस्तुत की गयी थी। (क) जयप्रकाश नारायण, 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 26; (ख) शंकरराव देव, 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 45।

[67] जयप्रकाश नारायण, 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 27।

[68] वही।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्रत्येक वयस्क नागरिक, मतदाता परिषद् तथा ग्रामसभा के माध्यम से निर्वाचन में संगठित रूप से भाग ले सकता है।[69]

मतदाता को प्रतिनिधि चुनने दीजिये

दल द्वारा उम्मीदवार का चयन लोकतन्त्र को दूषित कर देता है। इससे उम्मीदवार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह दल के नेता की ओर ताके तथा चुनाव के लिए दल का टिकट प्राप्त करने के लिये उसका कृपाकांक्षी बने। इससे सत्ता के केन्द्रीकरण के साथ सत्ता के भूखे तत्त्वों का पोषण होता है और लोकतन्त्र अशक्त होता है। अतः जनता अर्थात् मतदाता स्वयं अपने उम्मीदवार चुनें। यह पद्धति सत्ता को जनता तक नीचे पहुँचने के लिये बाध्य करेगी और जनता को लोकतन्त्र की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया में सहयोग देने का अवसर मिलेगा। इससे जनता को निर्वाचन सारपूर्ण लगेंगे। वर्तमान पद्धति में उम्मीदवार दलों से थ्राते हैं और जनता पर थोपे जाते हैं। परन्तु जब उम्मीदवार जनता में से ही लिये जायेंगे तो लोकतन्त्र के प्रति जनता के दृष्टिकोण में महान् अन्तर आ जायेगा।[70] जनता अधिकाधिक स्वाश्रयी बनेगी।

जिस क्षेत्र में ग्रामसभाएँ हों वहाँ उपर्युक्त पद्धति काम में लायी जाय। जहाँ ग्रामसभाएँ न हों वहाँ मतदाता परिषद् बनाने के लिए यह पद्धति अपनायी जाय कि एक निर्वाचन-क्षेत्र को अनेक छोटे खण्डों में बाँट दिया जाय। इनके मतदाताओं की बैठकों में दो या दो से अधिक प्रतिनिधि निर्वाचित कर लिये जाएँ। ये प्रतिनिधि मतदाता परिषद् के रूप में एकत्रित होकर उस क्षेत्र के (राज्य-विधायिका या संसद के लिये) प्रतिनिधि निर्वाचित करें।[71] मतदाता परिषद् के माध्यम से मतदाता तथा प्रतिनिधि के बीच सम्पर्क बना रहे।[72]

चुनाव सभाओं के अलग मंच न हों

विभिन्न उम्मीदवारों तथा जनता के बीच पारस्परिक सहयोगमूलक भावना से कार्य करने की प्रवृत्ति के विकास के लिए सर्वोदय के समर्थकों ने यह प्रतिपादित किया कि विभिन्न उम्मीदवार अलग-अलग चुनाव सभाएँ न करें। उनका कथन है कि वर्तमान निर्वाचन अभियान के समय सामान्य प्रथा यह है कि विभिन्न उम्मीदवार तथा उनके समर्थक अलग-अलग सभाएँ करते हैं। इस प्रणाली में गलत प्रचार, परनिन्दा आदि के अवसर रहते हैं। इसमें साम्प्रदायिक, धार्मिक तथा अन्य तनावों के अवसर की गुँजाइश रहती है। यह जनता की नैतिक शक्ति को पतित करती है। तदुपरान्त यह मतदाता को गलत शिक्षा देती है। इससे मतदाता, समस्याओं को सही रूप में देखने से वंचित कर दिये जाते हैं।[73]

इन दोषों का काफी मात्रा तक निवारण हो सकता है, यदि उम्मीदवार तथा उनके समर्थक सामान्य मंच को स्वीकार करें, एक दूसरे की उपस्थिति में अपने विचार प्रकट करें।

---

[69] वही, पृ० 28।

[70] वही।

[71] वही, पृ० 29।

[72] शंकरराव देव, 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 46।

[73] जयप्रकाश नारायण, 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 29।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

ऐसे अवसरों पर प्रत्येक वक्ता को समान समय दिया जाय तथा श्रोताओं को प्रत्येक भाषण के बाद प्रश्न पूछने का अवसर दिया जाय।[74] निर्वाचन क्षेत्र के सभी मतदाता सभी उम्मीदवारों तथा सम्बन्धित व्यक्तियों से सामान्य मंच पर आने का निवेदन करें।[75]

सर्वोदय विचारकों ने दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र की स्थापना की प्रारम्भिक अवस्थाओं के लिए एक महत्त्वपूर्ण सुझाव यह दिया है कि विभिन्न राजनीतिक दलों को सर्वोदय का कार्य करने के लिए आमन्त्रित किया जाय। इन दलों की विचारधाराएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं, परन्तु जहाँ तक वे सहयोग करने के लिए तैयार हों, वहाँ तक उनकी सहायता ली जाय। इस विषय में विनोबा का कथन है कि विभिन्न राजनीतिक दलों को भिन्न दलों के रूप में अपना अस्तित्व समाप्त कर देना चाहिये और सामान्य सम्मति से स्वीकृत कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए अच्छे तथा निष्ठावान् व्यक्तियों का संयुक्त मोर्चा बना लेना चाहिए।[76]

दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र के साक्षात्कार के लिए सर्वोदय परम्परा में एक अन्य कार्य विधि का समर्थन किया गया है। सर्वोदय का उद्देश्य ऐसे समाज की स्थापना करना है, जो दलों के रोग से मुक्त होगा। जो व्यक्ति स्वयं को सर्वोदय आन्दोलन के लिए अर्पित कर देगा वह किसी निर्वाचित पद को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करेगा और न चुनावों में भाग ले सकेगा। किन्तु वह अपनी अन्तरात्मा के आदेशानुसार मतदान कर सकेगा।[77]

सर्वोदय समाज की स्थापना के लिये प्रत्यनशील सर्व-सेवा-संघ ने 1952 के आम चुनावों के पूर्व वर्धा में 1951 में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया था।[78]

1. सर्व-सेवा-संघ, विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा स्वीकृत योजनाओं तथा घोषणाओं को सर्वोदय की स्थापना के लिए पर्याप्त नहीं समझता है। न उसे इस बात का विश्वास है कि दलों द्वारा स्वीकृत योजनाओं को वे दल पर्याप्त रूप से तथा प्रभावकारी रूप से लागू कर सकेंगे। अतः संघ किसी भी वर्तमान राजनीतिक दल को अपना दल स्वीकार नहीं कर सकता।

---

[74] वही।

[75] (क) सुरेशराम, 'विनोबा एण्ड हिज मिशन', पृ० 449।

(ख) 'सन् 1937 के चुनावों में बिहार में पूनिया जिले के सामेली ग्राम में इस पद्धति का प्रयोग किया गया था। उस ग्राम के निवासियों ने उम्मीदवारों को एक चेतावनी दी थी कि यदि सभी उम्मीदवार संयुक्त मीटिंग में भाग लेने से इन्कार कर देंगे तो उस क्षेत्र के चुनाव होंगे ही नहीं। अन्ततः एक समझौता हुआ और उपर्युक्त पद्धति द्वारा चुनाव हुए। जयप्रकाश नारायण का यह सुझाव है कि सन् 1937 में सामेली में जो सम्भव था वह आज प्रत्येक ग्राम में सम्भव हो सकता है। शहरी क्षेत्रों में भी ऐसे प्रयोग किये जायें।' जयप्रकाश नारायण, 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रसी', पृ० 30।

[76] (क) श्री मन्नारायण, 'गांधीवादी संयोजन के सिद्धान्त', पृ० 217।

(ख) विनोबाभावे, 'भूदान-गंगा', पृ० 106।

[77] सर्व-सेवा-संघ का वर्धा विनिश्चय, 29 जुलाई, 1951।

(क) 'सिटीजन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 65।

(ख) 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 15।

[78] 'सर्व-सेवा-संघ द्वारा सन् 1956, 1962 तथा 1966 में, आम चुनावों के सन्दर्भ में ऐसे प्रस्ताव स्वीकार किये गये थे।'

सर्व-सेवा-संघ, 'सिटीजन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 65–66।

सर्व-सेवा-संघ, 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 48–50।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

2. संघ का यह विश्वास है कि सत्ता को स्थगित करके और स्वयं को मतदाताओं की विशुद्ध निःस्वार्थ सेवा में अर्पित करके, राजनीतिक शक्ति उत्पन्न करना सम्भव होगा और मतदाताओं का वह इस प्रकार मार्ग दर्शन करेगा और उन पर प्रभाव डालेगा कि शक्ति धारण करने के लिये योग्य व्यक्ति को वोट प्राप्त हो।

3. सरकार के संचालन के प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व को रचनात्मक कार्यकर्त्ता द्वारा स्वीकृत किये जाने का प्रश्न उसी समय उपस्थित होगा जब जनता स्वयं यह अनुभव करे कि वह शक्ति धारण करने के लिए अन्य किसी को नहीं अपितु रचनात्मक कार्यकर्ताओं को चाहती है। परन्तु यह तो भविष्य की बात है।

4. वर्तमान सरकार का विस्तृत कार्यक्षेत्र, और दलों द्वारा निर्मित सरकार सर्वोदय के सिद्धान्त से मेल नहीं खाती और रचनात्मक योजनाओं की क्रियान्विति में महान् बाधा उपस्थित करती है। अतः रचनात्मक कार्यकर्ताओं को निरन्तर अपना कार्य करते रहना चाहिये। देश के उचित शासन तथा राजनीति में बुद्धिमत्तापूर्वक रुचि लेना वे अपनी समग्र सेवा का अंश समझें। इस उद्देश्य के लिये वे मतदाताओं को शिक्षित करने का कार्य सम्भालें ताकि मतदाता अपने मत की पावनता और शक्ति को समझें, और सार्वजनिक कल्याण तथा सार्वजनिक जीवन की शुद्धता के लिये अपने मत का प्रयोग बुद्धिमतापूर्वक निःस्वार्थ रूप से करना सीखें।

5. संघ के वैतनिक अथवा अवैतनिक पदाधिकारी और पूर्णकालीन कार्यकर्त्ता किसी राजनीतिक संगठन अथवा सरकारी निकाय या स्थानीय सरकारी निकाय के निर्वाचित पद के लिये उम्मीदवार के रूप में खड़े नहीं होंगे। निर्विरोध होने पर भी वे ऐसा पद स्वीकार नहीं करेंगे। वे चुनाव अभियान में सक्रिय भाग नहीं लेंगे।

6. वर्तमान परिस्थितियों में सर्व-सेवा-संघ के लिये यह वांछनीय नहीं है कि वह एक राजनीतिक दल की भांति कार्य करे। परन्तु संघ की यह इच्छा है कि जो रचनात्मक कार्यकर्त्ता किसी राजनीतिक संगठन के सदस्य हैं, वे अपनी ओर से ऐसा प्रभाव डालें कि निःस्वार्थ, विशुद्ध तथा योग्य व्यक्ति ही पद धारण कर सकें। तभी हमारे विधायकों तथा अच्छे शासन के लिये उत्तरदायी व्यक्तियों का नैतिक स्तर ऊँचा होगा।

सर्व-सेवा-संघ ने मतदाताओं को सामान्यतः यह सलाह दी है कि वे ऐसे उम्मीदवार को वोट देने से इन्कार कर दें जो उनकी सम्मति में सार्वजनिक जीवन के लिये आवश्यक शुद्धता के मानदण्ड से निम्न स्तर के हों। वे यह भी याद रखें कि सम्प्रदायवादी और हिंसात्मक उपायों में विश्वास रखने वाले उम्मीदवार को वोट देना भी सर्वोदय के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र में नागरिकों के कर्त्तव्य

दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र का पक्ष समर्थन करते हुए सर्वोदय विचारकों ने यह प्रतिपादित किया कि सर्वोत्तम राज्य वह है जो कम से कम शासन करे।[79] ऐसी अवस्था में नागरिकों का उत्तरदायित्व बढ़ जाता है। चूँकि सर्वोदय विचारधारा जन-उपक्रम तथा जनशक्ति को सर्वाधिक

---

[79] एम० के० गांधी, 'सर्वोदय', पृ० 74।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

तथा सर्वोच्च महत्त्व प्रदान करती है, इसलिये वह नागरिकों के कर्त्तव्य पर विशेष बल देती है। उसके अनुसार नागरिकों को अकर्मण्य बनकर नहीं रहना है। आज राजनीतिक दल, विधायक तथा मन्त्री सभी निरंकुश हो रहे हैं। वे जनमत की परवाह नहीं करते, क्योंकि वास्तव में कोई जनमत ही नहीं है। विभिन्न राजनीतिक दल अपना-अपना प्रचार करते हैं, परन्तु वह स्वस्थ तथा निष्पक्ष जनमत का निर्माण नहीं है। जनमत, दलगत राजनीति से मुक्त होना चाहिये, जो उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक, सही या गलत विषयों पर अपने विचार व्यक्त कर सकें। जनता को दल की राय तथा जनमत के महान् भेद को समझना चाहिये। इसके लिये जयप्रकाश नारायण ने सुझाव दिया है कि प्रत्येक शहर में लोकतन्त्र-सुरक्षा-संघ तथा मतदाता शिक्षण संघ की स्थापना की जानी चाहिये।[80]

मतदाता लोकतन्त्र के भाग्य-विधाता कहे जाते हैं, परन्तु वास्तव में मत पाने वाले जनता के भाग्य-विधाता बन जाते हैं। इसका कारण व्यापक अशिक्षा है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे जब तक शिक्षित न हों तब तक मतदान न कर सकें। आवश्यकता इस बात की है कि मतदाताओं को जागृत किया जाय और उन्हें यह समझाया जाय कि वे अपने मतदान के अमूल्य अधिकार का प्रयोग कैसे करें। मतदाताओं को यह समझना चाहिये कि वे जाति के नाम पर अथवा दबाव में आकर वोट न दें। वे उस सच्चरित्र उम्मीदवार को वोट दें, जो जातिवादी और सम्प्रदायवादी नहीं है। यदि ये दूषण दूर नहीं किये गये तो लोकतन्त्र का भविष्य अन्धकारमय है।[81]

मतदाताओं को शिक्षित करने के क्षेत्र में भारतीय प्रौढ़ शिक्षा समुदाय तथा सांविधानिक और संसदीय अध्ययन संस्थान जैसी ऐच्छिक संस्थाएँ क्रियाशील हैं। परन्तु ऐसी योजना को विस्तृत पैमाने पर कार्यान्वित करने के लिए राष्ट्रीय मतैक्य तथा विधायी स्वीकृति आवश्यक है। साथ ही जनशक्ति और धनशक्ति भी अपेक्षित है।[82] राष्ट्रीय सरकार ऐसी योजना को अधिक प्रभावकारी रूप से संचालित कर सकती है। स्कूल तथा विश्वविद्यालय के शिक्षक मतदाताओं को शिक्षित करने में सक्रिय भाग ले सकते हैं।[83] मतदाताओं के कर्तव्य की मतदान कर देने पर ही इतिश्री नहीं हो जाती, निर्वाचित प्रतिनिधि तथा मतदाता के बीच नियमित सम्पर्क रहना चाहिए, ताकि वे परस्पर उत्तरदायित्व को ठीक ढंग से निभा सकें।

लोकतान्त्रिक प्रणाली में वास्तव में कौन महत्त्वपूर्ण है, दल या मतदाता ? यह एक सारगर्भित प्रश्न है। इसके उत्तर में महात्मा गांधी का कथन था कि दल की अपेक्षा मतदाता अधिक महत्त्व रखता है। परन्तु दुर्भाग्य यह है कि मतदाता समाचार-पत्रों के आधार पर अपनी राय बनाते हैं। ये समाचार-पत्र स्वयं पूर्णतः विश्वसनीय नहीं होते। मतदाता परिवर्तन-ग्राही तथा अस्थिर होते हैं। वे घड़ी की सुई की भाँति दोलायमान रहते हैं।[84] परन्तु मतदाता

---

[80] जयप्रकाश नारायण, 'बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का 52वां दीक्षान्त भाषण', 18 फरवरी, 1970।

[81] वही।

[82] एल० एम० सिंघवी, 'सेमिनार ऑन एडल्ट एजूकेशन फॉर पार्लियामेन्टरी डेमोक्रेसीज', पॉण्डीचेरी 26–29 दिसम्बर, 1968।

[83] जयप्रकाश नारायण, 'बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का 52वां दीक्षान्त भाषण', 18 फरवरी, 1970।

[84] एम० के० गांधी, 'हिन्द स्वराज्य', पृ० 17।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

को सुस्थिर होकर अपने उम्मीदवार के दृष्टिकोण पर ध्यान देना चाहिए, उनके दल पर नहीं। यदि मतदाता को उम्मीदवार योग्य न लगे तो उसे मतदान ही नहीं करना चाहिए। ऐसी स्थिति में मतदान न करना मतदान के प्रयोग के समान होगा। यह भी एक उलझन है कि यदि ऐसे मतदाता मताधिकार का प्रयोग नहीं करेंगे तो अयोग्य व्यक्ति के निर्वाचित हो जाने की सम्भावना है, परन्तु ऐसे प्रतिनिधियों का विधानांगों में कोई प्रभाव नहीं होगा।[85]

जिस लोकतन्त्र में सामान्य जन जागृत नहीं हैं वह लोकतन्त्र नकली लोकतन्त्र है। सत्ता-प्राप्ति की प्रतिस्पर्धा में लगे व्यक्ति से जन-कल्याण की अपेक्षा करना बालू में से तेल निकालने के समान है। ऐसी प्रतिस्पर्धा का अन्त करने के लिए मतदाताओं में निर्भयता की आवश्यकता है। मतदाता उम्मीदवार अथवा उसके एजेन्ट से यह स्पष्ट कह दे, 'मुझसे मेरे वोट के विषय में मत पूछो। चुनाव के अन्तिम क्षण तक मुझे अपने वोट में परिवर्तन करने का मौलिक अधिकार है।'[86]

भारत में जातिवाद, सम्प्रदायवाद और भाषावाद लोकतन्त्र के तीन महान् शत्रु हैं। लोकतन्त्र की गति और दिशा इन दोषों से अवरुद्ध न हो जाये, इसके लिए यह आवश्यक है कि लोकतन्त्र के भाग्य-विधाता, मतदाता, जाति, सम्प्रदाय या भाषा के आधार पर मतदान न करें। नागरिकता सम्प्रदाय और जाति दोनों से भिन्न होनी चाहिए। नागरिक सजग, सचेत और गौरवान्वित होने चाहिएँ। आज के सत्ताधारी व्यक्ति, चाहे वे किसी भी क्षेत्र में—प्रशासन, शिक्षण आदि क्षेत्र में—हों, इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते हैं कि उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ती रहे। इसके लिए वे जनता को अनेक झूठे आश्वासन दिया करते हैं, इससे जनता पथभ्रष्ट हो जाती है और अपने कर्तव्य का उचित सम्पादन नहीं कर सकती। यदि वह सचेत और सजग है तो ऐसे दोष उत्पन्न नहीं होंगे।[87]

आज नागरिकों को इस प्रश्न पर मनन करना होगा कि क्या वे राजनीतिज्ञों, बौद्धिकों, सम्प्रदायों, धार्मिक नेताओं आदि के हाथों के खिलौने बने रहेंगे या उनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होगा। अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की सुरक्षा के बिना लोकतन्त्र की बात अपलाप है। लोकतन्त्र का अवतरण सच्चे अर्थों में तभी होगा जब उसके सार—लोक—के महत्त्व को समझा जाये। लोकशाही के लिए लोक-शिक्षण की आवश्यकता है। लोकसेवक प्रचारक नहीं, शिक्षक होंगे। यदि वे प्रचारक बन जायेंगे तो सर्वोदय नहीं ला सकेंगे।[88]

लोकनीति की स्थापना के लिए न केवल जनता को तैयार करना आवश्यक है, अपितु इसके लिए आवश्यक परिस्थिति का निर्माण करना भी अपेक्षित है।[89] आज की परिस्थिति में लोगों का मन एक ओर है तथा वोट दूसरी ओर। मन के साथ इनका वोट नहीं चलता। आवश्यकता इस बात की है कि लोगों का मन और वोट दोनों साथ-साथ चलें। इसके लिए थैली के लोभ का तथा डण्डे के भय का निवारण आवश्यक है।[90] अर्थात् जनता आर्थिक दृष्टि

---

[85] एम० के० गांधी, 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 6।

[86] दादा धर्माधिकारी, 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 32।

[87] वही, पृ० 36।

[88] शंकरराव देव, 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रेसा', पृ० 47।

[89] विनोबा भावे, 'सर्वोदय की ओर', पृ० 51।

[90] दादा धर्माधिकारी, 'सर्वोदय दर्शन', पृ० 231।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

से स्वयंपूर्त हो और शासनमुक्त (सत्ता की राजनीति से मुक्त) समाज (लोकनीति पर आधारित) हो।

नागरिकों का उत्तरदायित्व केवल मतदान द्वारा प्रतिनिधि को चुनना ही नहीं है। लोकतन्त्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि जनता अपने मामलों का कहाँ तक स्वयं प्रबन्ध करती है।[91] समाज में प्रतिदिन उत्पन्न होने वाली समस्याओं पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने तथा विचार अभिव्यक्त करने की सम्भावना होगी तभी लोकनीति की पावन धारा बहेगी। सर्वोदय समाज का आदर्श उसी समय यथार्थ हो सकता है जब जनता को स्वविवेक के अनुसार विचार करने तथा कार्य करने की स्वतन्त्रता हो और अपनी शक्ति तथा संगठन में श्रद्धा रखते हुए वे एक सर्वनियामक नीति का अनुसरण करने के लिए तैयार हों।[92]

समीक्षा

दलगत राजनीति के दोषों का दिग्दर्शन कराते हुए, दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र के समर्थन में अनेक तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं। दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र की स्थापना के लिए अनेक सुझाव तथा योजनाएँ बतलाई जाती हैं। फिर भी कुछ समस्याएँ उपस्थित होती हैं। दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र में मतदाताओं को प्रशिक्षित करने वाला जो संगठन होगा क्या वह विभाजक नहीं हो सकता? क्या इसकी कोई प्रत्याभूति है कि ऐसा संगठन संयोजक ही होगा? सच्चरित्र उम्मीदवार को चुनने की बात कहना सरल है परन्तु ऐसे उम्मीदवार को खोज निकालना बहुत कठिन है।

दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र की योजना के अन्तर्गत दलीय राजनीति तथा निर्वाचन की पद्धति के स्थान पर सामुदायिक सर्वसम्मति अपनानी है। बहुसंख्यकों के निर्णय के स्थान पर मतैक्य को स्वीकार करना है। प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या ऐसा मतैक्य प्राप्त किया जा सकता है? क्या इतिहास द्वारा इसकी पुष्टि होती है? किसी भी समाज में या तो बहुसंख्यक वर्ग का निर्णय क्रियान्वित होता है अथवा अल्पसंख्यक वर्ग का। मतैक्य को प्राप्त करना एक ऐसा आदर्श प्रतीत होता है जिसकी यथार्थ में उपलब्धि सन्देहास्पद हो जाती है।

दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र के अनुयायियों ने निर्वाचन के लिए अप्रत्यक्ष नाम निर्देशन तथा अप्रत्यक्ष निर्वाचन का प्रतिपादन किया है। इस योजना के अनुसार ग्रामवासियों को केवल ग्राम-पंचायत के सदस्यों को चुनने का अधिकार होगा। वे प्रत्यक्ष रूप से विधानांगों तथा संसद के सदस्यों के चुनाव में भाग नहीं ले सकेंगे। अप्रत्यक्ष निर्वाचन की उपर्युक्त योजना विभिन्न निर्वाचन-निकायों को जन्म देगी जिससे निर्वाचन में जटिलताएँ उत्पन्न होने की सम्भावना है। चुनाव-अभियान के समय उम्मीदवारों का सामान्य मंच पर आने की बात कहना एक सुखद आदर्श लगता है, परन्तु समाज में जहाँ विभिन्न मतों, निष्ठाओं आदि का अस्तित्व हैं वहाँ क्या यह सम्भाव्य है?

---

[91] जयप्रकाश नारायण, 'पीपल्स वॉलन्टरी एक्टीविटी इज द फाउन्डेशन ऑफ डेमोक्रेसी', पृ० 5।

[92] शंकरराव देव, 'इलेक्शन एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० 45।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उपसंहार

उपर्युक्त कठिनाइयों का निवारण भी हो सकता है। प्रायः प्रत्येक समाज में मतभेद का एक मुख्य कारण आर्थिक असमानता है। सर्वोदय चिन्तन के अन्तर्गत राजनीतिक लोकतन्त्र के साथ-साथ आर्थिक लोकतन्त्र की जो योजना प्रस्तुत की गई है, वह स्पृहणीय है। जिस समाज में आर्थिक असन्तुलन का निवारण हो जायेगा वहाँ विभिन्न पक्षों (दलों) के निर्माण का प्रमुख आधार स्वतः लुप्त हो जायेगा, जिससे दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र की स्थापना के लिए आवश्यक भूमि तैयार हो जायेगी। परन्तु जब तक लोकतन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्तर-दायित्व को नहीं समझता, तब तक लोकतन्त्र संकटापन्न है।

लोकतन्त्र की अन्तिम प्रत्याभूति जनता स्वयं है। जनता स्वयं दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र की आवश्यकता का अनुभव करे। जनता में भ्रातृत्व और बन्धुता की भावना होनी चाहिए। सर्वोदय आन्दोलन इस दिशा में प्रयत्नशील है। विनोबा द्वारा चलाया गया आन्दोलन केवल भूदान नहीं अपितु भूदान-यज्ञ है। वे केवल एक हाथ से—पक्ष से—भूमि लेकर दूसरों को देना नहीं चाहते, अपितु वे लोगों में भूमिदान की भावना को उत्पन्न करना चाहते हैं। दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र की सफलता के लिए मनोवैज्ञानिक भूमिका की आवश्यकता है। जब तक जनता के दिल और दिमाग परिवर्तित नहीं होते, तब तक कोई भी योजना सफलीभूत नहीं हो सकती। जन-मनोभाव होने पर कुछ असफल नहीं हो सकता और उसके बिना कुछ सफल नहीं हो सकता। जन-मनोभावों को उचित गति-दिशा देने की आवश्यकता है।

दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र की स्थापना तब तक एक कल्पित आदर्श रहेगा, जब तक उसके संचालक—जनता—का चरित्र उच्च कोटि का नहीं होगा। किसी राष्ट्र का निर्माण एवं उत्थान उसके प्राणवान् नागरिकों के चरित्र पर निर्भर करता है। दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र की स्थापना से पूर्व यह अपेक्षित है कि असहिष्णुता, अक्षमता, स्वार्थपरायणता जैसे समाज विघटनकारी तत्त्व दूर हों तथा उनके स्थान पर सौहार्द, सामंजस्य आदि गुणों का विस्तार हो। नागरिक परस्पर एक-दूसरे के पोषक हों, शोषक नहीं, एक-दूसरे के सहायक हों, बाधक नहीं। परस्पर पोषक और सहायक बनने के लिए यह अपेक्षित है कि व्यक्ति अपने कर्तव्यों के प्रति उदासीन न होकर सचेत हों। जो व्यक्ति कर्तव्यपरायण हैं, उनके सम्मुख भी कर्तव्यपरायणता के मार्ग में बाधाओं का उपस्थित होना सम्भाव्य है। परन्तु इन बाधाओं को दूर करने के उपाय भी जान लेने चाहिएँ। बड़े हित के लिए छोटे हित का त्याग करने की क्षमता होनी चाहिए।[93] जनता का सुदृढ़ चरित्र सर्वोदय समाज की सफलता का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

---

[93] 'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामास्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥ महाभारत, आदिपर्व, 115 : 36।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र

चिरंजीलाल शर्मा

राज्य-संस्था समाज का एक प्रमुख प्रबन्ध अभिकरण है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ बदलती हुई आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप राज्य-तन्त्र के रूप में भी एक मशीनी यन्त्र के रूप की भाँति संशोधन व परिवर्तन होते रहे हैं। किन्तु मशीन व राज्य-तन्त्र के विकास में एक मौलिक अन्तर है। वह यह है कि जहाँ मशीन में संशोधन की सम्भावना महसूस होते ही पुराने प्रारूप के प्रति कोई मोह हम नहीं रखते तथा नये सुधार को अपनाने में कतई नहीं हिचकते वहाँ राज्य-संस्था या किसी अन्य सामाजिक संस्था में संशोधन तथा परिवर्तन करते समय पुरातन के प्रति मोह एक अड़चन बनता है, जिसके कारण अपरिवर्तनवाद एवं संशोधनवाद के बीच संघर्ष होता है। यह संघर्ष विकास की गति पर भले ही प्रतिकूल असर डाले मगर विकास को रोक देने में समर्थ नहीं हो पाता। यह विकासवाद के सिद्धान्त की विशेषता है। किन्तु यह स्वीकार किया जाता है कि यदि मशीनी संशोधन की भाँति ही संस्थागत संशोधन को भी बेहिचक अपनाया जाता रहा होता तो तानाशाही से लोकशाही तक का मार्ग तय करने में इतना समय न लगता और न इतनी कुर्बानियाँ ही देनी पड़तीं। साथ ही आज सामाजिक व राजनीतिक रूप से भी मानव चन्द्रयुग में होता, वैसे ही जैसे वैज्ञानिक रूप से है।

मानव-सभ्यता के विकासवादी सिद्धान्त में जिन लोगों की आस्था है उनका विश्वास है कि वर्तमान लोकशाही आधुनिकतम होते हुए भी अन्तिम नहीं। इसमें संशोधन व सुधारवाद की प्रक्रिया जारी है और वह दिन भी कभी आना अवश्य है जब राज्य-तन्त्र का उन्मूलन ही हो चुकेगा।

बहरहाल आज के युग में लोकतन्त्रीय राज्य-पद्धति की प्रतिष्ठा कायम हो चुकी है और इससे घटिया या इससे पुरातन किसी भी ढाँचे को स्वीकार करने के मूड में जनता नहीं रही है। सैनिक से शहँशाह बनने की महत्त्वाकांक्षा रखने वाले को अब बहादुर की नहीं बल्कि तानाशाह और सत्ता-लोलुप की संज्ञा दी जाती है। यदि कहीं तानाशाही कायम भी है तो वहाँ के शासक उसके जन-समर्पित होने का दावा करते हैं तथा भरसक प्रयास करते हैं कि उनका शासन जनता के हित में तथा जनता के समर्थन से संचालित होता हुआ दिखाई दे। अर्थात् तानाशाह स्वयं को तानाशाह कहने में शर्माता है जबकि पहले युग में वह ऐसा करने में गौरवान्वित महसूस करता था। यह परिवर्तन वर्तमान युग के 'लोकतन्त्र-युग' होने का एक प्रमुख प्रमाण है।

किन्तु 'लोकतन्त्र-युग' कहने का यह अर्थ कदापि नहीं कि लोकतन्त्र कायम हो चुका।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

बल्कि इसका तात्पर्य यह है कि लोकतन्त्र का मूल्य स्वीकृत हो गया, उसकी इज्जत कायम हो गई तथा उसकी निर्माण-प्रक्रिया आरम्भ हो गई। बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए लोकतन्त्र की व्याख्या समझ लेनी अनिवार्य है। इसके लिए थोड़ा प्रकार-चिन्तन करना होगा।

राज्य-संस्थाओं के जितने भी प्रकार हो सकते हैं उनका पहले एक सार्वभौमिक वर्गीकरण कर लिया जाये तथा उसमें से कौन-सा प्रकार हम लोकतन्त्र के रूप में अपनाना चाहते हैं यह इंगित किया जाये। विभिन्न गुण-धर्म वाले जितने भी प्रकार राज्य-संस्थाओं के हो सकते हैं ये सब इन चार भेदों में कहीं न कहीं खप जायेंगे : (1) एकतन्त्र अर्थात् एक आदमी के हाथ में राज्य-कार्य हो; (2) अल्पसंख्यक तन्त्र अर्थात् अल्पसंख्यक ही समाज का शासन अपने हाथों में रखते हों; (3) बहुसंख्यक तन्त्र अर्थात् बहुसंख्या वाले लोगों के पास सत्ता हो; तथा (4) सर्वतन्त्र अर्थात् शासन-सत्ता में सबका हाथ हो। जिसे हम लोकतन्त्र कहना चाहते हैं वह निःसन्देह इन चारों में अन्तिम प्रकार ही हो सकता है। कारण यह है बहुसंख्यक तन्त्र को हम लोकतन्त्र मान लें तो यह कुछ न्यायसंगत नहीं लगता। इसके अन्तर्गत जो शासन से अलग अल्पसंख्यक वर्ग रह गया और जिसकी राय की या भावनाओं की उपेक्षा करने का बहुमत को अधिकार हासिल हो गया उसे हमने जनता के रूप में मान्यता देने से इन्कार कर दिया। लोकतन्त्र की दृष्टि में तो समूची जनता ही जनता है, केवल बहुसंख्यक ही जनता नहीं है। अर्थात् 'सर्वसम्मति' लोकतन्त्र की प्रमुख अनिवार्य शर्त है।

बहुसंख्यक तन्त्र लोकतन्त्र से दोयम दर्जे की चीज है। सही मानों में यह बहुमत की अल्पमत पर सत्ता है। अल्पमत बहुमत की दया पर निर्भर है। रूसी क्रान्ति में बहुमत ने अल्पमतीय जारों को कत्ल कर दिया। रूस के अतिरिक्त अन्य लोकतन्त्र कहे जाने वाले मुल्कों जैसे अमरीका, इंग्लैण्ड तथा भारत आदि में लोकतन्त्र कायम है अथवा बहुसंख्यक तन्त्र, यह देखें तो पायेंगे कि लोकतन्त्र तो कहीं नहीं है, जहाँ भी है बहुतन्त्र है। और अगर अधिक निकट से देखें तो पता चलेगा कि वह बहुतन्त्र भी नहीं बल्कि दरअसल अल्पतन्त्र ही है।

बात जरा चौंकने की है इसलिए अधिक विवेचन अपेक्षित है। वर्तमान लोकतन्त्र दलीय पद्धति पर चलता है। चुनाव में चार दल भाग लें और क्रमशः 10%, 25%, 30% तथा 35% मत प्राप्त करें तो 35% मत पाने वाला दल सरकार बनायेगा यद्यपि 65% मतों का समर्थन उसे प्राप्त नहीं। इतना ही नहीं बल्कि प्राप्त 35% में से 17% मतों द्वारा समर्थित प्रतिनिधि यदि दल की नीति या किसी कार्यक्रम के सम्बन्ध में शेष 18% से सहमत न हो पायें तो भी खुले आम 18% द्वारा बनाई गई नीति के विरुद्ध मत प्रकट नहीं कर सकते वरना दल-द्रोह के आरोप में दल से निकाल दिये जायेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि दल के अन्दर का बहुमत सिर्फ 18% मतों द्वारा समर्थित होते हुए भी सिर्फ पूरे दल पर ही नहीं बल्कि 100% मतदाताओं पर शासन करने का हकदार बनता है। यह तसवीर उस दशा की है जब कि चुनाव में सिर्फ चार दलों ने भाग लिया। यदि राजनीतिक दलों की संख्या अधिक हो तो 9% या 10% मतों से समर्थित पार्टी भी सरकार में पहुँचने में सफल हो जाती है। और यदि चुनाव परिणामों के बाद आयाराम, गयाराम की गतिविधियाँ सक्रिय हो उठें तो अभी तक कोई भी ऐसा मापक-तन्त्र आविष्कृत नहीं हुआ जो नाप-जोख करके यह बता सके कि अमुक राजनीतिक दल को जनता ने सरकार बनाने की इजाजत दी है। इस सूरत में हाल में ही किये गये निर्वाचन को भी स्लेट पर गलत हल किये सवाल की तरह पोंछ दिया जाता है और

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

निर्वाचन पर हुआ जनता का अनापशनाप खर्च वेकार हो जाता है। लेकिन शासन की कुर्सी तो विल्कुल खाली नहीं छोड़ी जा सकती इसलिए राष्ट्रपति शासन कायम होता है।

तात्पर्य यह है कि जिस व्यवस्था के अन्तर्गत या तो 10% की या 18% की सत्ता 100 पर चले या जनमत का झुकाव दल-वदल से मोड़ा जा सके और उसे चकमा दिया जा सके वह व्यवस्था न तो 'लोकतन्त्र' है और न 'वहुतन्त्र'। वह तो केवल 'अल्पमत तन्त्र' है।

लोक-सम्मत शासन चलाने का दावा करने वाली प्रचलित दोनों पद्धतियाँ (साम्यवादी गणतन्त्र तथा संसदीय जनतन्त्र) सामन्तवाद एवं साम्राज्यवाद की उत्तराधिकारी हैं। यद्यपि सामन्तवाद व साम्राज्यवाद मर चुके हैं किन्तु उनका प्रेत सत्तावाद के रूप में जीवित है और प्रचलित दोनों पद्धतियों के सिर पर सवार है। जिन लोगों को सामन्तवाद के युग में अधिकार-भोग या सत्ता-भोग का अवसर नहीं मिला वे अव सत्ता में पहुँचकर उसका जी खोलकर उपयोग करते हैं तथा उसे अपने हाथ से न निकलने देने के उद्योग में रत रहते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इनके अपने-अपने सिद्धान्तवाद तथा राजनीतिक दल सुसंगठित रहते हैं। इनकी दिलचस्पी न तो लोकसम्मति के निर्माण में होती है और न लोकतन्त्र की स्थापना में। लेकिन यह क्या छिपाने की वात है कि आज लोकतन्त्र की वागडोर इन्हीं के हाथों में है।। यही नेता-गण जैसे नचाते हैं वैसे ही राजनीति के सिद्धान्त तथा शासन नाचते हैं। जैसे ऐशोआराम और भोगमय जीवन राज-सामन्त विताते थे वैसे ही ये विताने लगे हैं और असली जनता से जितनी दूर वे रहते थे लगभग उतनी दूर ये भी रहते हैं। लोकतन्त्र युग द्वारा पैदा की गई सिर्फ एक मजवूरी उनके लिए है। वह यह कि वोट माँगने जनता के पास जाना पड़ता है हालांकि वे नहीं चाहते कि उन्हें जाना पड़े।

यह चित्र उन मुल्कों के 'भीतर' का है जहाँ तथाकथित जनता का राज्य कायम किया गया है तथा सामन्तवाद और साम्राज्यवाद को दफना दिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में इन मुल्कों की सरकारों के 'बाहरी' व्यवहार पर नजर डाली जाय तो स्पष्ट दिखाई देगा कि साम्यवादी तथा प्रजातान्त्रिक दोनों प्रकार की शक्तियाँ संसार में अपना-अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने व बनाये रखने में तल्लीन हैं और इसके लिए हर साधन का (बन्दूक व सन्दूक दोनों का भी) खुलकर उपयोग करती हैं। अब भला बताइये, सामन्तवाद या साम्राज्यवाद को मार देने से जनता को क्या लाभ हुआ ? उस पर तो शासन करने वाला, सत्ता चलाने वाला कोई न कोई पहले जैसे था वैसे ही आज भी है। 'कोऊ नृप होय हमहिं का हानी। चेरि छाँड़ि होऊ नहिं रानी।' सो जनता तो तव भी चेरी थी आज भी चेरी है। उसे चेरी से रानी बनाने का बीड़ा उठाये तब तो लोकतन्त्र सच्चा वर्ना झूठा। यह मुख्य परीक्षा है जिससे आज का सत्तावादी एवं तथाकथित लोकतन्त्रवादी नेता बचता फिरता है क्योंकि वास्तविक सत्ता जनता में पहुँच जाने पर उसे अपनी सत्ता का भविष्य अन्धकार में नजर पड़ता है। यही कारण है कि वह जनता का रुख देखते हुए समाजवाद और लोकतन्त्र का नारा तो हर समय लगाते हैं किन्तु वस्तुतः उन चीजों को हाथ नहीं लगाते जिनसे समाजवाद या लोकतन्त्र आ सकें। वे दिखावा तो यह करना चाहते हैं कि उनकी इच्छा जनता के सब सवालों को हल करने की है किन्तु वे उस चौखटे का परित्याग नहीं करते जिसमें से सवाल पैदा हुए हैं।

इस सत्तावादी राजनीति की सबसे मजबूत शरणागाह दलवाद है। यही कारण है कि लोकतन्त्र का संचालन-सूत्र दलवाद के हाथ में इन सत्तावादियों ने दे रखा है। दलवाद के किले

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

में सत्तावाद को सम्प्रदायवाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद एवं भाषावाद जैसे अनेक समर्थक व सहायक मिलते हैं तथा पूँजीवाद व गुंडावाद को खुराक मिलती है जिससे वह पनपता है। भारत में दलीय राजनीति ने समाज को अनेक घरोंदों में बाँटकर रख दिया है। हिन्दू बनाम मुस्लिम, उत्तरी बनाम दक्षिणी, आदिवासी बनाम भारतवासी, बंगाली बनाम हिन्दुस्तानी और हरिजन बनाम हिन्दू आदि अनेक विवाद इसी के परिणाम हैं। यदि इस दलवादी राजनीति को और जरा चलने दिया गया तो विघटन जितना है उतना ही न रहकर बढ़ता ही जायेगा। झगड़ा हिन्दु-मुस्लिम या हरिजन-हिन्दू का ही नहीं बना रहेगा बल्कि जातियों में जातियाँ जितनी एक के भीतर एक मौजूद हैं सब आपस में टकरायेंगी और राष्ट्रवाद की जड़ें काट देंगी।

लोगों को इस खतरे का अहसास है किन्तु वर्तमान दलवादी पद्धति को त्यागने का साहस नहीं। दल के कार्यकर्ता से पूछें तो वह यही कहेगा कि दलों के जरिये कुछ होने वाला नहीं किन्तु दलों का उन्मूलन करने के बाद लोकतन्त्र चल पायेगा यह विश्वास उसके दिल में नहीं जमता। वास्तव में वर्तमान प्रणाली में दलवाद इतना अधिक पार्ट अदा करता है कि स्टेज से उसे निकाल देने पर सब कुछ रीता सा दिखाई पड़ेगा। वह लोकतन्त्र के बजाय स्वयं ही नाटक का नायक बना हुआ है। आज शासन में लोक की सत्ता नहीं बल्कि दल की या दलों की सत्ता है। इसे 'लोकतन्त्र' नहीं बल्कि 'दलतन्त्र' कहना चाहिए। जैसे पहले जमाने में राजा अपने राज्य की सुरक्षा, मजबूती व विस्तार हेतु उद्योग में रत रहता था वैसे ही आज राजनीतिक दल अपनी-अपनी शक्ति एवं सत्ता की स्थापना व विस्तार में प्रयत्नरत रहते हैं। कितने ही लोग तो कोई नौकरी, व्यापार या धन्धा न करके सिर्फ राजनीति को ही धन्धे के रूप में अपनाये हुए हैं। जाहिर है कि ये लोग अपने-अपने लिए पद व अवसरों की खोज में हैं और इनकी कोई दिलचस्पी जनता के सवालों में नहीं है। यह लोकतन्त्र के हित में है कि इन्हीं लोगों के विचारों के अनुकूल हमारी प्रणाली का रूप हो और गाड़ी का स्टेयरिंग उन्हीं के हाथ में हो।

इसी प्रश्न को यों पूछा जा सकता है कि लोकसत्ता को उसकी अपनी जगह दलसत्ता के कब्जे से छीनकर कैसे दिलवाई जाय ?

दलवाद का ठीक-ठीक नाम गिरोहवाद है जिसका ध्येय होता है कुर्सी या सत्ता। सत्तावाद साम्राज्यवाद का सहोदर भाई है। ये दोनों एक ही जाति के शेर हैं जो छोटे जानवरों के खून पर पलते हैं। छोटे जानवरों के खून में अर्थात् सत्ता में कौनसी मिठास है कि शेर के मुँह से छुड़ाये नहीं छुटती ? वह है सम्पत्ति की शान। सत्ता के जरिये यदि सम्पत्ति का सुख व शान प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भोगने को न मिल सके तो सत्ता की मिठास खत्म। साथ ही यदि सम्पत्ति का साधन उपलब्ध न हो तो सत्ता का हथियाना भी असम्भव है। यानी कि सत्ता का साधन व लक्ष्य दोनों सम्पत्ति या शानोशौकत ही है। सत्ता हेतु आकर्षण भी सम्पत्ति के ही कारण है और सत्ता का साधन भी सम्पत्ति ही है। अतः सत्ता पर सम्पत्तिवान हावी रहता है।

इस निष्कर्ष की कुछ और पड़ताल करनी होगी। सम्पत्ति ही यदि क्लेश की जड़ है तो क्या इसे नष्ट करना पड़ेगा ? कदापि नहीं। हमारी दैनिक आवश्यकता की समस्त सामग्री का नाम सम्पत्ति है चाहे वह वस्तु, मकान, जमीन या पैसा किसी भी रूप में हो। तो क्या ये सब सामग्रियाँ नष्ट करनी होंगी ? नहीं। ऐसा करने से तो हम संकट में पड़ जायेंगे। वास्तव में सम्पत्ति क्लेश की जड़ नहीं। वह तो हमारी सबकी सेवा करने को है, क्लेश की जड़ सम्पत्ति का स्वामित्व है। अर्थात् यदि सम्पत्ति में से स्वामित्व को खींच लें तो सम्पत्ति सत्ता का आकर्षण

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

नहीं रहेगी। और आकर्षण-विहीन हो जाने पर सत्ता के लिए संघर्ष घटेंगे। यह कार्य कैसे पूरा हो यह चिंतन का एक स्वतन्त्र विषय है। लोकतान्त्रिक तरीका यह होगा कि पहले सम्पत्ति के स्रोत अनुत्पादक के हाथ से उत्पादक को दिये जाएँ फिर लोकमत तैयार करके उत्पादक से लेकर समाज (स्थानीय स्वायत्त प्रशासन संगठनों) को स्थानान्तरित किये जाएँ।

इस काम के साथ ही सत्ता का आकर्षण कम करने के लिए एक और काम करना है: उसका विकेन्द्रीकरण। प्रशासन की विकेन्द्रित इकाई का आकार इतना छोटा हो कि उसके हर नागरिक एक दूसरे से परिचित हों तथा वे परस्पर मिलकर ईमानदार व निष्पक्ष व्यक्तियों को निर्विरोध प्रतिनिधियों के रूप में चुन सकें।

इस प्रकार चुने गये जन-प्रतिनिधियों को रोज ही नागरिकों के सामने आना होगा। अतः वे आज के प्रतिनिधि के समान स्वेच्छाचारी न रह पायेंगे। दूसरे चुनाव-क्षेत्र बदल-बदल कर लड़ने वालों का धन्धा नहीं चल पायेगा।

व्यवस्था की इस प्रस्तावित इकाई को प्रतिनिधिक प्रशासनिक एवं आर्थिक रूप में प्रभुसत्ता-सम्पन्न इकाई के रूप में विकसित किया जाना अनिवार्य है वर्ना आज के पंचायती राज्य की भाँति उसके विकेन्द्रीकरण का लाभ नष्ट हो जायेगा। यह इकाई अपनी आयात-निर्यात सहित स्वतन्त्र आर्थिक नीति अपनाने और अपना प्रशासनिक प्रबन्ध करने में स्वायत्त होगी। उसका प्रतिनिधि उच्च स्तरीय प्रतिनिधिक-सभा में भी बैठेगा। उच्चस्तरीय कमेटी का कार्य इस व्यवस्था के अन्तर्गत केवल सलाह व मार्ग-दर्शन देना रह जायेगा और उसके पास शक्ति केवल नैतिक व सैद्धान्तिक रहेगी। उसके हाथ में व्यवस्था-कार्य केवल सर्वदेशीय स्तर के होंगे जैसे सुरक्षा, डाक, पुलिस, रेल, बस, सड़क-निर्माण आदि।

आदर्श लोकतन्त्र की उपर्युक्त व्यवस्था के अन्तर्गत दलवाद का कोई स्थान नहीं। वैसे भी सर्व-सम्मति को हम लोकतन्त्र की अनिवार्य शर्त ऊपर के विवेचन में स्वीकार कर चुके हैं। अतः स्वतः ही दलवाद का उन्मूलन हो जाता है।

ऊपर प्रस्तावित दलविहीन लोकतन्त्र के दो छोर हैं: एक दलमुक्त सरकार तथा दूसरा सरकार-मुक्त गाँव। यह अराजकता का चित्र नहीं बल्कि व्यवस्था का नमूना है। अर्थात् गाँव जो जनता के जीवन की स्वाभाविक इकाई है उसमें जनता की सहकारी व्यवस्था हो। यही व्यवस्था नगर में हो। सरकार में जनता की सत्ता हो, दलों की नहीं। जिस प्रकार हिन्दू को काफिर समझने वाले मुसलमान का और मुसलमान को म्लेच्छ कहने वाले हिन्दू का जमाना बीत गया वैसे ही दलवाद को ही लोकतन्त्र समझने वालों का भी युग नहीं रहा। कारण यह है कि दलीय पद्धति पर आधारित वर्तमान लोकतन्त्रीय प्रणालियाँ क्रान्ति लाना तो दूर, जनता के मन के माफिक सुधार लाने में भी असफल रही हैं। अमरीका, ब्रिटेन व भारत तीनों जगह देखा जाय तो समान रूप से दिखाई देता है कि पूँजीपति की शक्ति बढ़ी है व जनता की घटी है। राष्ट्रीय आय के बढ़ने के साथ-साथ गरीब की प्रतिव्यक्ति आय घटती गई है व अमीर की उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। कारण यह है कि इन सब जगह जनता का नहीं दलों का शासन चलता है। अर्थात् वहाँ जनतन्त्र नहीं दलतन्त्र है। और इस दलतन्त्र का गढ़ इतना मजबूत है कि हम लोग इसके बाहर झाँक कर देखने में डरते हैं। यह कल्पना करते हुए भय लगता है कि दलीय पद्धति के बिना भी लोकतन्त्र चल सकता है। वास्तव में हम दलतन्त्र को ही लोकतन्त्र समझ बैठे हैं और जिस हद तक हम लोकतन्त्र व दलतन्त्र का अन्तर देख पाते हैं उस हद तक भी

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

मौजूदा ढाँचे का परित्याग नहीं करना चाहते। उसी के अन्दर रहकर सवालों का हल चाहते हैं।

बहुतों का ख्याल है कि लोकतन्त्र में विरोधी दल अनिवार्य है क्योंकि विरोधी दल की आलोचनाओं के भय से सत्तारूढ़ दल संभल कर चलेगा। यह ख्याल ठीक नहीं क्योंकि सत्तारूढ़ दल की स्वेच्छाचारिता पर रोक लगाने में तो आज भी विरोधी दल असफल रहे हैं, यदि रोक लगी है तो जनता की सहज बुद्धि के सुझाव के कारण लगी है। और जनता की सहज बुद्धि न सत्तारूढ़ दल को माफ करती है और न विरोधी दल को। वह सबकी नाप जोंख करना जानती है और जहाँ नजरें ठहराने की जगह होती है वहाँ उसकी नजरें ठहरती हैं। सचाई तो यह है है कि न तो दल विशेष पर उसकी नजर ठहरती है और न नारों पर, बल्कि सत्यनिष्ठ व लोकनिष्ठ सेवक को झट से उसकी नजर पकड़ लेती हैं और उसी से अपनी अपेक्षाओं की पूर्ति की आशा करने लगती है चाहे वह किसी दल या वाद का मानने वाला हो। यानी कि जनता न तो वादनिष्ठ है और न दलनिष्ठ, वह सिर्फ व्यक्तिनिष्ठ है। अर्थात् उसकी निष्ठा के अनुकूल जो व्यक्ति हो वह उम्मीदवार के रूप में उसके सामने आये। दल जो उम्मीदवार के रूप में उसके सामने आते हैं उसे भ्रम जाल से प्रतीत होते हैं क्योंकि उनमें लोकनिष्ठ और लोकशत्रु को एक जैसे चित्रों में दिखाया जाता है। भले व बुरे की छाँट नहीं हो पाती। सब कुछ घुलमिल जाता है। बुरे लोग अपनी बुराई को दलवाद की आड़ में छिपा जाते हैं। यही कारण है कि दलवाद के उन्मूलन का डटकर विरोध होता है। लेकिन जनता की दिली कामना है कि दलवाद के बादलों को छँटने दिया जाय और स्वच्छ निर्मल आकाश में दमकते सितारों की भाँति उम्मीदवारों का व्यक्तित्व व कर्त्तव्य सामने आने दिया जाय ताकि उनकी सत्यनिष्ठा, सेवानिष्ठा एवं लोकनिष्ठा को ठोक बजाकर देखा जा सके। क्या जनता यह नहीं देख सकती कि वे गिने-चुने लोग जो राजनीति के धन्धे में लगे हैं भिन्न-भिन्न नामों वाले दल बनाकर उसे गुमराह करने का प्रयास करते रहते हैं।

लेकिन लोग कब तक इस प्रकार गुमराह होना पसन्द करते हैं यह उनके धैर्य की सीमा पर निर्भर करता है। इतिहास साक्षी है कि जनता ने एक विशेष सीमा के बाद गुमराह होना पसन्द नहीं किया और व्यवस्थाओं में परिवर्तन किये। एक जमाना था जब राज्य-सत्ता के साथ राजवंश का गौरव जुड़ा होता था। उसके बाद धर्म के नाम पर भी राज्य स्थापित करने का युग रहा। अब धर्म, सम्प्रदाय, या वंश विशेष की शान को राज्य का आधार नहीं माना जाता बल्कि ये चीजें एक बीती हुई बुराई के रूप में समझी जाती है क्योंकि यह लोकतन्त्र युग है और इनसे लोकतन्त्र बनता नहीं बल्कि टूटता है। कारण यह है कि किसी धर्म, सम्प्रदाय अथवा वंश-विशेष की शान जनता की शान नहीं होती। दलवाद का सत्ता से जिस प्रकार चिपकाव बढ़ा है उसे देखते हुए बिल्कुल यही बात दलवाद के बारे में कहनी उचित है। किसी दल विरोध की शान जनता की शान नहीं बन सकती और न ही किसी दल विशेष की नाक कटने से जनता की नाक कट सकती है। जनता केवल जनता है। वह न तो कोई सम्प्रदाय है, न वह कोई एक वंश है, न वह एक विशेष धर्म की अनुयायी है और न ही किसी दल-विशेष की पिछलग्गू है। बेहतर यही है कि जनता को सिर्फ जनता ही रहने दिया जाय, उसे सम्प्रदायों में या जातियों में या धर्मों में या वंशों में या दलों में विभाजित न किया जाय। यह लोकतन्त्र का तकाजा है। यह उन लोगों का दायित्व है जो लोकतन्त्र की उसके आदर्शों के अनुरूप स्थापना चाहते हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारतीय राजनीतिक दलों का संकट

नेमिशरण मित्तल

जी० के० चेस्टरटन ने भले ही द्विदलीय-व्यवस्था की कितनी भी आलोचना की हो और यह कहा हो कि इस व्यवस्था में दो पक्ष होते हैं, जिनमें से एक निर्माण करता है दूसरा ध्वंस, एक प्रस्ताव रखता है दूसरा विरोध करता हैं, तथापि संसदीय लोकतन्त्र की मूल कल्पना में द्विदलीय-व्यवस्था अन्तर्निहित है, यह वह आधारशिला है जिस पर संसदीय लोकतन्त्र का ढाँचा सुदृढ़तापूर्वक खड़ा होता है। भारतीय संविधान के प्रवर्तन की पवित्र वेला में लोगों को यह आशा थी[1] कि भारतीय राष्ट्र हित-प्रतिनिधित्व के पाश्चात्य नमूने पर आधारित दो सशक्त राजनीतिक दलों का विकास करने में सफल हो जायेगा।[2] गत पच्चीस वर्षों में यह आशा साकार नहीं हो सकी, और इसकी विफलता ने देश में एक व्यापक राजनीतिक संकट उत्पन्न कर दिया है।

संकट : स्वरूप और सार

भारतीय संविधान में राजनीतिक दलों का कोई उल्लेख नहीं किया गया है, उसमें ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है जिसके माध्यम से भारतीय राजनीति में राजनीतिक दलों के संगठन और संचालन का नियमन किया जा सके। हाँ, उसमें एक निर्वाचन आयोग के गठन की व्यवस्था की गयी है जो भारतीय राजनीतिक दलों के निर्वाचन और प्रतिनिधित्व सम्बन्धी पक्ष का मान्यकरण और नियमन करता है। यह बात बहुत अचरज की लगती है क्योंकि लोकतन्त्र को वह परिचालक और प्रेरक तत्त्व राजनीतिक दलों से ही मिलता है जिसके द्वारा समूचा शासन-संयन्त्र संचालित होता और अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता है। दल ही जनता की समस्याओं को राजनीतिक समस्याओं के रूप में प्रस्तुत करते हैं, उनके बारे में अपने विचार प्रकट करते हैं, मतदाताओं को इन विचारों से अवगत कराते हैं और अन्ततः चुनावों में उनसे अपने उम्मीदवारों के समर्थन की प्रार्थना करते तथा विधानमण्डलों में प्रवेश करते हैं जहाँ कुछ लोग सत्ताधारी के रूप में और कुछ विरोधी-प्रतिद्वन्द्वी के रूप में बैठते हैं, किन्तु वे सब लोकतन्त्रीय ढाँचे के अनिवार्य अंग बन जाते हैं।

---

[1] 'राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति के काफी बाद तक विचारशील लोगों के मन में यह उत्कट आस्था और आशा थी कि स्वाधीन भारत में राष्ट्रीय राजनीति और लोकमत दो व्यापक धाराओं के माध्यम से अभिव्यक्त होगा।' मधु लिमये, डेविड एण्ड गसैलियथ 'कोएलिशन्स पॉलिटिक्स इन इण्डिया', एन० सी० साहनी (सम्पादित), 1971, पृ० 371।

[2] रजनी कोठारी, 'पॉलिटिक्स इन इण्डिया', ओरियन्ट लॉंगमैन्स, 1970, पृ० 158।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारत में राजनीतिक दलों की संख्या बहुत अधिक है—साम्यवादियों से लेकर सम्प्रदायवादियों तक और व्यक्तिवादियों से समाजवादियों तक उनका व्याप विस्तृत है। लेकिन भारतीय राजनीतिक जीवन का यह एक कटु तथ्य है कि गत पच्चीस वर्षों से एक ही राजनीतिक दल केन्द्रीय सरकार और अधिकांश राज्य सरकारों में सत्ता का उपभोग करता जा रहा है तथा उसके मूल चरित्र, नेतृत्व के स्रोतों और नीतियों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। इस समूची अवधि में विरोधी दल राष्ट्रीय संसद के भीतर असहायता की स्थिति में बैठे रहे हैं। स्थिति का क्रूर व्यंग्य यह है कि विरोधी पक्ष प्रत्येक चुनाव में सामूहिक तौर पर मतदाताओं का बहुमत प्राप्त करता रहा है मगर वह शासक दल के सिंहासन को आज तक नहीं हिला सका। स्पष्ट ही इसका कारण यह है कि शासक दल 'एक' और सुबद्ध है तथा विरोधी पक्ष विभाजित है, उसके भीतर अनेक राजनीतिक दल हैं जो एक-दूसरे के घोर विरोधी और परस्पर घातक संघर्ष में लगे हैं। उन्होंने शायद कभी शान्तिपूर्वक अपनी यह जिम्मेदारी महसूस ही नहीं की कि उन्हें ध्रुवीकरण करना चाहिए।[3]

भारत में विरोध पक्ष असंगठित और प्रभावहीन रहा है। ऐसी स्थिति में शासक दल सहज ही अहंकारी हो जाता है तथा प्रशासन में ढील देने लगता है। यह उस स्थिति में सम्भव नहीं होता जब उसे मालूम हो कि संसद में एक संयुक्त विरोधी-पक्ष मौजूद है जो उसके कमजोर होते ही सरकार सम्भालने के लिए सन्नद्ध हो जायेगा।[4]

सन् 1967 के निर्वाचनों में भारत के नागरिकों ने अपने मत का, विशेषकर राज्यस्तर पर, किंचित स्वतन्त्र प्रयोग करने की चेष्टा की थी लेकिन उन्हें शीघ्र ही यह देखकर हतबुद्ध रह जाना पड़ा कि उन्होंने पिछले चुनावों में अपने मतदान के लिए जो दिशा कांग्रेस के पक्ष में निर्धारित की थी उससे विचलित हो जाने का परिणाम हुआ—अस्थिरता और असुरक्षा। इन दोनों को जनसाधारण स्वभावतः नापसन्द करते हैं। अतः उन्होंने अत्यधिक सावधान होकर सन् 1971 के मध्यावधि चुनावों में कांग्रेस के पक्ष में नहीं, स्थिरता के पक्ष में मतदान किया। भारतीय नागरिकों का यह निश्चय उनकी दूर-दृष्टि का परिपुष्ट प्रमाण है।

भारत का संकट जितना आस्था का संकट है उतना ही मूल्यों का भी।[5] पिछले 25 वर्षों में सार्वजनिक जीवन के प्रत्येक मूल्य और नैतिक नियम को गहरा आघात पहुँचा है तथा आज हमारी समूची मूल्य-व्यवस्था विकृत और ठगी-सी रह गयी है। यह अनैतिक स्थिति शासक दल द्वारा सत्ता पर पूर्ण अधिकार जमाने, स्वार्थों के लिए उसके दुरुपयोग, जब तक सम्भव हो तब तक दृढ़तापूर्वक सत्ता में बने रहने की लालसा, सत्ता से बाहर राजनीतिक विशिष्ट वर्ग

---

[3] 'विरोधी दल की अनुपस्थिति की समस्या बहुत महत्त्वपूर्ण है। वैकल्पिक सरकार के आश्वासन के रूप में ब्रिटेन में विरोधी दल को एक स्थायी और सम्मानपूर्ण भूमिका प्राप्त हो गयी है, और यह सोचना स्वाभाविक है कि हमें भी इसी प्रकार की दलीय-व्यवस्था की आवश्यकता है।' आर० भास्करन, 'सोशियॉलोजी ऑफ पॉलिटिक्स', एशिया, बम्बई, 1967, पृ० 19।

[4] ए० अप्पादोराय, 'एसेज इन इण्डियन पॉलिटिक्स एण्ड फॉरेन पॉलिटिक्स, विकास, दिल्ली, 1971, पृ० 71।

[5] 'आम लोगों के मन में हमारे प्रति ही नहीं, देश और हमारे दल के भविष्य के प्रति आस्था में भी कमी हो गयी है।'···श्रीमती इन्दिरा गांधी, कांग्रेस जनों के नाम जारी किये गये अपने 8 नवम्बर, 1969 के पत्र में, पैरा 26।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

की तज्जनित कुंठा तथा बुद्धिवादियों और भले लोगों के पलायन और राजनीति से अलगाव के कारण उत्पन्न हुई है। भारत में राजनीतिक शब्द अपने आप में विकृत हो गया है, उसमें से भ्रष्टाचार, पक्षपात, स्वार्थ, सत्ता के निर्लज्ज-व्यापार, घूस, रोब-दाब, सिद्धान्तहीन और गुप्त राजनीतिक सौदेबाजी, घोड़ों के व्यवसाय सरीखा दल-परिवर्तन, अनुशासनहीनता, गुटबाजी और तमाम ऐसी बुराइयों की गन्ध आने लगी है जिनके कारण समाज को अपयश और लज्जा का तथा राष्ट्र को विघटन का सामना करना पड़ता है।

राजनीतिक दलों के संकट का वास्तविक कारण यह है कि कांग्रेस आकार और विस्तार तथा शक्ति के मामले में दैत्य सरीखी बन गयी है। भले ही जनता ने उसे अगले 5 वर्षों के लिए केन्द्रीय शासन की बागडोर फिर से सम्भला दी है तथा भारी विजय प्रदान की है तथापि यह दैत्य अपने ही भार से दबा जा रहा है। दूसरे राजनीतिक दल तो और भी गहरे संकट में फँस गये हैं, उनका सबसे बड़ा संकट पहचान का संकट है····अस्तित्व बोध का संकट। देश के नागरिकों ने उन्हें अज्ञात में धकेल दिया है। पांचवीं लोकसभा में उनकी स्थिति बहुत ही अपमानजनक और उपहासास्पद हो गयी है। यह केवल अस्तित्व-बोध का नहीं उससे भी अधिक नेतृत्व, नीति, कार्यक्रम और सातत्य का संकट है। इस संकट का एक रूप और है—यह भारत के पिछड़ेपन का संकट है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी भी समाज की राजनीतिक संस्थाओं—विशेषतः जनता की आवाज और इच्छाओं—की अभिव्यक्ति तथा उनके निर्माण के लिए उत्तरदायी संस्थाओं की जड़ें उस समाज के आधारभूत सामाजिक ढाँचे, उसके नैतिक नियमों के पारस्परिक स्वरूप और मूल्य-व्यवस्था, रीति-रिवाज तथा उसकी जीवन-विधि में होती हैं। यह व्याख्या भारत पर भी सही तौर पर लागू होती है, तथापि हम भारत के बारे में यह बात नहीं भूल सकते कि पश्चिम से लाकर भारत में रोपी गयी राजनीतिक संस्थाओं के संचालन में उसकी राजनीतिक शिक्षा स्वतन्त्रता से पहले ही शुरू हो चुकी थी और हम अपने सामाजिक पिछड़ेपन अथवा सामाजिक स्तरीकरण, जाति-प्रथा और स्थानीयता को हमेशा अपनी राजनीतिक विफलताओं के लिए दोषी नहीं ठहरा सकते।

अब हम उन तत्त्वों का उल्लेख और विश्लेषण करेंगे जो हमारे वर्तमान संकट के लिए उत्तरदायी हैं। वे हैं—

(1) बहुसिद्धान्तीय और विद्रूपाकार कांग्रेस का द्वैत;
(2) भारतीयता की अन्ध और आधुनिकता-विरोधी धारणा;
(3) जनसम्मोहवाद (पापुलिज्म) द्वारा सिद्धान्तों का अपदस्थीकरण;
(4) प्रतिरोध की राजनीति;
(5) संघीय राज्य-व्यवस्था में एकीय दल-व्यवस्था की अप्रासंगिकता;
(6) नेतृत्व, आन्तरिक लोकतन्त्र और एकता का संकट;
(7) हित मुखरीकरण की उपेक्षा;
(8) सम्मिश्रवाद (कोएलीशनिज्म) तथा ध्रुवीकरण की विफलता;
(9) अनुपयुक्त निर्वाचन-व्यवस्था; और
(10) दलविहीन लोकतन्त्र।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

बहुसिद्धान्तीय और विद्रूपाकार कांग्रेस का द्वैत

इण्डियन नेशनल कांग्रेस (इसे हम आगे केवल कांग्रेस कहेंगे) एक राजनीतिक दल के रूप में व्यापक संकट का शिकार तो हुआ ही है, वह स्वयं भारत की क्रियाशील संस्थात्मक-व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु और गतिशील अवयव होने के कारण उस संकट के पीछे निहित एक मूल तत्त्व भी है। कांग्रेस का जन्म तो संयोगवश ही हुआ लेकिन अपने विकासक्रम में उसने विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक प्रतिरोध आन्दोलन की भूमिका ग्रहण कर ली। इस प्रतिरोध का एक पक्ष और भी था। भारत को एक राष्ट्र के रूप में संगठित करने के प्रयास में जो भारतीय सामाजिक परम्पराएँ कांग्रेस का मार्ग अवरुद्ध कर रही थीं, कांग्रेस उनके प्रतिरोध में भी उठ खड़ी हुई।

स्वतन्त्रता के बाद गांधी जी कांग्रेस को एक दल के रूप में बनाये रखने के पक्ष में न थे। गांधी जी की सलाह को उनके पुराने अनुयायियों और भारत के नये भाग्यविधाताओं ने स्थिरता के नाम पर उपेक्षापूर्वक ठुकरा दिया :

> 'इस गलत कदम ने कांग्रेस को परस्पर विरोधी सिद्धान्तों को इकट्ठा करने के कारण अन्तर्विरोधी और परस्परघाती संघर्षों का दल बना दिया। कांग्रेस इतनी लचीली बन गयी कि उसमें परस्पर-विरोधी नीतियों के लिए गुंजायश पैदा हो गयी, इसका परिणाम यह हुआ कि जो लोग नये राजनीतिक दल संगठित करने की कठिन मार्ग का अनुसरण करने की बजाय अधिक सरल मार्ग अपनाना पसन्द करते थे वे कांग्रेस की ओर आकर्षित हुए और उसमें घुस गये। इसका सहज फल यह निकला कि दूसरे राजनीतिक दलों का विकास अवरुद्ध हो गया।'[6]

सरदार वल्लभभाई पटेल ने कांग्रेस को एक दक्षिण-पन्थी सुबद्ध संगठन का स्वरूप देना चाहा था। सन् 1948 में उन्होंने कांग्रेस कार्य-समिति को इस बात के लिए तैयार कर लिया कि दल के भीतर ऐसे गुटों को न रहने दिया जाये जिनकी अपनी पृथक् सदस्यता, अपना पृथक् संविधान और कार्यक्रम हो, और वे कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को दल के भीतर से निकालने में सफल रहे। किन्तु नेहरू जी ने अन्ततोगत्वा उनके प्रयास को निष्फल कर दिया तथा वे समय-समय पर वी० के० कृष्ण मेनन और अशोक मेहता सरीखे प्रमुख समाजवादियों को दल के भीतर लाते रहे, जिससे कि दल का समाजवादी बिम्ब और सर्वग्राही स्वरूप बना रहे। उनके मन में यह चेतना थी कि कांग्रेस की आन्दोलन भूमिका बनी रहनी चाहिए, और उन्होंने कहा भी था, 'आन्दोलन समाप्त नहीं हुआ है और वह जारी रहना चाहिए।'[7] वास्तव में बात यह थी कि नेहरू जी दल के भीतर सैद्धान्तिक सुबद्धता के प्रश्न पर हलचल नहीं पैदा करना चाहते थे, अतः उन्होंने प्रयोजन-परकतावादी राजनीतिज्ञ की भाँति अपने विवेक, महान् व्यक्तिगत प्रभाव और चमत्कारी व्यक्तित्व का प्रयोग करके इस समस्या को टालते जाने में सफलता प्राप्त कर ली। इन नीतियों के परिणामस्वरूप 'कांग्रेस पार्टी यथासम्भव सभी परस्पर-विरोधी हितों और सिद्धान्तों का एक बोझिल समुच्चय बन गयी है और उसमें मौलिक नीतियों के मामले में किसी

---

[6] के० सुब्बा राव, 'लाजपत राय मेमोरियल लेक्चर्स', अक्तूबर, 1969, 'कान्फ्लिक्ट्स इन इण्डियन डेमोक्रेसी' में प्रकाशित, 1970, पृ० 15–16।

[7] रजनी कोठारी, उपर्युक्त, पृ० 155।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्रकार की वास्तविक सहमति अथवा सर्वसहमति नहीं है।'[8]

समय-समय पर अनेक राजनीतिक समूह कांग्रेस की छत्रछाया से बाहर निकलते चले गये। यह प्रक्रिया सन् 1948 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के बहिर्गमन से आरम्भ हुई। कुछ वर्षों बाद एक पुराने कांग्रेसी नेता आचार्य कृपलानी ने दल छोड़कर किसान-मजदूर प्रजा पार्टी खड़ी की जो बाद में समाजवादी दल में मिल गयी जिसके परिणामस्वरूप प्रजा समाजवादी पार्टी बनी। फूट कांग्रेस तक सीमित नहीं रही। जिस समय श्री जयप्रकाश नारायण ने पी०एस०पी० छोड़कर राजनीतिक संन्यास लिया और डा० राममनोहर लोहिया को अलग से समाजवादी पार्टी बनानी पड़ी तब उसे भी इसका स्वाद चखना पड़ा। ये दल बाद में मिलकर संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी बने। सबसे बड़ा मजाक तो यह है कि समाजवादी पार्टी और प्रजा समाजवादी पार्टी के संयोग के समय अशोक मेहता के नेतृत्व में प्रसोपा का एक गुट कांग्रेस में शामिल हो गया और एक अन्य गुट ने प्रसोपा का अस्तित्व बनाये रखा। हाल में ही संसोपा-प्रसोपा विलय पुनः हुआ है और एक नये समाजवादी दल का गठन हुआ है।

साम्यवादी दल को भी ऐसी ही परिस्थिति का सामना करना पड़ा। उसका एक अंश टूटकर भारतीय राजनीति का एक नया उपग्रह बन गया—मार्क्सवादी साम्यवादी दल—और यह प्रक्रिया यहीं समाप्त नहीं हुई, मार्क्सवादी दल से टूटकर एक अंश मार्क्सवादी-लेनिनवादी साम्यवादी दल बन गया जो नवसलवादी विचारधारा और हिंसक कार्यवाही के लिए जिम्मेदार है।

स्वतन्त्र दल का निर्माण भी उन लोगों ने किया है जिनमें से अधिकांश—सर्वश्री सी० राजगोपालाचारी, एन० जी० रंगा, एम० आर० मसानी, डा० कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी आदि किसी समय कांग्रेस के वरिष्ठ नेता माने जाते थे। यह भी मसानी और गैर-मसानी गुटों में बँट गयी है। ये सब दल—साम्यवादी, समाजवादी और स्वतन्त्र—कांग्रेस के उदर से जन्मे हैं। जनसंघ एकमात्र ऐसा दल है जो इसका अपवाद है, वैसे उसके संस्थापक डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी किसी समय नेहरू जी के स्नेहभाजन थे और वे उनके मन्त्रिमण्डल के सदस्य भी रहे थे। जनसंघ गुटबाजी के मामले में अपवाद नहीं है, वह उग्रवादी राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के पक्षधर श्री बलराज मधोक के संघर्षप्रिय हिन्दू राष्ट्रवादी गुट और श्री अटल विहारी वाजपेयी सरीखे नरमपंथियों में बँटा है।

क्षेत्रीय स्तर पर अधिकांश राजनीतिक दल कांग्रेस में से टूटे हुए हैं, जैसे—उत्कल कांग्रेस, बंगला कांग्रेस, केरल कांग्रेस, फारवर्ड ब्लॉक, रेवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी, भारतीय क्रान्ति दल, विशाल हरियाणा पार्टी और तेलंगाना प्रजा समिति। इस क्षेत्र में कुछ शक्तिशाली दल अपवाद-स्वरूप हैं—तमिलनाडु में शासक दल द्रमुक (द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम), पंजाब में अकाली दल, नागालैंड में एन०एन०ओ० और मेघालय में ए०पी०एच०एल०सी।

कांग्रेस की आन्तरिक गुट-संरचना की सबसे बड़ी विलक्षणता यह है कि ये गुट प्रमुख कांग्रेस विरोधी दलों के समानान्तर समूह हैं। देश के प्रायः प्रत्येक बड़े राजनीतिक दल के समान विचारों वाला कोई न कोई गुट कांग्रेस के भीतर अवश्य रहा है। सन् 1967 ई० के पूर्व काल में इसी विलक्षणता के कारण विरोधी दलों को कांग्रेस के सत्ताधारी और असन्तुष्ट

[8] जे० डी० सेठी, 'इण्डियाज स्टेटिक पॉवर स्ट्रक्चर', विकास, दिल्ली, पृ० 181।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

गुटों के बीच सन्तुलन स्थापित करने का अवसर मिल जाता था ।

सन् 1967 ई० के चुनावों ने कांग्रेस की इजारेदारी को गहरा धक्का पहुँचाया और प्रायः आधे राज्यों में कांग्रेसी गुटों और विरोधी दलों के सम्बन्ध उलट गये तथा कांग्रेसी गुट तत्सम विरोधी दलों को प्रभावित एवं कहीं-कहीं नियन्त्रित तक करने लगे । इसका कारण यह था कि सन् 1967–69 ई० के बीच कांग्रेस-विरोधी संयुक्त विधायक दलों का संगठन सर्वसमावेशकारी तथा सर्वग्राही कांग्रेसी व्यूह-रचना के आधार पर ही हुआ । इसी समानान्तरवाद के कारण अजय मुखर्जी, चरणसिंह, और गोविन्द नारायण सिंह सरीखे लोग कांग्रेस छोड़ गैर-कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों में मुख्यमन्त्री बन सके । इसी प्रकार वी० के० कृष्णमेनन कांग्रेस का परित्याग करने के बाद पश्चिमी बंगाल से लोकसभा का चुनाव लड़ने में मार्क्सवादी साम्यवादी दल का समर्थन पा सके ।

यह कुत्सित व्यवस्था भले ही अतीत में लाभदायक रही हो लेकिन अब इससे किसी का लाभ तो है ही नहीं, उलटे इसके कारण सभी राजनीतिक दलों का नैतिक पतन हो रहा है। इसके कारण स्वस्थ राजनीतिक दलों के विकास और उत्थान को धक्का पहुँचा है, समान राजनीतिक विचारों का दावा करने वाले राजनीतिक दल एक दूसरे से अलग रहे हैं जिससे देश में बहुदलीय व्यवस्था को बल मिला है, तथा कांग्रेस दल भीतर ही भीतर खोखला हो गया है। दलों के भीतर गुटों का यह अविहित और व्यभिचारपूर्ण प्रेमाचार देश में राजनीतिक जीवन और सरकारों की स्थिरता के लिए बहुत घातक सिद्ध हुआ है तथा यह भारत में राजनीतिक आचरण के स्तर के दुर्भाग्यपूर्ण पतन और दलों में एवं दलों के संकट के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी भी है ।

भारतीयता की अंध और आधुनिकता-विरोधी धारणा

भारत का वर्तमान राजनीतिक संकट और उसकी गुटवादी राजनीति उन आधुनिकतावादी शक्तियों के कुंठित विकास का प्रत्यक्ष परिणाम है जिन्हें उन्मुक्त करके महान् राजा राममोहन राय ने सक्रियता प्रदान की थी तथा सर्वश्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, बदरुद्दीन तैयबजी, दादा भाई नौरोजी, महादेव गोविन्द रानाडे और गोपालकृष्ण गोखले सरीखे लोगों ने वेग दिया था। भारतीय समाज ज्यों ही आधुनिकता के प्रभाव में आया त्यों ही वह अपने पारस्परिक अस्तित्व के प्रति सचेत हो उठा तथा उसके इस अस्तित्व की नये सिरे से व्याख्या की गई और असाधारण त्वरा एवं उत्साहपूर्वक उसको पुनर्जीवन एवं पुनर्यौवन प्रदान किया गया। इसके परिणामस्वरूप भारत की भारतीयता पर बल दिया जाने लगा तथा प्रागैतिहासिक काल से चली आ रही परम्पराओं और संस्कृति का सूत्र फिर से जोड़ दिया गया । ये तथ्य पूर्णतया भुला दिये गये कि प्राचीन काल में प्रचलित विचारधाराएँ, जीवन पद्धतियाँ और संस्थाएँ वर्तमान सन्दर्भ में असंगत हो गई हैं । भारत के पाश्चात्य-शिक्षा प्राप्त विशिष्ट वर्ग ने भी रूढ़िवादिता, अंधविश्वास और बोझिल कर्मकाण्ड के जादू में फँसकर प्रकाश और जीवन के आधारों के लिए पीछे की ओर देखना आरम्भ कर दिया ।

गांधी जी हिन्दू और मुस्लिम समाजों की यथास्थिति में बाधा नहीं डालना चाहते थे अतः वे विभिन्न परम्पराओं और नवोदित राष्ट्रीयता की बुनियादी आवश्यकताओं के बीच पुल बाँधने का काम करते रहे । राष्ट्रवादिता और परम्पराग्रस्त समाज को झटका देने की

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

बजाय उन्होंने राम-रहीम पद्धति का अनुसरण किया। उन्होंने परम्परागत साधुवेश धारण कर लिया और परम्परागत भारतीय स्रोतों से अहिंसा का धर्म अपनाया, गाय की पूजा की, चरखा चलाया और वर्णाश्रम धर्म में आस्था प्रकट की। ये सब परम्परागत औपचारिकताएँ और मूल्य-व्यवस्थाएँ थीं। छुआछूत पर आक्रमण करते समय उन्होंने परम्परागत भारतीय साहित्य और वाङ्मय से अपने पक्ष में तर्क खोजे और जनता पर उनके सुबद्ध-चिन्तन का नहीं वरन् परम्परागत महात्मा स्वरूप का प्रभाव था। यहाँ हम गांधी जी के प्रयोजनों की चर्चा नहीं कर रहे हैं। हमारा उद्देश्य केवल यह देखना है कि गाँधी जी ने भारत की राजनीतिक मनीषा पर क्या प्रभाव डाला ? यह प्रभाव निःसन्देह परम्परानिष्ठ और आधुनिकता-विरोधी था।[9]

भारत का आधुनिकीकरण ही हमें गुटवाद से मुक्त कर सकता है। हमारे लोकतन्त्र का प्रहरी केवल आधुनिकता के साँचे में ढला प्रबुद्ध व्यक्ति बन सकता है। आधुनीकृत भारत में राजनीतिक मानदण्ड सहज ही उन्नत हो जायेंगे, राजनीति इतनी पतित नहीं रह जायेगी कि बुद्धिवादी वर्ग उससे निरन्तर अलगाव महसूस करता रहे तथा उसे सिद्धान्तहीन गुंडागर्दी समझा जाये। जनता इस बात के लिए विवश हो जायेगी कि भारत की वर्तमान एकदलीय राज्य-व्यवस्था का कोई विकल्प खोजा जाये।[10]

जनसम्मोहवाद द्वारा सिद्धान्तों का अपदस्थीकरण

भारत के अन्य राजनीतिक दल (साम्यवादी दल को छोड़कर) स्पष्ट सैद्धान्तिक आधारों पर नहीं खड़े हैं। यदि राजनीतिक दल के पीछे कोई राजनीतिक सिद्धान्त नहीं है तो न उसका कोई अर्थ हो सकता है, न अस्तित्व-बोध।

सुनिश्चित सिद्धान्त के अभाव में दल का कोई आधार ही नहीं रह जाता। लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था में उसका कोई स्थान नहीं रहता क्योंकि उस स्थिति में वह किसी व्यक्ति की राजनीतिक महत्वाकांक्षा का उपकरण, दबाव-गुट, जनसम्मोहवादियों का संगठन अथवा किसी अधिनायकवादी आन्दोलन का अग्रगामी दस्ता-मात्र रह जाता है। उपादेयतावाद को सिद्धान्त नहीं माना जा सकता तथा सर्वसहमति किसी उदीयमान आकांक्षाओं वाले देश के मामलों में पथप्रदर्शिका नहीं बन सकती। सुनिश्चित, विधायी, व्यवस्थित और सुपरिभाषित गतिशील नीति, सातत्यपूर्ण और स्पष्ट कार्यक्रम तथा उद्देश्यों का स्पष्ट निर्धारण दल के नेताओं और कार्यकर्ताओं को दिशाबोध और आत्मविश्वास देता है, सर्वसाधारण के मानस पर दल का स्पष्ट बिम्ब उभारता है तथा उसे अपने अनुकूल बनाता है।

भारत में राजनीतिक दल प्रायः नीति के प्रश्न को पीछे धकेलकर जनसम्मोहकारी वृत्ति अपना लेते हैं जिससे कि जनता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया जा सके, तथापि समय-समय पर वे अपने राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों के साथ सैद्धान्तिक विवाद में उलझते रहते हैं तथा कठोर सैद्धान्तिक लाठियाँ सम्भालकर उन्हें अपने विरोधियों की पीठ पर पटकते और

---

[9] देखिये, भास्करन, उपर्युक्त, पृ० 34-35।

[10] 'तथापि इस कथन में कुछ सत्य है कि भारत एक दलीय-राज्य है, विशेषतः राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में।' नारमन डी० पामर, 'द इण्डियन पोलिटिकल सिस्टम', जार्ज एलेन एण्ड अनविन, लन्दन, 1961, पृ० 184।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

तोड़ते हैं।

सन् 1967 ई० में और उसके बाद देश में विभिन्न तथा विरोधी राजनीतिक दलों ने जिस प्रकार सिद्धान्तहीनतापूर्वक सम्मिश्र सरकारें बनायीं उससे यह सिद्ध होता है कि उनके नेताओं और कार्यकर्ताओं के मन में सिद्धान्तों के प्रति लेशमात्र भी आस्था न थी क्योंकि यदि वैसा होता तो मार्क्सवादी-साम्यवादियों और स्वतन्त्र पार्टी वालों तथा समाजवादियों और जनसंघियों के बीच कभी मेल-मिलाप न होता। यह सचमुच बहुत आश्चर्यजनक था कि जो दल चुनाव के समय एक-दूसरे के विरुद्ध विष-वमन करे रहे थे वे सत्ता का बँटवारा करते समय समीप आ गये। न उनके समर्थकों ने इसके लिए उनकी भर्त्सना की और न उनमें ही लज्जा का कोई भाव पैदा हुआ।

जनसम्मोहवाद अबौद्धिक और असैद्धान्तिक होता है। वह जनसाधारण के सामने और संसद के भीतर नाटक रचने में विश्वास रखता है। जनसाधारण का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए अति-सांविधानिक और आन्दोलनात्मक साधनों का प्रयोग करता है। अबौद्धिक होने के कारण यह लोकतन्त्र के लिए अगौरवपूर्ण है।

कांग्रेस भी कोई कम जनसम्मोहवादी नहीं है। ठोस कार्यक्रम और नीति का निर्धारण किये बिना ही सन् 1971 ई० के मध्यावधि लोकसभा-निर्वाचनों में 'गरीबी हटाओ' नारा आम जनता और विरोधी दलों के सिर पर वज्र की तरह छोड़ दिया गया और उसने अपना चमत्कार दिखाया। सन् 1959 ई० में केरल की साम्यवादी सरकार के विरुद्ध कांग्रेस ने जो अभियान चलाया था वह भी उसके जनसम्मोहवाद का स्पष्ट बोध कराता है।[11]

प्रतिरोध की राजनीति

स्वाधीनतापूर्व भारतीय राजनीति की एक प्रमुख देन 'प्रतिरोध की राजनीति' है। स्वातन्त्र्योत्तर भारत के अधिकांश राजनीतिज्ञ इसी राजनीति की उपज हैं। उनका राजनीतिक प्रशिक्षण अधिकांशतः एक ही पाठ तक सीमित रहा : 'एक तो सरकार होती है और एक उसका प्रतिरोध होता है। स्वतन्त्रता आने पर कांग्रेस दल ने सरकार बनायी, उसके दो प्रमुख विरोधियों में मुस्लिम लीग तो विभाजन के फलस्वरूप मनोबलच्युत और निष्क्रिय हो गयी तथा हिन्दू महासभा गांधी जी की हत्या के कारण बिखर गई। इस प्रकार आरम्भ के दिनों में कांग्रेस का विरोध करने के लिए कोई था ही नहीं, जो कुछ भी आलोचना थी वह उसके भीतर से ही उत्पन्न होती थी और उसे आत्मालोचन कहा जा सकता है। सन् 1948 ई० में समाजवादी लोग कांग्रेस से पृथक् हुए और उन्होंने विरोधी पक्ष की आधारशिला रखी।

वास्तव में, अधिकांश कांग्रेस-कार्यकर्ता स्वतन्त्रता-संग्राम के दौरान दल रचना से सम्बन्धित न थे, वे मूलतः आन्दोलन में व्यस्त रहते और जब जेलों से बाहर आते तो निजी काम-काज के अलावा जनता में कांग्रेस का प्रचार करते रहते। विशेषतः समाजवादी दल के प्रारम्भिक नेता बुद्धिवादी थे और वे दल-कौशल से अनभिज्ञ थे। यही कारण था कि वे कांग्रेस के विरोध में उसके समानान्तर एक विराट-दलीय ढाँचा नहीं खड़ा कर सके। वे एक छोटे दल

---

[11] रजनी कोठारी, 'पार्टी सिस्टम अण्डर स्ट्रेन : न्यू चैलेंजेज, न्यू डिमाण्ड्स', द टाइम्स ऑफ इण्डिया, 25 फरवरी, 1971।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

के रूप में बने रहे और जिस तरह कांग्रेस के भीतर चिन्तनोत्तेजना का कार्य करते थे उसी प्रकार नया दल बनाने पर भी करते रहे। उनके सामने आर्थिक कठिनाइयाँ भी थीं और सबसे बड़ी कठिनाई तो यह थी कि अधिकांश प्रभावशाली और विश्वसनीय कार्यकर्ता कांग्रेस के दायरे से बाहर जाने को तैयार न थे क्योंकि वहाँ उनके लिए सब प्रकार के सुखसाधन थे। प्रारम्भिक समाजवादी बहुत अच्छे सिद्धान्त-शास्त्री थे किन्तु उनके बीच दल-निर्माण के लिए आवश्यक व्यावहारिक और प्रयोजनपरक नेतृत्व का अभाव था।

प्रतिरोध की राजनीति में दीक्षा, छोटे से राजनीतिक संगठन, सन् 1952 ई० के निर्वाचनों में भग्न उत्साह, आचार्य नरेन्द्र देव और यूसुफ मेहरअली के देहान्त तथा अच्युत पटवर्धन और जयप्रकाश नारायण द्वारा राजनीति-परित्याग, इन सब कारणों ने मिलकर समाजवादियों के सामने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी जिसमें उनके लिए राजनीति को खुले में सड़क पर ले जाने के सिवाय कोई और चारा ही न था।

साम्यवादी तो पहले ही आन्दोलनकारी रीतियों में सिद्धहस्त थे, इसका प्रमाण सन् 1949–50 में श्री रणदिवे तथा उनके गुरिल्ला साथियों द्वारा तेलंगाना क्षेत्र के लगभग अढ़ाई हजार गाँवों में फैलाये गये आतंक से मिलता है।[12] समाजवादियों ने भी इतना उग्र तो नहीं किन्तु उग्र आन्दोलनकारी मार्ग अपना लिया। जर्मनी में शिक्षित डा० राममनोहर लोहिया बुद्धिवादी होने के बावजूद एक महान् आन्दोलनकारी, जनसम्मोहवादी और बिम्ब-भंजक थे।

जनसंघ का जन्म सन् 1951 में हुआ, उसने भी आरम्भ से ही आन्दोलनात्मक रीतियाँ अपनायीं। उसके जनक-नेता डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी एक आन्दोलन के सिलसिले में काश्मीर की एक जेल में बन्द थे, वहीं उनका देहावसान हो गया। इस विषय में केवल एक भारतीय दल अपवाद रहा है—स्वतन्त्र पार्टी। उसने सन् 1959 में अपने जन्मकाल से लेकर आज तक लोकतान्त्रिक रीतियों में दृढ़ आस्था और सार्वजनिक जीवन में गरिमा बनाये रखी है तथा आचरण की लोकतान्त्रिक मर्यादा को निबाहा है।

हमारे साम्यवादी और समाजवादी दलों का मस्तिष्क स्थायी क्रान्ति के विचार से अभिभूत है। यह धारणा हमारे सार्वजनिक जीवन का स्थायी रोग बन गयी है जिसके कारण शीर्ष पर अनुशासनहीनता और अनुत्तरदायी मनोवृत्ति तथा आधार पर उदासीनता तथा भावनाओं के आकस्मिक परिवर्तन और उभाड़ को बल मिला है। उसने हमारी लोक-सेवाओं विशेषतः शान्ति-सुव्यवस्था के लिए उत्तरदायी प्रशासकों, पर भारी बोझ डाला है। एक ऐसा स्थल आता है जहाँ आन्दोलनकारी रीतियों और गुण्डागर्दी में किसी तरह का भेद करना कठिन हो जाता है, उससे पुलिस पर बहुत तनाव आता है। भारतीय राजनीतिक दल सरकार पर हर सम्भव रीति से दबाव डालने की कोशिश करते हैं। वे प्रत्यक्ष कार्यवाही के अन्तर्गत आने वाले सभी साधनों—प्रदर्शन, धरना, घेराव, हड़ताल, बन्द, अनशन, जुलूस, रैली और विराट् पैमाने पर सार्वजनिक सभाओं—का आयोजन करते हैं जिनका अन्त प्रायः भीड़ के उन्माद और हिंसा में होता है।[13]

---

[12] तौफीक अहमद निजामी, 'द कम्युनिस्ट पार्टी एण्ड इण्डियाज फारेन पॉलिसी', एसोसियेटेड, दिल्ली, 1971, पृ० 11।

[13] एम० रत्नस्वामी, 'घेराओज एण्ड बंध्स स्पैल मोबोक्रेसी', 'इण्डियन एक्सप्रेस', 29 जनवरी, 1967।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

इस मामले में कांग्रेस कोई अपवाद नहीं है। विशेष तौर पर जब किसी राज्य-विधानमण्डल में उसका अल्पमत रह जाता है तो यह भी इस प्रकार के निम्न-स्तरीय हथकण्डों का प्रायः प्रयोग करती है। केरल की वैधानिक साम्यवादी सरकार के विरुद्ध कांग्रेस ने जिस जनसम्मोहवाद का प्रदर्शन किया, उसका उल्लेख किया जा सकता है। सन् 1967 में जब कांग्रेस मद्रास विधानसभा से उखड़ गयी तो उसने कोई दस लाख लोगों का एक मौन जुलूस द्रमुक सरकार के विरुद्ध निकाला। तत्कालीन तमिलनाडु प्रदेश कांग्रेस-अध्यक्ष श्री सी० सुब्रह्मण्यम ने उस कदम का समर्थन करते हुए कहा कि इस प्रकार के प्रदर्शन, 'निर्वाचकों को अपनी शिकायतें दूर कराने के लिए आन्दोलन करने की शिक्षा प्रदान करते हैं।'[14]

यह संकट इन रीतियों की अतिसांविधानिकता में से उत्पन्न होता है। इस प्रसंग में बुनियादी प्रश्न यह उभरता है कि इन रीतियों का अनुगमन क्यों किया जा रहा है? इस बारे में इतना तो दावे के साथ कहा जा सकता है कि आन्दोलनात्मक राजनीति देश में एकदलीय आधिपत्य, भारतीय राजनीति से बुद्धिवादियों के अलगाव तथा उसमें उग्र, परम्परानिष्ठ और अविवेकाधारित तत्त्वों के प्रवेश का प्रत्यक्ष परिणाम है। इसके अतिरिक्त सरकारी संयन्त्र भी इस स्थिति के लिए बहुत सीमा तक उत्तरदायी हैं। समूचा प्रशासकीय संयन्त्र आत्मतुष्टि और भावना-शून्यता की स्थिति में पहुँच गया है तथा वह जनसाधारण की शिकायतों के प्रति ही नहीं अपने भीतर काम करने वाले लोगों के प्रति भी असंवेदनशील हो गया है। 'परिणामतः जहाँ राजनीतिक प्रतिरोध के बुनियादी कारणों में वृद्धि हुई है वहीं संघर्ष-समाधान के माध्यम अधिकाधिक अवरुद्ध होते चले गये हैं जिसके फलस्वरूप हिंसा, रक्तपात तथा प्रतिरोध के बुनियादी प्रयोजनों के प्रतिकूल आचरण को प्रोत्साहन मिला है। राजनीति स्वयं राजनीतिक हिंसा का शिकार बन गयी है।'[15]

प्रतिरोध की राजनीति का यह संक्षिप्त विवरण उन 'अर्द्ध-सैनिक' संगठनों के उल्लेख के बिना अपूर्ण ही रह जायेगा जो या तो राजनीतिक दलों के संग जुड़े हैं अथवा स्वतन्त्र रूप से विकसित हुए हैं। ये मूलतः अधिनायकवादी और अधिकांशतः प्रादेशिक संगठन हैं। इसमें सबसे बड़ा अपवाद राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ है जो जनसंघ का जनक तथा उसके कार्यकर्ताओं का बृहत् सुरक्षित कोष है। तमिलनाडु में द्रमुक का अर्द्ध-सैनिक संगठन तमिल-पदई, महाराष्ट्र में शिव सेना, गुजरात में डांगी सेना और असम में लखेत सेना के कार्यों का इतिहास स्पष्ट रूप से यह बताता है कि ये संगठन लूटपाट और कानून का उल्लंघन करते हैं, उप-राष्ट्रीयता फैलाते और क्षेत्रीय संस्कृतियों के नाम पर सार्वजनिक हिंसा तथा उत्पात मचाते हैं। ये भारत के लोगों को क्षेत्रीय आधारों पर विभाजित और संघर्ष के लिए सन्नद्ध करके राष्ट्रीयता, एकता और सुदृढ़ता के विकास तथा सघनीकरण की प्रक्रिया को हानि पहुँचाते हैं। भारत के राजनीतिक दल समय-समय पर राजनीतिक उपादेयता की दृष्टि से इन संगठनों का समर्थन करने से नहीं चूकते जिसके कारण वे क्षेत्रीय स्वरूप ले लेते हैं और राष्ट्रीय दलों के रूप में उनका बिम्ब धूमिल पड़ जाता है।

---

[14] 'द हिन्दू' (वीकली रिव्यु), 12 अगस्त, 1968।

[15] जे० डी० सेठी, उपर्युक्त, पृ० 208।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संघीय राज्य-व्यवस्था में एकीय दल-व्यवस्था की अप्रासंगिकता

भारत एक राष्ट्र है, लेकिन वह एक राज्य नहीं है, वह 'राज्यों का संघ' है। उसके राजनीतिक दल संघीय राजनीति के क्रियान्वयन की कामना तो करते हैं किन्तु वे अपना ढाँचा एकात्मक ही बनाये रखे हुए हैं। यह विसंगति भी हमारी स्वाधीनतापूर्व राजनीति की देन है। विदेशी सत्ता से संघर्ष के दौरान हमारे सामने प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय आकांक्षाएँ नहीं थीं, जिसके कारण एक एकात्मक राजनीतिक दल भारत की भौगोलिक सीमाओं के भीतर स्थित समस्त विविध क्षेत्रों तथा प्रदेशों की निष्ठा प्राप्त करने और उनका नेतृत्व करने में सफल रहा। स्वतन्त्रता के उपरान्त हमने अपने संविधान में एक (असमानुपातीय) संघीय-व्यवस्था का समावेश किया जिसने राज्यों की तुलना में केन्द्रीय सरकार को अधिक सत्ता प्रदान की तथापि राज्य-सूची में उल्लिखित विषयों पर राज्यों की स्वायत्तता को भी स्वीकार किया।

निरन्तर बीस वर्षों तक कतिपय अपवादों के साथ हमने एक ही राजनीतिक दल को केन्द्र और राज्यों में सत्तारूढ़ रखा। इसके परिणामस्वरूप कांग्रेस-छत्र विस्तृत होता गया और उसके अन्तर्गत विभिन्न विचारों वाले गुटों और राज्यों की राजनीति का समावेश होता चला गया।

राज्यों में कांग्रेसी सरकारों के लिए कार्य-नीतियों का निर्माण मुख्यतः कांग्रेस कार्य-समिति करती है। मूल नीतियों का निर्माण दलीय संगठन के शीर्ष पर होता है तथा उन्हें विस्तृत रूप देने और लागू करने के लिए राज्य सरकारों को सौंप दिया जाता है। इससे राज्य-स्तरीय नेतृत्व और दलीय कार्यकर्ताओं के मन में कुंठा और छोटेपन की भावना का उदय होता है। डा० ए० कृष्णास्वामी ने इस स्थिति के प्रति असन्तोष प्रकट करते हुए कहा था[16] :

> 'कांग्रेस दल एकात्मक आधार पर काम करता है तथा उसका मूल उपकरण कार्य-समिति है। संसदीय मामलों के प्रशासन के लिए उसका अपना संसदीय-मण्डल है। राज्यों के मन्त्रिमण्डलों के सदस्यों और आकार से सम्बन्धित मामलों में भी अन्ततः संसदीय-मण्डल से अनुमति प्राप्त करनी होती है। इससे राज्यों के विधानमण्डलीय दलों तथा विधानमण्डलों की भी महत्ता कम होती है।'

श्री के० सन्थानम् ने राज्यों के ऊपर कांग्रेस के शासन के इस पहलू के बारे में लिखा है[17] :

> 'शीर्ष का नेतृत्व शक्तिशाली है तथा राज्यों का नेतृत्व व्यक्तित्व और पद की दृष्टि से दूसरी श्रेणी का है। पिछले दो सामान्य निर्वाचनों के समय राज्य विधानमण्डलों के लिए उम्मीदवारों का चयन अखिल भारतीय संसदीय-मण्डल ने किया था। निर्वाचन समाप्त होते ही दल के सत्तारूढ़ होने पर मन्त्रिमण्डलों का निर्माण राज्य-शाखाओं पर नहीं छोड़ा गया। उन्हें दिल्ली आना पड़ा और वहाँ हाई कमाण्ड से चर्चा करके सारी बातें ब्योरेवार तय करनी पड़ीं। कभी किसी नेता को त्यागपत्र देने का आदेश दिया गया और किसी को उनका स्थान ग्रहण करने का। महत्त्व और स्तर की दृष्टि से राज्य सरकारें दूसरी श्रेणी की रह गयीं।'

---

[16] ए० कृष्णास्वामी, 'द इण्डियन यूनियन एण्ड द स्टेट्स', परगामीन प्रेस, लन्दन, 1965, पृ० 20–21।

[17] के० सन्थानम, 'यूनियन-स्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया', एशिया, 1960, पृ० 61–62।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

यह स्थिति आज तक जारी है। पिछले दिनों आन्ध्र के तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी को दिल्ली बुलाया गया और दल के हाई कमाण्ड ने उनसे कहा कि आप अपने पद का परित्याग कर दीजिये जिससे कि सत्ता और प्रतिष्ठा के पदों पर तेलंगाना प्रजा समिति के दावों की पूर्ति के लिए स्थान बनाया जा सके।

राज्यों के मन्त्रिमण्डलों को ऊपर से दिये जाने वाले ऐसे आदेश राज्य स्वायत्तता की भावना के विपरीत हैं। यह व्याधि कांग्रेस दल तक ही सीमित नहीं है। अन्य सभी दल इससे पीड़ित हैं। वे कांग्रेस की रीति-नीति के समालोचक होते हुए भी केन्द्रीय दलीय संयन्त्र के उसके संगठनात्मक ढाँचे का अनुकरण करने में नहीं हिचके। इसी कारण संसद तथा राज्य विधान-मण्डलों के लिए उनके उम्मीदवारों का चयन, उनके केन्द्रीय संसदीय-मण्डलों की स्वीकृति पर निर्भर रहता है। यह कथन समाजवादियों, जनसंघ, स्वतन्त्र और संघवादियों सभी पर लागू होता है।

राज्यों में नवोदित विशिष्ट वर्गों और पुराने राजनीतिक प्रबुद्ध वर्गों ने इस स्थिति को भाँप लिया और राज्य-स्तरीय कांग्रेसी नेतृत्व को जंजीरों में जकड़ा हुआ पाकर उस स्थिति का लाभ उठाने का निश्चय किया। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप राज्य-स्तर पर अनेक राज-नीतिक दलों का प्रादुर्भाव हुआ जिनको राष्ट्रीय राजनीतिक दलों से अलग बताने के लिए क्षेत्रीय राजनीतिक दल कहा जाता है। इनमें से द्रमुक, अकाली दल और गणतन्त्र परिषद् बहुत सशक्त हो गये। इतना ही नहीं, राज्यों में कांग्रेस नेतृत्व का कुछ अंश अपने-अपने क्षेत्रों में स्वायत्ततापूर्ण आचरण के प्रश्न को लेकर दल से अलग हो गया और उसने अलग-अलग राज्यों में नयी इकाइयाँ संगठित कर लीं।

वस्तुतः सन् 1967 के आम चुनावों में अनेक राज्यों में कांग्रेस की पराजय का मुख्य कारण यह था कि उसने राज्यों के हितों के मामले में कठोर रुख अपनाये रखा था और यह रुख उसके एकात्मक चरित्र का सहज फल था। राज्यों में कांग्रेस की इकाइयों को केन्द्रीय नीतियों से विचलित होने और अपने-अपने राज्य-लक्ष्यों के समर्थन में खड़े होने की अनुमति नहीं दी गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि इन क्षेत्रीय दलों ने अपने-अपने राज्य की जनता की क्षेत्रीय भावना को भड़काकर उसका समर्थन और मत प्राप्त कर लिया, तमिलनाडु में द्रमुक तथा पंजाब में अकाली दल ने सत्ता ग्रहण कर ली और कांग्रेस को समय-समय पर गणतन्त्र परिषद् और केरल कांग्रेस के साथ समझौता करना पड़ा।

राज्यों में संगठित दलों को राज्यों के लोगों के हक के लिए लड़ना ही होगा और अखिल भारतीय राजनीतिक दलों को इस परिस्थिति के साथ सामंजस्य बिठलाना ही होगा तभी उनका राष्ट्रीय स्वरूप बना रह सकेगा। भारत में राजनीतिक दलों के सामने एक ही मार्ग है कि वे अपना विकेन्द्रीकरण करें जिससे कि उनकी राज्य इकाइयों को राज्यों से सम्बन्धित मामलों में अधिकारपूर्वक बोलने और नीतियाँ बनाने का अधिकार मिल सके। केन्द्रीय संगठनों को मूलतः केन्द्रीय विषयों पर विचार करने तथा विभिन्न राज्यीय-इकाइयों के बीच समन्वय स्थापित करने का काम सौंपा जाना चाहिए तथा केन्द्रीय और राज्य-स्तरों पर नेतृत्व का परिवर्तन होते रहना चाहिए।

नेतृत्व, आन्तरिक लोकतन्त्र और एकता का संकट

भारतीय राजनीतिक दलों के सम्मुख नेतृत्व और आन्तरिक लोकतन्त्र का संकट है,

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

साथ ही वे विघटन, विभाजन तथा गुटबन्दी की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं। यह बहुत ही शोचनीय स्थिति है। नेता और नेतृत्व में बुनियादी अन्तर है और राजनीतिक दल को व्यक्तित्व प्रदान करने के लिए दोनों ही आवश्यक हैं। जब दल में नेतृत्व किसी विशिष्ट नेता के साथ तदाकार हो जाता है, तब वास्तविक संकट का उदय होने लगता है। यदि नेता दल के आदेश का पालन करने से मना कर दे और चाहे कि दल ही उसके आदेश का पालन करे तो लोकतन्त्र तथा अधिनायकवाद में कोई अन्तर नहीं रहता। दलों के नेता होते हैं और दल नेताओं के आदेश का पालन भी करते हैं लेकिन स्वेच्छा से और दलगत अनुशासन के कारण। दल मूलतः अपनी विचारधारा और व्यापक रूप से जनता के प्रति, जिसके प्रतिनिधित्व का वह दावा करता है, निष्ठावान् होता है।

दुर्भाग्यवश, भारतीय राजनीतिज्ञ दल को अपनी निजी सत्ता के लिए साधनमात्र मानते रहे हैं। भारत में शक्ति का प्रयोग न्यास के रूप में नहीं हुआ है, उसका दुरुपयोग व्यक्तिगत लाभ के लिए किया जाता रहा है। इसी कारण भारत के नेतृत्व में तरलता आ गई है, एक नेता आज कांग्रेसी सम्मिश्र-सरकार का नेतृत्व करने के लिए उपलब्ध है और कल वहीं कांग्रेस विरोधी सम्मिश्र के नेतृत्व के लिए भी आगे आ जाता है। यह एकदम घोड़ों के व्यापार सरीखा बन गया है। लोग दल-परिवर्तन की चर्चा करते हैं और उसको नियन्त्रित करने के लिए मार्ग खोजते हैं लेकिन यह नियन्त्रण तब तक सम्भव ही नहीं है जब तक कि नेतृत्व सिद्धान्तों और अनुशासन के प्रति समर्पित न हो। प्रजा समाजवादी दल में जब डा० लोहिया के नेतृत्व को चुनौती मिली तो वे उससे टूटकर अलग हो गये और उन्होंने अपने चारों ओर एक नया दल उपग्रह के सदृश खड़ा कर लिया जिसका नेतृत्व वे आजीवन करते रहे। नेहरू जी सन् 1946 में कांग्रेस संसदीय दल के नेता बने और जीवन की अन्तिम घड़ी तक उस दायित्व का निर्वहन करते रहे, उससे कभी मुक्त ही नहीं हुए।

भारतीय नेतृत्व का एक बड़ा अंश पोषित है, वह एक प्रकार से भाड़े का नेतृत्व है जिसे धनिक-सत्ता ने खड़ा किया है और वही उसे पोषित करती है, और अपने पीछे निहित इस धनिक सत्ता के कारण उस पोषित नेतृत्व ने अधिनेतृत्व की भूमिका ग्रहण कर ली है। दलों को धन की आवश्यकता होती है और ये अधिनेता उन लोगों से धन लाकर उसे दे सकते हैं जिनके पास धन है और जो अपने भौतिक हितों की अभिवृद्धि के मूल्य-स्वरूप धन देने को तैयार हैं। अपने कमीशन अथवा शुल्क के रूप में ये अधिनेता दल के भीतर एक लाभदायक स्थान प्राप्त कर लेते हैं जहाँ से वे उसका नेतृत्व और नियमन कर सकते हैं। इस पोषित नेतृत्व के माध्यम से ही धनिक वर्ग (और हो सकता है कि विदेशी राजनीतिक तथा निहित हित भी) राजनीतिक दलों पर नियन्त्रण रखते हैं।

इस सन्दर्भ में स्थानीय राजनीतिक समूहों और जातिवादी राजनीति का उल्लेख अनुपयुक्त न होगा। यह बात बहुत चिन्ताजनक है कि स्थानीय समूहों की संख्या, उनके प्रभाव और उनकी भूमिका में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। यह मुख्यतः राष्ट्रीय अथवा क्षेत्रीय दलों के कार्यक्रमों और स्थानीय जनता की आवश्यकताओं, माँगों और आकांक्षाओं के बीच बढ़ती जा रही दूरी का परिणाम है। जब तक ये स्थानीय समूह संगठित राजनीतिक दलों के संस्थात्मक ढाँचे के भीतर काम करते हैं तब तक इनसे व्यवस्था को कोई हानि नहीं पहुँचती किन्तु ज्यों ही ये राष्ट्रीय अथवा क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के उपेक्षापूर्ण व्यवहार से कुंठित होकर

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उनके दायरे से बाहर निकल आते हैं और निर्वाचनों में अपने स्वतन्त्र उम्मीदवार खड़े कर देते हैं त्यों ही राजनीतिक संगठन और ध्रुवीकरण की समस्या और भी अधिक उग्र रूप धारण कर लेती है। इन स्थानीय समूहों के प्रति यदि सावधानीपूर्ण, संवेदनात्मक और सम्मानपूर्ण रवैया अपनाया जाये तो ये बड़े राजनीतिक दलों की मुख्यधारा में तिरोहित हो सकते हैं।

जहाँ तक जातिवादी राजनीति का प्रश्न है वह भारतीय राजनीतिक जीवन का एक अत्यन्त सशक्त तत्त्व बन चुकी है। इस प्रश्न पर विस्तृत चर्चा तो यहाँ सम्भव नहीं है किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सन् 1971 के मध्यावधि लोकसभा-निर्वाचनों में इसकी भूमिका गौण रही है। क्षेत्रीय राजनीति के अभ्युदय ने इसके महत्त्व को कम कर दिया है। पिछले चार हजार वर्षों से जाति हमारे समाज का एक प्रमुख अवयव बन चुकी है और उसने एक महत्त्वपूर्ण शक्ति का स्वरूप धारण कर लिया है। किन्तु यदि हम अपनी राजनीति का तर्क-संगतिकरण और लौकिकीकरण कर लें तो इस तत्त्व को पराभूत किया जा सकता है।

हित मुखरीकरण की उपेक्षा

भारतीय राजनीतिक दल एक ऐसा खतरनाक खेल खेल रहे हैं जिसे यदि समय रहते बन्द न किया गया तो इस देश से लोकतन्त्र का नामो-निशान मिट जायेगा। यह समाज में वर्गीय हितों के मुखरीकरण के प्रति सर्वथा उपेक्षाभाव का खेल है। साम्यवादियों को छोड़कर अन्य भारतीय राजनीतिक दल राष्ट्रीय दल होने का स्वांग रचते हैं और वे ऐसा मान लेते हैं कि हम राष्ट्रीय हितों का समग्र रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं, मानों वे हित संश्लिष्ट रूप में विद्यमान हों। वे राष्ट्रीय प्रयोजनों, राष्ट्रीय सर्वसहमति, राष्ट्रीय नीति और राष्ट्रीय कार्यक्रम तथा इसी प्रकार की शब्दावली का प्रयोग करते हैं। यह अच्छा है लेकिन साथ ही भारत जैसे जटिल समाज की समस्याओं का अतिसरलीकरण है।

राजनीतिक दलों से यह अपेक्षा नहीं की जाती कि वे हमेशा सत्ता के संघर्ष में उलझे रहेंगे। उनकी सबसे बड़ी आवश्यकता समाज के भीतर विभिन्न हितों के और सरकार के बीच संवाद और समवाय स्थापित करने के लिए है। जब तक वे इस समवाय का माध्यम नहीं बनेंगे तब तक वे जनता के समीप नहीं आ सकते, न उस सरकार की कठिनाइयों को ही समझ सकते हैं जिसका संचालन अन्ततः उन्हें ही करना है।

समाज में वर्गीय हितों को मान्यता न देने का परिणाम यह हुआ है कि समाज के अधिकांश लोग कुंठित हो गये हैं और थोड़े से व्यक्ति उस पर हावी हो गये हैं। भूमिहीन कृषक वर्ग ने हमारे समाज में एक खतरनाक अनुपात और महत्त्वपूर्ण विस्तार प्राप्त कर लिया है। तथापि भारत में कोई भी लोकतन्त्रात्मक राजनीतिक दल ऐसा नहीं है जो उस वर्ग के हितों के पक्ष में आवाज उठा सके। ऐसा भी कोई नहीं जो देश के करोड़ों शिक्षित, अशिक्षित, कुशल और अकुशल बेरोजगार लोगों के हितों के मुखरीकरण का माध्यम बनना स्वीकार कर ले। साम्यवादियों का दावा है कि वे इन हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं, किन्तु उनके राजनीतिक दल तो बन्द संगठन हैं, और उनकी आस्था मूलतः हितों के मुखरीकरण में नहीं वरन् उनके विस्फोट और संघर्ष में है। अब हमें सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने दलों को जड़मूल से हिलाएँ, उन्हें स्वच्छ कर डालें और उग्रतापूर्वक उनकी कार्य-प्रणाली को प्रदर्शनात्मकता से हटाकर मुखरीकरण पर आधारित करें, तथा उनके मंच को सड़क पर से

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

हटाकर खेतों, खलिहानों, कारखानों और गन्दी बस्तियों में ले जाये।

सम्मिश्रवाद तथा ध्रुवीकरण की विफलता

1967 को भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के इतिहास में एक विभाजक-वेला माना जा सकता है। संसदीय लोकतन्त्र में सरकार का निर्माण बहुसंख्यक पक्ष करता है। यह आवश्यक नहीं है कि बहुसंख्यक पक्ष एक ही दल का हो, वह सम्मिश्रण के द्वारा निर्मित बहुदलीय भी हो सकता है। 1967 के आम चुनावों में कांग्रेस छः राज्य विधानमण्डलों—मद्रास (तमिलनाडु), पश्चिमी बंगाल, बिहार, पंजाब, दिल्ली तथा उड़ीसा—में पूर्ण बहुमत प्राप्त करने में विफल रही तथा मन्त्रिमण्डलों के निर्माण के तुरन्त बाद ही उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा हरियाणा में बहुत से कांग्रेसी विधायकों द्वारा दल-परिवर्तन के कारण कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का पतन हो गया। तमिलनाडु में द्रमुक और दिल्ली में जनसंघ ने पूर्ण बहुमत प्राप्त किया था अतः इन दोनों राज्यों में स्थिर और एकदलीय सरकारें बनीं। सम्मिश्र सरकारों का नया प्रयोग मुख्यतया उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार और पश्चिमी बंगाल में हुआ। इन राज्यों में गैर-कांग्रेसी सम्मिश्रों का निर्माण सर्वग्राह्यता की व्यूह-रचना और शीघ्रता से तैयार किये गये एक सर्वमान्य कार्यक्रम के आधार पर किया गया था। ये वास्तविक अर्थ में सम्मिश्र न थे, उनके विविध विधायक दलों—साम्यवादी, स्वतन्त्र, जनसंघ, संसोपा और कतिपय क्षेत्रीय दलों—भारतीय क्रान्ति दल, बंगला कांग्रेस, झारखण्ड पार्टी, शोषित दल आदि—ने अपने संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति के लिए सत्ता का प्रयोग शुरू कर दिया जिसके कारण सम्मिश्र संकट में पड़ गये और उनमें से अधिकांशतः अन्ततः भंग हो गये। उनकी विफलता के प्रमुख कारण उनके प्रयोजन, चरित्र और आचरण में निहित हैं।

(1) इन सम्मिश्रों का एकमात्र प्रयोजन इन राज्यों में कांग्रेस को मन्त्रिमण्डलों से बाहर रखना था। सम्मिश्रित दलों ने न तो किसी सर्वसहमत कार्यक्रम का निश्चय किया था, न उन्होंने उस कार्यक्रम के आधार पर जनता का आदेश ही प्राप्त किया था। इन सम्मिश्रों की यह सबसे बड़ी कमजोरी थी।

(2) उनके पारस्परिक व्यवहार का कोई संगतिपूर्ण स्वरूप नहीं निखर पाया, एक राज्य में वे एक साथ मिलकर सरकार बनाते रहे और दूसरे में एक-दूसरे की टोपी उछालते रहे।

(3) सम्मिश्रकारी दलों में से अधिकांश राज्य विधानमण्डलों में प्रतिनिधित्व की दृष्टि से क्षेत्रीय दल ही ठहरते थे भले ही वे अपने आपको अखिल भारतीय मानते रहे हों। उनमें से कुछ तो विशुद्धतः खण्डीय और स्थानीय थे। यह स्वाभाविक ही था कि उनके बीच किन्हीं समान मूल्यों अथवा समान राजनीतिक संस्कृति में साझेदारी की चेतना विकसित नहीं हो पायी।

(4) कुछ सम्मिश्रकारी दल उपांश-समूह थे। उनमें से अधिकांश कांग्रेस में से टूटे उपांश थे—कुछ निर्वाचनों से पहले और कुछ उनके बाद। उनकी निष्ठा-भावना का लोप हो चुका था, अतः उनके लिए यह सम्भव ही न था कि वे सिद्धान्तहीनतापूर्वक एकत्र असम्बद्ध समूहों अर्थात् सम्मिश्रों के प्रति अपनी निष्ठा जगा पाते।[18]

---

[18] 'महत्त्व की बात यह है कि इस काल में राज्य सरकारों का जहाँ भी पतन हुआ, वहाँ उसका कारण

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

(5) कांग्रेस केन्द्र में सत्तारूढ़ थी अतः सम्मिश्रों के भीतर बेचैनी महसूस करने वाले सम्मिश्रकारी तत्त्वों को प्रलोभित करने की सामर्थ्य उसमें हमेशा रही। उसने इस तरह के प्रस्ताव रखे कि यदि कोई सम्मिश्रकारी दल सम्मिश्र छोड़कर बाहर आने और इस प्रकार सम्मिश्र को भंग करने के लिए तैयार हो तो वह अपनी शक्ति के द्वारा उस दल की अल्पमत सरकार को जीवित रखेगी। वह ऐसा कर सकती थी क्योंकि विधानसभाओं में उसे पूर्ण बहुमत भले ही न मिला हो वहाँ वह सबसे बड़ा राजनीतिक दल तो था ही। प्रत्येक सम्मिश्रकारी दल कांग्रेस के साथ मिलकर राज्य की सत्ता में भाग प्राप्त करने का इच्छुक था।[19]

सन् 1967 को सम्मिश्र-सरकारें बहुत ही अल्पजीवी सिद्ध हुईं। वे देश के लिए लाभदायक और सम्मिश्रकारी दलों के लिए हानिकारक रहीं। इनका पहला लाभ तो यह हुआ कि कांग्रेस के अलावा अन्य दलों को सत्ता में भाग लेने का अवसर मिला तथा विरोधी दलों में उत्तरदायित्व की किंचित भावना जगी। इसके कारण सरकार और सार्वजनिक मामलों के प्रति उनके दृष्टिकोण में किंचित वास्तविकतावादी पुट आया। प्रधानमन्त्री अपने दल के अभिनेताओं से अप्रसन्न थी हीं। उन्होंने कुछ गैर-कांग्रेसी मुख्यमन्त्रियों की ओर सहयोग का हाथ बढ़ाया, इन लोगों ने भी प्रधानमन्त्री की भावना का सम्मान किया। फिर तो यहाँ तक हुआ कि ये गैर-कांग्रेसी मुख्यमन्त्री अपने मन्त्रिमण्डलों के निर्माण और सम्मिश्रों के आन्तरिक तनावों और दबावों के मामले में भी प्रधानमन्त्री का परामर्श लेने लगे।

दल-परिवर्तन

सन् 1967 के निर्वाचनों से पहले और बाद में होने वाले दल-परिवर्तनों के कारण ही ये सम्मिश्र बन सके थे और उनका अन्त भी दल-परिवर्तनों के कारण ही हुआ। कुछ समय तक दल परिवर्तनों ने राजनीतिक स्थिति को ऐसा तरल बनाये रखा कि यह कहना असम्भव था कि अगले ही क्षण कौन किसका समर्थन करेगा। आचार्य कृपलानी ने लिखा था, कांग्रेस तथा अन्य दलों से अलग होने वाले कतिपय विधायकों ने इतनी तीव्र गति से दल बदले हैं कि अमुक व्यक्ति कब किस दल में होगा यह कहना कठिन है।[20]

विरोधी दल तब तक तो दल-परिवर्तनों पर प्रसन्न रहे जब तक कि अकेली कांग्रेस उनसे पीड़ित होती रही, लेकिन जब इस बूमेरेंग ने उन पर ही वार किया तो वे तिलमिला गये। वस्तुस्थिति से यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है कि दलपरिवर्तन अपने आपमें कोई रोग नहीं है, वह तो राजनीतिक दलों की इस आन्तरिक स्थिति की ओर संकेत करता है कि वे विभाजन, विखंडन, गुटबन्दी, वैयक्तिक सत्ता-लोलुपता, अधिनेतावाद तथा सर्वसहमति के द्वारा निर्माण की गयी निकृष्ट कोटि की अवसरवादिता सरीखी व्याधियों से पीड़ित हैं।

सम्भवतः, विधि अथवा अभिसमय द्वारा दल-बदल को रोकना उस समय तक सम्भव नहीं होगा जब तक कि इसके लिए वैयक्तिक लाभ के दरवाजे बन्द नहीं हो जाते। इस सम्बन्ध में

विधायकों का दल-बदल था।' सुभाष सी० काश्यप, 'पॉलिटिक्स ऑफ डिफेक्शन', नेशनल, दिल्ली, 1969, पृ० 381।

[19] आचार्य कृपलानी, 'आर कोएलीशन्स फीजीबिल', 'द इण्डियन एक्सप्रेस', 4 दिसम्बर, 1967।

[20] उपर्युक्त।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

के० सुब्बाराव ने कहा है, 'दल-बदल संगठित दल-व्यवस्था के अभाव के आवश्यक परिणाम हैं। यह कोई नई घटना नहीं है। चूँकि अब यह रोग सभी दलों में व्याप्त हो गया है, इसलिए लोगों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हो गया है।[21] उनके अनुसार, इसका एक प्रमुख कारण व्यापक पैमाने पर भ्रष्टाचार है। उनके मत से दल-बदल की प्रक्रिया द्वारा दल-पद्धति व्यवस्थित हो सकती है। जो लोग अपने दल को पसंद नहीं करते और उसमें से निकल जाना चाहते हैं, उनके लिए अपनी इच्छा को पूरा करने का यह सुगम उपाय है। दल-पद्धति की अस्थिर अवस्था में यह एक आवश्यक बुराई है। सच पूछा जाए तो यह दलों की रुग्ण अवस्था का लक्षण है और दलों के स्वास्थ्य में सुधार होते ही इसका लोप हो जाएगा।[22]

सम्भवतः भारत में दल-बदल का सबसे बुरा दौर समाप्त हो चुका है। इस सम्बन्ध में डा० सुभाष काश्यप का विश्लेषण और निष्कर्ष यथार्थपरक है। उन्होंने लिखा है :[23]

> 'परिवर्तन विकास और सामंजस्य की प्रक्रिया कष्टपूर्ण होती है और दल-बदल की राजनीति इस कष्टपूर्ण प्रक्रिया का एक अंग मात्र है। इसके विषय में घबराने की कोई बात नहीं है। यह घटना भी भूचाल की भाँति है, जिसने सन्तुलन में अस्थायी विक्षेप उत्पन्न किया है। कुछ समय बाद फिर से संतुलन स्थापित हो जाएगा भले ही वह एक नया सन्तुलन हो।'

सम्भव है कि भारत में अभी द्विदलीय ध्रुवीकरण की भूमिका न बन पायी हो तथापि आगामी वर्षों में कांग्रेस का विकल्प सामने आना देश के हित में है। यदि मान भी लें कि पिछले 25 वर्षों में कांग्रेस का एकछत्र शासन सफल रहा है तो भी यह कैसे माना जा सकता है कि भविष्य में वह लोकतंत्र को सुरक्षित रख सकेगा। पिछले 25 वर्षों में देश के भीतर लोकतन्त्र के आधार कमजोर हुए हैं, सार्वजनिक मनोबल गिरा है और वैयक्तिक सत्ता देश में इतनी मजबूती से स्थापित हो गयी है कि वह किसी भी क्षण अधिनायकवादी आकांक्षा में परिणत होकर लोकतन्त्र को समूल नष्ट कर सकती है तथा उसका सामना करने के लिए बहुत ही सशक्त नेतृत्व की आवश्यकता होगी जो परिवर्तन और लोकतन्त्र के मूल्यों में जनता की आस्था फिर से स्थापित करने के लिए घोर पुरुषार्थ कर सके।

मूल समस्या यह है कि ध्रुवीकरण कैसे हो? ध्रुवीकरण किसी के आदेश से नहीं हो सकता। कोई भी एक दल, वह कितना ही बड़ा छोटा अथवा सच्चा क्यों न हो, द्विदल पद्धति की स्थापना नहीं कर सकता। यह तो तभी हो सकता है जबकि प्रायः सभी राजनीतिक दलों के नेता सैद्धान्तिक आधार पर ध्रुवीकरण के लिए तैयार हो जाएँ तथा उसका सम्मान करें। इसका एक ही मार्ग है : व्यापक राष्ट्रीय सर्व-सहमति के आधार पर विभिन्न दलों का द्विदल-व्यवस्था की रचना के लिए पारस्परिक संयोजन।[24] यह ध्रुवीकरण सुविधा पर नहीं आस्थाओं पर आधारित होना चाहिए। यह माना जा सकता है कि राजनीतिक उपादेयता की दृष्टि से

---

[21] के० सुब्बाराव, उपर्युक्त, पृ० 13।

[22] वही।

[23] काश्यप, उपर्युक्त, पृ० 38।

[24] 'जाहिर है कि हमारी व्यवस्था में बहुदलीय प्रणाली वांछनीय नहीं है, अतः यह बहुत उपयुक्त प्रतीत होता है कि हम कार्यक्रमाभिमुख दलों तथा व्यापक राष्ट्रीय सर्वसहमति के आधार पर संगठित द्विदलीय व्यवस्था के उदय की आशा करें।' वही, पृ० 354।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

किसी सीमा तक विविध हितों के बीच सामंजस्य स्थापित करना और दल में उनके लिए गुंजायश करना आवश्यक होगा। 'ध्रुवीकरण एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। इसको हल करने के लिए नेतृत्व, देशभक्ति, आत्म-बलिदान और दृष्टि की आवश्यकता है।'[25]

अनुपयुक्त निर्वाचन-व्यवस्था

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था निर्माण की अवस्था में है। हमारे संविधान ने उसके लिए संस्थात्मक आधार जुटाए हैं किन्तु विधान (कानून) ने हमारी राजनीतिक व्यवस्था को इस संस्थात्मक आधार के अनुरूप विकसित होने में तनिक भी सहायता नहीं दी है। यह सही है कि हम पाश्चात्य देशों की तरह से भारत में एक जटिल निर्वाचन-व्यवस्था लागू नहीं कर सकते क्योंकि हमारे अधिकतर मतदाता इतने अधिक शिक्षित नहीं हैं कि वे उसकी पेचीदगियों और बारीकियों को समझ सकें। हमें अपने निर्वाचन-व्यवस्था सम्बन्धी विधान में किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता भी नहीं है, यदि उसमें थोड़े से हेर-फेर कर लिये जायँ तो वह सहायक हो सकता है।

हमारे चुनाव-कानून ने निर्वाचनों में भाग लेने वाले राजनीतिक दलों की संख्या पर कोई रोक नहीं लगाई है, जिसके परिणामस्वरूप राजनीतिक दलों की संख्या अंधाधुंध बढ़ी है। हमारे विधान ने निर्दलीय उम्मीदवारों पर कोई रोक नहीं लगाई है जिसका परिणाम यह हुआ है कि सैंकड़ों राजनीतिक दलों के उम्मीदवारों के अलावा हजारों निर्दलीय उम्मीदवार चुनाव के अखाड़े में उतर आते हैं और चुने जाने के बाद तरल-मत बन जाते हैं। वे निर्वाचनों के समय भ्रांति फैलाते हैं तथा वैयक्तिकतापरक, वर्गीय और जातिवादी राजनीतिक तत्त्वों को जन्म देते हैं।[26]

यदि संसद यह कानून बना दे कि चुनाव के बाद जिन दलों को कुल डाले गए मतों का पाँच प्रतिशत या उससे कम मिलेगा उन्हें लोकसभा तथा राज्य विधानमंडलों में प्रतिनिधित्व नहीं मिलेगा, तो ध्रुवीकरण की समस्या बहुत सीमा तक हल हो जाएगी। यह संशोधन देश को सही दिशा में ले जा सकता है। इसके परिणामस्वरूप देश में केवल तीन या चार, अधिक से अधिक पाँच, राजनीतिक दल रह जायेंगे। इस ध्रुवीकरण से दलों को सैद्धान्तिक आधार प्राप्त हो जायेगा, स्थानीय और वर्गीय तनाव समाप्त हो जायेंगे तथा उनके मन में सुरक्षा की भावना पैदा हो जायगी। इसके परिणामस्वरूप निर्वाचकों को भी अपनी पसन्द का उम्मीदवार चुनने में सहायता मिलेगी और वह उपलब्ध विकल्पों के सम्बन्ध में सुनिश्चित निर्णय कर सकेगा।

दलविहीन लोकतन्त्र

सर्वानुमति, सर्वसम्मति या सर्वसहमति का शासन नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक अथवा आर्थिक दृष्टि से सशक्त अल्पसंख्यक वर्ग का स्वेच्छाचार है। यदि वह वास्तविक हो तो

---

[25] के० सुब्बाराव, उपर्युक्त, पृ० 18।

[26] 'दलीय व्यवस्था के लिए सबसे अधिक खतरनाक निर्दलीय सदस्यों का अस्तित्व है। जाहिर है कि वे किसी भी दल के सदस्य नहीं होते।' वही, पृ० 13।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

वह कभी भी समाज में एक गतिदायक तत्त्व का स्वरूप नहीं हो सकता। वह नीतियों और कार्यक्रमों का निर्धारण लघुतम समापवर्त्य पद्धति से करता है। इसका अर्थ है कि वह महत्तम को टालकर लघुतम को स्वीकारता है। हमें आज महत्तम कार्यक्रम की आवश्यकता है जिससे कि हम प्रगतिशीलता की दौड़ में विकसित देशों के बराबर पहुँच सकें। यह जड़ लघुतम के माध्यम से नहीं, उस गतिमय महत्तम के द्वारा सम्भव है जिसे लोकतन्त्रीय द्वन्द्व के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता है। कांग्रेस का जड-सिद्धान्तवाद और सर्वसहमतिवाद इस बात को स्पष्ट चेतावनी दे रहा है कि वह प्रगति का मार्ग नहीं है वरन् वह तो अनन्त समझौतों का स्थिर ताल है। हमें आज इस बात की आवश्यकता है कि हम लोकतन्त्र के लिए घातक सर्व-सहमतिवाद का आश्रय त्यागकर सिद्धान्तों के द्वन्द्व से समुत्पन्न समन्वित अथवा संश्लिष्ट नीति के आधार पर अपना पुनर्निर्माण करें।

दलविहीन लोकतन्त्र की कल्पना यदि गम्भीरता से ली जाए तो लोकतन्त्र के लिए बहुत खतरनाक प्रतीत होती है। दलविहीन लोकतन्त्र में तो लोकतान्त्रिक माध्यमों से सरकार को बदलना सम्भव ही नहीं रहेगा क्योंकि वैसा कोई माध्यम उस व्यवस्था में उपलब्ध ही नहीं होगा। उसमें या तो सरकार रोज बदलेगी और शासन का संचालन पूरी तरह नौकरशाही के हाथों में चला जाएगा अथवा अधिनायकवाद स्थापित हो जाएगा।

आधुनिक शासन-कौशल बहुत जटिल हो गया है और उसके संचालन के लिए समुचित प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। यह प्रशिक्षण केवल नैतिकता का नहीं संस्थात्मक लोक-तन्त्र और लोकप्रभुता के दर्शन और क्रियान्वयन का प्रशिक्षण होता है। दलविहीन लोकतन्त्र अधिक से अधिक स्वशासन के लिए उपयुक्त हो सकता है।

दलविहीन लोकतन्त्र देश को अधिक से अधिक एक लोककल्याणकारी अधिनायकतन्त्र प्रदान कर सकता है। शासन में मूल बात सिद्धान्ताभिमुखता है, और यह जरूरी है कि जनता को विरोधी विचारों की दीक्षा दी जाए जिससे कि वह उनमें से अपने लिए हितकारक विचार चुन सके। दलीय लोकतन्त्र जनता को विभिन्न स्तरों पर लोकतन्त्र में भाग लेने का अवसर प्रदान करता है, दलविहीन लोकतन्त्र उसे इस अधिकार से वंचित कर देता है। आचार्य कृपलानी ने कहा है :

'राजनीति में यदि संगठित और मान्य राजनीतिक दल न हों तो वह चालाक व्यक्तियों के हाथों में पड़ जाएगी जो गुट बनाकर सत्ता पर अधिकार कर लेंगे। राजनीति को गुटबंदी से अधिक और कुछ भ्रष्ट नहीं कर सकता।'[27]

निष्कर्ष

राज्य-शिल्प की ही भाँति दल-शिल्प भी आधुनिक काल में यथार्थपरक हो गया है जो विचारधारा से पृथक् नहीं है प्रत्युत जिसका उद्देश्य समाज में उपलब्ध मानवीय अनुभव राशि तथा भौतिक संसाधनों के आधार पर असंगतियों तथा असम्बद्धताओं का निवारण कर विचारधाराओं को नित्य-नवीन रूप में प्रतिष्ठित करना है। जिन लोगों को हमारे देश में

---

[27] आचार्य कृपलानी, 'पार्टीलैस डिमोक्रेसी', परसराम मानवानी, (सम्पादित) 'डिमोक्रेसी ऑन द एनविल', किताब महल, 1968, पृ० 123–124।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

लोकतन्त्र के भविष्य के बारे में चिंता है और जो व्यवस्था के निर्माण के लिए अपेक्षित ज्ञान तथा साधनों से सम्पन्न हैं, उनका कर्तव्य है कि वे आगे आयें ओर देश की बागडोर संभालें। यह नेतृत्व उस नवोदित और समाज-सजग विशिष्ट वर्ग में से आ सकता है जो इस समय विद्यालयों और विश्वविद्यालयों, खेतों और कारखानों, शहरों और देहातों में, सामान्यतः समूचे समाज में उपलब्ध है। राष्ट्र को राष्ट्रीय विकल्प की खोज है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

वर्तमान दशक में भारत के राजनीतिक दल

परिमल कुमार दास

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद चौबीस साल गुजर जाने के बावजूद भारत के राजनीतिक जगत् में पहले ही जैसा धुंधलापन जारी है। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान राजनीति का केन्द्र-बिन्दु भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस रही। प्रायः सभी पार्टियाँ कांग्रेस के अन्तर्गत कार्य करती रहीं। चूँकि उस समय एकमात्र लक्ष्य भारत की आजादी था, इसलिये एक मोर्चे के अन्दर काम करना आवश्यक था। भारतीय साम्यवादी दल को छोड़कर शेष सभी पार्टियों ने कांग्रेस का नेतृत्व स्वीकारा था। पर यह राष्ट्रीय आन्दोलन मुख्य रूप से राजनीतिक रहा। मौके-मौके पर कांग्रेस के राष्ट्रीय अधिवेशनों में आर्थिक तथा सामाजिक प्रश्नों पर प्रस्ताव पारित हुए पर इससे किसी स्पष्ट और नियोजित विचार की तस्वीर नहीं निखरी। कांग्रेस सभी दलों का, सभी स्वाधीनता संग्रामियों के लिये, एक मंच रहा—एक संयुक्त मोर्चा। कांग्रेस का यह चरित्र आज तक मौजूद है। स्वतन्त्रता के तत्काल बाद कांग्रेस ने अपने को पार्टी में परिवर्तित करने की कोशिश की। यह प्रक्रिया उस समय जोर पकड़ी जब अंग्रेजों ने खंडित भारत की बागडोर कांग्रेस के हाथों में सौंपी। पर इससे कांग्रेस के चरित्र में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। कांग्रेस में सभी विचारधाराओं के लोग रहे जो सत्ता के कारण एकजुट थे। राष्ट्रीय आन्दोलन से उपजी और स्वाधीनता संग्राम का उपकरण होने के कारण कांग्रेस जनता के बीच सबसे अधिक परिचित और लोकप्रिय पार्टी रही। गांधी जी से लेकर सभी बड़े नेता जिन्होंने आजादी के आन्दोलन में हिस्सा लिया था कभी न कभी कांग्रेस के सक्रिय सदस्य रहे थे। इसलिये वह पीढ़ी जो आजादी के आन्दोलन के समय की थी, करीब-करीब दो दशक तक कांग्रेस का एकछत्र बोलबाला बनाये रखने में सबसे अधिक कारगर रही। नयी पीढ़ी के लोगों के बालिग होने तक कांग्रेस पार्टी को किसी गम्भीर चुनौती का सामना नहीं करना पड़ा। 1952, 1957 और 1962 के आम चुनावों में कांग्रेस का आधिपत्य कायम रहा। सोशलिस्ट पार्टी, भारतीय साम्यवादी दल और हिन्दू महासभा में ऐसे नेता थे—विशेषकर सोशलिस्ट पार्टी में—जिनका योगदान राष्ट्रीय आन्दोलन में कांग्रेस के नेताओं से कम नहीं था। पर भारत की जनता के समक्ष, पार्टी के स्तर पर, सिर्फ कांग्रेस ही बार-बार सामने आती रही और लोगों ने भी गांधी जी को कांग्रेस से ही जोड़ा था। इन कारणों से 1967 तक हर चुनाव में कांग्रेस की बहुमत से विजय होती रही। इस विजय से देश को स्थायी सरकार तो मिलती रही, पर कारगर चुनौती के अभाव में, ऐसे राजनीतिक खेमों का गठन न हो पाया जो साफ और अलग पर ठोस नीति और कार्यक्रम पर आधारित होते। इस स्थिति में न ही परिवर्तन की ताकतें मजबूत हो पायीं। फलतः स्थिरता से हजार साल की

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सड़ांध और भी बढ़ती गयी। समाज-रचना का काम पहले से और भी कठिन हो गया।

कांग्रेस पार्टी के एकाधिपत्य के कारण विरोधी दल पनप नहीं पाये। मुख्य रूप से समाजवादी पार्टी (जो बाद में प्रजा-समाजवादी पार्टी बन गयी), भारतीय साम्यवादी पार्टी और जनसंघ विरोधी पार्टियाँ रहीं—हालाँकि छोटी-मोटी बहुत सारी पार्टियाँ देश के राजनीतिक जगत में काम करती रहीं। इनमें से कई केवल क्षेत्रीय पार्टियाँ हैं। कांग्रेस ने 1952, 1957 और 1962 के चुनावों में अधिक से अधिक सीटें जीतीं। पर कभी भी प्राप्त मतों की संख्या 48% से अधिक नहीं गयी। अधिक बहुमत हमेशा विरोधियों के पक्ष में रहा। अगर आनुपातिक चुनाव पद्धति का पालन किया गया होता तो दूसरी ही तस्वीर नजर आती। उस हालत में कांग्रेस का एकछत्र आधिपत्य कायम नहीं रह सकता था। विरोधी दलों की संख्या अधिक होने से और उन पार्टियों में एकता के अभाव के कारण कांग्रेस को राजनीतिक फायदा होता रहा। किसी भी तरह का राजनीतिक ध्रुवीकरण सम्भव नहीं हो पाया।

भारतीय राजनीतिक स्थिति की एक विशेषता यह है कि कांग्रेस समेत सभी पार्टियाँ निर्गुण मतवादों (एब्स्ट्रेक्ट थ्योरीज) पर आधारित रही हैं। समाजवाद या पूँजीवाद दोनों की कल्पना निर्गुण है। दक्षिणपन्थ या वामपन्थ और फिर प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी खेमों के आधार पर राजनीतिक दलों का बँटवारा निराधार और भारतीय परिस्थिति में असंगत है। पर पश्चिमी विचारधारा का अपने बुद्धिजीवियों पर इतना प्रभाव है कि इसके बाहर स्वतन्त्र रूप से चिन्तन या विश्लेषण करना इनके लिए असम्भव-सा हो गया है। विदेशी विचारधारा और कार्यक्रमों को जैसे का तैसा भारत पर लादने की कोशिश चलती रहती है। चाहे मार्क्सवाद हो या पश्चिम-यूरोपीय समाजशास्त्रियों के विचार हों, वे भारतीय परिस्थिति और अनुभव से मेल नहीं खाते। ठोस समस्याओं के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर ही किसी दल का गरम या नरम पार्टी होना निर्भर होता है। जैसे अंग्रेजी हटाकर भारतीय भाषाओं के सार्वजनिक व्यवहार के प्रश्न पर तथाकथित वामपन्थी या समाजवादी दल भी दकियानूसी रुख अख्तियार कर लेते हैं और इसके विपरीत तथाकथित प्रतिक्रियावादी पार्टी जनता के अनुकूल रुख रख सकती है; उसी तरह जाति, सम्पत्ति, भारत की सीमाओं के प्रश्नों पर सभी दलों के रुख को जाँचना चाहिए। मूल बात यह है कि राजनीतिक शक्तियों का अभी तक वर्गीकरण हो नहीं पाया और न ही भारत में उद्योगीकरण की प्रक्रिया उतनी दूर तक पहुँच पायी है जितनी पश्चिम के देशों में। शायद उद्योगीकरण के पश्चात् भी जाति-व्यवस्था का असर सम्पूर्ण रूप से मिट नहीं पायेगा।

यह आवश्यक नहीं है कि भारत का राजनीतिक ढाँचा संसदीय हो और उसमें दो दलों के बीच शक्तियों का ध्रुवीकरण हो जाये। ग्राम पंचायतों के आधार पर चौखम्बाराज की कल्पना ज्यादा सार्थक है, जिसमें सिर्फ अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र को सौंपी जायें और अधिक से अधिक शक्तियाँ ग्राम, जिला तथा राज्यों को, केन्द्र के पास विदेश नीति, रक्षा, वित्त तथा यातायात रहें। इसके सिवाय और सभी क्षेत्रों में सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो। वर्तमान संविधान के अन्तर्गत और 24वें संशोधन के पश्चात् और भी, केन्द्रीय शासन तानाशाह बन सकता है। विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त भारतीय परिस्थिति में अधिक कारगर साबित होगा, बनिस्बत संसदीय प्रणाली के।

भारत के राजनीतिक क्षितिज में बराबरी और राष्ट्रीयता की ताकतों को मजबूती के

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

साथ उभरना चाहिये था । पर ये ताकतें पिछले चौबीस सालों में कमजोर हुई हैं। भारत जैसे देश के लिए राष्ट्र-निर्माण का प्रश्न ही सबसे अधिक महत्त्व का है और रहेगा। समाज-रचना का काम करने में वर्तमान व्यवस्था असमर्थ रही है । किसी भी नये राष्ट्र के लिए समाज-रचना का सबसे अधिक कारगर साधन राष्ट्रीयता होती है । और राष्ट्रीय भावना एक गरीब देश में मजबूत तब हो सकती हैं, जब उसका आधार बराबरी हो । विभिन्न राजनीतिक दलों ने ऐसी शक्तियों को बल देने की कोशिश नहीं की । जो दल बराबरी के पक्ष पर हैं वे अयथार्थ और विश्वयारी के प्रभाव में आकर राष्ट्रीयता की भावना को देश में मजबूत करने से डरते रहे । साथ ही जो तत्त्व राष्ट्रीयता की हामी भरते थे, वे संकुचित और संकीर्ण रहे और बराबरी के सिद्धान्त से कतराने के कारण सबल और स्वस्थ राष्ट्रीयता की भावना को जानने में असमर्थ रहे । फलतः राष्ट्रीयता इतनी कमजोर हो गयी कि देश न सिर्फ समाज-रचना के काम में पीछे रहा, बल्कि अपनी सीमाओं की भी रक्षा नहीं कर सका । शायद भारत ही वह देश है, जिसने नये राष्ट्रों में अपनी जमीन सबसे अधिक खोयी है । अंग्रेजी पढ़े-लिखे उच्चवर्ण और उच्चवर्ग से आये हुए भारत के शासक वर्ग को ऐसी स्थिति से, जिसमें बराबरी और राष्ट्रीयता की ताकतें कमजोर रहीं, लाभ हुआ है । इसलिये ये वर्ग सभी प्रगतिशील नारों के पीछे अपनी यथास्थिति को कायम रखने की इच्छा को छिपा पाने में सफल हुए ।

1962 में चीनियों के भारत पर आक्रमण और उनके हाथों भारत की करारी हार ने देश में थोड़ी देर के लिए राष्ट्रीयता की भावना को जोरों से जगाया । 1947 के बाद से यह भावना सुप्तप्राय थी, 1962 की घटनाओं ने देश को झकझोर दिया । इसने देश की आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक स्थिति के खोखलेपन को साधारणतः और नेतृत्व के खोखलेपन को विशेषतः बेपर्दा कर दिया । धीरे-धीरे राजनीति पर इसका असर दिखायी भी देने लगा । देश में विरोध पक्ष पहल की स्थिति में आने लगा । प्रख्यात समाजवादी नेता डा० राममनोहर लोहिया ने देश में व्याप्त क्षुब्धता को कांग्रेस के विरुद्ध एक आन्दोलन का स्वरूप दे दिया । उन्होंने सन् 1964–65 में देश को 'कांग्रेस हटाओ, देश बचाओ' का नारा दिया । उन्होंने सभी विरोधी दलों को किसी न किसी मुद्दे पर एक मंच पर लाने का प्रयास किया । चुनाव राजनीति में कांग्रेस के मुकाबले विरोधी पार्टियों के बीच तालमेल का सिद्धान्त चलाया । इसमें उन्हें काफी हद तक सफलता भी मिली । 1965 की पाकिस्तान के साथ लड़ाई, 1966–67 का सूखा, विदेशों से अनाज का मंगवाना, बढ़ती हुई बेकारी और महँगाई के कारण सन् 1947 से चली आयी स्थिरता को घोर चुनौती का सामना करना पड़ा । लोहिया की राजनीतिक सूझ-बूझ ने गैर-कांग्रेसवाद को जन्म दिया । 1967 के आम चुनाव में अनेक राज्यों में कांग्रेस की पराजय हुई और केन्द्र में पहली दफा विरोधी दलों को भारी संख्या में प्रतिनिधित्व मिला । भिन्न-भिन्न राज्यों में गैर-कांग्रेसी सरकारों की स्थापना हुई जो समयबद्ध न्यूनतम कार्यक्रमों के आधार पर बनीं । कांग्रेस का एकाधिपत्य समाप्त हुआ और देश में परिवर्तन की लहर फैल गयी । सत्ता के हस्तान्तरण से परिवर्तन की भूख जगी और जनतन्त्र का आधार विस्तृत हुआ । पर विरोधी पार्टियाँ गैर-कांग्रेसवाद के क्रान्तिकारी पहलू को पकड़ नहीं पायीं । लोहिया की भी अकाल मृत्यु हो गयी । सभी गैर-कांग्रेसी सरकारों ने स्थिरता के चक्कर में कर्म की रफ्तार को बोली के मुकाबले धीमा कर दिया । इन सरकारों की उपलब्धि विगत कांग्रेसी सरकारों की तुलना में अधिक थी । पर जिस अनुपात में इन्होंने जनता की

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

आशायें जगायी थीं, उतना उनका कर्म के क्षेत्र में योगदान नहीं रहा । सडांध वाली स्थिरता से परिवर्तन के युग में प्रवेश करने के पहले कुछ अरसा अस्थिरता का होना अस्वाभाविक नहीं था । यह गैर-कांग्रेसवाद के तर्क में निहित था । गैर-कांग्रेसी दलों के बीच सहयोग और होड़ दोनों धारायें साथ-साथ आवश्यक रूप से चलनी थीं । पर कर्म के क्षेत्र में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त करना गैर-कांग्रेसवाद को बनाये रखने के लिए जरूरी था । लोहिया की भाषा में 'अब तक की सरकारों ने बोली से काम लिया है, गैर-कांग्रेसी सरकारों को काम से बोलना चाहिये' अर्थात् बीस साल की जड़ता को जल्द से जल्द खत्म कर देश की शिराओं में नए रक्त का संचार करना आवश्यक था । इन कमजोरियों के रहते हुए भी गैर-कांग्रेसवाद सफल हो सकता था अगर राज्यों के साथ-साथ केन्द्र में भी गैर-कांग्रेसी सरकार की स्थापना हो गयी होती । जैसा कि लोहिया का कहना था, केन्द्र और राज्य सरकारों के रिश्ते कलक्टर और पटवारी के हैं । इसलिये कांग्रेसी केन्द्र ने धीरे-धीरे गैर-कांग्रेसी सरकारों को एक के बाद एक सत्ता से च्युत करवा दिया । केन्द्र के इस काम में इन सरकारों की अपनी कमियाँ मददगार हुईं । दल-बदल का रोग इतना संक्रामक हो गया कि राजनीति में किसी प्रकार की मर्यादा का कोई स्थान नहीं रह गया ।

जबकि एक तरफ गैर-कांग्रेसवाद की इस असफलता ने लोगों में निराशा की भावना को फिर से जगाया, दूसरी तरफ कांग्रेस पार्टी के 1969 के राष्ट्रपति के चुनाव के पश्चात् अन्दरूनी झगड़ों ने इतना भयानक रूप धारण किया कि यह दल दो हिस्से में बंट गया। 1960 के बाद राजनीतिक घटनाओं ने जैसा मोड़ लिया उसका स्वाभाविक परिणाम कांग्रेस की टूट थी । पर इस टूट का सूत्रपात एक ऐसी घटना से हुआ जिसे कोई भी सच्चा इतिहास-कार शर्म के साथ याद करेगा ।

शायद इतिहास में यह पहली मिसाल होगी जब जनतन्त्रीय व्यवस्था की प्रधान-मन्त्री अपने दल के किसी व्यक्ति का नाम प्रस्तावित कर दल से बगैर इस्तीफा दिये हुए खुद उसका विरोध करने लगीं, और उसे हरवाने के काम में पूरे जोर-शोर से लग गयीं । इस तरह सामाजिक जीवन की सभी मान्यताओं को तिलांजलि दे दी गयी । पर यह विरोधी पार्टियों की अकर्मण्यता थी कि कांग्रेस की इस टूट से वे फायदा उठाने में असमर्थ रहीं । पहली दफा स्वतन्त्र भारत के राजनीतिक इतिहास में भारत की सरकार लोकसभा में अल्पमत की सरकार के रूप में परिणत हो गई और फिर भी विरोधी पार्टियों की मदद से वह सरकार काम करती रही । इससे विरोधी पार्टियों के बाँझपन और उनकी सत्ता के प्रति सम्पूर्ण उदासीनता का प्रमाण मिलता है । पार्टियों के बीच इससे अधिक विरोध रहते हुए भी फ्रान्स, इटली, जर्मनी आदि देशों में मिली-जुली सरकारें बनी हैं और सफल रही हैं ।

राजनीति का कोई भी विद्यार्थी इस तथ्य से इन्कार नहीं कर सकता कि जहाँ तक राज्यों का सवाल है—और शायद केन्द्र में भी—मिली-जुली सरकारों की सम्भावना को टाला नहीं जा सकता । आज भी केरल और उड़ीसा में मिली-जुली सरकारें काम कर रही हैं । 1971 के चुनाव में सत्ता कांग्रेस को आशातीत सफलता मिली है । किस हद तक यह सफलता सही है या गलत यह विवाद का प्रश्न है । पर चुनाव के नतीजों से यह पाया गया कि जहाँ-जहाँ लोकसभा और विधानसभा के चुनाव साथ-साथ हुए वहाँ-वहाँ सत्ता कांग्रेस की जीत उतनी करारी नहीं हुई । लोकसभा तथा विधानसभा के चुनावों में मुद्दे अलग-अलग

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

होते हैं। विधानसभा के चुनाव में स्थानीय समस्याओं का असर ज्यादा रहता है बनिस्बत लोकसभा के। फिर साधन में भी अन्तर रहता है।

इसलिए सम्भव है कि आगामी विधानसभा के चुनावों में, जो 1972 में होने वाले हैं, नतीजे 1971 के चुनाव से भिन्न हों। 1971 के चुनाव में दिये गये नारों की उपयोगिता समाप्त हो चुकी है। उन वायदों को पूरा न कर पाने के नये-नये कारण ढूँढ निकाले जायेंगे। बंगला देश की समस्या, खास तौर पर वहाँ से आये हुए विस्थापित, इसके लिए आधी वजूहात बनने वाले हैं। फिर भी स्थिति में बहुत ज्यादा फरक पड़ने वाला नहीं है। कांग्रेस की सफलता के बावजूद कांग्रेस के संगठन की हालत नाजुक है। तदर्थ समितियाँ बनाकर कुछ नापसन्द व्यक्ति सत्ता के केन्द्रों से हटवाये जा सकते हैं पर इससे संगठन को बल नहीं मिल सकता। इसके विपरीत अन्दरूनी झगड़ों को बढ़ावा मिल सकता है। और यह बात उड़ीसा में हुए चार उप-चुनावों से और भी स्पष्ट हो गई है। सरकारों में होने के कारण कांग्रेस जिन्दा है, संगठन की ताकत से नहीं। जिस अनुपात में सरकार की ताकत में बढ़ौती हो रही है, उसी अनुपात में संगठन कमजोर होता जा रहा है। सरकार के मन्त्रियों पर, नेताओं पर, विशेषकर एक व्यक्ति पर, कांग्रेस की निर्भरता बढ़ती जा रही है। ऐसी स्थिति में दो ही परिणाम हो सकते हैं : या तो देश तानाशाही की ओर तेजी से बढ़ेगा और या विरोधी पार्टियों की ताकत अगले कुछ वर्षों में बढ़ेगी। पर इसके लिए आवश्यक है कि विरोधी पार्टियाँ अपनी विरोध की भूमिका सही मायने में अदा करें।

कांग्रेस का संगठन दुर्बल होता जा रहा है। समस्याओं का समाधान तो दूर रहा, वे और भी भयानक रूप लेती जा रही हैं। ऐसी स्थिति में असन्तोष की भावना में वृद्धि होना स्वाभाविक है। इस असन्तोष को विरोधी पार्टियाँ ठोस रूप दे सकती हैं बशर्ते कि इनमें दूरदर्शिता हो और जोखिम उठाने वाली राजनीति पर चलने का साहस हो। इसके लिए सहूलियत की राजनीति छोड़कर परिवर्तन की राजनीति पर चलने का निर्णय करना पड़ेगा। पर दुःख की बात है कि भारत में विरोधी पार्टियों के अपने लक्ष्य और साधनों के बारे में अभी भी उलझन जारी है। जहाँ तक सत्ता कांग्रेस का प्रश्न है, वह एक व्यक्ति के भविष्य पर निर्भर है। कांग्रेस का भविष्य इसके भविष्य से जुड़ा हुआ है। देश तथा पार्टी पर जो विपत्तियाँ आई हुई हैं उन्हें कांग्रेस झेल नहीं सकती। सरकार की गलतियों के कारण मामला पेचीदा होता जायेगा। पर ऐसी स्थिति में भी कांग्रेस की स्थिति सुदृढ़ है। इसका मुख्य कारण यह है कि विरोधी पार्टियों को लकवा मार गया है। विरोधी दलों में सिर्फ दो ही इस समय सक्रिय हैं—मार्क्सवादी कम्युनिस्ट और जनसंघ। मार्क्सवादी अपनी गलतियों के कारण बंगाल और केरल में अकेले पड़ गये और आज सरकारी प्रहार के शिकार हैं। जब वे राज्य सरकारों में सत्ता में थे, तब वे दूसरी पार्टियों को समाप्त करने में लगे रहे और कुरसी कायम रखने के लिए केन्द्र में कांग्रेसी सरकार की रक्षा करते रहे। मार्क्सवादी व्याख्या के चक्कर में आकर उन्हें जनसंघ के कल्पित फासीवाद से केन्द्रीय शासन के मुकाबले अधिक खतरा नजर आने लगा और 1969 से लेकर पिछले चुनाव तक जब भी अल्पमत की केन्द्रीय सरकार को कोई खतरा आ पहुँचता तब ये सरकार की रक्षा को आ जाया करते थे। 1971 के चुनाव के बाद सत्ताधारी कांग्रेस को जब इनकी जरूरत खत्म हो गयी, तब पहला प्रहार इन पर शुरू हो गया। मार्क्सवादी पार्टी की वर्तमान स्थिति मार्क्सवादियों की अदूरदर्शिता का और राजनीतिक सूझबूझ के

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अभाव का फल है। इसके साथ एक और गलती इन्होंने और इनसे हाल ही में अलग हुए नक्सलपंथियों ने की है। वह है राजनीतिक जीवन में हिंसा का प्रयोग। राजनीति को रूमानी नजरों से देखने वालों को चीन और वियतनाम और क्यूबा का इतिहास भारत में दुहराने का शौक लग गया। न तो भारत 1930–40 का चीन है और न ही वियतनाम और क्यूबा जैसे कोई छोटा और अविकसित (दमन की मशीनरी की दृष्टि से) देश। मार्क्सवादी हिंसा दूसरे दलों के मुकाबले तो कारगर हो सकती थी पर केन्द्रीय सत्ता से टकराने की क्षमता इसमें कभी भी न थी और न आगे के युग में आ पायेगी। मार्क्सवादी और नक्सलवादी हिंसा ने राज्य की संघटित हिंसा को न सिर्फ बुलावा दिया, बल्कि उसे औचित्य प्रदान किया। यह जानते हुए भी कि सरकारी मशीनरी की ओर से या उसके बढ़ावा देने पर जुड़े और किराये के लोग अत्याचार कर रहे हैं बंगाल की जनता ने सरकारी दमन को मौन और कहीं-कहीं व्यक्त समर्थन दिया है। भारतीय परिस्थिति में माओ या गुयेवेरा से गांधी और लोहिया अधिक संगत और व्यावहारिक हैं। मार्क्सवादियों तथा नक्सलवादियों की हिंसा का अव्यावहारिक मार्ग छोड़ व्यापक सिविल नाफरमानी का रास्ता अख्तियार करना चाहिए। मार्क्सवादी पार्टी जनता की पार्टी है। जनता की ताकत को मूर्त रूप देने की उनके संगठन में क्षमता है। जनता के वे विश्वासपात्र हैं। उन्हें अपने इस मूल धन से फायदा उठाना चाहिए।

दूसरी तरफ विरोध का एक स्वरूप जनसंघ है। मार्क्सवादी पार्टी की तरह कांग्रेस के लिए इनकी चुनौती इतनी गम्भीर नहीं है। पर बांगला देश के प्रश्न को लेकर जनसंघ ने जिस पैमाने पर आन्दोलन छेड़ा उससे 1971 के चुनाव के बुरे नतीजों के बावजूद इसमें नई जान दिखायी पड़ी है। सम्भवतः इसका राजनीतिक फल अगले चुनाव में इसे प्राप्त हो। पर जनसंघ का कांग्रेस विरोध कभी भी तीखा और अन्त तक नहीं रह पाता। ऐसा लगता है कि सरकार का विरोध करने की अपेक्षा सहयोग करने की तबियत इसमें अधिक रहती है। कांग्रेस ने अपनी चालाकी से जनसंघ को एक राजनीतिक अछूत बनाये रखने का प्रयास किया है। देश में साम्प्रदायिकता से सबसे अधिक फायदा कांग्रेस उठाया करती है। जनसंघ का मुसलमानों के प्रति संकीर्ण दृष्टिकोण इसमें सहायक होता है। सम्भवतः इस कारण जनसंघ ऐसे हर मौके की तलाश में रहता है जिससे कांग्रेस के साहचर्य या अनुग्रह से उसका अछूतापन कम या खतम हो। ऐसे आचरण से आत्मविश्वास की कमी अधिक झलकती है वर्ना यह किसी विरोधी पार्टी का काम नहीं है कि सरकार द्वारा किसी दूसरे देश के साथ की गई सन्धि का समर्थन किया जाये या युद्ध छिड़ने के पहले ही सरकार को हर प्रकार के समर्थन की घोषणा कर दी जाये। युद्ध के समय भी जनतन्त्र में विरोध का धर्म विरोध ही करना होता है—सरकार की गलतियों को लोगों को बताना होता है। विरोध का काम सरकार चलाने की अपेक्षा कम देशभक्ति का काम नहीं है। मुश्किल यह है कि देश में विरोधी पार्टियाँ अपने कर्तव्य को पहचानती नहीं हैं। सरकार को समर्थन देने में मार्क्सवादी पार्टी भी पीछे नहीं रही। उसे परेशानी रहती है कि वह कैसे देश के प्रति अपनी वफादारी साबित करे। निःसन्देह जनसंघ को अपना विरोध पक्ष और भी तीव्र करना होगा। इसके बल पर अगले चुनाव में मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और बिहार में सफलता मिल सकती है। जनसंघ का संगठन और दलों से अच्छा है और उसके कार्यकर्ताओं में एक लगन है। जितना जनसंघ का आधार विस्तृत हो रहा है, उतना ही उसके पहले के स्वरूप में परिवर्तन आता जाता है। आर्थिक

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्रश्नों पर जनसंघ का विचार धीरे-धीरे बदलता जा रहा है। फिर रोजगार के अधिकार को मौलिक अधिकारों में शामिल करना, हर प्रकार की विदेशी सहायता को तुरन्त बन्द करना तथा 18 साल के सभी वयस्क लोगों को मताधिकार देना इन माँगों को अपनी माँग बनाकर जनसंघ ने समय के साथ कदम मिलाने की कोशिश की है। इस व्यावहारिक दृष्टि को देखते हुए ऐसा लगता है कि जनता के दबाव में आकर जनसंघ अपने चरित्र में और भी आवश्यक परिवर्तन लाये। आगामी चुनाव के बाद मिली-जुली सरकार की सम्भावना फिर से उभर सकती है। इसलिए ऐसे न्यूनतम कार्यक्रम की ओर ध्यान देना आवश्यक है जिस पर अधिक से अधिक विरोधी पार्टियों में सहमति हो पाये। बावजूद विपरीत घोषणाओं के स्थिति ऐसी बन सकती है, जब कांग्रेस के अलावा अन्य दलों को सरकार बनाने की जिम्मेवारी उठानी पड़े। अगर अल्पमत की सरकार भी बने, फिर भी उसे कार्यक्रमों के आधार पर अन्य दलों का समर्थन हासिल करना पड़ेगा। इसलिए जनसंघ को अपने कार्यक्रमों को और भी अधिक लोकप्रिय बनाना पड़ेगा।

विरोधी पार्टियों में अन्य दल उल्लेखनीय नहीं हैं। भारतीय साम्यवादी दल कांग्रेस का पिछलग्गू दल बनकर रह गया है। इसके नेताओं को कांग्रेस के सहारे पद और प्रतिष्ठा मिल जाया करती है। पर जनता पर इसका असर खत्म होता नजर आ रहा है। समाजवादी दलों में प्रसोपा का एक हिस्सा संसोपा में जा मिला। अधिकतर लोग कांग्रेस में चले गये या भिन्न-भिन्न अवस्था में उनका प्रभाव समाप्तप्राय हो गया। संसोपा-प्रसोपा के विलय के समय संसोपा आपसी झगड़ों से जर्जर अवस्था में थी। 1965–67 की राजनीतिक उथल-पुथल के दर्मियान संसोपा में लोगों की उम्मीद आ बँधी थी। पर डा० लोहिया की अकाल मृत्यु के कारण और बाद में संसोपा के नेताओं की गलतियों से पार्टी नीति नष्ट होती गयी और अन्त में उसने विलय का रूप ले लिया। नयी सोशलिस्ट पार्टी अभी तक जनता की नजर को पकड़ नहीं पायी है। इसमें अभी नीति और कार्यक्रमों के मामले में सफाई आनी बाकी है। जब तक लोहिया की नीतियों पर आधारित प्रखर कांग्रेस विरोध का रोल समाजवादी पार्टी अदा नहीं करती, तब तक जनमानस में यह पार्टी बैठ पायेगी इसमें सन्देह है।

1969 के बाद देश में कोई अखिल भारतीय पार्टी सही मायने में रह नहीं गयी। सत्ता कांग्रेस भी सभी राज्यों में नहीं रही। तमिलनाडु, उड़ीसा, गुजरात, मैसूर जैसे राज्यों में कांग्रेस नहीं के बराबर है। 1971 के चुनाव में जीत के कारण इन राज्यों में बची हुई कांग्रेस में कुछ जान आ गयी है। पर यह अवस्था स्थायी रहने वाली नहीं है। संगठन की दृष्टि से सत्ता कांग्रेस कमजोर होती जा रही है। इसलिए तथाकथित अखिल भारतीय पार्टियाँ दरअसल क्षेत्रीय असर की पार्टियाँ बनकर रह गयी हैं। ये पार्टियाँ इस सत्य को स्वीकार करने से कतराती हैं। जितनी जल्दी ये दल इसे स्वीकारेंगे उतनी ही जल्दी भारत में राजनीति स्वाभाविक रूप से चल पायेगी। क्षेत्रीय पार्टियाँ होते हुए भी कुछ समान लक्ष्य और नीति-कार्यक्रम के आधार पर पार्टियों के बीच संघीय स्तर पर तालमेल हो सकता है। किसी एक पार्टी की सभी राज्यों में शाखाएँ और फिर समान रूप से असर होना स्वाभाविक या जरूरी नहीं है और सर्व-भारतीय पार्टी का होना भारत की एकता के लिए आवश्यक भी नहीं है। मर्यादित क्षेत्रीयता राष्ट्रीय एकता को मजबूत करेगी, कमजोर नहीं और इस पहलू को नजर-अन्दाज करना कितना खतरनाक हो सकता है यह बांगला देश की घटनाओं से

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

और भी स्पष्ट हो गया है। और यह भी सही है कि क्षेत्रीय पार्टियों के जरिये ही सत्ता-कामी लोगों की प्रगति तेजी से हो पाती है। एक बड़े देश में क्षेत्रीयता की सीमित भूमिका रहती है। भाषावार प्रान्त के निर्माण के समय आंशिक रूप से इसका बोध हुआ था। पर आज इसकी आवश्यकता और अधिक महसूस होने लगी है। पिछले चौबीस सालों में जो भी थोड़ी बहुत रेंगते हुए, देश की प्रगति हुई, वह अधिकतर तटवर्ती या सीमान्त राज्यों में। मध्य प्रदेश, इससे अछूता रह गया। बल्कि मध्य देश का इलाका बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, आन्ध्र का तेलंगाना का हिस्सा, उड़ीसा का आदिवासी वाला इलाका गरीबी, भुखमरी और पिछड़ेपन का शिकार है। इन एककों के पिछड़ेपन को खत्म करने का असरदार आन्दोलन कोई क्षेत्रीय पार्टी ही कर सकती है। उत्तर प्रदेश के नेताओं के प्रधानमन्त्री बन जाने की वजह से उत्तर प्रदेश तथा मध्य देश के पिछड़ेपन के सवाल को पीछे ढकेल दिया गया है। पर यह प्रश्न अब टाला नहीं जा सकता। अगले दशक में क्षेत्रीय विषमता का सवाल भारत में जोरों से सिर उठायेगा। इसके सही समाधान पर ही भारत की एकता टिक सकती है वर्ना यहाँ भी कई बांगला देश बन जायेंगे।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारतीय राजनीति और राजनीतिक दल

ओम प्रकाश दीपक

लोकसभा के पाँचों आम चुनावों पर अगर नजर डालें तो सबसे बड़ी बात यही दीख पड़ती है कि भारतीय राजनीति में वोट का एक खास ढाँचा बन गया है। उस ढाँचे के अन्दर चूँकि काफी बड़े पैमाने पर हेर-फेर होते रहते हैं, इस कारण यह तथ्य अभी तक बहुत कुछ उपेक्षित रह गया है कि 1951 से लेकर 1971 तक उस ढाँचे में कोई खास फर्क नहीं पड़ा है। पाँचों आम चुनावों में कांग्रेस पार्टी के वोट 40 और 50 प्रतिशत के बीच रहे हैं। 1967 के चुनावों को छोड़कर, यह घट-बढ़ कभी ऐसी नहीं रही कि इसका लोकसभा में कांग्रेस पार्टी की सदस्य-संख्या से कोई सीधा सम्बन्ध जोड़ा जा सके। बल्कि 1971 के चुनावों में सत्तारूढ़ कांग्रेस के वोट केवल 43 प्रतिशत थे। लेकिन लोकसभा में कांग्रेस पार्टी की सदस्य-संख्या कभी भी इतनी नहीं थी जितनी कि पाँचवीं लोकसभा में है।

इसका दूसरा पहलू है कि इन बीस सालों में विपक्षी दलों में प्रत्येक के वोट लगभग दस प्रतिशत के नीचे ही घटते-बढ़ते रहे हैं और कभी भी ऐसा नहीं हुआ कि किसी एक विपक्षी दल के पचास से अधिक सदस्य चुनकर लोकसभा में आ सके हों।

इसमें कोई शक नहीं कि राजनीति के पश्चिमी समीक्षकों की परिभाषा के अनुसार भारत एक लोकतान्त्रिक अर्थात् खुला समाज है। सबको राजनीतिक संगठन बनाने की, अखबार निकालने की, लिखने और बोलने की खुली छूट है। पश्चिमी धारणाओं के अनुसार चुनाव स्वतन्त्र होते हैं। शासक दल के पक्ष में सेना और सशस्त्र पुलिस का इस्तेमाल नहीं होता। मतदाताओं को अगर किसी तरह से मजबूर किया जाता है तो यह काम राजनीतिक दल स्वयं करते हैं। अगर जाली वोट डलवाये जाते हैं, तो सभी दल इसमें हिस्सेदार होते हैं।

फिर भी यह तथ्य हमारे सामने है कि देश में बीस सालों से एक ही पार्टी हर चुनाव में सत्तारूढ़ होती रही है, और उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि, जन-समर्थन को कसौटी पर देखें तो, उसका कोई विकल्प देश के सामने नहीं है। कोई और दल ऐसा नहीं है जिसे मिलने वाले जन-समर्थन के आधार पर यह कहा जा सके कि निकट भविष्य में उसके वोट बढ़कर 25 या 30 प्रतिशत भी हो जा सकते हैं। इस प्रकार, व्यवहार में, भारत में एकदलीय शासन है, और ऐसा लगता है कि फिलहाल रहेगा, क्योंकि विपक्ष में किसी विकल्प के निर्माण की सम्भावना भारत की आन्तरिक राजनीति में नजर नहीं आती।

फिलहाल अपने को इस आन्तरिक राजनीति तक ही सीमित रखे। कांग्रेस संगठन के अन्दर की ही नहीं, उसके बाहर की राजनीति का भी एक बड़ा हिस्सा ऐसा है जो दरअसल कांग्रेस की ही राजनीति चलाता है। उसका एक पैर कांग्रेस के अन्दर होता है, एक बाहर।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

यह सिलसिला 1951 में बनी किसान मजदूर प्रजा पार्टी के साथ ही चला आ रहा है। बल्कि शायद और भी पहले जाकर कांग्रेस पार्टी के साथ साम्यवादी और समाजवादी दलों के रिश्तों को भी ध्यान में रखना चाहिए। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी तो 1943 में अपने जन्म के समय से ही कांग्रेस का एक अंग थी। साम्यवादी दल 1936 में कांग्रेस में शामिल हो गया था। यहाँ हम एक दिलचस्प तथ्य को देख सकते हैं जिससे कांग्रेस पार्टी के तत्कालीन और बाद के चरित्र को समझने में सहायता मिल सकती है। कांग्रेस के अन्दर ये दोनों ही दल, कम से कम इनके अधिकांश प्रमुख नेता, श्री जवाहरलाल नेहरू को अपना नेता मानते थे, श्री नेहरू को जनसाधारण और कांग्रेस संगठन में भी व्यापक समर्थन प्राप्त था, और गांधी जी का आशीर्वाद भी। कुछ अरसे की दोस्ती के बाद ही समाजवादी और साम्यवादी फिर एक दूसरे के कट्टर विरोधी और आलोचक बन गये थे। गांधी जी के आलोचक दोनों ही थे। (गांधी जी और समाजवादियों के बीच तनाव की जगह लगाव का सम्बन्ध बहुत बाद में बना) लेकिन श्री नेहरू सबके प्रियपात्र थे।

चूँकि सत्तारूढ़ होने के बाद कांग्रेस पार्टी श्री नेहरू की कांग्रेस थी (और है) इस कारण पिछले बीस सालों में भी हम देख सकते हैं कि साम्यवादी और समाजवादी दलों का नेतृत्व (कुछ अपवादों को छोड़कर) विपक्ष में रहकर भी एक स्तर पर हमेशा कांग्रेस पार्टी से जुड़ा रहा और उसके साथ सहयोग की सम्भावनाएँ खोजता रहा, यद्यपि साम्यवादी दल का शायद कोई भी राष्ट्रीय स्तर का नेता कांग्रेस पार्टी में शामिल नहीं हुआ। समाजवादियों की क्षति इस अर्थ में अधिक हुई कि उसके कई नेताओं ने राजनीति से संन्यास ले लिया, और कम से कम एक, श्री अशोक मेहता, बाद में कांग्रेस में शामिल हो गये।

1951 में बनी किसान मजदूर प्रजा पार्टी से लेकर 1969 में बनी संगठन कांग्रेस तक, दो आम चुनावों के बीच एक या अधिक बार ऐसा सिलसिला चलता है कि छोटे या बड़े पैमाने पर कुछ लोग टूटकर कांग्रेस से निकलते हैं—इस आधार पर कि वे कांग्रेस के नहीं, कुछ खास कांग्रेसी नेताओं के विरुद्ध हैं। इन दलों की सबसे बड़ी भूमिका यह रही है कि कांग्रेस पार्टी हमेशा इनकी मातृ-संस्था रही है, उचित समय और मूल्य पर इनके नेता हमेशा उसके आँचल की छाया में जाने को तैयार रहते हैं, और विपक्षी राजनीति को ये हमेशा कांग्रेस पार्टी के इर्द-गिर्द ही बनाये रखते हैं। किसान मजदूर प्रजा पार्टी और समाजवादी दल के विलय के बाद, शायद भारतीय राजनीति में एक विकल्प भी बन सकता था, लेकिन बना नहीं। किसान मजदूर प्रजा पार्टी के नेताओं ने संन्यास नहीं लिया, वे लगभग सारे ही कांग्रेस में लौट गये।

जन-कांग्रेस, बंगला कांग्रेस, उत्कल कांग्रेस, केरल कांग्रेस, लोकतान्त्रिक दल, भारतीय क्रान्ति दल, जनता पक्ष, और अन्य ऐसे कितने दल हैं, इसका सही हिसाब जानना भी मुश्किल है। भारतीय राजनीति में इनकी एक ही महत्त्वपूर्ण भूमिका है। ये स्वयं देश की राजनीति में न कांग्रेस पार्टी का विकल्प बन सकते हैं, न बनना ही चाहते हैं। वे पूरी तरह प्रादेशिक दल भी नहीं बनते क्योंकि सार्वदेशिक राजनीति में कांग्रेस पार्टी या उसके किसी हिस्से के साथ उनका सीधा या तिरछा रिश्ता बराबर बना रहता है। संगठन कांग्रेस का मामला प्रकट रूप में इनसे भिन्न लगता है क्योंकि उसमें कांग्रेस के कई भूतपूर्व अध्यक्ष और महामन्त्री शामिल हैं कई भूतपूर्व केन्द्रीय मन्त्री, प्रदेशों के मुख्य मन्त्री और मन्त्री भी हैं। भूतपूर्व उप-प्रधानमन्त्री

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

श्री मोरारजी देसाई भी हैं। लेकिन श्री देसाई को छोड़कर संगठन कांग्रेस का कोई नेता ऐसा नहीं है जिसके अनुयायी उसके प्रदेश के बाहर भी हों, और धीरे-धीरे श्री देसाई की हैसियत भी घटी है। गुजरात के बाहर उनका प्रभाव अब नगण्य ही रह गया है। श्री कामराज के अलावा संगठन कांग्रेस के नेताओं का जनता में भी कोई प्रभाव नहीं है। दरअसल संगठन कांग्रेस के लगभग सारे ही नेता कांग्रेस के प्रादेशिक सूबेदार थे जिनकी ताकत राजसत्ता के सहारे खड़ी थी। विपक्षी दल के रूप में आते ही संगठन कांग्रेस के नेताओं की शक्ति का आधार भी खत्म हो गया। अब वे अधिक से अधिक स्थानीय रूप में अपनी जाति के नेता रह गये हैं।

लेकिन संगठन कांग्रेस जिस हालत में है, है 'कांग्रेस' ही और जब तक रहेगी तब तक देश की राजनीति में उसकी मुख्य भूमिका वही रहेगी जो अन्य कांग्रेसों की है—राजनीति को कांग्रेस के इर्द-गिर्द बनाये रखना। किसी राजनीतिक विकल्प के विकास में संगठन कांग्रेस भी बाधक ही रहेगी। सत्तारूढ़ कांग्रेस के साथ उसका सीधा-तिरछा रिश्ता बराबर बना रहेगा।

लोकसभा के पिछले चुनावों में अभूतपूर्व सफलता के बाद प्रत्यक्ष रूप में ऐसा लगता है कि सत्तारूढ़ कांग्रेस की स्थिति लगभग वही हो गई है जो 1961–62 तक कांग्रेस की श्री नेहरू के नेतृत्व में थी। बल्कि एक तरह से उससे भी अच्छी क्योंकि उसका कोई सम्भव विकल्प भी इस समय नहीं है, और न देश में कोई ऐसा नेता अब है जिसकी बात सुनने और जिसके पीछे चलने को देश के लोग तैयार हों। श्रीमती गांधी की शक्ति दल में और सरकार में अपने पिता से भी कहीं अधिक है, और उनके बारे में लोग अतीत के आधार पर नहीं, इस आधार पर फैसला करेंगे कि वे अब और आगे क्या करना चाहती हैं, करती हैं और कर पाती हैं। लेकिन दो बातों को ध्यान में रखना चाहिए। श्रीमती गांधी की, और उनके साथ सत्तारूढ़ कांग्रेस की, शक्ति के पीछे एक तत्त्व यह है कि वे साहसी और निर्मम दोनों ही हैं, कम से कम देश की आन्तरिक राजनीति में। उन्होंने काफी बड़े जोखिम उठाकर अपनी ताकत बनाई है। लेकिन साहसिक राजनीति का अपना एक तर्क होता है। श्रीमती गांधी की शक्ति को स्थायित्व प्राप्त हो सकता है अगर वे ऐसी स्थिरता ला सकें कि फिर कोई बड़ा जोखिम उठाना उनके लिए जरूरी न रहे। अन्यथा फिर हर अगला कदम पहले से अधिक साहसिक और जोखिम वाला होगा और उन्हें हर कदम इस तरह उठाना होगा कि उनके पीछे हर बार और अधिक शक्ति संचित हो।

यहाँ सत्तारूढ़ कांग्रेस की शक्ति के दूसरे तत्त्व को ध्यान में रखना होगा। इस दूसरे तत्त्व के दो पहलू हैं। 1970 के पूरे साल में श्रीमती गांधी ने विपक्ष के रूप में संगठन कांग्रेस, जनसंघ, और स्वतन्त्र पार्टी को चुना। अन्य सभी दलों को या तो उन्होंने अपने पक्ष में कर लिया या उनमें फूट और दुविधा पैदा कर दी। प्रजा समाजवादी दल को उन्होंने राजनीति में अपना पिछलग्गू जैसा बना लिया। लेकिन चुनाव के समय उससे समझौता वार्त्ता तोड़कर उसे सर्वथा पंगु और लाचार कर दिया। संयुक्त समाजवादी दल की स्थिति एक अर्थ में और बुरी हो गयी। राष्ट्रपति चुनाव के समय संस्था का समर्थन श्रीमती गांधी को मिला, लेकिन चुनाव के समय संसोपा चार-दलीय संयुक्त मोर्चे में शामिल हो गयी (जनसंघ, संगठन कांग्रेस और स्वतन्त्र पार्टी के साथ) जिसमें संयुक्त घोषणापत्र भी नहीं था, अन्यथा एक दल का सदस्य दूसरे दल के टिकट पर लड़े, यहाँ तक हुआ। संसोपा भारतीय राजनीति में चमगादड़

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

बन गयी । संगठन साफ-साफ दो हिस्सों में बँट गया । यह नाटक एक अन्य स्तर पर भी हुआ । अप्रैल में पार्टी के दो हिस्सों में टूटने से बचने का नाटक जून में प्रसोपा के साथ विलय में बदल गया ।

अगस्त से सोशलिस्ट पार्टी है । इस अर्थ में जरूर है कि उसका एक दफ्तर है, उसके अफसर हैं । लेकिन जहाँ तक भारतीय राजनीति का प्रश्न है, और कुछ नहीं है । शायद मैं अपने फैसले में कुछ जल्दबाजी कर रहा हूँ लेकिन मुझे लगता है कि ये दफ्तर और अफसर महज एक 'ममी' हैं जो अपने अन्दर एक मरी हुई लाश को लपेटे हैं । मेरा यह भी ख्याल है कि उसके अन्दर कुछ जीवंत तत्त्व भी हैं । लेकिन हर हालत में, वर्तमान सन्दर्भों में समाजवादी आन्दोलन का कोई भविष्य मुझे नहीं दिखाई देता । समाजवादी दल मूर्च्छा से जागेगा भी तो उसकी भूमिका क्या होगी ? अगर दल मर चुका है तो उसके अन्दर के जीवंत तत्त्व उससे निकल भी आये तो क्या करेंगे ? इन सवालों का फिलहाल कोई जवाब नहीं है ।

साम्यवादी दल (दक्षिणपंथी) के साथ सत्तारूढ़ कांग्रेस का काफी लम्बे अरसे के लिए बड़ा नजदीकी रिश्ता बन चुका है । 1970 में दोनों साम्यवादी दलों ने ही श्रीमती इन्दिरा गांधी को सत्तारूढ़ बनाये रखा । पूरे साल मार्क्सवादी-कम्युनिस्ट पार्टी भी दुविधा में फँसी रही—केन्द्र सरकार और सत्तारूढ़ कांग्रेस का विरोध भी, समर्थन भी । सैद्धान्तिक विश्लेषण में विरोध, लोकसभा में वोट के समय समर्थन । लेकिन मार्क्सवादी चमगादड़ नहीं बने, इसलिए अपनी शक्ति को बहुत कुछ बचा ले गये । चुनाव उन्होंने अकेले बिना किसी से समझौता किये लड़ा । इसलिए केरल और बंगाल में सत्तारूढ़ कांग्रेस के हमले का मुख्य केन्द्र होने के बावजूद (बंगाल में तो मार्क्सवादियों को हटाने के लिए नक्सलपंथियों ने भी सत्तारूढ़ कांग्रेस का समर्थन किया) इन प्रदेशों में उनके आधार को कोई गम्भीर क्षति नहीं पहुँची । लेकिन चुनाव के पहले की उनकी दुविधा का लाभ तो सत्तारूढ़ कांग्रेस ने उठाया ही । साम्यवादी दल (दक्षिणपंथी) का सत्तारूढ़ कांग्रेस के साथ सहयोग उस नीति के साथ सीधे जुड़ा हुआ है जो 1960 में मास्को में हुए दुनिया के साम्यवादी दलों के सम्मेलन में स्वीकार की गयी थी । यही कारण है कि कांग्रेस पार्टी के अन्दर झगड़ा पैदा होते ही 1969 में सबसे पहले साम्यवादी दल ने ही श्रीमती इन्दिरा गांधी का समर्थन करने की खुली घोषणा की थी । अब भारत-सोवियत मैत्री सन्धि के फलस्वरूप यह मानकर चला जा सकता है कि सत्तारूढ़ कांग्रेस के साथ साम्यवादी दल का नजदीकी सम्बन्ध बना रहेगा ।

इनके अलावा दो दल और भी हैं जिनके साथ सत्तारूढ़ कांग्रेस का नजदीकी सम्बन्ध है । डा० अम्बेदकर के जीवनकाल में परिगणित जाति संघ और कांग्रेस के बीच, संविधान-निर्माण की अवधि को छोड़कर, कभी मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध नहीं रहे थे । अंग्रेजी राज ने किसी हद तक डा० अम्बेदकर का इस्तेमाल कांग्रेस के विरुद्ध भी राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान किया था । लेकिन डा० अम्बेदकर की मृत्यु के बाद रिपब्लिकन पार्टी में (परिगणित जाति संघ पहले ही रिपब्लिकन पार्टी में रूपान्तरित हो गया था) फूट पड़ गयी । धीरे-धीरे रिपब्लिकन पार्टी के नेता कांग्रेस में शामिल होने लगे । 1970 में रिपब्लिकन पार्टी का वह हिस्सा भी सत्तारूढ़ कांग्रेस से जुड़ गया जो उस समय तक कांग्रेस का विरोधी था । इसी प्रकार, तमिलनाडु में द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम मूलतः पुरानी 'जस्टिस पार्टी' का उत्तराधिकारी है । सत्तारूढ़ कांग्रेस ने तमिलनाडु में श्री कामराज से सीधे न लड़कर द्रमुक के हाथ में तमिलनाडु की राजनीति का

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

नेतृत्व छोड़ दिया। इस प्रकार सत्तारूढ़ कांग्रेस ने पाँचवीं लोकसभा के चुनाव को ऐसा रूप देने में सफलता पायी कि चुनाव एक तरफ तो दोनों कांग्रेसों के बीच था, दूसरी तरफ विपक्ष में केवल दो दल थे—जनसंघ और स्वतन्त्र पार्टी।

इसके समकक्ष ही सामाजिक स्तर पर सत्तारूढ़ दल ने सार्वदेशिक स्तर पर एक संयुक्त मोर्चा बनाया जिसके तीन मुख्य तत्त्व थे : ब्राह्मण, हरिजन और मुसलमान। सत्तारूढ़ कांग्रेस का संगठन इस प्रकार हुआ कि प्रधानमन्त्री के हाथ में सत्ता केन्द्रित होने के अलावा, सभी स्तरों पर संगठन का नेतृत्व मुख्यतः ब्राह्मणों के हाथ में रहा। लेकिन हर सम्भव मौके पर श्री जगजीवन राम और श्री फखरुद्दीन अली अहमद को प्रमुख भूमिकाएँ दी गईं। श्री जगजीवन राम दल के अध्यक्ष बने, और अब श्री संजीवैया हैं। श्रीमती गांधी के आक्रमण और आलोचनाओं के मुख्य लक्ष्य थे—हिन्दू साम्प्रदायिकता और सामन्तशाही। इन तीनों समूहों के ही वोट मिलकर लगभग 35 प्रतिशत हो जाते हैं। लेकिन सत्तारूढ़ कांग्रेस की रणनीति में प्रादेशिक स्तर पर इनके अलावा अन्य समूह भी संयुक्त मोर्चे में शामिल किये गये—महाराष्ट्र में मराठे, आन्ध्र प्रदेश में रेड्डी, बिहार और उत्तर प्रदेश में यादव और कुर्मी, तथा हरियाणा में जाट।

प्रधानमन्त्री की साहसिकता, और विपक्षी दलों को निरस्त्र करने के साथ सामाजिक स्तर पर एक संयुक्त मोर्चा, सत्तारूढ़ कांग्रेस की शक्ति के ये मुख्य आधार हैं। इस शक्ति को स्थायित्व मिले, इसके लिए जैसे राजनीतिक स्तर पर यह जरूरी है कि या तो किसी तरह की सन्तोषजनक स्थिरता आये, या तेजी से परिवर्तन हों, जिनसे सत्तारूढ़ कांग्रेस की शक्ति बढ़ती रहे, उसी तरह सामाजिक स्तर पर यह जरूरी है कि या तो 1970 में बना संयुक्त मोर्चा रहे, या उसकी जगह कोई नया मोर्चा बने जो न्यूनाधिक स्थायी हो।

लोकसभा चुनावों के बाद बड़ी हद तक स्वतन्त्र पार्टी की शक्ति का भी विघटन हुआ है। इसके कई कारण हैं। स्वतन्त्र पार्टी तीन प्रकार के तत्त्वों से मिलकर बनी थी। इसमें कांग्रेस के कुछ असन्तुष्ट नेता थे—तमिलनाडु में श्री कामराज द्वारा अपदस्थ नेता राजाजी, आन्ध्र में रेड्डियों द्वारा अपदस्थ श्री रंगा, और गुजरात में श्री मोरारजी देसाई द्वारा अपदस्थ श्री कन्हैयालाल मुंशी। दूसरे, इसके पीछे कुछ असन्तुष्ट पूँजीपति और पुराने आई० सी० एस० अफसर थे। लेकिन इसकी सबसे बड़ी शक्ति थे पुराने रजवाड़े और जागीरदार। इन्हीं रजवाड़ों और जागीरदारों की शक्ति के कारण स्वतन्त्र पार्टी की शक्ति मुख्यतः राजस्थान, उड़ीसा और गुजरात में केन्द्रित थी। राजाजी का काम द्रमुक ने कर दिया और अब वे इतने वृद्ध हो चुके हैं कि राजनीति में कोई सक्रिय भूमिका नहीं निभा सकते। श्री मुंशी की मृत्यु हो गई। श्री रंगा की शक्ति हमेशा सीमित ही रही, और उसका बढ़ना किसी प्रकार सम्भव नहीं। इधर रजवाड़ों का झुकाव भी बदला है। सत्तारूढ़ कांग्रेस ने राजनीतिक अभियानों के द्वारा उनकी शक्ति गुजरात और राजस्थान में काफी तोड़ी है। इसके अलावा पुराने सामन्ती तत्त्वों का झुकाव जनसंघ की सक्रियता और स्वतन्त्र पार्टी की घटती हुई शक्ति के कारण जनसंघ की ओर बढ़ा है।

विपक्षी दलों में भारतीय जनसंघ का संगठन सबसे अच्छा है, इसमें कोई शक नहीं। 1951 से लेकर 1967 तक उसकी शक्ति लगातार बढ़ती रही। जनसंघ के सदस्यों में दल-बदल करने वालों की संख्या भी सबसे कम रही है। लेकिन यह जनसंघ के चरित्र में ही निहित है कि एक सीमा के आगे उसकी शक्ति नहीं बढ़ सकती। उसकी शक्ति के दो मुख्य

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

आधार रहे हैं, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, और मध्यम वर्ग—गाँवों में बड़े किसान और जमींदार, नगरों में मध्यम श्रेणी के व्यापारी। इस प्रकार जनसंघ ने अपने को मुख्यतः हिन्दू मध्यम वर्ग की पार्टी बनाने की कोशिश की है। उसकी आंशिक सफलता, और एक हद के बाद बढ़ सकने में उसकी अक्षमता, दोनों के ही मूल कारण उसके इस चरित्र में निहित हैं। देश के मुसलमानों का विश्वास प्राप्त कर सकना जनसंघ के लिए उस समय तक असम्भव है जब तक कि उसका चरित्र ही न बदल जाये। इसी प्रकार, चुनाव-क्षेत्रों में विभिन्न जातियों के मेल या विरोध का लाभ उठाने में जनसंघ समय-समय पर सफल हो सकता है, लेकिन इससे उसकी कोई स्थायी शक्ति नहीं बनती। मौटे तौर पर हरिजन, आदिवासी, और अन्य पिछड़े समूह जनसंघ को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। यह एक बड़ा कारण है कि समूचे दक्षिण भारत में, जहाँ पिछड़ी जातियाँ राजनीति पर हावी हो चुकी हैं, जनसंघ अपना प्रभाव बनाने में असफल रहा है। यही कारण है कि बिहार में जनसंघ की प्रगति सीमित है और उत्तर प्रदेश में भारतीय क्रान्ति दल के उदय ने सबसे अधिक क्षति जनसंघ को ही पहुँचाई। अन्य हिन्दी-भाषी प्रदेशों—मध्य प्रदेश, राजस्थान और हरियाणा—में भी जनसंघ दूसरे नम्बर की पार्टी आसानी से बन सकता है, लेकिन सत्तारूढ़ होना उसके लिए लगभग असम्भव है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जनसंघ के अन्दर हमेशा एक अदृश्य तनाव तो बनाये रखता ही है, राजनीति में उसकी तात्कालिक कार्य-क्षमता को भी सीमित करता है। जनसंघ को स्वयं अपना ही नहीं, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का भी बचाव करते रहना पड़ता है।

भारतीय राजनीति में एक और निर्णायक तत्त्व ऐसा है जो किसी एक दल में संगठित तो नहीं है, लेकिन जिसका आचरण सामूहिक होता है—भारतीय मुसलमान। यह सच है कि आज भी भारतीय मुसलमानों के एक बड़े हिस्से की मानसिकता वही है, जो 1937 और 1947 के बीच मोहम्मद अली जिन्ना ने बनाई थी। 1947 के बाद शायद यह सम्भव था कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच जो घनिष्ठता राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान नहीं आ पाई थी, वह थोड़ी-सी कोशिश से 1947 के बाद आ सकती थी। लेकिन ऐसा हुआ नहीं, इसकी कोशिश भी नहीं हुई। भारतीय मुसलमान कांग्रेस को अपनी पार्टी और श्री नेहरू को अपना रक्षक मानते रहे, लेकिन नेता नहीं। किसी हद तक मौलाना आजाद को शायद उन्होंने अपना नेता और रक्षक दोनों ही माना। लेकिन मोटे तौर पर भारतीय मुसलमान राजनीति में एक अलग समूह बने रहे। श्री नेहरू, मौलाना आजाद और श्री रफी अहमद किदवई के रिश्तों और उनकी राजनीति को देखने पर एक दिलचस्प बात नजर आती है। श्री किदवई के लगभग सभी समर्थक और अनुयायी, कांग्रेस के अन्दर भी, हिन्दू थे। हिन्दू कांग्रेसजनों ने मौलाना आजाद को शायद कभी भी उस तरह अपना नेता नहीं माना। श्री नेहरू को नेता मानने वाले ही उनके एक प्रमुख सहयोगी के रूप में मौलाना आजाद को भी आदर-सम्मान देते थे। श्री किदवई के नेता भी श्री नेहरू ही थे, लेकिन उनके अपने समर्थकों का एक अलग समूह भी था।

मुसलमानों की अलग संगठित राजनीति को प्रतिष्ठा मिली। 1959 में केरल की (1957 में चुनी गई) साम्यवादी सरकार को गिराने के लिए और फिर मध्यावधि चुनावों में साम्यवादियों को हराने के लिए कांग्रेस ने केरल मुस्लिम लीग के साथ समझौता करके संयुक्त मोर्चा बनाया। अब मुस्लिम लीग की शाखाएँ सारे देश में संगठित हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

चौथे आम चुनाव के पहिले मुस्लिम मजलिस मुशावरात का संगठन उत्तर प्रदेश में मुस्लिम हितों की रक्षा के लिए एक गैर-राजनीतिक संगठन के रूप में किया गया। बाद में इसने एक दल का रूप ले लिया, और इसकी शाखाएँ अन्य प्रदेशों में भी बनीं। कुछ अन्य संस्थाओं का भी निर्माण हुआ—बंगाल में प्रोग्रेसिव मुस्लिम लीग, आन्ध्र प्रदेश में इत्तहादुल मुसलमीन।

इस प्रकार कोई एक सार्वदेशिक संस्था तो नहीं है जिसमें सारे भारतीय मुसलमान संगठित हों, लेकिन विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न संस्थाएँ हैं। लगभग सभी का सत्तारूढ़ कांग्रेस के साथ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष समझौता है। इन संगठनों के नेताओं के मन में शायद यह आशंका बनी हुई है कि मुसलमानों के किसी एक मंच पर संगठित होने की प्रतिक्रिया हिन्दुओं की बहु-संख्या को किसी एक दल में संगठित होने को प्रेरित कर सकती है। इस सम्भावना के विरुद्ध रक्षक के रूप में वे श्रीमती इन्दिरा गांधी और सत्तारूढ़ कांग्रेस को स्वीकार करते हैं। लेकिन अलगाव बना हुआ है।

यह स्थिति फिलहाल बनी रहे, इसी की सम्भावना है। इसमें परिवर्तन तभी हो सकता है जब मुसलमान बड़ी संख्या में नीतियों या आर्थिक सामाजिक वर्गों के आधार पर विभिन्न दलों में बँटे। लेकिन इसकी अभी कोई सम्भावना नहीं है, क्योंकि विपक्षी दलों में ऐसा कोई दल ही नहीं है जिसे बड़ी संख्या में मुसलमान अपना समर्थन दे सकें।

इस समूचे विश्लेषण को हम बांगला देश के मुक्ति-संग्राम की कसौटी पर देख सकते हैं जो भारत की आन्तरिक राजनीति की घटना नहीं है, लेकिन हमारी राजनीति को बहुत अधिक प्रभावित करने वाली घटना है। बांगला देश के मुक्ति संग्राम की गैर-सरकारी स्तर पर सक्रिय प्रतिक्रियाएँ केवल तीन रूपों में हुई हैं। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी और द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम ने बांगला देश के मुक्ति-संग्राम को प्रादेशिक स्वायत्तता की माँग के समर्थन में प्रस्तुत किया है। भारतीय जनसंघ ने बांगला देश के समर्थन में जन-आन्दोलन और सत्याग्रह करके अपनी शक्ति को प्रतिष्ठित करने के अलावा अपनी धर्म-निरपेक्षता प्रमाणित करने की चेष्टा भी की है। मुस्लिम लीग ने बांगला देश के मुक्ति-संग्राम का मूलतः विरोध किया है। संसोपा आरम्भ में कुछ सक्रिय हुई थी, लेकिन जून से समाजवादी निष्क्रिय हैं। प्रसोपा तो सक्रिय हुई ही नहीं थी, संगठन कांग्रेस और स्वतन्त्र पार्टी का भी यही हाल रहा। सत्तारूढ़ कांग्रेस ने सर्वथा अपेक्षित यह नारा उठाया कि सरकार के हाथ मजबूत करो।

लेकिन एक बुनियादी बात का बोझ बांगला देश मुक्ति-संग्राम के भारत का दौरा करने वाले नेताओं पर ही पड़ रहा है—हिन्दुस्तान को पिछले सौ-डेढ़ सौ सालों की राजनीतिक संस्कृति के सन्दर्भ में बांगला देश मुक्ति-संग्राम के महत्त्व को बताना और समझाने की कोशिश करना।

हमारे लिए यहाँ महत्त्व बांगला देश मुक्ति-संग्राम की भूमिका का नहीं वरन् इस राजनीतिक संस्कृति का है। वर्तमान राजनीतिक संस्कृति का आधार तो वह सभ्यता ही है जो हमें विरासत में मिली है। लेकिन उस आधार पर जिस राजनीतिक संस्कृति का निर्माण हुआ है, उसके दो पहलू खास तौर पर ध्यान में रखने चाहिएँ। एक तो इस संस्कृति का निर्माण जिस नेतृत्व ने किया, उसकी कोई एक धारा नहीं है, कई धाराएँ हैं। इसे बनाने में राजा राममोहन राय का भी हाथ था, झाँसी की लक्ष्मीबाई और 1857 के स्वाधीनता संग्राम के अन्य नेताओं का भी। स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द का भी हाथ था, सर सैयद अहमद

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

खाँ और अल्लामा इकबाल का भी। तिलक और गांधी जी का भी हाथ था और श्री जवाहरलाल नेहरू तथा श्री मोहम्मद अली जिन्ना का भी।

इसके अलग-अलग प्रभावों और उनके नतीजों का विश्लेषण करने और उन्हें समझने की बहुत चेष्टाएँ हुई हैं, उनमें जाने की यहाँ जरूरत नहीं। अलबत्ता, एक बुनियादी वैचारिक सफाई की जरूरत है। मिसाल के लिए राजा राममोहन राय भारतीय नवजागरण के, या कम से कम उसकी पहली चेष्टाओं के जनक थे, या लक्ष्मीबाई और उनके साथी ? राजनीतिक संस्कृति के सन्दर्भ में इस तरह के सवालों का सामना करना जरूरी है। राजा राममोहन राय ने, कम से कम बंगाल के अभिजात वर्ग में, एक वैचारिक-दार्शनिक समन्वय की और समाज-सुधार की चेष्टाएँ की थीं, लेकिन उनकी चेष्टाओं का मूल आधार था कि हिन्दुस्तान में अंग्रेजी राज—ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज—हिन्दुस्तान में परिवर्तन की दृष्टि से जरूरी था। इसके विपरीत 1857 में अंग्रेजी राज से लड़ने वालों का बुनियादी आधार था कि फिरंगी राज खत्म हो। उसके बाद अगर परिवर्तन होता तो वह एक आन्तरिक प्रक्रिया होती। यह जरूरी नहीं कि हम इनमें से एक का पूरी तरह समर्थन और दूसरे का पूरी तरह विरोध करें। आखिर को लक्ष्मीबाई और उनके साथियों में बड़ी जबरदस्त कमजोरियाँ थीं, जिनकी वजह से वे हारे। लेकिन आजादी और गुलामी के बीच चुनाव करना तो हर हालत में जरूरी है, इतिहास को समझने में भी। अन्यथा, कल कोई चीन, रूस या अमरीका की गुलामी का समर्थन करने वाला राममोहन राय एक नये नवजागरण के जनक के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है, और आज भी ऐसे लोग हमारे देश में नहीं हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

इस बुनियादी फर्क को समझने पर हम अपनी राजनीतिक संस्कृति को ज्यादा अच्छी तरह, समग्र रूप में, समझ सकते हैं। समग्रता में देखें तो इस संस्कृति की दो मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं। एक प्रवृत्ति में वैचारिक सफाई नहीं है, और साथ ही कर्मशीलता। कोई आन्तरिक सक्रियता भी नहीं है। वैचारिक सफाई नहीं है, लेकित उदारता बहुत है। इसकी बहसें राजनीतिक नहीं होतीं, अदालत में कानूनी दाँव-पेच वाली वकीलों की बहस जैसी होती हैं। आन्तरिक परिवर्तन की तकलीफों से इस प्रवृत्ति के लोग बचते हैं, लेकिन क्या होना चाहिए, दूसरों को क्या करना चाहिए, इसकी बहसें खूब करते हैं। भारत की मौजूदा राजनीतिक संस्कृति में यह तत्त्व शायद इस समय प्रमुख है। लेकिन इसके विपरीत धर्म की प्रवृत्ति, कर्म के द्वारा परिवर्तन की प्रवृत्ति भी हमारी राजनीतिक संस्कृति का प्रमुख अंग रही है। लोकतन्त्र के सन्दर्भ में, कर्म की इस प्रवृत्ति के भी दो मुख्य रूप रहे हैं—एक अच्छा, एक बुरा। हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय स्वाधीनता का आन्दोलन मुख्यतः इस प्रवृत्ति के अच्छे रूप के उदाहरण हैं। मैं इसमें हिंसक क्रान्तिकारी आन्दोलन को भी शामिल करता हूँ। दूसरी ओर दंगे हैं, क्रूर हिंसा है, जो इस शताब्दी के तीसरे दशक से लेकर अब तक चली आ रही है।

हिन्दुस्तान की राजनीतिक संस्कृति की सबसे बड़ी दिक्कत यह रही है, और अब भी है कि ये तीनों कभी अलग-अलग आमने-सामने नहीं हुए, बल्कि संगठित राजनीति में हमेशा एक-दूसरे में इनकी घुसपैठ बनी रही। जब गांधी जी भारतीय राजनीति के केन्द्र-बिन्दु थे, तब भी यह स्थिति बनी रही। स्वाधीनता आन्दोलन में जन-संगठन और संघर्ष की तुलना में वैचारिक तालमेल और कानूनी दाँव-पेंच का पल्ला हमेशा भारी रहा। मुस्लिम लीग में बहुत दिनों तक दंगे और चुनाव, दोनों के हिमायती बने रहे। लेकिन 1937 और 1947

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

के बीच मुस्लिम लीग का चरित्र संकल्प और कर्म की दृष्टि से एकनिष्ठ हो गया—दंगों में मारे गये हजारों हिन्दुस्तानियों की लाश पर पाकिस्तान बनाकर ही मुस्लिम लीग ने दम लिया। इसके विपरीत कांग्रेस पार्टी ने इस अवधि में बार-बार लिबरल पार्टी के नेताओं का सहारा लेने की चेष्टा की, जो कर्महीनता और वैचारिक तालमेल का प्रतीक थी।

भारत में आज फिर वही घालमेल समूची संगठित राजनीति में व्याप्त है। विभिन्न राजनीतिक दलों के चरित्र और उनकी भूमिका की जो संक्षिप्त चर्चा मैंने पहले की है, उससे यह बात बिल्कुल साफ हो जाती है। सत्तारूढ़ कांग्रेस और विपक्षी दलों में बड़ा फर्क केवल सत्ता का है। श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में एक ही खास फर्क आया है—विभिन्न विरोधी प्रवृत्तियों के सह-अस्तित्व को समन्वित करने की चतुराई का। 1947 और 1967 के बीच इस समूची स्थिति को बदलने का प्रयास केवल एक व्यक्ति—राममनोहर लोहिया—ने किया था। वैचारिक सफाई के साथ समाज के उपेक्षित समूहों का संगठन और निरन्तर कर्मशीलता—लोकतन्त्र, अहिंसा और राष्ट्रीयता के व्यापक आधारों पर आन्तरिक शक्ति के संगठन और विकास के द्वारा आमूल परिवर्तन।

मैं यहाँ नीतियों की बात नहीं कर रहा, उस पर बहस हो सकती है। लेकिन राजनीतिक संस्कृति के व्यापक सन्दर्भ में लोहिया ने हिन्दुस्तान की राजनीति को वैचारिक घालमेल और कर्महीनता से निकालने की कोशिश की, और इस कोशिश में राजनीति ने एक नई प्रवृत्ति को जन्म दिया, इसमें कोई शक नहीं। इसमें भी कोई शक नहीं कि लोहिया की मृत्यु के बाद इस प्रवृत्ति का प्रभाव उसी तरह बिखर गया है जैसे गांधी जी की मृत्यु के बाद उनके द्वारा निर्मित शक्ति बिखर गई। बल्कि लोहिया का असर गांधी जी की तुलना में बहुत कम था, और उनके काम के नतीजे जड़ प्रतीकों के रूप में भी दिखाई नहीं देते, यह शायद अच्छा ही है क्योंकि इससे यह सम्भावना बनी रहती है कि विचार, सामाजिक शक्ति, और कर्म का कोई नया मेल अगर बना तो कोई लोहिया मठ शुरू से ही उसको विकृत कर देने वाला नहीं होगा। लोहिया ने विचार, सामाजिक शक्ति और कर्म को जिस तरह से जोड़ना चाहा था, मुमकिन है कि नया मेल उससे बिल्कुल भिन्न प्रकार का हो।

इस तरह के मेल के अलावा भारतीय राजनीति के किसी नई दिशा में विकसित होने की सम्भावना मुझे नहीं दिखाई देती। बांगला देश के मुक्ति-संग्राम को राजनीतिक संस्कृति के सन्दर्भ में, मैं इसी कारण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानता हूँ कि उसमें भी इसी तरह का मेल है। लोकतन्त्र और धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रीयता के आधारों पर जो आन्दोलन खड़ा हुआ उसने कठिनतम परिस्थितियों में भी संघर्ष करते रहने के अटूट संकल्प का परिचय दिया है। श्री जिन्ना ने जो ताकत एक बुरे काम के लिए पैदा की थी, उसी का चरित्र बदल गया है और अब वह विपरीत दिशा में परिवर्तन के लिए संघर्षरत है। उसकी सफलता का अनिवार्य ही भारतीय राजनीति पर प्रभाव पड़ेगा।

यह राजनीतिक पलायनवाद नहीं है; एक यथार्थ की स्वीकृति है। बहस के लिए अगर हम मान लें कि बांगला देश का मुक्ति-संग्राम अभी इस रूप में न होता तो भारतीय राजनीति में क्या सम्भावनाएँ होतीं? मेरा उत्तर वही होगा—वर्तमान राजनीतिक दलों की जो स्थिति इस समय है, उसमें यह सम्भावना नहीं है कि वे भारतीय राजनीति के

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

वर्तमान स्वरूप को बदल सकें। लेकिन हर हालत में विचार, सामाजिक शक्ति और संगठित कर्म का कोई नया मेल बनेगा क्योंकि परिवर्तन की प्रक्रिया को थामा जा सकता है, समाप्त नहीं किया जा सकता। इतना जरूर है कि यह मेल कैसा होगा और वर्तमान राजनीतिक दलों की उसमें क्या भूमिका होगी इसके बारे में कोई भविष्यवाणी मैं नहीं कर सकता।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारतीय राजनीति में दल-बदल

प्रकाशवीर शास्त्री

चौथे सामान्य निर्वाचनों के बाद सन् 1967 में देश की अधिकांश विधानसभाओं में कांग्रेस को बहुमत नहीं मिल सका। सत्रह में से नौ राज्य कांग्रेस के हाथ से निकल गये। स्वतन्त्रता के बाद यह पहला ही अवसर था जब देश के इस सबसे बड़े राजनीतिक संगठन को यह अप्रत्याशित चोट लगी। लेकिन इतने पर भी जनता के निर्णय की बेल मढ़े न चढ़ सकी। इसमें दो कारण बाधक बने। एक तो प्रारम्भ से ही कांग्रेस का कोई मजबूत विकल्प देश में नहीं बन सका अथवा यों कहिये बनने नहीं दिया गया। दूसरे, कांग्रेस विरोधी दल कई जगह बँटे हुए थे। एक बार तो नौ राज्यों में कांग्रेस विरोधी संयुक्त विधायक दलों की सरकारें बनीं भी। पर वह भी दो-एक राज्यों को छोड़कर कहीं लम्बे अरसे तक न चल सकीं। दलों की आपसी खींचातानी में संविद सरकारें जनता को अपना कोई चमत्कार भी न दिखा सकीं। इस तरह फिर सात राज्यों में राष्ट्रपति शासन स्थापित हो गया और डेढ़ साल के भीतर ही दूसरी बार मध्यवर्ती निर्वाचन हुए। पर हैरानी की बात यह रही कि जनता फिर अपने उसी पुराने निर्णय पर कायम थी। कांग्रेस कहीं इस बार भी बहुमत में न आ सकी। प्रतीत होता था देश कांग्रेस के बीस वर्ष पुराने शासन से हर कीमत पर मुक्ति लेना चाहता है।

केन्द्र में सत्तारूढ़ दल को इससे चिन्ता होनी स्वाभाविक थी। पर मजबूत विपक्ष का अभाव उसके लिए वरदान सिद्ध हुआ। विधायकों ने तरह-तरह के प्रलोभनों में आकर कला-बाजियाँ खानी शुरू कर दीं। आयाराम और गयाराम के अध्याय खुलने लगे। देश की राजनीति में इससे अस्थिरता पैदा हो गई। 1951 से 1967 तक सत्रह वर्ष की अवधि में जहाँ दल-बदल की 542 घटनाएँ हुईं वहाँ 1967 के सामान्य निर्वाचनों के बाद एक साल में ही 438 विधायकों ने अपने दल बदल डाले। इन दल-बदल करने वाले 438 विधायकों में 115 को मन्त्री पद देकर पुरस्कृत किया गया। इनमें से सात मुख्यमन्त्री और एक विधानसभा अध्यक्ष भी बनाये गये। बाद में तो यह सिलसिला और भी बढ़ता चला गया। 1967 से 1970 तक चार साल की अवधि में दल-बदल करने वाले सदस्यों की यह संख्या बढ़कर 1400 तक पहुँच गई। इनमें कुछ ऐसे भी विधायक थे जिन्होंने चार वर्ष की इस स्वल्प अवधि में कई-कई बार दल-बदल का स्वाद चखा।

ऐसे सदस्यों की कृपा से ही बिहार की राज्य सरकार चार साल में आठ बार बनी और गिरी। संघ लोक सेवा आयोग की मौखिक परीक्षा में बिहार के एक छात्र से उसकी सामान्य जानकारी की जाँच के लिए परीक्षक ने पूछा—'तुम्हारे राज्य में आजकल मालमन्त्री कौन है ?' इत्तफाक से उसे नाम याद नहीं था। पर बात को सम्भालते हुए उसने कहा—'जितनी

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

देर में उसका नाम मैं बतलाऊँगा, पता नहीं उतनी देर में कहीं कोई दूसरा व्यक्ति मालमन्त्री न हो जाये।' दलबदलुओं के लिए आयाराम-गयाराम शब्द का प्रचलन भी हरियाणा में एक ऐसे ही विधानसभा सदस्य से हुआ। एक सप्ताह में उसने चार बार दल-बदल कर राजनीति में एक नया कीर्तिमान स्थापित किया। इस विधायक का नाम गयालाल था। हरियाणा की सरकार उस समय एक-दो सदस्यों के बहुमत पर ही टिकी हुई थी। एक बार चण्डीगढ़ में समाचार-पत्रों के संवाददाताओं ने तत्कालीन मुख्यमन्त्री से गयालाल के जाने के बाद पूछा—'अब आपका क्या भविष्य रहेगा ? गयालाल तो गयाराम हो गये।' इस पर मुख्यमन्त्री ने कहा 'अब गयाराम आयाराम हो गये हैं।' संसद में तत्कालीन गृहमन्त्री श्री यशवन्तराव चव्हाण ने दल-बदलुओं के लिए जब यह नया नाम सुनाया तो सदस्यों के पेट में हँसते-हँसते बल पड़ गये।

लोकसभा के मध्यवर्ती निर्वाचनों के बाद तो दल-बदल का रिकार्ड ही टूट गया। पिछले चार ही महीनों में 168 विधायकों ने विभिन्न राज्यों में अपने दल बदले हैं। इन सदस्यों में उत्तर प्रदेश, बिहार, मैसूर, पंजाब और गुजरात के दल-बदलू सदस्यों ने कई अन्य राज्यों को बहुत पीछे छोड़ दिया। उत्तर प्रदेश में सात, मैसूर में बत्तीस, बिहार में इकत्तीस और पंजाब तथा गुजरात में क्रमशः बीस और नौ सदस्य अपने दल छोड़कर दूसरे दलों में चले गये। इस तरह थोड़े बहुत अन्तर से ही इन चार महीनों में छः राज्यों की सरकारें गिर गईं। इनमें पश्चिमी बंगाल को छोड़कर प्रायः सभी राज्यों की सरकारें केन्द्र में सत्तारूढ़ दल की समर्थक नहीं थीं। इन्हें गिराने के जोड़-तोड़ प्रारम्भ से ही चल रहे थे। पर विधायकों के दल-बदल पर ही यह सब निर्भर करता था। इसमें केंन्द्र के सत्तारूढ़ दल को येन केन प्रकारेण सफलता मिल ही गई।

दल-बदल की इस प्रवृत्ति से भारतीय जनतन्त्र के सामने कई प्रश्नसूचक चिन्ह लग गये हैं। आखिर कहाँ जाकर इसकी समाप्ति होगी ? आज इसका लाभ केन्द्र के सत्तारूढ़ दल ने उठाया है। कल सत्ता में आये दूसरे दल भी यह हथकण्डे अपना सकते हैं। अभी तक यह बीमारी राज्यों तक ही सीमित थी, कल केन्द्र को भी प्रभावित कर सकती है। तब केन्द्र की अस्थिरता का समाधान कौन निकालेगा ? संविधान में इसके लिए यद्यपि कामचलाऊ सरकार की व्यवस्था रखी गई है पर यह तो आपत्कालीन स्थिति का एक तात्कालिक हल है। ऐसी नौबत ही न आये सोचना तो यह है। भारत के चारों ओर जनतन्त्रीय पद्धतियाँ लड़खड़ाकर सैनिक शासन में बदल रही हैं। यहाँ भी जनतन्त्र के नाम पर चल रही इस खरीद-फरोख्त से तंग आकर लोग कभी-कभी उसी तरह की बात करने लगते हैं।

दल-बदल की इस प्रवृत्ति पर रोक लगाने के लिए यों तो प्रारम्भ से ही उपाय सोचे जा रहे थे। पर पिछले चार वर्षों में जब से यह बाढ़ आई है तब से तो कई बार संसद में और बाहर भी इस पर रोक लगाने का विचार किया गया है। संसद में स्वीकृत एक सर्वसम्मत प्रस्ताव के आधार पर दिसम्बर, 1967 में सभी प्रमुख दलों के प्रतिनिधियों की एक उच्चस्तरीय समिति का गठन भी इसके लिए किया गया। गृहमन्त्री की अध्यक्षता में बनी इस समिति में संसद-सदस्यों के अतिरिक्त श्री जयप्रकाश नारायण, डा० हृदयनाथ कुंजरू और तत्कालीन महा-न्यायवादी श्री सी० के० दफ्तरी के साथ श्री मोहन कुमारमंगलम भी इसके सदस्य रखे गये। पूरे एक वर्ष के मन्थन के बाद जनवरी, 1969 में समिति ने सरकार को अपनी रिपोर्ट दे दी। पर यह रिपोर्ट भी खोदा पहाड़ निकली चुहिया ही थी। समिति कोई

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

ठोस सुझाव पेश न कर सकी। स्वयं समिति के उन्नीस सदस्यों में से आठ ने ही समिति के सुझावों से अपनी असहमति व्यक्त की।

दल-बदल की परिभाषा क्या हो? इस पर भी अभी तक देश में विवाद ही है। सरकार भी कोई स्पष्ट व्याख्या इसकी अभी तक नहीं कर सकी है। संसदीय समिति के सामने भी यह मुख्य प्रश्न था—दल-बदल कहा किसे जाय? सदस्यों ने फिर इसकी परिभाषा इस रूप में की—'विधानमण्डल का एक निर्वाचित सदस्य जिसे किसी राजनीतिक दल का आरक्षित चिन्ह प्राप्त हो दल-बदलू तब कहा जायगा जबकि उसने संसद के किसी सदन या राज्य अथवा संघ प्रशासित क्षेत्र की विधान-परिषद् या विधानसभा का सदस्य हो जाने के बाद स्वेच्छा से ऐसे राजनीतिक दल की निष्ठा का परित्याग कर दिया हो या उससे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया हो। परन्तु उसका यह कार्य सम्बन्धित दल निर्णय के परिणामस्वरूप न हो।' समिति द्वारा की गई इस परिभाषा में कई कमियाँ रह गयीं। जैसे विधानमण्डल का कोई सदस्य अपने राजनीतिक दल से सम्बन्ध-विच्छेद तो नहीं करता पर दल में रहते हुए भी किसी प्रलोभन में आकर मतदान दूसरी ओर ही करता है। उसे क्या कहा जायगा? अपनी निजी परिस्थितियाँ भी कभी किसी सदस्य को दलीय निर्णय के विरुद्ध मतदान करने को विवश कर देती हैं। कांग्रेस के 1967 के घोषणा-पत्र में राजाओं के जेब खर्च समाप्त करने की बात नहीं थी। कई राजा भी इसीलिए कांग्रेस के टिकट पर खड़े होकर जीत गये। पर संसद् में जब यह जेब खर्च सम्बन्धी विधेयक आया तो उन्होंने अपना मत सरकार के विरोध में दिया। यहाँ इन्हें क्या कहा जायगा? ऐसे ही कई और प्रश्न भी हो सकते हैं। इधर आजकल अपने देश में अन्तरात्मा की आवाज की बड़ी चर्चा है। पार्टी निर्णय के विरुद्ध मत देने वाला सदस्य कभी यदि कहे कि मेरी अन्तरात्मा तो इस प्रश्न पर आपके साथ मत देने के पक्ष में नहीं है तो इसे क्या कहा जायगा? और फिर ऐसे निर्णय कोई उच्चपदासीन व्यक्ति ले तब क्या स्थिति रहेगी? पीछे राष्ट्रपति पद के निर्वाचन में देश के कुछ शीर्षस्थ नेताओं ने दल में रहते हुए भी अपनी अन्तरात्मा की पुकार पर दलीय प्रत्याशी के विरोध में मतदान किया। इतना ही नहीं इस सर्वोच्च पद के लिए नामांकन किसी का किया और मत किसी दूसरे को दिया। इसे समिति की उक्त परिभाषा के आधार पर क्या कहा जायगा?

दुनिया के कुछ दूसरे देशों में भी दल-बदल की इस दुष्प्रवृति पर रोक लगाने के लिए समय-समय पर विचार होते रहे हैं। उनकी अपनी राय में कानून से भी कहीं अधिक समाज का भय और नैतिक मापदण्ड इसे रोकने में सहायक हो सकते हैं। गाय-बैल की तरह विधायकों पर बोली लगाने के तो कोई उदाहरण इन देशों में सुनने को नहीं मिले। पदों और प्रलोभनों की बजाय सैद्धान्तिक विवादों को लेकर ही कुछ बड़े-बड़े लोगों ने दल बदले हैं। इंग्लैण्ड की संसद को संसदीय प्रणाली की माँ कहा जाता है। संसदीय जनतन्त्र के विकास में ब्रिटिश पार्लियामेंट का अच्छा योगदान रहा है। पर यहाँ भी चेम्बरलेन, चर्चिल और मेकडानल्ड जैसे व्यक्तियों और उनके सहयोगियों को परिस्थितिवश दल-बदल करना पड़ा। अमरीका में भी इसी तरह की कुछ घटनाएँ हुईं। न्यूजीलैण्ड, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि देशों में भी कुछ सदस्य अपने मूल दलों से हटकर दूसरे दलों में गये। लेकिन ऐसी घटनाएँ इन देशों में उँगलियों पर गिनने लायक ही हुईं। जब भी वे हुईं तो उनके पीछे सैद्धान्तिक विरोध ही प्रमुख कारण था।

कई देशों में आज भी मिली-जुली सरकारें चल रही हैं। उनका बहुमत भी बहुत

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

थोड़ा है। नार्वे में एक सदस्य के बहुमत से सरकार चल रही है। पश्चिमी जर्मनी में सोशल डेमोक्रेट्स और लिबरल डेमोक्रेट्स पार्टियों की मिली-जुली सरकार बारह सदस्यों के बहुमत से ही चल रही है। तीसरा प्रमुख दल क्रिश्चियन डेमोक्रेट्स अब सत्तारूढ़ नहीं है। यह दल भारत में कांग्रेस की तरह ही लम्बे अरसे तक राज्य करता रहा। जनता उससे हर कीमत पर मुक्ति लेना चाहती थी। इसीलिए सत्ता दूसरे हाथों में चली गई। दुनिया के कुछ प्रमुख देशों ने जिनमें स्विट्जरलैण्ड, रूमानिया, चैकोस्लौवाकिया तथा अमरीका के कुछ राज्य भी हैं, दल-बदल के लिए अपने संविधान में भी कुछ कठोर व्यवस्थाएँ रखी हैं। इनमें अवधि समाप्त होने से पहले भी मतदाताओं द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि को वापिस बुलाने का प्रावधान है। राजनीतिक चरित्र की रक्षा के लिए यह व्यवस्था की गई है। संसद की समिति के सामने भी कुछ प्रमुख विधिवेत्ताओं ने इसी तरह का निर्णय लेने का सुझाव रखा था। पर समिति के अधिकांश सदस्यों ने यह कहकर इसे मानने से इन्कार कर दिया कि यह व्यवस्था भारत के लिए उचित और व्यावहारिक नहीं है।

स्वतन्त्रता के बाद भारत में भी कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्ति अपने पहले दलों से पृथक् हो गये। इनमें आचार्य जे० बी० कृपलानी, चक्रवर्ती श्री राजगोपालाचार्य, स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्र देव, श्री रफी अहमद किदवई और श्री टी० प्रकाशम् जैसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति भी हैं। परन्तु यह और इनके सहयोगी सैद्धान्तिक विरोध के कारण ही कांग्रेस छोड़कर बाहर गये। आचार्य नरेन्द्र देव जी ने तो त्यागपत्र देने के बाद अपने सहयोगियों के साथ फिर से चुनाव लड़कर एक नया आदर्श भी उपस्थित किया था। रफी साहब और उनके साथी तो बाद में फिर कांग्रेस में आ गये। पर कृपलानी जी और राजाजी आज भी अपनी जगह अंगद के पैर की तरह दृढ़ हैं। कुछ प्रमुख राजनेताओं ने सैद्धान्तिक मतभेदों को लेकर संघर्ष करने की बजाय गांधी जी के संकेत पर रचनात्मक कार्यों में लगना कहीं अधिक पसन्द किया। आचार्य विनोबा भावे, श्री शंकरराव देव, श्री जयप्रकाश नारायण आदि उन्हीं नेताओं में से हैं।

दल-बदल के साथ ही उन सदस्यों का प्रश्न भी आज विचारणीय बन गया है जो किसी दल विशेष के चुनाव चिन्ह पर निर्वाचित होकर नहीं आते। इनमें कुछ तो दल विशेष से टिकट न मिलने पर खड़े हो जाते हैं और कुछ जात-पात की आड़ में सफल होते हैं। अपने कार्य और सेवाओं से निर्वाचित होने वाले निर्दलीय सदस्य तो बहुत कम ही होते हैं। संविधान सभा के एक प्रमुख सदस्य श्री के० संथानम् के अनुसार किसी दल में जाने के लिए निर्दलीय सदस्यों पर कोई ऐसा प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता क्योंकि मतदाताओं ने उन्हें चुना ही इसी विश्वास पर है कि वह परिस्थितियों को देखकर अपने विवेक का प्रयोग करें। परन्तु जब यह निर्दलीय सदस्य भी सरकारों को गिराने और बनाने में प्रलोभन के शिकार बने, तब कैसे उनका प्रश्न आँखों से ओझल किया जा सकता है? 1967 के सामान्य निर्वाचनों के बाद एक वर्ष में जिन 438 सदस्यों ने अपने दल बदले उनमें 157 निर्दलीय सदस्य भी थे। मन्त्री पद प्राप्त करने अथवा आर्थिक प्रलोभनों के चक्कर में निर्दलीय सदस्य भी जब दलीय सदस्यों से होड़ लगा रहे हों तब उन्हें भी कानून की परिधि से बाहर नहीं रखा जा सकता।

दल-बदल केवल पदों के प्रलोभन से ही नहीं आर्थिक प्रलोभनों से भी हो रहे हैं। दिल्ली के पड़ौसी एक छोटे राज्य में जब विधानसभा के सदस्यों की खींचतान चल रही थी तब मुख्यमन्त्री ने एक सदस्य को बुलाकर पूछा—'आप उपमन्त्री होना पसन्द करेंगे या अम्बेसडर

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

गाड़ी लेना ?' उस सदस्य ने सोचा सरकार का क्या भरोसा है, पता नहीं कब चली जाय ? इसलिए वह बोला—'मुझे तो अम्बेसडर कार ही दे दीजिये। उपमन्त्री पद लेकर मैं क्या करूँगा ?' शैक्षणिक योग्यता भी इनकी कठिनाई से चौथी क्लास तक ही रही होगी पर आज की राजनीति में अधिक पढ़ा-लिखा होने की क्या जरूरत है ? वहाँ तो पढ़ने से भी ज्यादा गुनने की कीमत है। छोटे से इस राज्य में एक ऐसा भी अवसर आया जब मुख्यमन्त्री ने अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए अपना साथ देने वाले सदस्यों में से सत्तर प्रतिशत सदस्यों को मन्त्री बना दिया। शेष तो फिर अम्बेसडर गाड़ी वाले सदस्य के ही भाई बन्द शायद रह गये हों ? राज्य के एक नेता ने उन्हीं दिनों राष्ट्रपति को राज्य की स्थिति पर निम्न तार भेजा :

'मुख्यमन्त्री अपनी अल्पसंख्यक सरकार को बचाने के लिए दोनों हाथों से राजनीतिक पद लुटा रहे हैं और राजनीतिक जीवन को भ्रष्ट कर रहे हैं। यह सबसे ओछे किस्म का राजनीतिक भ्रष्टाचार है। अल्पसंख्यक सरकार के मुख्यमन्त्री के लिए यह उचित नहीं है जो वह इतने अधिक मन्त्रियों को नियुक्त करे और सार्वजनिक धन इस प्रकार बाँटे।'

तीन वर्ष पूर्व हरियाणा में राष्ट्रपति-शासन की घोषणा करते समय गृहमन्त्री ने भी संसद में कहा था : 'आयाराम और गयाराम की कीमतें बीस हजार से चालीस हजार तक कूती जा रही हैं। वहाँ स्थिति को संभालने में सारे राजनीतिक दल असफल हो चुके हैं। इसका एक ही समाधान है—फिर दोबारा जनता का निर्णय प्राप्त किया जाय।'

इसी तरह के उदाहरण और भी कई राज्यों के सुनने में आये हैं। बिहार और उत्तर प्रदेश की पिछली सरकारों को गिराते समय ऐसी चर्चायें भी जोरों से उठी थीं कि कुछ व्यक्ति पटना और लखनऊ के प्रमुख होटलों में अपनी थैलियाँ खोलकर बैठे हुए हैं।

दल-बदल रोकने के लिए जो सुझाव अब तक आये हैं उनमें तीन तरह के सुझावों की देश में अधिक चर्चा है। संसद को समिति ने भी उन पर अपना मत दिया है। एक सुझाव तो यह है—दल-बदल करने वाले सदस्य को त्यागपत्र देकर फिर से अपने मतदाताओं का विश्वास प्राप्त करना चाहिए। दूसरा सुझाव है—दल-बदल करने वाले सदस्य को एक वर्ष तक मन्त्री पद जैसा कोई लाभ का पद न दिया जाय। दल-बदल सम्बन्धी संसद का प्रस्तावित विधेयक मुख्यतः इसी पर आधारित है। तीसरे सुझाव में मन्त्रिपरिषद् की संख्या सीमित करने की भी बात कही गई है क्योंकि इस तरह के सदस्यों के आने से फिर मन्त्रिमण्डल सुरसा के मुँह की तरह बढ़ना प्रारम्भ हो जाता है। विधिवेत्ताओं के संगठन वकील संघ ने कहा है : 'संविधान के अनुच्छेद 19(1)(ग) में मौलिक अधिकार होने के कारण दल-बदल को एक दण्डनीय अपराध नहीं बनाया जा सकता।' पर उन्होंने यह सलाह भी दी है कि एक दल-बदलू को भावी सदस्यता से वंचित करने के सम्बन्ध में कानूनी कार्यवाही करना संभव है। वकीलों के इसी संगठन ने राजनीतिक दलों की रजिस्ट्री करने का भी सुझाव दिया है।

एक और महत्त्वपूर्ण सुझाव स्वयं राजनीतिक दलों के लिए आचार-संहिता बनाने के सम्बन्ध में है। सभी राजनीतिक दल मिलकर यह निर्णय करें कि वह दल-बदल करने वाले किसी सदस्य को तब तक अपने संगठन में नहीं लेंगे जब तक वह त्यागपत्र देकर फिर से अपने मतदाताओं का विश्वास प्राप्त न कर ले। संसद के मध्यवर्ती निर्वाचनों से पूर्व प्रधानमन्त्री ने सभी राजनीतिक दलों के नेताओं की इस सम्बन्ध में एक बैठक भी बुलाई थी। बैठक का उद्देश्य दल-बदल के लिए प्रस्तावित विधेयक पर सहमति प्राप्त करना था। उसमें मुख्य रूप

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

से यह ही बात थी कि दल-बदल करने वाले सदस्य को एक वर्ष तक मन्त्री न बनाया जाय। न तो दल-बदल की कोई स्पष्ट परिभाषा ही विधेयक में दी गई थी और न ही दल-बदल करने वाले सदस्य को त्यागपत्र देकर फिर से चुनाव लड़ने की कोई व्यवस्था ही रखी गयी थी। बैठक में उपस्थित सदस्य विधेयक के इस अपूर्ण मसौदे से भला कैसे सहमत हो सकते थे ? इस-लिए बात बीच में रह गयी। फिर भी उस सुझाव पर प्रायः सभी सदस्य सहमत थे कि क्यों न राजनीतिक दल स्वयं अपने लिए ऐसी आचार-संहिता बनाये कि वह दल-बदल करने वाले विधायक को स्वीकार ही न करें। पर यह बात सत्तारूढ़ पार्टी के हित में उस समय नहीं बैठती थी। इसीलिए उसके गले न उतरी।

संसद के मध्यवर्ती निर्वाचनों के बाद अब जिन राज्यों की सरकारें गिरीं या बदली हैं उससे फिर दल-बदल पर रोक लगाने की चर्चा देश में उभरी है। पहले तो सत्तारूढ़ दल, जिसे निर्णय लेना था चुप्पी साधे रहा। लेकिन जब उसकी विरोधी राज्य सरकारें गिर गयीं तब दल-बदल का कानून बनाने की बात उसे भी जँचने लगी। पर जब तक दलीय स्तर से ऊपर उठकर इस सम्बन्ध में निर्णय नहीं लिये जायेंगे तब तक इसका स्थायी हल खोज सकना कठिन है। अच्छा तो यह हो कि विधेयक से पहले सब राजनीतिक दल ही अपने लिए स्वयं आचार-संहिता बना लें। इससे भी बहुत कुछ बुराई दूर हो सकती है। यदि कोई राजनीतिक दल इसका उल्लंघन करे तब फिर उस पर भी कोई अंकुश अवश्य लगाया जाना चाहिए। इसमें राजनीतिक दलों के लिए आरक्षित चुनाव-चिन्ह को कुछ समय तक के लिए निर्वाचन आयोग द्वारा वापस लेने का प्रस्ताव भी सम्मिलित किया जा सकता है।

स्वतन्त्रता के बीस साल बाद ही भारत में मिली-जुली सरकारों का युग प्रारम्भ हो गया। केन्द्र और राज्यों में भिन्न दलों की सरकारों का बनना अब कोई आश्चर्य की बात नहीं रही। कांग्रेस भी अब वह नहीं रही जो चार साल पहले थी। अब तो कांग्रेसी ही कांग्रेस की सरकारों को गिराकर खुश हो रहे हैं। गुजरात और मैसूर जैसी मजबूत सरकारें भी उस हवा में बह गईं। पता नहीं अभी दल-बदल का यह संक्रामक रोग और कहाँ तक फैलकर रहेगा ? राजनीतिक दल भी, जब उनके अपने सदस्य खिसकते हैं तो परेशान होते हैं। पर जब उनके यहाँ कोई आता है तो उसका स्वागत करते हैं। इस तरह भारतीय राजनीति के मापदण्ड भारतीय गणतन्त्र की शैशव अवस्था में ही तेजी से टूटने जा रहे हैं। इन्हें यदि मिल-जुलकर न सम्भाला गया तो जनतन्त्र ही नहीं स्वाधीनता भी खतरे में पड़ सकती है। भारत के दो बड़े पड़ौसी राष्ट्र उस पर गृद्धदृष्टि लगाये बैठे हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारतीय राजनीति में प्रादेशिकता की भावना

रमेश नारायण माथुर

चौथे आम चुनावों के बाद भारतीय राजनीति में जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए उनमें से एक भारतीय राजनीति में प्रादेशिकता की भावना का उदय था। 1967 के आम चुनावों के फलस्वरूप कांग्रेस पार्टी के प्रभुत्व का अन्त हो गया और प्रादेशिक पार्टियाँ तथा खंडित दल उभरकर सामने आये। उनमें से कुछ तो शीघ्र ही लुप्त हो गये, पर कुछ अब भी जीवन्त राजनीतिक इकाइयों के रूप में पनप रहे हैं। इन्हें दो मुख्य वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। पहली श्रेणी में तमिलनाडु के द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम (द्रमुक), पंजाब के अकाली दल, केरल की मुस्लिम लीग और महाराष्ट्र की शिव सेना को रखा जा सकता है। दूसरी श्रेणी में असन्तुष्ट कांग्रेसी वर्ग आ जाते हैं जिन्होंने पृथक् राजनीतिक संगठन बना लिये थे, जैसे कि उत्तर प्रदेश में भारतीय क्रान्ति दल (भाक्रान्द), पश्चिमी बंगाल में बंगला कांग्रेस और आन्ध्र प्रदेश में तेलंगाना समिति। फिर राष्ट्रीय दलों की कुछ राज्य शाखाएँ अधिकाधिक स्वायत्त होती गई हैं और प्रादेशिक दलों जैसा व्यवहार कर रही हैं। उड़ीसा की स्वतन्त्र पार्टी पुरानी गणतन्त्र परिषद् पार्टी है जो एक जनजातीय प्रादेशिक पार्टी है और 1967 से उड़ीसा में पनप रही है। इसी प्रकार केरल और पश्चिमी बंगाल में राज्य स्तर को मार्क्सिस्ट-कम्युनिस्ट पार्टियाँ व्यावहारिक दृष्टि से प्रादेशिक पार्टियाँ ही हैं।

द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम का संगठन दूसरी प्रादेशिक पार्टियों के मुकाबले सबसे सुदृढ़ है। इसकी उत्पत्ति जस्टिस पार्टी और द्रविड़ कषगम से हुई है।[1] ब्राह्मण-विरोधी नीतियों की समर्थक जस्टिस पार्टी ने 1921 में ही मद्रास की विधान-परिषद् में बहुमत प्राप्त कर लिया था। इस पार्टी को सर्वसाधारण का समर्थन प्राप्त नहीं था, अतः यह शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो गई। 1924 में जस्टिस पार्टी को द्रविड़ कषगम अथवा ड्रैविडियन फेडेरेशन में परिणत कर दिया गया।[2] ई० वी० आर० नाइकर के नेतृत्व के अधीन इस संगठन में संघर्ष की प्रवृत्ति बढ़ती गयी और उसने स्वतन्त्र तमिल राज्य के लिए आन्दोलन किया जिसमें मद्रास, आन्ध्र प्रदेश, मैसूर और त्रावणकोर-कोचीन राज्यों को सम्मिलित किया जाना था। द्रविड़ कषगम के एक अपेक्षाकृत उदार वर्ग ने—जिसके नेता सी० एन० अन्नादुराई थे—नाइकर की कठोर नीतियों और निरंकुश वृत्ति की चुनौती दी और 1949 में द्रविड़ कषगम से अपना सम्बन्ध तोड़कर द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम बना ली।[3] यह पार्टी

---

[1] दे० रॉबर्ट एल० हार्डग्रेव, 'द ड्रैविडियन मूवमेंट', बम्बई, 1965, पृ० 17 और आगे।

[2] वही, पृ० 28।

[3] वही, पृ० 32–37।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अधिक लोकतन्त्रीय थी और इसे सर्वसाधारण का समर्थन प्राप्त था। इसने भारत सरकार की हिन्दी समर्थन नीति का विरोध किया और तमिलनाडु के लोगों में अपनी भाषा, धर्म और संस्कृति पर गर्व की भावना का संचार किया।

1957 के आम चुनावों में द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम ने मद्रास विधानसभा में 15 स्थान जीत लिये और जनता के 14·6 प्रतिशत वोट उसके हिस्से में आये। इस प्रकार कांग्रेस पार्टी के बाद दूसरा स्थान उसी का रहा।[4] 1959 में कम्युनिस्टों का समर्थन प्राप्त हो जाने पर द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम ने नगर निगम के चुनावों में बहुत सारे स्थान जीत लिये और इस प्रकार उसे मद्रास नगर निगम में बहुमत प्राप्त हो गया। 1962 के चुनावों में भी द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम ने 7 स्थान लोकसभा में, और 50 स्थान राज्य विधान सभा में प्राप्त कर लिये, और विधानसभा के चुनावों में 27 प्रतिशत वोट उसके हिस्से में आये थे।[5] 1967 के चुनावों में द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम को अद्भुत सफलता मिली और उसने 138 स्थान तमिलनाडु विधानसभा में तथा 25 स्थान लोकसभा में प्राप्त कर लिए।[6] सी० एन० अन्नादुराई के नेतृत्व में वह मद्रास में अपनी सरकार बनाने में भी सफल हो गई। फरवरी, 1969 में उनकी मृत्यु से पार्टी को गहरा धक्का लगा। उनका स्थान एम० करुणानिधि ने लिया। परन्तु पार्टी में फूट डालने वाली जिन शक्तियों को अन्नादुराई ने रोके रखा था, वे अब सिर उठाने लगीं और उनसे पार्टी की एकता कमजोर पड़ने लगी। 1971 के मध्यावधि चुनावों में नई कांग्रेस के समर्थन से इस पार्टी ने तमिलनाडु राज्य विधान-सभा के 284 स्थानों में से 184 तथा लोकसभा के 23 स्थान जीत लिये। द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम भारत की प्रादेशिक पार्टियों में आज भी सबसे अधिक कामयाब है। सांस्कृतिक हितों के पोषक वर्ग से यह एक ऐसे राजनीतिक दल के रूप में विकसित हुई है जिसका अपना कार्य-क्रम है और जो समाजवादी तथा धर्म-निरपेक्ष कार्यक्रमों की समर्थक है।

एक अन्य प्रादेशिक पार्टी—जो पंजाब में अपनी जड़ें जमा चुकी है—अकाली दल है। इसका सूत्रपात पहले विश्वयुद्ध के बाद गुरुद्वारा सुधार आन्दोलन के रूप में हुआ था।[7] इस संगठन के माध्यम से सिक्खों ने गुरुद्वारों पर नियन्त्रण प्राप्त करने के लिए आन्दोलन किया था। बाद में इस पार्टी के सदस्यों ने पंजाबी सूबे की स्थापना के लिए आन्दोलन शुरू किया।[8] कुछ भी हो, अकाली दल शुरू से ही गुटबन्दी से ग्रस्त रहा है। एक गुट के नेता मास्टर तारा सिंह थे और दूसरे के सन्त फतेह सिंह। मास्टर तारा सिंह ने सिविखस्तान (सिक्खदेश) के लिए माँग की जिसमें सिक्खों को पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त हो। सन्त फतेह सिंह का दृष्टिकोण अधिक संयत था पर उन्होंने चण्डीगढ़, भाखड़ा बाँध और कुछ अन्य पंजाबी भाषाभाषी क्षेत्रों को पंजाब के साथ मिलाने की माँग रखी।

---

[4] वही, पृ० 59–60।

[5] वही, पृ० 77।

[6] 'फोर्थ जनरल इलैक्शन रिपोर्ट', 1971, खण्ड दो, स्टेटिस्टिकल।

[7] बलदेव राज नायर, 'माइनॉरिटी पॉलिटिक्स इन पंजाब' (प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1966), पृ० 66–67।

[8] नायर, वही, पृ० 98।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

1967 के चुनावों के बाद अकाली दल पंजाब की दूसरी सबसे बड़ी पार्टी के रूप में सामने आया पर उसे मिली-जुली सरकार बनाने के लिए कांग्रेस को छोड़कर अन्य पार्टियों के साथ समझौता करना पड़ा।[9] मार्च, 1967 को अकाली दल और जनसंघ ने एक समझौता किया और गुरनाम सिंह के नेतृत्व में संयुक्त मोर्चा सरकार बनायी गयी। मिली-जुली सरकार को राज्य विधानसभा के 104 सदस्यों में से केवल 53 सदस्यों का समर्थन प्राप्त था। गुरनाम सिंह ने अपने मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की संख्या 5 से बढ़ाकर 20 कर ली और इस प्रकार अपनी शक्ति को सुदृढ़ किया। नये मन्त्रियों में वे भी शामिल थे जो कांग्रेस-पार्टी को छोड़कर आये थे। इसके बावजूद मिली-जुली सरकार के सदस्यों के बीच नोक-झोंक शुरू हो गई। शिक्षा-मन्त्री लछमन सिंह गिल ने विधानसभा के 16 अन्य सदस्यों सहित संयुक्त मोर्चे का परित्याग कर दिया। जब गुरनाम सिंह ने देखा कि बहुमत उनके पक्ष में नहीं रह गया है तब उन्होंने राज्यपाल डी० सी० पावटे के पास अपना त्यागपत्र भेज दिया और विधानसभा भंग करने का सुझाव दिया। राज्यपाल ने विधानसभा को भंग करने की माँग स्वीकार नहीं की और लछमन सिंह गिल को मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए आमन्त्रित किया, जिन्हें कांग्रेस पार्टी का समर्थन प्राप्त था। गिल मन्त्रिमण्डल अधिक समय तक नहीं टिक सका। उनके मन्त्रियों में से दो ने उन्हें समर्थन देना बन्द कर दिया। गिल मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र देना पड़ा और जब वैकल्पिक मन्त्रिमण्डल बनाने के प्रयास विफल हो गये तब 23 अगस्त 1968 को पंजाब में राष्ट्रपति-शासन की घोषणा कर दी गई।

फरवरी, 1969 के मध्यावधि चुनावों के अवसर पर अकाली दल के दोनों गुट मिल कर एक हो गये और उन्होंने विधानसभा के 45 स्थान जीत लिए। फिर उन्होंने जनसंघ पार्टी के साथ गठजोड़ करके मिली-जुली सरकार बनाई।[10] अकाली दल के दोनों गुटों ने आपस में फूट नहीं पड़ने दी और वे मिली-जुली सरकार पर हावी रहे।

1971 के आम चुनावों में अकाली दल ने सत्तारूढ़ कांग्रेस के साथ चुनाव-सहबन्ध करने से इन्कार कर दिया और वह लोकसभा के अपने तीन स्थानों में से दो कांग्रेस को दे बैठा। परन्तु पंजाब राज्य सरकार उसके हाथ में रही। अकाली दल एक प्रमुख प्रादेशिक शक्ति है, ऐसी पार्टी नहीं जिसका कोई अपना कार्यक्रम हो।

एक अन्य प्रादेशिक दल मुस्लिम लीग है। हालांकि देश के बँटवारे के बाद उत्तर में मुस्लिम लीग एक राजनीतिक दल के रूप में पूरी तरह खत्म हो गई थी, फिर भी दक्षिण में वह केरल तथा तमिलनाडु में बची रही थी। केरल में मुसलमानों की संख्या राज्य की आबादी की 18 प्रतिशत है। दक्षिण-पश्चिम के तटवर्ती इलाके में मलाबार के अन्दर कुछ ऐसी बस्तियाँ हैं जिनमें मुसलमानों का बहुमत है। मुस्लिम लीग केरल की अस्थिर राजनीति में सन्तुलन की नियामक के रूप में उभरकर आई है, और 1957 से केरल में जो मिली-जुली

---

[9] विधान सभा के 104 स्थान विभिन्न पार्टियों के हिस्से में इस प्रकार आये थे : कांग्रेस 48, अकाली दल (सन्त समर्थक) 24, अकाली दल (मास्टर तारा सिंह समर्थक) 2, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी 5, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्स०) 3, संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी 1, रिपब्लिकन पार्टी 3, जनसंघ 9, और निर्दलीय 9।

[10] दिलीप मुकर्जी, 'द इण्डियन मिडटर्म इलेक्शन्स', 'द वर्ल्ड टुडे', मई, 1969, पृ० 212।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सरकारें बनीं उनमें इसने हिस्सा लिया है।[11] 1971 के चुनावों में भी मुस्लिम लीग को खासी सफलता मिली है। केरल के मलाबार क्षेत्र से उसे लोकसभा के दो परम्परागत स्थान फिर से प्राप्त हो गये हैं और उसने लोकसभा के दो अतिरिक्त स्थान भी जीत लिए हैं। पश्चिमी बंगाल में लीग ने संयुक्त वामपंथी लोकतन्त्रीय मोर्चे से चुनाव-समझौता कर लिया था। लीग ने तमिलनाडु, बिहार, उत्तर प्रदेश और हरियाणा में चुनाव लड़े हैं और इस प्रकार उसमें नई जिन्दगी आ गई है। जिन निर्वाचन क्षेत्रों में सत्तारूढ़ कांग्रेस के साथ उसका मुकाबला नहीं रहा उनमें उसने सत्तारूढ़ कांग्रेस को दृढ़ समर्थन दिया है।

एक अन्य प्रादेशिक पार्टी जो महाराष्ट्र में उभरकर सामने आई, शिवसेना है। इसका नारा है 'महाराष्ट्र महाराष्ट्रियों के लिए'।[12] इसके आक्रमण का मुख्य लक्ष्य दक्षिण भारतीय लोग हैं जो महाराष्ट्र में नौकरियों के बहुत बड़े हिस्से पर अधिकार किये हुए हैं। इस पार्टी के नेतृत्व की बागडोर बाल ठाकरे के हाथ में है। बम्बई नगर निगम परिषद् के 170 स्थानों में से 40 स्थान इस दल ने जीत लिए थे। 1967 के आम चुनावों में उत्तरी बम्बई निर्वाचन-मण्डल में कृष्ण मेनन के पक्ष को हराने के लिए एस० के० पाटिल ने इस पार्टी से लाभ उठाया था। फरवरी, 1969 में इस पार्टी ने निकटवर्ती मैसूर राज्य के कुछ इलाके (बेलगाम जिला) महाराष्ट्र को लौटाने की माँग रखकर अपना गुस्सा बम्बई के शान्ति-प्रिय नागरिकों पर उतारा था। कुछ भी हो, 1971 के चुनाव में शिवसेना अपने दक्षिण पंथी सहयोगियों समेत पूरी तरह पराभूत हुई, और उसने जिन पाँच संसदीय स्थानों के लिए चुनाव लड़ा था वे सब के सब उसके हाथ से निकल गये। परन्तु शिवसेना को एकदम मृत नहीं समझा जा सकता क्योंकि बम्बई नगर निगम परिषद् में उसकी स्थिति अभेद्य है।

अन्य प्रादेशिक पार्टियों में कांग्रेस के असन्तुष्ट वर्ग आ जाते हैं और उनमें सबसे प्रमुख भारतीय क्रान्ति दल (भाक्रांद) है, और यह उन लोगों का दल है जो कांग्रेस से टूटकर अलग हो गये थे। यह पार्टी नवम्बर, 1967 में असन्तुष्ट कांग्रेसियों के इन्दौर के सम्मेलन में उभरकर सामने आई थी। इस पार्टी का उद्देश्य इन बेमेल वर्गों को जोड़कर एक करना था जो 1967 के चुनावों से पहले या बाद में कांग्रेस से अलग हो गये थे। इन्दौर की बैठक में भारतीय क्रान्ति दल ने बिहार के तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्री महामाया प्रसाद सिन्हा को अपना प्रधान और महाराष्ट्र के श्री डी० के० कुंते को अपना महासचिव चुना। पार्टी ने गांधी-वादी विचारधारा में अपना विश्वास घोषित किया। भारतीय क्रान्ति दल के कार्यक्रमों में एक 'आधुनिक' गांधी की आत्मा की झलक मिलती है। यह 'चर्खे' के प्रति आस्था व्यक्त नहीं करती बल्कि कृषि के आधुनिकीकरण तथा तकनीकी शिक्षा और प्रशिक्षण को प्राथमिकता देती है। यह औद्योगीकरण का भी समर्थन करती है परन्तु इसका सुझाव है कि विकास का प्रक्रम नीचे से शुरू होना चाहिए, ऊपर से नहीं।[13]

---

[11] केरल विधानसभा में मुस्लिम लीग को प्राप्त स्थानों की संख्या :

1957	1960	1965	1967	1970
8	11	6	14	12

[12] 'स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया', सं० माइरिन वाइनर (प्रिंसटन, 1968), पृ० 202।

[13] 'भारतीय क्रान्ति दल : एम्स एण्ड प्रिंसिपल्ज', लखनऊ, पृ० 8।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारतीय क्रान्ति दल में आन्तरिक दृढ़ता का अभाव है और उसे सर्वसाधारण का समर्थन प्राप्त नहीं है। इसका समर्थन करने वाले जाट जाति के भूमिधर किसान हैं। उत्तर प्रदेश के अलावा यह पार्टी कहीं भी एक सुदृढ़ शक्ति के रूप में सामने नहीं आ सकी। बिहार में 1969 में जो मध्यावधि चुनाव हुए उनमें इसे भारी क्षति उठानी पड़ी। उत्तर प्रदेश में इसकी सफलता का मुख्य श्रेय इसके संस्थापक नेता चौधरी चरणसिंह को है जो राज्य की राजनीति में उच्च जातियों की प्रधानता के विरुद्ध तीन सुदृढ़ पिछड़ी जातियों—जाटों, अहीरों और कुर्मियों को संगठित करने में कामयाब हो गये थे।[14] भारतीय क्रान्ति दल को दलित और पिछड़े वर्गों का ठोस समर्थन प्राप्त है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के गन्ना-उत्पादक इलाके में इसकी जड़ें जमी हुई हैं। सन् 1967–68 में चौधरी चरणसिंह के अधीन संयुक्त विधायक दल की सरकार के समय जब चीनी की कीमतें बढ़ गई थीं तब भारतीय क्रान्ति दल के समर्थक गन्ना-उत्पादकों ने 200 करोड़ रुपए कमा लिए थे।

मध्यावधि चुनावों में भारतीय क्रान्ति दल को उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों के मुकाबले पश्चिमी जिलों में अधिक सफलता प्राप्त हुई।[15] इसका कारण यह था कि पश्चिमी जिलों में भारतीय क्रान्ति दल को पिछड़ी और अनुसूचित जातियों का समर्थन प्राप्त हो गया जो वहाँ की जनसंख्या के 70 प्रतिशत से भी अधिक हैं, पर उसे उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों के सम्पन्न और उच्च जातियों के हिन्दुओं का समर्थन नहीं मिला क्योंकि वे कांग्रेस पार्टी के मुख्य समर्थक थे। मध्यावधि चुनावों में भारतीय क्रान्ति दल ने विधानसभा के 98 स्थानों पर अधिकार कर लिया और जनता के 21·29 प्रतिशत वोट उसके हिस्से में आये।

परन्तु 1971 के चुनावों में भारतीय क्रान्ति दल को मुँह की खानी पड़ी क्योंकि लगता है, चौधरी चरणसिंह अपनी क्षमता से आगे बढ़ गये थे। उन्होंने न तो अपनी पार्टी को तथाकथित 'महागठबन्धन' (ग्रैण्ड अलायंस) के साथ मिलाया और न सत्तारूढ़ कांग्रेस के साथ। उत्तर प्रदेश में, जहाँ राज्य के पश्चिमी जिलों में इसे जाटों का भारी समर्थन प्राप्त था वहाँ से लोकसभा के 10 स्थानों में से 9 इसके हाथ से निकल गये। इससे भारतीय क्रान्ति दल की प्रतिष्ठा को बड़ी क्षति पहुँची है और एक स्वतन्त्र राजनीतिक सत्ता के रूप में इसका अस्तित्व बने रहने की आशाएँ धूमिल हो गई हैं।

कांग्रेस पार्टी से जन्मी बंगला कांग्रेस एक अन्य प्रादेशिक पार्टी है। 1966 की गर्मियों में अजय मुखर्जी अपने समर्थकों को साथ लेकर कांग्रेस पार्टी से अलग हो गये और उन्होंने बंगला कांग्रेस बना ली ताकि वे अतुल्य घोष के नेतृत्व वाले राजनीतिक तन्त्र से लड़ सकें। 1967 के आम चुनावों के बाद अजय मुखर्जी ने 14 संयुक्त वामपंथी दलों के सहयोग से एक व्यापक संयुक्त मोर्चा सरकार बनाई। इस मिली-जुली सरकार में अजय मुखर्जी और ज्योति बसु तथा मन्त्रिमण्डल के कम्युनिस्ट-मार्क्सिस्ट सदस्यों के बीच मतभेदों का बोल-बाला रहा है। अजय मुखर्जी संयुक्त मोर्चा मन्त्रिमण्डल के आन्तरिक कलह से इतने तंग आ गये थे कि उन्होंने अपने मन्त्रिमण्डल को ही गिरा देना चाहा। बाद में उन्होंने अपना इरादा

---

[14] दिलीप मुकर्जी, उपर्युक्त, पृ० 216।

[15] आर० एन० माथुर, 'मिड-टर्म इलेक्शन्स इन यू० पी०', 'द इण्डियन पोलिटिकल साइन्स रिव्यू', जिल्द 4, अंक 2, पृ० 192।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

बदल दिया। इससे कांग्रेस पार्टी नाराज हो गई और वह अजय मुखर्जी के मन्त्रिमण्डल को गिराने को उत्सुक हुई ताकि उसकी जगह एक भूतपूर्व कांग्रेसी नेता डा० पी० सी० घोष के नेतृत्व में वैकल्पिक मन्त्रिमण्डल की स्थापना की जा सकती। डा० पी० सी० घोष ने एक अपनी पार्टी बना ली थी जिसका नाम प्रगतिशील लोकतन्त्रीय मोर्चा (प्रोग्रेसिव डेमोक्रेटिक फ्रंट) रखा गया था। 3 नवम्बर, 1967 को विधानसभा के अन्य 17 सदस्यों समेत उन्होंने संयुक्त मोर्चा सरकार का त्याग कर दिया और राज्यपाल को इसकी सूचना दे दी। राज्यपाल ने अजय मुखर्जी से 30 नवम्बर, 1967 बीतने से पहले-पहले विधानसभा बुलाने को कहा ताकि यह मालूम किया जा सकता कि क्या उसे अब भी बहुमत का विश्वास प्राप्त है या नहीं। अजय मुखर्जी ने 18 दिसम्बर, 1967 से पहले सदन का अधिवेशन बुलाने से मना कर दिया। राज्यपाल ने अजय मुखर्जी को पदच्युत कर दिया और डा० पी० सी० घोष को मुख्यमन्त्री बना दिया। इस बीच पश्चिमी बंगाल की राजनीति में दल टूटते-बिखरते रहे। हुमायूँ कबीर बंगला कांग्रेस से अलग हो गये और उन्होंने लोक-दल नाम की नई पार्टी बना ली। 1968 में छः अन्य बंगला कांग्रेस सदस्यों ने भी अपनी पार्टी छोड़कर जहाँगीर कबीर के नेतृत्व में नेशनल पार्टी ऑफ बंगाल बना ली। डा० पी० सी० घोष मन्त्रिमण्डल भी अस्थिर सिद्ध हुआ। 14 जनवरी, 1968 को श्री आशुतोष के नेतृत्व में कांग्रेस के 30 विधायकों ने प्रगतिशील लोकतन्त्रीय मोर्चे तथा कांग्रेस के गठबन्धन को समर्थन देना बन्द करने का निर्णय कर लिया। इस राजनीतिक गतिरोध के कारण पश्चिमी बंगाल में राष्ट्रपति का शासन लागू कर दिया गया और 20 फरवरी, 1968 से पश्चिमी बंगाल विधानसभा भंग कर दी गई। फरवरी, 1969 में शासन के सम्बन्ध में जनता की राय जानने के लिए पश्चिमी बंगाल में मध्यावधि चुनाव कराये गये।

1969 में जो मध्यावधि चुनाव हुए उनमें बंगला कांग्रेस ने राज्य विधानसभा के 33 स्थान जीत लिए और इस प्रकार यह सिद्ध कर दिया कि वह अब भी एक ऐसी शक्ति थी जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। अजय मुखर्जी ने फिर जोड़-तोड़ करके भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (दक्षिण पंथी) और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) के साथ मिलकर मिली-जुली सरकार बना ली। यह सरकार भली-भाँति कार्य नहीं कर सकी। बंगला कांग्रेस ने कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) पर आरोप लगाया कि उसने राज्य के विभिन्न हिस्सों में 'आतंक-राज्य' स्थापित कर रखा था। मुख्यमन्त्री अजय मुखर्जी विध्वंस और बर्बरता की सभी गति-विधियों को असहाय दर्शक के रूप में देखते रहे। मार्च, 1970 में मुखर्जी त्यागपत्र देने को विवश हो गये और इसके बाद वहाँ राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया।[16]

1971 के आम चुनावों में बंगला कांग्रेस को भारी नुकसान उठाना पड़ा क्योंकि उसे कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) और नई कांग्रेस जैसे शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वियों का सामना करना पड़ा। लोकसभा का तो एक भी स्थान उसके अधिकार में न रह सका और राज्य विधानसभा में उसे कुल 4 स्थान प्राप्त हुए। एक राजनीतिक पार्टी के रूप में बंगला कांग्रेस का भविष्य अनिश्चित है।

आन्ध्र प्रदेश की तेलंगाना प्रजा समिति एक अन्य प्रादेशिक दल है जिसने पृथक्

---

[16] 'हिन्दुस्तान टाइम्स', 7 मार्च, 1970।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

तेलंगाना-राज्य की स्थापना के सवाल पर एक पृथक् इकाई के रूप में कार्य करने के लिए कांग्रेस पार्टी से सम्बन्ध तोड़ लिया था।[17] 1971 से पहले तेलंगाना प्रजा समिति ने श्रीमती गांधी के साथ एक चुनाव-समझौता किया और राष्ट्रीय महत्त्व के मामलों पर उन्हें समर्थन देने का आश्वासन दिया। 1971 के आम चुनावों में प्रजा समिति ने लोकसभा के 10 स्थान जीत लिए। ब्रह्मानन्द रेड्डी के मुख्यमन्त्री पद से हट जाने तथा नरसिंह राव को उनके उत्तराधिकारी के रूप में शपथ दिलाए जाने से समिति की बहुत कुछ उत्तेजना शान्त हो गई है। समिति के सदस्य आन्ध्र प्रदेश की नई कांग्रेस में फिर से शामिल हो गये हैं। सरकार तेलंगाना के लोगों की प्रादेशिक माँगें पूरी करने की कोशिश में है। समिति के सदस्य कांग्रेस पार्टी के अन्दर प्रभावक गुटों (प्रेशर ग्रुपों) के रूप में कार्य कर रहे हैं।

प्रादेशिक पार्टियों ने राज्य विधानसभाओं और लोकसभा के स्थान प्राप्त करने में जो प्रगति की उसकी झलक निम्नलिखित आँकड़ों से मिल जायेगी :

सारिणी 1 : राज्य विधानसभाओं में प्राप्त स्थान

दल	1962	1967	1969	1970	1971
1. द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम	53	138	43	—	184
2. अकाली दल	19	26	45	—	—
3. भारतीय क्रान्ति दल	—	—	98	—	—
4. बंगला कांग्रेस	—	34	33	—	5
5. मुस्लिम लीग	11	14	—	18	25
6. शिव सेना	—	—	—	1	—
7. उत्कल कांग्रेस	—	—	—	—	34

सारिणी 2 : लोकसभा में प्रादेशिक पार्टियाँ

दल	1962	1967	1971
1. द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम	7	25	23
2. अकाली दल	3	3	1
3. भारतीय क्रान्ति दल	—	11	1
4. बंगला कांग्रेस	—	5	0
5. मुस्लिम लीग	2	2	4
6. तेलंगाना प्रजा समिति	—	—	10
योग			39

ऊपर दी गई सारणियों से यह संकेत मिलेगा कि शिवसेना को छोड़कर अन्य प्रादेशिक पार्टियों ने पर्याप्त स्थान प्राप्त किये हैं और वे अब भी ऐसी राजनीतिक शक्ति हैं

[17] 'द हिन्दू', 5 फरवरी, 1970, पृ० 1।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शिवसेना को छोड़कर इन सभी प्रादेशिक पार्टियों के नेता राज्य मन्त्रिमण्डलों के अन्दर अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण पदों पर रहे हैं जिनमें मुख्यमन्त्री का पद भी शामिल है। द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम सबसे कामयाब संगठित राजनीतिक पार्टी के रूप में सामने आई है और 1971 के चुनावों में इन्दिरा गांधी के साथ चुनाव-समझौते करने के बावजूद इस पार्टी ने अपना अलग स्थान बना रखा है। दक्षिण के कुछ हिस्से मुस्लिम लीग के गढ़ हैं। जहाँ तक अकाली दल का सम्बन्ध है, 1971 में लोकसभा के चुनावों में वह पराभूत तो हो गया था परन्तु उसे सिक्खों का सुदृढ़ समर्थन प्राप्त है और वह प्रादेशिक भावना के आधार पर पनप रहा है। उड़ीसा में प्रादेशिक शक्तियों का जोर है; बीजू पटनायक की उत्कल कांग्रेस और झारखण्ड पार्टी का प्रादेशिक स्तर पर प्रभाव है। शिवसेना 1971 के लोकसभा के चुनावों में छिन्न-भिन्न तो हो गई थी, पर उसे मृत नहीं समझा जा सकता क्योंकि नगर निगम अब भी उसके नियन्त्रण में है। 1972 के आगामी राज्य-स्तरीय चुनावों में प्रादेशिक और स्थानीय सवाल महत्त्वपूर्ण बन जायेंगे और तब सम्भवतः प्रादेशिक राजनीतिक पार्टियाँ स्थिति का लाभ उठायेंगी। यह उन मुख्य कारणों में से एक हैं जिनसे प्रेरित होकर श्रीमती इन्दिरा गांधी ने जनता का ध्यान राष्ट्रीय महत्त्व के प्रश्नों पर केन्द्रित करने के उद्देश्य से ऐसा प्रबन्ध किया कि लोकसभा के और राज्य विधानसभाओं के चुनाव साथ-साथ न हों। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत जैसे विशाल देश में जहाँ तरह-तरह के लोग बसते हैं और जहाँ विभिन्न राज्यों के लोगों के रहन-सहन के स्तर में भारी विषमताएँ पाई जाती हैं और प्रादेशिक विषमताओं की सारी समस्या आर्थिक विकास, वित्तीय साधनों के अवस्थापन, इस्पात संयन्त्र और प्रमुख इन्जीनियरी कारखाने लगाने से सम्बन्ध रखती है, वहाँ प्रादेशिकता की राजनीति आने वाले कुछ समय तक अवश्य पनपेगी। कुछ निराशावादी सोचते हैं कि प्रादेशिकता की भावना देश की राष्ट्रीय एकता के लिए असली खतरा है और उसके परिणामस्वरूप संयुक्त भारत के टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे।[18] वर्तमान की तरह अतीत में भी ऐसी पृथक्तावादी माँगें रखी गई हैं जैसे कि तमिलनाडु के लोगों ने द्रविड़िस्तान की, अकालियों ने सिक्खिस्तान की तथा जनजातीय समुदायों ने स्वतन्त्र नागा राज्य की माँग की और उत्तर-पूर्व में मिजो की लड़ाकू जनजातियों में, बिहार के अन्दर छोटा नागपुर के इलाके में, मध्य प्रदेश के जनजातीय क्षेत्रों में तथा असम की पहाड़ियों के लोगों में भी पृथक् राज्य की माँगें सुनी गई हैं। हाल ही में शिक्षा, आर्थिक विकास और राजनीतिक जीवन में भाग लेने के अनुभव से पैदा होने वाली राजनीतिक चेतना के कारण इन भेदों को प्रमुखता दी जाने लगी है। हमें इस कारण निराशावादी नहीं बन जाना चाहिए। जब कोई संघीय प्रणाली वाला राष्ट्र विषमतापूर्ण इकाइयों को संयुक्त, आत्मसात् और समायोजित रखने का प्रयत्न करता है तब उसे इन कठिन समस्याओं का सामना करना ही पड़ता है और इन्हें सुलझाने में कल्पनाशक्ति और दूरदर्शिता से काम लेना चाहिए। सरकार ने इन समस्याओं के समाधान का जो प्रयत्न किया है उससे देश में एकता की क्षमता लक्षित होती है। द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम की सरकार—जो पृथक्तावादी प्रवृत्तियों में विश्वास करती थी—अब राष्ट्रीय एकता की पुकार सुनने लगी है और केन्द्रीय सरकार के प्रति उसका रुख सहयोगपूर्ण होता जा

---

[18] सेलिग एस० हैरीसन, 'इण्डिया : द मोस्ट डेंजरस डिकेड्स', (प्रिंसटन, 1968)।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

रहा है। नागालैण्ड की स्थापना करके नागा जनजातियों के लोगों को, और मेघालय की स्थापना करके असम की जनजातीय पार्टी को तुष्ट कर दिया गया है। भारत जैसे विशाल और वैविध्यपूर्ण देश का शासन नई दिल्ली में बैठकर मनमाने ढंग से नहीं चलाया जा सकता। उसे केवल 'राजनीति के ऐसे रूप से ही—जिसमें लोग हिस्सा लें और साथ मिलकर रहें—एकता के सूत्र में बाँधा जा सकता है।'[19] केन्द्र और राज्यों के बीच वित्तीय असन्तुलन और विभिन्न राज्यों के बीच आर्थिक विषमताएँ दूर करना भी आवश्यक है क्योंकि उनसे केन्द्र और राज्यों के सम्बन्धों में सख्त तनाव पैदा हो रहा है। प्रादेशिकता की माँग स्थानीय स्वायत्तता तथा आर्थिक आवश्यकताओं के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता की माँग है। राष्ट्रीय एकता और असली मेलजोल केन्द्र को ऐसा रूप देकर पैदा नहीं किये जा सकते जिसमें वह बल-प्रयोग कर सके, बल्कि इसके लिए सहयोगपूर्ण संघीय प्रणाली का सिद्धान्त अपनाना होगा जिसके अन्तर्गत विभिन्न इकाइयाँ राष्ट्र-निर्माण के सामान्य लक्ष्य की सिद्धि में गर्व और साझेदारी की भावना अनुभव करें।

---

[19] रजनी कोठारी, 'पॉलिटिक्स इन इण्डिया', (ओरियन्ट लांगमैन लि०, 1970), पृ० 337।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारतीय संसद और विरोध पक्ष

जवाहर लाल कौल

भारत विशेष रूप से विरोधी दलों की दृष्टि से बदनसीब रहा है। ऐसा नहीं कि भारत में विरोधी दल नहीं बने या आज नहीं हैं, मगर अपने छोटे आकार और सीमित प्रभाव के कारण वह प्रतिपक्ष का आभास और आश्वासन देने में असमर्थ रहे हैं। संख्या में बहुत होने के बावजूद वह लोकतान्त्रिक शासन-पद्धति को नियन्त्रित करने और राजनीति को एक विशेष दिशा देने की क्षमता नहीं रखते। सत्तारूढ़ दल अधिसंख्य लोगों का दृष्टिकोण होता है मगर लोकतान्त्रिक पद्धति के लिए जरूरी है कि 49 प्रतिशत जनता की आवाज भी सशक्त रूप से उठे और सुनी जाये। इस पद्धति में इन दो शक्तियों के घात-प्रतिघात से ही एक सन्तुलित किन्तु विकासशील राजनीतिक और लौकिक प्रक्रिया शुरू होती है और चालू रहती है। मगर भारत में विरोधी दलों के दलगत स्वार्थ और दृष्टिभेद उनको एक दूसरे से भी इतना दूर रखते हैं कि उनकी आवाजें सत्तारूढ़ दल के विरुद्ध जनमत का पक्ष ठोस रूप में नहीं रख सकतीं। वास्तव में विरोधी दल सत्तारूढ़ दल से असहमत जनता को जोड़ने के बदले बाँटने का काम करते हैं और अलग-अलग विरोधी दल जनमत के इन टुकड़ों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो सत्तारूढ़ दल के पक्षपाती एक साबुत जनमत के सामने टुकड़े ही रहते हैं। सरकार को कौन नियन्त्रित करता है ? प्रजातान्त्रिक सरकार आंशिक रूप से अपने ही समर्थकों से नियन्त्रित होती है मगर मुख्य रूप से नियन्त्रण समरूप विरोध पक्ष द्वारा होता है। इस सम्बन्ध में मौरिस जौन्स का यह कथन विचारणीय है कि 'भारत के शासनतन्त्र में सरकार एक समरूप और सशक्त विरोधीपक्ष के सामने नहीं खड़ी है। न ही यह फ्रांसीसी तर्ज की सरकार है जहाँ सरकार विरोध पक्ष की दो शाखाओं (दक्षिण और वाम), जो लगातार उसे हड़पने के लिए तैयार रहती हैं, के सामूहिक विरोध से बचकर ही जीवित रहती है। विशेष परिस्थितियों में भारतीय दल-पद्धति में सरकार प्रभावशाली ढंग से नियन्त्रित नहीं है, यह केवल देश में अपनी सामान्य लोकप्रियता को बनाये रखने और विविध विचारों के अपने समर्थकों के मत में समय-समय पर परिवर्तन से ही प्रभावित होती है।'

भारतीय संसद और बहुत सी विधानसभाओं में आज कांग्रेस इतने बहुमत में है कि उसे कोई भी नीति बनाने और पारित करवाने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं आती। 1969 के बाद एक वर्ष को छोड़कर आमतौर पर स्वतन्त्रता के बाद की सम्पूर्ण अवधि के लिए कांग्रेस को कभी विरोध पक्ष से गम्भीर खतरे का अनुभव नहीं हुआ और इसलिए देश में जो कांग्रेस जनमत रहा है उसकी आवाज की सरकार द्वारा बहुत हद तक उपेक्षा की गयी है। भारत के लिए यह इसलिए और भी गम्भीर परिस्थिति रही है क्योंकि कांग्रेस कभी भी 50 प्रतिशत

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

या अधिक मत प्राप्त नहीं कर सकी । आज भी जबकि उसे संसद में दो-तिहाई बहुमत प्राप्त हैं मध्यावधि चुनावों में कांग्रेस (नयी) द्वारा प्राप्त मत-प्रतिशत 50 से कम था। यह कहा जा सकता है कि कांग्रेस 1952 से ही प्राप्त प्रति दो मत के लिए तीन मतों के अधिकार का उपभोग और उपयोग करती रही है।

भारत में कांग्रेस का स्थान सामान्य राजनीतिक दलों से अलग रहा है । स्वतन्त्रता से पूर्व यह एक राष्ट्रीय मंच था जिस पर हर वह व्यक्ति खड़ा होता था जो कुछ सामान्य नियमों—अहिंसा और हिन्दू-मुस्लिम एकता—आदि को मानते हुए स्वतन्त्रता संग्राम में अपना योगदान देना चाहता था । उस समय सैद्धान्तिक समरूपता या दलगत अनुशासन की अधिक आवश्यकता नहीं थी । स्वतन्त्रता के बाद सरकार चलाने का दायित्व सीधे अंग्रेजों से कांग्रेस को प्राप्त हुआ । भारतीय जनता को बहुत हद तक इस बात का एहसास ही नहीं हुआ कि अंग्रेजों के बाद उन्हें अपने में से चुने हुए प्रतिनिधियों को शासन चलाने के लिए भेजना चाहिए और उन प्रतिनिधियों पर शासन चलाने से कहीं अधिक इस बात का उत्तरदायित्व है कि वह इस देश—यहाँ की जनता—की भौतिक प्रगति और सामाजिक विकास के रास्ते खोल दें। भारतीय जनता उस समय एक आदर्श से प्रेरित थी कि देश में स्वाधीन सरकार हो जबकि स्वाधीनता के बाद आदर्श होना चाहिए था कि स्वाधीन सरकार उत्तरदायी सरकार भी हो।

उत्तरदायित्व का शाब्दिक अर्थ लिया जाये तो निस्संदेह भारत सरकार पहले दिन से ही एक उत्तरदायी सरकार रही है । तकनीकी दृष्टि से 26 जनवरी, 1950 से वह संसद के समक्ष जवाबदेह बनी है । मगर प्रश्न शब्दों का नहीं भावना का है, क्योंकि प्रजातन्त्र एक भावना है और उसी भावना से प्रेरित एक पद्धति भी। यदि सत्ता को प्रभावी चुनौती नहीं मिलती और जवाब माँगने वालों के आग्रह के बावजूद उसकी उपेक्षा करना सबसे सुगम रास्ता है तो उत्तरदायित्व एक औपचारिकता हो जाती है।

कोई संसदीय प्रजातन्त्र अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता जब तक कि उसकी प्रगति ऐसे घात-प्रतिघात का परिणाम न हो जो सत्तारूढ़ दल (और परोक्ष में सबसे बड़े मतदाता वर्ग) और विरोध पक्ष (या सत्तारूढ़ दल के दृष्टिकोण से असहमत जनमत) के घनिष्ठ वैचारिक (और यदि सम्भव हो तो कृतित्व सम्बन्धी) क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न होता है। मगर भारत में विरोधी दल कभी भी (1969 वर्ष को छोड़कर) इस स्थिति में नहीं आये कि वह सरकारी पक्ष को अपने समर्थक जनमत के प्रतिनिधि के रूप में अपनी बात गम्भीरता-पूर्वक सुनने पर मजबूर कर सकें। सच तो यह है कि भारतीय संसद में विरोधी दल अपनी आलोचना, निन्दा या ध्यानाकर्षण प्रस्तावों द्वारा सत्तारूढ़ दल-रूपी हाथी को कंकड़ मारने में ही सफल हुए हैं, जो उसे परेशान तो कर सकते हैं, मगर चिंतित नहीं।

इस स्थिति से जहाँ भारतीय संसदीय बहसों में कुछ मात्रा में अवास्तविकता का आभास आया है वहाँ सामान्य-जन की आस्था संसद की कार्रवाइयों में बढ़ने के बदले घटने लगी है। उनके लिए संसद प्रजातान्त्रिक शासन-प्रणाली की शक्ति और दिशा देने वाला प्रेरणास्थल नहीं बल्कि संसद से बाहर लिये गये फैसलों, नीतियों और कार्यक्रमों को औप-चारिकता प्रदान करने वाला साधनमात्र बनता जा रहा है जिसका परिणाम यह निकलता जा रहा है कि आज की भारतीय संसद लोगों द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों की मंच होते हुए भी भारतीय जनता की भावनाओं की दर्पण नहीं रही है और न भारत की राजनीतिक

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्रक्रिया की धुरी ही । कारण, विरोधी दलों की गम्भीर चुनौती के अभाव में सत्तारूढ़ दल के अधिसंख्य संसद-सदस्यों को संसदीय मंच की अपेक्षा संसद से बाहर कार्यक्षेत्र दिखाई देता है।

इससे एक स्वाभाविक प्रश्न पैदा होता है । क्या भारत के विरोधी दलों का संसदीय योगदान कुछ भी नहीं ?

संसद में विरोधी दलों की भूमिकाएँ और भारत सरकार के नीति-विकास का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होगा कि अपने छोटे आकार और गम्भीर मतभेदों के बावजूद विरोध पक्ष सरकार की नीतियों और दृष्टिकोण को बराबर परिवर्तित करने में सफल हुआ है । मगर प्रायः इस परिवर्तन का श्रेय विरोधी दलों के लिए मनोवैज्ञानिक वेदना का एक बहुत बड़ा कारण रहा है । इस बात के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं कि बहुत सी सरकारी नीतियों या कार्यक्रमों का सबसे पहले आग्रह संसद में किसी विरोधी दल से आया । माँग को तुरन्त मनवाने की क्षमता विरोधी दल में नहीं थी । अगर जब कुछ वर्ष बाद उसी माँग को कांग्रेस के भीतर एक या दूसरे गुट ने कुछ उसी रूप में या संशोधनों के साथ अपनी माँग के रूप में पेश किया तो वह सत्तारूढ़ दल के आर्थिक या सामाजिक कार्यक्रम का एक अंग बन गयी ।

पिछली संसद में प्रस्तुत प्रसोपा सदस्य श्री नाथ पै का सांविधानिक संशोधन विधेयक ही लें । उस विधेयक ने संसद में ही नहीं सम्पूर्ण देश में सांविधानिक चर्चा आरम्भ कर दी । सत्तारूढ़ कांग्रेस का रुख उस समय विरोधी न सही उदासीनतापूर्ण तो था ही । बहुत सम्भव है कि यदि स्वयं कांग्रेस दल के भीतर गुटों के कश-मकश ने 1969 के विभाजन की स्थिति पैदा न की होती तो आज भी नाथ पै द्वारा उठाया गया सवाल उपेक्षा के दराज में दबकर पड़ा होता । कांग्रेस विभाजन के कारण ही उस संशोधन को नयी कांग्रेस ने विचारधारा का एक चोला पहनाकर स्वीकार किया । फिर भी संविधान के चौबीसवें संशोधन का श्रेय विरोध-पक्ष को न मिलकर कांग्रेस की उपलब्धियों के खाते में जमा हो गया ।

यह शोध एक विषय है कि कांग्रेस ने कितनी बातें दूसरे भारतीय दलों के मुख्य कार्यक्रमों और नीतियों से ग्रहण की हैं । गत दशकों में भारतीय समाजवादी दलों के वार्षिक अधिवेशनों पर पारित प्रस्तावों और आन्दोलनों की वैचारिक पृष्ठभूमि तथा चुनाव घोषणापत्रों का अध्ययन यह सिद्ध करेगा कि बहुत सी बातें कही जा चुकी हैं जो आज कांग्रेस की वर्तमान समाजवादी तस्वीर बनाये हुए हैं । कुछ लोग इसे वैचारिक गतिशीलता कहते हैं मगर औरों की नजर में कांग्रेस विचारधारा के बारे में एक ऐसा पौधा है जो अपने से छोटे-छोटे पौधों द्वारा अर्जित खाद्य चुराकर अपनी भीमकाय आकृति से शाश्वत होने का आभास देता है ।

खैर यह इस लेख का विषय नहीं है । यहाँ इसके उल्लेख का उद्देश्य केवल यह बताना है कि विरोधी दलों की भारतीय सांविधानिक और राजनीतिक विकास में संसदीय उपलब्धियों का श्रेय स्वयं लेना कांग्रेस के स्वभाव का संसदीय प्रतिबिम्ब ही है ।

इस बात की चर्चा न करते हुए कि यह सब क्यों सम्भव हो जाता है, या विरोधी दल अभी तक अपने आपको कांग्रेस की मारक छाया से बाहर क्यों नहीं ला पाये हैं संसद में विरोधी दलों की भूमिका के अन्य महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर विचार करना उचित होगा ।

इस बात में कोई सन्देह नहीं कि विरोधी दलों ने अनेक ऐसे सांसदों को पैदा किया जो लोकसभा और राज्यसभा में प्रतिष्ठा का स्थान प्राप्त कर चुके हैं । बल्कि यह कहा जाये

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि विरोध पक्ष ने सरकारी पक्ष की अपेक्षा तुलनात्मक दृष्टि से अधिक सशक्त और प्रभावशाली वक्ता उत्पन्न किये और ऐसा आभास भी मिला है कि संसद में मन्त्री उचित मात्रा में तार्किक सहयोग के अभाव में अपने आपको अकेले महसूस करते रहे हैं।

विरोधी दलों के अनेक सदस्यों द्वारा जागरूकता और उत्तरदायित्व का प्रमाण देने के बावजूद सरकार द्वारा अपने समय पर नीतियों में संशोधन या परिवर्तन कराने में असफल विरोधी दलों के असन्तोष ने प्रायः निराशा का रूप भी धारण किया है जिसकी अभिव्यक्ति 'गैर संसदीय' नोंक-झोंक में होती ही रहती है। संसद के भीतर शासन को प्रभावित न कर सकने के कारण ही देश के विभिन्न भागों में रोष और असन्तोष को व्यक्त करने के लिए आन्दोलनों और बन्दों का अधिक से अधिक सहारा लिया जाने लगा है, जो प्रायः अपने साथ हिंसा और तोड़फोड़ भी लाते हैं। असहमति की अभिव्यक्ति का यह तरीका विरोध पक्ष की असफलता का परिणाम है।

रावर्ट स्टर्न के अनुसार गत वर्षों में कांग्रेस का विकास अपने अलग-अलग स्वार्थों से युक्त प्रादेशिक और स्थानीय गुटों के एक राष्ट्रीय संयुक्त दल के रूप में होता रहा है। मगर अब भी कांग्रेस मानसिक रूप से स्वतन्त्रतापूर्व के राष्ट्रीय आन्दोलन की अपनी स्थिति से नीचे उतर कर शुद्ध राजनीतिक दल के स्तर पर आने से हिचकिचाती रही है। वास्तव में इस भ्रान्ति को प्रायः अपरिपक्व मतदाता के सामने जानबूझ कर अपनी समर नीति के रूप में भी कांग्रेस रखने से नहीं चूकती। कांग्रेस के चोटी के नेताओं द्वारा गर्वोक्तियों के रूप में इस प्रवृत्ति का प्रतिविम्ब संसद में भी दिखाई देता है। विरोधी दल कांग्रेस की इस मनःस्थिति को बदलने में असमर्थ होकर कुपित और असन्तुष्ट होते हैं जिससे, जैसा कि मोरिस जोन्स ने कहा है, सरकार में असहयोगी प्रवृत्ति और विरोधी दलों में उत्तरदायित्वहीनता पैदा होती है। संसद के भीतर इस उत्तरदायित्वहीनता के तत्त्व सभी दलों में एक समान नहीं दिखाई देते। प्रायः अधिक सुसंगठित दलों में यह प्रवृत्ति सबसे कम दिखाई देती है।

भारतीय संसद में विरोध पक्ष का भविष्य क्या होगा? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसमें अनेक प्रश्न निहित हैं; क्या भारत में ध्रुवीकरण सम्भव है और ऐसी प्रक्रिया को कांग्रेस कहाँ तक रोक सकती है? चौथे आम निर्वाचन में कांग्रेस की लोकप्रियता को भारी धक्का लगने के बावजूद भारतीय मतदाता पुनः कांग्रेस के छाते के नीचे क्यों चला गया? सच तो यह है कि इस प्रश्न का उत्तर खोजते समय यह भी पूछना पड़ेगा कि क्या भारतीय मतदाता मानसिक रूप से सही प्रजातान्त्रिक पद्धति के लिए तैयार है? कुछ भी हो, कांग्रेस के विकास और पतन के साथ विरोधी दलों का गहरा सम्बन्ध है। मगर जरूरी नहीं कि कांग्रेस का विघटन विरोधपक्ष की मजबूती में ही परिणत हो जाये। एडवर्ड शिल्स के शब्दों में 'कांग्रेस जैसे सत्तारूढ़ दलों के टूटने से तात्कालिक छोटे और प्रभावहीन विरोधी दल स्वतः शक्तिशाली और युक्तिसंगत नहीं बनते।'

ल्योनार्ड शैपिरो के इस कथन को कि 'क्रान्तियाँ विरोधपक्ष की असफलता के लक्षण हैं, उसकी सफलता के नहीं' थोड़ा सा परिवर्तित करके कहा जा सकता है कि उत्पात और हिंसात्मक विद्रोह संसदीय विरोधपक्ष की सामर्थ्यहीनता के लक्षण हैं, और स्वयं संसदीय प्रजातान्त्रिक पद्धति के लिए खतरे की पूर्वसूचना हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कांग्रेस दल व भारतीय राजनीति में जातिवाद

जगदीश चन्द्र जौहरी

यदि समाज विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र को आधार मानकर भारतीय राजनीति का विश्लेषण किया जाये, तो ज्ञात होगा कि जातिवाद ने उस पर पिछले लगभग 100 वर्षों से अपना निश्चित प्रभाव डाला है। ऐसा प्रभाव ग्रामीण, जनपदीय, क्षेत्रीय तथा प्रान्तीय स्तरों पर विदित होता है, जबकि अखिल भारतीय स्तर पर यह बहुत आंशिक प्रतीत होता है।[1] विषाद का विषय यह है कि भारत में ऐसी हानिकारक प्रवृत्तियाँ बल पकड़ती जा रही हैं जबकि हमारा संविधान इस देश में लौकिक, राष्ट्रीय व लोकसत्तात्मक शक्तियों को निरन्तर बल देने की दिशा में दृढ़ संकल्प है। व्यावहारिक एवं यथार्थपूर्ण दृष्टिकोण से भारत की राजनीति की समीक्षा इसी तथ्य की पुष्टि करती है कि बड़े उच्च कोटि के प्रभावशाली नेतागण तक जातिवाद के आधार पर प्रचार व विजय के यन्त्रों में विश्वास रखते हैं, चाहे वह बाहरी रूप से ऐसे आग्रह करें कि जाति या सम्प्रदाय सम्बन्धी भेदभावों का उन्मूलन होना चाहिए।[2]

भारतीय समाज में (विशेषकर हिन्दू लोगों में) जातिवाद प्राचीन युग से चला आ रहा है। इसे सबसे पहले ब्रिटिश प्रशासन ने आघात पहुँचाया। भारत में अंग्रेजों के शासन के साथ यातायात व संचार के नये साधनों की स्थापना हुई, दीवानी और फौजदारी के नये कानून को लागू किया गया, पश्चिमी सभ्यता व शिक्षा का प्रचार हुआ, दस-वर्षीय जनगणना की पद्धति का प्रारम्भ हुआ, सरकारी कार्यालयों में अंग्रेजी-शिक्षित जनों की भर्त्ती की गई, और ऐसे अनेकों सुधार किये गये जिनसे सनातन जातिवाद को गम्भीर ठेस पहुँची। सरकारी न्यायालयों ने जातीय पंचायतों को समाप्त कर दिया और कानून के समक्ष समता ने ऊँच-नीच का अन्तर मिटा दिया।

परन्तु जातिवाद पूर्णतया मिट न सका। यदि ब्रिटिश प्रशासन ने प्रत्यक्ष रूप से उस का अन्त किया, तो परोक्ष रूप से उसे नवजीवन प्रदान किया। 1857 के स्वतन्त्रता-संग्राम (गदर) ने अंग्रेजी प्रशासकों को इस तथ्य से सहमत कर दिया कि भारत में उनके प्रशासन की जड़ें तभी दृढ़ हो सकती हैं यदि समाज को धर्म व जाति के आधारों पर विभाजित रक्खा जाय। 'बाँटो और राज्य करो' (डिवाइड एण्ड रूल) की नीति को सफल बनाने के लिए यह

---

[1] माईकेल ब्रेकर, 'सक्सेशन इन इण्डिया', आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1966, पृ० 230।

[2] देखिये राम मनोहर लोहिया, 'कास्ट सिस्टम इन इण्डिया', नवहिन्द प्रकाशन, हैदराबाद, 1961, पृ० 172।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

नितान्त आवश्यक था कि पश्चिमी सभ्यता व शिक्षा के प्रगतिवादी प्रभावों के होते हुए भी भारतीय लोगों में संगठन न आने दिया जाए। ऐसी दिशा में यह स्वाभाविक हो गया कि ब्रिटिश सरकार विभाजन द्वारा प्रशासन की नीति को अवश्य लागू करे क्योंकि ऐसा विभाजन ही लोगों को छोटे-छोटे समूहों में विभक्त रख सकता है, जिससे उदित होते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति पर रोक लगाई जा सकती है।'[3]

इस सम्बन्ध में मोंटफोर्ड सुधारों ने जातिवाद को प्रथम अभूतपूर्व प्रोत्साहन प्रदान किया इन सुधारों के फलस्वरूप मिश्रित चुनाव क्षेत्रों की व्यवस्था स्वीकार की गई। इसका गम्भीर प्रभाव दक्षिण भारत पर पड़ा जहाँ गैर-ब्राह्मण लोगों ने एकता के नाम पर विधानमण्डलों तथा लोक सेवाओं में उचित प्रतिनिधित्व की आवाज उठायी। इससे अब तक के प्रभावशाली ब्राह्मण आधिपत्य को हानि पहुँची। निपुणता व कुशलता के लक्ष्यों का बलिदान हो गया और यह बुरी स्थिति बिगड़ती चली गई। इस पर एक प्रभावशाली नियन्त्रण भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने लगाया। 1936–37 के चुनावों में जातिवाद पर आधारित ब्रिटिश राजनीति को बड़ा आघात पहुँचा और तब बम्बई के नरम-स्वभाव के ब्राह्मणों ने कांग्रेस में प्रवेश किया (और तुरन्त उस पर छा गये) जबकि मद्रास के उग्र-स्वभाव वाले लोगों ने ई० वी० रामास्वामी नाइकर के नेतृत्व वाली एक संस्था ने द्रविड़ कषगम में प्रवेश किया। यह संस्था आर्य जाति, ब्राह्मण, उत्तर भारत, हिन्दी भाषा, भगवान सभी के विरुद्ध रही है।[4]

ब्रिटिश शासन काल में जातिवाद ने जो प्रगति की, उसे हमारे संविधान ने समाप्त करने का निश्चय किया। न्याय, समानता, स्वतन्त्रता, राष्ट्रीय बन्धुता के लक्ष्यों का ग्रहण किया जाना इस विषय का प्रतीक बन गया कि स्वतन्त्र भारत में लौकिकवाद, राष्ट्रवाद तथा जनतन्त्रवाद की स्थापना की गई है। मूल अधिकारों के अन्तर्गत अस्पृश्यता का उन्मूलन किया गया और उनके आधारों पर (जैसे धर्म व जाति) भेदभाव वर्जित किये गये। सर्व-वयस्क मताधिकार के अनुसार 'एक-व्यक्ति एक-वोट' का नियम लागू किया गया तथा मिश्रित या साम्प्रदायिक चुनाव क्षेत्र समाप्त कर दिये गये। लेकिन इन सारे प्रबन्धों के होते हुए भी जातिवाद एक अन्य रूप में प्रबल हो गया। पिछड़ी जातियों के लिए विशेष आरक्षण या पहाड़ी या

---

[3] घुरइए, 'कास्ट एण्ड क्लासेज इन इण्डिया', न्यूयार्क, 1952, पृ० 175–76। एक अंग्रेज लेखक जेम्स कर्र के वक्तव्य से यही तथ्य विदित होता है : 'यह सन्देह किया जा सकता है कि क्या जातिवाद का अस्तित्व हमारे प्रशासन के स्थायित्व के हेतु हानिकारक है। इसे इसके अनुकूल कहा जा सकता है, यदि हम समझदारी व सहनशीलता से कार्य करें। इसकी आत्मा राष्ट्रीय एकता के विरुद्ध है।' देखिये ए० आर० देसाई, 'सोशल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म', पापुलर प्रकाशन, बम्बई, 1966, पृ० 256। 'ब्रिटिश शासन की इस घातक नीति' की पुष्टि करने के विचार से प्रो० घुरइये ने बम्बई सरकार के वित्त विभाग के 17 सितम्बर 1923 के एक प्रस्ताव की ओर संकेत किया है जिसमें कहा गया था कि निचली सेवाओं में ब्राह्मणों तथा सम्बन्धित जातियों को स्थान न दिया जाय जब तक कि मध्यस्थी तथा पिछड़ी जातियों के एक निश्चित भाग को वे स्थान प्राप्त नहीं हो जाते। स्थानों के एक निश्चित प्रतिशत आरक्षित रखने की यह नीति बाद में अन्य प्रान्तीय सरकारों द्वारा अपनायी गयी। देखिये एम० एन० श्रीनिवास, 'कास्ट इन मॉडर्न इण्डिया एण्ड अदर एसेज' (बम्बई, एशिया, 1962), अध्याय 1।

[4] ऐसी घटनाओं को देखकर प्रो० श्रीनिवास का यह कथन ठीक मालूम होता है कि 'ब्रिटिश शासन ने बोतल में से बन्द जिन्न को खोल दिया।' वही।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

दलित जाति के लोगों को विशेष सुविधाओं की प्रतिभूति ने समानता के सिद्धान्त को आघात पहुँचाया तथा उसी भयानक जातीय राजनीति को पनपने का नया अवसर प्रदान कर दिया जिसे महात्मा गांधी व उनके नेतृत्व वाली कांग्रेस मिटाना चाहती थी। फल यह हुआ कि घर से निकाली हुई बला फिर घर में आ गयी और अब लाभ पाने वाली जातियाँ उन्हें छोड़ना नहीं चाहतीं। इसकी व्याख्या करते हुए दो अमरीकी लेखकों ने लिखा है, 'राजनीतिक लोकतन्त्र के नए संदर्भ में, भारतीय समाज में जाति एक केन्द्रीय बिन्दु बन चुकी है चाहे उसने अपने आपको लोकसत्तात्मक राजनीति के तरीकों और मूल्यों के अनुकूल बना लिया है। निस्सन्देह, यह मुख्य साधन बन चुकी है जिससे भारतीय जनता लोकसत्तात्मक राजनीति की प्रक्रियाओं से सम्बन्धित हो गई है।'[5] लोकसत्तात्मक राजनीति में निर्णायक शक्ति वोट है। स्पष्ट है कि जिन जातियों के हाथ में वोट कोष है उनका महत्त्व अधिक है, चाहे उनकी शिक्षा, सभ्यता या कार्यकुशलता का स्तर कितना ही नीचा हो। ऐसी स्थिति में भारत की पिछड़ी जातियों का महत्त्व अन्य जातियों की अपेक्षा बहुत बढ़ गया है और वह समझने लगी हैं कि 'वे सत्ता ग्रहण करने योग्य हैं।'[6] चूँकि राजनीति का केन्द्र है 'सत्ता प्राप्ति' इसलिए भारत के राजनीतिक दलों ने इस सजीव तथ्य को ध्यान में रखा है। देखने में आता है कि राजनीतिक सत्ता कुछ चुनी हुई श्रेष्ठ जातियों के हाथों से फिसलकर उन पिछड़ी जातियों के हाथों में जा रही है जिन्हें ब्रिटिश काल में विशेष प्रगति नहीं मिल सकी। आज ऐसा हो चुका है कि कोई व्यक्ति, चाहे वह कितना धनी या गुणवान क्यों न हो, अपने धर्म या जाति को ठुकराकर राजनीति में उन्नति नहीं कर सकता। यदि मनुष्य राजनीति के संसार में ऊपर चढ़ना चाहते हैं, तो उन्हें अपने साथ अपनी जाति व धर्म को लेकर चलना चाहिए।[7]

यह दुर्भाग्य का विषय है कि भारत की राष्ट्रीय संस्था (कांग्रेस) तक जातिवाद के प्रभाव से वंचित नहीं रह सकी, यद्यपि महात्मा गांधी तथा उनके कर्मठ अनुयायी सदा इसका विरोध करते रहे। प्रान्तीय स्तर तक जातिवाद के प्रभावशाली रूप के अनेकों उदाहरण मिलते हैं। बिहार में 1936–37 के चुनावों में कांग्रेस कमेटी ने जाति के आधार पर कुछ चुनाव क्षेत्रों के लिए अपने उम्मीदवारों का चयन किया और उन्हें विजय दिलाने के विचार से इसी आधार पर प्रयत्न किये गये।[8] इस बात को पक्की तरह ध्यान में रखा गया कि तथाकथित महत्त्वपूर्ण जातियों को उचित प्रतिनिधित्व अवश्य दिया जाये। स्वतन्त्रता के बाद के अनेकों उदाहरणों को ध्यान में रखते हुए, यह कहा जा सकता है कि उम्मीदवारों का चयन करने से पूर्व जातीय कसौटी को कांग्रेस ने सदैव ध्यान में रखा है।[9] कांग्रेस ने 1955 में

---

[5] एल० आई० रूडोल्फ व एस० एच० रूडोल्फ, 'पोलिटिकल रोल ऑफ इण्डियाज कास्ट एसोसीएशन्स', 'पैसिफिक ऐफेयर्स', अंक 33, नं० 1, मार्च 1960।

[6] के० एम० पन्निकर, 'हिन्दू सोसाइटी एट क्रास रोड्स' (एशिया, बम्बई, 1955), पृ० 64।

[7] हुग टिंकर, 'इण्डिया एण्ड पाकिस्तान', पालमाल प्रेस (लन्दन, 1967), पृ० 130। इसीलिए भारतीय राजनीति में जातियाँ ऐसा भाग ले रही हैं जिसकी समानता पश्चिमी व प्रगतिशील देशों के प्रभावक गुटों से की जा सकती है। देखिये ग्रेनवाइल आस्टिन, 'इण्डियन कांस्टीटियूशन', क्लैरेण्डन प्रेस (आक्सफोर्ड, 1966), पृ० 87।

[8] राजेन्द्र प्रसाद, 'आटोबायोग्राफी' (एशिया, बम्बई, 1957), पृ० 829।

[9] स्टैनले ए० कोचानेक, 'कांग्रेस पार्टी ऑफ इन्डिया', प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस (प्रिंसटन, 1968), पृ० 270।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

आवडी अधिवेशन में निश्चय किया कि वह जातीय तत्त्वों को राजनीति में स्थान नहीं देगी। यह एक स्वस्थ परम्परा डालने का प्रतीक था, किन्तु खेद का विषय यह है कि इस दिशा में कोई व्यावहारिक कदम नहीं उठाया जा सका।

सबसे पहले हम आन्ध्र प्रदेश का उदाहरण लेते हैं। दूसरे आम चुनाव के कुछ समय पूर्व आन्ध्र प्रदेश में उम्मीदवारों की सूची बनाने का कठिन कार्य कांग्रेस के सम्मुख था। कम्युनिस्ट पार्टी ने खुले तौर पर अपने उम्मीदवारों को जातीय आधार पर चुना, जिससे उनके विजय के अवसर अधिकाधिक सम्भव हो सकें। इस प्रदेश में कम्मा व रेड्डी दो प्रमुख जातियाँ हैं और प्रान्तीय राजनीति इन्हीं दो जातियों के बीच घूमती है। जब कम्मा जाति के लोगों ने कम्युनिस्टों का समर्थन किया तो स्वाभाविक हो गया कि रेड्डी जाति के लोग कांग्रेस का समर्थन करें। फिर भी कम्मा जाति के समर्थन को ठुकराना या छोड़ना एक बड़ी भूल हो सकती थी। तेलंगाना विद्रोह व प्रथम आम चुनाव के परिणामों को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक था कि रेड्डी जाति की मदद के अलावा अन्य जातियों की अधिक से अधिक सहायता प्राप्त की जाय। इसलिए कांग्रेस हाई कमाण्ड ने श्री एस० के० पाटिल को अपना प्रतिनिधि बनाकर आन्ध्र प्रदेश में उम्मीदवारों का चयन करने के लिए भेजा। यह तथ्य है कि श्री पाटिल ने अपनी सूची तब तक प्रकाशित नहीं की जब तक कि कम्युनिस्टों के उम्मीदवारों की सूची प्रकाशित न हो गई और फिर कांग्रेस ने अपनी सूची में रखे गये नामों को इस प्रकार से बदला जिससे कि साम्यवादी दल ने जिस जाति के उम्मीदवारों को खड़ा किया था, उसी जाति के उम्मीदवार उसने भी खड़े किये।[10]

इस प्रकार के अन्य बहुत से उदाहरणों को एकत्रित किया जा सकता है। महाराष्ट्र में चव्हाण का उम्मीदवारों का चयन जातिवाद के मापदण्ड से प्रभावित था।[11] इसी प्रकार, राजस्थान में हीरालाल शास्त्री (जिन्होंने 1957 के चुनाव में कांग्रेसी उम्मीदवारों के चयन में विशेष कार्य किया था) ने जातीय आधार पर चुनाव के उम्मीदवारों को लेकर राजपूत महाराजाओं के विरोध को ठेस पहुँचाने का प्रयास किया था।[12] पंजाब के एक हतोत्साहित कांग्रेसी नेता ने आरोप लगाया कि प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने उम्मीदवारों का चयन करते समय जाट जाति के साथ न्याय नहीं किया। उसने यहाँ तक धमकी दी कि वह उन लोगों के नाम बता सकता है जिन्होंने बड़े जोश के साथ अपनी जाति ही नहीं वरन् बिरादरी व गोत्र तक के आधार पर उम्मीदवारों का चयन कराके बड़े पाप किये हैं।[13] ऐसे तथ्यों के आधार पर यह आग्रह किया जाता है कि चुनाव से पूर्व उम्मीदवारों का चयन करते समय हर पग पर जातीय तत्त्वों को ध्यान में रखा जाता है।[14]

भारत के विभिन्न राज्यों की राजनीति जातिवाद के प्रभाव से ओत-प्रोत है और

---

[10] टिंकर, उपर्युक्त, पृ० 149। इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण लेख देखिये, सेलिग हैरीसन 'कास्ट एण्ड आन्ध्र कम्युनिस्ट्स', 'द अमेरिकन पोलिटिकल साइन्स रिव्यू' (जून, 1956)।

[11] 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' (बम्बई), 14 फरवरी 1962।

[12] 'हिन्दुस्तान टाइम्स' (नई दिल्ली), 20 फरवरी, 1957।

[13] वही, 29 नवम्बर, 1961।

[14] वही, 20 फरवरी, 1957।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उसमें कांग्रेस दल का हाथ किसी अन्य राजनीतिक दल से कम नहीं है। बिहार प्रदेश में ब्राह्मणों, राजपूतों, कायस्थों व पिछड़ी (आदिम) जातियों के बीच संघर्ष में राजनीति का चक्र दीख पड़ता है। बिहार-उड़ीसा के सीमावर्ती क्षेत्रों पर बसने वाले पिछड़ी जाति के लोगों ने झारखण्ड दल बना लिया है और वे एक पृथक् राज्य (झारखण्ड प्रदेश) की माँग करते हैं। पिछड़ी जाति के अधिकांश लोगों ने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया है और उनके नेता श्री जयपालसिंह (जो पहले हिन्दू थे) को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने उनमें संगठन पैदा कर उनकी राजनीतिक स्थिति को सुदृढ़ किया है। जब कांग्रेस को ऐसा भय लगा कि झारखण्ड दल के विरोध के गम्भीर परिणाम हो सकते हैं, तो हाई कमाण्ड ने केन्द्रीय नेता श्रीमती राजकुमारी अमृत कौर (ईसाई महिला) को वहाँ भेजा जिससे वह ईसाई वर्ग को विशेष रूप से प्रभावित कर सकें ताकि आने वाले चुनाव में कुछ ठोस लाभ प्राप्त हो सके। इसी प्रकार, वहाँ राजपूतों के एक प्रभावशाली नेता राजा कामाख्या नारायण सिंह की जनता पार्टी के साथ कांग्रेस का मोल-भाव आपत्तिजनक है।[15]

यह जातिवाद का ही विशेष प्रभाव था कि आन्ध्र प्रदेश के एक साधारण नेता श्री संजीव रेड्डी को कांग्रेस अध्यक्ष का पद प्राप्त हुआ। जब संजीव रेड्डी ने अपने आपको रेड्डी जाति का अद्वितीय नेता बना लिया।[16] और श्री बी० गोपाल रेड्डी की सत्ता का पतन हो गया, तब यह सुगम हो गया कि वह व्यक्ति किसी महान् पुरस्कार से कृतज्ञ किया जाय। श्री रेड्डी उस समय तक किसी विशेष बुद्धिमत्ता या मनीषीय नेतृत्व की ख्याति से विहीन होने पर भी तीसरे आम चुनाव के पूर्व कांग्रेस के अध्यक्ष चुन लिए गये। अपने इस साधारण राजनीतिक जीवन को स्वीकार करते हुए उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा, 'इससे पूर्व मेरा शेष भारत से कोई महत्त्वपूर्ण सम्पर्क नहीं था किन्तु एक वर्ष के अवसर ने इस महान् असंगति को दूर कर दिया और मुझे इस योग्य बना दिया है कि मैं स्थानीय व क्षेत्रीय समस्याओं को राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देख सकूँ और एक वृहत् रूप में उनके महत्त्व को समझ सकूँ।'[17]

आंध्र प्रदेश की तरह मैसूर प्रदेश की राजनीति लिंगायत व ओकोलागा नामक दो जातियों के बीच संग्राम की कहानी है। चाहे बड़े विषय हों (जैसे मुख्यमन्त्री या मन्त्रियों का चयन) या छोटे विषय हों (जैसे सरकारी सेवाओं की उपलब्धि या विद्यालयों में छात्रवृत्तियाँ) जातीय आधार पर खींचतान दिखाई देती है। अभी तक ओकोलागा जाति के लोगों के दिलों में यह भय है कि बड़े कन्नड़-भाषी राज्य में उन पर लिंगायत जाति वालों का दबाव बना रहेगा और इसीलिए वह पृथक् मैसूर प्रदेश की माँग को प्रति-सन्तुलित करने के लिए दक्षिण प्रदेश की रचना की माँग का समर्थन करते हैं। ऐसा आन्दोलन इतना बल पकड़े हुए है कि जब श्री० के० हनुमन्तैया ने एक कन्नड़ भाषी राज्य की माँग को जोर से उठाया तो उन्हें मुख्यमन्त्री के पद की आहुति देनी पड़ी। तीसरे आम चुनाव से पूर्व कांग्रेसी उम्मीदवारों की सूची में मैसूर कांग्रेस कमेटी ने प्रत्येक उम्मीदवार की जाति का वर्णन किया था।[18]

---

[15] देखिये, कोचानेक, पृ० 379।

[16] देखिये, टिंकर, उपर्युक्त, पृ० 149।

[17] भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का 66वाँ अधिवेशन (नई दिल्ली, ए० आई० सी० सी०, 1961), पृ० 1-2।

[18] 'लिंक' (नई दिल्ली), 26 नवम्बर, 1961।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अखिल भारतीय स्तर पर अभी तक जातिवाद का प्रभाव बहुत कम पड़ा है और इसी लिए पिछड़ी या हरिजन जाति के नेताओं की संख्या अपेक्षाकृत उनकी वोट शक्ति के बहुत कम है। उदाहरण के लिए दूसरी संसद में कांग्रेस के प्रतिनिधियों के ऐसे विवरण को इस सारिणी में दिखाया गया है[19] —

कांग्रेसी सदस्यों की जाति
(आयु-वर्गों के अनुसार)

जाति	1891–1900	1901–10	1911–20	1921–30
1. कायस्थ	3	1	1	1
2. ब्राह्मण	4	23	7	2
3. क्षत्रिय	8	6	8	2
4. वैश्य	7	8	5	2
5. हरिजन	2	6	15	13
6. आदिम जाति	1	5	6	5
7. गैर-हिन्दू	3	4	4	4
8. क्षुद्र	2	6	11	3
9. गैर-जाति	6	6	5	3
10. गैर-मालूम	2	4	3	4
जोड़	38	69	65	39

1969 में कांग्रेस के दो टुकड़े हो जाने से जातिगत राजनीति पर विशेष प्रभाव पड़ा। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई जिसमें जातिवादी धाराएँ दूसरे स्थान में चली गईं क्योंकि जनता के सम्मुख प्रश्न यह आ गया कि कांग्रेस का कौनसा भाग जनतन्त्र एवं समाजवाद के लक्ष्यों की सिद्धि की ओर अग्रसर होने पर कटिबद्ध है। राज्यों की राजनीति पर इसका निश्चित प्रभाव यह पड़ा कि कांग्रेसी नेताओं के दो भागों में बँट जाने के कारण जातियों के निश्चयों में भी विभाजन हो गया। फल यह हुआ कि जिस प्रकार कांग्रेस दल के दो भाग हो गये, उसके साथ जातिगत राजनीति में भी दरार पड़ गई। इस उथल-पुथल का एक स्पष्ट रूप यह देखने में आया कि पिछले चुनावों की अपेक्षा 1971 के लोकसभा के मध्यावधि चुनावों में जातिवाद पर आधारित राजनीति उग्र रूप धारण नहीं कर सकी। एक अंग्रेजी पत्र की समीक्षा में यह दृष्टिकोण ठीक प्रकार से व्यक्त किया गया कि यद्यपि बहुत से राजनीतिक दल लोकसभा के चुनाव में जातिवाद के विचार से सदस्यों का चयन करने में प्रभावित होते रहे हैं, लेकिन यदि पिछले चुनावों के मतदान के नमूनों से कोई निर्देश ग्रहण किया जाये तो वह यही होगा कि इस चुनाव में जातिगत राजनीति एक महत्त्वपूर्ण भाग तो लेगी, लेकिन वह उतना प्रधान नहीं होगा।[20]

---

[19] कोचानेक, पृ० 387।

[20] 'स्टेट्समैन' (नई दिल्ली), 5 फरवरी, 1971। विशेषता की बात यह है कि पाँचवें चुनाव में भारतीय क्रान्ति दल तक को भारी हानि पहुँची जबकि यह कहा जाता था कि यह दल 'जाटवाद' पर आधारित

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

इस मत की पुष्टि के हेतु कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। अन्य दलों की भाँति नई कांग्रेस ने भी जातिवाद के महत्त्वपूर्ण तत्त्व को तिरस्कृत नहीं किया। उदाहरण के लिए, बाहरी दिल्ली चुनाव क्षेत्र में चुनाव टिकट उसी व्यक्ति को दिया गया जो जाट और अहीर जातियों में अपना अधिक प्रभाव रखता था। करौल बाग के सुरक्षित चुनाव क्षेत्र में रेहगड़ जाति की प्रधानता देखते हुए चुनाव के समय उम्मीदवार का नामांकन किया गया। इसका यह मतलब नहीं समझना चाहिए कि सत्तारूढ़ कांग्रेसी दल ने हर पग पर समान दृष्टिकोण रखा। नई दिल्ली चुनाव क्षेत्र से श्रीमती मुकुल बनर्जी, दक्षिण दिल्ली चुनाव क्षेत्र से श्री शशिभूषण, चाँदनी चौक चुनाव क्षेत्र से श्रीमती सुभद्रा जोशी तथा पूर्वी दिल्ली चुनाव क्षेत्र से श्री हरिकृष्ण लाल भगत का चयन जातिवाद की राजनीति से प्रभावित नहीं था।

जातिवाद पर आधारित राजनीति का स्पष्ट प्रभाव उन स्थानों पर देखने में आता है जहाँ जनता अशिक्षित व निर्धन या पिछड़ी हुई होती है। अतः इस दिशा में हमें उन राज्यों की भीतरी स्थिति पर विचार करना होगा जो दिल्ली की भाँति उन्नतिशील नहीं हैं। उदाहरण के लिए, बिहार राज्य में भूमिहार बनाम राजपूत, कायस्थ बनाम ब्राह्मण जैसी प्रवृत्तियाँ देखने में आती हैं। यह दूसरी बात है कि कांग्रेस के विभाजन के कारण इन जातियों की निष्ठा में भी विभाजन हो गया क्योंकि नेतागण दो वर्गों में बँट गये। कई चुनाव क्षेत्रों में उम्मीदवारों का चयन इस प्रकार हुआ कि सत्तारूढ़ कांग्रेस तथा विरोधी दलों ने उसी जाति के नेताओं का नामांकन किया जो प्रधान जाति से सम्बन्धित थे। उदाहरण के लिए, पुरानी कांग्रेस ने राजपूत जाति के एस० एन० सिन्हा को चुनाव टिकट दिया और नई कांग्रेस ने उसी जाति के व्यक्ति मुद्रिका सिंह को अपना उम्मीदवार बनाया।

जातिवादी राजनीति का प्रभाव बिहार के बाद हरियाणा राज्य में देखने में आता है। यहाँ की राजनीति में जातिवाद के अलावा स्थानीय व क्षेत्रीय निष्ठाएँ भी कार्य करती हैं और अधिकतर ग्रामीण क्षेत्रों में व्यक्तिगत भेदभाव भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। जब चुनाव के समय 9 स्थानों के लिए सदस्यों की सूची तैयार की गई, उस समय हरियाणा प्रदेश कांग्रेस कमेटी ने यही निर्णय किया कि यह कार्य श्रीमती इन्दिरा गांधी को सौंप दिया जाये। फलस्वरूप कैथल चुनाव क्षेत्र से श्री गुलजारी लाल नन्दा, झज्झर चुनाव क्षेत्र से श्री शेरसिंह, रोहतक चुनाव क्षेत्र से श्री रणधीर सिंह, करनाल चुनाव क्षेत्र से श्री माधोराम और सिरसा चुनाव क्षेत्र से श्री दलवीर सिंह का चयन किया गया। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य विषय यह है कि श्री गजराजसिंह ने, जो विघटित लोकसभा के सदस्य थे, यही आग्रह किया कि यदि उन्हें वृद्धावस्था के कारण नई कांग्रेस अपना उम्मीदवार नहीं बनाती तो उनके पुत्र को टिकट दिया जाये क्योंकि मोहिन्द्रगढ़ चुनाव क्षेत्र में उनकी अहीर जाति का बहुमत है।[21]

है। स्वयं चौधरी चरणसिंह अपने मुजफ्फरनगर के चुनाव क्षेत्र से हार गये। ऐसी स्थिति कांग्रेस में फूट से पहले नहीं थी। फरवरी 1969 के विधान सभाओं के मध्यावधि चुनाव के समय स्थिति पर ध्यान देते हुए जनसंघ के प्रधान नेता श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने नई दिल्ली में बोलते हुए यह कहा था कि 'भारतीय क्रान्ति दल का लक्ष्य जातिवाद के आधार पर चुनाव लड़ना है जिससे चरणसिंह को मुख्यमन्त्री बनाया जा सके। अभी तक उत्तर प्रदेश जाति-गतिरोध से काफी मुक्त था लेकिन इस दल ने बिहार की तरह उत्तर प्रदेश में भी जाति-विरोध फैला दिया है।' 'नेशनल हेराल्ड' (नई दिल्ली), 23 जनवरी, 1969।

[21] 'हिन्दू' (मद्रास), 1 फरवरी, 1971।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

मध्य प्रदेश की राजनीति में भी ऐसे उदाहरण उपलब्ध होते हैं। दुर्ग चुनाव क्षेत्र से श्री शंकर गिरि (राष्ट्रपति के पुत्र) को नई कांग्रेस का उम्मीदवार बनाया गया क्योंकि भिलाई के इस्पात कारखाने में दक्षिण भारतीय ब्राह्मणों की बहुत बड़ी संख्या काम कर रही है। सिड्डी चुनाव क्षेत्र से चार-दलीय संगठन ने श्री रणबहादुरसिंह को टिकट दिया क्योंकि वहाँ राजपूत जाति के लोगों की संख्या सबसे अधिक है। इस प्रकार के उदाहरणों की संख्या में वृद्धि की जा सकती है, लेकिन यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि चुनाव अपने ढंग का अद्‌भुत था जिसमें मुख्य बिन्दु 'इन्दिरा हटाओ' बनाम 'गरीबी हटाओ' बन गया और मतदाताओं ने अपना निर्णय देते समय जाति के स्थूल तत्त्व को वह प्रधान महत्त्व नहीं दिया जिसका रूप पिछले चुनावों में देखने में आता है।

भारत की सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक संस्था की इस जातिवाद की राजनीति में व्यक्त एवं अव्यक्त भूमिका दुर्भाग्य का विषय है क्योंकि इससे देशभक्ति, धर्म निरपेक्षता, समाजवाद, जनतन्त्र-वाद और हमारे दृढ़ संकल्पित प्रगतिवाद को गम्भीर ठेस पहुँच रही है। निपुणता, योग्यता व कुशलता जैसे गुणों के बलिदान देखने में आते हैं, जिनसे एक उदारपंथी जनतन्त्र के मूल्यों का पतन ही नहीं, वरन् विनाश हो रहा है। पिछड़ी जातियों या आदिम कबीलों को दी गई विशेष सुविधाएँ या आरक्षण असमानता को बनाये हुए हैं जो लोकतन्त्रात्मक समाजवाद में नहीं होने चाहिए।[22] वर्तमान गम्भीर दोषों को देखते हुए स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू ने एक बार कहा था :

> 'एक प्रकार का जातीय पक्षपात, अर्थात् अपनी जाति के लोगों का कल्याण करना, भारत में सभी जगह दिखाई दे रहा है। किसी एक विशेष जाति के लोगों को ऊपर उठाया गया क्योंकि अन्य की अपेक्षा उन्हें भली प्रकार जाना जाता था। मैं समझता हूं कि यह अत्यधिक महत्त्व की बात है कि अपने सार्वजनिक जीवन में, सरकारी व गैर-सरकारी कार्यक्षेत्र को मिलाकर निरन्तर व परिश्रमपूर्ण प्रयास किया जाये जिससे उच्च मानों की स्थापना हो और हर जगह से भ्रष्टाचार तथा पक्षपात को हटाया जा सके।'[23]

---

[22] एम० एन० श्रीनिवास, 'इण्डियन रोड टु इनइक्वैलिटी', 'इकानामिक वीकली' (स्पेशल नं०, जून 1960)।

[23] देखिये जॉन बी० माण्टोरियो, 'करप्शन : कन्ट्रोल ऑफ मैलैडमिनिस्ट्रेशन', बम्बई मानकताला, 1966, पृ० 283।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

राजनीतिक दल और प्रशासन

कुंजबिहारी श्रीवास्तव

15 अगस्त, 1947 को भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम लागू होने पर सर्वप्रथम सम्पूर्ण शासन का पूर्ण उत्तरदायित्व राष्ट्र के निर्वाचित प्रतिनिधियों ने सम्भाला और उन्हें स्वतन्त्र राष्ट्र के लिए बिना किसी हस्तक्षेप के संविधान बनाने का सुअवसर भी मिला।[1] संविधान-सभा ने राष्ट्र के सभी निवासियों को सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय, पद, अवसर और कानूनों की समता, विचार, भाषण, अभिव्यक्ति व विश्वास आदि की स्वतन्त्रता प्राप्त करने तथा उनकी प्रत्याभूति करने हेतु[2] राष्ट्र में क्रमिक रूप से विकसित[3] उत्तरदायी शासन अर्थात् संसदीय पद्धति को संघीय गणराज्य के अन्तर्गत स्थापित करने का निश्चय किया। संसदात्मक पद्धति को ही क्यों अपनाया गया इसका मुख्य कारण यह था कि ब्रिटेन के दीर्घ-कालीन सम्बन्ध के फलस्वरूप ब्रिटिश शासन पद्धति की संस्थाओं की इस राष्ट्र में नींव पड़ी और विकास भी हुआ। अतएव हमारे लिए अन्य किसी पद्धति का अपनाना सरल व सुगम न होता।[4]

वास्तव में संसदीय जनतन्त्र का प्रादुर्भाव ग्रेट ब्रिटेन में हुआ एवं ब्रिटिश संविधान की रीतियों और परिपाटियों के आधार पर ही भारत एवं अन्य राष्ट्रों में संसदीय जनतन्त्र की स्थापना की गई है। साधारणतया संसदीय जनतन्त्र के निम्न आधारभूत सिद्धान्त हैं :

(1) संसदीय जनतन्त्र के अन्तर्गत एक निश्चित अवधि के लिए वयस्क मताधिकार के आधार पर संसद[5] के निचले सदन का चुनाव होता है। इस चुनाव में सम्पूर्ण राष्ट्र को निचले

---

[1] कैबिनेट मिशन योजना के अन्तर्गत निर्वाचित संविधान-सभा ही देश के विभाजन पर दो भागों में बँट गई। इस सभा में 307 सदस्य रहे तथा अब वह पूर्ण रूप से प्रभुसत्ता सम्पन्न बन गई।

[2] संविधान सभा ने पं० जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रस्तुत उद्देश्य सम्बन्धी यह प्रस्ताव 22 जनवरी, 1947 को ही पास कर दिया था। गणतन्त्रीय संविधान की प्रस्तावना में भी इन्हीं उद्देश्यों को सन्निहित किया गया है।

[3] भारतवर्ष में उत्तरदायी शासन का प्रारम्भ सन् 1892 के भारतीय परिषद् अधिनियम से हुआ तथा 1909 की मिन्टो-मार्ले सुधार योजना, 1919 की माण्टफोर्ड सुधार योजना एवं भारत सरकार के 1935 के अधिनियम के द्वारा इसको विकसित किया गया।

[4] जवाहरलाल नेहरू, सन्देश, लोकसभा जरनल के प्रथम अंक में 1955।

[5] संसद का निर्माण जिसे इंगलैण्ड में पार्लियामेंट, तथा संयुक्त राज्य अमरीका में कांग्रेस कहते हैं, निम्न सदन (जो कि जनता का प्रतिनिधित्व करता है) तथा उच्च सदन (जो कि संघीय राज्य के अन्तर्गत राज्यों का प्रतिनिधि है) के संयोग से होता है। भारतवर्ष में निम्न सदन को लोकसभा तथा उच्च सदन को राज्यसभा कहते हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सदन की सदस्य-संख्या के आधार पर निर्वाचन क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है तथा जिस उम्मीदवार को चुनाव में सबसे अधिक मत प्राप्त होते हैं उसे उस क्षेत्र में संसद के लिए जनता का प्रतिनिधि मान लिया जाता है।

(2) इस पद्धति के अन्तर्गत कार्यपालिका एवं विधायिका में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। संसद (विधायिका) में जिस राजनीतिक दल[6] अथवा दलों का बहुमत रहता है उसी का मन्त्रिमण्डल (मुख्य कार्यपालिका) बनता है तथा मन्त्रिमण्डल अपने कार्यों के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी होता है।

(3) जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों को संसद के अन्दर (एवं बाहर) किसी भी प्रस्तावित विधेयक की आलोचना एवं समालोचना करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है तथा कोई भी प्रतिनिधि चाहे वह बहुमत दल का सदस्य हो या विरोधी दल का, समान अधिकार प्राप्त सदस्य है।

इन आधारभूत सिद्धान्तों के अन्तर्गत राजनीतिक दलों की सर्वोपरि महत्ता है। वास्तव में बिना सशक्त राजनीतिक दलों के संसदीय प्रणाली अपनाई नहीं जा सकती। आदर्श तो यह है कि देश में दो या तीन[7] सशक्त राजनीतिक दल हों जिनकी शक्ति का प्रभाव लगभग एक-दूसरे के समान हो जिससे प्रत्येक आम चुनाव के समय मतदाताओं को अपने प्रतिनिधि चुनने में सुविधा हो तथा सुदृढ़[8] सरकार बनाई जा सके। राजनीतिक दलों का मुख्य कार्य जनता को देश की महत्त्वपूर्ण समस्याओं के सम्बन्ध में शिक्षित करना है। यदि बहुमत दल सरकार की नीतियों का समर्थन करता है तो विरोधी दल उसकी आलोचना। यदि बहुमत दल को जनता की आशा का केन्द्र कहते हैं तो विरोधी दल को जनता के असन्तोष का केन्द्र कहा जा सकता है। अतः प्रचार के द्वारा जनता को शासन के कार्यों से अवगत कराना एवं उसे अपनी तरफ आकर्षित करना राजनीतिक दल का ही कार्य होता है। भारत भी प्रजातन्त्रीय पद्धति को मानता है इसीलिए यहाँ अनेकों राजनीतिक दल हैं।

यद्यपि संसदीय पद्धति के अन्तर्गत प्रधान कार्यपालिका मन्त्रिमण्डल होती है परन्तु आधुनिक विकासशील समाज में राज्यों के कार्यक्षेत्र बढ़ जाने से मन्त्रिमण्डल का कार्य महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर नीति-निर्धारण करना और उसे कार्यान्वित करने हेतु विधेयकों को संसद से स्वीकार कराने तक ही सीमित रह गया है। वास्तव में मन्त्रिमण्डल द्वारा निर्धारित नीतियों

---

[6] 'राजनीतिक दल लोगों की एक ऐसी संस्था है जो किसी सिद्धान्त विशेष को, जिसे उस संस्था के सभी लोग स्वीकार कर लेते हैं, आधार बनाकर अपने सम्मिलित प्रयास से राष्ट्रीय हितों की उन्नति के लिए संगठित होती है।' एडमण्ड बर्क।

[7] 'एक प्रतिनिधि सरकार अवश्य ही एकदलीय सरकार होती है। जब सरकारी दल होता है तो विरोधी दल भी होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं है तो वास्तव में प्रजातन्त्र भी नहीं है। एक तानाशाह अपने दल के सिवाय सभी दलों को नष्ट कर देता है। यदि कहीं पर दलीय सरकार नहीं है तो उस देश में तानाशाही होती है।' सरदार हुकुम सिंह, 'हिन्दुस्तान टाइम्स', गणतन्त्र दिवस विशेषांक, 26 जनवरी, 1962।

[8] दलों की संख्या अधिक होने से किसी एक दल को बहुमत न मिलने की सम्भावना रहती है। ऐसी स्थिति में कई दलों के संयोग से सरकार बनती है जो कि स्थायी नहीं रह सकती। भारतवर्ष में चतुर्थ आम चुनाव के बाद पश्चिमी बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, केरल, हरयाणा एवं पंजाब में संयुक्त सरकारें बनीं जो कि स्थायी न रह सकीं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

का क्रियान्वयन प्रत्येक विभाग के अधीन नौकरशाही का कार्य है।[9] नौकरशाही इस कार्य को अपने प्रशासकीय आदेशों, विधियों और नियमों द्वारा करती है। अतः यहाँ पर कार्यपालिका के दो अंगों का निर्माण होता है। एक अंग है दलीय कार्यपालिका, अर्थात् मन्त्रिमण्डल, जो नीति निर्धारित करती है, दूसरा अंग है निर्दलीय कार्यपालिका, अर्थात् नौकरशाही, जो नीति क्रियान्वित करती है। लेकिन कार्यपालिका के दोनों अंगों की रचना में बिल्कुल विभिन्नता रहती है। मन्त्रिमण्डल का निर्माण एक निश्चित अवधि के लिए होता है तथा इस अवधि की समाप्ति के बाद उसे पुनः सत्ता में आने के लिए जनता की सहमति लेनी पड़ती है। यह आवश्यक नहीं है कि जनता पुनः उसी दल को शासनारूढ़ करे। ऐसी परिस्थिति में शासनारूढ़ दल विपक्षी और विपक्षी दल शासनारूढ़ हो सकता है। परन्तु नौकरशाही अंग एक सतत प्रवाहशील स्थायी संस्था है। नौकरशाही के सदस्यों का चुनाव संविधान द्वारा विनियमित एक निष्पक्ष आयोग द्वारा होता है। सरकारी कर्मचारियों को अपनी सेवा की पूर्ण सुरक्षा का अधिकार प्राप्त है इसीलिए वे स्थायी होते हैं। अतः मन्त्रिमण्डल बन सकते हैं, उनमें विघटन एवं परिवर्तन हो सकते हैं परन्तु नौकरशाही जिसे प्रशासन कहा जाता है एक स्थायी संस्था है। अतः यह कहा जा सकता है कि संसदीय जनतन्त्र में प्रशासन ही राष्ट्र के जीवन को स्थायित्व एवं गतिशीलता प्रदान करता है।[10] यद्यपि शासन की नीतियों का वास्तविक क्रियान्वयन नौकरशाही करती है फिर भी मन्त्रिमण्डल का स्थान नौकरशाही के ऊपर होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि मन्त्रिमण्डल जनता की इच्छाओं को अभिव्यक्त करता है। दूसरे शब्दों में, मन्त्रिमण्डल जनता और शासन के बीच की कड़ी है।

किसी भी मन्त्रिमण्डल द्वारा नीति-विषयक निर्णय दलीय होते हैं। मन्त्रिमण्डल अपने दल के कार्यक्रमों को चरितार्थ करने का प्रयास करता है तथा इस बात की पूरी कोशिश करता है कि जनता का आकर्षण उसके दल की तरफ से कम न हो। परन्तु क्या प्रशासन को शासनारूढ़ दल के हितों का संरक्षण करना चाहिए? प्रशासन का मुख्य कार्य है संसद द्वारा पारित नीतियों का क्रियान्वयन, उसका मुख्य ध्येय है समाज सेवा। एक ही समाज के व्यक्तियों में दलीय निष्ठा में विभिन्नता होती है तथा समाज का प्रत्येक व्यक्ति इस बात की आशा रखता है कि प्रशासन समाज के प्रत्येक व्यक्ति के साथ न्यायोचित व्यवहार करेगा तथा व्यक्ति की दलगत निष्ठा के आधार पर भेद नहीं करेगा। यदि प्रशासन शासनारूढ़ दल के हितों का संरक्षण करने लगे तो समाज में भी दो वर्ग हो जायेंगे, एक वर्ग शासनारूढ़ दल का तथा दूसरा विरोधी दल का। ऐसी परिस्थिति में इस बात की काफी आशंका रहेगी कि शासनारूढ़ वर्ग विरोधी

---

[9] प्रत्येक मन्त्रालय के अधीन एक सचिवालय होता है जो विभाग के प्रशासकीय कार्यों का संचालन व निर्देशन करता है। सचिवालय का सर्वोच्च अधिकारी सचिव होता है जो मन्त्री को सलाह व सहायता देता है। सचिव प्रशासनिक सेवा का एक अनुभवी एवं विशिष्ट सदस्य होता है। उसके नीचे अतिरिक्त सचिव, सह-सचिव, उप-सचिव एवं एक बहुत बड़ा कार्मिक वर्ग होता है।

[10] 'द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद फ्रांस की गणतन्त्रीय व्यवस्था में बहुत सी सरकारों का निर्माण एवं पतन हुआ, परन्तु प्रशासन अपने स्थायित्व एवं निरन्तरता के कारण राष्ट्र को सामान्य गति से प्रवाहित करता रहा। मन्त्री आते और जाते हैं। सरकारें अल्प अवधि के उपरान्त बनती व बिगड़ती हैं लेकिन प्रशासन वह तत्त्व है जो राष्ट्र के जीवन को निरन्तरता प्रदान करता है।' सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन्, 'इण्डियन जरनल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन', वर्ष 6, अंक 1, पृ० 1।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

वर्ग का दमन करे या विरोधी वर्ग के व्यक्ति दमन की आशंका से शासनारूढ़ दल की निष्ठा स्वीकार कर लें। यदि ऐसा हुआ तो विरोधी वर्ग का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा और प्रजातन्त्रीय व्यवस्था एकदलीय व्यवस्था के रूप में तानाशाही का रूप धारण कर लेगी।[11] अतः प्रजातन्त्रीय व्यवस्था को कायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि प्रशासन राजनीतिक रूप से तटस्थ रहे। इसीलिए सभी संसदीय पद्धति वाले राष्ट्रों में इस आशय की व्यवस्था की गई है कि नौकरशाही का कोई भी सदस्य किसी भी दल का सक्रिय सदस्य नहीं हो सकता। ग्रेट ब्रिटेन में तो नौकरशाही की राजनीतिक तटस्थता एक आधारभूत विशेषता है और उसकी कार्यकुशलता व निष्पक्षता का महत्त्वपूर्ण आधार है।[12] भारतवर्ष में भी नौकरशाही को उसके निष्पक्ष चुनाव, एवं उसकी सेवा की शर्तों के सुदृढ़ आधार के कारण उसे राजनीतिक दलबन्दी से मुक्त रखा गया है।[13] उपर्युक्त तत्त्व इस आदर्श को इंगित करते हैं कि दलीय शासन के अन्तर्गत नौकरशाही ही वह संस्था है जो किसी भी व्यक्ति को निष्पक्ष सेवा प्रदान करके उसके विचार-स्वातन्त्र्य के अधिकार की रक्षा करती है। परन्तु यह अनुभव किया गया है कि प्रशासन के अन्दर इतनी कमियाँ हैं कि नौकरशाही शासनारूढ़ दल से येन केन प्रकारेण अवश्य ही प्रभावित होती है। मन्त्रिमण्डल का प्रशासन पर नियन्त्रण रखने का एवं उसे अपनी दलगत निष्ठा की तरफ आकर्षित करने का सबसे प्रभावी तरीका उच्च पदों पर नियुक्ति का अधिकार है।[14] यदि मन्त्रिमण्डल चाहे तो किसी भी अधिकारी को उच्च पद पर नियुक्ति का लालच देकर अपने स्वार्थ का कार्य करवा सकता है। चूँकि शासनारूढ़ दल इस बात की सदैव चेष्टा करता है कि विरोधी दल परस्पर स्पर्धा में उससे बढ़ न जाये इसके लिए वह इस बात की अवश्य कोशिश करेगा कि उसके दल के सदस्यों को विशेष रूप से लाभान्वित किया जाये। इसके लिए वह प्रशासन का सहयोग लेने की सदैव अपेक्षा करेगा। ऐसी स्थिति में प्रशासन निष्पक्ष नहीं रह सकता। परन्तु संसदीय जनतन्त्र में प्रशासन मनमाने कार्य न करे, शासनारूढ़ दल की नीतियों का पोषक न बन जाये इसके लिए विरोधी दल उसके ऊपर अवरोध का कार्य करते हैं। विरोधी दल संसद में किसी भी विभाग के प्रशासनिक अधिकारी के आचार-विचार से

---

[11] तानाशाही में विभिन्न नीतियों और कार्यक्रमों वाले राजनीतिक दलों को स्थान नहीं दिया जाता। आधुनिक तानाशाहियाँ एकदलीय शासन हैं। उन्हें एकदलीय शासन कहना भी थोड़े से लोगों के निरंकुश शासन को शिष्ट नाम देना है। 'जितनी ही अर्वाचीन क्रान्ति होगी और विजेता एवं पराजित दलों के बीच जितनी ही व्यापक एवं अधिकाधिक दूरी होगी, एक दल द्वारा सरकार का आधिपत्य उतना ही निश्चित एवं पूर्ण होगा। इस प्रकार मुसोलिनी के इटली और हिटलर के जर्मनी में सत्तारूढ़ पार्टी ही वास्तव में सरकार थी और वही स्तालिन के रूस और टीटो के युगोस्लाविया के लिये सच है।' जेम्स सी० चार्ल्सवर्थ, 'गवर्नमेन्टल एडमिनिस्ट्रेशन', हार्पर एण्ड ब्रदर्स, न्यूयार्क, 1951, पृ० 170।

[12] 'रिपोर्ट ऑफ द कमिटी ऑन द पोलिटिकल एक्टिविटीज ऑफ सिविल सर्वेन्ट्स', 1949।

[13] विस्तृत विवरण के लिए देखें, भाभरी, सी० पी०, 'ब्यूरोक्रेसी एण्ड पॉलिटिक्स इन इंडिया', विकास, 1971, पृ० 70–71।

[14] भारतवर्ष में सभी मन्त्रालयों के सचिवों की नियुक्ति, राज्यपालों की नियुक्ति, लोकसेवा आयोग के अध्यक्षों की नियुक्ति, सार्वजनिक संस्थानों के अध्यक्षों की नियुक्ति, समय-समय पर शासन द्वारा विशेष कार्यों के लिये नियुक्ति, आयोग के सदस्यों एवं अध्यक्ष की नियुक्ति तथा नियोजन आयोग के सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार मन्त्रिमण्डल को है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सम्बन्धित प्रश्न पूछ सकते हैं, उसके विरुद्ध जाँच की माँग कर सकते हैं तथा निन्दा का प्रस्ताव रख उसे प्रताड़ित कर सकते हैं। अत: प्रशासन भी इस बात की पूर्ण कोशिश करता है कि वह निष्पक्ष रहे। भारतीय संसद ने नौकरशाही के ऊपर जिन विधियों से नियन्त्रण रखा है वे निम्न हैं :[15]

(1) संसद में विरोधी सदस्य मन्त्रियों से उसकी कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में प्रश्न पूछ सकते हैं।

(2) किसी भी सार्वजनिक महत्त्व के मामले पर 'काम रोको' प्रस्ताव द्वारा विरोधी सदस्य किसी भी विभाग के प्रशासन की आलोचना कर सकते हैं।

(3) सदन में वित्तीय या विधायी वाद-विवाद द्वारा विरोधी सदस्य प्रशासन की कार्य-प्रणाली का पुनरावलोकन कर सकते हैं।

(4) संसद अपनी विभिन्न समितियों, प्राक्कलन समिति, लोक-लेखा समिति, अधीनस्थ विधान समिति, आदि द्वारा प्रशासन पर नियन्त्रण रखती है।

(5) नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक के सार्वजनिक व्यय के जाँच के प्रतिवेदन द्वारा भी संसद प्रशासन पर नियन्त्रण रखती है।

यहाँ मन्त्रिमण्डल और सचिवालयों के कार्यक्रमों पर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है। भारतीय संघ[16] की विभागीय प्रमाण पुस्तिका एवं प्रशासनिक सुधार आयोग के प्रतिवेदन[17] के अनुसार केन्द्र एवं राज्यों के अन्तर्गत विभिन्न मन्त्रालयों या प्रशासनिक विभागों के सचिवालयों का मुख्य कार्य निम्नलिखित है :

(1) जब भी आवश्यक हो विभागीय मन्त्री की नीति-नियमन या समय-समय पर नीति-विनियमन के समय सहायता करना।

(2) विधियों, नियमों एवं विनियमों की विस्तृत रूपरेखा तैयार करना।

(3) सम्भागीय नियोजन एवं कार्यक्रमों का निर्धारण करना।

(4) मन्त्रालय या विभाग सम्बन्धी वित्तीय नियमन तथा उसका नियन्त्रण।

(5) प्रशासनिक निर्णयों के अनुरूप कर्मचारियों को विशिष्ट व सामान्य आदेश तथा सूचनाएँ देना और इस प्रकार कार्य का नेतृत्व करना।

(6) नीतियों की व्याख्या एवं उनमें समन्वय करना, शासन के अन्य विभागों से सहयोग करना तथा राज्यीय प्रशासन से सम्बन्ध स्थापित करना।

(7) मन्त्री के संसदीय उत्तरदायित्व के निर्वहन में सहयोग प्रदान करना।

सचिवालय के उपर्युक्त कार्यों का अवलोकन करने से सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा

---

[15] 'रूल्स ऑफ प्रोसीजर एण्ड कन्डक्ट ऑफ बिजनेस इन लोकसभा', न्यू देहली, लोकसभा सेक्रेटेरियेट। तथा देखें एम० एन० कौल तथा एस० एल० शंकधर, 'प्रेक्टिस एण्ड प्रोसीजर ऑफ इंडियन पार्लियामेन्ट', दिल्ली, मेट्रोपॉलिटन बुक कम्पनी, 1968।

[16] भारतीय संविधान संघ सिद्धान्त पर आधारित है। इस संविधान द्वारा देश में दो भागों वाला राजतन्त्र स्थापित किया गया है और संघ सरकार व इकाई दोनों में ही विधायिनी शक्तियाँ बाँटी गई हैं। अत: केन्द्रीय मन्त्रि-परिषद् एवं सचिवालय के समरूप राज्यीय मन्त्रि-परिषद् एवं सचिवालय का निर्माण हुआ है।

[17] एडमिनिस्ट्रेटिव रिफार्म्स कमिशन, 'रिपोर्ट ऑन स्टेट एडमिनिस्ट्रेशन', गर्वनमेन्ट ऑफ इण्डिया, नवम्बर 1969, पृ० 71–72।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

जा सकता है कि यह प्रशासन की मुख्य धुरी है।[18] यदि विभाग या मन्त्रालय का सचिवालय कार्यकुशल है तो उस विभाग का मन्त्री भी कुशलतापूर्वक अपने संसदीय आलोचकों को सन्तुष्ट कर सकता है क्योंकि सचिवालय केवल नीतियों के निर्धारण में सहायता ही नहीं करता वल्कि उससे सम्वन्धित पक्ष एवं विपक्ष के सभी तर्कों को संतुष्ट करता है। लेकिन यदि किसी भी सिद्धान्त के नीति-निर्धारण में सहायता से लेकर क्रियान्वयन तक का उत्तरदायित्व सचिवालय का है तो मन्त्रिमण्डल क्या करता है ? शासन का कार्य विभिन्न प्रशासकीय विभागों में वँटा हुआ है किन्तु ऐसे अनेक कार्य हैं जिन्हें एक भाग के अधीन रखा जाता है, यद्यपि यथार्थ में उनका दो या अधिक विभागों से सम्वन्ध रहता है।[19] विभिन्न विभागों के वीच सहयोग वढ़ाने तथा उनके कार्यों को एक निर्दिष्ट दिशा में संचालित करने के लिए समन्वय की वड़ी आवश्यकता होती है और मन्त्रिमण्डल इस कार्य को पूर्ण करता है क्योंकि सभी विभागों के कार्यों का निर्देशन व अवीक्षण मन्त्रिमण्डल का मुख्य कार्य है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि किसी भी विभाग के मन्त्री के प्रशासनिक कार्य सीमित रहते हैं एवं इन परिस्थितियों में नौकरशाही का कार्यक्षेत्र ही नहीं वरन् महत्त्व भी बढ़ जाता है। नौकरशाही की महत्ता बढ़ने के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कारण भी हैं जो निम्न हैं :

(1) मन्त्रिमण्डल निर्माण के समय विभागों का वितरण सदस्य की विभागीय कार्य करने की क्षमता को न देखकर उस सदस्य का दल में प्रभाव एवं स्थान तथा वह प्रधानमन्त्री का कितना विश्वास-पात्र है, यह देखकर किया जाता है। अतः यह सदैव आवश्यक नहीं है कि एक विभाग का मन्त्री अपने विभाग के कार्य को विशेष ज्ञान व अनुभव प्राप्त शासकों की तरह समझ सके। ऐसी स्थिति में विभाग के सभी कार्यों का नियन्त्रण एवं निर्देशन सचिवालय के वरिष्ठ सदस्यों के हाथों में आ जाता है तथा मन्त्री सचिव के हाथ में कठपुतली बन जाता है।

(2) मन्त्रिमण्डल के सदस्य साधारणतया दल के वरिष्ठ सदस्य एवं जनप्रिय नेता होते हैं। उन्हें प्रशासन के कार्यों के साथ ही साथ जनता को दल के सिद्धान्तों एवं दल द्वारा किये गये जनहित कार्यों से अवगत कराने का काम भी करना पड़ता है। अतः उन्हें ऐसे प्रशासनिक कार्यों के लिए समय भी कम ही मिलता है जिससे उनका प्रशासन में योगदान औपचारिक मात्र रह जाता है। फलस्वरूप विभाग के सचिवालय के हाथ में वास्तविक शक्ति केन्द्रित हो जाती है।

(3) सचिवालय के प्रभाव एवं कार्यक्षेत्र में वृद्धि बहुत कुछ मन्त्री की मन्त्रिमण्डल में स्थिति के अनुसार होती है। यदि मन्त्री की स्थिति मन्त्रिमण्डल में कमजोर है तो मन्त्री अपने

---

[18] भारतवर्ष में सचिवालय की कार्य-पद्धति ने प्रशासन को सन्तुलन, स्थिरता एवं गतिशीलता प्रदान की है एवं एक मन्त्रालय की सम्पूर्ण गतिविधि के लिए केन्द्र की तरह कार्य किया है। मन्त्रालय-स्तर पर संसद के प्रति उत्तरदायित्व तथा विभिन्न मन्त्रालयों के वीच समन्वय के कार्य को इसने अवाधित रखा है। सरकार के सुचारू रूप से कार्य करने के लिये, एक संस्थानीय पद्धति की तरह यह अति आवश्यक है। एडमिनिस्ट्रेटिव रिफार्म्स कमिशन, 'रिपोर्ट ऑन द मशीनरी ऑफ द गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एण्ड इट्स प्रोसीजर्स ऑफ वर्क', नई दिल्ली, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, 1968, पृ० 30।

[19] उदाहरणार्थ भारतवर्ष में वित्त विभाग है जिसका नियोजन, कृषि, आदि विभागों से घनिष्ठ सम्वन्ध रहता है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सचिवालय के साथ सुमधुर सम्बन्ध बनाये रखने की कोशिश करेगा तथा सचिवालय को सभी कार्यों के लिए छूट देगा जिससे सचिव तथा मन्त्री के सम्बन्ध न बिगड़ें ।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मन्त्री एवं नौकरशाही के सम्बन्ध, विभाग के सुयोग्य संचालन के लिए मधुर होने आवश्यक हैं । यदि हम मन्त्रियों और प्रशासकों की तुलना करें तो कह सकते हैं कि मन्त्रियों को अपने कार्यों के बारे में बहुत कम ज्ञान व अनुभव होता है । इसके विपरीत प्रशासनिक अध्यक्ष अपने कार्यों का विशेष ज्ञान व अनुभव रखते हैं । इसी कारण निर्णय तो मन्त्री करते हैं किन्तु निर्णय पर पहुँचने के लिए सभी प्रकार के आवश्यक आँकड़े, सूचना व परामर्श विशेष ज्ञान व अनुभव प्राप्त प्रशासक देते हैं । ब्रिटेन में इस सम्बन्ध में स्थापित परम्पराओं के विषय में थियोडोर मोरिसन ने लिखा है : (1) नौकरशाही के लिए अपने प्रधान अर्थात् मन्त्री के समक्ष प्रत्येक मामलों के दोनों पक्षों की पूर्ण तथा निष्पक्ष सूचना रखनी आवश्यक है; (2) जब कोई निर्णय कर लिया जाये तो उसे पूर्ण वफादारी से उस निर्णय को क्रियान्वित करना चाहिए, चाहे उसका व्यक्तिगत मत उसके विरुद्ध रहा हो; (3) संसदीय पद्धति में नीति-सम्बन्धी जितनी भी स्थिरता रह सकती है, उसके लिए नौकरशाही उत्तरदायी है; और (4) कार्यालय में जो कुछ भी होता है उसके बारे में नौकरशाही को पूर्ण चुप्पी और विवेक से काम करना चाहिए ।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्र के शासन का कार्यभार कांग्रेस पार्टी ने संभाला तथा यही पार्टी 1952 के प्रथम आम चुनाव से लेकर अब तक केन्द्र में एवं 1967 के चतुर्थ आम चुनाव के पूर्व तक सभी राज्यों (केवल केरल को छोड़कर) में पदारूढ़ रही ।[20] शासनारूढ़ होने के कुछ समय बाद ही कांग्रेस पार्टी ने समाजवादी समाज की स्थापना का व्रत लिया ।[21] राष्ट्र के चतुर्दिक् विकास के लिए योजना आयोग एवं उससे सम्बन्धित समितियाँ, प्रगतिशील मन्त्रालय, राज्य एवं केन्द्र के कार्यों में समन्वय स्थापित करने के लिए विचार-विनिमय समितियों आदि की स्थापना राष्ट्र के मन्त्रियों, नौकरशाही वर्ग एवं जनता के लिए एक नया अनुभव था । यद्यपि केन्द्र एवं राज्यों के कर्णधार सर्वप्रथम कांग्रेस पार्टी के वे ही व्यक्ति हुए जिन्होंने स्वतन्त्रता में सक्रिय रूप से भाग लिया था तथा जिन्हें सार्वजनिक जीवन का पर्याप्त अनुभव था फिर भी नौकरशाही के लिए यह नया प्रयोग था । भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन ने एक ऐसा अखिल भारतीय प्रशासनिक ढाँचा तैयार किया था जिसका मुख्य कार्य एक निश्चित उद्देश्य (शान्ति बनाये रखना और स्थिरता कायम रखना) को क्रियान्वित करना था । स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रशासन का अखिल भारतीय स्तर तो कायम रहा परन्तु उसके कार्य बदल गये । अब उसका सिद्धान्त ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा निर्धारित 'शासन करो' के संकुचित सिद्धान्त से बदलकर 'समाज सेवा' का सिद्धान्त हो गया । इन बदली हुई परिस्थितियों से शासन के कार्यों में निम्नलिखित परिवर्तन हुए :[22]

1. शासन के उत्तरदायित्व में अत्यधिक वृद्धि;

---

[20] चतुर्थ आम चुनाव के बाद विरोधी दलों की सरकारें पश्चिमी बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, पंजाब, हरयाणा, तमिलनाडु, केरल एवं उड़ीसा में बनीं ।

[21] कांग्रेस पार्टी का आवड़ी अधिवेशन, 1955 ।

[22] रजनी कोठारी, 'पालिटिक्स इन इण्डिया', ओरियन्ट, 1970, पृ० 140 ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

2. शासन के सभी प्रभागों में एक राजनीतिक दल के व्यक्ति के उच्चतम अधिकारी बन जाने से निर्णय-प्रक्रिया में परिवर्तन;

3. जिला एवं अन्य निचले स्तरों पर लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण; एवं

4. आर्थिक नियोजन एवं सार्वजनिक उद्योगों में वृद्धि के फलस्वरूप समन्वय तथा नियन्त्रण का कार्य।

यद्यपि राज्यों के उत्तरदायित्व में वृद्धि के साथ ही शासन का ध्येय भी बदल गया परन्तु नौकरशाही का पुराना ढांचा कायम रखा गया जिससे उसके अन्दर विकसित पुरानी प्रवृत्तियाँ कायम रहीं। फलस्वरूप प्रशासन एवं जनता के बीच की दूरी पूर्ववत् रही।[23] यद्यपि संविधान सभा में नौकरशाही के ढाँचे में आमूल परिवर्तन का सुझाव दिया गया था परन्तु यह अनुभव किया गया कि बदली हुई परिस्थितियों में यह सम्भावना नहीं है।[24] अतः उनका वही पुराना ढाँचा कायम रखा गया। शासनारूढ़ कांग्रेस पार्टी ने भी प्रशासन की कार्य प्रणाली में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं किया। फलस्वरूप प्रशासनिक अधिकारी अपने को साधिकार विशिष्ट वर्ग समझने लगे। उनके इस रूप में विकसित होने का सबसे अधिक उल्लेखनीय कारण एक ही दल का निरन्तर शासनारूढ़ होना तथा भारतीय जनता के अन्दर राजनीतिक चेतना की कमी रहा है। शासनारूढ़ दल ने प्रशासनिक यंत्र को दलीय संवर्धन के लिए प्रयुक्त किया तथा प्रशासनिक अधिकारियों ने भी राष्ट्र के अन्दर अन्य दलों का भविष्य उज्ज्वल न देखकर कांग्रेस पार्टी का अनुग्रह स्वीकार किया।

किसी भी दल के विकास की आधारशिला ग्रामीण स्तर से प्रारम्भ होकर प्रखण्डों एवं जिलों से होती हुई राज्यीय एवं केन्द्रीय स्तर पर पहुँचती है अतः किसी भी दल के स्थायित्व एवं विकास के लिए आवश्यक है कि दल सर्वप्रथम स्थानीय व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त करे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस पार्टी का संगठन गांव-गांव तक फैल गया था और इस व्यापक संगठन की तुलना कोई दूसरा दल नहीं कर सकता था। परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राजनीतिक चेतना के विकास के फलस्वरूप अन्य राजनीतिक दलों का भी अभ्युदय शुरू हुआ। इसके परिणामस्वरूप राजनीतिक दलों में परस्पर स्पर्धा की भावना आयी। विरोधी दलों ने शासनारूढ़ कांग्रेस पार्टी के सिद्धान्तों और नीतियों की आलोचना कर जनता को आकर्षित करना शुरू किया तो कांग्रेस पार्टी ने प्रशासकों को प्रश्रय देकर अपने समर्थकों को अनुचित लाभ उठाने का अवसर दिया। स्थानीय नेताओं ने सरकारी ऋण, कृषि एवं सिंचाई सुविधायें, सरकारी ठेके एव अपने सम्बन्धियों एवं दलीय समर्थकों के लिए निम्न स्तर की सरकारी सेवाएँ प्राप्त कीं।[25]

---

[23] मॉरिस-जोन्स, 'द गवर्नमन्ट एण्ड पालिटिक्स आफ इण्डिया', 1967, हचिसन एण्ड को, लन्दन, पृ० 25।

[24] सरदार पटेल ने 1949 में संविधानसभा में कहा था : 'मैंने इस कठिन काल में उनके साथ काम किया है···अगर हम उनको हटा दे तो हम देखेंगे कि सम्पूर्ण देश में विशृङ्खलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा।'

[25] माइरन वीनर ने एक रोचक घटना का वर्णन करते हुए लिखा है कि कांग्रेस पार्टी ने कलकत्ता में एक जनसम्पर्क अधिकारी की नियुक्ति की है जिसका उत्तरदायित्व शासन एवं जनता के मध्य निकटता लाना है परन्तु वास्तव में उसका कार्य है व्यवसायियों को परमिट, कांग्रेस कार्यकर्ताओं को नौकरी एवं कांग्रेस समर्थकों के

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

परन्तु प्रशासक स्थानीय नेताओं के प्रभाव में क्यों आते हैं ? प्रशासक यह जानते हैं कि स्थानीय नेताओं के ऊपर उच्च नेताओं, विधानसभा एवं लोकसभा के सदस्यों एवं मन्त्रियों की कृपा दृष्टि रहती है। किसी भी प्रशासक की पदोन्नति, स्थानान्तरण आदि प्रश्न बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि एक विशेष मन्त्री उस प्रशासक के प्रति कैसा रुख रखता है अतः कोई भी प्रशासक मन्त्री का कोपभाजन बनना पसन्द नहीं करेगा। मन्त्री केवल जिला-स्तर के प्रशासकों को ही प्रश्रय नहीं देते बल्कि प्रशासकों पर अनुग्रह करने का यह क्रम राज्य एवं केन्द्र के सचिवालय स्तर के अधिकारियों तक विस्तृत होता है। मन्त्रियों द्वारा प्रशासकों को प्रश्रय देने में दलीय स्वार्थ के साथ ही साथ मन्त्री का व्यक्तिगत स्वार्थ भी निहित होता है। ऐसा अवसर आया है जबकि प्रशासकों ने शासनारूढ़ दल के दलीय स्वार्थ के हित में काम किये हैं। तीसरे आम चुनाव का एक प्रकरण है जिसमें अधिकारियों ने मतपत्रों का दुरुपयोग करते हुए सत्ताधारी दल के सदस्य को चुनाव जिताने के प्रयास किये। कानपुर के एक उद्योगपति तथा भूतपूर्व मुख्य मन्त्री चन्द्रभानु गुप्त के समर्थक श्री रामरतन गुप्त ने लोकसभा के लिए कांग्रेस के टिकट पर गौंडा संसदीय निर्वाचन क्षेत्र से चुनाव लड़ा। उनके निर्वाचन के विरुद्ध चुनाव याचिका दायर की गयी। एक सदस्य के चुनाव ट्रिब्यूनल ने उनके चुनाव पर विचार करने के बाद कहा कि चुनावों के इतिहास में यह एक विशेष मामला है जिसमें कि दोबारा मतगणना करने पर एक उम्मीदवार 21,666 मतों से जीता हो। उसे चुनाव कराने वाले कुछ सरकारी अधिकारियों का सक्रिय सहयोग मिला। ट्रिब्यूनल का विचार था कि कांग्रेसी उम्मीदवार श्री रामरतन गुप्त को भ्रष्ट उपायों द्वारा सफलता के निकट लाने वाले साधन रिटर्निंग आफिसर एम० सी० निगम थे। उनसे यह वायदा किया गया कि चुनाव के बाद बदले में नवम्बर में उन्हें फैजाबाद मण्डल का आयुक्त बना दिया जायगा। स्मरणीय है कि पहले इस अधिकारी को पदोन्नति के लिए अयोग्य घोषित किया जा चुका था।[26] ऐसा भी अवसर आया है जबकि प्रशासनिक अधिकारी ने एक विशेष मन्त्री के व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए भी कार्य किया है। उदाहरणार्थ, पंजाब के मुख्यमन्त्री स्व० प्रतापसिंह कैरों के विरुद्ध लगाये गये आरोपों की जाँच के लिए नियुक्त जांच आयोग इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मुख्य मन्त्री ने अपनी स्थिति का अनुचित लाभ उठाया है। उनके परिवार के सदस्यों ने अपार सम्पत्ति एकत्रित करने में उनकी सत्ता व प्रभाव का उपयोग किया है। उनके इस प्रयास में अन्य मन्त्रियों तथा लोकसेवकों द्वारा भी गैरकानूनी एवं भ्रष्ट रूप में सहायता दी गयी।[27] केन्द्रीय स्तर पर मूंदड़ा काण्ड का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि भ्रष्ट उद्योगपति मूंदड़ा ने कांग्रेस पार्टी को दलीय कोष के लिए रुपया दिया एवं केन्द्र में शासनारूढ़ कांग्रेस पार्टी ने मूंदड़ा को जीवन बीमा निगम कोष से पूँजी लेने की अनुमति देकर उसे लाभान्वित किया। मन्त्रिमण्डल के तत्कालीन सदस्य के० डी० मालवीय ने एक निजी उद्योग के उद्योगपति से दलीय कार्य के

बच्चों को विद्यालयों में प्रवेश दिलाना। माइरन वीनर, 'द पालिटिक्स आफ स्केयर्सिटी, पब्लिक प्रेशर एण्ड पब्लिक रेस्पॉन्स इन इण्डिया', शिकागो, द यूनिवर्सिटी आफ शिकागो प्रेस, 1962, पृ० 15।

[26] विस्तृत विवरण के लिए देखें, 'इण्डियन एक्सप्रेस', नई दिल्ली, 2 सितम्बर, 1964।

[27] जाँच आयोग प्रतिवेदन, दास आयोग, भारत सरकार, नई दिल्ली, 11 जून, 1964। एक वर्ष बाद बीजू पटनायक, भूतपूर्व मुख्यमन्त्री उड़ीसा और बख्शी गुलाम मुहम्मद, मुख्यमन्त्री जम्मू एवं काश्मीर के आचरण के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार के आरोप लगाये गये थे।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

लिए चन्दा लिया। फलस्वरूप यह निजी संस्थान सरकार से फायदा उठाता रहा था।[28]

परन्तु अधिकारियों के प्रश्रय का क्रम केवल कांग्रेस पार्टी तक ही सीमित नहीं रहा है। चतुर्थ आम चुनाव के पश्चात् बहुत से राज्यों में विरोधी दलों की संयुक्त सरकारें बनीं। इन सरकारों ने भी प्रशासन को अपने स्वार्थ के हित में प्रयोग करने का क्रम जारी रखा। शासन का जो भी विभाग जिस मन्त्री के पास रहा उस मन्त्री ने अपने दलीय हितों के लिए प्रशासकों को प्रश्रय दिया। पश्चिमी बंगाल के मुख्य मन्त्री अजय मुखर्जी ने यह कहा कि मार्क्सवादी गृह एवं पुलिस मन्त्री श्री ज्योति बसु पुलिस अधिकारियों को प्रश्रय देकर मार्क्सवादियों की विध्वंसक गतिविधियों को बढ़ावा दे रहे हैं। 1967 में उत्तर प्रदेश में संयुक्त सरकार के मुख्यमन्त्री श्री चरणसिंह का सर्वप्रथम प्रशासनिक कार्य था कांग्रेस पार्टी के अनुगृहीत अधिकारियों का स्थानान्तरण एवं अपने अनुगृहीत अधिकारियों की मुख्य-मुख्य पदों पर नियुक्ति। इसी प्रकार जब 1971 में सत्तारूढ़ कांग्रेस के कमलापति त्रिपाठी मुख्यमन्त्री बने तो उन्होंने पुनः उच्च पदों पर अपने अनुगृहीत अधिकारियों की नियुक्ति कर डाली। 1970-71 में बिहार के मुख्यमन्त्री कर्पूरी ठाकुर ने जब यह देखा कि उनके नेतृत्व में गठित संयुक्त सरकार की स्थिति डांवांडोल है तो उन्होंने अपने अनुगृहीत अनेक अधिकारियों को महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त कर दिया परन्तु यह स्थानान्तरण वास्तविक रूप में क्रियान्वित हो इसके पूर्व ही उनकी सरकार चली गई एवं कांग्रेस पार्टी द्वारा समर्थित प्रगतिशील विधायक दल की सरकार ने शासनारूढ़ होते ही कर्पूरी ठाकुर सरकार द्वारा की गई सभी नियुक्तियाँ रद्द कर दीं। इतना ही नहीं बल्कि यह भी कहा गया है कि तत्कालीन कर्पूरी ठाकुर सरकार द्वारा केन्द्रीय विदेश वाणिज्य व्यापार मन्त्री श्री एल० एन० मिश्र के विरुद्ध लगाये गये कतिपय आरापों की जाँच के हेतु नियुक्त आयोग के कार्यालय से कुछ महत्त्वपूर्ण फाइलों को लेने के लिए कांग्रेस पार्टी के सतर्कता मन्त्री श्री राम जयपाल सिंह ने एक उच्च अधिकारी को भेजा था।[29] पंजाब में तो अकाली दल के शासन से जाते ही एक माँग-पत्र में साम्यवादी नेता सत्यपाल डंग ने अकाली दल द्वारा किये गये भ्रष्टाचारों की जाँच की मांग की। उस मांग-पत्र में मुख्य बात थी अकाली मन्त्रिमण्डल द्वारा नियुक्तियों में दल के समर्थकों की नियुक्ति, भाई-भतीजावाद, आदि। अतः उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्र के अन्दर नौकरशाही का विकास इस दिशा में हुआ कि उनके लिए पक्षपातपूर्ण कार्य करना, मन्त्रियों का अनुग्रह स्वीकार करना आदि उनकी आदत बन गयी।

यहाँ पर मन्त्री एवं सचिव के सम्बन्धों को लेकर विकसित परम्पराओं पर दृष्टिपात करना उचित होगा। हमने पूर्व पृष्ठों में संसदीय जनतन्त्र में मन्त्री एवं सचिव के कार्यों के सिद्धान्त के सन्दर्भ में प्रकाश डाला है परन्तु क्या भारत में सचिवालय एवं मन्त्रियों के सम्बन्ध संसदीय सिद्धान्तों के अनुकूल रहे हैं ? अब तक की स्थापित परम्पराओं पर एक विहंगम दृष्टि डालने से यह स्पष्ट होता है कि यहाँ पर भी प्रशासन की वे कमियाँ विद्यमान हैं जो कि संसदीय

---

[28] आर० जे० वेंकटेश्वरन, 'कैबिनेट गवर्नमेण्ट इन इण्डिया', लन्दन, जार्ज ऐलेन एण्ड अनविन लि०, 1967, पृ० 89–91।

[29] 'टाइम्स आफ इण्डिया', 11 जून, 1971, पृ० 6।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

जनतन्त्र के अन्दर पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ, मन्त्रियों का अपने सचिवों के ऊपर अधिक आश्रित रहना,[30] सचिवों में अधिकारों का केन्द्रीभूत रहना,[31] सरकार का दलीय हितों के संवर्धन में योगदान करना एवं पक्षपातपूर्ण व्यवहार करना।

राष्ट्र में अब तक केन्द्र एवं राज्यों में जो भी मन्त्रिमण्डल बने हैं, मन्त्रियों में विभागों का वितरण यथासम्भव उनके विभाग के कार्य कर सकने की क्षमता को ध्यान में रखकर किया गया है।[32] परन्तु इसके अपवाद भी रहे हैं।[33] लेकिन मन्त्री एवं सचिव के उत्तरदायित्वों में निश्चित विभाजन न होने से समय-समय पर इनके सम्बन्ध विवादास्पद हो गये हैं। इस सम्बन्ध में विकसित परम्पराओं के अनुसार एक सचिव का कार्य सभी मामलों पर निर्णय लेना है लेकिन किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर निर्णय लेते समय वह साधारणतया सम्बन्धित मन्त्री से भी निर्देश लेता है। सचिव स्वयं लिये गये निर्णय से मन्त्री को अवगत कराता है।[34]

उपर्युक्त विवरण यह स्पष्ट करता है कि यद्यपि सचिव अपने विभाग की किन्हीं भी त्रुटियों के लिए संसद में उत्तरदायी न होते हुए भी सभी प्रकार के निर्णय ले सकता है परन्तु मन्त्री, जो कि सम्बन्धित विभाग के कार्यों के लिए पूर्ण रूप से उत्तरदायी है, विभाग के कार्य संचालन में नाममात्र का अधिकार रखता है। दूसरे शब्दों में, मन्त्री का कार्य केवल सचिव से सूचनाएँ पाने तक ही सीमित रह गया है। इस अवस्था में मन्त्री इस बात का पूर्ण प्रयास करता है कि उसका सुमधुर सम्बन्ध सचिव से बना रहे।

परन्तु सचिव के, जो कि मन्त्री का मुख्य सलाहकार है, अधिकारों में वृद्धि के क्या कारण रहे हैं? इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इसके पीछे कांग्रेस पार्टी की प्रशासन के प्रति उदासीनता रही है। दूसरे, मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की अस्थिर स्थिति का भी इसमें योग है। प्रायः एक ही व्यक्ति के नेतृत्व में गठित मन्त्रिमण्डल में परिवर्तन होता रहता है

---

[30] 15 दिसम्बर, 1967 को लोकसभा में बोलते हुए श्री जार्ज फर्नाण्डीज ने कहा था, 'आज हिन्दुस्तान में किसी दल का राज्य नहीं चलता। आज यहाँ पर राज्य चलाने वाले नौकरशाह हैं। मन्त्री उन्हीं की बातों को कहते हैं, उन्हीं की लिखी हुई तकरीरों को पढ़ते हैं और उन्हीं के कानूनों को अमल में लाते हैं। इस सदन में और इस सदन के बाहर भी नन्दा और एल० पी० सिंह का मामला उठा था। आज स्थिति यह है कि नन्दा को तो गृह मंत्रालय छोड़ना पड़ा और नौकरशाह एल० पी० सिंह अभी वहाँ ही हैं।'

[31] 1969–70 में प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी न केवल प्रधानमन्त्री ही थीं बल्कि अनेक विभागों के साथ ही साथ वित्त मन्त्रालय भी उन्हीं के पास रहा। क्या प्रधानमन्त्री के पास इतना समय रहता था कि वे सभी विभागों के कार्यों का अधीक्षण व निर्देशन कर सकें?

[32] सरदार पटेल, गोविन्द वल्लभ पन्त, लाल बहादुर शास्त्री (गृहमंत्री), को प्रशासन का काफी अनुभव था, षणमुखम् चेट्टी, सी० डी० देशमुख, मोरारजी देसाई (वित्त मन्त्री) वित्तीय मामलों में प्रवीण थे, टी० टी० कृष्णमाचारी एक बड़े व्यवसायी थे, डा० त्रिगुण सेन, डा० वी० के० आर० वी० राव महान् शिक्षाविद् थे, डा० के० एल० राव एक कुशल इन्जीनियर हैं।

[33] राज्यों में जितने भी मन्त्रिमन्डल बने हैं वहाँ पर विभागों का वितरण मन्त्री की विभाग के कार्य कर सकने की क्षमता को ध्यान में रखकर नहीं किया गया है।

[34] 23 जनवरी, 1958 को मुख्य वित्त सचिव एच० एम० पटेल ने छागला आयोग के समक्ष सचिव के कार्यों का विवरण देते हुए यह भी कहा कि अगर कोई विषय विशेष महत्त्व का है और मुझे यह विश्वास है कि मैं उसे जिस रूप में क्रियान्वित कर रहा हूँ वह मन्त्री के विचारों के अनुरूप है तो मैं उस विषय पर निर्णय ले सकता हूँ और जो कुछ किया गया है उससे मन्त्री को बाद में अवगत करा सकता हूँ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

जिससे कोई भी मन्त्री सम्बद्ध विभाग के सम्बन्ध में किसी निश्चित नीति का निर्माण नहीं कर सकता। इसके विपरीत सचिव को दलीय हितों के संवर्धन के लिए प्रेरित किया गया तथा उन्हें सेवा निवृत्ति के बाद लाभ के पदों पर नियुक्त किया गया।[35] फलतः उच्च प्रशासनिक अधिकारियों ने अपने को विशिष्ट अधिकार प्राप्त वर्ग समझने के साथ ही साथ मन्त्री को भी निर्देशित करने का अभ्यास प्रारम्भ किया। इन सचिवों ने सचिवालय की कार्य प्रणाली को इस तरह विकसित किया कि किसी भी मन्त्री का इनसे अपना सम्बन्ध बिगाड़कर अपने पद पर टिके रहना मुश्किल हो गया। तथापि, सचिव ने भी अपने मन्त्री के साथ सम्बन्धों का विकास मन्त्री की मन्त्रि-परिषद् में स्थिति को ध्यान में रखकर किया है। एक कमजोर मन्त्री अपने सचिव से सम्बन्ध बिगाड़कर टिक नहीं सका।[36] परन्तु यदि सचिव ने एक दृढ़ मन्त्री से सम्बन्ध बिगाड़ा तो उस स्थिति में सचिव को हटना पड़ा।[37]

अन्त में यह देखना भी आवश्यक होगा कि क्या संसद ने नौकरशाही के ऊपर कोई ऐसा अंकुश लगाया है जिससे कि प्रशासन निष्पक्ष रूप से कार्य कर सके। अब तक की संसद की कार्यवाही की समीक्षा करने पर यह स्पष्ट होता है कि भारतीय संसद ने प्रश्नों, काम रोको प्रस्तावों तथा अन्य प्रस्तावों द्वारा शासन की सार्वजनिक अधिकारियों सम्बन्धी कार्यवाहियों की आलोचना की है। ऐसा भी अवसर आया है जबकि संसद ने अधिकारियों के पक्षपातपूर्ण व्यवहार करने पर उच्च न्यायालय की तरह कार्य कर सम्बन्धित अधिकारी को प्रताड़ित किया है।[38] एक सार्वजनिक अधिकारी द्वारा संसदीय समिति के समक्ष गलत आंकड़े एवं विवरण देने के कारण संसद ने उसे प्रताड़ित कर शासन से उसको विधि के अन्तर्गत अधिक से अधिक दण्ड देने का आदेश दिया है।[39] अतः हम कह सकते हैं कि यद्यपि संसद में सत्तारूढ़ दल का भारी बहुमत शुरू से अब तक कायम रहा है फिर भी विरोध पक्ष भी सुदृढ़ हुआ है तथा विरोध पक्ष द्वारा संसद के अन्दर एवं बाहर की कड़ी आलोचना ने प्रशासन को निष्पक्ष रूप से कार्य करने के लिए प्रेरित किया है।

---

[35] भारतवर्ष में प्रशासनिक अधिकारियों की सेवा निवृत्ति के बाद उच्च पदों पर नियुक्ति की परम्परा शुरू से ही रही है। आजकल पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल श्री ए० एल० डायस मैसूर के राज्यपाल श्री धर्मवीर, दिल्ली के उपराज्यपाल श्री ए० एन० झा, नेपाल के राजदूत श्री एल० पी० सिंह आदि भारत सरकार के उच्च प्रशासनिक अधिकारी रह चुके हैं।

[36] 1966 में तत्कालीन स्वराष्ट्र मन्त्री श्री नन्दा एवं गृह सचिव श्री एल० पी० सिंह में मतभेद की स्थिति में नन्दा को त्यागपत्र देना पड़ा। यह कहा गया कि गुलजारी लाल नन्दा एक ऐसे मन्त्री थे जिनके सिद्धान्त सुदृढ़ थे परन्तु अनेक कारणों से उनकी स्थिति मन्त्रिमण्डल से कमजोर थी।

[37] अक्तूबर 1971 में रेलवे बोर्ड के अध्यक्ष बी० सी० गांगुली ने न केवल अपने सहयोगियों की उपेक्षा शुरू कर दी बल्कि रेलमन्त्री के आदेशों की अवहेलना भी आरम्भ कर दी, फलतः उन्हें सेवानिवृत्त कर दिया गया।

[38] 31 दिसम्बर 1970 को संसद ने नागपुर के दो पुलिस अधिकारियों को प्रताड़ित किया क्योंकि उन्होंने स्वतन्त्र दल के लोकसभा के सदस्य के० एम० कौशिक के साथ बुरा बर्ताव किया था।

[39] टाइम्स ऑफ इन्डिया', 4 दिसम्बर, 1970, पृ० 1, उसी सत्र में लोकसभा ने लोह एवं इस्पात के भूतपूर्व उपनियंत्रक एस० सी० मुखर्जी को लोक लेखा समिति के समक्ष गलत आँकड़े प्रस्तुत करने और समिति को बरगलाने के कारण प्रताड़ित कर शासन को निर्देश दिया कि उन्हें कानून के अन्तर्गत अधिक से अधिक दंड दिया जाये।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारतीय संघवाद पर राजनीतिक दलों का प्रभाव

एम० वेंकटरंगय्या

यह सर्वविदित है कि किसी देश में संघ शासन का वास्तविक कार्यान्वय न तो लिखित संविधान पर निर्भर होता है और न व्यापक विधिक संरचना पर। सच पूछा जाय तो वह उन विभिन्न कारकों पर अवलम्बित है जो देश की राजनीतिक प्रक्रिया पर प्रभाव डालते हैं। इन कारकों में एक महत्त्वपूर्ण कारक राजनीतिक दल हैं, और इस तथ्य को सभी लेखकों ने स्वीकार किया है। अतः हमारे लिए यह परीक्षा करना उपयोगी होगा कि भारत में राजनीतिक दलों ने भारतीय संघ शासन के कार्यान्वय पर कितना और किस प्रकार का प्रभाव डाला है।

इस सम्बन्ध में तीन पहलुओं पर विचार किया जा सकता—पहला, क्या राजनीतिक दलों ने संघवाद को केन्द्र की ओर अत्यधिक उन्मुख किया है; दूसरा, क्या उन्होंने संघवाद को राज्यों के पक्ष में मोड़ा है; और तीसरा क्या राजनीतिक दलों ने केन्द्र और राज्यों के बीच वही सन्तुलन बनाये रखा है जिसकी संविधान-निर्माताओं ने कल्पना की थी ? भारत में संविधान-निर्माता केन्द्र को राज्यों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली रखना चाहते थे। हमें देखना है कि क्या राजनीतिक दलों ने संविधान-निर्माताओं की इस इच्छा को पूरा किया है अथवा राजनीतिक दलों की क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप राज्य उससे अधिक शक्तिशाली हो गये हैं जितनी संविधान-निर्माताओं ने कल्पना की थी।

इस प्रश्न पर विचार करते समय हमारे लिए यह परखना आवश्यक है कि संघीय सन्तुलन के प्रति विभिन्न राजनीतिक दलों का क्या दृष्टिकोण है। इस दृष्टिकोण की परख हम दो तरह से कर सकते हैं। एक तो उन विभिन्न निर्वाचन घोषणा-पत्रों के द्वारा जो इन राजनीतिक दलों ने महानिर्वाचन के समय प्रकाशित किये थे और दूसरे उन विभिन्न वक्तव्यों का अध्ययन करके जो इन राजनीतिक दलों ने संघवाद के सम्बन्ध में समय-समय पर दिये हैं।

यदि इस दृष्टि से विभिन्न राजनीतिक दलों के निर्वाचन घोषणा-पत्रों और उद्घोषणाओं का अनुशीलन किया जाय तो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस सामान्यतः शक्तिशाली केन्द्र के पक्ष में रही है। वह केन्द्र को इतना शक्तिशाली रखना चाहती है जिससे वह न केवल संघ सरकार की जिम्मेदारियों को पूरा कर सके बल्कि राज्य सरकारों को दी गयी बहुत सी जिम्मेदारियों को भी व्यावहारिक रूप दे सके। कांग्रेस का मुख्य लक्ष्य पंचवर्षीय योजनाओं के आधार पर देश का सामाजिक और आर्थिक पुनर्निर्माण है। वह धन तथा आय के समतायुक्त वितरण के आधार पर देश में समाजवादी ढंग के समाज की संरचना के लिए कृतसंकल्प है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए कांग्रेस का विचार रहा है कि उसका केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

दोनों की नीतियों पर सामान्य नियन्त्रण रहना चाहिए। इसलिए कांग्रेस का लक्ष्य है 'केन्द्रीकृत संघवाद'।

अन्य राजनीतिक दलों में जनसंघ भी केन्द्रीकृत संघवाद के पक्ष में है। कई अवसरों पर तो उसने यहाँ तक कहा है कि राष्ट्र के हित में और राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने की खातिर यह जरूरी है कि संघवाद को समाप्त कर दिया जाय और उसकी जगह विकेन्द्रीकृत शासन की व्यवस्था स्थापित की जाय। लेकिन साम्यवादी दलों का संघवाद के प्रति कुछ-कुछ अनिश्चित-सा दृष्टिकोण रहा है। वे शक्तिशाली केन्द्र चाहते हैं लेकिन इसके साथ ही उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया है कि राज्यों को पर्याप्त स्वायत्तता प्राप्त होनी चाहिए। पिछले कुछ वर्षों में विशेषकर 1967 के महा-निर्वाचनों के बाद उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया है। जब वे पश्चिमी बंगाल और केरल में सत्तारूढ़ थे तब उन्होंने केन्द्रीय सरकार से टक्कर लेने में भी संकोच नहीं किया। स्वतन्त्र पार्टी सामान्य रूप से केन्द्र तथा राज्यों के बीच सन्तुलन बनाये रखने के पक्ष में है तथा भारतीय संविधान ने केन्द्र तथा राज्यों के बीच जिस सन्तुलन की व्यवस्था की है स्वतन्त्र पार्टी न्यूनाधिक रूप से उससे सन्तुष्ट है। सामान्य रूप से वह इस पक्ष में नहीं रही है कि केन्द्रीय सरकार की शक्तियाँ व्यापक आधार पर राज्य सरकारों को हस्तान्तरित की जाएँ। संयुक्त समाजवादी दल और प्रजा समाजवादी दल ने केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के बारे में अपनी स्थिति स्पष्ट नहीं की है लेकिन 1967 के निर्वाचनों के बाद संयुक्त समाजवादी दल का आग्रह रहा है कि राज्यों को अधिक शक्तियाँ प्रदान की जायें।

लेकिन क्षेत्रीय दलों के विचार से केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों का जो वितरण हुआ है, उसमें तराजू का पलड़ा केन्द्र की ओर अधिक झुका हुआ है तथा संविधान में आमूल परिवर्तन करके राज्यों को आज की अपेक्षा अधिक स्वायत्तता प्रदान की जानी चाहिए। इस बात को तमिलनाडु में द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम ने तथा पंजाब में अकाली दल ने सबसे ज्यादा जोर-शोर से दुहराया है। इन दोनों दलों के इस दृष्टिकोण पर हमें कोई आश्चर्य भी नहीं होता क्योंकि द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम शुरू-शुरू में स्वतन्त्र तमिलनाडु का समर्थक था और अकाली दल सिक्खों के लिए पृथक् गृहदेश की माँग कर रहा था।

संघवाद के सम्बन्ध में विभिन्न दलों की ये विचारधाराएँ हैं। पर इस सम्बन्ध में सबसे ज्यादा महत्त्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के दृष्टिकोण का है क्योंकि स्वतन्त्रता के बाद से केन्द्र में इस दल का एकाधिकार बना हुआ है और 1967 तक अधिकांश राज्यों में भी इस दल का ही शासन था। यहाँ इस बात की जाँच करना विशेष रूप से आवश्यक है कि जब एक ही दल का केन्द्र अथवा राज्यों में शासन होता है, तब व्यवहारतः संघवाद का अस्तित्व समाप्त हो जाता है और वह एकात्मक व्यवस्था का रूप धारण कर लेता है। अनेक विद्वानों ने यह विचार प्रस्तुत किया है और इस आधार पर उसे प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि यद्यपि संविधान ने राज्य सरकारों को वास्तविक स्वायत्तता प्रदान की है लेकिन राज्यों ने अपनी स्वायत्तता पर कभी जोर नहीं दिया और उनकी इच्छा रही हो या नहीं, उन्हें सदा ही केन्द्रीय सरकार की नीतियों का पालन करने के लिए विवश होना पड़ा। पर इस विचार की सावधानी से परीक्षा करने की आवश्यकता है क्योंकि यह तथ्यों से पूरी तरह प्रमाणित नहीं होता। केन्द्र की कांग्रेस सरकार सदा ही राज्यों की कांग्रेस सरकारों पर अपने विचार नहीं

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

थोप सकी है । मार्कस एफ० फ्रान्डा ने 'वेस्ट बंगाल एण्ड द फेडेरलाइजिंग प्रोसेस इन इण्डिया' (पश्चिमी बंगाल और भारत में संघ-प्रक्रिया) नामक अपनी पुस्तक में इस पहलू की विस्तार से परीक्षा की है । यद्यपि देश के अन्य राज्यों के सन्दर्भ में इस प्रकार के प्रकरण-अध्ययन नहीं किये गये हैं, तथापि व्यापक रूप से यह कहा जा सकता है कि यदि एक ही दल केन्द्र तथा राज्यों में शासन कर रहा हो, तो इसका अर्थ यह नहीं हो जाता कि केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को इस बात के लिए विवश करने में सफल रही है कि वे उसकी नीतियों को आँख मूँदकर कार्यान्वित करें ।

राज्य सरकारें केन्द्र सरकार के आदेशों के बावजूद अपनी नीतियों का पालन करने में सफल रही है, इसके अनेक कारण हैं । राज्य का कोई भी मुख्यमन्त्री, विशेषकर यदि वह शक्तिशाली नेता है, कांग्रेस हाई कमाण्ड की कठपुतली मात्र बनकर काम नहीं करना चाहता । मद्रास में श्री कामराज, महाराष्ट्र में श्री चव्हाण, पश्चिमी बंगाल में श्री विधानचन्द्र राय, पंजाब में श्री प्रताप सिंह कैरों, और उत्तर प्रदेश में श्री चन्द्रभानु गुप्त जैसे मुख्यमन्त्री शक्तिशाली नेता थे । जिन राज्यों में मुख्यमन्त्री शक्तिशाली नेता रहे हैं, वहाँ वे अपनी बात मनवाने में सफल रहे हैं । दूसरे, जहाँ राज्य की कांग्रेस सरकारों ने नीति के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार के निदेशों को सामान्य रूप से स्वीकार कर लिया था, वहाँ भी व्यवहार में इस स्वीकृति का कोई परिणाम न निकला क्योंकि राज्य सरकारों ने केन्द्रीय सरकार की नीतियों के अनुसार अधिनियमित कानूनों को कार्यान्वित करने में शिथिलता बरती । केन्द्रीय सरकार और कांग्रेस हाई कमान ने जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारित करने तथा काश्तकारी-विधान का निर्माण करने के बारे में राज्यों को बार-बार हिदायतें दी हैं । राज्य सरकारों ने इस बात को औपचारिक रूप से स्वीकार कर लिया है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक कानून भी बनाये हैं । इस विषय में अधिकांश कांग्रेस राज्यों ने पश्चिमी बंगाल से भिन्न दृष्टिकोण ग्रहण किया । पश्चिमी बंगाल में कांग्रेस सरकार आवश्यक कानून बनाने के लिए भी पूरी तरह तैयार नहीं हुई । लेकिन, ज्ञात हुआ है कि किसी भी राज्य ने कानून को पूरी तरह कार्यान्वित नहीं किया है और केन्द्रीय सरकार उसे कार्यान्वित कराने में असफल रही है । आज भी केन्द्रीय सरकार की शिकायत है कि उसके 20 वर्षों के लगातार प्रयत्नों के बावजूद राज्यों में भूमि-सुधार लागू नहीं किये जा सके हैं ।

जो बात भूमि-सुधारों के बारे में सही है, वही राज्य-कार्य के अन्य कई क्षेत्रों के बारे में भी सही है । केन्द्रीय सरकार ने त्रिभाषा सूत्र के अनुसार विद्यालयों में हिन्दी को अनिवार्य विषय बनाने के प्रयत्न किये हैं, लेकिन इसमें उसे पूरी सफलता नहीं मिल सकी है । कई राज्यों ने, विशेषकर दक्षिण के राज्यों ने, इस सूत्र को स्वीकार कर लिया है, लेकिन उनकी यह स्वीकृति नाममात्र की है । इन राज्यों में हिन्दी के शिक्षण की ओर बहुत कम ध्यान दिया जा रहा है । तमिलनाडु में हिन्दी अध्ययन का अनिवार्य विषय नहीं रही है हालाँकि वहाँ इसका कारण तमिलनाडु सरकार का सत्तारूढ़ होना है । हिन्दी को एकमात्र राजभाषा बनाने का विरोध केवल उन राज्यों ने ही नहीं किया है जहाँ गैर-कांग्रेसी सरकारें सत्तारूढ़ थीं, बल्कि उन राज्यों ने भी किया है जहाँ कांग्रेस दल का शासन था । इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि जहाँ एक ही दल केन्द्र तथा राज्यों में शासन करता है, वहाँ भी केन्द्र सरकार, राज्य सरकारों का विरोध होने पर, अपनी नीतियों को कार्यान्वित कराने में सफल नहीं हो सकी है । इसलिए, यह कहना

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

केवल कुछ हद तक ही सही है कि जब एक ही दल केन्द्र तथा राज्यों में शासन करता है, तब संघवाद विलुप्त हो जाता है और एकात्मक व्यवस्था कार्य करने लगती है।

केन्द्रीय कांग्रेस संगठन तथा केन्द्रीय सरकार राज्य कांग्रेस सरकारों को केन्द्रीय नीतियाँ अपनाने के लिए बाध्य न कर सकीं, इसका कारण कुछ हद तक यह भी था कि 1956 में भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के बाद देश में प्रादेशिकता की भावना का विकास हुआ। स्वातन्त्र्योत्तर युग की अनेक घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि भारत में राष्ट्रवाद न तो व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित है और न उसकी जड़ें गहरी हैं। अभी तक वह उन वर्गों तथा समूहों में व्याप्त नहीं हुआ है जो 1947 से पहले या तो स्वतन्त्रता आन्दोलन के कट्टर विरोधी थे या उसके प्रति उदासीन। यही कारण है कि देश के सम्मुख राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या अभी तक बनी हुई है। राजनीतिक दृष्टि से सचेत अनेक लोग तथा जनसाधारण सामान्य रूप से राष्ट्रवाद की अपेक्षा भाषावाद तथा प्रादेशिकता से अधिक प्रभावित हैं। भाषायी राज्यों की रचना के बाद यह भावना पहले की अपेक्षा अधिक बलवती हुई है। यद्यपि कांग्रेस एक राष्ट्रीय दल है तथा उसके शीर्षस्थ नेताओं और उनके तत्काल अनुयायियों के बीच प्रबल राष्ट्रवाद की भावना पायी जाती है, लेकिन राज्य-स्तर तथा उससे भी नीचे स्तर के नेताओं के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती। राज्य सरकारों ने केन्द्रीय सरकार द्वारा आरोपित नीतियों के विरोध में अपनी माँगें प्रस्तुत करने तथा उन्हें स्वीकार कराने में इस भावना का उपयोग किया है। उन्होंने अकसर यह बात कही है कि भारत में विभिन्न राज्य विकास के अलग-अलग स्तरों पर हैं और इसका कारण उनके प्रति केन्द्रीय सरकार का सौतेला व्यवहार है। अपने राज्यों के लोगों के समर्थन से उन्होंने केन्द्रीय सरकार को इस बात के लिए बाध्य किया है कि वह इस्पात के कारखाने अथवा अन्य औद्योगिक प्रतिष्ठान उनके क्षेत्रों में स्थापित करे यद्यपि आर्थिक अथवा तकनीकी दृष्टि से ऐसा करना उचित न था।

इस घटना-चक्र का कारण यह है कि जिस तरह सोवियत रूस अथवा चीन में साम्यवादी दल का संगठन शिलाधर्मी है, भारत में कांग्रेस दल का संगठन उस प्रकार नहीं है। भारत में राज्य कांग्रेस समितियों पर केन्द्रीय कांग्रेस हाई कमान का पूरा नियन्त्रण नहीं है। राज्य दलों का निर्माण केन्द्रीय संगठन की इच्छा पर नहीं होता। उनका अपना व्यक्तित्व तथा अपने स्वतन्त्र शक्ति-स्रोत होते हैं। जो लोग राज्य कांग्रेस के सदस्य होते हैं, वे स्थानीय प्रभाव के व्यक्ति होते हैं। उनके हाथों में सत्ता इसलिए केन्द्रित नहीं हो जाती कि केन्द्रीय संगठन ने उन्हें सत्ता की स्थिति में रख दिया है, वे सत्ता अपने स्वतन्त्र उद्यम, अपनी आर्थिक स्थिति तथा अपनी पारिवारिक और जाति-प्रतिष्ठा के कारण प्राप्त करते हैं। उन्हें सिद्धान्तों की चिन्ता नहीं होती। वे कांग्रेस में इसलिए होते हैं कि इससे उन्हें अतिरिक्त शक्ति तथा प्रभाव प्राप्त होता है। यही कारण है कि केन्द्रीय सरकार जिन सिद्धान्तों के अनुसार अपनी नीतियों का निर्माण करती है, उन सिद्धान्तों का राज्य-नेताओं के लिए कोई महत्त्व नहीं होता। चूंकि इन लोगों का राज्य कांग्रेस संगठनों पर और इन संगठनों के माध्यम से राज्य सरकारों पर नियन्त्रण होता है, अतः यदि केन्द्रीय सरकार की नीतियाँ उनके अपने हितों के विरुद्ध होती हैं, तो वे उन नीतियों को कार्यान्वित नहीं होने देते। भूमि-सुधारों के असफल होने का यही कारण है। जिन लोगों के पास जमीन है और जिनका राजनीति में प्रभाव है, ये सुधार उनके हित

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

में नहीं हैं। यही कारण विभिन्न राज्यों के बीच खाद्यान्न के आयात-निर्यात के मूल में रहा है। केन्द्रीय सरकार के चाहे कुछ भी आदेश हों जो राज्य ज्यादा उत्पादन करते हैं, वे खाद्यान्न की कमी वाले क्षेत्र में खाद्यान्न भेजने के सम्बन्ध में अथवा खाद्यान्न की कीमतें निर्धारित करने के मामले में अपनी मनमानी करते हैं।

कांग्रेस की दल-संरचना भी कुछ ऐसी है जो राज्य कांग्रेस दलों तथा राज्य कांग्रेस विधायकों को केन्द्रीय कांग्रेस सरकार के नियन्त्रण में आने देने से काफी हद तक रोकती है। राज्य कांग्रेस समितियाँ राज्य विधानमण्डलों तथा संसद के निर्वाचनों के लिए उम्मीदवारों का मनोनयन करती हैं। केन्द्रीय दल संगठन कुछ दुर्लभ स्थितियों में ही हस्तक्षेप करता है। ऐसी स्थितियाँ विशेष रूप से तब उत्पन्न होती हैं जबकि राज्य कांग्रेस के भीतर ही मतभेद हों। राज्य विधानमण्डलों के उम्मीदवारों का चुनाव स्थानीय स्थिति को ध्यान में रखकर किया जाता है, कांग्रेस हाई कमान के आदेशों के अनुसार नहीं। इससे राज्यों के मुख्यमन्त्री और प्रदेश कांग्रेस कमेटियों के अध्यक्षों की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाती है। इसके अतिरिक्त जो लोग राष्ट्रीय स्तर के नेता बनना चाहते हैं, उन्हें राज्य-स्तर के अधिनेताओं के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने जरूरी होते हैं क्योंकि इन अधिनेताओं के सहयोग से ही संसद में उनके अनुयायी पहुँच सकते हैं जो उनका नेतृत्व स्वीकार करने के लिए तत्पर हों। कभी-कभी प्रधानमन्त्री तक जो केन्द्रीय कांग्रेस दल का नेता होता है, अधिकारपूर्वक राज्य-स्तर के अधिनेताओं से नहीं निबट सकता। इस तरह की घटनाएँ सामान्य रूप से घटित होती रहती हैं। इसके साथ ही हमें एक विरोधी प्रवृत्ति की सम्भावना पर भी ध्यान देना चाहिए। संसदीय निर्वाचनों में उम्मीदवारों के चयन में राज्य अधिनेताओं की निर्णायक भूमिका रहती है। इसके फलस्वरूप ऐसे लोग केन्द्रीय नेता बन जाते हैं जो राज्य कांग्रेस की राजनीति में हस्तक्षेप करते हैं। उनकी इच्छा होती है कि राज्य कांग्रेस के संगठन और राज्य विधानमण्डलों में ऐसे व्यक्ति हों जो उन्हें शिखर पर नेता बनने में सहायता दें। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि यदि राज्य के मुख्यमन्त्री अथवा राज्य कांग्रेस के प्रधान उनके विरोधी होते हैं तो वे उनसे छुटकारा पाने का और उनके स्थान पर अपने जी-हुजूरों को रखने का प्रयत्न करते हैं। वे चाहते हैं कि राज्यों में कांग्रेस दल ही सत्तारूढ़ न रहे, बल्कि वह कांग्रेस दल सत्तारूढ़ रहे जिसके नेता उनके साथ सहयोग करने के लिए प्रस्तुत हों। फलस्वरूप केन्द्र तथा राज्य-नेताओं के बीच निरन्तर घात-प्रत्याघात चलते रहते हैं भले ही वे नेता एक ही दल से सम्बन्धित हों। यह सत्ता तथा प्रभाव पाने के लिए संघर्ष है। यह संघर्ष व्यक्तियों को लेकर होता है, नीतियों अथवा कार्यक्रमों को लेकर नहीं। इससे अजीब स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि केन्द्र की कांग्रेस सरकार का राज्य कांग्रेस की राजनीति में हस्तक्षेप सफल हो जाता है, यदि वह नेताओं की एक टोली हटाकर दूसरी टोली को प्रतिष्ठित कर देती है, तो इसका अर्थ यह होता है कि राज्य संविधान द्वारा प्रदत्त विधितः अपनी राजनीतिक स्वायत्तता से वंचित हो गया। इस स्थिति में राज्य सरकारों के कर्मचारी केन्द्रीय सरकार के हाथों में कठपुतली बन जाते हैं। इससे संघीय सन्तुलन निश्चिततः भंग हो जाता है। 1969 में कांग्रेस की फूट के बाद इस तरह का खतरा देश के सामने बराबर बना रहा है। केन्द्र में कांग्रेस की स्थिति को मजबूत करने के लिए कांग्रेस हाई कमान ने राज्यों की कांग्रेस सरकारों को एक के बाद एक गिराया है। उसने संगठन कांग्रेस के नेताओं जैसे मैसूर में वीरेन्द्र पाटिल और गुजरात में हितेन्द्र देसाई द्वारा नियन्त्रित राज्य सरकारों को ही

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

नहीं गिराया है, बल्कि उन कांग्रेस सरकारों को भी गिराया है जिनके नेता सत्तारूढ़ कांग्रेस के सदस्य थे लेकिन जिनकी केन्द्रीय नेतृत्व से पूरी तरह नहीं पटती थी। राजस्थान में श्री मोहन लाल सुखाड़िया और आंध्र में श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी इसी प्रकार के नेता थे। यह एक अस्वस्थ प्रवृत्ति है लेकिन शायद अनिवार्य है क्योंकि केन्द्रीय नेताओं को अपने अस्तित्व के लिए राज्य-नेताओं पर निर्भर रहना पड़ता है। यह अस्वस्थ इसलिए है क्योंकि इससे संघीय सन्तुलन को क्षति पहुँचती है।

केन्द्र की कांग्रेस सरकार ने राज्यों की गैर-कांग्रेसी सरकारों को भी गिराया है, विशेष-कर मिली-जुली सरकारों को। यहाँ भी उद्देश्य वही है जिसका हमने उपर्युक्त पैरा में उल्लेख किया है। यदि किसी राज्य अथवा राज्यों में ऐसे नेता मौजूद हैं जो केन्द्रीय नेताओं के विरुद्ध हों, तो केन्द्रीय नेता अपने नेतृत्व को कायम नहीं रख सकते। गैर-कांग्रेसी दलों के नेताओं से यह आशा नहीं की जा सकती कि उनकी केन्द्रीय कांग्रेसी नेताओं से मैत्री बनी रहेगी। इसलिए, कांग्रेसी नेताओं का हित इसी में है कि विरोधी सरकारों को अपदस्थ कर दिया जाये और उनके स्थान पर मैत्रीपूर्ण सरकारों की स्थापना की जाये। अब केन्द्रीय कांग्रेस संगठन का अधिकांश समय इसी खेल में निकल जाता है। उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल तथा कुछ अन्य राज्यों में यह खेल सफलतापूर्वक खेला गया है। यद्यपि कांग्रेस के उत्तरदायी नेता यह कहते हुए नहीं थकते कि राज्यों में स्थिर सरकारों की जरूरत है, लेकिन राज्यों में दूसरे दलों की सरकारें होने पर वही नेता उन्हें गिराने में संकोच नहीं करते। यह अनुचित है। संघवाद तथा राज्य सरकारों को गिराने का केन्द्रीय सरकार का प्रयत्न एक-दूसरे के संगत नहीं है।

जो राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार के संकेत पर नहीं नाचतीं, उन्हें गिराने का प्रलोभन इतना शक्तिशाली होता है कि उस पर नियन्त्रण नहीं रखा जा सकता। जब कभी राज्य के विरोधी संयुक्त मन्त्रिमण्डल के स्थान पर मैत्रीपूर्ण मन्त्रिमण्डल की स्थापना नहीं की जा सकती तब भी यह प्रलोभन रहता है कि केन्द्र सम्बद्ध राज्य में राष्ट्रपति का शासन लागू कर देगा। राष्ट्रपति-शासन का अर्थ है—राज्य का केन्द्रीय सरकार द्वारा शासन। इसका अर्थ एकात्मक व्यवस्था का प्रवर्तन हो जाता है।

भारत में कांग्रेस दल, जो गत 24 वर्षों से केन्द्र में सत्तारूढ़ रहा है, के प्रभाव के अन्तर्गत केन्द्र-राज्य सम्बन्धों तथा संघवाद के क्रियान्वय के ये कुछ पहलू हैं।

यहाँ प्रसंगवशात् कहा जा सकता है कि इस प्रवृत्ति का आंशिक कारण यह है कि श्री नेहरू की मृत्यु के पश्चात् कुछ राज्यों के मुख्य मन्त्रियों ने प्रधानमन्त्री के निर्वाचन को प्रभावित करने का प्रयत्न किया था। श्री नेहरू अपनी स्थिति के लिए कांग्रेस दल के किन्हीं नेताओं के प्रति ऋणी नहीं थे, न केन्द्रीय स्तर के नेताओं के प्रति, न राज्य स्तर के नेताओं के प्रति। 1947 के पश्चात् उनके नेतृत्व को कांग्रेस के सभी लोगों ने स्वतः स्वीकार कर लिया था। कांग्रेस के लोग उन्हें सरदार पटेल से भी अधिक मानते थे। श्री नेहरू की मृत्यु के पश्चात् कांग्रेस में ऐसा कोई नेता नहीं था जिसको सब स्वीकार करते। श्री नेहरू की मृत्यु और फिर श्री लालबहादुर शास्त्री के निधन के उपरान्त प्रधानमन्त्री के पद के लिए कांग्रेस के नेताओं में प्रतिस्पर्धा थी। दोनों बार प्रधानमन्त्री के पद पर जो भी व्यक्ति निर्वाचित हुआ हो, उसके निर्वाचन में अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण राज्यों के मुख्यमन्त्रियों की निर्णायक भूमिका रही थी। मुख्यमन्त्रियों के समर्थन से ही श्री लालबहादुर शास्त्री प्रधानमन्त्री बने थे। यही बात

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

श्रीमती इन्दिरा गांधी के सन्दर्भ में हुई थी। श्रीमती इन्दिरा गांधी को वह स्थिति स्वीकार्य नहीं थी जिसमें वे अपनी नियुक्ति के लिए राज्यों के मुख्यमन्त्रियों के प्रति अनुगृहीत होतीं। इसीलिए, उन्हें ऐसी स्थिति स्वीकार्य नहीं थी जिसमें कोई भी राज्य-मुख्यमन्त्री उनकी सत्ता को चुनौती देता अथवा जिसके प्रति वे अपने नेतृत्व के लिए आभारी होतीं। राज्य-राजनीति में उनकी दिलचस्पी बढ़ने का यह एक प्रमुख कारण है। ऐसा कोई व्यक्ति अब राज्य के मुख्यमन्त्री पद पर नहीं रह सकता जिसका उनके प्रति मैत्रीपूर्ण रुख न हो। राज्यों के मुख्यमन्त्रियों ने श्री नेहरू की मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार संघर्ष में जो हस्तक्षेप किया था, राज्य सरकारों को गिराने का खेल उसी का परिणाम कहा जा सकता है।

लेकिन, राज्य सरकारों को गिराने की इस प्रवृत्ति का विरोध भी हुआ है। इस सन्दर्भ में प्रादेशिक दलों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। केन्द्र जिस अत्यधिक शक्ति का प्रयोग करता है, उसका इन दलों ने विरोध किया है। यह विरोध इसलिए और भी अधिक उग्र है कि शक्ति का प्रयोग एक ऐसा दल करता है जो दीर्घकाल से उनका प्रतिद्वन्द्वी रहा है और अब भी है।

यह पूरी तरह सम्भव है कि यदि प्रादेशिक दल न होते, तब राज्यों के कांग्रेस संगठन प्रादेशिक शक्तियों के दबाव से अपेक्षाकृत अधिक राज्य-स्वायत्तता की माँग करते। लेकिन, प्रादेशिक दलों की वृद्धि ने इस माँग को तत्काल उत्पन्न कर दिया है और इस सन्दर्भ में भारतीय संघवाद पर उनका प्रभाव महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

प्रादेशिक दल वे दल हैं जिनकी शक्ति और प्रभाव व्यवहारतः एक राज्य और कुछ स्थितियों में दो राज्यों तक सीमित हैं। वे इतनी शक्ति प्राप्त नहीं कर सकते कि केन्द्र में अपनी सरकार बना सकें। उनकी गतिविधियाँ प्रदेश तक ही सीमित हैं और इसी अर्थ में वे प्रादेशिक दल हैं। इन दलों में दो दल सबसे महत्त्वपूर्ण हैं—तमिलनाडु में द्रविड मुन्नेत्र कषगम और पंजाब में अकाली दल। कबायली क्षेत्रों के कुछ दल तथा मेघालय और नागालैण्ड के सत्तारूढ़ दल भी प्रादेशिक दल हैं। लेकिन उन्हें अभी वह महत्त्व नहीं मिल पाया है जो द्रमुक तथा अकाली दलों को प्राप्त है। कुछ लेखक साम्यवादी दलों को प्रादेशिक दल ही बताते हैं यद्यपि साम्यवादी दलों का दावा है कि वे राष्ट्रीय दल हैं। कहा जाता है कि ये दल केवल केरल तथा पश्चिमी बंगाल में ही प्रबल हैं और वहाँ उन्होंने सरकारें बनाने में सफलता प्राप्त की है। यद्यपि आन्ध्र, बिहार तथा अन्य कई राज्यों में भी इन दलों के सदस्य हैं, लेकिन वहाँ उन्हें कोई विशेष समर्थन प्राप्त नहीं है और इस बात का भी कोई लक्षण नहीं है कि निकट भविष्य में उनका प्रभाव बढ़ेगा।

इसलिए, जब हम संघवाद पर प्रादेशिक दलों के प्रभाव की चर्चा करते हैं, तब हमारा संकेत द्रमुक, अकाली और साम्यवादी दलों के प्रति होता है।

इन दलों के उत्थान और उपर्युक्त राज्यों में उनके सत्तारूढ़ होने से यह माँग पैदा हो गयी है कि राज्यों को अधिक शक्तियाँ प्रदान की जायें। यह स्वाभाविक भी है। इन दलों को इस बात की कोई सम्भावना नहीं है कि वे केन्द्र में कभी सत्ता प्राप्त कर सकेंगे। इसलिए उनका हित इसी में है कि राज्यों की स्वायत्तता का क्षेत्र बढ़ जाये और राज्यों को अधिक शक्ति प्राप्त हो। राज्यों को अधिक शक्तियाँ मिलने का अर्थ होगा स्वयं उनकी शक्ति का विस्तार और यही प्रमुख कारण है कि ये दल राज्यों को अधिक से अधिक शक्तियाँ दिये जाने के पक्ष में हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्रादेशिक दल राज्यों को क्या शक्तियाँ हस्तान्तरित करना चाहते हैं, यह स्थल इसकी परीक्षा करने का नहीं है। तमिलनाडु सरकार द्वारा नियुक्त राजमन्नार समिति ने इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया है। संथानम् जैसे अनेक विद्वानों ने भी संघ-राज्य सम्बन्धों पर लिखते समय इस विषय की चर्चा की है। लगता है कि यदि हमारे देश में केन्द्र और राज्यों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों का विकास करना है तो राज्यों की कुछ माँगें स्वीकार करनी ही होंगी। यद्यपि प्रादेशिक दलों ने राज्यों को अधिक शक्तियाँ प्रदान करने की माँग प्रबल रूप से उपस्थित की है पर अन्य राज्यों की सरकारों ने भी चाहे वहाँ कांग्रेस की सरकार हो या गैर-कांग्रेसी सरकार या मिली-जुली सरकार, इस माँग को रखा है। इस सबसे एक ही व्यापक निष्कर्ष निकलता है। भविष्य में संघीय सन्तुलन का पलड़ा विधायी, प्रशासनिक और वित्तीय—इन सभी क्षेत्रों में राज्यों के पक्ष में झुकेगा।

संघवाद के इतिहास में हमें जो प्रवृत्ति देखने को मिलती है यह उसके अनुकूल है। जहाँ संघीय शासन के प्रारम्भ में केन्द्र दुर्बल था और राज्य सरकारें शक्तिशाली, वहाँ कालान्तर में केन्द्र मजबूत हो गया। इसके विपरीत जहाँ संघ शासन के आरम्भ में केन्द्रीय सरकार बहुत अधिक शक्तिशाली थी वहाँ व्यवहार में धीरे-धीरे राज्यों को अधिक स्वायत्तता प्राप्त हुई। संयुक्त राज्य अमरीका और आस्ट्रेलिया में हमें पहली प्रवृत्ति के और कनाडा में दूसरी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। भारतीय संघवाद की रचना कुछ सीमा तक कनाडी संघ के आदर्श पर हुई थी और जिस प्रकार कनाडा में प्रान्तों की शक्तियाँ बढ़ गई थीं उसी प्रकार आज भारत में राज्यों की शक्तियाँ बढ़ाने की माँग हो रही है। यहाँ यह भी कह दिया जाये कि द्रमुक और अकाली दल भारत में जो भूमिका प्रस्तुत कर रहे हैं वही भूमिका कनाडा के क्यूबेक प्रान्त में फ्रांसीसी भाषी लोगों ने प्रस्तुत की थी।

भारत में कभी-कभी प्रादेशिक दल इतने आगे बढ़ जाते हैं कि वे संघीय शासन के स्थान पर अधिसंघीय शासन स्थापित करने की बात करने लगते हैं। यह उनकी उन नीतियों का परिणाम है जिनके अनुसार वह भारत संघ से अलग हो जाने और अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करना चाहते थे। द्रमुक और अकाली दल के बारे में यह बात सच है। पश्चिमी बंगाल के साम्यवादी दल के बारे में भी यह बात कुछ हद तक सच है। राजनीति-लेखकों ने बताया है कि पश्चिमी बंगाल में केन्द्र के प्रति कुछ विरोधी दृष्टिकोण पाया जाता है। वहाँ के लोगों का बंगाली राष्ट्रवाद में विश्वास है और कुछ लोग ऐसे हैं जो महात्मा गांधी को नहीं सुभाषचन्द्र बोस को ही अपना सच्चा नेता मानते हैं। उनका यहाँ तक कहना है कि भारतीय राजनीति में बंगाल के महत्त्व का कम होना कांग्रेस की गलत नीतियों का परिणाम है जो उसने स्वतन्त्रता-पूर्व काल में कार्यान्वित की थीं। कुछ लेखकों के अनुसार इन लोगों में एक वर्ग उनका भी है जो पश्चिमी और पूर्वी बंगाल को मिलाकर एक संयुक्त राष्ट्रीय बंगाल राज्य की स्थापना करने के इच्छुक हैं। यहाँ इस विचारधारा पर विस्तार से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। हमने इसका उल्लेख सिर्फ यह बताने के लिए किया है कि प्रादेशिक दलों की मनोवृत्ति के कारण ही राज्यों को अधिक स्वायत्तता देने और केन्द्रीय सरकार की शक्ति को कम करने की माँग उठी है।

इस लेख में भारतीय संघवाद के कार्यान्वयन पर राजनीतिक दलों के व्यापक प्रभाव की समीक्षा की गयी है। इस अध्ययन के दो निष्कर्ष निकलते हैं : एक निष्कर्ष तो यह है

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कि यदि एक ही दल (कांग्रेस दल) केन्द्र तथा राज्यों में शासन करता है तो इसके परिणामस्वरूप यह आवश्यक नहीं है कि सामान्य स्थितियों में राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार की कठपुतली मात्र बन जायें। एक दल की प्रभुता के युग में भी राज्य सरकारों ने कई अवसरों पर अपनी माँग को दृढ़तापूर्वक रखा है और केन्द्रीय सरकार को वह माँग स्वीकार करनी पड़ी है। श्री नेहरू जैसे चमत्कारी नेता तक को भाषायी आधार पर राज्यों का निर्माण करना पड़ा था, यद्यपि व्यक्तिगत रूप से वे इसके विरुद्ध थे।

कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी उत्पन्न हो सकती हैं जब केन्द्रीय दल संगठन में अधिनायकवादी प्रवृत्तियों का उदय हो तथा विरोध को बिल्कुल पनपने न दिया जाये। श्री नेहरू के शासन-काल में कुछ हद तक यही हुआ था। श्रीमती इन्दिरा गांधी के शासन काल में भी अब यही प्रवृत्ति दृष्टिगत हो रही है। इस स्थिति में राज्यों की स्वायत्तता का अन्त हो सकता है। इससे यह सामान्य निष्कर्ष निकलता है कि सन्तुलित संघात्मक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए उन विकेन्द्रित दलों की आवश्यकता है जिनमें प्रादेशिक प्रवृत्तियों को भी अभिव्यक्त होने के अवसर सुलभ हो सकें। जिन केन्द्रीकृत दलों में प्रादेशिक प्रवृत्तियों को व्यक्त होने के अवसर नहीं मिलते, वे संघ-शासन के अनुकूल नहीं हैं। दूसरा निष्कर्ष यह है कि यदि राज्यों में शक्तिशाली प्रादेशिक दल हों—जैसा कि तमिलनाडु में द्रमुक है—तो उचित संघीय सन्तुलन की सुगमतापूर्वक रक्षा की जा सकती है। यदि राज्यों में प्रादेशिक दल सत्तारूढ़ हों तो वे अपनी माँगें केन्द्र से अधिक आसानी से मनवा सकते हैं। इसके विपरीत यदि केन्द्र तथा राज्यों में एक ही दल का शासन हो तो राज्यों की उचित माँगें भी कभी-कभी दब जाती हैं। संघवाद चाहे तो अच्छी राजनीतिक व्यवस्था हो या बुरी लेकिन भारत जैसे देशों में वह तभी अच्छी तरह कार्यान्वित हो सकता है जबकि प्रादेशिक दलों का राज्य सरकारों पर नियन्त्रण हो क्योंकि ये प्रादेशिक दल ही केन्द्र की सरकार और राज्य की सरकारों के बीच उचित सन्तुलन बनाये रख सकते हैं।

संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया और सोवियत रूस जैसे संघीय राज्यों में दल-पद्धति के क्रियान्वय का अध्ययन करने से उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है। रिकर ने अपनी पुस्तक 'फेडरलिज्म—ऑरिजन, ऑपरेशन, सिगनिफिकेन्स' (संघवाद—जन्म, क्रियान्वय, महत्त्व) में निष्कर्ष निकाला है कि द्विदल पद्धति के विकेन्द्रीकरण के कारण राष्ट्रीय नेता (अर्थात् राष्ट्रपति) संगठनात्मक अथवा सैद्धान्तिक युक्तियों द्वारा अपने पक्षधरों को नियन्त्रित नहीं कर सकते। परिणामतः यह विकेन्द्रित दल-व्यवस्था हमारे संघवाद में राज्यों की अखण्डता का मुख्य रक्षक है। मोर्टन ग्रोडजिन्स ने अपने लेख 'अमेरिकन पॉलिटिकल पार्टीज एण्ड द अमेरिकन सिस्टम'[1] (अमरीकी राजनीतिक दल और अमरीकी पद्धति) में इसी विचार का प्रतिपादन किया है। उनकी स्थापना है कि अमरीका के असंगठित और अनुशासनहीन दलों के कारण ही कांग्रेस के सदस्य राष्ट्रीय सरकार की हानिकारी विधायी और प्रशासनिक नीतियों से स्थानीय और राज्य-हितों की रक्षा कर लेते हैं और केन्द्रीकरण की वृद्धि के बावजूद राज्यों की स्वायत्तता तथा राज्यों के अधिकारों को बनाये रखते हैं। इसी कारण हम कह सकते हैं कि अमरीका में

[1] यह लेख एरम वाइल्डावस्की द्वारा सम्पादित 'अमेरिकन फेडरलिज्म इन पर्सपेक्टिव' (अमरीकी संघवाद : एक दृष्टि) में पृ० 109–144 पर दिया गया है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संघीय सन्तुलन की रक्षा करने के लिए प्रादेशिक दलों के उद्भव की कोई आवश्यकता नहीं हुई है।

स्टोवेन म्युलर ने अपने लेख 'फेडरलिज्म एण्ड द पार्टी सिस्टम इन कनाडा' (कनाडा में संघवाद और दल पद्धति) में (यह लेख वाइल्डावस्की के ग्रन्थ में पृ०144–162 पर छपा है) बताया है कि जब एक ही दल का केन्द्र तथा प्रान्तों में शासन होता है, तब संघीय सहायताओं तथा अन्य रियायतों के बारे में प्रान्तों की सौदेबाजी की शक्ति कमजोर पड़ जाती है। कनाडा में राष्ट्रीय दल पद्धति संयुक्त राज्य अमरीका की भाँति विकेन्द्रित नहीं हो सकती क्योंकि वहाँ संसदीय शासन पद्धति है और उसमें स्थिर सरकार की दृष्टि से यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय विधानमण्डल में अनुशासित बहुमत बना रहे। कनाडा में प्रादेशिक दलों के उद्भव की यही पृष्ठभूमि है। वहाँ प्रादेशिक दल प्रान्तीय भावना को व्यक्त करते हैं।

कनाडा में जब कभी संसद के लिए निर्वाचन होते हैं तब निर्वाचक दो राष्ट्रीय दलों में से एक राष्ट्रीय दल को मत देना चाहता है। लेकिन जब वहाँ प्रान्तीय विधानमण्डलों के लिए निर्वाचन होते हैं, तब निर्वाचक प्रादेशिक दल को मत देना चाहता है। जब कभी प्रान्त में प्रादेशिक दल सत्तारूढ़ होता है, तब केन्द्रीय सरकार के मुकाबले उसकी सौदेबाजी की शक्ति बढ़ जाती है। पर इस नियम के जब-तब कुछ अपवाद भी मिलते हैं। इस प्रकार कनाडा में प्रादेशिक दल संघीय सन्तुलन को कायम रखते हैं। आस्ट्रेलिया का अनुभव संयुक्त राज्य अमरीका के अनुभव से मिलता-जुलता है, यद्यपि वह बिल्कुल वैसा नहीं है। वाइल्डावस्की ने अपने लेख 'पार्टी डिसिप्लिन अंडर फेडरलिज्म : इम्प्लीकेशन्स ऑफ आस्ट्रेलियन एक्सपीरियेन्स' (संघवाद के अन्तर्गत दलगत अनुशासन : आस्ट्रेलिया के अनुभव के परिणाम) में (यह लेख उपर्युक्त पुस्तक में पृ० 162–181 पर छपा है) बताया है कि मजदूर दल में राज्य-इकाइयों का निर्णायक महत्त्व होता है और संघीय दल-संगठनों में केवल राज्य-इकाइयों के प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि राज्य-इकाइयाँ राज्यों में अपनी नीतियों का ही पालन करती हैं और वे संघीय सरकार को अत्यधिक केन्द्रीकरण की ओर नहीं बढ़ने देतीं। यह उस विकेन्द्रित दल-व्यवस्था का उदाहरण है जिसमें संघीय सन्तुलन कायम रखा जाता है और इस काम के लिए प्रादेशिक दलों का विकास नहीं होता। इसलिए निष्कर्ष निकलता है कि संघीय व्यवस्था को बनाये रखने के लिए या तो विकेन्द्रित राष्ट्रीय दलों की आवश्यकता होती है या प्रादेशिक दलों की।

सोवियत रूस के उदाहरण से भी यही निष्कर्ष निकलता है, यद्यपि नकारात्मक रूप से। यहाँ लिखित संविधान ने संघवाद की व्यवस्था की है। लेकिन, वास्तविक व्यवहार में सोवियत व्यवस्था एकात्मक है। इसका मुख्य कारण यह है कि वहाँ एक ही दल का अस्तित्व है और वह है साम्यवादी दल तथा यह दल अत्यधिक केन्द्रीकृत है। उसके माध्यम से प्रादेशिक भावना को वह चाहे कितनी सशक्त हो, यूक्रेन में वह बहुत सशक्त थी, अभिव्यक्ति नहीं मिल सकती। दल की सत्ता केन्द्र से परिधियों की ओर प्रवाहित होती है। इसके अतिरिक्त, वहाँ कोई प्रादेशिक दल प्रादेशिक भावनाओं को व्यक्त करने के लिए उत्पन्न नहीं हो सकता। संविधान के अन्तर्गत प्रादेशिक दलों का निर्माण वर्जित है। इन परिस्थितियों में साम्यवादी दल केन्द्र तथा इकाइयों, दोनों स्थानों में अपनी बात मनवा लेता है और जो शासन-व्यवस्था सिद्धान्त में संघात्मक है, उसे व्यवहार में पूर्णतः एकात्मक बना देता है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

हमने ऊपर जिन चार संघीय राज्यों के अनुभव की समीक्षा की है, उसके आधार पर यह निष्कर्ष निकालना बहुत अनुचित न होगा कि भारत का अनुभव, जिसमें संघीय सन्तुलन की रक्षा करने के लिए प्रादेशिक दलों का उद्भव हुआ है, अनोखा नहीं है। हमारे देश में कांग्रेस ही एक मान्य राष्ट्रीय दल है लेकिन उसके बढ़ते हुए अधिनायकवादी स्वरूप के कारण और प्रादेशिक दलों का निर्माण हो सकता है। विगत काल में भी राज्यों के कांग्रेसी नेताओं ने केन्द्रीय नेताओं से असन्तुष्ट होने पर बंगला कांग्रेस, केरल कांग्रेस और उत्कल कांग्रेस जैसी राष्ट्रीय राज्य कांग्रेसों का संगठन किया। उत्तर प्रदेश में श्री चरणसिंह के नेतृत्व में भारतीय क्रान्ति दल भी इसी प्रकार का असन्तुष्ट दल है। इस तरह के दल अन्य राज्यों में भी उत्पन्न हो सकते हैं क्योंकि प्रादेशिकता सर्वत्र एक शक्तिशाली तत्त्व है। भारत का अनुभव उन अन्य देशों, जहाँ संघवाद जीवित है, के सार्वभौम अनुभव का एक भाग है और इस लेख में हमने जो कुछ विश्लेषण किया है, उसका इस दृष्टि से वास्तव में महत्त्व है।[2]

---

[2] लेखक को यह निबन्ध तैयार करने में उस्मानिया विश्वविद्यालय हैदराबाद के राजनीति-विज्ञान विभाग के रीडर डॉ० सी० शिवय्या से विचार-विनिमय द्वारा सहायता मिली है। लेकिन निबन्ध में व्यक्त विचार लेखक के निजी विचार हैं और डॉ० शिवय्या उनके लिए किसी भी प्रकार से उत्तरदायी नहीं हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

आज की आवश्यकता—दल अथवा मोर्चे?

हीरेन्द्र नाथ मुखर्जी

'भारत के राजनीतिक दल—सिद्धियाँ और सम्भावनाएँ' विषय पर चर्चा का आह्वान आज हमारे देश के लिए अत्यन्त महत्त्व का है। ऐसी चर्चा की ओर अधिक से अधिक जनता का तुरन्त ध्यान दिलाने की आवश्यकता है। इससे हेनरी जार्ज की इस पुरानी उक्ति की याद आये बिना नहीं रहती है कि 'हम राजनीति को राजनीतिज्ञों के लिये और राजनीतिक अर्थव्यवस्था को कालिजों के प्रोफेसरों के लिए सुरक्षात्मक रूप से खुला नहीं छोड़ सकते हैं।' केवल वास्तविक राष्ट्रीय सूझ-बूझ के आधार पर ही हाल की व्यापक समस्याओं को हल किया जा सकता है।

कुल मिलाकर हमारे लोगों ने जिस राजनीतिक सूझ-बूझ की क्षमता का प्रदर्शन किया है, उसकी श्लाघा किये बिना नहीं रहा जा सकता। व्यापक निरक्षरता और सामाजिक तथा आर्थिक पिछड़ेपन के सहवर्ती कारणों द्वारा आरोपित सीमाओं के बावजूद भारतीय निर्वाचकों ने प्रशंसनीय और सन्तुलित ढंग से व्यवहार किया है और सूक्ष्म निर्णय की प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उनकी निर्णय शक्ति बिल्कुल त्रुटिशून्य रही है और उनकी सूझ-बूझ निष्कलंक। इस प्रकार के निरपेक्ष व्यवहार का वास्तविक जीवन में कोई अस्तित्व नहीं है। आखिर उस सुविख्यात कथा में कोई तत्त्व तो है ही जिसमें एक नव-युवक ने गाँव के सन्त से जिज्ञासा की कि वे किस प्रकार इतने ज्ञानी हो गये। सन्त ने उत्तर दिया, 'बेटे सही निर्णय का ही दूसरा नाम ज्ञान है। ज्ञान अनुभव से उत्पन्न होता है; और अनुभव—वह तो बार-बार गल्तियाँ करने से ही हासिल होता है।' भले ही भारत के निर्वाचकों को दीर्घ काल से कष्टों का सामना करना पड़ा है, लेकिन वे दूसरे देशों के निर्वाचकों के समान ही बुद्धिमान और विवेकशील हैं। इस प्रश्न को लेकर किसी प्रकार के वितंडावाद की आवश्यकता नहीं है।

हाल ही के वर्षों में ऐसे कई कारकों के बावजूद, जो राजनीति के प्रति संश्लिष्ट दृष्टिकोण की अपेक्षा करते हैं, लगभग सभी भारतीय राजनीतिक दलों को थोड़े बहुत विघटन का सामना करना पड़ा है। इस प्रक्रिया से कोई भी दक्षिणपन्थी अथवा वामपन्थी दल नहीं बचा है। यहाँ मैं 'दक्षिणपन्थी' और 'वामपन्थी' पदबन्धों का इस्तेमाल सामान्य अर्थ में भारतीय संदर्भ में किसी सुनिश्चित और सूक्ष्म अर्थ छाया के द्योतक के रूप में नहीं कर रहा हूँ। और तो और, हाल ही में सबसे अधिक प्रभावशाली दल भी विघटित कांग्रेस का स्कन्ध-मात्र है, चाहे यह स्कन्ध कितना ही प्रभावी क्यों न हो। इसका वर्तमान रूप काफी हद तक प्रधानमन्त्री द्वारा हाल ही में अर्जित करिश्मे पर निर्भर करता है। अपने आपको

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अधिक दक्षिणपन्थी कहने वाले दल तो समसामयिक इतिहास के थपेड़ों से अत्यधिक विक्षुब्ध हुए हैं और लड़खड़ा रहे हैं, हालाँकि इन दलों के प्रवक्ता, चाहने पर भी बहुत अधिक आत्म-विश्वास का प्रदर्शन नहीं कर पा रहे हैं। समाजवादी 'नौ कनोजिए तेरह चूल्हे' की साकार मूर्ति हैं। और साम्यवादी, जिनमें पहले चाहे कितना अधिक अनुशासन का ढिंढोरा पीटा जा रहा हो आज इतिहास के ऐसे क्षण में दो बल्कि तीन भागों में बँटे हुए हैं जबकि इतिहास ने उनके लिए प्रगति के नये, साहसपूर्ण परिप्रेक्ष्य खोल दिये प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार हमें इस बात से कोई हैरानी नहीं होनी चाहिए कि हमारी जनता राजनीतिक दलों के सामान्य कार्यान्वयन से सन्तुष्ट नहीं है अथवा किन्हीं परिस्थितियों में वह इनसे क्षुब्ध है। यह स्थिति और भी अधिक विकट हो जाती है जब हम विभिन्न स्तरों पर व्याप्त भ्रष्टाचार की चर्चा करते हैं। राजनीति से सम्बन्धित अधिकांश पक्षों में सबसे अधिक निन्दनीय पक्ष है दल-बदल की राजनीति, और हाल ही में तो यह और भी विशेष रूप से हेय हो गया है। प्रसंगवश हमें इस गलत खयाल का ढिंढोरा नहीं पीटते रहना चाहिए कि इस प्रकार की राजनीतिक दुकानदारी विशेष रूप से भारतीय घटना है। हम अक्सर एडमण्ड बर्क की दुहाई देते नहीं अघाते। इस ब्रिटिश राजनीतिज्ञ के अनुसार 'वाणिज्य के नियम प्रकृति के नियम हैं और इसलिये वे ईश्वर के नियम हैं।' ब्रिटेन और अन्यत्र ऐसे लोगों की कमी नहीं है जिनके मन में परमात्मा का डर है और जो परमात्मा तथा प्रकृति के नियमों के अनुसार अपने आपको सरे बाजार बेचने के लिए तैयार रहते हैं। परन्तु सन्तोष का विषय है कि ऐसा वर्ग सदैव हेय समझा गया है और हमें ऐसे उपाय जुटाने चाहिएँ कि वे हमारे सार्वजनिक जीवन के पानी को गन्दला न करें।

स्वतन्त्रता के पच्चीस वर्ष पश्चात् भी हमारे ऊपर यह विचार छाया हुआ है और इसकी शिक्षा हमें हमारे विदेशी शासकों ने दी कि ब्रिटेन की तथाकथित द्विदल प्रणाली ही राजनीतिक बुद्धिमत्ता की पराकाष्ठा है। यहाँ न तो इस बात की आवश्यकता है और न ही इस छोटे से लेख में यह सम्भव हो सकता है कि हम ब्रिटेन की शासन पद्धति के विकास-क्रम का विवेचन करें। फिर भी यह बड़ी आसानी से कहा जा सकता है कि ब्रिटिश सांविधानिक विकास का ऐतिहासिक सन्दर्भ भारतीय सांविधानिक विकास के ऐतिहासिक सन्दर्भ से एकदम भिन्न रहा है और किसी को भी यह अपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि भारत में ब्रिटिश संसदीय व्यवस्था की यान्त्रिक पुनरावृत्ति हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विदेशी शासन के अत्यन्त प्रतिबन्धात्मक वातावरण में भी भारतीय जनता ने संसदीय संस्थाओं के उपर्युक्त कार्यान्वयन में अपेक्षित क्षमता का परिचय दिया है। भारतीयों की कम से कम तीन पीढ़ियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि संसदीय व्यवस्था हमारी प्रकृति के पूर्णतया अनुकूल है। यह कोई ऐसे ही नहीं था कि करीब पन्द्रह-सोलह वर्ष पूर्व एक भूतपूर्व ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्री एन्थनी ईडन ने आस्ट्रेलिया की संसद की अपेक्षा भारतीय संसद में प्रश्न काल के दौरान वातावरण को अपने अधिक अनुकूल पाया। अस्तु, भारत की वर्तमान परिस्थितियों में यह अपेक्षा करना अयथार्थ और दुराग्रह मात्र होगा कि हमारे यहाँ की दल-प्रणाली यथासम्भव ब्रिटिश दल प्रणाली जैसी होनी चाहिए।

हमारे यहाँ कई लोग ऐसे हैं जो चाहते हैं कि काश भारत में भी स्पष्ट ही द्विदल प्रणाली का विकास हुआ होता तो वे भी संसदीय शासन-प्रणाली की रस्साकशी का आनन्द लूट

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सकते। हाँ, कुछ इस मत के समर्थक हो सकते हैं जो चाहते हैं कि दिखाने भर के लिए अवश्य ही एक तीसरा दल हो जैसा कि ब्रिटेन में लिबरल (उदारवादी) दल है, परन्तु उस दल के कभी भी सत्ता में आने के अवसर न हों। चाहने पर ये इच्छाएँ पूरी नहीं हो सकतीं और कोई व्यावहारिक कार्यक्रम इस प्रकार के विचार को अमली जामा पहनाता नहीं लगता। हम पत्थर से कितना भी सर पटक कर रोयें और अधिक दलों तथा गुटों के अस्तित्व के कारण उत्पन्न वर्तमान समस्याओं के सहज समाधान की कितनी भी इच्छा क्यों न करें, हमारी हसरत पूरी होती नहीं लगती क्योंकि परिस्थितियों से उत्पन्न अव्यवस्था से हम आँखें मूँदकर उन्हें हल नहीं कर सकते हैं।

इन बुनियादी और दूसरे भेदों के बावजूद, जो निकट भविष्य में तो बने ही रहेंगे, भारत की वर्तमान परिस्थितियों का तकाजा है कि न्यूनाधिक रूप से समान विचारधाराओं वाले दल और गुट मिलकर ही आज की समस्याओं को हल करने में समर्थ हो सकते हैं। कुछ वैचारिक भेद और अन्तर तो इतनी बुनियादी प्रकृति के हैं कि कतिपय बहुत ही अस्थायी परिस्थितियों को छोड़कर, उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए, स्वतन्त्र दल का दर्शन तो किसी भी प्रकार के समाजवाद के अनुरूप नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार जनसंघ का दर्शन तो धर्म-निरपेक्ष लोकतान्त्रिक समाज की जड़ों को ही काटता है। 1971 के प्रारम्भ में होने वाले लोकसभा के पाँचवें निर्वाचन के पूर्व तथाकथित 'महासंगठन' के निर्माण के अवसर पर इन दोनों दलों और कांग्रेस (संगठन) तथा अन्य दलों के समान विचारधारा वाले लोगों ने यथासम्भव एक दूसरे के अत्यधिक निकट आने का प्रयास किया। हाँ, यह अलग बात है कि उनके पारस्परिक अन्तर्विरोध ही उनके समामेलन के मार्ग में बाधक बन गये। हाँ, यदि परिस्थितियाँ अधिक अनुकूल होतीं तो ये दल अधिक सफलतापूर्वक आपस में मिल सकते थे। इस बात की कल्पना अवश्य की जा सकती है कि किन्हीं निश्चित परिस्थितियों में भारत में बुनियादी तौर पर दक्षिणपंथी दलों और गुटों के महासंगठन का उद्भव हो सकता है।

लोगों की वर्तमान मनःस्थिति में परिस्थितियाँ इसके विपरीत घटना के अधिक अनुकूल प्रतीत होती हैं और दक्षिणपंथी दलों और गुटों के मोर्चे की बजाय वामपंथी दलों और गुटों के मोर्चे के उजागर होने की अधिक सम्भावनाएँ प्रतीत होती हैं। ये दल और गुट समाजवाद को लाने में तो बहुत अधिक उत्साह से काम करने को तैयार हैं परन्तु विचारात्मक सूक्ष्मताओं के बारे में किसी भी प्रकार से मतभेद समाप्त करते प्रतीत नहीं होते। परन्तु वे न्यूनतम लोकतान्त्रिक कार्यक्रम को शीघ्र अमली जामा पहनाने की सार्वजनिक मांग के दबाव के अधीन राष्ट्रीय एकता के लिए मंच तैयार कर रहे हैं (आजकल की परिस्थितियों के सन्दर्भ में इन मोर्चों का समाजवादी बिम्ब आवश्यक है)। यदि ऐसा शीघ्र नहीं होता है और इस बीच यदि राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ अधिक बिगड़ जाती हैं, तो घटनाक्रम इसके विपरीत मोड़ ले सकता है और इस सूरत में कट्टर दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावादी दल और इनके सहयोगी अपने प्रतिक्रान्तिवादी कार्यों से भारत को छिन्न-भिन्न करने में अपनी ओर से कोई कसर नहीं छोड़ेंगे।

किसी भी योजना के उपयुक्त और सफल कार्यान्वयन के लिए यह आवश्यक है (और हमारे देश में तो नियोजित अर्थव्यवस्था का पिछले बीस वर्षों से अनुसरण किया जा

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

रहा है) कि अगर इसे आर्थिक दृष्टि से निरर्थक व्यायाम का रूप नहीं लेना है और बुनियादी तौर पर असफल आर्थिक व्यवस्था को एक ही स्तर पर नहीं रखना है तो योजना को अमली जामा पहनाने के लिए वास्तविक रूप से मोर्चे की आवश्यकता है। 'गरीबी हटाओ' के नारे को अमली जामा पहनाने के लिए यह आवश्यक है (अगर इस प्रकार के नारे के माध्यम से निरीह जनता का उपहास नहीं किया जाना है) कि इसके लिए पूर्ण रूप से राष्ट्रीय साधन और प्रयास जुटाये जायें। इस नारे ने सत्तारूढ़ कांग्रेस के लिए प्रभावी रूप से अत्यधिक मत जुटाये। यदि कांग्रेस दल की आकांक्षाओं की सीमा इतनी ही थी, तब तो इसके बारे में कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु यदि वह दल वास्तव में जनता की गरीबी हटाने के लिए कृतसंकल्प है तो इसका अर्थ केवल दलीय हितों के लिए कार्यरत होने का नहीं है, बल्कि इसके लिए लोगों की लोकतान्त्रिक भावनाओं को वास्तविक रूप से सचालित करने की दिशा में कार्यरत होने की आवश्यकता है। कुछ समय के लिए तो इसे अपने हित साधन के लिए सत्तारूढ़ दल इस्तेमाल कर सकता है, परन्तु इस नारे की इति यहीं तक है।

आज भारत की युवा पीढ़ी, और युवा पीढ़ी ही क्यों अन्य वर्ग भी, इस थोड़ी-बहुत तुच्छ रूप से की गई प्रगति के बारे में, जिसका सरकार दम भर सकती है, सन्तुष्ट नहीं। युवा पीढ़ी यह अनुभव करती है कि पुराना समाज पूर्ण रूप से जीर्ण-शीर्ण हो चुका है और मरने-मारने पर उतारू हजारों लोग इस आशा में एक प्रकार के अराजकतापूर्ण संघर्ष में कूदने के लिए तैयार हैं कि शायद जीर्ण-शीर्ण अवशेषों पर इस देश में नया जीवन-निर्माण हो सके। आज भारत के कुछ भागों में इतनी अधिक कुंठा व्याप्त है कि हर वस्तु छिन्न-भिन्न होती प्रतीत होती है, और तो और प्रशासन की सत्ता भी लड़खड़ाती-सी, बेकार-सी प्रतीत होती है। आज आवश्यकता है स्वीकृति के आधार पर क्रान्ति की दिशा में रचनात्मक राजनीतिक प्रयास की; परन्तु अगर हमारा ध्यान विधानमण्डलों में और उनमें होने वाली विचित्र घटनाओं में बँटा रहा तो ऐसा कभी भी नहीं होने का है। विधानमण्डलों में घटित होने वाली विचित्र घटनाएँ मूल रूप से उन तनाव की स्थितियों और आजमाइशों से असम्बन्धित नहीं हैं, जिनसे हमारी जनता लगातार पीड़ित है।

अगर ईमानदारी से इस दिशा में प्रयास किया जाना है तो समय आ गया है कि हम एकांगी दलों की बजाय उनसे बने मोर्चों के बारे में सोचें। कहने की आवश्यकता नहीं है कि दलों से भी मुक्ति पाना कठिन है। भविष्य में नये परिप्रेक्ष्यों का विकास होगा और जीवन तो कभी स्थिर होता ही नहीं है। परन्तु समय ऐसा है—एक दृष्टि से पूर्ण रूप से विसंयुक्त और दूसरी दृष्टि से आशाओं और आकांक्षाओं से पूर्ण—कि हमारी राजनीतिक संरचना में आगे का एक सृजनात्मक कदम नितान्त आवश्यक है।

यदि हम उन लोगों की अवहेलना कर दें जो अपने चारों ओर के जीवन की वास्तविकताओं से आँखें बन्द करने में ही अपने जीवन की इतिश्री समझते हैं, तो भारत जिस प्रकार प्राचीन काल से अब तक चलता रहा है, आगे नहीं चल सकता। थामस मान ने जो अपने जीवनकाल में कभी भी मार्क्सवादी नहीं रहे और जिन्हें वास्तव में उदारवाद का दार्शनिक और प्रस्तोता कहा जा सकता है, कहा है, 'वर्तमान और भविष्य दोनों की सम्पदा से युक्त जीवन निश्चितत: समाजवाद की जय बोलेगा।' आज भारत में सभी तो यह चाहते हैं कि राज्य को पूँजीवाद के उपासक 'चालक' लोगों और मुनाफाखोर शोषकों को कोई सुविधा नहीं देनी चाहिए।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

इसके स्थान पर इस प्रकार की सुविधाएँ ईमानदार और सुशील मजदूरों, किसानों, वैज्ञानिकों, कारीगरों, कलाकारों, चिकित्सकों, वेतन-भोगी कर्मचारियों और अन्य मजदूरी करने वालों को प्राप्त होनी चाहिएँ । आज हमारा आराध्य है—मानव अन्तरात्मा और लोगों की राजनीतिक सत्ता की एकता; शान्ति, प्रगति और सामाजिक न्याय की अवस्था; वह स्थिति जिसमें लोग परिस्थितियों को बदल दें और नई परिस्थितियाँ लोगों को बदल दें । क्या हम यह नहीं चाहते ? परन्तु क्या हम सभी सभ्य लोकतान्त्रिक, समाजवादी शक्तियों को एक झण्डे के नीचे लाये बिना ऐसी अवस्था ला सकते हैं ? क्या परम्परागत संसदीय युक्तियों द्वारा तुरन्त क्रान्ति के लिए वेदनायुक्त उत्कण्ठा को शमित किया जा सकता है, जिसने आज भारत के युवावर्ग को हताशा से भर दिया है ? और क्या इन युक्तियों को लोकतान्त्रिक राजनीति के लिए सार्थक कहा जा सकता है ? यह कहना बड़ा आडम्बरपूर्ण-सा लगता है कि हम इतिहास के चौराहे पर खड़े हैं । लेकिन वस्तु-स्थिति यही है । सत्तारूढ़ अथवा सत्ताविहीन भारतीय राजनीतिक दल अपने आपको इन परिचित अड़ंगेबाजियों से सार्थक सिद्ध नहीं कर सकते । उन्हें साहसपूर्वक नये निर्णय लेकर सिद्धान्तवादी आधार पर ऐसे मोर्चों में विलीन होने के लिए तैयार रहना चाहिए, जिन्होंने जर्मन लोकतान्त्रिक गणराज्य के विभिन्न मोर्चों की भाँति समाज को नया रूप प्रदान किया है ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

समान विचार वाले दलों का ध्रुवीकरण

बलराज मधोक

भारत के स्वतन्त्रता प्राप्त करने के समय से लेकर अब तक केन्द्र में तथा अधिकांश राज्यों में कांग्रेस दल का ही एकमात्र प्रभुत्व रहा है। भारत में लोकतन्त्र को सबसे बड़ा खतरा यही है कि हम अभी तक कांग्रेस शासन का कोई लोकतान्त्रिक विकल्प विकसित नहीं कर पाये हैं। विरोधी दल इतनी अधिक संख्या में हैं और उन्हें प्राप्त मतों का आपस में इतना विभाजन हो जाता है कि कांग्रेस को चुनावों में जीतने के लिए कुल डाले गये मतों का 40 प्रतिशत ही पर्याप्त रहता है। जब 1967 में सामान्य निर्वाचनों में अधिकांश राज्यों में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो पाया तो चूँकि विरोध-पक्ष में कोई भी ऐसा एक दल नहीं था जिसका कि शेष दल समर्थन करने को तैयार होते, इसी कारण वे-उसूली मिली-जुली सरकारों का संगठन किया गया जिनके भाग्य में उनके निर्माण के दिन से ही विघटित होना बदा था। अतः भारतीय मतदाता बड़ी कशमकश में है, वह परिवर्तन तो चाहता है परन्तु फिर भी वह कई बार अपनी इच्छा के विरुद्ध कांग्रेस के पक्ष में ही मतदान करता है क्योंकि उसे विरोध पक्ष में कोई ऐसा एक भी दल नहीं दीखता, जो कांग्रेस का एक सुसंगठित लोकतान्त्रिक विकल्प प्रदान कर सके। और तो और, राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक विरोधी दलों की इस असफलता के कारण कुछ राज्यों में प्रादेशिक दल ही प्रभुत्व ग्रहण करने में सफल हो गये हैं। यह घटना राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से भी खतरनाक कही जा सकती है। अतः भारतीय राजनीति के लिए यह आवश्यक है कि विरोधी पक्ष की राष्ट्रवादी और लोकतान्त्रिक पार्टियों का ध्रुवीकरण हो ताकि वे एक लोकतान्त्रिक विकल्प की व्यवस्था करने में समर्थ हो सकें।

इस दिशा में पिछले कुछ वर्षों में काफी प्रयास किये गये हैं, परन्तु विचारों के ध्रुवीकरण के लिए आवश्यक सैद्धान्तिक आधार के अभाव में, जो कि समान विचार वाले राष्ट्रवादी और लोकतान्त्रिक दलों के स्थायी और उपयोगी ध्रुवीकरण के लिए पूर्वापेक्षा है, इस दिशा में अब तक किये गये सभी प्रयास निष्फल सिद्ध हुए हैं।

समान विचार वाले राजनीतिक दलों के ध्रुवीकरण की दिशा में पहला प्रयास पंडित जवाहरलाल नेहरू के देहावसान से कुछ मास पूर्व किया गया था। दिल्ली की एक सभा में, जिसमें स्वतन्त्र दल की ओर से प्रोफेसर एन० जी० रंगा और श्री मीनू मसानी और जनसंघ की ओर से श्री यू० एन० त्रिवेदी, श्री ए० बी० वाजपेयी, और इन पंक्तियों के लेखक शामिल हुए थे, श्री राजगोपालाचारी ने सुझाव दिया कि जनसंघ और स्वतन्त्र पार्टी को मिलकर एक सुदृढ़ और सुसंगठित दल का निर्माण करना चाहिए जो कालान्तर में कांग्रेस का स्थान ले सके। उनके विचार में पंडित नेहरू के निधन के पश्चात् कांग्रेस का विघटन अवश्यम्भावी था।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

पंडित नेहरू की बीमारी को देखते हुए तब यह आम तौर पर विश्वास किया गया था कि वह बहुत अधिक समय तक सत्तारूढ़ कांग्रेस दल को नेतृत्व प्रदान करने की अवस्था में नहीं रहेंगे। अतः राजाजी ने सुझाव दिया कि यदि ये दोनों दल शीघ्र ही एक-दूसरे में मिल जाते हैं तो इससे उस सुसंगठित दल के लिए यह सम्भव होगा कि वह देश को कांग्रेस का एक सुदृढ़ विकल्प प्रदान करे। इस दल के लिए 'स्वतन्त्र-जनसंघ' नाम सुझाया गया था।

दुर्भाग्यवश जनसंघ के दिसम्बर 1963 में अहमदाबाद में हुए अधिवेशन में इस सुझाव को रद्द कर दिया गया और इस प्रकार समान विचार वाले दलों के ध्रुवीकरण की दिशा में यह पहला प्रयास पल्लवित न हो सका। परन्तु पंडित नेहरू के निधन और अठारह महीने पश्चात् उनके उत्तराधिकारी स्वर्गीय लाल बहादुर शास्त्री के आकस्मिक देहावसान के पश्चात् की घटनाओं ने इन दोनों दलों के नेताओं को मजबूर किया कि वे इस दिशा में अपने प्रयास और आगे बढ़ाएँ और 1967 के निर्णायक सामान्य निर्वाचनों की पूर्व-वेला में यदि वे एक-दूसरे में विलयित नहीं हो सकते तो एक-दूसरे के प्रति किसी न किसी प्रकार के सहयोग की दिशा में अवश्य अग्रसर हों। इसके परिणामस्वरूप राजस्थान, गुजरात और हरियाणा के राज्यों में चुनाव-सम्बन्धी गठजोड़ और स्थानों के विभाजन के बारे में समझौता हो गया। कुछ अन्य राज्यों में भी इन दोनों दलों ने एक-दूसरे को गुप्त सहयोग प्रदान किया। 1967 के निर्वाचनों में जनसंघ और स्वतन्त्र दल को जो सफलता प्राप्त हुई, उसका श्रेय इन दोनों दलों के बीच हुए चुनाव गठबन्धन और सहयोग के द्वारा तैयार किये गये अनुकूलतम मनोवैज्ञानिक वातावरण को भी दिया जाना चाहिए।

चुनाव में एक-दूसरे को जो सहयोग दिया गया, उसके पश्चात् यह स्वाभाविक था कि राज्य विधानसभाओं और संसद में भी इसी प्रकार के कुछ संयुक्त ब्लॉक बनाये जायें। यदि जनसंघ और स्वतन्त्र दल में इस प्रकार का कोई समझौता हो गया होता और परिणामस्वरूप कोई ऐसा ब्लॉक बन गया होता तो लगभग 20 निर्दलीय सदस्य, जिनमें श्री प्रकाशवीर शास्त्री और अन्य प्रमुख नेता भी होते, इसमें शामिल हो गये होते। श्री प्रकाशवीर शास्त्री और अन्य सदस्यों ने बाद में संसद में भारतीय क्रान्ति दल का निर्माण किया। वस्तुतः ये नेता जनसंघ और स्वतन्त्र दल के संयुक्त ब्लॉक के गठन के बारे में बहुत अधिक उद्यमशील थे। परन्तु जनसंघ दल में जिस वर्ग का प्रभुत्व था उसने इस विचार को स्वीकार नहीं किया और यह प्रस्ताव कार्यान्वित न किया जा सका। यदि 1967 में लोकसभा में 100 सदस्यों का वह ब्लॉक अस्तित्व में आ गया होता तो भारतीय राजनीति की समस्त धारा ही बदल गई होती।

इसके विपरीत विडम्बना यह थी कि जान-बूझकर ऐसे प्रयास किये गये जिनमें कि जनसंघ और स्वतन्त्र दल के विचारों और दृष्टिकोणों के भेदों को अधिक उजागर किया गया और जनसंघ तथा अन्य वामपंथी दलों के दृष्टिकोणों में समानता पर अधिक बल दिया गया। यह भी प्रयास किया गया कि जनसंघ दोनों साम्यवादी दलों के अधिक निकट हो सकता है। ऐसा करना कुछ हद तक तो उन कुछ राज्यों में मिली-जुली सरकारों के कारण था, जिनमें जनसंघ और साम्यवादी दल दोनों ही भागीदार थे। इससे भी अधिक इस दृष्टिकोण में पराजयवादी मनोवृत्ति परिलक्षित होती है और जनसंघ के नेताओं में जनसंघ के एक वर्ग की आस्था न होने का भी पता चलता है। वस्तुतः कुछ समय के लिए जनसंघ भी उस संयुक्त मोर्चे के विचार से मन बहलाता रहा जिसमें अन्य दलों के साथ साम्यवादी दल भी शामिल होते और

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

जो उत्तर प्रदेश और बिहार के प्रतिमान पर केन्द्र में भी कांग्रेस दल को अपदस्थ कर सकता था। सौभाग्यवश यह विचार बहुत देर तक न टिक पाया।

इस बीच एक के बाद एक संयुक्त मोर्चा सरकारों का पतन होता गया और पश्चिमी बंगाल के सन्दर्भ में साम्यवादियों के उद्देश्य क्या थे, यह भी पता चल गया। इसके पश्चात् हुए मध्यावधि चुनावों में इन दलों का पतन हुआ और इनके स्थान पर भारतीय क्रान्ति दल और विशाल हरियाणा पार्टी जैसे प्रादेशिक दलों का उत्थान हुआ। इससे सभी राष्ट्रवादी और लोकतान्त्रिक दलों को यह पुनर्विचार करने के लिए मजबूर होना पड़ा कि राष्ट्रीय दलों की कीमत पर अगर यह शक्तिशाली प्रादेशिक दल उभर कर आते हैं तो समान विचारों वाले राष्ट्रीय दलों के एक-दूसरे के अधिक निकट न आने पर यह प्रादेशिक दल उनका जिन्दा रहना मुश्किल कर देंगे। भारतीय क्रान्ति दल के नेता चौधरी चरणसिंह उत्तर प्रदेश की राजनीति में एक अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व के रूप में उभर कर सामने आए और उन्होंने यह सुझाव देकर राष्ट्रीय दलों को नेतृत्व प्रदान किया कि भारतीय क्रान्ति दल, जनसंघ और स्वतन्त्र दल को मिलाकर एक विशाल दल बना दिया जाये। यह एक सामयिक संकेत था जिस पर अनुकूल रूप से विचार किया जाना चाहिए था। इस दिशा में कुछ प्रगति भी हुई। परन्तु जब यथार्थ स्थिति से सामना हुआ तो जनसंघ एक बार फिर हिचकिचाया। जब मई 1969 में एक सामान्य कार्यक्रम का निर्धारण करने के लिए नियत की गई सभा में जनसंघ के प्रत्यायित प्रवक्ता उपस्थित न हुए तो भारतीय क्रान्ति दल और स्वतन्त्र दल के नेताओं के मन में जनसंघ के नेताओं के प्रति तरह-तरह की शंकाएँ उत्पन्न होने लगीं। चौधरी चरणसिंह ने अपनी निराशा और हताशा को तुरन्त खुले तौर पर अभिव्यक्ति प्रदान की जबकि स्वतन्त्र दल के नेता एकदम चुप्पी साध गये। यदि एकता की दिशा में यह बातचीत इस तरह से असफल न हुई होती तो भारतीय राजनीति की क्या धारा होती यह हमेशा देश के राजनीतिक इतिहास की एक बड़ी 'यदि' बनी रहेगी।

इस बीच सत्तारूढ़ कांग्रेस दल में अन्तर्भूत चिरस्थायी विरोध और विवाद उभर कर सतह पर आने लगे। राष्ट्रपति डा० जाकिर हुसैन के निधन के कारण हुए राष्ट्रपति निर्वाचन को इसका तात्कालिक कारण कहा जा सकता है। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने इस निर्वाचन में प्रमुख भूमिका निर्वाह करने का फैसला किया। परिणामस्वरूप कांग्रेस में हुए विघटन का सभी लोकतन्त्रवादियों और राष्ट्रवादियों ने स्वागत किया। तब यह सोचा गया कि शायद यह देश में विभिन्न राजनीतिक शक्तियों और दलों के ध्रुवीकरण की दिशा में एक सक्रिय कारक सिद्ध होगा और ये दल नेहरूवादी और पटेलवादी दलों की दो मुख्य धाराओं में बँट जायेंगे और मार्क्सवादी दल अपरिहार्य रूप से तीसरी शक्ति के रूप में बचे रहेंगे।

परन्तु ये आशाएँ भी दुराशाएँ मात्र सिद्ध हुईं। यद्यपि श्रीमती इन्दिरा गांधी ने यह घोषणा करके कि जो लोग उनका विरोध कर रहे हैं, उन्हीं लोगों ने उनके पिता का भी विरोध किया था—उनका संकेत पटेलवादियों की ओर था—इस विघटन को एक सैद्धान्तिक आधार प्रदान करने का असफल प्रयास किया, परन्तु निजलिंगप्पा कांग्रेस के 'ओल्ड गार्ड' ने इस सैद्धान्तिक स्थिति को ग्रहण करने से हमेशा इन्कार किया। इन नेताओं के वक्तव्य और कार्य हमेशा यह प्रभाव देते रहे कि उनका झगड़ा व्यक्तिगत रूप से श्रीमती इन्दिरा गांधी से है, उनकी नीतियों से नहीं, जिन्हें कि वे पंडित नेहरू के रिक्थ के रूप में प्रदर्शित कर रही हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

फिर भी अखिल भारतीय कांग्रेस समिति (संगठन) द्वारा जून 1970 में अपने दिल्ली अधिवेशन में पारित संकल्प में उन्होंने एक निश्चित कार्यक्रम के आधार पर सभी राष्ट्रवादी और लोकतान्त्रिक दलों के बीच पूर्ण सहयोग का आह्वान किया जिससे यह आशा बँधी कि संगठन कांग्रेस प्रारम्भिक अवस्था पर काबू पा रही है और अब वह ध्रुवीकरण के पक्ष में एक सैद्धान्तिक स्थिति ग्रहण करने का प्रयास कर रही है। इन्दिरा गुट के साम्यवादी और मुस्लिम लीग के साथ अव्यक्त गठजोड़ से यह निष्कर्ष और भी अधिक तर्कसंगत और अपेक्षित प्रतीत होता था।

बंगाल और अन्य स्थानों की घटनाओं से जनसंघ की भी कुंभकर्णी नींद टूटी क्योंकि इन घटनाओं से साम्यवादी और उनके संगी-साथी खुलकर सामने आये। साम्यवादी श्रीमती इन्दिरा गांधी को इसीलिए सहयोग प्रदान कर रहे थे ताकि उन्हें वे साम्यवादी शिविर में धकेल सकें। जनसंघ ने पहली बार एक संकल्प पारित करके ध्रुवीकरण की दिशा में सकारात्मक योगदान दिया जिसमें उसने संगठन कांग्रेस के समान विचार वाले राष्ट्रवादी और लोकतान्त्रिक दलों के साथ सहयोग के प्रस्ताव का जुलाई 1970 में चण्डीगढ़ में हुई अपनी प्रतिनिधि सभा में स्वागत किया। स्वतन्त्र दल ने भी इसका अनुकरण किया। इस प्रकार संसद में राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक ब्लॉक का निर्माण करने के लिए मार्ग प्रशस्त प्रतीत हुआ। परन्तु जब कांग्रेस (संगठन) के ही नेता संसद में और संसद से बाहर अपने अनुयायियों को अपने विचारों से सन्तुष्ट न कर पाये तो ये समस्त आशाएँ धूल-धूसरित हो गईं। इसके उल्लेखनीय नेताओं ने उन दिनों जो कुछ किया और कहा उससे साफ पता चलता था कि स्पष्ट विचारधारा की दृष्टि से कांग्रेस(सं) द्विविधा की स्थिति में है। इसका कुछ हद तक तो यह कारण था कि इन्दिरा कांग्रेस ने जनसंघ और अन्य लोकतान्त्रिक दलों से सहयोग करने के सवाल पर संगठन कांग्रेस में बड़ी सावधानीपूर्वक फूट डालकर इस सारे कार्यक्रम को ही उलट-पुलट कर दिया था। परन्तु वैसे भी कांग्रेस के समक्ष बहुत ही थोड़े विकल्प थे। या तो यह श्रीमती गांधी के आगे पूर्ण समर्पण कर दे अथवा जनसंघ, स्वतन्त्र, भारतीय क्रान्ति दल आदि लोकतान्त्रिक दलों से सहयोग कर सुदृढ़ विकल्प की व्यवस्था करे। आखिरकार इसने अन्तिम तरीका अपनाया। दिसम्बर 1970 में हुए इसके लखनऊ अधिवेशन में पारित संकल्प में इस बात पर जोर दिया गया था, यद्यपि ऐसा स्पष्ट रूप से नहीं किया गया था, कि वह अन्य राष्ट्रवादी, लोकतान्त्रिक दलों को सहयोग प्रदान करने की नीति पर दृढ़ है।

दिसम्बर 1970 के अन्त में जब लोकसभा भंग कर दी गई और मार्च 1971 में लोकसभा के लिए नये निर्वाचनों की घोषणा कर दी गई तो विभिन्न दलों में एक-दूसरे को सहयोग प्रदान करने के बारे में कुछ आवश्यकता और अवश्यम्भाविता की भावना आई जिसकी अन्तिम परिणति राष्ट्रवादी और लोकतान्त्रिक दलों के ध्रुवीकरण की सूरत में हो सकती थी। इन्दिरा कांग्रेस, साम्यवादी दल, मुस्लिम लीग और द्रमुक के बीच के अव्यक्त गठबन्धन और अपने साम्यवादी और साम्प्रदायिकतावादी सहयोगियों की सहायता से श्रीमती इन्दिरा गांधी के सत्तारूढ़ हो जाने के डर के कारण व्यापक रूप से यह अपेक्षा की जाने लगी कि राष्ट्रवादी और लोकतान्त्रिक दलों का एक महासंगठन बनाया जाना चाहिए। इससे संगठन कांग्रेस के उन व्यक्तियों की स्थिति और भी अधिक मजबूत हो गई जो अपने दल द्वारा लखनऊ में पास किये गये संकल्प के अनुसार आगे बढ़ना चाहते थे।

परन्तु इस बीच इन्दिरा कांग्रेस के कुछ लोग, जो चुनाव के पश्चात् नेतृत्व में परिवर्तन

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

करना चाहते थे, चौधरी चरणसिंह के मन में यह आशा जगाकर कि अगर वे नई लोकसभा में अपने दल के 30/40 सदस्य चुनवाने में सफल हो गये, तो उनके प्रधानमन्त्री के पद पर सुशोभित होने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है, प्रस्तावित महासंगठन से भारतीय क्रान्ति दल को विमुख करने में सफल हो गये। इन पैंतरों से यह स्पष्ट था कि वे यह उम्मीद नहीं करते थे कि इन्दिरा कांग्रेस अपने तौर पर नई लोकसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त कर पाने में सफल हो सकेगी। जब चौधरी चरणसिंह अपने इस निर्णय पर कि भारतीय क्रान्ति दल अकेले ही चुनाव लड़ेगा पुनर्विचार करने के लिए किसी तरह तैयार नहीं हुए, तो जनसंघ, स्वतन्त्र और संगठन कांग्रेस के नेताओं ने इन्दिरा कांग्रेस-साम्यवादी दल गठबन्धन के खिलाफ चुनाव लड़ने के लिए राष्ट्रवादी लोकतान्त्रिक संयुक्त मोर्चे की स्थापना की दिशा में आगे बढ़ने का निश्चय किया। संगठन कांग्रेस और जनसंघ के कुछ लोग इस संगठन में संसोपा को भी लाने के पक्ष में थे, ताकि प्रस्तावित संगठन को एक वामपंथी मुखौटा पहनाया जा सके। परन्तु इस सवाल पर संसोपा के नेताओं में तीव्र मतभेद थे और इस दल का प्रभावशाली वर्ग या तो अकेले ही चुनाव में भाग लेने के पक्ष में था अथवा जहाँ-जहाँ सम्भव हो वह प्रसोपा और साम्यवादी दल से सहयोग करने के लिए तैयार था। लेकिन आखिरी वक्त संसोपा ने अपना विचार बदल लिया।

संगठन कांग्रेस, स्वतन्त्र और जनसंघ के महासंगठन के बारे में औपचारिक घोषणा और समान उद्देश्यों के वक्तव्य के विमोचन से कुछ समय पूर्व, संगठन कांग्रेस के वे सदस्य, जो जनसंघ और स्वतन्त्र दल से सहयोग के कारण अपने क्रान्तिकारी प्रतिबिम्ब को किसी भी प्रकार विकृत नहीं करना चाहते थे, प्रस्तावित महासंगठन में संसोपा के शामिल होने पर राजी हो गये। संसोपा के नेता इस शर्त पर प्रस्तावित महासंगठन में शामिल होने को तैयार हुए कि इसमें शामिल दलों का न तो कोई संयुक्त कार्यक्रम होगा और न ही समान उद्देश्यों का वक्तव्य और चुनाव के पश्चात् इस महासंगठन में शामिल सभी दलों को इस बात की छुट्टी होगी कि वे अपने भावी कार्यक्रम का अपने आप निर्धारण करें। वस्तुतः यह संगठन कांग्रेस, स्वतन्त्र और जनसंघ के नेताओं की कल्पना के महासंगठन को तारपीडो करता था। स्वतन्त्र दल के प्रधान श्री मीनू मसानी ने इस प्रस्ताव को रद्द करके ठीक ही किया। परन्तु जब जनसंघ के प्रधान श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने संसोपा के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया तब यह निर्णय किया गया कि संगठन कांग्रेस, जनसंघ और संसोपा का एक शिथिल महासंगठन बने और उसका उद्देश्य यह हो कि इन्दिरा कांग्रेस, साम्यवादी दल और मुस्लिम लीग के महासंगठन के विरुद्ध एक ही संयुक्त उम्मीदवार खड़ा किया जाना चाहिए ताकि विरोध पक्ष के मत न बँट जाएँ। बाद में स्वतन्त्र दल भी इस समझौते में शामिल हो गया।

कांग्रेस(सं), जनसंघ, स्वतन्त्र और संसोपा के इस तथाकथित महासंगठन में न तो कोई सैद्धान्तिक संगति थी और न प्रयोजन की एकता। मूल अधिकारों जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर भी संसोपा के विचार महासंगठन के अन्य दलों के विचारों से सर्वथा विपरीत थे। अतः इस शिथिल महासंगठन पर दोनों ओर से प्रहार किये जाने लगे। और तो और, मतों के विभाजन को रोकने का सीमित उद्देश्य भी पूरा न हो सका, क्योंकि कई चुनाव क्षेत्रों में ये दल किसी एक संयुक्त उम्मीदवार के बारे में सहमत न हो सके। अतः यदि किसी एक निर्वाचन क्षेत्र में इन दलों का एक संयुक्त उम्मीदवार था तो दूसरे चुनाव क्षेत्र में ये एक-दूसरे का

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

मुकाबला कर रहे थे। अब इसे सामान्यतया स्वीकार किया जाता है कि इस संगठन में संसोपा को शामिल करना सबसे बड़ी गलती थी क्योंकि उसने तो सभी दलों के एक समान कार्यक्रम के विकास में भी रोड़ा अटकाया।

मार्च 1971 में हुए लोकसभा के चुनाव परिणाम विजयी और पराजित दोनों पक्षों के लिए समान रूप से आश्चर्यजनक थे। श्री जगजीवन राम के अत्यन्त आशापूर्ण अनुमानों के अनुसार भी, कांग्रेस को नये सदन में अधिक से अधिक 280 स्थान प्राप्त करने की अपेक्षा थी। परन्तु वास्तव में इसे 350 से भी अधिक स्थान मिले। साम्यवादी दल और द्रमुक को 23-23 स्थान मिले और मुस्लिम लीग को तीन स्थान मिले। इस प्रकार श्रीमती गांधी और उनके सहयोगियों को नई लोकसभा में 400 से भी अधिक सदस्यों का समर्थन प्राप्त हुआ। भले ही श्रीमती इन्दिरा गांधी की इस आश्चर्यजनक विजय के कुछ और भी कारण रहे हों लेकिन इसका तुरन्त प्रभाव यह हुआ कि राष्ट्रवादी और लोकतान्त्रिक दलों का मनोबल एकदम समाप्त हो गया। भंग लोकसभा में संगठन कांग्रेस के 62 सदस्य थे और उसे यह आशा थी कि यह अपनी स्थिति में सुधार कर 100 स्थानों पर कब्जा कर पाने में सफल हो जायेगी; परन्तु इसे केवल 18 स्थान ही प्राप्त हुए। मैसूर में इसी दल का शासन था, परन्तु वहाँ से इसे लोकसभा के लिए एक भी स्थान प्राप्त नहीं हुआ और जिस दूसरे राज्य गुजरात में इस समय तक इसका शासन कायम था, वहाँ से इसे केवल 13 स्थान ही मिल पाये। स्वतन्त्र दल को 1967 के सामान्य निर्वाचनों में 40 से भी अधिक स्थान मिले थे, परन्तु इस बार केवल 8 स्थान मिल पाये। जनसंघ की सदस्य-संख्या 35 से घटकर 22 रह गई। इस निर्वाचन में सबसे अधिक आघात भारतीय क्रान्ति दल, संयुक्त समाजवादी दल और प्रजा समाजवादी दल को पहुँचा। भारतीय क्रान्ति दल को केवल एक ही स्थान मिला। संसोपा के सदस्यों की संख्या 18 से घटकर 3 रह गई और प्रसोपा केवल दो स्थानों पर अधिकार कर पाई। इस घोर पराजय ने इन दलों के नेताओं को इतना अधिक हतप्रभ-सा कर दिया कि वे इन निर्वाचनों में बड़े पैमाने पर हुए घपलों के बारे में आई सूचनाओं की जाँच कराने के लिए भी तैयार नहीं थे। इसकी बजाय वे इस महासंगठन में ही मीनमेख निकालने लगे। स्वतन्त्र दल, संसोपा और संगठन कांग्रेस ने वक्तव्य जारी कर यह स्वीकार किया कि उनकी हार का कारण उनका निर्वाचन के लिए जनसंघ से किया गया गठजोड़ है। जनसंघ के नेता इस पराजय की जिम्मेदारी अपने सिर लेने को बिल्कुल तैयार नहीं थे, परन्तु जनसंघ के अधिकांश सदस्य यह महसूस कर रहे थे कि संसोपा और संगठन कांग्रेस के कार्यकर्ताओं ने जनसंघ के उम्मीदवारों को अपेक्षित सहयोग नहीं दिया है, यद्यपि जनसंघ के कार्यकर्ताओं ने उन्हें उनके निर्वाचन-क्षेत्रों में सहयोग प्रदान किया है। इसके परिणामस्वरूप इन दलों ने यह भी मुनासिब नहीं समझा कि नई लोक-सभा में एक संयुक्त मोर्चा ही बना लिया जाये। यदि संगठन कांग्रेस, स्वतन्त्र दल और जनसंघ ने अथवा जनसंघ और स्वतन्त्र दल ने ही नई लोकसभा में एक संयुक्त मोर्चा बना लिया होता तो इसे लोकसभा में सबसे बड़े विरोधी गुट का स्थान मिल गया होता। ऐसा न कर पाने के कारण अब स्थिति यह उत्पन्न हो गई है कि साम्यवादी दल और द्रमुक जिन्होंने इन्दिरा कांग्रेस के साथ चुनाव गठबन्धन किया था, प्रमुख विरोधी पक्षों की भूमिका निभा रहे हैं।

चुनाव परिणामों का आघात जब कुछ कम हुआ तो उसके पश्चात् संगठन कांग्रेस में ही नोंक-झोंक शुरू हो गई। इसके कुछ कनिष्ठ सदस्यों ने अपने उन वरिष्ठ सदस्यों की निन्दा

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

करनी आरम्भ कर दी जो निर्वाचन से पूर्व इस महासंगठन के समर्थक थे। कांग्रेस(सं) ने अब यह घोषणा की कि उसे जनसंघ और स्वतन्त्र दल से कोई सरोकार नहीं होगा और संसद तथा राज्य विधानमण्डलों में वह अकेले ही आगे बढ़ेगी। साथ ही 1972 में राज्य विधान-सभाओं के लिए जो निर्वाचन होने वाले हैं, उनमें भी वह अकेले ही लड़ेगी। स्वतन्त्र दल के नेताओं ने भी इसी प्रकार की घोषणाएँ कर कांग्रेस के नेताओं का अनुसरण किया। जनसंघ की प्रतिनिधि सभा की जुलाई के प्रथम सप्ताह में जो बैठक हुई थी उसमें यह तय हुआ कि संघ भी भावी चुनावों में किसी के साथ सैद्धान्तिक गठबन्धन नहीं करेगा, परन्तु इसने समान विचार वाले दलों से स्थानीय रूप से समझौते करने के बारे में अपने द्वार खुले रखे। भारतीय क्रान्ति दल की अब राष्ट्रीय राजनीति में कोई गिनती नहीं रही थी, अतः इसका विभिन्न दलों के महासंगठन के बारे में क्या दृष्टिकोण हो, इसका कोई विशेष महत्व नहीं रह गया था।

सबसे अधिक हताशा की भावना तो दोनों समाजवादी दलों—प्रसोपा और संसोपा—में थी। वस्तुतः इन्हें इन्दिरा कांग्रेस के साथ सहयोग करना चाहिए था, क्योंकि वही चुनाव के दौरान समाजवाद का सबसे अधिक ढोल पीट रही थी। अब इन दलों की स्थिति इतनी अधिक निरीह हो गई थी कि इनका स्वतन्त्र दलों के रूप में अस्तित्व ही निरर्थक प्रतीत होता था। इन्दिरा कांग्रेस भी अब इन्हें अपने पक्ष में करने के लिए विशेष उत्सुक नहीं थी। इन परि-स्थितियों में इनके लिए यही एक तरीका रह गया था कि दोनों दलों के विलय की बातचीत फिर से चलाई जाये। अब इन दोनों का विलय हो चुका है और लोकसभा में 5 सदस्यों की एक नई सोशलिस्ट पार्टी का निर्माण किया गया है। परन्तु विभिन्न राज्यों में प्रसोपा की शाखाओं को संसोपा के कार्य-संचालन से अभी तक संतोष नहीं हो पाया है। उड़ीसा और गुजरात राज्य में प्रसोपा की शाखाएँ तो इन्दिरा कांग्रेस में ही शामिल हो गई हैं और अन्य राज्यों में भी प्रसोपा के अधिकांश सदस्य इन्दिरा कांग्रेस की ओर ही निहार रहे हैं। संसोपा, प्रसोपा और अन्य छोटे-छोटे समाजवादी गुटों का विलय देश के गैर-साम्यवादी और गैर-कांग्रेसी समाजवादी दलों का एक प्रकार से ध्रुवीकरण ही कहा जाना चाहिए। फिर भी इस बात के लिए हमें कुछ और अधिक प्रतीक्षा करनी होगी कि इस समाजवादी दल का अलग दल के रूप में कोई भविष्य होगा अथवा नहीं, क्योंकि स्वयं सत्तारूढ़ दल ने ही अब समाजवादी कार्यक्रम अपना लिया है और वह देश में समाजवाद का सबसे ऊँचा ढोल पीटने वाला बन गया है।

इस वस्तुस्थिति में इन्दिरा कांग्रेस, कांग्रेस समाजवादी दल की वंशज होने का दावा कर सकती है। कांग्रेस समाजवादी दल ने स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को छोड़ दिया। श्री जवाहरलाल नेहरू का कांग्रेस समाजवादी दल से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था, लेकिन वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में ही बने रहे जिस पर उस समय सरदार वल्लभभाई पटेल का प्रभुत्व था। नवम्बर 1950 में सरदार पटेल के निधन के पश्चात् पंडित नेहरू ने कांग्रेस को वामपंथ की ओर ले जाने की प्रक्रिया आरम्भ की। परन्तु श्रीमती इन्दिरा गांधी के अनुसार, पंडित नेहरू के शासन के दौरान भी पटेलवादी पंडित नेहरू की समाजवादी नीतियों के कार्यान्वयन के मार्ग में रोड़ा अटकाया करते थे। कांग्रेस के विघटन के पश्चात् अब वे लोग इन्दिरा गांधी की नेतृत्व वाली कांग्रेस से बाहर चले गये हैं जिन्हें पटेलवादी कहा जा सकता था।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अतः यह अधिक उपयुक्त होगा कि इन्दिरा कांग्रेस का नाम बदल कर इसे कांग्रेस समाजवादी दल की संज्ञा दे दी जाये। इससे प्रसोपा, संसोपा और अन्य समाजवादी गुटों का कांग्रेस में शामिल होने का मार्ग प्रशस्त हो जायगा जो कभी कांग्रेस समाजवादी दल के ही अंग थे। यदि वास्तव में लोकतान्त्रिक समाजवादी शक्तियाँ इस दिशा में प्रयासशील हों तो इससे अच्छी और क्या चीज हो सकती है ? इससे लोकतन्त्र की समर्थक सभी समाजवादी शक्तियों का वास्तविक ध्रुवीकरण होगा।

वामपंथी दलों के इस प्रकार के ध्रुवीकरण के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा वे साम्यवादी और उनके संगी-साथी हैं जो इन्दिरा कांग्रेस में और इसके बाहर के सहयोगियों में घुसपैठ कर गये हैं। वे नहीं चाहते कि इन्दिरा कांग्रेस उस प्रकार का समाजवादी दल बने जिस प्रकार के दल पश्चिमी यूरोप के देशों में पाये जाते हैं जो लोकतन्त्र और जन-सामान्य के कल्याण के समर्थक हैं। ये लोग साम्यवादी मार्का समाजवाद के समर्थक हैं, और इसलिए वे नहीं चाहते कि सर्वश्री राजनारायण, राम सेवक यादव, कर्पूरी ठाकुर, प्रेम भसीन, सुरेन्द्र द्विवेदी और हरि विष्णु कामथ, जो समाजवादी होने के साथ कट्टर साम्यवाद-विरोधी भी हैं, इन्दिरा कांग्रेस में शामिल हों।

भारत-सोवियत सन्धि पर हस्ताक्षर होने से इन्दिरा कांग्रेस के भीतर के साम्यवादियों और इनके संगी-साथियों के हृदयों में नई आशाओं का संचार हुआ है। वे अब इन्दिरा कांग्रेस के भी विघटन की तैयारी कर रहे हैं ताकि ऐसे लोगों को धकेल बाहर किया जाये, जो उनकी हाँ में हाँ मिलाने के लिए तैयार नहीं हैं। इसके पश्चात् उनका इरादा साम्यवादी एकता के आधार पर सरकार निर्माण करने का है, जिसमें भारतीय साम्यवादी दल एक महत्त्वपूर्ण साझीदार होगा। अगर उनकी योजना सफल हो गई तो यह वास्तव में साम्यवादी सरकार ही होगी, जो आहिस्ता-आहिस्ता अन्य सभी राजनीतिक दलों को समाप्त करके रख देगी और श्रीमती इन्दिरा गांधी की सहायता से साम्यवादी प्रतिमान के सर्वाधिकारवादी शासन की स्थापना कर देगी।

ऐसी परिस्थिति राष्ट्रवादी और लोकतान्त्रिक दलों के लिए सबसे बड़ी चुनौती है और ऐसी चुनौती का उन्हें अभी तक सामना नहीं करना पड़ा है। इसका सामना करने के लिए उनकी एकता और उनकी ओर से संयुक्त कार्रवाई और भी आवश्यक हो गई है। परन्तु अभी तक इस बारे में कोई संकेत नहीं मिले हैं कि इन दलों के नेताओं को इस चुनौती का एहसास हो। जहाँ तक संगठन कांग्रेस का सवाल है, यह तो कांग्रेस सत्ता के साथ मिलकर एक नया दल बनाने का बड़ी गम्भीरता से विचार कर रही है। इसी कारण से यह अविभाजित कांग्रेस के 10-सूत्री कार्यक्रम पर इतना बल दे रही है। इसके नेताओं के अनुसार, दोनों कांग्रेसों की एकता में सबसे बड़ी बाधा श्रीमती इन्दिरा गांधी ही हैं और उनकी गणना के अनुसार श्रीमती गांधी वर्तमान स्थिति में अधिक समय तक सत्तारूढ़ नहीं बनी रहेंगी। अतः संगठन कांग्रेस के जनसंघ और स्वतन्त्र दल के साथ ध्रुवीकरण की तो कोई सम्भावना है ही नहीं।

भारतीय क्रान्ति दल, स्वतन्त्र और जनसंघ में आपस में बहुत कुछ समान है। प्रथम, दोनों दल इन्दिरा कांग्रेस के माध्यम से देश में बढ़ते हुए साम्यवादी प्रभाव से अत्यधिक चिन्तित हैं। जनसंघी नेतृत्व भी इन्दिरा कांग्रेस में बढ़ती हुई सर्वाधिकारवादी प्रवृत्तियों के प्रति सजग है। इन्दिरा कांग्रेस सोवियत प्रभाव और भारतीय साम्यवादी दल के

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्रभाव के अधीन अधिक से अधिक आती जा रही है। और किसी भी क्षेत्र से इस प्रवृत्ति को रोकने के प्रयास नहीं किये जा रहे। इस स्थिति में जनसंघ के सामान्य कार्यकर्ताओं पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि वे अकेले ही आगे बढ़ने के पक्ष में हैं। इस तथ्य ने कि मध्यावधि चुनाव में लोकतान्त्रिक और राष्ट्रवादी शक्तियों की घोर पराजय के पश्चात् भी जनसंघ इन शक्तियों के ध्रुवीकरण की दिशा में अग्रसर है, इन शक्तियों में इसके नेताओं में और सामान्य लोगों में नई आशा और विश्वास का संचार किया है। जनसंघ ही इन्दिरा कांग्रेस का एकमात्र विकल्प है। परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में जनसंघ समस्त देश में सत्तारूढ़ कांग्रेस और उसके साम्यवादी सहयोगियों के लोकतान्त्रिक विकल्प की स्थिति में आने में असमर्थ है। उसे इस बढ़ते हुए सर्वाधिकारवाद की चुनौती का सामना करने के लिए अन्य लोकतान्त्रिक दलों और गुटों के साथ सहयोग का हाथ बढ़ाना पड़ेगा। अतः इन राष्ट्रवादी लोकतान्त्रिक दलों के बीच विलय, संश्रय अथवा किसी न किसी प्रकार का ध्रुवीकरण अब भी अत्यन्त आवश्यक है।

परन्तु इन दलों के स्थायी और प्रभावशाली ध्रुवीकरण के लिए आवश्यक है कि पहले विचारों का ध्रुवीकरण हो ले। इन दलों में ध्रुवीकरण इसीलिए नहीं हो पाया है कि विचारों के ध्रुवीकरण की दिशा में कोई गम्भीर प्रयास नहीं किया गया है। विचारों के ध्रुवीकरण के लिए यह आवश्यक है कि देश को जिन समस्याओं और कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है, उनके बारे में बुनियादी रूप से सोचा जाये। दुर्भाग्यवश इन दलों के नेता इस बात के लिए तैयार नहीं हैं। इनमें से कुछ नेताओं का तो स्वार्थ इसी में निहित है कि वर्तमान सैद्धान्तिक अराजकता की अवस्था जारी रहे ताकि उन्हें अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अपनी इच्छा के दल में शामिल होने की छुट्टी रहे।

अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि ध्रुवीकरण के सैद्धान्तिक आधार का स्पष्ट रूप से निर्धारण किया जाय। इसके लिए यह आवश्यक है राष्ट्रवाद और लोकतन्त्र जैसे बुनियादी विषयों के बारे में विचारों में स्पष्टता हो। आर्थिक और सामाजिक विषयों, विदेश नीति और साम्यवाद तथा साम्प्रदायिकता के बारे में स्पष्ट चिन्तन की आवश्यकता है। इस समय देश में साम्यवादी दल तथा उसके सहयोगी तो साम्यवाद का तथा मुस्लिम लीग और उसके सहयोगी साम्प्रदायिकता का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। जब तक कोई वैकल्पिक कार्यक्रम और नीतियाँ न हों तब तक समाजवादी कांग्रेस और उसके साम्यवादी सहयोगियों के किसी उचित लोकतान्त्रिक विकल्प की कल्पना नहीं की जा सकती है। जो दल और दलों के गुट समाजवाद का दम भरते हैं और उसी साम्यवादी शब्दावली का इस्तेमाल करते हैं जिसे इन्दिरा कांग्रेस ने अपनी बपौती समझ रखा है, उन्हें कांग्रेस-साम्यवादी गठबंधन का लोकतान्त्रिक विकल्प नहीं समझा जा सकता है। कांग्रेस साम्यवादी गठबन्धन का विकल्प तो वही दल या दल-समूह हो सकता है जिसकी लोकतन्त्र तथा राष्ट्रवाद में आस्था हो और जो जन-कल्याण के लिए समर्पित हो लेकिन साथ ही जो जनसाधारण को संविधान द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्रताओं से वंचित न करता हो।

लोकतन्त्र शासन-प्रणाली मात्र ही नहीं है, यह तो जीवन पद्धति और मनोवृत्ति है। इसके आवश्यक अंग हैं व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और दूसरों के विचारों के प्रति आदर का भाव। हम किसी से यह अपेक्षा नहीं करते हैं कि वह संसद में तो लोकतन्त्र का अलमबरदार हो और अपने दल में सर्वाधिकारवादी। यदि कोई सचमुच में लोकतन्त्रवादी है, तो उसे प्रत्येक क्षेत्र में अपनी

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

इस प्रवृत्ति का परिचय देना होगा। अतः लोकतन्त्र के समर्थक दलों के लिए यह आवश्यक है कि वे इसकी अन्तर्वस्तु का निर्धारण कर ईमानदारी से यह बताएँ कि वे इसका इस्तेमाल किस रूप में करना चाहते हैं।

ब्रिटिश प्रतिमान के संसदीय लोकतन्त्र के तीन स्तम्भ हैं—न्यायपूर्ण और स्वतन्त्र निर्वाचन, विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता जिसमें कि प्रेस की स्वतन्त्रता भी शामिल है और न्यायपालिका की स्वतन्त्रता। साम्यवादी श्रीमती इन्दिरा गांधी के माध्यम से संसदीय लोकतन्त्र के इन तीनों स्तम्भों को ध्वस्त करने की कोशिश कर रहे हैं। कोई भी लोकतन्त्र में निष्ठा रखने वाला व्यक्ति यह बर्दाश्त नहीं कर सकता है कि चुनावों में धोखाधड़ी हो, विचार और प्रेस की स्वतन्त्रता को समाप्त किया जाये और न्यायपालिका की स्वाधीनता के रास्ते में रोड़े अटकाये जायें। अतः लोकतान्त्रिक एकता का पहला बुनियादी आधार-स्तम्भ यह है कि ऐसे मोर्चे के घटक अकेले अथवा संयुक्त रूप में किसी भी प्रकार के साम्यवादी दल से कोई सम्पर्क न रखें और न ही वे किसी रूप में मूल अधिकारों को कम करने और न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को कम करने के पक्ष का समर्थन करें।

फिर, राष्ट्रवाद का प्रश्न आता है। राष्ट्र और राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रीय संकल्पनाएँ हैं और इनके बारे में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। भारत में इन संकल्पनाओं का अर्थ, आधार और अन्तर्वस्तु परिवर्तित करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

आम तौर पर राष्ट्र की तुलना एक जीवन्त मानव से की जाती है। किसी देश की विशिष्ट भूमि राष्ट्र के भौतिक शरीर के समान होती है और उस देश की परम्परा और संस्कृति और उसके लोगों का विशिष्ट व्यक्तित्व राष्ट्र की आत्मा समझा जाता है। देश की भूमि, और उसकी संस्कृति और उसकी परम्परा के प्रति निष्ठा और अपनत्व की भावना राष्ट्र के निर्माण में एक आवश्यक तत्त्व समझा जाता है। किसी भी प्रकार के भावनात्मक सम्बन्ध के बिना उस देश में जन्म लेने से ही कोई व्यक्ति वास्तविक अर्थों में राष्ट्र का अंग (नागरिक) नहीं बन जाता है यद्यपि तकनीकी दृष्टि से वह उसी देश का नागरिक माना जायेगा। यह अपनत्व की भावना उसी प्रकार होती है जैसी कि एक बच्चे की माँ के प्रति और किसी व्यक्ति की अपने पैतृक घराने के प्रति होती है। राष्ट्रवाद का उद्देश्य प्रत्येक नागरिक को सच्चा राष्ट्रवादी बनाना होता है इसलिये इसका नागरिकों के धर्म और धार्मिक रीति-रिवाजों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह उसके व्यक्तिगत मामले होते हैं। भारतीय संस्कृति और परम्परा ने हमेशा ही दूसरों के धार्मिक रीति-रिवाजों के प्रति आदर का भाव रखा है: सर्व-धर्म-समभाव इसका ऋग्वेद के समय से ही मूलमन्त्र रहा है। परन्तु कोई भी उपासना विधि अथवा धर्म देश के प्रति निष्ठा के मार्ग में बाधक नहीं होना चाहिए और न ही वे देश की संस्कृति और परम्परा के प्रति उसके अपेक्षित दृष्टिकोण को प्रभावित करने वाला होना चाहिए। संस्कृति का सम्बन्ध देश के साथ होता है, धर्म के साथ नहीं। समस्त यूरोप ईसाई धर्म का अनुयायी है, परन्तु वहाँ पर विशिष्ट जर्मन संस्कृति, विशिष्ट इतालवी संस्कृति और विशिष्ट फ्रेंच संस्कृति है। यही बात ईरान, तुर्की और अन्य पश्चिमी एशियायी देशों के बारे में भी सत्य है। वह अधिकतर मुस्लिम देश हैं, परन्तु उन सभी की अपनी विशिष्ट संस्कृतियाँ हैं। अतः अलग मुस्लिम संस्कृति की बात करना और उसके आधार पर द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त की चर्चा करना भारतीय राष्ट्रवाद को नकारना है। इसलिए मुस्लिम लीग अथवा ऐसे ही किसी अन्य

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

दल के साथ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से किसी प्रकार का सम्बन्ध रखना अथवा उन्हें प्रोत्साहित करना द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त का समर्थन करना है और यह स्वीकार करना है कि मुस्लिम संस्कृति भारतीय संस्कृति से कुछ भिन्न है। इसी प्रकार संविधान में सभी नागरिकों को जो मूल अधिकार प्रदान किये गये हैं, उनसे भिन्न जाति विशेष के विशिष्ट अधिकारों की चर्चा करना और राष्ट्रीय संस्कृति और अधिकारों के स्थान पर मुस्लिम संस्कृति और मुसलमानों के अधिकारों पर बल देना भारतीय राष्ट्रवाद का निराकरण समझा जायेगा। यदि मुसलमान भारतीय संस्कृति को अपना लेते हैं तो इससे उनके इस्लाम धर्म का अनुयायी होना किसी प्रकार भी कम नहीं होता है। हाँ, इससे उन्हें अपना अरबीकरण अवश्य छोड़ना पड़ेगा। उन्हें मुस्लिम भारतीय के रूप में रहना चाहिए न कि अरबी भारतीयों के रूप में। इस दिशा में ईरान और इण्डोनेशिया के मुसलमान राष्ट्रवादी होने का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

यह सोचना गलत है कि धर्म के आधार पर साम्प्रदायिकता ही राष्ट्रीय एकता के लिए एकमात्र खतरा है। जाति और भाषा के आधार पर साम्प्रदायिकता भी उतनी ही खतरनाक हो सकती है। किसी जाति, धर्म अथवा भाषा से सम्बन्धित होना अपने आपमें किसी भी प्रकार से गलत नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार किसी भाषायी अथवा धार्मिक गुट से सम्बन्धित होना और उसके प्रति अपनत्व की भावना विकसित करना भी किसी प्रकार से बुरा नहीं है परन्तु ऐसे गुटों के लिए विशेषाधिकारों की माँग करना और ऐसे गुटों के अधिकारों और हितों को राष्ट्रीय अधिकारों और हितों पर प्राथमिकता प्रदान करना साम्प्रदायिकता की पराकाष्ठा होगी। वर्तमान स्थिति में जो लोग धर्म के आधार पर साम्प्रदायिकता की निन्दा करते कभी नहीं अघाते स्वयं ही जातियों और भाषा के आधार पर निकृष्ट गुटों की साम्प्रदायिकता को हवा देते हैं। अतः विचारों के ध्रुवीकरण के लिए भारतीय राष्ट्रवाद के मुख्य स्रोतों और साम्प्रदायिकता के तत्त्वों और शक्तियों को अच्छी प्रकार से समझना और उनके बारे में स्पष्ट दृष्टिकोण विकसित करना आवश्यक है। विचारों का यह ध्रुवीकरण राजनीतिक दलों के ध्रुवीकरण से पहले होना आवश्यक है।

जहाँ हमने एक बार राष्ट्रवाद और साम्प्रदायिकता की अन्तर्वस्तु के बारे में स्पष्ट रूप से समझ लिया वहीं, धर्मनिरपेक्षता के नाम पर फैलाया जा रहा भ्रम भी अपने आप दूर हो जायेगा। आज इंग्लैण्ड, संयुक्त राज्य अमरीका, यूगोस्लाविया, मलैशिया आदि धर्मनिरपेक्ष देशों में धर्मनिरपेक्षता का जो अर्थ है, भारत में भी उसका अर्थ वही होगा, उससे भिन्न नहीं। भारत में धर्मनिरपेक्षता के स्थान पर सर्वधर्म-समभाव की संकल्पना को स्वीकार करना अधिक समीचीन होगा। अधिक से अधिक धर्मनिरपेक्षता एक नकारात्मक संकल्पना है। धर्मनिरपेक्ष राज्य एक धर्मसापेक्ष राज्य का विलोम है। बहुत से विद्वानों के अनुसार जब तक कोई धर्मविरोधी अथवा नास्तिक न हो जाये वह सही अर्थों में धर्मनिरपेक्ष नहीं हो सकता। यही कारण है कि वे एक साम्यवादी राज्य को ही धर्मनिरपेक्ष राज्य मानते हैं। इसके विपरीत सर्वधर्म-समभाव एक सकारात्मक संकल्पना है जिसे भारतीय लोग अच्छी तरह से समझ सकते हैं और जो भारतीय परिस्थितियों के अधिक अनुकूल है। अतः यह धर्मनिरपेक्षता का सही विकल्प है।

जहाँ तक सामाजिक और आर्थिक नीति का सम्बन्ध है सामाजिक परिवर्तन और समता के आधार पर ऐसे समाज का निर्माण करने के बारे में कोई मत-वैभिन्न्य नहीं हो सकता

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

जिसमें कि सभी नागरिकों के लिए काम पाने का अधिकार हो और न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने का अधिकार सुनिश्चित किया जाये। परन्तु सवाल यह है कि इसको किस प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है। लोकतन्त्र के समर्थक इन अपेक्षित परिवर्तनों को लाने के लिए किसी हिंसात्मक और अवैध तरीके को अपनाने के पक्ष में नहीं हैं, इसे संविधान के ढाँचे में शान्तिपूर्ण तरीकों से लाया जाना चाहिए।

जनसामान्य के आर्थिक कल्याण और सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए अन्य बुनियादी आवश्यकताओं के बारे में भी हमें अच्छी तरह से जागरूक होना चाहिए। सभी लोगों को काम देने के लिए और बेरोजगारी को समाप्त करने के लिए तथा सब लोगों के लिए कम से-कम भोजन, मकान, कपड़ा, औषधि और शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए भारत को अपना उत्पादन बढ़ाना चाहिए और यह सब इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि अधिक सामान की पैदावार के साथ-साथ रोजगार के भी अधिक अवसर प्रदान किये जा सकें। इसके लिए उत्पादन-अभिमुख और रोजगार-अभिमुख आर्थिक नीति और नियोजन की आवश्यकता है क्योंकि हमारी जनसंख्या का 82 प्रतिशत गाँवों में रहता है और उनमें से 73 प्रतिशत लोगों की आजीविका का साधन कृषि है। अतः हम अपने अधिकांश लोगों की हालत में उस समय तक सुधार नहीं ला सकते जब तक कि हम गाँव और कृषि की अवहेलना करते रहते हैं और हमारे अधिकांश लोगों को इस आर्थिक अवसर और शक्ति में सुधार की सुविधाएँ सुलभ नहीं की जातीं। अतः यह आवश्यक है कि भारतीय आर्थिक प्रणाली ग्राम-अभिमुख हो और इसमें सिंचाई सुविधाओं और अच्छे औजारों, अच्छी उपजों और सस्ते खाद की व्यवस्था करके श्रम-प्रधान कृषि को प्राथमिकता प्रदान की जाये।

परन्तु समाजवाद के नाम पर हम जिस नीति का अनुसरण कर रहे हैं, उसका प्रभाव इसके प्रतिकूल ही हो रहा है। इससे उत्पादन के मार्ग में बाधा पड़ती है, रोजगार के अवसर सीमित हो जाते हैं और इससे शहरी इलाकों को प्रोत्साहन मिलता है, और छोटे उद्योगों, कृषि, ग्रामीण क्षेत्रों और असंगठित श्रम शक्ति के बहुत बड़े भाग और सामान्य उपभोक्ताओं की कीमत पर भारी उद्योग और संगठित श्रम को प्रश्रय मिलता है। अतः यह समाजवाद वास्तविक 'जनकल्याण' का निषेध है। आर्थिक विषयों और इस बात को अच्छी तरह से समझने से ही कि भारत के लिए उत्पादन और रोजगार अभिमुख विकेन्द्रित और प्रतियोगितापूर्ण अर्थव्यवस्था की आवश्यकता है, जिसे जनकल्याणवादी अर्थव्यवस्था की संज्ञा भी दी जा सकती है, राष्ट्रवादी और लोकतान्त्रिक दलों के ध्रुवीकरण के लिए आर्थिक क्षेत्रों में अपेक्षित सैद्धान्तिक आधार सुलभ हो सकता है। यह जनकल्याणवादी अर्थव्यवस्था इस केन्द्रीकृत और नियन्त्रित (रेजिमेन्टिड) अर्थव्यवस्था से भिन्न है जिसकी परिणति सर्वाधिकारवाद के रूप में होती है। समाजवादी अर्थव्यवस्था का वास्तविक अर्थ और उद्देश्य यही होता है कि केन्द्रीकृत और नियन्त्रित अर्थव्यवस्था की स्थापना की जाये।

विदेश नीति के क्षेत्र में, हमें इस बात का अच्छी तरह से एहसास कर लेना चाहिए कि साम्राज्यवाद-विरोध, उपनिवेशवाद-विरोध, गुटनिरपेक्ष नीति और विश्वशान्ति के नारों का राष्ट्रीय विदेश नीति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता है। विदेश नीति का निर्माण राष्ट्रीय उद्देश्यों और हितों, विशेषकर रक्षा के क्षेत्र में, के स्पष्ट उन्नयन के आधार पर किया जाना चाहिए।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारत को, रक्षा की दृष्टि से, उत्तर और पश्चिम से चीन और पाकिस्तान की ओर से मुख्य खतरा है। हिन्द महासागर से ब्रिटिश और अमरीकी सेनाओं की वापसी के कारण उत्पन्न शक्ति-रिक्तता की अवस्था भी भारत की सुरक्षा की दृष्टि से चिन्ता का मुख्य विषय है। अतः राष्ट्रीय विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य पाकिस्तान और चीन के विरुद्ध विश्वसनीय मित्र और सहयोगी ढूंढ़ना और हिन्द महासागर क्षेत्र को शत्रु पक्ष के हस्तक्षेप से मुक्त रखना है।

लोकसभा के पिछले निर्वाचनों के पश्चात् की दो मुख्यतया महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं—चीन-अमरीकी सम्बन्धों मे सुधार और भारत-सोवियत संघ मैत्री संधि। इन घटनाओं के बारे में सत्तारूढ़ कांग्रेसी दल और इसके साम्यवादी सहयोगियों का दृष्टिकोण तो स्पष्ट ही है। भारत-सोवियत सन्धि ने साम्यवादी दल के लिए तो उद्धारक का काम किया है और वह श्रीमती इन्दिरा गांधी के लिए एक नया प्रवर्द्धक सिद्ध हुई है।

जहाँ तक भारत-सोवियत सन्धि का सम्बन्ध है, भारत की राष्ट्रवादी और लोकतान्त्रिक शक्तियों को इस आशंका से सतर्क रहना चाहिए कि कहीं यह भारत को एक ऐसे सर्वाधिकारवादी राज्य के रूप में परिवर्तित करने की दिशा में पहला कदम न हो, जो सोवियत संघ की हाँ में हाँ मिलाने के लिए तैयार रहे। अतः उन्हें इस बात का आग्रह करना चाहिए कि भारत इसी प्रकार की सन्धियाँ अन्य गैर-साम्यवादी राज्यों—जापान, आस्ट्रेलिया और अमरीका आदि से भी करे। उन्हें यह भी देखना चाहिए कि भारत की अमरीका और सोवियत संघ पर आश्रितता कम हो जाये और वह आर्थिक तथा सैनिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बन जाये। इसके साथ ही राष्ट्रवादी और लोकतान्त्रिक दलों को साम्यवादी दल और कांग्रेस के भीतर साम्यवादी दल के पिछलग्गुओं की गतिविधियों के प्रति भी सतर्क रहना चाहिए।

सामाजिक और शैक्षिक क्षेत्रों में राष्ट्रीय और लोकतान्त्रिक दलों को समान व्यवहार-संहिता और शिक्षा-प्रणाली के पुनर्विन्यास का समर्थन करना चाहिए। शिक्षा-प्रणाली को व्यावसायिक आधार प्रदान करने के साथ-साथ नैतिक आधार प्रदान करने की भी आवश्यकता है। उच्चतर शिक्षा-संस्थाओं के सम्बन्ध में, जिनमें अलीगढ़ और बनारस विश्वविद्यालय भी सम्मिलित हैं, एक-सी नीति का पालन होना वांछनीय है ताकि शिक्षा विघटन की बजाय राष्ट्रीय एकता का साधन बन सके।

अगर उपर्युक्त धाराओं को ध्यान में रखकर एक बार विचारों का ध्रुवीकरण हो जाय तो उसके पश्चात् उन तत्त्वों और दलों का एक संयुक्त मंच पर एकत्रित होना कोई अधिक कठिन कार्य नहीं होना चाहिए जो इस कार्यक्रम के अनुसार सहमत हैं। जनमत का पर्याप्त बल तैयार कर उन नेताओं के प्रतिरोध का अन्त किया जा सकता है जिनके इस बारे में निहित स्वार्थ हैं कि उनके दलों का पृथक् अस्तित्व बना रहे।

आशा करनी चाहिए कि निकट भविष्य में भारत में इस प्रकार का विचारों और दलों का ध्रुवीकरण मूर्त रूप ग्रहण करेगा। देश में दलों की विविधता को समाप्त करने और लोकतन्त्र का मार्ग प्रशस्त करने के लिए इस प्रकार का ध्रुवीकरण आवश्यक है। इस प्रक्रिया में कुछ समय लगा तो हो सकता है कि सर्वाधिकारी शक्तियाँ समस्त देश में छा जायें और राष्ट्रवादी तथा लोकतान्त्रिक दलों का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाय। अतः इन दलों के नेताओं को शीघ्र ही इस दिशा में कार्यरत होना चाहिए, कहीं हमें 'का वर्षा जब कृषि सुखाने' की स्थिति का सामना न करना पड़े।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

1971 के लोकसभा के चुनाव

सुशील चन्द्र सिंह

इस लेख में यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि 1971 के लोकसभा के चुनावों में नई कांग्रेस की अत्यधिक विजय क्यों हुई ? यहाँ पर लोकसभा के विघटन के प्रश्न का संक्षेप में परीक्षण करना अनुचित नहीं होगा । लोकसभा का कार्यकाल साधारणतः पाँच वर्ष होता है । जिस लोकसभा का चुनाव 1967 में हुआ था उसे मार्च, 1972 तक कार्य करते रहना चाहिए था । परन्तु प्रधानमन्त्री ने राष्ट्रपति को परामर्श दिया कि वह उसे कुछ समय पहले विघटित कर दे । इसलिए 27 दिसम्बर, 1970 को अपने कार्य-काल समाप्त होने के एक वर्ष से भी पहले ही लोकसभा को विघटित कर दिया गया । कुछ विशेष कारणोंवश प्रधानमन्त्री को यह पग उठाना पड़ा । 1967 के चुनाव में कांग्रेस दल को लोकसभा में अधिक बहुमत नहीं प्राप्त हुआ था । 1967 के साधारण चुनाव के एक सप्ताह बाद कांग्रेस दल को केवल 281 स्थान प्राप्त हुए । इस समय सदन की कुल सदस्य-संख्या 523 थी । नवम्बर 1969 में कांग्रेस में आपस में मतभेद हो गया और इसके फलस्वरूप कांग्रेस के सत्तारूढ़ दल की सदस्य-संख्या घटकर 225 रह गई । लोकसभा में सरकारी पक्ष अल्पमत में हो गया । परन्तु प्रधानमन्त्री ने दूसरे अन्य छोटे-छोटे दलों की सहायता प्राप्त करके सदन का विश्वास प्राप्त कर लिया । लोकसभा में स्पष्ट बहुमत के अभाव में सरकार ऐसी स्थिति में नहीं थी कि वह प्रगतिशील आर्थिक नीति अपनाये । प्रधानमन्त्री को दूसरे क्षेत्रीय दलों की इच्छाओं पर निर्भर रहना पड़ता था । वे सरकार को समर्थन देने का मूल्य माँगते थे और इस कारण अनेक अवसरों पर क्षेत्रीय दलों ने सरकार को उलझन में डाल दिया । कुछ दक्षिण पक्षी दलों ने यह आरोप लगाया कि सदन में अल्पमत होने के कारण सरकार की नीति निश्चित नहीं रही है और वह डाँवाडोल हो गई है । उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से यह भी संकेत किया कि जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिए प्रधानमन्त्री को आम चुनाव कराने चाहियें ।

सदन को शीघ्रता से विघटित करने के भी कुछ कारण थे । उच्चतम न्यायालय में सरकार द्वारा अपनायी गई बैंकों के राष्ट्रीयकरण की योजना को सफलतापूर्वक चुनौती दी गई । बड़ी कठिनाई के साथ सरकार इस योजना को कार्यान्वित कर सकी । भारतीय संविधान के अनुच्छेद 366(2) के अन्तर्गत राष्ट्रपति ने 6 सितम्बर, 1970 को देशी राजाओं की मान्यता को वापिस ले लिया । जब यह विषय उच्चतम न्यायालय के सम्मुख रखा गया तो न्यायालय ने इस पर विचार करने के लिए एक विशेष न्यायपीठ स्थापित कर दी । 15 दिसम्बर, 1970 को इस न्यायपीठ ने यह निर्णय लिया कि राष्ट्रपति का 6 सितम्बर, 1970 का आदेश अवैध है और इसे कार्यान्वित नहीं किया जा सकता । इन परिस्थितियों में सदन को विघटित करने के

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अलावा प्रधानमन्त्री के सम्मुख और कोई चारा ही नहीं था। उन्हें यह विश्वास था कि साधारण जनता उनकी नीतियों का समर्थन करेगी। इसीलिए उन्होंने राष्ट्रपति को लोकसभा को विघटित करने का परामर्श दिया जो कि एक असाधारण पग था। विरोधी दलों ने लोकसभा के विघटन की आलोचना की।

लोकसभा के आम चुनाव कराने की श्रीमती इन्दिरा गांधी की नीति न्यायोचित थी। ऐसा करके उन्होंने किसी भी सांविधानिक सिद्धान्त या प्रजातान्त्रिक परम्परा की अवहेलना नहीं की। विरोधी नेताओं को आलोचना राजनीतिक उद्देश्यों के कारण थी। सर आईवर जैनिंग्स का मत है, 'व्यवहार में पाँच वर्ष बीतने से पहले ही परामर्श मिलने पर सम्राट संसद का विघटन कर देता है, और 1929 व 1935 का अनुभव यह बताता है कि बहुत ही कम संसदें चार वर्ष से अधिक कार्य करेंगी। 1923, 1924 और 1931 में राजनीतिक कारणोंवश अपने साधारण कार्यकाल से पहले ही संसदें विघटित कर दी गई थीं।'[1] ब्रिटेन में पिछले कुछ समय तक मन्त्रिमण्डल ही विघटन का परामर्श देता था। परन्तु अब इस प्रथा में परिवर्तन हो गया है। अब प्रधानमन्त्री के परामर्श देने पर संसद का विघटन होता है। 1918 से लेकर अब तक विघटन का प्रश्न मन्त्रिमण्डल के सम्मुख नहीं आया है। श्री लॉयड जॉर्ज के समय से लेकर अब तक सब प्रधानमन्त्रियों ने विघटन करने के लिए परामर्श देने के अधिकार का समर्थन किया है।'[2] श्री चरणसिंह का यह मत था कि भारत के राष्ट्रपति को विघटन के सम्बन्ध में प्रधानमन्त्री द्वारा दिया गया परामर्श स्वीकार नहीं करना चाहिए था। इस सम्बन्ध में हम सर आईवर जेनिंग्स के अधिकृत मत का उल्लेख कर सकते हैं :

> 'पिछले सौ वर्षों में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जब मन्त्रिमण्डल के परामर्श देने पर सम्राट ने संसद को विघटित करना स्वीकार न किया हो। फिर भी यह परम्परा सदैव प्रचलित रही है कि आवश्यक परिस्थितियों के उत्पन्न होने की अवस्था में वह विघटित करने की सलाह को अस्वीकार कर सकता है। यह जानना कठिन है कि वे परिस्थितियाँ क्या होंगी। निर्वाचक-मण्डल को अपील करने का अर्थ सर्वोच्च सांविधानिक अधिकारी को अपील करना होगा। लार्ड बाल्फोर ने ठीक ही कहा है कि 'यदि संसद का विघटन बार-बार किया जाये तो संविधान को भली प्रकार कार्यान्वित नहीं किया जा सकता।' परन्तु अनेक बार विघटन करने की आवश्यकता तब पड़ती है जब संविधान के अन्तर्गत एक स्थायी बहुमत पर आधारित सरकार बनाना कठिन हो।'[3]

यहाँ पर यह कहना आवश्यक है कि श्रीमती इन्दिरा गांधी ने प्रधानमन्त्री के रूप में स्वयं संसद को विघटित करने की सलाह नहीं दी। उन्होंने संघीय मन्त्रिमण्डल की अनुमति लेकर यह सलाह दी। यह बात उनके आकाशवाणी के प्रसारण से स्पष्ट हो जाती है। जहाँ तक विघटन के समय को निर्धारित करने का प्रश्न है वह सरकार पर निर्भर करता है। श्रीमती गांधी ने दिसम्बर का अन्तिम सप्ताह अपने दल के अधिक अनुकूल समझा। विभिन्न उप-चुनाव

---

[1] सर आईवर जेनिंग्स, 'कैबिनेट गवर्नमेंट', पृ० 382।

[2] वही, पृ० 389।

[3] वही, पृ० 394।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विशेषकर मनीराम उप-चुनाव और राज्यसभा में प्रिवी पर्स के प्रश्न पर सरकार की पराजय के कारण देश में प्रधानमन्त्री की नीतियों के पक्ष में जनमत उत्पन्न हो गया। विघटन के लिए इससे उत्तम अवसर नहीं मिल सकता था।

अब हम उन तथ्यों पर विचार करेंगे जिनके कारण लोकसभा के चुनावों में नई कांग्रेस की महान् विजय हुई। श्रीमती इन्दिरा गांधी के दल ने बड़ी ही उत्तम नीति अपनाई, और विरोधी दलों ने त्रुटिपूर्ण मार्ग अपनाये जिनके कारण उनकी पराजय हुई। नई कांग्रेस की महान् विजय को 'निर्वाचक क्रान्ति, एक तूफान, एक चमत्कार, एक लहर और एक झंझावात' जैसे अनेक नाम दिये गये।[4] प्रेम भसीन इसे एक हिमानी या अद्भुत घटना बताते हैं। पहले हम प्रमुख राजनीतिक दलों के चुनाव-सम्बन्धी घोषणा-पत्रों का परीक्षण करेंगे।

नई कांग्रेस ने एक आकर्षक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया। इस घोषणा-पत्र में आर्थिक व सामाजिक समस्याओं पर अधिक बल दिया गया। इसमें विरोधी दलों की निन्दा नहीं की गई। इसमें उन विषयों पर अधिक बल दिया गया जो साधारण जनता को अधिक प्रभावित करते थे। घोषणा-पत्र के प्रारम्भ में एक उचित आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने पर बल दिया गया। दल द्वारा निर्धारित दस सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने का आश्वासन दिया गया। इस घोषणा-पत्र में यह भी व्यक्त किया गया कि सामाजिक न्याय के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को दूर करने के लिए संविधान में संशोधन भी आवश्यक है। इस दल ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि निजी सम्पत्ति को नष्ट करने का इसका कोई विचार नहीं है। '.... कांग्रेस की यह नीति है कि अधिक से अधिक मनुष्यों के पास भूमि हो जिससे कि वे सम्पत्ति के अधिकार का अनुभव कर सकें। नई कांग्रेस के अनुसार आर्थिक शक्ति और धन को कुछ मनुष्यों के हाथों में केन्द्रित करना प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त व सामाजिक न्याय के विरुद्ध था।'[5] नई कांग्रेस के चुनाव घोषणा-पत्र में उद्योगों के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई कि श्रमिकों को भी उनके प्रबन्ध में भाग लेने का अवसर दिया जाये।[6] इस घोषणा-पत्र में निजी क्षेत्र के विकास की आवश्यकता पर भी प्रकाश डाला गया। समस्त अल्पमतों के अधिकारों व हितों पर भी उचित बल दिया गया। घोषणा-पत्र में यह निश्चित रूप से बताया गया कि 'उर्दू भाषा को भी उचित स्थान दिया जायेगा जिससे उसे अभी तक वंचित रखा गया है।'[7] यदि केन्द्र में एक निर्बल सरकार होगी तो नई सरकार द्वारा निर्धारित नीतियों को कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। इसलिए इस दल के घोषणा-पत्र में एक दृढ़ व स्थायी सरकार की आवश्यकता पर बल दिया गया। घोषणा-पत्र का अन्तिम पैरा इस लेख का सार है। यह इस प्रकार है, 'दरिद्रता का अन्त होना चाहिए, असमानता कम होनी चाहिए, अन्याय दूर कर देना चाहिए।' घोषणा-पत्र में आडम्बरी नारों पर बल नहीं दिया गया। यह एक सन्तुलित प्रलेख है।

इसकी अपेक्षा पुरानी कांग्रेस का घोषणा-पत्र पक्षपातपूर्ण प्रतीत होता है और यह नई

---

[4] एम० ए० शंखधर, 'द लोकसभा इलेक्शन 1971 : ए पोस्टमार्टम', 'पार्लियामेन्टरी स्टडीज', जुलाई 1971, पृ० 15।

[5] घोषणा-पत्र का पैरा 17।

[6] वही, पैरा 30।

[7] वही, पैरा 56।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कांग्रेस के घोषणा-पत्र के समान आकर्षक नहीं है। इस घोषणा-पत्र के प्रारम्भ के वाक्यों में अचानक ही चुनावों को कराने की आलोचना की गई है। इसमें इसे हमारे देशवासियों के लिए एक गम्भीर चुनौती बताया गया है। यह आरोप लगाया गया है कि ऐसा करके देश की प्रजातान्त्रिक व्यवस्था को हिला दिया गया है। यह बताने का प्रयत्न नहीं किया गया है कि आम चुनाव किस प्रकार प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त की अवहेलना करते हैं। इस घोषणा-पत्र में 'उत्तरजीविता की सिद्धान्तहीन राजनीति', 'आर्थिक अव्यवस्था', 'सार्वजनिक व्यवहार के स्तरों में गिरावट', 'केन्द्र व राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध', 'स्वतन्त्र न्यायपालिका पर आक्रमण' इत्यादि का उल्लेख किया गया है। इन विषयों का सम्बन्ध साधारण जनता के लिए तात्कालिक नहीं है। पुरानी कांग्रेस के घोषणा-पत्र में अनेक आर्थिक विषयों का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है। ये विषय परमिट प्रदान करना, नागरिक गृह-निर्माण, कर-व्यवस्था, मूल्यों में वृद्धि, उचित मूल्य, न्यूनतम वेतन, भूमि सुधार, कुटीर उद्योग, स्वास्थ्य, मौलिक अधिकार, अल्पमतों की सुरक्षा इत्यादि हैं। यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि यह दल जनसाधारण की आर्थिक भलाई के विकास में अधिक रुचि रखता है। परन्तु पुरानी कांग्रेस के इस घोषणा-पत्र से जनता में उत्साह उत्पन्न नहीं हुआ। यह साधारण जनता को आकर्षित नहीं करता। यह अविभाजित कांग्रेस कार्यक्रम के कुछ विषयों की अक्षरशः प्रतिलिपि है।

स्वतन्त्र दल अनुदारवादियों का दल है। वह वर्तमान स्थिति को बनाये रखने के पक्ष में है। वह शीघ्रता से सामाजिक परिवर्तन करने में विश्वास नहीं रखता। वह समय के अनुकूल नहीं है। वह संविधान की रक्षा, विधि व व्यवस्था, स्वतन्त्रता की रक्षा इत्यादि पर बल देता है। इसका दर्शन नकारात्मक है। यह इस दल के चुनाव घोषणा-पत्र के अन्त में दिये गये सारांश से स्पष्ट होता है। यह सारांश इस प्रकार है। 'यह एक घोषणा-पत्र नहीं है परन्तु कार्य करने के लिए एक पुकार है। यह भारतवासियों के लिए एक युक्ति है कि उन्हें स्वतन्त्रता समाप्त होने से पहले जागृत हो जाना चाहिए और समय से पहले कार्य करना चाहिए। स्वतन्त्र दल भारतीय जनता से आग्रह करता है कि वह सत्तारूढ़ कांग्रेस दल को पराजित करे और उसे अस्वीकार करें क्योंकि वह समय के प्रतिकूल व आत्मघातक आर्थिक नीतियाँ अपना रहा है जिनके कारण शीघ्रता से प्रगति नहीं हो सकी है। पहले वर्तमान सरकार को हटाना चाहिए क्योंकि यह देश के आवश्यक आधारों को नष्ट कर रही है।' ऐसा नकारात्मक दृष्टिकोण जनता को प्रभावित नहीं करता।

भारतीय जनसंघ का चुनाव घोषणापत्र 'दरिद्रता के विरुद्ध युद्ध' शब्दों से प्रारम्भ होता है। परन्तु वास्तव में इसमें प्रधानमन्त्री की कटु आलोचना की गई है। श्रीमती इन्दिरा गांधी पर यह आरोप लगाया गया कि उन्होंने खुले रूप से राष्ट्र-विरोधी व प्रजातान्त्रिक विरोधी शक्तियों से सांठ-गांठ कर ली है। उन पर यह भी आरोप लगाया गया कि भविष्य में बनने वाले बजट के उन आर्थिक परिणामों से बचने के लिए लोकसभा का विघटन किया गया जिनके कारण सत्तारूढ़ दल के 1972 में होने वाले चुनावों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। घोषणा-पत्र में मुस्लिम लीग के कार्यों की भी निन्दा की गई और 'एक राष्ट्र : एक जनता' का नारा लगाया गया। सैद्धान्तिक रूप से इसमें दरिद्रता के विरुद्ध एक राष्ट्रीय युद्ध घोषित किया गया। परन्तु यह इस दल की प्रतिक्रियावादी आर्थिक नीतियों को न छिपा सका। राष्ट्रीयकरण की योजना का खुले रूप से समर्थन करने की अपेक्षा इस दल ने 'सार्वजनिक क्षेत्र का बिना सोचे

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

समझे किये गये विकास' का विरोध किया। यह दल इस तथ्य को न समझ सका कि राष्ट्रीयकरण चाहे लाभदायक हो या न हो वह एक उचित पग है। दल ने भारतीयकरण के द्वारा राष्ट्रीयकरण का समर्थन किया। इससे मुस्लिम जनता की सहानुभूति उनके साथ नहीं रही। घोषणा-पत्र के एक छोटे से वाक्य के कारण करोड़ों मुसलमान जनसंघ के विरुद्ध हो गये। वह वाक्य यह है 'यह दल उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, इत्यादि में उर्दू को दूसरी राजकीय भाषा बनाने के विरुद्ध है।'

भारतीय क्रान्ति दल भी एक दक्षिणपक्षी दल ही सिद्ध हुआ। इसके घोषणा-पत्र में शुद्ध व कार्यकुशल प्रशासन का उल्लेख किया गया और असैनिक सेवकों के अनुशासन पर बल दिया गया। इस दल ने न्यायपालिका व राज्यपालों की निष्पक्षता का समर्थन किया। इस दल का आर्थिक दर्शन बड़ा ही संकुचित था। इसका दृष्टिकोण अधिक स्थानीय व निकट भविष्य पर ही बल देने वाला था। दल ने सदैव छोटे किसानों के दृष्टिकोण से ही सोचा। इसका घोषणा-पत्र साधारण जनता को आकर्षित नहीं कर सका। साधारण जनता ने इसके घोषणा-पत्र पर गम्भीरता से विचार नहीं किया क्योंकि यह दल वास्तव में एक क्षेत्रीय दल था जिसका प्रभाव दिल्ली व बरेली के बीच उत्तर प्रदेश के कुछ पश्चिमी भागों तक सीमित था जहाँ पर ग्रामीण क्षेत्र में दो या तीन कृषक जातियों का प्रभुत्व है। जहाँ तक दूसरे राजनीतिक दलों के चुनाव घोषणा-पत्रों का सम्बन्ध है वे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं थे। जनता यह जानती थी कि वे किसी भी प्रकार की प्रतिज्ञा करें परन्तु वे कभी भी केन्द्र में सत्तारूढ़ नहीं बन सकते और उनकी नीतियों को कार्यान्वित करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

यद्यपि दक्षिणपक्षी विरोधी दलों ने अपने चुनाव घोषणा-पत्रों में आर्थिक व सामाजिक विषयों का उल्लेख अवश्य किया परन्तु उन्होंने चुनाव अभियान के बीच उन प्रश्नों पर अधिक बल नहीं दिया। केवल नई कांग्रेस ने ही आर्थिक समस्याओं का सामना दृढ़तापूर्वक किया और देश के आर्थिक विकास के लिए अपने सुझाव प्रस्तुत किये। इस दल ने दरिद्रता को हटाने और सामाजिक न्याय को प्राप्त करने के प्रश्नों को ही अपने चुनाव का आधार बनाया। इसने विरोधी दलों के नेताओं पर व्यक्तिगत आरोप नहीं लगाये। 21 फरवरी, 1971 को बख्तयारपुर में भाषण देते हुए श्रीमती गांधी ने कहा कि बैंकों के राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप छोटे किसानों को 153 करोड़ रुपये का ऋण दिया जा चुका है। नौकरियों की सम्भावना ढाई प्रतिशत बढ़ गई थी।[8] उसी दिन रांची में बोलते हुए उन्होंने जनता से अपील की कि लोकसभा के चुनाव में कांग्रेस उम्मीदवारों को मत देने का अर्थ समृद्धि व स्थिरता का समर्थन करना होगा। प्रधानमन्त्री ने जनता से आग्रह किया कि वे प्रत्येक विषय की यथार्थता को ध्यान में रखें। हजारीबाग में भाषण देते हुए श्रीमती गांधी ने कहा कि उनका दल यह नहीं चाहता कि धन कुछ थोड़े से ही व्यक्तियों के हाथों में एकत्रित रहे। उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया कि उनके विरोधी दलों ने अपने राजनीतिक हितों को ध्यान में रखकर इसका दुरुपयोग किया है। उन्होंने कहा कि इसमें क्या त्रुटि है, यदि हम साधारण मनुष्यों को भी आर्थिक विकास का लाभ उठाने दें।[9] 31 जनवरी को पूना में बोलते हुए श्री यशवन्तराव चव्हाण ने कहा कि उद्योगों का

[8] 'टाइम्स ऑफ इण्डिया', 22 फरवरी, 1971।

[9] 'सर्चलाइट', 22 फरवरी, 1971।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विकास हो रहा है, कृषि की उन्नति हो रही है और राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो रही है परन्तु साधारण जनता के जीवन पर अभी तक इस विकास का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। उन्होंने यह भी बताया कि 1971 के चुनाव देश के इतिहास में 'युग प्रवर्तक घटना' सिद्ध होंगे।[10] 13 फरवरी, 1971 को उत्तरी आर्काट में भाषण देते समय श्रीमती गांधी ने संकेत किया 'सामाजिक न्याय व समाज के पिछड़े हुए दलित वर्गों की असमानताओं को दूर किये बिना आर्थिक विकास का कोई अर्थ नहीं है।' उन्होंने आगे चलकर यह भी बताया कि लोकसभा के चुनाव कराने के अतिरिक्त उनके पास और कोई चारा ही नहीं था। उनका विश्वास था कि जनता उनके दल व प्रगतिशील नीतियों का समर्थन करेगी। और इस तरह का समर्थन प्राप्त करके वे देश में प्रजातान्त्रिक समाजवाद स्थापित कर सकेंगी, तथा जनता को शान्तिपूर्ण ढंग से सामाजिक न्याय मिल सकेगा।[11] ई० पी० डब्ल्यू० डी कोस्टा ने नई कांग्रेस को 'दरिद्र व्यक्तियों का दल' बताया है। भारी बहुमत से चुनाव जीतने पर भी प्रधानमन्त्री ने अपने आर्थिक कार्यक्रम को नहीं भुलाया है। उन्होंने जनता को यह दृढ़ विश्वास दिलाया है कि समाज का आर्थिक व सामाजिक भलाई के सम्बन्ध में दिये गये आश्वासनों को वे पूरा करेंगी।[12]

विरोधी नेताओं के वक्तव्य साधारण जनता को अधिक प्रभावित न कर सके। उन्होंने व्यक्तिगत प्रश्नों पर ही अधिक बल दिया और ऐसे प्रश्न उठाये जिनका चुनाव से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। पुरानी कांग्रेस के अध्यक्ष श्री एस० निजलिंगप्पा ने सत्तारूढ़ दल के उस निश्चय की कटु आलोचना की जिसके अनुसार उसने तमिलनाडु विधानमण्डल के आने वाले चुनावों के लिए किसी भी उम्मीदवार को खड़ा नहीं किया था। नई कांग्रेस के इस निश्चय से यह बात सिद्ध हो जाती थी कि श्रीमती गांधी केवल केन्द्र में ही शक्ति प्राप्त करने की इच्छुक थीं और अन्त में अपनी तानाशाही स्थापित करना चाहती थीं।[13] 7 फरवरी, 1971 को मद्रास में भाषण देते हुए श्री के० कामराज ने जनता से अपील की कि वे ऐसे उम्मीदवारों को अपना मत दें जो कि एक शुद्ध, कुशल व सच्चा प्रशासन स्थापित करने के योग्य हों और जहाँ पर घूस व भ्रष्टाचार के लिए कोई अवकाश न हो। उन्होंने प्रधानमन्त्री पर यह आरोप लगाया कि अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने तमिलनाडु प्रदेश में अपने दल का पूरा समर्थन डी० एम० के० को दे दिया जिससे कि लोकसभा के चुनावों में वह डी० एम० के० की सहायता प्राप्त कर सकें। उन्होंने यह भी मत व्यक्त किया कि प्रधानमन्त्री और सत्तारूढ़ दल का यह दावा कि वे समाजवाद के लिए संघर्ष कर रहे थे और एकाधिकारवादियों के विरुद्ध थे एक निराधार 'नाम मात्र का बहाना' था।[14] 15 फरवरी, 1971 के नई दिल्ली में दिये गये अपने एक वक्तव्य में श्री एस० निजलिंगप्पा ने कहा कि 'यदि भारत में कोई ऐसा व्यक्ति है जो झूठ व अर्ध-झूठ को मिलाता है तो वह प्रधानमन्त्री हैं।'[15] श्री चरणसिंह ने भी इसी प्रकार के विचार

---

[10] 'टाइम्स ऑफ इण्डिया', 1 फरवरी, 1971।
[11] वही, 14 फरवरी, 1971।
[12] 'हिन्दुस्तान टाइम्स', 15 मार्च, 1971।
[13] 'टाइम्स ऑफ इण्डिया', 2 फरवरी, 1971
[14] वही, 8 फरवरी, 1971।
[15] वही, 16 फरवरी, 1971।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

व्यक्त किये। उन्होंने कहा कि लोकसभा के चुनावों में भाग लेने का भारतीय क्रान्ति दल का मुख्य उद्देश्य 'कांग्रेस विरोधी भावनाओं को उत्तेजित करना' था और वे प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की नीतियों का दृढ़ता से विरोध करना चाहते थे।[16] उन्होंने तो यहाँ तक कह डाला कि उनका संघर्ष प्रधानमन्त्री के विरुद्ध था।[17] 18 फरवरी, 1971 के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में प्रकाशित अपने एक लेख में श्री चरणसिंह ने कोई दृढ़ आर्थिक कार्यक्रम प्रस्तुत नहीं किया परन्तु कुछ ऐसे विषयों का उल्लेख किया जिनका चुनाव से कोई सम्बन्ध नहीं था। डेविड लोशक ने श्रीमती गांधी को एक 'प्रचारक' बताया और कहा कि वे यथार्थ में एक सुधारवादी नहीं हैं। उन्होंने कहा कि भारत को परिवर्तन की आवश्यकता है, नारों की नहीं।[18] वह यह बात न समझ सके कि चुनाव आदर्शवाद के आधार पर नहीं जीते जाते वे तो ऐसे नारों से जीते जाते हैं जो जनता को प्रभावित कर सकें। एक लोकप्रिय नेता अपने कार्यक्रम को पूरा करने में सफल भले ही न हो सके परन्तु उसे चुनाव के समय जनता को प्रभावित करने की दक्षता रखनी चाहिए। जनता उग्रवादी नारों में विश्वास रखती है भले ही उनके परिणाम कुछ भी हों।

श्रीमती इन्दिरा गांधी अल्पसंख्यक वर्गों का सहयोग प्राप्त करने में सफल हुईं। श्री जगजीवन राम को विश्वास में लेकर उन्होंने हरिजनों की सहानुभूति प्राप्त कर ली। श्री जगजीवन राम चुनाव के समय नई कांग्रेस के अध्यक्ष थे। वे संघीय मन्त्रिमण्डल में एक महत्त्वपूर्ण स्थान लिये हुए थे। भारत में लगभग ८ करोड़ मुसलमान रहते हैं जिनमें चुनाव के समय ढाई करोड़ मतदाता थे। प्रधानमन्त्री ने चतुरता से उनका समर्थन भी प्राप्त कर लिया। 1967 के चुनावों में कुछ मुसलमान मतदाताओं ने उत्तर प्रदेश में भारतीय क्रान्ति दल का समर्थन किया था। इस समय अधिकतर मुसलमानों ने नई कांग्रेस का साथ दिया। पुरानी कांग्रेस जनसंघ से मिल गई और इस कारण मुसलमानों ने पुरानी कांग्रेस का साथ नहीं दिया। मुसलमानों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए श्रीमती इन्दिरा गांधी ने श्री फखरुद्दीन अली अहमद को भी अपने ही पक्ष में कर लिया। कश्मीर के मुसलमानों ने भी प्रधानमन्त्री का साथ दिया। मुसलमान मतदाताओं की सहायता प्राप्त करने के कारण अनेक चुनाव क्षेत्रों में नई कांग्रेस की विजय हुई। मुसलमान मतदाता अविभाजित कांग्रेस के परम्परागत समर्थक थे। सत्तारूढ़ दल ने उनके महत्त्वपूर्ण हितों को सुरक्षित रखने का आश्वासन दिया।

बिहार, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश की विभिन्न संयुक्त विधायक दल की सरकारों ने जनता के मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव डाला। इनके शासनकाल में अनेक झगड़े व मनमुटाव हुए। प्रतिदिन की अनिश्चितता से जनता तंग आ गई थी। ऐसी परिस्थितियों में कोई रचनात्मक कार्यक्रम नहीं बन सकता था। अस्थिर और निर्बल सरकारों ने असैनिक सेवकों को उत्साहहीन बना दिया था। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने संयुक्त विधायक दल की सरकारों की त्रुटियों का पूरा-पूरा लाभ उठाया और जनता के सम्मुख एक दृढ़ तथा स्थायी सरकार का स्वप्न रखा जो नई कांग्रेस ही पूरा कर सकती थी। विरोधी दलों ने 'महान् मैत्री' का निर्माण करके एक बड़ी भूल की। यह न तो महान् थी और न मैत्री। पुरानी कांग्रेस को अवश्य ही मुसलमानों के कुछ

---

[16] 'पैट्रीयट', 8 जनवरी, 1971।

[17] 'इण्डियन एक्सप्रेस', 8 जनवरी, 1971।

[18] 'सन्डे टेलीग्राफ', 21 फरवरी, 1971।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

मत मिल जाते। परन्तु जनसंघ के साथ मिल जाने से परिणाम उल्टा निकला। पुरानी कांग्रेस स्वतन्त्र दल से भी मिल गई। ऐसा करने से उसका समाजवादी दर्शन फीका पड़ गया और जनता की दृष्टि में उसे एक प्रगतिशील दल बताना कठिन हो गया। मैत्री स्थापित करने वाले दलों का यह कर्तव्य था कि ये एक न्यूनतम आर्थिक कार्यक्रम अपना लेते परन्तु ऐसा नहीं किया गया। इन दलों का केवल एकसूत्र कार्यक्रम था और वह था प्रधानमन्त्री को हटाना। कलकत्ते के एक प्रमुख दैनिक पत्र के सम्पादकीय लेख में इस तथ्य पर अधिक बल दिया गया है। उसने लिखा है : 'तथाकथित मैत्री एक तमाशा बन गई। वे दल जो इकट्ठा होना चाहते थे उनके पास केवल नकारात्मक कार्यक्रम ही था, और यह था श्रीमती गांधी का आँख मींचकर विरोध करना। इस आधार पर ही उनमें एकता हुई थी····।' इसी दैनिक पत्र ने नई कांग्रेस की तुलना एक महान् दानव से की है। नई कांग्रेस को दृढ़ नेतृत्व और सामान्य सिद्धान्तों की निष्ठा के कारण बल मिला और जनता के असीम विश्वास और सहयोग ने इसे अधिक शक्तिशाली बना दिया और इसके विपरीत दूसरी ओर ऐसे टूटे-फूटे राजनीतिक दल थे जो जनता का विश्वास प्राप्त न करने के कारण उदासीन हो चुके थे और जिनमें द्वेष व सन्देह के कारण फूट पड़ गई थी।[19]

विरोधी दलों, विशेषकर 'महान् मैत्री' के नेताओं, को यह अनुभव कर लेना चाहिए था कि देश के वातावरण में अब परिवर्तन हो चुका है। उन्हें बैंकों के राष्ट्रीयकरण, देशी नरेशों के प्रिवी पर्स की समाप्ति, इत्यादि से सम्बन्धित प्रगतिशील योजनाओं का विरोध नहीं करना चाहिए था। श्रीमती इन्दिरा गांधी के प्रभावशाली व्यक्तित्व ने भी नई कांग्रेस को चुनाव में सहायता दी। डेविड लोशक ने यह विचार व्यक्त किया है कि श्रीमती गांधी ऐसी भारतीय नेता हैं जिनके व्यक्तित्व ने साधारण जनता को प्रभावित किया है। वे ही ऐसी राष्ट्रीय नेता हैं जिनके व्यक्तित्व ने जनता के हृदय में जगह कर ली है। एक अन्य छोटा-सा कारण और है जिसने नई कांग्रेस को बल दिया। यह लोकसभा के चुनावों को विधानमण्डल के चुनावों से पृथक् करना था। वह ही उम्मीदवार लोकसभा के चुनावों में जीत सकता है जिसे एक शक्तिशाली दल का समर्थन प्राप्त हो। एक स्वतन्त्र उम्मीदवार या ऐसे उम्मीदवार के लिए जिसको धन की कमी है लोकसभा का चुनाव जीतना कठिन है। चूँकि विधानसभा के चुनाव नहीं हो रहे थे इसलिए लोकसभा के उम्मीदवारों को अपने स्वयं के साधनों पर ही निर्भर रहना पड़ा। विधानमण्डलों के चुनावों में जातीय व क्षेत्रीय मतभेदों का दुरुपयोग किया जा सकता है परन्तु लोकसभा के चुनावों में राष्ट्रीय प्रश्नों को ही प्राथमिकता दी जाती है और स्थानीय विषय पीछे फेंक दिये जाते हैं। यही कारण है कि अकाली दल की पंजाब में पराजय हुई। लोकसभा के चुनावों को विधानमण्डल के चुनाव से पृथक् रखने की नीति सफल हुई।

---

[19] 'अमृत बाजार पत्रिका', 17 मार्च, 1971।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उत्तर प्रदेश में संविद राजनीति

सत्यपाल मलिक

प्रेरक तत्त्व

उत्तर प्रदेश आबादी व आकार के लिहाज से तो भारत का सबसे बड़ा प्रदेश है ही, भारतीय राजनीति में भी यह सूबा एक हद तक निर्णायक और नियामक है। उत्तर प्रदेश में गैर-कांग्रेसवादी और संविद राजनीति पर विचार करने के पहले यह जान लेना उचित होगा कि आजादी की लड़ाई में उत्तर प्रदेश देश का सबसे ज्यादा सक्रिय प्रदेश था। इसकी कुल आबादी का बड़ा प्रतिशत आजादी की लड़ाई से जुड़ा था। आजादी के संघर्ष और कांग्रेस के इतिहास पर इस प्रदेश का गहरा असर रहा। आजादी के बाद भी उत्तर प्रदेश देश की राजनीति में निर्णायक तत्त्व रहा और इस प्रदेश ने देश को तीन-तीन प्रधानमन्त्री दिये। लेकिन साथ ही आजादी के 24 साल बाद भी उत्तर प्रदेश देश का सबसे गरीब और पिछड़ा इलाका है। यहाँ की औसत प्रति व्यक्ति आमदनी सबसे कम है। कांग्रेस की टूट के बाद संगठन कांग्रेस के श्री चन्द्रभानु गुप्त ने जो उस समय प्रदेश के मुख्यमन्त्री थे, प्रधानमन्त्री पर इलजाम लगाया था कि वह उत्तर प्रदेश के विकास में अवरोध का कारण हैं और सूबे को पर्याप्त आर्थिक सहायता नहीं दे रही हैं। वस्तुतः तीन प्रधानमन्त्री देने वाले सूबे को काफी कुछ इसके बदले खोना पड़ा है और वह आज विपन्नता और गरीबी का द्वीप बनकर रह गया है। सारे देश को प्रधानमन्त्री के अलावा कुली और मजदूर भी सबसे बड़ी तादाद में उत्तर प्रदेश ने दिये हैं। प्रतिव्यक्ति वार्षिक आय व अन्य आर्थिक मानदण्डों के आधार पर उत्तर प्रदेश के 54 जिलों में से 36 जिले पिछड़े जिले घोषित कर दिये गये हैं। प्रति व्यक्ति वार्षिक औसत आय कम से कम 129 रुपये है और अधिक से अधिक 385 रुपये। और यदि सिर्फ प्रति व्यक्ति औसत आय को ही आधार मानकर चला जाय तो कम से कम 15 और जिले 'पिछड़े' जिले होने की पारिभाषिक सीमा में आ जाते हैं। हर वर्ष किसी न किसी जगह अकाल की स्थिति जरूर आ जाती है। बरसात में बाढ़ की तबाही का भी यह सूबा सर्वाधिक शिकार होता है। बाढ़, अकाल, लू और सर्दी से मरने वालों की तादाद उत्तर प्रदेश में सबसे ज्यादा है। हर तरह विपन्नता और गरीबी इसी प्रदेश के हिस्से में सबसे ज्यादा आई है।

चौथे आम चुनावों के बाद उत्तर प्रदेश गैर-कांग्रेसी और संविद राजनीति की प्रयोग-शाला बन गया था। कांग्रेस टूटने के बाद जब दोनों कांग्रेस अपने अस्तित्व, जीवन, मरण और भविष्य की लड़ाई लड़ रही थीं उस समय उत्तर प्रदेश की राजधानी को प्रधानमन्त्री के लिए 'वाटरलू' कहा जाता था और यह बात आज भी सच है। केन्द्रीय राजनीति पर सब से गहरा असर डालने में यह प्रदेश राजनीति का सर्वाधिक संवेदनशील क्षेत्र है। गरीबी, अशिक्षा,

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विपन्नता और सांस्कृतिक बिखराव के बावजूद उत्तर प्रदेश के लोगों में राष्ट्रीय दृष्टि सर्वाधिक विकसित है और यहाँ यह सम्भव और सामान्य बात है कि यहाँ का मुख्यमन्त्री एक गैर-उत्तर प्रदेशीय हो सकता है (श्रीमती सुचेता कृपलानी)। उत्तर प्रदेश में जाति पर आधारित राजनीति पायी जा सकती है परन्तु पूरा प्रदेश राष्ट्रीय सन्दर्भ में जाति या धर्म या किसी एक समूह का प्रतीक नहीं है और व्यापक तथा उदार विचारों का प्रतिनिधि प्रदेश है।

उत्तर प्रदेश अपने विशिष्ट चरित्र और बनाव के कारण अपने इतिहास की खूबियों और खामियों के कारण राजनीति के लिए उपजाऊ है। देश की राजनीति में परिवर्तन की सबसे ज्यादा और गहरी सम्भावनाएँ उत्तर प्रदेश में निहित हैं।

चौथे आम चुनावों के पहले से ही उत्तर प्रदेश में कांग्रेस यद्यपि बहुमत में थी परन्तु विभक्त थी। कांग्रेस के अन्दर सदैव दो गुट काम करते थे। पंत जी के दिल्ली में गृहमन्त्री बन कर आ जाने पर यह गुटबाजी और बढ़ गयी। स्पष्टतः दो गुट बने, एक सत्तारूढ़ और मन्त्रि-मण्डलीय गुट और दूसरा उसका विरोधी। गुटों में कांग्रेस के इस विभाजन का कोई सैद्धान्तिक आधार नहीं था बल्कि विशुद्ध सत्ता-लिप्सा और निजी पसन्द-नापसन्द मुख्य कारण थे। दूसरे और तीसरे निर्वाचनों में कांग्रेस के प्रति लोगों की आस्था घटी और कांग्रेस की शक्ति भी घटी। लेकिन विरोधी दलों में शक्ति और एकता के अभाव और उनकी साधनहीनता के कारण कांग्रेस अपना शासन और धाक कायम रखने में कामयाब रही।

चौथे आम चुनावों में उत्तर प्रदेश में कांग्रेस को पूर्ण बहुमत नहीं मिल सका। लेकिन अन्य दलों से आने वाले कुछ विधायकों और निर्दलीय विधायकों को साथ मिलाकर कांग्रेस किसी तरह अपनी सरकार बनाने में कामयाब हो गयी। यह सरकार सिर्फ अट्ठारह दिन चल पायी और इसके बाद प्रदेश में श्री चरणसिंह के नेतृत्व में पहली गैर-कांग्रेसी सरकार बनी। उसके बाद से आज तक प्रदेश में दो गैर-कांग्रेसी सरकारें बन और टूट चुकी हैं। संविद और गैर-कांग्रेस राजनीति को इस अरसे की उत्तर प्रदेश राजनीति ने कई बड़े सबक दिये हैं। इस दौरान संविद राजनीति के खटमिट्ठे अनुभवों के आधार पर न सिर्फ संविद व गैर-कांग्रेसी राजनीति के इतिहास की जानकारी सुलभ है बल्कि गैर-कांग्रेस और संविद राजनीति के भविष्य की रणनीति के लिए जरूरी तत्त्व इससे निकाले जा सकते हैं।

असल में गैर-कांग्रेसवाद और संविद राजनीति के अगर कोई सिरजनहार थे तो वह डा० राममनोहर लोहिया थे। इसमें कोई शक नहीं परन्तु यह सही नहीं कि गैर-कांग्रेसवाद का प्रारम्भ डा० लोहिया ने किया और उन्हीं के साथ इसका अन्त हो गया।

1967 के आम चुनाव के आस-पास, थोड़ा पहले, चुनाव के दिनों में, उसके नतीजों में, और बाद के कुछ महीनों में यह साफ दिखाई देने लगा कि देश को परिवर्तन की भूख लगने लगी है। आम चुनाव के पहले देश में कांग्रेस के प्रति व्यापक असंतोष था। लेकिन यह बँटा हुआ था—दिशाहीन और एक हद तक नेतृत्वहीन भी। यह असन्तोष कितना व्यापक और सम्भावनाओं से युक्त था इसका अन्दाज राजनेताओं में अकेले डा० लोहिया को था। लोहिया को अन्दाज था इसलिए उन्होंने एक व्यापक गैर-कांग्रेसी मोर्चा बनाने की कोशिश की। यों संसोपा और लोहिया गैर-कांग्रेसवाद की अपनी नीति की शुरूआत 1963 में ही कर चुके थे। पर उसे सार्थक करने का मौका 1967 में आया। लोहिया ने चौथे आम चुनावों में कांग्रेस की सम्भावित पराजय को देखकर उससे उत्पन्न होने वाले अन्तराल को भरने के लिए

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संविद की कल्पना की । जनसंघ और कम्युनिस्ट दोनों उस अन्तराल से डरते थे और अन्तराल के समय उत्पन्न होने वाले जोखिम से जूझने से बचते थे । यह डर भी एक हद तक कांग्रेस को जीवनी शक्ति देता था और जनसंघ व साम्यवादियों के कांग्रेस विरोध को ठूँठा बनाता था । चुनाव के बहुत पहले डा० लोहिया ने सब गैर-कांग्रेसी दलों के नेताओं को चिट्ठी लिखी जिसमें उन्होंने एक गैर-कांग्रेसी मोर्चा बनाने की बात शुरू करने को लिखा था । अन्य विरोधी दलों के नेता यद्यपि सिद्धान्ततः लोहिया से सहमत हुए लेकिन व्यावहारिक तौर पर कोई नतीजा नहीं मिला । सिर्फ आंशिक सफलता मिली । न साम्यवादी जनसंघ के साथ बैठने को तैयार थे और न जनसंघ साम्यवादियों के साथ । अन्ततः उत्तर प्रदेश में साम्यवादी दल (दोनों), प्रजा समाजवादी पार्टी, रिपब्लिकन पार्टी और संसोपा में चुनाव समझौता हुआ । जनसंघ और स्वतन्त्र इस से अलग रहकर चुनाव लड़े ।

चुनाव के पहले डा० लोहिया को आभास था कि कुछ प्रदेशों में कांग्रेस बहुमत में नहीं आ पायेगी लेकिन कोई अकेली दूसरी पार्टी भी उसकी जगह लेने की स्थिति में नहीं होगी । अतः उस समय पैदा होने वाले अन्तराल को भरने और कांग्रेस के विकल्प के तौर पर उभरने के लिए उन्होंने संविद सरकारें बनाने की कल्पना की । वे चुनाव के बहुत पहले इन संविद सरकारों, उनके कर्तव्यों और उनकी खूबियों, खामियों और उनके भविष्य के बारे में विस्तार से चिन्तन कर चुके थे । संसोपा के 1967 के चुनाव घोषणा-पत्र की शुरूआत ही उन्होंने संविद सरकारों की कल्पना से की । डा० लोहिया गैर-कांग्रेसवाद और संविद सरकारों को अन्ततः केन्द्र से कांग्रेसी कुशासन समाप्त करने का हथियार मानकर चले थे । इसलिए उन्होंने चुनाव के पहले और बाद में भी गैर-कांग्रेसवाद को एक नीति के रूप में चलाया । अन्य दलों ने जनमत के दबाव के फलस्वरूप ही इसे किसी हद तक अपनाया । वास्तव में सरकार बनाने की स्थिति जब पैदा हो गयी, तभी इन दलों ने गैर-कांग्रेसवाद को स्वीकार किया और जनसंघ और साम्यवादी (दक्षिणपंथी) एक साथ बैठने को राजी हुए । यह वास्तव में गैर-कांग्रेसवाद की नहीं राजनीतिक अवसरवाद की विजय थी ।

गैर-कांग्रेसवाद की परिकल्पना सिर्फ कुर्सी हथियाने या सरकारें बनाकर उन्हें किसी भी तरह चलाते रहने के लिए नहीं की गई थी । चुनाव के पहले पत्रकारों से बात करते समय और जन सभाओं में डा० लोहिया ने गैर-कांग्रेसवाद की साफ और प्रखर तस्वीर उकेरी थी । गैर-कांग्रेसवाद केन्द्र से कांग्रेस को समाप्त करने के लिए राज्यों की राजधानियों में गैर-कांग्रेसी क्रान्तिकारी सरकारें कायम करने का सपना था जिसके तहत ऐसी सरकार बनती जिसके कामों में बिजली की सी चमक और सूर्य का सा स्थायित्व होता और जो अपने कामों से जनता के समक्ष स्पष्ट करती कि विभिन्न गैर-कांग्रेसी दल मिलकर लोक इच्छा के अनुरूप परिवर्तनकारी सरकार बना सकते हैं । डा० लोहिया ने यह कभी भी नहीं माना था कि ये सरकारें कभी गिरेंगी नहीं या इन्हें गिराया नहीं जायेगा । वे मानते थे कि ये सरकारें केन्द्र की बेईमानी से भी गिर सकती हैं और अपने अन्तर्विरोधों से भी । वे स्वयं भी यह चाहते थे कि यदि ये सरकारें 6 महीने के समय में अपने कार्यक्रम का कोई बड़ा काम न कर सकें तो त्यागपत्र दे दें । उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण और सार्थक चाहत तो यह थी कि ये सरकारें जनहित के किसी बड़े सवाल पर दिल्ली यानी केन्द्र की कांग्रेसी सरकार से लड़ें और यदि गिरना है तो उस सवाल पर गिरें । इसमें अवसरवादिता की जरा सी भी गुंजाइश नहीं थी । डा० लोहिया ने स्वयं कहा था कि

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

विभिन्न विचारों के अलग-अलग दल समयबद्ध न्यूनतम कार्यक्रम के आधार पर इकट्ठा हों और वायदा किये गये समय के अन्दर ये कार्यक्रम लागू करें और अपने कामों से कांग्रेसी व गैर-कांग्रेसी का भेद साफ करें ताकि केन्द्र में कांग्रेसी सरकार गिरे। कार्यक्रम और सिद्धान्तों को छोड़कर सिर्फ सरकार चलती रहे इसके वे विरोधी थे और गैर-कांग्रेसी संविद सरकारों का सपना अवसरवादिता से जरा भी प्रेरित नहीं था बल्कि सिद्धान्तों और परिवर्तन की आकांक्षा के प्रति समर्पित प्रयोग था।

चुनावों में कांग्रेस को 425 स्थानों में से केवल 198 स्थान मिले और वह अल्पमत में रह गयी। इसी दौरान विरोधी दलों द्वारा अपना नेता चुनने और 19 सूत्री कार्यक्रम पर सहमत होने के जोरदार प्रयत्न शुरू हुए। अन्ततः श्री रामचन्द्र विकल को कामचलाऊ तौर पर बड़ी मुश्किल से संयुक्त विधायक दल अपना नेता चुनने में कामयाब हुआ। कांग्रेस पार्टी जो अकेली सबसे बड़ी पार्टी थी कुछ निर्दलियों के सहयोग से श्री चन्द्रभानु गुप्त के नेतृत्व में सरकार बनाने में कामयाब हो गयी। संकट की इस घड़ी में भी कांग्रेस की अन्दरूनी लड़ाई बदस्तूर जारी रही। श्री चरणसिंह ने कांग्रेस दल के नेता पद के चुनाव के लिए स्वयं को प्रस्तुत कर दिया। लेकिन केन्द्रीय हस्तक्षेप के बाद किसी तरह उन्होंने अपना नाम वापस ले लिया लेकिन यह हस्तक्षेप श्री चन्द्रभानु गुप्त को अच्छा नहीं लगा। बताया जाता है कि चौधरी साहब ने स्वयं के लिए गृह मन्त्रालय और अपने अन्य दो साथियों के लिए मन्त्री पद माँगा। कांग्रेस की एक-छत्रता की समाप्ति की इस निकट घड़ी में भी श्री चन्द्रभानु गुप्त जरा भी ढीले नहीं पड़े और उन्होंने श्री चरणसिंह की माँग ठुकरा दी। श्री राजनारायण ने उसी समय श्री चरणसिंह में निहित सम्भावनाओं को बखूबी समझ लिया। जैसा कि उन्होंने कई बार कहा भी है, वे कांग्रेस में एक विभीषण की तलाश में थे। उन्हें लगा कि श्री चरणसिंह दल बदल सकते हैं। दिल्ली से लखनऊ आकर उन्होंने श्री चरणसिंह से इस विषय में बातचीत की और चौधरी साहब ने सहमति दे दी। चौधरी चरणसिंह एक अरसे से प्रदेश का मुख्यमन्त्री बनने का ख्वाब देख रहे थे। जिस क्षेत्र (मेरठ) के किसानों का वह प्रतिनिधित्व प्रदेश राजनीति में करते थे वे किसान भी अपना मुख्यमन्त्री देखने को एक अरसे से इच्छुक थे। उन्होंने भी चौधरी साहब को इस साहसिक निर्णय के लिए मजबूत और तैयार किया। श्री चन्द्रभानु गुप्त और मेरठ में उनके लेफ्टिनेंट श्री कैलाश प्रकाश ने चौधरी साहब के साथ अनेक ज्यादतियाँ की थीं, इसलिए कांग्रेस के साथ एक लम्बे अरसे से जुड़े हुए इस कर्तव्यपरायण और ईमानदार कांग्रेसी नेता ने कांग्रेस से अलग होने का फैसला कर लिया। यह तय किया गया कि वे राज्यपाल के अभिभाषण पर धन्यवाद प्रस्ताव पर मत विभाजन के समय दल बदलेंगे। यों आखिरी वक्त तक श्री चरणसिंह में एक झिझक बराबर बनी रही। वोट का वक्त आया, श्री चरणसिंह नहीं आये। श्री राज-नारायण उनके कक्ष की तरफ लपके। वहाँ पर बनारसीदास व अन्य कुछ लोग श्री चरणसिंह को उलझाये हुए थे। राजनारायण जी ने अपनी आकांक्षा पर बल दिया। चरणसिंह आखिरकार मान गये और अपने 16 साथियों समेत उन्होंने 1 अप्रैल, 1967 को कांग्रेस मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध वोट कर दिया। सरकार गिर गयी। श्री चन्द्रभानु गुप्त ने तत्काल अपना त्यागपत्र दे दिया और इस तरह संविद सरकार बनने का रास्ता खुल गया। संविद ने सर्वसम्मति से श्री चरणसिंह को अपना नेता चुन लिया।

यहाँ उत्तर प्रदेश संविद राजनीति और पहली संविद सरकार के निर्माण के पीछे

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

निहित इरादों के बारे में सोचने के साथ ही श्री चरणसिंह के इरादों को समझ लेना उचित होगा। श्री चरणसिंह ने कांग्रेस जरूर छोड़ी पर कांग्रेस से अपना पुराना रिश्ता एक तरह बनाये रखा, उन्होंने परिवर्तन को गैर-जरूरी समझा और वे एक तरह गैर-कांग्रेसी सरकार के कांग्रेसी चरित्र के मुख्यमन्त्री बने रहे। वह कांग्रेस की अनेक नीतियों से नाखुश थे और वे एक निर्णय ले सकते थे परन्तु ऐसा लगा कि उनका कांग्रेस से किसी सिद्धान्त पर आधारित मनमुटाव नहीं था बल्कि मुख्यमन्त्री बनने न बनने के सवाल पर कांग्रेस से वह अलग हुए थे। इसलिए कांग्रेस छोड़ते समय वह बराबर सशंकित रहे। एक अनिश्चित और अमूर्त भय बराबर उनमें समाए रहा था। कुछ भी हो, आगे की घटनाओं ने भी यह साफ सिद्ध कर दिया कि उनके दल-बदल के पीछे देश की राजनीति में बड़े परिवर्तन की आकांक्षा निहित नहीं थी। वह डा० लोहिया के सपने की केन्द्र-विरोधी राजनीति वाली संविद रणनीति से सहमत नहीं थे।

इसलिए जहाँ तक संविद राजनीति के पीछे प्रेरणाओं का सवाल है विभिन्न दल अलग-अलग चीजों से प्रेरित थे। सत्ता और कुर्सी की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रेरणा इसके पीछे थी। लेकिन इतना भर कहना असंगत और ज्यादती होगा। यह भी एक प्रेरणा थी। उस समय कांग्रेस की जगह विकल्प प्रदान करने की लोकप्रिय माँग थी। विरोधी दल यह सिद्ध करना चाहते थे कि वे कांग्रेस की जगह सरकार बना और चला सकते हैं। गैर-कांग्रेसवाद की रणनीति भी एक मुद्दा थी। सहमत न्यूनतम कार्यक्रम का पूरा करना भी गैर-कांग्रेसवाद की तृतीय श्रेणी में रखा जा सकता है। ये सब तत्त्व थे जिन्होंने अप्रैल 1967 में उत्तर प्रदेश में संविद सरकार के निर्माण को प्रेरित और प्रभावित किया। पहली संविद सरकार 6 अप्रैल, 1967 को सत्तारूढ़ हुई।

भली प्रकार यह विश्लेषण किया जा सकता है कि संविद सरकार के निर्माण को प्रेरित करने वाले तत्त्वों की आनुपातिक शक्ति क्या थी ? प्रेरित करने वाले तीन तत्त्वों—विकल्प प्रदान करने की लोकप्रिय इच्छा, सत्ता-प्राप्ति और गैर-कांग्रेसवाद—की रणनीति में तीसरे और पहले को मिलाया जा सकता है। शुरू में कांग्रेस का विकल्प प्रदान करने की इच्छा और सत्ता-कामना पचास-पचास प्रतिशत काम कर रहे थे। लेकिन कुछ दिनों बाद दूसरा पहले पर हावी हो गया और आज सत्ता तथा उससे प्राप्त होने वाले लाभ दल, सिद्धान्त और व्यक्तिगत प्रतिष्ठा से ज्यादा महत्त्वपूर्ण तत्त्व हो गये हैं, और शक्ति राजनीति के इस खेल में तात्कालिक उपलब्धियाँ और लाभ-निर्णायक तथा निदेशक तत्त्व बन गये हैं।

पहली संविद सरकार बनने के पीछे निहित उद्देश्यों और इस बार बनने वाली संविद सरकार की परिस्थितियों और प्रेरणाओं में अन्तर है। पहली संविद सरकार गिरने के समय दो चीजें हो गयी थीं। एक तो संविद में शामिल दलों के आपसी रिश्ते बहुत बिगड़ चुके थे, दूसरे भारतीय क्रान्ति दल 1969 के मध्यावधि चुनावों में एक निर्णायक दल, कांग्रेस के बाद सबसे बड़ा दल (98 सदस्य) बनकर उभर आया था। इसलिए चौधरी चरणसिंह की सौदा करने की सामर्थ्य निश्चित ही कई गुना बढ़ गई थी। लेकिन इस सबके बावजूद ये सब गैर-कांग्रेसी दल जिनमें कांग्रेस का संगठन वाला हिस्सा भी था, दोबारा संविद बनाने को तैयार हुए। इस संकल्प के पीछे श्रीमती इन्दिरा गांधी की कांग्रेस को किसी भी तरह प्रदेश में सत्ता में आने देने से रोकने का पक्का और पावन इरादा था। इन्दिरा जी का राजनीतिक बरताव और नीतियाँ इसके जनक खुद थे। दूसरी संविद के बनने में केन्द्र की बड़ी भूमिका थी और अगर यह

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संविद सरकार कायदे से चलती तो केन्द्र पर बड़ा असर भी डाल सकती थी। भारतीय क्रान्ति दल और इन्दिरा कांग्रेस के रिश्ते बिगड़ने से इन्दिरा कांग्रेस को नुकसान होने की ज्यादा सम्भावना थी।

श्रीमती इन्दिरा गांधी चरणसिंह की सरकार को उस समय तक चलने देना चाहती थीं जब तक कोई बेहतर विकल्प सामने न हो या सोचा न जा सके। जाहिर है कि श्री कमलापति त्रिपाठी सरकार बनाते, पर प्रधानमन्त्री को यह बेहतर विकल्प नहीं लगता था। परन्तु त्रिपाठी गुट अधीर था। वास्तव में जब से त्रिपाठी गुट को गुप्त सरकार से अलग होना पड़ा तभी से केन्द्रीय और प्रादेशिक इकाइयों में तनाव था। त्रिपाठी मानते थे कि श्री गुप्त से उन्हें कोई नुकसान नहीं था। सिर्फ केन्द्र में कांग्रेस की टूट के कारण उन्हें अपने साथियों समेत गुप्त जी की सरकार से अलग होना पड़ा। उन्हें लगता था कि दिल्ली की देवी की वेदी पर उन्हें लगातार बलिदान किया जाता है। दिल्ली की राजनीति में अगर यह उनके हित में हो तो वे उत्तर प्रदेश में श्री त्रिपाठी को सत्ता से दूर रखने में जरा भी नहीं हिचकेंगी। त्रिपाठी गुट शुरू ही से यह सोचता रहा था कि श्री चरणसिंह के मन्त्रिमण्डल का बनना और चलते रहना उनके लिए खतरनाक होगा। मन्त्रिमण्डल का गठन, चीनी मिलों का राष्ट्रीयकरण, निवारक नजरबन्दी अधिनियम, छात्र-संघ सम्बन्धी अध्यादेश, आदि विषयों पर श्री चरणसिंह का दृष्टिकोण केन्द्र की राय में भारतीय क्रान्ति दल से सम्बन्ध-विच्छेद के लिए काफी नहीं था। प्रिवी पर्स सम्बन्धी विधेयक के विरुद्ध भारतीय क्रान्ति दल ने वोट दिया। इसका इस्तेमाल श्री चरणसिंह के विरुद्ध किया गया। तब श्रीमती इन्दिरा गांधी ने साफ संकेत नहीं दिया। ऐसा लगता है कि प्रधानमन्त्री धीरे-धीरे पीछे हट रही थीं और उनके दिमाग में बड़ी परेशानी थी।

श्रीमती इन्दिरा गांधी के दिमाग में कई बातें रही होंगी। श्री चरणसिंह को बर्खास्त करने के बाद भी केन्द्र के लिए उस समय श्री त्रिपाठी को गद्दी पर बिठा पाना मुश्किल काम था, क्योंकि 426 के सदन में उनके समर्थकों की संख्या 160 से अधिक नहीं थी। किसी संगठन के समर्थन के अभाव में बड़े पैमाने पर दल-बदल के बाद ही उनकी सरकार चल सकती थी। राष्ट्रपति शासन लागू करने में राज्यपाल ने जिस ढंग से कार्यवाही की उससे भी झंझट पैदा हुई। लेकिन अगर मान लें कि राज्यपाल श्री त्रिपाठी के इस दावे को स्वीकार कर लेते कि उन्हें सदन में 221 सदस्यों का समर्थन प्राप्त है तो केन्द्र की राजनीति पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता।

श्री त्रिपाठी के लिए पर्याप्त समर्थन के अभाव में सरकार बनाना सम्भव नहीं था और केन्द्र के लिए यह राजनीतिक दृष्टि से वांछनीय भी नहीं था। दूसरी ओर राष्ट्रपति शासन को ज्यादा अरसे तक चलाने में भी दिक्कतें थीं। जिस तरह से प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया उसके बारे में नैतिक और राजनीतिक ही नहीं गम्भीर सांविधानिक शंकाएं भी थीं। इसकी सम्भावनाएँ पैदा हो गयी थीं कि संसद में राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग के प्रस्ताव पर बहस होती भले ही प्रस्ताव स्वीकार न हो पाता। जनमत उस समय केन्द्र सरकार के विरुद्ध था और विरोधी दल आन्दोलनों की धमकी दे चुके थे। इसके अलावा राष्ट्रपति शासन लागू रखने में केन्द्रीय सरकार को कोई राजनीतिक लाभ भी नहीं था। जनसाधारण और राजनीतिक नेतृत्व दोनों में केन्द्र के प्रति विरोध की भावना फैलती। प्रतिनिधि सरकार के अभाव में नौकरशाही निरंकुश और जड़ हो जाती तथा इसके लिए भी केन्द्र को ही जिम्मेदार ठहराया जाता।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अतः संविद की सरकार बनने दी जाये इसके अलावा कोई रास्ता नहीं रह गया था। 2 अक्तूबर, 1970 को चरणसिंह सरकार बर्खास्त की गयी। 9 अक्तूबर, 1970 को श्री त्रिभुवन नारायण सिंह को संविद ने अपना नेता चुन लिया। उस समय विधानसभा के 420 सदस्य थे। उनमें 246 संविद के साथ थे।

फिर भी 15 अक्तूबर तक प्रधानमन्त्री और श्री जगजीवन राम सहित सत्तारूढ़ दल के नेता कहते रहे कि उत्तर प्रदेश में उनका दल सरकार बनायेगा। लेकिन राज्यपाल ने जब राष्ट्रपति को अपनी रिपोर्ट में यह लिखा कि संविद का विधानसभा में स्पष्ट बहुमत है तो उस रिपोर्ट को केन्द्रीय सरकार अस्वीकार नहीं कर सकी। इससे स्वभावतः कांग्रेस को काफी बड़ा धक्का लगा।

इस तरह इस बार संविद सरकार बने इसे केन्द्र को एक मजबूरी के रूप में ही स्वीकार करना पड़ा। इस बार संविद में संसोपा को फूटी आँख न देखने वाले व श्री गुप्त विरोधी चौधरी चरणसिंह इन्दिरा सरकार के हाथों जख्मी थे इसलिए वे गुप्त व संसोपा के साथ आ बैठे।

श्री चरणसिंह को जनतन्त्र विरोधी कहने वाली संसोपा ने श्री चरणसिंह के साथ आना इसलिए स्वीकार किया क्योंकि संसोपा बिहार और उत्तर प्रदेश को केन्द्र विरोधी युद्ध का पानीपत मानती थी और वह किसी भी कीमत पर नियोजित ढंग से राजनीतिक एकाधिकारी इन्दिरा कांग्रेस को सत्ता से अलग रखना चाहती थी। संसोपा की निगाह में लखनऊ में सत्ता-रूढ़ कांग्रेस की सरकार बनने न बनने से सारे देश की राजनीति पर गहरा असर पड़ने वाला था। इसलिए इस बार इन्दिरा कांग्रेस को सत्ता से अलग रखना यह सबसे बड़ी प्रेरणा संविद सरकार के निर्माण के पीछे थी।

घटनाक्रम इतिहास

चौथे आम चुनावों में प्रदेश में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत न मिलने से संसोपा और जनसंघ उत्साहित हुए तथा उन्होंने राज्य में गैर-कांग्रेसी दलों की मिली-जुली सरकार बनाने की सम्भावना पर विचार करने का निश्चय किया।

उधर कांग्रेसी नेताओं ने निर्दलीय विधायकों को अपने पक्ष में लाने के लिए बातचीत करना शुरू कर दिया।

5 मार्च, 1967 को सब विरोधी दलों के प्रतिनिधियों की बैठक हुई। बैठक के बाद घोषणा की गई कि संविद सरकार बनाने की स्थिति में वे लोग हैं और नेता तथा न्यूनतम कार्य-क्रम के बारे में एक-दो दिन में घोषणा कर दी जायेगी। संविद में जनसंघ, संसोपा, प्रसोपा, रिपब्लिकन पार्टी, साम्यवादी दल के दोनों पक्ष, स्वतन्त्र दल तथा निर्दलीय सदस्य थे।

इस बीच कांग्रेस में नेता पद के सवाल पर गम्भीर संकट आया। श्री चरणसिंह ने कांग्रेस दल के नेता का चुनाव लड़ने का इरादा साफ कर दिया। बीच-बचाव के लिए केन्द्रीय वाणिज्य मन्त्री श्री दिनेश सिंह को लखनऊ भेजा गया और अन्त में नेता के निर्वाचन की निश्चित तिथि 7 मार्च को श्री चन्द्रभानु गुप्त सर्वसम्मति से नेता चुन लिये गये। श्री चरणसिंह ने काफी समझाने-बुझाने से अपना नाम चुनाव के आधा घण्टा पहले वापस ले लिया। 7 मार्च को कांग्रेस विधानमण्डलीय दल के नेता का निर्वाचन हो जाने के बाद 200 कांग्रेसी सदस्यों

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

की सूची पेश कर दी गई। 23 अन्य निर्दलियों ने भी कांग्रेस सरकार का समर्थन करने की घोषणा की।

उधर श्री रामचन्द्र विकल संविद के नेता चुने गये। 9 मार्च को संविद ने एक न्यूनतम कार्यक्रम स्वीकार किया जिसमें अन्य विषयों के साथ-साथ निम्न विषय भी शामिल थे : (1) भूमि राजस्व, व्यवसाय कर, नागरिक भूमि, इमारती कर, एक ही वस्तु पर अनेक व्यवस्थाओं में बिक्री कर और फौजदारी के मामलों में अदालती फीसों का अन्त; (2) सारे राजनीतिक कैदियों और छात्रों की रिहाई; (3) पुलिस काण्ड के सभी मामलों की अदालती जाँच; (4) सरकारी कामकाज में अंग्रेजी के प्रयोग पर तत्काल पाबन्दी; (5) मन्त्रियों तथा अफसरों की सम्पत्ति की जाँच करने के लिए आयोग की तत्काल स्थापना; और (6) संविद सरकार बनने पर मन्त्रियों के वेतन और परिलब्धियाँ दोनों को पाँच-पाँच सौ रुपए प्रति मास तक सीमित करना।

संविद और कांग्रेस दोनों बहुमत का दावा करते थे लेकिन राज्यपाल ने 12 मार्च को कांग्रेस विधानमण्डलीय दल के नेता श्री चन्द्रभानु गुप्त को सरकार बनाने का न्योता दे दिया। विरोधी दलों को राज्यपाल के इस निर्णय पर गुस्सा और खीझ होना स्वाभाविक था।

18 दिन बाद राज्यपाल के अभिभाषण के प्रस्ताव पर मतदान के समय 46 साल से कांग्रेस से जुड़े चौधरी चरणसिंह ने जनता के प्रति कर्तव्य निभाने के लिए कांग्रेस सरकार के विरुद्ध अपने साथियों समेत वोट कर दिया और कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल समाप्त हो गया।

संविद मन्त्रिमण्डल का निर्माण

1 अप्रैल को ही संविद ने श्री चरणसिंह को सर्वसम्मति से अपना नेता निर्वाचित किया। राज्यपाल ने उन्हें नई सरकार बनाने का आमन्त्रण दिया और उन्होंने 3 अप्रैल को शपथ ग्रहण की। उनके मन्त्रिमण्डल में उनके समेत 16 मन्त्री, 12 उप-मन्त्री थे। उन लोगों ने 6 अप्रैल को शपथ ग्रहण की। श्री चरणसिंह ने घोषणा की थी कि वे संविद के न्यूनतम कार्यक्रम से सहमत हैं और उसे पूरा करने का प्रयत्न करेंगे।

संविद सरकार के निर्माण का वाकई प्रदेश में स्वागत हुआ। जनता में एक अजीब उल्लास और आशा का संचार हुआ। भ्रष्ट नौकरशाही और बेईमान व्यापारियों में भय और परेशानी फैल गई। शुरू में संविद के मन्त्रियों, जिनमें मुख्यमन्त्री, श्री झारखण्डराय (साम्यवादी), श्री रामस्वरूप वर्मा (संसोपा) व श्री प्रतापसिंह का जिक्र करना जरूरी है, की कार्य-शैली से प्रशासन चौकन्ना और चुस्त हो गया। जनता के लोगों के साथ नौकरशाही के रवैये में भी फरक पाया। पर यह सब धीरे-धीरे घटने लगा और सब बातें सामान्य हो गयीं।

संविद में बहुत जल्दी ही मतभेद पैदा होने लगे। अनाज की लाजमी वसूली के निर्णय से जनसंघ के लोग प्रसन्न नहीं थे। 1 मई को साम्यवादी दल (मार्क्सवादी दल) ने अपने एकमात्र सदस्य श्री शराफत हुसैन को संविद से हटा लिया। उन्होंने आरोप लगाया कि 6·25 एकड़ की जमीन से संविद सरकार लगान माफ नहीं कर सकी और उसने न तो राजनीतिक कैदियों को रिहा किया और न अस्थायी कर्मचारियों की छँटनी की अपनी नीति त्यागी। लेकिन उन्होंने यह जरूर कहा कि यदि कांग्रेस संविद सरकार को तोड़ने का प्रयास करेगी तो वे इसका विरोध करेंगे।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

4 मई को सरकार ने भूमि कर तथा काश्त कर समाप्त कर दिया। 6 मई को कुछ संविद मन्त्रियों ने इस आशय की घोषणा की कि वे केवल हिन्दी में लिखे हुए पत्र ही स्वीकार करेंगे। दक्षिणपंथी साम्यवादियों ने इसकी कठोर आलोचना की। 7 मई को उद्योग मन्त्री श्री प्रभुनारायण ने कानपुर में घोषणा की कि विधिसम्मत हड़तालों में मालिकों की सहायता के लिए न तो निषेधाज्ञाएँ जारी की जायेंगी और न पुलिस का ही प्रयोग किया जायेगा। प्रसोपा के एक विधायक श्री शशिभूषण शास्त्री ने भी अन्न-वसूली की नीति की निन्दा की।

चरणसिंह मन्त्रिमण्डल ने अराजपत्रित कर्मचारियों के प्रति कठोर रवैया अपनाया था। मुख्यमन्त्री के निवासस्थान पर छँटनी की शिकार महिला कर्मचारियों पर लाठी चार्ज के आरोप पर विधानसभा में हंगामा हो चुका था। कालागढ़ गोलीकाण्ड व कर्मचारियों के नेताओं की गिरफ्तारी व छँटनी इत्यादि का संविद सरकार की प्रतिमा पर प्रतिकूल असर पड़ रहा था।

यों संविद मन्त्रिमण्डल प्रशासन को स्वच्छ व कुशल बनाने के अपने वायदे को पूरा करने की कोशिश कर रहा था। सब जगह बड़े पैमाने पर तबादले किये गये थे। मन्त्रिमण्डल 56 राजपत्रित कर्मचारियों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही कर चुका था। 20 अफसरों को जिनमें एक आई०ए०एस० अफसर भी था, सतर्कता आयोग की सिफारिश पर मुअत्तिल किया जा चुका था।

इस दौरान दोनों पक्षों के बीच दल-बदल का सिलसिला-सा जारी था। कभी काँग्रेस का कोई विधायक संविद में मिलता तो कभी संविद का कांग्रेस में। लेकिन संविद को इससे नहीं बल्कि किसी दूसरी चीज से खतरा था, और वह थी संविद के घटकों में आपसी गलतफहमी और खींचतान। संसोपा जिसने अपने चुनाव घोषणा-पत्र में संविद की परिभाषा में कहा था कि वह गैर-कांग्रेसी सरकार अपने कर्म से बोलेगी, बोल से काम नहीं चलायेगी और सरकार बनने के 6 महीने के अन्दर-अन्दर लगान-माफी जैसा कोई एक बड़ा काम करेगी, वह संसोपा संविद के मौजूदा आचरण से नाखुश थी। डा० लोहिया अपने दल के विधायकों और मन्त्रियों को संविद की कर्महीनता और तेजहीनता पर डाँटने लगे थे। संसोपा को 21 जून को धमकी देनी पड़ी कि यदि 6 महीने के अन्दर-अन्दर अलाभकर जोतों से लगान माफ नहीं किया गया तो संसोपा संविद का साथ छोड़ देगी। साम्यवादी दल ने भी लगान-माफी के सवाल पर सरकार से शीघ्र निर्णय का अनुरोध किया। 27 जून को मुख्यमन्त्री ने इन माँगों को ध्यान में रखकर घोषणा की कि सरकार आगे के पाँच वर्षों में राज्य के भीतर लगान को धीरे-धीरे पूरी तरह समाप्त कर देगी। इसके साथ ही सरकार ने यह भी तय किया कि जिन काश्तकारों को भूमि से वार्षिक आय 3600 रुपये या इससे अधिक है उनके ऊपर कृषि आयकर लगाया जायेगा।

इस दौरान संविद में अन्दरूनी एकता का बराबर अभाव था। कर्मचारियों आदि के तबादलों या अन्य स्थानीय मामलों में हर दल के कार्यकर्ता अपने मन्त्री का इस्तेमाल अपने दल और अपने निजी कामों के लिए करना चाहते थे। सभी दल यह सोचने लगे कि उन्हें एक-दूसरे की कीमत पर बढ़ना है। आपसी तनाव और दल-बदल वगैरा की छुट-पुट घटनाओं के बावजूद संविद किसी प्रकार चल रही थी। समान शत्रु कांग्रेस के मुकाबले तो संविद के सब दल एका कर जाते थे लेकिन आपसी तनाव बराबर बढ़ रहे थे। अब संविद के घटकों ने आपस में धमकी वगैरा देना शुरू कर दिया। 31 जुलाई को कानपुर में यह समाचार प्रकाशित हुआ कि उर्दू

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

को दूसरी राजभाषा का दर्जा देने के सम्बन्ध में जनसंघ ने 19 सूत्रीय कार्यक्रम में यह विसम्मत टिप्पणी जोड़ी थी कि यदि संविद के अन्य घटकों ने उसकी उपेक्षा की तो संघ की कार्यसमिति अपने मन्त्रियों को पद-त्याग का आदेश दे देगी। इस पर जन-कांग्रेस के अध्यक्ष श्री रामगोपाल ने धमकी दी कि यदि सरकार ने अल्पसंख्यकों के प्रति, विशेषकर उनकी भाषा और संस्कृति के प्रति न्यायपूर्ण व्यवहार नहीं किया तो जनकांग्रेस अपने मन्त्रियों से त्यागपत्र देने के लिए कह सकती है। इस तरह उर्दू के प्रश्न को लेकर संविद में एक हल्का संकट पैदा हो गया।

16 अगस्त को मुख्यमन्त्री श्री चरणसिंह ने उप-मुख्यमन्त्री श्री रामप्रकाश व संविद समन्वय समिति के सचिव श्री उग्रसेन को पत्र लिखकर कहा कि उन्हें दल के नेतृत्व से मुक्ति दे दी जाये। कहते हैं कि मुख्यमन्त्री को यह बुरा लगा कि कुछ जनसंघी मन्त्रियों, विशेषकर सहकारिता मन्त्री श्री गंगाभक्त सिंह, ने अपनी विभागीय समितियों में अकेले अपने दल के सदस्यों को ही मनोनीत किया था।

समन्वय समिति ने आठ घण्टों की बैठक के बाद सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पास किया जिसमें मुख्यमन्त्री को आश्वासन दिया गया था कि संविद के सभी घटक प्रशासन में ईमानदारी लाने के उनके अनुष्ठान में उनका पूरा साथ देंगे। जिन मन्त्रियों के वक्तव्यों से जाने या अनजाने मुख्यमन्त्री के काम में बाधा पड़ी थी उनसे भी समिति ने यह अनुरोध किया कि वे भविष्य में सावधान रहें और यह प्रकरण समाप्त हो गया।

संविद सरकार वचनभंगी न हो और कांग्रेसी गैर-कांग्रेसी का फरक स्पष्ट करने के लिए निर्धारित अवधि में कुछ बड़े काम करे यह मानने वाली संसोपा ने चेतावनी दी कि यदि सरकार ने 5 अक्तूबर तक यह घोषणा नहीं की कि वह आगामी खरीफ फसल से लगान बन्दी की माँग को कार्यान्वित करेगी तो वह अपने केन्द्रीय बोर्ड का निर्देश मिलते ही संविद सरकार का साथ छोड़ देगी। संसोपा की इस चेतावनी पर मुख्यमन्त्री ने कोई ध्यान नहीं दिया। 15 अक्तूबर को पाँच संसोपा तथा दो साम्यवादी मन्त्रियों ने अपने प्रतिनिधियों के हाथों त्यागपत्र भेज दिये। सरकार द्वारा लगान माफी का आदेश लागू न करना कारण था। संविद में आये संकट को दूर करने के विभिन्न प्रयत्न सफल नहीं हो पा रहे थे। 22 अक्तूबर को एक समझौता सूत्र पर किसी तरह सहमति हो पायी।

22 नवम्बर को निवारक निरोध के अन्तर्गत नजरबन्द सरकारी कर्मचारियों को रिहा कराने तथा कुछ अन्य सवालों पर साम्यवादी दल के मन्त्रियों ने फिर इस्तीफा दे दिया। 1 दिसम्बर को ये त्यागपत्र स्वीकार कर लिये गये।

श्री अर्जुनसिंह भदौरिया, अध्यक्ष प्रदेश संसोपा के एक वक्तव्य से क्रुद्ध होकर चौधरी चरणसिंह ने त्यागपत्र दे दिया लेकिन संविद की महासभा ने उसे स्वीकार नहीं किया और श्री चरणसिंह से सर्वसम्मत प्रस्ताव द्वारा त्यागपत्र वापस लेने तथा नेता पद पर बने रहने का अनुरोध किया।

राज्य में अंग्रेजी विरोधी आन्दोलन शुरू हुआ। संसोपा का युवा संगठन समाजवादी युवजन सभा इसकी अगुवाई कर रहा था। हजारों विद्यार्थी गिरफ्तार हो चुके थे। संविद के दो संसोपा मन्त्रियों श्री प्रभु नारायण सिंह और श्री रामस्वरूप वर्मा ने 12 दिसम्बर को नई दिल्ली में राजभाषा (सशोधन) विधेयक के विरोध में आयोजित प्रदर्शन में भाग लेते हुए दफा 144 का उल्लंघन किया और इस अपराध में उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। मुख्यमन्त्री ने

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

इस काम को पसन्द नहीं किया ।

नये साल (1968) के आरम्भ में सारे राज्य में अंग्रेजी-विरोधी प्रदर्शन तथा आन्दोलन हुए और पुलिस ने मोदीनगर, बनारस तथा उत्तर प्रदेश के कुछ अन्य प्रमुख नगरों में गोली चला दी । संसोपा के तीसरे राष्ट्रीय सम्मेलन ने, जो गया (बिहार) में हुआ था 1 जनवरी को उत्तर प्रदेश की स्थिति के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास किया जिसमें कहा गया था कि चरणसिंह सरकार ने अपने वचनों का उल्लंघन किया है, विशेषकर लगानबन्दी निवारक निरोध अधिनियम के अधीन गिरफ्तार सरकारी कर्मचारियों की रिहाई और सरकारी कामकाज में अंग्रेजी के प्रयोग को बन्द करने सम्बन्धी अपने वचनों का । प्रस्ताव में संसोपा मन्त्रियों को निर्देश दिया गया था कि यदि सरकार स्वीकृत कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए अध्यादेश न निकाले तो वे 5 जनवरी को मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दें ।

संसोपा मन्त्रियों ने 5 जनवरी को राज्यपाल को अपने त्यागपत्र प्रस्तुत कर दिये । त्यागपत्र स्वीकार कर लिये गये ।

9 जनवरी को संसोपा अध्यक्ष श्री अर्जुनसिंह भदौरिया ने एक वक्तव्य में अपनी यह माँग दुहराई कि मुख्यमन्त्री त्यागपत्र दे दें और संविद नये नेताओं का चुनाव करे। जनसंघ ने भी मुख्यमन्त्री से अपने रवैये में सुधार का अनुरोध किया । इस बीच नये नेता के चुनाव की बात पर खींचतान होती रही । संविद की समन्वय समिति ने 9 फरवरी को एक प्रस्ताव द्वारा मुख्यमन्त्री से अपने पद पर बने रहने का प्रस्ताव किया । संविद की महासभा ने भी इस प्रस्ताव की पुष्टि की । लेकिन 14 फरवरी को श्री उग्रसेन (संसोपा) ने अपने दल के केन्द्रीय नेताओं के निर्देश के अन्तर्गत समन्वय समिति में संविद के महामन्त्री पद से त्यागपत्र दे दिया ।

17 फरवरी को भारतीय क्रान्ति दल की कार्यसमिति की बैठक हुई और इसके बाद मुख्यमन्त्री ने राज्यपाल के पास अपना त्यागपत्र भेज दिया । राज्यपाल ने त्यागपत्र स्वीकार कर लिया परन्तु श्री चरणसिंह से अनुरोध किया कि जब तक दूसरी व्यवस्था न हो जाये वे अपने पद पर बने रहें ।

इस बीच संविद नये नेता का चुनाव करने में सफल नहीं हो सकी । 24 फरवरी की शाम को श्री रामप्रकाश ने राज्यपाल से प्रार्थना की कि वे श्री रामचन्द्र विकल को सरकार बनाने का निमन्त्रण दें चूँकि श्री विकल संविद के नये नेता चुन लिये गये हैं । लेकिन राज्यपाल की सलाह पर 25 फरवरी को राष्ट्रपति शासन की घोषणा कर दी गयी ।

इस बीच संविद के घटकों में समझौते के प्रयास किये गये । संविद के कुछ घटकों के अथक प्रयत्नों के बाद 18 मार्च को श्री हरिश्चन्द्र सिंह को सर्वसम्मति से नेता चुना गया और 19 मार्च को एक पत्र द्वारा नये नेता के चुनाव की सूचना राज्यपाल को दे दी गयी । एक प्रतिनिधिमण्डल राज्यपाल से मिला और उसने उनसे अनुरोध किया कि वे नये नेता को सरकार बनाने के लिए बुलायें । उधर कांग्रेस के नेता श्री चन्द्रभानु गुप्त ने भी बहुमत का दावा किया । राज्यपाल परस्पर विरोधी दावों के तर्क को लेकर मामले को खींचते चले गये ।

अन्ततः 15 अप्रैल, 1968 को उत्तरप्रदेश विधानसभा का विघटन कर दिया गया और मध्यावधि चुनाव कराने की घोषणा की गई । 5, 7, 9 और 20 फरवरी 1969 को मध्यावधि चुनाव हुए ।

मध्यावधि चुनावों में समझौते वगैरा नहीं हुए और कांग्रेस की शक्ति इससे बढ़ी ।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारतीय क्रान्ति दल 27 से बढ़कर 99 सदस्य वाला दूसरे नम्बर का बड़ा दल उभरा। संसोपा व जनसंघ की ताकत घटी।

दूसरी संविद सरकार

दूसरी बार संविद सरकार के निर्माण के पीछे इन्दिरा कांग्रेस द्वारा लखनऊ की गद्दी पर कब्जा करने के प्रयत्नों को ध्वस्त करने का उद्देश्य सबसे बड़ा कारण था। संविद में इस बार, साम्यवादी दल और प्रसोपा शरीक नहीं थे। संविद के पुराने अनुभवों के आधार पर संसोपा से नाराज चौधरी साहब चूँकि इन्दिरा गांधी की कुटिल चालों से परेशान थे इसलिए वे साथ बैठने को राजी हो गये। संविद के पाँच घटकों ने मिलकर 9 अक्तूबर, 1970 को सर्व-सम्मति से श्री त्रिभुवन नारायण सिंह को नेता चुना। यों चौधरी चरणसिंह व श्री गिरधारीलाल आदि कई नाम आये थे पर श्री त्रिभुवन नारायण सिंह के नाम पर ही सहमति हो पायी। 22 अक्तूबर को लखनऊ में संविद के सभी घटकों की बैठक हुई। उसमें संगठन कांग्रेस, भारतीय क्रान्ति दल, जनसंघ, स्वतन्त्र पार्टी सभी ने संसोपा से आग्रह किया कि वह सरकार में जरूर शामिल हो। भाक्रान्द का कहना था कि जब संसोपा का कार्यक्रम हमने मान लिया है तब संसोपा को उस कार्यक्रम पर अमल करने के लिए सरकार में शामिल होना चाहिए। ऐसा नहीं होगा कि कार्यक्रम चले संसोपा का और अमल में लायें हम। हम अमल करने को तैयार हैं बशर्ते कि संसोपा सरकार में साझेदारी करे। संगठन कांग्रेस का तो यहाँ तक कहना था कि यदि संसोपा साझेदारी नहीं करेगी तो हम सरकार नहीं बनायेंगे। 26 अक्तूबर को संसोपा राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने मन्त्रिमण्डल में साझेदारी की अनुमति दे दी और अन्ततः श्री त्रिभुवन नारायण सिंह के नेतृत्व में संविद सरकार बन गयी। समझा यह गया था कि इस संविद सरकार के गठन ने न सिर्फ इन्दिरा कांग्रेस की सरकार बनने को रोका है बल्कि यह प्रखर और तेजस्वी बनेगी और केन्द्र का विरोध करेगी।

श्री त्रिभुवन नारायण सिंह के नेतृत्व में बनी सरकार में मन्त्रिमण्डल बनाते समय विभागों के बँटवारे के समय ही हल्की फुसफुसाहट शुरू हो गयी थी। कहा जा सकता है कि श्री त्रिभुवन नारायण सिंह की संविद सरकार एक अभागी सरकार थी जिसके जन्म पर जनता को बहुत खुशी भी नहीं हुई और जिसकी मौत का भी कोई खास गम नहीं मनाया गया।

मन्त्रिमण्डल में संसोपा के शरीक होने पर संसोपा के एक छोटे गुट को परेशानी हुई। इस गुट का नेतृत्व श्री मधु लिमये के हाथों था। यद्यपि सरकार में शामिल होने का जो फैसला राष्ट्रीय समिति ने किया उसमें श्री मधु लिमये शरीक थे परन्तु बाद में उन्होंने अपनी स्थिति बदल दी और उन्होंने जार्ज फर्नांडीस (महामन्त्री, संसोपा) के माध्यम से अन्तिम समय तक यह कोशिश की कि संसोपा मन्त्री शपथ न लें। लेकिन श्री राजनारायण की प्रदेश संगठन में मजबूती के कारण उनके ये प्रयास असफल हो गये। इन प्रयासों के पीछे कोई सिद्धान्त कारण हो ऐसी बात नहीं है बल्कि संसोपा के सरकार में शामिल रहने पर श्री लिमये और श्री फर्नांडीस को यह डर था कि इससे श्री राजनारायण की स्थिति पार्टी में मजबूत होगी। ये दोनों नेता स्वयं जिस प्रदेश से आते हैं वहाँ पार्टी संगठन शून्य है इसलिए आन्तरिक गुटबन्दी और चिढ़न के कारण इन्होंने संविद सरकार से संसोपा को न हटा पाने के बाद उसे गिराने की कोशिश शुरू कर दी।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संसोपा के नेताओं में त्रि० ना० सिंह के नेतृत्व में बनी संविद सरकार को लेकर जो अन्तर्द्वन्द्व और मतभेद था वह एक हद तक संसोपा नेतृत्व के 'संसोपाई चरित्र' छोड़ देने के कारण था। डा० लोहिया की मृत्यु के बाद संसोपा नेतृत्व का एक हिस्सा कुछ नरम हो गया था। विशेषतः कांग्रेस विभाजन के बाद इस वर्ग ने इन्दिरा सरकार के प्रति नरमी और नीतियों के विलयन का रवैया अख्तियार किया। इसका नेतृत्व श्री जार्ज फर्नांडीस के हाथ में था। ये संगठन कांग्रेस को इन्दिरा कांग्रेस से ज्यादा अपवित्र मानते थे और उसके साथ सरकार बनाने के विरोधी थे। उनकी इस दृष्टि के मूल भी 'संसोपाई चरित्र' से इन लोगों के दो सीढ़ी नीचे खिसक जाने का नतीजा था। वस्तुतः पिछले कई सालों से पार्टी बड़े जन आन्दोलनों से बचती रही थी और इस नेतृत्व का जनता से सीधा रिश्ता एक हद तक टूट चुका था। इसलिए ये इन्दिरा सरकार का विरोध करने में झिझकते थे। ये सरकार परस्त अखबारों और प्रचार से भयभीत थे कि कहीं इन्दिरा का विरोध करने पर प्रतिक्रियावादी न कह दिये जायें चूँकि उस समय इन्दिरा समर्थन प्रगतिशीलता और इन्दिरा विरोध प्रतिक्रियावाद का प्रतीक बन गया था। श्री जार्ज फर्नांडीस के सन्दर्भ में यह बात बहुत साफ-साफ श्री राजेन्द्र पुरी ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'अन्तरात्मा का संकट' में लिखी है। श्री लिमये पुराने प्रखर लोहियावादी होने के बावजूद श्री जार्ज फर्नांडीस की इस केन्द्र के प्रति ढीली और गैर-कांग्रेसवाद विरोधी नीति के समर्थक कुछ निजी कारणों और राजनारायण-विरोध के कारण हो गये। कांग्रेस की टूट के बाद सोनपुर सम्मेलन में दोनों ने गैर-कांग्रेसवाद को असंगत ठहराया और वे उत्तर प्रदेश में दूसरी संविद को गिराने के लिए लगातार प्रयत्न करते रहे। श्री राजनारायण अपनी सारी खूबियों-खामियों के बावजूद दल की नीतियों के प्रति दृढ़ और इन्दिरा के घोर विरोधी रवैये के हामी रहे। इसलिए लोहियावादी कार्यकर्ताओं का अधिकांश उनके साथ रहा। इस कारण और उ०प्र० संगठन में अपनी ठोस और मजबूत स्थिति के कारण वे वहाँ संविद बनवाने में सफल हो गये। त्रि० ना० सिंह के चुनाव हारने व बनारस गोलीकाण्ड के समय संसोपा ने सरकार गिराने की बात सोची और स्वयं राजनारायण दोनों बार बहुत खिन्न थे परन्तु केन्द्र के रवैये को देखकर किसी भी तरह लोकसभा के उपचुनावों तक लखनऊ सरकार को चलाने की बात उन्होंने मान ली। यहाँ वस्तुतः गैर-कांग्रेसवाद के सैद्धान्तिक पक्ष को चोट लगी और संविदवाद की नैतिकता व प्रतिष्ठा को धक्का लगा।

छात्रसंघ अध्यादेश एक ऐसा सवाल था जिसका उपयोग संविद के विरुद्ध अच्छी तरह से किया जा सकता था। चौ० चरणसिंह अपनी बात पर अड़े हुए थे और वे उसमें कोई संशोधन कराने को राजी नहीं थे। उधर संसोपा का युवा संगठन समाजवादी युवजन सभा इसे बर्दाश्त करने की स्थिति में नहीं था। काफी खींचतान के बाद बीच का रास्ता निकाला गया। समाजवादी युवजन सभा ने इस बीच के फार्मूले का विरोध किया और अध्यादेश की तत्काल वापसी के लिए 6 दिसम्बर को विधानसभा के सामने प्रदर्शन किया जिसमें स०यु०स० के लगभग 100 लोग गिरफ्तार हुए। संसोपा का राजनारायण विरोधी गुट बराबर इस सवाल को सिर्फ सरकार गिराने के लिए इस्तेमाल करता रहा। मजे की बात यह है कि जब अध्यादेश के विरोध में प्रदर्शन हुआ तब इनमें से कोई मौजूद नहीं था। उस समय राजनारायण स्वयं घटनास्थल पर थे। उन्हीं की वजह से अप्रिय घटना होने से बची। कुल मिलाकर संविद को गिराने को इन्दिरा कांग्रेस के साथ संसोपा के इस गुट की कोशिशें भी चल रही थीं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

इस बार की सरकार में संविद के विभिन्न घटकों के आपसी रिश्ते अच्छे थे। विशेषतः संसोपा और भाक्रान्द में अच्छी पट रही थी। श्री चन्द्रभानु गुप्त, श्री राजनारायण और चौधरी चरणसिंह इस संविद सरकार की कुंजी पुरुष थे और तीनों में अच्छी बन रही थी। लेकिन बावजूद इन सब बातों के संविद अपना कोई प्रभाव अपने काम वगैरा से जनता पर डाल नहीं पा रही थी। हर मामले में फैसलों में ढील-ढाल बरती जा रही थी। प्रशासन इस सरकार की कतई परवाह नहीं करता था। नौकरशाह मन्त्रियों के आदेशों की जान-बूझकर उपेक्षा करने लगे थे। मुख्यमन्त्री स्वयं कमजोर, ढीले-ढाले और सभी को खुश रखने वाले स्वभाव का आदमी था। इस संविद ने लगान माफी के अलावा अन्य कोई ऐसा काम नहीं किया जिससे जनता इसे गैर-कांग्रेसी सरकार समझती। यह सरकार न तो प्रदेश में कोई बड़ा काम कर पा रही थी और न ही केन्द्र के विरुद्ध कोई कदम उठा पा रही थी जिससे कि इसका चेहरा कुछ तेजस्वी हो सके। छात्रसंघ अध्यादेश और निवारक निरोधक अध्यादेश के कारण इसकी साख में भारी कमी आ चुकी थी। तभी यकायक भूतपूर्व मुख्यमन्त्री श्री चरणसिंह के बनारस दौरे के दौरान पुलिस ने निर्दोष छात्रों पर गोली वर्षा कर दी जिससे दर्जनों जानें गयीं। इतनी बड़ी घटना हो जाने के बाद भी सरकार ने न तो इस्तीफा दिया न ही दोषी अपराधियों को कोई कड़ी सजा दी। इस घटना की जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई और संविद का चरित्र गिरा। अब संविद के पतन के दिन शुरू हो चुके थे। बनारस गोलीकाण्ड के सवाल पर संसोपा ने कुछ कड़ा रुख अपनाया लेकिन चूँकि चौ० चरणसिंह खुलकर पुलिस के समर्थन में आ गये इसलिए संसोपा को चुप होना पडा। ज्यादा सख्त होने का सीधा मतलब था सरकार गिराना और लोकसभा के मध्यावधि के चुनाव सर पर थे। इसलिए कोई भी दल सरकार को किसी भी हालत में गिराना नहीं चाहता था।

अभागे मुख्यमन्त्री ने एक और गलती की। गोरखपुर से संगठन कांग्रेस के लोकसभा सदस्य महन्त अवैधनाथ के आमन्त्रण पर वे मनीराम चुनाव क्षेत्र से विधानसभा का चुनाव लड़ने को राजी हो गये। महन्त इस क्षेत्र में काफी बदनाम हो चुके थे। हिन्दू महासभाई और और सवर्ण होने के कारण पिछड़ी जातियों और मुसलमानों में उनका व्यापक और तीव्र विरोध था। कुछ तो यह और कुछ संविद की नपुंसकता और कर्महीनता के कारण मुख्यमन्त्री नई कांग्रेस के एक साधारण उम्मीदवार के मुकाबले चुनाव हार गये। वस्तुतः संविद तो मनीराम में ही मर चुकी थी इसके बाद तो इसकी लाश ढोयी गयी।

विधानसभा का चुनाव हारने पर साधारण तौर पर मुख्यमन्त्री को त्यागपत्र दे देना चाहिए था परन्तु विरोधी दल शंकित थे कि यदि मुख्यमन्त्री इस्तीफा दे देंगे तो पहले तो नये नेता का चुनाव आसानी से नहीं हो पायेगा और अगर हो गया तो राज्यपाल किसी भी कीमत पर उसे सरकार बनाने के लिए बुलायेगा नहीं और इस प्रकार सीधे-सीधे इन्दिरा कांग्रेस की सरकार प्रदेश में बन जायेगी। चुनाव एकदम नजदीक थे। इसलिए संगठन कांग्रेस, संसोपा और जनसंघ ने मुख्यमन्त्री से निवेदन किया कि वे त्यागपत्र न दें। परन्तु भारतीय क्रान्ति दल का इससे मतभेद था। चौ० चरणसिंह लगातार बयान देकर माँग करते रहे कि लोकतान्त्रिक परम्पराओं का तकाजा है कि मुख्यमन्त्री तत्काल त्यागपत्र दे दें। इससे एक अजीब भ्रम और दुविधा की स्थिति पैदा हो गयी। प्रशासन शिथिल और लापरवाह हो गया। जिलाधीश वगैरा इन्दिरा कांग्रेस के आदेशों पर काम करने लगे। अपने चुनाव क्षेत्र मुजफ्फरनगर में प्रशासन के

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

बदलते रुख से घबरा कर चौधरी चरणसिंह को चुप रहना पड़ा और चुनाव में श्री त्रि० ना० सिंह को मुख्यमन्त्री बनाये रखने की बात मान ली गयी।

मध्यावधि चुनावों के दौरान संविद सरकार एक मृत सरकार थी। प्रशासन, नौकरशाही वगैरा पर संविद का कतई कोई असर नहीं था। जिलाधीश इन्दिरा सरकार व उसके दल का समर्थन कर रहे थे। सारी सरकारी मशीनरी चुनाव में संविद दलों के विरुद्ध और इन्दिरा-परस्त हो गयी थी और चुनाव परिणाम खुद एक हद तक इसके गवाह हैं। चुनावों में मोर्चे के उम्मीदवारों की प्रदेश में असफलता ने संविद को एक और आघात दिया। इन्दिरा कांग्रेस की भारी जीत से प्रभावित और आतंकित होकर विधायकों ने दल बदलना शुरू कर दिया। संसोपा, संगठन कांग्रेस व भाक्रान्द से बड़ी तादाद में विधायक पलायन कर गये। काफी तेजी से इन्दिरा कांग्रेस ने खरीद-फरोख्त भी की। अन्ततः, अभागी और अपाहिज संविद सरकार सदन में पराजित होकर समाप्त हो गयी।

निष्कर्ष

6 अप्रैल, 1967 को उत्तर प्रदेश में संविद की जो पहली सरकार बनी उसके पीछे तीन तरह की शक्तियाँ काम कर रही थीं :

(1) विभिन्न दलों में सत्ता की या पद की लालसा।

(2) जन-इच्छा कि गैर-कांग्रेसी पार्टियाँ सरकार बनाने की क्षमता प्रदर्शित करें।

(3) गैर-कांग्रेसवाद की रणनीति।

लेकिन बाद में सत्ता में बने रहना भर मुख्य इच्छा और प्रवृत्ति रह गयी। फलस्वरूप 1967–68 में उत्तर प्रदेश की संविद सरकार प्रदेश की रणनीति और शासन में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं ला सकी। लोहिया ने गैर-कांग्रेसवाद की जो कल्पना की थी उसका लक्ष्य कांग्रेसी कुशासन का एक विकल्प प्रस्तुत करना था।

संयुक्त समाजवादी दल ने अपने चुनाव घोषणा-पत्र और प्रस्तावों में साफ तौर पर कहा था कि गैर-कांग्रेसी सरकारें शब्दों के द्वारा नहीं कर्म के द्वारा बोलें, पहले दिन, एक सप्ताह, एक माह और अधिक से अधिक 6 माह की अवधि में अलग-अलग ढंग के छोटे-बड़े काम पूरे करें। पहले ही सप्ताहों और महीनों में लोगों को यथास्थिति की सरकार के विपरीत परिवर्तन की सरकार के भिन्न तरीकों और नीतियों का परिचय मिल जाये। लेकिन इस रणनीति पर अमल नहीं हुआ। अन्य लोगों में, खास तौर पर मुख्यमन्त्री में, तेजी से कुछ करने की इच्छा नहीं थी। अन्तर्विरोध यही था कि संविद सरकार का आधार तो गैर-कांग्रेसवाद था लेकिन मुख्यमन्त्री बीस सालों तक कांग्रेसी मन्त्री पद का अनुभव रखने वाले और कांग्रेसवादी थे। सामान्यतः उनसे यह उम्मीद नहीं की जा सकती थी कि वे गैर-कांग्रेसवाद की शक्तियों, नीतियों और कार्यक्रमों का नेतृत्व करेंगे। वे परिवर्तन के बजाय यथास्थिति के पक्षधर थे, जब कि सरकार के पीछे जो शक्तियाँ थीं, वे परिवर्तन के लिए दबाव डाल रही थीं। फलस्वरूप अन्तर्विरोध पैदा हुआ।

संविद के दलों ने भी अत्यधिक तुष्टीकरण की गलती की। यह ठीक है कि वे और उनके साथी कांग्रेस छोड़कर न आते तो संविद की सरकार नहीं बन सकती थी और उनके दल-बदल की कुछ कीमत नीति और कार्यक्रमों के स्तर पर देनी ही पड़ती। लेकिन उन्हें बहुत

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अधिक कीमत दी गई। 28 सदस्यों की मन्त्रि-परिषद् में भारतीय क्रान्ति दल के कुल 17 सदस्यों में से मुख्यमन्त्री सहित 8 मन्त्री थे। श्री चन्द्रभानु गुप्त से ही श्री चरणसिंह ने गृह-मन्त्रालय और अपने सहयोगियों में से दो के लिए मन्त्रि-पद की माँग की थी। संविद से उन्होंने निश्चय ही कुछ अधिक अपेक्षा की होगी। लेकिन संविद के नेताओं ने सरकार बनाने की जल्द-बाजी में उन्हें बहुत अधिक महत्त्व दे दिया। यह न जरूरी था न वांछनीय। अनुचित लाभ से लोभ बढ़ता है। चरणसिंह गुट की माँगें बढ़ती ही गयीं, न सिर्फ पद और अधिकार बल्कि कार्य-क्रम पर अमल के सन्दर्भ में भी। चरणसिंह ने न्यूनतम कार्यक्रम के पहले अंग के बारे में कहा था कि वे बेमुनाफे की सभी जोतों पर से नहीं, केवल दो रुपये तक लगान माफ करना स्वीकार करते हैं। वह भी मान लिया गया लेकिन बाद में वे इससे भी मुकर गये कि उन्होंने दबाव में आकर इतना माना था। इससे मिली-जुली सरकार चलाने में बाधा पड़ी।

सरकार चलाने में दिक्कत इसलिए भी आई कि अन्य मन्त्रियों को सरकार चलाने का अनुभव नहीं था और श्री चरणसिंह को मनमानी करने का अवसर मिलता था।

सरकार पर जन-आन्दोलन का दबाव काफी नहीं था। सारी दुनिया में सरकारें यथास्थिति की पोषक होती हैं और बाहर से दबाव पड़ने पर ही बदलाव के लिए काम करती हैं। संविद के दलीय संगठन अपने-अपने मन्त्रियों और उनके पिछलग्गुओं के भी पिछलग्गू बन गये। सत्तारूढ़ दलों के जिला दफ्तरों में स्वार्थी, अवसरवादी और कोटा परमिट पाने के इच्छुक लोग भर गये। सभी स्तरों पर पार्टियों के निःस्वार्थ नेताओं और कार्यकर्ताओं का स्वयं अपने मन्त्रियों से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। बहुत से मन्त्रियों की बोली बदल गयी, सरकार और प्रदेश की राजनीति के प्रति उनका दृष्टिकोण बदल गया। सरकार के अन्तिम काल में ही राजभाषा संशोधन विधेयक के विरुद्ध सक्रिय जनमत ने सरकार पर दबाव डालना शुरू किया।

नीति के स्तर पर भी अन्तर्विरोध सामने आये। उर्दू और गल्ला वसूली के सवाल पर कुछ मामूली मतभेद सामने आये लेकिन बेमुनाफे की खेती पर से लगान खत्म करने के सवाल को लेकर बार-बार संकट उत्पन्न हुआ। आजादी की लड़ाई के वक्त से ही यह किसानों की एक बड़ी माँग थी। इस सवाल पर 50,000 समाजवादी देश के विभिन्न भागों में जेल जा चुके थे। उत्तर प्रदेश के पाँच करोड़ गरीब किसानों पर इसका असर पड़ता था। समाजवादी इस मामले में समझौता नहीं कर सकते थे और श्री चरणसिंह विरोध करते रहे। अक्तूबर 1967 में लोहिया की मृत्यु के बाद लगान खत्म कराने या सरकार छोड़ देने की माँग समाजवादियों में जोर पकड़ने लगी थी।

नवम्बर 1967 से जनवरी 1968 के बीच भाषा आन्दोलन को लेकर टकराव हुआ। भाषा आन्दोलन में छात्रों पर मोदीनगर और रामगंगा परियोजना में हड़ताली मजदूरों पर गोली चली। संसोपा व साम्यवादी इसके विरोधी थे पर चरणसिंह पुलिस के समर्थक।

जनसंघ इन आन्दोलनों में शरीक नहीं था पर मुख्यमन्त्री के साथ जनसंघ के भी सम्बन्ध बिगड़ गये। बड़ा झगड़ा तब हुआ जब मुख्यमन्त्री ने बिना जनसंघ नेताओं की सलाह लिए जनसंघ के मन्त्रियों के विभाग बदल दिये।

आन्तरिक तनावों के अलावा संविद का गठन और उसकी जनता में प्रतिक्रियाएँ ऐसी थीं कि संविद सरकार का सुचारु रूप से काम करना कठिन था। एक तो संसोपा के अलावा कोई भी दल कार्यक्रम पर अमल करने के बारे में गम्भीर नहीं था। संसोपा के नेताओं ने भी

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कार्यक्रम का ऐसा ठोस निरूपण नहीं किया था कि उसके आधार पर ठोस कानून, सरकारी आदेश और अन्य कार्यवाही होती ।

संसोपा ने जब अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन (69) में अपने दो मन्त्रियों श्री प्रभु नारायण सिंह व श्री रामस्वरूप वर्मा को दिल्ली में दफा 144 तोड़कर प्रदर्शन करने भेजा था और ये दोनों मन्त्री केन्द्र सरकार ने गिरफ्तार किये थे तो इसका जनमत पर गहरा असर पड़ा था । परन्तु अन्य घटकों ने इसकी जनता में जाकर आलोचना की । संसोपा के मध्यमवर्गीय नेतृत्व ने इसके बाद जनता के सवालों पर सरकार में रहकर भी आन्दोलन और सत्याग्रह करने की नीति छोड़ दी जिससे संसोपा को नुकसान हुआ, उसमें सरकारी दल के दोष पैदा हुए और उसके मन्त्री भी कांग्रेसी मन्त्रियों की तरह आचरण करने लगे । दूसरे घटक पहले ही ऐसे थे । परिणामतः संविद सरकार गैर-कांग्रेसी चरित्र की सरकार नहीं रह पाई ।

समन्वय समिति का गठन किसी हद तक जरूर एक नई चीज थी । लेकिन वह गम्भीर फैसले करने वाली संस्था से अधिक विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का मंच बन गयी । समय और आलोच्य विषय के अनुसार विभिन्न दलों के नेता उसकी बैठकों में शामिल होते । कभी सदस्यों के अलावा अन्य लोग भी आते । फिर भी उसने एक सीमा तक कुछ काम किया । लेकिन एक ऐसी उच्चस्तरीय समिति की भी जरूरत थी जो नौकरशाही द्वारा प्रस्तुत प्रशासन की रोजमर्रा की समस्याओं को हल करने के सुझाव देती । मन्त्रियों ने भी नौकरशाही के साथ अपने सम्बन्धों की कमजोरियों और कमियों को सामने लाने के बजाय अधिकाधिक दौरे करने का पलायनवादी रास्ता अपनाया । कुछ विशिष्ट अपवादों को छोड़कर मन्त्री फाइलों को निपटाने में मुस्तैद नहीं थे ।

इन सारी बातों के अलावा एक यह तथ्य भी था कि केन्द्र में जब तक यथास्थिति का गढ़ कायम था तब तक प्रदेशों में राजनीति और सरकारें परिवर्तन की दिशा में अधिक कुछ नहीं कर सकती थीं, न ही कर सकीं । राष्ट्रपति शासन का डण्डा तो हमेशा सिर पर रहता ही था । इसके अलावा केन्द्र का अदृश्य हाथ तरह-तरह से हमेशा दखल देता रहता है । अनुदान और सहायता की रकमें रोक रखना, पुरानी कांग्रेसी सरकारों द्वारा लिये गये कर्जों की तत्काल अदायगी की माँग करना, आदि-आदि ।

दूसरी संविद सरकार तो निहायत निकम्मी थी । उसका न प्रशासन पर अंकुश था, न उसकी नीतियों में तेज था । बल्कि वह चौधरी चरणसिंह सरकार के कई पापों को भी पोस रही थी । किसी भी तरह वह सरकार गैर-कांग्रेसी तो नहीं ही थी, पर कांग्रेसी सरकार से अच्छी भी नहीं थी ।

दोनों संविद सरकारें सही मायनों में गैर-कांग्रेसी और तेजस्वी नहीं थीं । बल्कि दिशा-हीन, ढीली, कलही और एक तरह कांग्रेसी परम्पराओं की पोषक थीं । उनके अन्त और अलोकप्रियता का भी यही कारण है ।

गैर-कांग्रेसवाद एक ऐसी रणनीति थी जिसका अगर सही इस्तेमाल किया गया होता तो अक्षरशः वही नतीजे निकलते जिनकी कामना की गयी थी । यदि संविद सरकारों और गैर-कांग्रेसवाद के प्रयोग एक हद तक असफल हुए तो उसमें गैर-कांग्रेसवाद की खामी कारण नहीं थी बल्कि देश भर में राजनीति की भ्रष्ट, तेजहीन और लुंज-पुंज स्थिति तथा राजनेताओं का छोटा मन और कमजोर दिल इसका बड़ा कारण था । गैर-कांग्रेसी दलों में जोखिम और खतरा

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

लेने का साहस नहीं था।

मगर अपनी असफलताओं के वावजूद आज भी गैर-कांग्रेसवाद और संविद सरकार रणनीति की जरूरत है। संसोपा के राजनारायण विरोधी गुट समेत जो लोग गैर-कांग्रेसवाद का विरोध करते हैं वे या तो कायर हैं या जाने-अनजाने इन्दिरा समर्थक। ऐसी वात करने वालों में संविद सरकारों को चलाने में होने वाले तनावों को झेलने की क्षमता नहीं है। ऐसे लोग या तो अतिसंसदीय हैं या भीरु।

उत्तर प्रदेश और अन्य प्रदेशों में मिली-जुली सरकारें फिर वनानी पड़ेंगी और केन्द्र में भी कम से कम पहली गैर-कांग्रेसी सरकार को मिली-जुली सरकार होना पड़ेगा। नेतृत्व और राजनीतिक संगठनों की कमियों के कारण और राजनीति से जन-सामान्य की दूरी के कारण आम तौर पर सारे देश और उत्तर प्रदेश में खासकर राजनीति और सरकार कोई वड़ा काम करने में असफल रहे हैं। राजनीति का मतलव सिर्फ सत्ता राजनीति रह गया है जिसमें शिखर पर सब फैसले होते हैं। जन-सामान्य या साधारण कार्यकर्ता का उसमें कोई हिस्सा नहीं रहता वह सिर्फ असहाय और मूक दर्शक बन जाता है। समय के साथ, खरीद-फरोख्त व दल-बदल से सरकारों के भाग्य बदल रहे हैं। किन्हीं बड़े सवालों, जन-उठान या अन्य संकटों से सरकारें नहीं गिरीं, यह एक अशुभ लक्षण है।

लेकिन यह बात साफ है कि केन्द्र में भारी-भरकम बहुमत वाले दल के विरुद्ध जब जनरोष अपनी सीमा पर पहुँचेगा और उसे सही दिशा मिल जायेगी तब फिर केन्द्र में मिली-जुली सरकार बनाना एक ऐतिहासिक मजबूरी हो जायेगी। वेहतर हो कि उसके पहले ही गैर-कांग्रेस दल बड़े सवालों पर इकट्ठा होकर लड़ें।

उत्तर प्रदेश में कमलापति सरकार के दिन भी शायद ज्यादा नहीं हैं। स्वयं इन्दिरा जी इसे ज्यादा दिन चलाना नहीं चाहेंगी। इसके गिरने या दोबारा चुनाव होने की स्थिति में गैर-कांग्रेसी दलों में कितना एका हो पाता है यह महत्त्वपूर्ण चीज होगी, और यदि एक बार गैर-कांग्रेसी मोर्चा बना और सफल हुआ तो उत्तर प्रदेश की राजनीति दिल्ली में परिवर्तन जरूर ला देगी।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

राजस्थान में राजनीतिक दलों की जन-प्रबोधन भूमिका

विचारात्मक संगतियों व असंगतियों का एक अध्ययन*

मोहनलाल शर्मा

घोषित राजनीतिक मूल्यों व राजनीतिक संयन्त्र की कार्यविधि एवं उपादेयता के बारे में जन-शिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन राजनीतिक दलों का प्रमुख दायित्व होता है। उनसे यह अपेक्षा की जाती है तथा इसी में उनका औचित्य भी निहित है[1] कि वे अपने घोषित उद्देश्यों के समर्थन में जनमत तैयार करें ताकि तदनुरूप कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने में उन्हें व्यापक जन-समर्थन प्राप्त हो सके। चूंकि कार्यक्रमों की क्रियान्विति में शासन प्रमुख साधन है, अतः जनतान्त्रिक प्रणाली में राजनीतिक दलों द्वारा इस दायित्व का निर्वहन और भी आवश्यक हो जाता है। इसी के आधार पर समय-विशेष के लिए शासन संचालन हेतु प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष जन-अनुमति प्राप्त करने की विभिन्न दल प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। अतः सैद्धान्तिक रूप से किसी दल द्वारा वांछित सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था की प्राप्ति हेतु घोषित कार्यक्रमों और तदनुरूप आयोजित जन-शिक्षण के उपक्रमों व प्रक्रियाओं में कोई अन्तर या दुराव नहीं होना चाहिए। परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं हो पाता।[2] जनमत शिक्षण एक

---

* प्रस्तुत लेख की आयोजना एवं लेखन में प्रो० इकबाल नारायण एवं डा० द्वारिका बिहारी माथुर (राजनीतिशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर) से बहुमूल्य सुझाव एवं टिप्पणियाँ प्राप्त हुई हैं। एतदर्थ लेखक उनके प्रति आभारी है।

[1] 'राजनीतिक दल' शब्द में ही यह भाव निहित है। परिभाषा प्रस्तुत करने के उपक्रम में एस० न्यूमेन ने लिखा है कि 'राजनीतिक दल समाज में सक्रिय राजनीतिक तत्त्वों का प्रबुद्ध संगठन है। शासनतन्त्र पर नियन्त्रण उसका अभीष्ट है तथा भिन्न विचारों वाले समूह/समूहों का (जन-समर्थन के लिए) यह प्रतिस्पर्द्धी होता है। इस रूप में यह सामाजिक ताकतों और विचारधाराओं को अधिकृत शासकीय संस्थाओं से जोड़ता है और उन्हें (सामाजिक ताकतों व विचारधाराओं को) महत्तर राजनीतिक समुदाय में होने वाली राजनीतिक क्रियाओं से सम्बद्ध करता है।' इसी अभिप्राय में दायित्वों को स्पष्ट करते हुए न्यूमेन ने आगे लिखा है कि, 'राजनीतिक दल निरन्तर जनमत-संग्रह के समुचित साधन हैं। ···परन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि ये दल असार्वजनिक नागरिक का ही रूप परिवर्तित कर देते हैं। वे उसे राजनीतिक प्राणी के रूप में बदल देते हैं। वे समूह के साथ उसकी एकात्मकता स्थापित करते हैं।' एस० न्यूमेन, 'टूवर्ड ए कम्पेरिटिव स्टडी ऑफ पॉलिटिकल पार्टीज', जीन ब्लोडेल द्वारा सम्पादित 'कम्पेरेटिव गवर्नमेंट' (मैकमिलन, स्टूडेंट एडीशन, 1970) से संकलित, पृ० 71–72।

[2] उदाहरणार्थ, मायरन वीनर ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बारे में लिखा है कि पार्टी का उद्देश्य जहाँ

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

दुरूह व दीर्घावधि प्रक्रिया होती है। राजनीतिक दल इतना समय व साधन नहीं जुटा पाते हैं। फलतः जन-समर्थन के इच्छुक राजनीतिक दल तात्कालिक या आसन्न हितों की पूर्ति हेतु जन-मानस को अपने पक्ष में मोड़ने के लिए तुष्टीकरण की नीति अपना सकते हैं। अपने पक्ष की प्रस्तुति करते समय ये दल कार्यक्रमों को ऐसे लचीले रूप में रख सकते हैं जो घोषित कार्यक्रमों की तुलना में अतिशयोक्तिपूर्ण या असंगत प्रतीत होता हो। सामाजिक संरचना जितनी बहुविधि प्रकृति की होगी, यह सम्भावना उतनी ही अधिक बढ़ जाती है।

प्रस्तुत लेख सिद्धान्त और व्यवहार के इसी साम्य और वैषम्य के अध्ययन का एक प्रयास है। राजनीतिक दलों के उक्त दायित्व को प्रस्तुत लेख में 'जनशिक्षण' मात्र से अधिक व्यापक अर्थ में लिया गया है। 'जनशिक्षण' जहाँ मुख्यतः राजनीतिक दायित्वों के उस सन्दर्भ में अभिप्रेत है, जिसमें राजनीतिक मूल्यों के समाजीकरण का बोध होता है, वहाँ माँग-निरूपण या मुखरीकरण[3] सम्बन्धी दलों के महत्त्वपूर्ण कार्य का इस शब्द के अन्तर्गत समावेश नहीं होता। चूँकि यहाँ उद्देश्य यह जानना है कि जन-समर्थन प्राप्त करने के लिए राजनीतिक दल जनता के मध्य क्या विषय प्रस्तुत करते हैं, अतः उक्त दोनों ही कार्यों (मूल्यों का समाजीकरण और माँग निरूपण) के समावेशनार्थ 'प्रबोधन' शब्द का प्रयोग किया गया है। राजनीतिक मूल्यों के समाजीकरण सम्बन्धी दायित्व के विश्लेषण में मुख्यतः संघात्मक-जनतन्त्रीय व्यवस्था के सन्दर्भ में स्वातन्त्र्य, सामाजिक न्याय और धर्मनिरपेक्षतावाद[4] मूल्यों—जिन पर प्रायः सर्व-दलीय सहमति है—के शिक्षण सम्बन्धी कार्यक्रमों के समावेशन की योजना है।[5] 'माँग निरूपण' सम्बन्धी दायित्व के विश्लेषण में मुख्यतः सामाजिक और आर्थिक माँगों को प्रबोधन भूमिका की प्रकृति और प्रभाविता के अभिसूचकों के रूप में लिया जा रहा है। इनमें समानता पर आधारित समाज (मुख्यतः पिछड़े वर्ग की प्रगति) के स्वरूप-निर्धारण सम्बन्धी नीति, भू-प्रबन्ध और भू-विकास नीति तथा औद्योगिक नीति-सम्बन्धी कार्यक्रमों पर विभिन्न दलों के

देश का आधुनिकीकरण है, वहीं यह अन्तर्विरोधी-सा भी लगता है कि जन-समर्थन के लिए यह दल पारम्परिक समर्थन-आधारों और पारम्परिक तकनीकों का आश्रय लेता है। देखिए मायरन वीनर, 'पार्टी बिल्डिंग इन ए न्यू नेशन : द इण्डियन नेशनल कांग्रेस', (यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो, 1967), पृ० 1–16।

[3] कतिपय विद्वान् राजनीतिक दलों द्वारा माँग-निरूपण कार्य का निष्पादन जनतन्त्र के लिए बहुत श्रेयस्कर नहीं मानते हैं। आमंड का मत है कि वांछनीय स्थिति यह है कि इस कार्य का निष्पादन हितबद्ध समूह करें। बहुधा राजनीतिक दल अपने व्यापक हितों के सन्दर्भ में इस कार्य को लेते हैं, फलतः वे सही परिप्रेक्ष्य में इस कार्य का सम्पादन नहीं कर पाते हैं। इस कारण बहुधा फ्रांस जैसी अराजकतापूर्ण स्थिति उत्पन्न हो जाती है। आमंड, 'इन्ट्रोडक्शन', आमंड और कोलमेन (सम्पादित), 'पॉलिटिक्स ऑफ डेवलपिंग एरियाज', प्रिंसटन-न्यूजर्सी, पेपर बैक प्रिंटिंग, 1970, पृ० 33–38। अधिक स्पष्ट मत के लिए देखिए, आमंड और पॉवेल, 'कम्पेरेटिव पॉलिटिक्स : ए डवलपमेंटल एप्रोच', (लिटिल ब्राउन एण्ड कम्पनी), 1966, पृ० 74–79।

[4] 'धर्मनिरपेक्षतावाद' अंग्रेजी शब्द (सेक्युलरिज्म) का अनुवाद है। 'सेक्युलरिज्म' का तात्पर्य जहाँ यह है कि राज्य किसी भी मत-मतान्तर का पृष्ठ-पोषक न होकर भी सभी को पूजा के समान अवसर देगा, वहाँ यह भी है कि मानव दृष्टिकोण और व्यवहार विज्ञान और विवेकशीलता से निर्देशित होंगे। इस अभिप्राय में धर्मनिरपेक्षतावाद सही अनुवाद नहीं है, फिर भी लोक प्रचलित होने के कारण इसे प्रस्तुत लेख में व्यवहृत किया जा रहा है।

[5] भारतीय संविधान की प्रस्तावना में उक्त सभी तत्त्वों का समावेश है, तथा सभी दल संविधान के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करते हैं। दूसरे विस्तार में अन्तर होते हुए भी सभी दल अपने संविधानों व घोषणा-पत्रों में भी उक्त मूल्यों को ही आधार मानकर अपने कार्यक्रमों का विशद विवरण प्रस्तुत करते हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्रयासों का विश्लेषण है। इससे पूर्व उक्त मूल्यों और माँगों के सन्दर्भ में विभिन्न राजनीतिक दलों की सैद्धान्तिक स्थिति का विवेचन किया गया है।

उक्त रूपरेखा के आधार पर राजनीतिक दलों की जन-प्रबोधन भूमिका को राजस्थान के प्रसंग में विश्लेषित किया जा रहा है।

विशेष विस्तार में न जाकर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि क्षेत्रफल की दृष्टि से भारत का दूसरा बड़ा राज्य होते हुए और प्रचुर खनिज सम्पदा-युक्त होते हुए भी राजस्थान आर्थिक दृष्टि से काफी पिछड़ा हुआ है।[6] सामन्तवादी परम्पराओं का परिणाम आर्थिक पिछड़ापन ही नहीं अपितु सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पिछड़ापन भी रहा।[7]

राजनीतिक दलों का प्रादुर्भाव राजस्थान में मुख्यतः राजस्थान-निर्माण के बाद की घटना है।[8] राजाओं के काल में, मुख्यकर इस सदी के तीसरे दशक से राजनीतिक गतिविधियाँ प्रारम्भ हो गई थीं। परन्तु नागोर, सीकर और झुंझुनू, जहाँ किसान सभा विशेष सक्रिय रही है, को छोड़कर शेष सारे राजपूताने में ये गतिविधियाँ शहरों और कस्बों तक सीमित थीं। सामान्य ग्रामीण जनता जन-जागरण की ज्वार-तरंगों से स्वतन्त्रता से पूर्व काल में अछूती ही रही।[9] प्रादुर्भाव समय के अतिरिक्त दलीय सदस्यता[10] और स्थायी समर्थक समूह को दृष्टि

---

[6] उदाहरणार्थ, चौथी योजना में राज्य द्वारा दी गई राशि राज्यों द्वारा उगाही गई राशि का 2·6% है। राज्य में विनियोजित औद्योगिक पूँजी समूचे देश से विनियोजित पूँजी का लगभग 3% है। प्रति दस हजार जन-संख्या पर श्रमिक 21 हैं। बहुत बड़ा भू-भाग मरुस्थल होने से कृषि विकास भी अवरुद्ध है। विशेष विवरण के लिए देखिए, एन०सी०ए०ई०आर० द्वारा प्रकाशित, 'टेकनो-इकॉनामिक सर्वे ऑफ राजस्थान' (मार्च 1963); श्री नाथ चतुर्वेदी, 'न्यू इमेज ऑफ राजस्थान' (डायरेक्टोरेट ऑफ पब्लिक रिलेशन्स, राजस्थान सरकार, 1966), तथा 'फोर्थ फाइव इअर प्लान 1969–74' (योजना आयोग, भारत सरकार)।

[7] सांस्कृतिक पिछड़ेपन में हम शिक्षा का प्रतिशत एक संकेत मान सकते हैं। कुल साक्षरता 1961 में 15·21% थी जो 1971 में बढ़कर 18·79% हो सकी जबकि राष्ट्रीय साक्षरता 1961 में 24% थी जो 1971 में 29% हो गई। महिला साक्षरता की स्थिति और भी शोचनीय है। यह 1961 में राजस्थान में 5·84% थी व 1971 में बढ़कर 8·24% हुई।

राजनीतिक पिछड़ेपन का एक संकेत हम विभिन्न चुनावों में प्रतिशत मतदान से ले सकते हैं। यह निम्न सारिणी से स्पष्ट है :

सारिणी 1 : राजस्थान व भारत में प्रतिशत मतदान का तुलनात्मक विवरण

इकाई	1952	1957	1962	1967	1971
राजस्थान	38·2	41·8	52·2	58·2	54·7
भारत	45·7	47·8	55·7	61·4	55·3

[8] देखिए डॉ० के० एल० कमल, 'पार्टी पॉलिटिक्स इन इण्डियन स्टेट' (मुख्यतः प्रथम व अन्तिम अध्याय), एस० चन्द एण्ड कम्पनी, दिल्ली।

[9] इस सन्दर्भ में विस्तृत सूचना के लिए देखिए, के० एस० शर्मा 'पोलिटिकल मूवमेंट एण्ड अवेकनिंग इन राजस्थान' (मिमियोग्राफ्ड — राजस्थान विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ) व आर० एस० दरड़ा, 'ग्रोथ ऑफ रिप्रेजेंटेटिव इंस्टीट्यूशन्स इन राजस्थान' (मिमियोग्राफ्ड — राजस्थान विश्वविद्यालय की 1966 में पी०-एच० डी० की उपाधि के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ)।

[10] एस० पी० वर्मा और सहयोगियों द्वारा आयोजित राजस्थान में मतदान व्यवहार के अध्ययन में भी यह स्पष्ट है। देखिए—एस० पी० वर्मा एण्ड ऐसोशिएट्स, 'वोटिंग बिहेवियर इन राजस्थान : ए स्टडी ऑफ फोर्थ जनरल

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

से[11] भी राजस्थान में राजनीतिक दलों की गतिविधियाँ जनता में गहरी पैठी प्रतीत नहीं होती हैं। इसके बावजूद राजस्थान में सभी प्रमुख दल राष्ट्रीय दल रहे हैं, तथा क्षेत्रीय दल पनप नहीं पाये हैं, यद्यपि उनके लिए माँग उठती रही है।[12] इसके अतिरिक्त राजस्थान में दल-व्यवस्था की विशेषता यह रही है कि राजस्थान निर्माण काल से ही यहाँ कांग्रेस और दक्षिणपंथी दल राजनीति में प्रभावी रहे। वामपंथी दलों के यत्र-तत्र और कतिपय अस्थायी प्रभाव क्षेत्र रहे हैं।[13]

राजनीतिक दलों की जनप्रबोधन भूमिका विचारधारात्मक परिप्रेक्ष्य में कहाँ संगत और कहाँ असंगत ठहरती है, इसके विश्लेषण से पूर्व अप्रासंगिक न होगा कि उनकी विचार-धारात्मक मूल प्रवृत्तियों का विवेचन कर लिया जाए। इस सन्दर्भ में दलीय घोषणा पत्रों को आधार बनाया जा रहा है। इसका प्रमुख कारण है कि दलीय संविधानों में वर्णित उद्देश्य जहाँ अति आदर्शात्मक स्थिति को प्रस्तुत करते हैं, वहाँ दलीय घोषणा-पत्रों में लोकप्रिय भावों के अनुकूलन की प्रवृत्ति होती है, साथ ही उनमें अपने समर्थक-समूहों की भावनाओं का भी विशेष ध्यान रहता है।

प्रस्तुत विश्लेषण में 1962, 1967 और 1971 के चुनावों के अवसर पर प्रसारित विभिन्न दलों के घोषणापत्र[14] लिए जा रहे हैं, ताकि विचारधारात्मक आयामों में द्रष्टव्य परिवर्तनों को भी परिलक्षित किया जा सके। इस काल में चूँकि कांग्रेस, स्वतन्त्र, जनसंघ, संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी तथा दोनों कम्युनिस्ट दल प्रमुख दल रहे हैं, अतः इन्हीं दलों की विचारधारात्मक मूल प्रवृत्तियाँ विश्लेषित की जा रही हैं। 1967 के आम चुनावों के अवसर पर कुछ असन्तुष्ट कांग्रेसियों ने जनता पार्टी नामक एक अलग दल की

इलेक्शन्स', मिमियोग्राफ्ड—राजस्थान विश्वविद्यालय, राजनीतिशास्त्र विभाग, 1971, पृ० 492–509।

[11] राजस्थान के विभिन्न सम्भागों में अलग-अलग चुनावों में अलग-अलग दल प्रभुत्वशाली रहे हैं। देखिए इकबाल नारायण व मोहनलाल, 'राजस्थान पोलिटिक्स आफ्टर 1967 : ट्रेंड्स एण्ड प्रोजेक्शन्स', 'इकोनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली', अंक 4, संख्या 5 (20 दिसम्बर, 1969)।

[12] उदाहरणार्थ, बीकानेर के महाराज करणीसिंह ने केन्द्र द्वारा राज्य की सतत उपेक्षा पर खेद प्रकट करते हुए मत व्यक्त किया था कि राजस्थान का दुर्भाग्य यह रहा है कि यहाँ सभी दल अखिल भारतीय हैं। अतः अखिल भारतीय प्रतिबद्धताओं के कारण ये दल क्षेत्रीय हितों की सुरक्षा नहीं कर पाये हैं। अतः यहाँ भी द्र०मु०क० जैसा क्षेत्रीय दल होना चाहिए। 'राष्ट्रदूत', 8 फरवरी, 1968।

[13] वस्तुतः वामपन्थी दलों का प्रभाव बहुधा नेताओं के व्यक्तित्व पर निर्भर रहा है। परिणामतः किसी क्षेत्र में नेताओं के राजनीति में न रहने या प्रभावशून्य हो जाने पर उस क्षेत्र में उस दल का प्रभाव भी समाप्त होता जा रहा है। उदाहरणार्थ, इसी कारण साम्यवादी दल, कभी जोधपुर, कभी ब्यावर और कभी गंगानगर में अपना प्रभाव बढ़ाते या खोते रहे। समाजवादी दलों का भी 1967 में बीकानेर क्षेत्र में प्रभाव काफी कम हो गया था।

[14] विभिन्न पार्टियों के कार्यालयों से प्रकाशित प्रतियों के अतिरिक्त घोषणापत्रों का विवेचन अन्य स्थलों पर भी देखने को मिलता है। जैसे 1962 के घोषणापत्रों और उनके प्रस्तुतीकरण के लिए देखिए एस० एल० पोपलाई (संपादित), '1962 जनरल इलेक्शन्स इन इण्डिया', एलाइड पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, 1962। 1967 के घोषणा-पत्रों के लिए देखिए, पट्टाभिराम, 'जनरल इलेक्शन्स इन इण्डिया 1967 : एन एनजास्टिव स्टडी ऑफ मेन पॉलिटिकल ट्रेंड्स', एलाइड पब्लिशर्स, 1967; और सोबो मेना, 'पार्टी मेनीफेस्टोज—ए रिव्यू', 'पॉलिटिकल साइन्स रिव्यू' (राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के राजनीतिशास्त्र विभाग की त्रैमासिक पत्रिका), अंक 6, संख्या 3 व 4 तथा अंक 7, संख्या 1 व 2, पृष्ठ 1–37; तथा 1971 के घोषणापत्रों के लिए देखिए, 'द टाइम्स ऑफ इण्डिया' जनवरी 11, 19, 20, 22, 25 व 29; और 'लिंक', जनवरी 31, 1971, पृ० 10–12।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

स्थापना की थी। कुछ समय पश्चात् उसका भारतीय क्रान्ति दल में विलय हो गया। परन्तु विचारधारात्मक स्थिति स्पष्ट न होने व संगठनात्मक गतिविधियों के बारे में विशेष सूचनाएँ न होने से इस दल को प्रस्तुत विश्लेषण में समाविष्ट नहीं किया जा रहा है।

संघात्मक-जनतन्त्रात्मक ढाँचे के सम्बन्ध में कांग्रेस वर्तमान व्यवस्था को स्वीकार करती है। भारतीय गणराज्य के प्रारम्भिक वर्षों में केवल भाषायी सीमाओं को राज्यों के गठन का आधार न मानने वाली कांग्रेस को बाद के वर्षों में परिस्थितियों ने स्वतन्त्रता पूर्व की नीति पर लौटने को विवश कर दिया था।[15] कांग्रेस राज्यों के कार्यक्षेत्र के बारे में वर्तमान सांविधानिक व्यवस्था पर्याप्त मानती है। प्रसोपा, संसोपा और स्वतन्त्र पार्टी भी इस स्थिति को मोटे तौर पर स्वीकार करती हैं। तथापि भाषायी आधार को ये दल अधिक स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हैं। दूसरे, दोनों समाजवादी दल जहाँ केन्द्र द्वारा निष्पक्ष और उदार दृष्टिकोण अपनाये जाने पर बल देते हैं, स्वतन्त्र पार्टी सांविधानिक संशोधनों की माँग न करते हुए भी कुछ संस्थागत युक्तियों[16] की व्यवस्था पर बल देती है।[16] भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (भा०क०पा०) एतदर्थ संविधान में संशोधन की उत्सुक है।[17] कुछ अधिक प्रबल आग्रह के स्वरों में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (मा०क०पा०) राज्यों को अधिक स्वायत्तता दिये जाने के पक्ष में है। विभिन्न संयुक्त मोर्चा सरकारों की कार्य-प्रणाली व उनकी असफलता के पुनरावलोकन के बाद यह दल राज्यों को और अधिक स्वायत्तता देने की माँग की ओर प्रवृत्त हुआ है।[18] जनसंघ दल में इस दृष्टि से सर्वाधिक परिवर्तन हुए हैं। 1967 तक यह दल एकात्मक शासन के पक्ष में रहा है। चतुर्थ महानिर्वाचन के बाद इस स्थिति से विमुख हुए बिना ही वह प्रादेशिक आकांक्षाओं को उपेक्षित न करने व राज्यों की शक्तियों की सुरक्षा हेतु केन्द्र की शक्तियों को नियन्त्रित करने पर बल देने लगा है।[19]

फिर भी कुल मिलाकर यह कहना अधिक उचित होगा कि ये दल केन्द्र-राज्य सम्बन्धों

---

[15] 1920 में ही कांग्रेस ने अपने नागपुर अधिवेशन में भाषायी प्रान्तों की व्यवस्था की माँग की थी और अपनी प्रादेशिक इकाइयों का भी इसी आधार पर गठन किया था। विस्तार के लिए देखिए सेलिग हेरिसन, 'इण्डिया —द मोस्ट डेंजरस डिकेड्ज', आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1968, पृ० 273–78।

[16] 1962 के घोषणापत्र में इस पार्टी ने राज्यों को संविधान प्रदत्त शक्तियों, भूमिका और कार्यक्षेत्र पुनः उपलब्ध करवाने का वायदा किया था। पिछले दशक के उत्तरार्द्ध में राज्यों की स्वायत्तता बनाये रखने के लिए सांविधानिक युक्तियों की भी बात की गयी थी।

[17] भारतीय साम्यवादी दल का मत यह रहा है कि राज्य सरकारों के प्रगतिशील कदमों में केन्द्र बाधक बनता है, तो उसका निराकरण और अधिक विकेन्द्रीकरण व जन-आन्दोलनों से किया जाना चाहिए। देखिए, पार्टी घोषणापत्र, 1962, पोपलाई, उपर्युक्त 117–18। 1971 के घोषणापत्र में इसे और स्पष्ट करते हुए राज्यपालों के पद की समाप्ति केन्द्र की आपत्कालीन शक्तियों में आमूल परिवर्तन, राष्ट्रीय एकता में अबाधक कुछ अन्य शक्तियाँ राज्यों को प्रदान करवाने को कहा गया है।

[18] 1971 के घोषणापत्र के अनुसार यह दल राज्यपाल पद और राष्ट्रपति शासन-व्यवस्था की समाप्ति, समवर्ती सूची के अधिकांश विषयों पर राज्यों के नियन्त्रण व केन्द्रीय करों से प्राप्त 75% आय के राज्यों को हस्तान्तरण आदि के लिए संघर्ष करेगा।

[19] देखिए, दिलीप मुकर्जी, 'द जनसंघ डाइलेमा : प्रोपिंग फॉर ए वायेबल पॉलिसी', 'द टाइम्स ऑफ इंडिया', 10 अक्तूबर, 1969। यह भी द्रष्टव्य है कि 1971 के घोषणापत्र में जनसंघ ने एक ओर छोटे-छोटे राज्य

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

पर (चाहे यथास्थिति रहे अथवा केन्द्र की शक्तियों में वृद्धि या कटौती की जाय) राष्ट्रीय एकता की समस्या के रूप में अधिक विचार करते हैं। परन्तु एक ओर स्वतन्त्र व जनसंघ जहाँ आध्यात्मिक और भारतीय मूल्यों के शिक्षण से समस्या का निराकरण करना चाहेंगे, वहाँ दोनों साम्यवादी दल 'प्रतिक्रियावादी' शक्तियों के पराभव और 'प्रगतिशील' शक्तियों की एकता में समस्या का निराकरण खोजेंगे।

प्रजातान्त्रिक पद्धति के बारे में भी इसी प्रकार विस्तृत व्याख्या के सन्दर्भ में मतभेद देखे जा सकते हैं। कांग्रेस के लिए जनता का शासन में भागीदार होना प्रजातान्त्रिक व्यवस्था का सूचक है। दोनों सोशलिस्ट पार्टियाँ मानव के शारीरिक और मानसिक विकास के समान अवसरों से युक्त व्यवस्था पर बल देती हैं।[20] साम्यवादी दल चाहेंगे कि देश की राजनीतिक अर्थव्यवस्था पर 'जनता' का नियन्त्रण हो। दूसरी ओर, स्वतन्त्र पार्टी न्यूनतम नियन्त्रणों की व्यवस्था चाहेगी। समान अवसरों की बात जनसंघ भी करता है और अपेक्षा करता है कि जनता के योग्य प्रतिनिधि भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के प्ररिप्रेक्ष्य में शासन करें।

संघात्मक-प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था के सन्दर्भ में स्वातन्त्र्य, सामाजिक न्याय और धर्म-निरपेक्षतावाद के बारे में भी विभिन्न दलों की अलग-अलग व्याख्याएँ हैं। स्वतन्त्र और जनसंघ के लिए स्वातन्त्र्य और सामाजिक न्याय की उपलब्धि न्यूनतम नियन्त्रणयुक्त व्यवस्था में सम्भव है, ताकि व्यक्ति को अपनी प्रगति के वांछित अवसर प्राप्त हों।[21] कांग्रेस एवं समाजवादी दल चाहते हैं कि व्यक्ति को अपनी क्षमताओं के विकास और अभिव्यक्ति की पूरी स्वतन्त्रता हो, परन्तु साथ ही अवसरों की उपलब्धि समान रूप से हो। एक व्यक्ति या वर्ग दूसरे व्यक्ति या वर्ग के हितों को अनुचित ढंग से क्षति न पहुँचाये, इसके लिए ये दल कुछ नियन्त्रण आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार के नियन्त्रण सामाजिक न्याय ही नहीं स्वतन्त्रता के भी परिपूरक होते हैं। इन्हीं लक्ष्यों की प्राप्ति-हेतु साम्यवादी दलों के लिए नियन्त्रण सर्वोपरि आवश्यकता है, क्योंकि वर्गहित परस्पर विरोधी होते हैं। धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य मोटे रूप से जनसंघ को छोड़कर सभी दलों ने विभिन्न नागरिकों को अपने-अपने मत-मतान्तरों के अनुसार उपासना का अधिकार प्रदान करने के सीमित व संकीर्ण अर्थ से लिया है।[22] अल्पमत (सम्प्रदाय और भाषा

बनाने की प्रवृत्ति की निन्दा की है, वहीं दिल्ली को राज्य स्तर का दर्जा न देने पर भी क्षोभ प्रकट किया है। केन्द्रीय व्यवस्थाओं के प्रति अविश्वास का एक अन्य परिणाम अन्तर्राज्य परिषद् के गठन और राज्यपाल की शक्तियों की स्पष्ट परिभाषा करने की माँग के रूप में दिखाई दे रहा है।

[20] उदाहरणार्थ, प्रसोपा का ध्येय राज्य और अर्थव्यवस्था का मानवीकरण करना रहा है न कि मानव का राज्यीकरण करना।

[21] स्वतन्त्र पार्टी के अनुसार 'बाजार की ताकतों' के निर्बाध संचरण से ही आर्थिक विकृतियों, असन्तुलनों, सामाजिक अन्याय और असमानताओं आदि दोषों का सही निवारण सम्भव है। जनसंघ इस मसले पर इतना स्पष्ट नहीं है। 1971 के चुनाव घोषणापत्र में दल ने वर्तमान व्यवस्था से असहमति प्रकट की है। परन्तु विकल्प के रूप में एक आयोग की स्थापना की बात कहकर चर्चा को वहीं समाप्त कर दिया है।

[22] यद्यपि विस्तार में कुछ अन्तर द्रष्टव्य है। साम्यवादी दलों के अनुसार बहुमत समुदाय की साम्प्रदायिकता और अल्पमत समुदाय की साम्प्रदायिकता में अन्तर किया जाना चाहिए। प्रसोपा और स्वतन्त्र पार्टी, अल्पमत की सुरक्षा हेतु आयोग की स्थापना और उनके सांस्कृतिक विकास के लिए आवश्यक सुविधाओं की व्यवस्था का वायदा करती है। स्वतन्त्र पार्टी का यह भी मत है कि धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य धर्म-विमुखता नहीं है। अपितु राष्ट्र-

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

दोनों ही दृष्टियों से) समुदायों के अधिकारों की व्यवस्था और सुरक्षा के प्रति भी ये दल विशेष आग्रहशील रहे हैं। जनसंघ अल्पमत के स्वतन्त्र अस्तित्व को मान्यता प्रदान करते हुए भी सभी समुदायों के लिए समरूप कानून, समरूप सांस्कृतिक प्रतिमान व एक सम्पर्क भाषा (हिन्दी) के प्रति आग्रह करता रहा है।[23]

विचारधारा के स्तर पर सामाजिक और आर्थिक माँगों का निरूपण विभिन्न दलों ने स्वतन्त्रता, सामाजिक न्याय और धर्मनिरपेक्षतावाद मूल्यों की अपनी धारणा के सन्दर्भ में किया है। जैसा कि पहले ही निर्दिष्ट किया गया है इस प्रसंग में हम समानता पर आधारित समाज की स्थापना, भूप्रबन्ध और भू-विकास नीति, औद्योगिक नीति और शिक्षा के स्वरूप सम्बन्धी विभिन्न दलों के कार्यक्रमों का समावेश कर रहे हैं।

सभी दल इस मसले पर एकमत हैं कि लोक प्रचलित जन्मगत असमानताओं को अमान्य घोषित किया जाये और उनके निराकरण हेतु कतिपय सांविधानिक व्यवस्थाओं का प्रावधान हो ताकि अनुसूचित जाति और जनजाति शेष समुदाय के अभिन्न व समान महत्त्व के अंग बन सकें। सभी दल पिछड़े वर्ग के उत्थान हेतु अधिक धनराशि की व्यवस्था, प्रशासनिक कुशलता और उच्च वर्ग के दृष्टिकोण में परिवर्तन हेतु आन्दोलन की आवश्यकता पर बल देते हैं। विभिन्न उपायों की प्रभाविता का अध्ययन करते रहने के लिए आयोग आदि स्थायी संस्थाओं की आवश्यकता भी इस सन्दर्भ में स्वीकार की जाती है।

जहाँ तक शिक्षा नीति का प्रश्न है, सभी दल इसके द्रुत प्रसार और साथ ही नियोजन अभिमुख प्रणाली के बारे में एकमत हैं। जनसंघ निर्देशक तत्त्वों में की गई व्यवस्था के अनुसार अनिवार्य शिक्षा के पक्ष में है। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी न रहे, इस बारे में भी सभी दल सहमत हैं, परन्तु कुछ दल स्थिति के अनुसार कदम उठाने के पक्ष में हैं और कुछ तत्काल कदम उठाने के। शिक्षा प्रणाली और सामग्री में सुधार की चर्चा भी सभी दल करते हैं, यद्यपि सुधारों की व्यवस्था भिन्न-भिन्न है। जनसंघ के अनुसार पाठ्यक्रम के 'आधुनिकीकरण और भारतीयकरण' की अत्यन्त आवश्यकता है। एतदर्थ शिक्षा को 'राष्ट्रीय संस्कृति और जीवन के मूल्यों से सम्बन्धित' किया जाना चाहिए।[24] स्वतन्त्र पार्टी शिक्षा में आध्यात्मिक अंशों के समावेश पर बल देती है, ताकि राष्ट्र में व्याप्त निराशा, अव्यवस्था और विघटन की प्रक्रिया से निवृत्ति मिले। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी भी शिक्षा के इस रूप में आधुनिकीकरण के प्रति आग्रहशील है जिससे विकासोन्मुख राष्ट्र की आवश्यकताएँ पूरी हों, तथा शिक्षार्थियों में सामाजिक दायित्व व सांस्कृतिक विकास के प्रति प्रेम का संचार सम्भव हो। शेष दल परिवर्तन की दिशा के प्रति

अनुशासन और आत्म-अनुशासन के लिए यह आवश्यक है कि राज्य लोगों में धार्मिक और आध्यात्मिक संस्कारों को जमाने के लिए वांछित वातावरण के सर्जन में योग दें।

[23] चतुर्थ महानिर्वाचन के बाद के कुछ वर्षों में जनसंघ की विचारधारा में, इस दृष्टि से परिस्थितिवश पर्याप्त परिवर्तन आया है। हिन्दी को शासकीय भाषा के रूप में तत्काल प्रतिष्ठापित करने के प्रति आग्रह कम हुआ है। दूसरी ओर समरूप सांस्कृतिक प्रतिमानों को 'भारतीयकरण' शब्द के माध्यम से अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है तथा समग्र रूप में किसी समुदाय को इंगित न किये जाते हुए भी उन समूहों या व्यक्तियों के भारतीयकरण की माँग की गयी जिनकी सर्वोपरि निष्ठा भारत के प्रति नहीं है। देखिए, 'द टाइम्स ऑफ इण्डिया', 24 व 31 दिसम्बर 1971।

[24] 1967 चुनाव का घोषणापत्र।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

स्पष्ट नहीं हैं ।

भू-प्रबन्ध और भूमि-विकास सुधारों की आवश्यकता भी सभी दल महसूस करते हैं। कांग्रेस पार्टी महसूस करती है कि खातेदारी अधिकारों की सुरक्षा, बटाईदारों को उचित हक, भूमिहीन कृषि-मजदूरों को उचित मजदूरी का प्रबन्ध तथा भूमि का वितरण आदि जरूरी है। छोटी जोतों वालों के लिए जहाँ अलग से साधनों की व्यवस्था की जानी चाहिए, वहीं उनके साधनों के संयोजन के लिए सहकारी खेती को भी प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। स्वतन्त्र पार्टी ने भूमि सुधारों के प्रति उत्तरोत्तर स्पष्ट व तनिक परिवर्तित दृष्टिकोण अपनाया है। कृषिहर मजदूरों के लिए उचित मजदूरी, छोटे किसानों की सहायता आदि के लिए यह पार्टी विशेष व्यवस्था करने के पक्ष में है। परन्तु कृषक स्वामित्व की रक्षा और सहकारी कृषि के विरोध के लिए भी यह पार्टी प्रतिबद्ध है। सहकारी खेती के अतिरिक्त अन्य सभी बिन्दुओं पर जनसंघ कांग्रेस के निकट है। स्वतन्त्र की तरह जनसंघ भी सहकारी खेती को साम्यवादी शासन की प्रतिछाया मानकर विरोध करता है। दोनों समाजवादी दल इस सन्दर्भ में कांग्रेस के निकट हैं, सिवाय इसके कि संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी प्रतीकात्मकता के नाम पर तत्काल भू-राजस्व को समाप्त करना चाहती है। दोनों साम्यवादी दल भूमि सुधारों के तेजी से क्रियान्वयन के पक्ष में हैं। कांग्रेस से उनका मतान्तर कुछ इन बिन्दुओं पर है : जोत की सीमा को 30 मानक एकड़ से कम करें, भू-राजस्व के स्थान पर कृषि आयकर की वसूली जमीन जोतने वाले को मिले, छोटी जोतों वालों को विशेष सहायता तथा भूमि का पुनर्वितरण, जिसमें खेतिहर मजदूरों को प्राथमिकता मिले। द्रष्टव्य यह है कि यह मतान्तर प्रकार का उतना नहीं, जितना मात्रा का है और दोषरहित क्रियान्वयन के लिए आग्रह का है।

औद्योगिक नीति के बारे में भी विभिन्न पार्टियों की विचारधारा में अन्तर उक्त क्रम में ही है। कांग्रेस अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र की प्रमुख भूमिका को स्वीकार करते हुए भी मिश्रित अर्थव्यवस्था के पक्ष में है। 1962 के मुकाबले 1967 एवं पश्चात्वर्ती घोषणा-पत्रों में एक विशिष्ट परिवर्तन यह है कि बीमा और बैंकिंग आदि विशिष्ट सेवाओं के लिए समाजीकरण जैसे अस्पष्ट और बहुअर्थी शब्द के स्थान पर राष्ट्रीयकरण शब्द का उपयोग प्रारम्भ किया गया। स्वतन्त्र और जनसंघ कांग्रेस के योजनाबद्ध विकास की नीति को अधिनायकवादी मानते हुए विकेन्द्रीकृत नियोजन की बात करते हैं, तथा निजी क्षेत्र पर अत्यधिक नियन्त्रण को आत्मघाती मानते हैं। दोनों समाजवादी दल निजी क्षेत्रों के साथ ही सार्वजनिक क्षेत्र पर नियन्त्रण की आवश्यकता स्वीकार करते हैं। वे चाहते हैं कि राज्य के स्थान पर श्रमिक संगठन इन उद्योगों की व्यवस्था में भागीदार बनें, ताकि नौकरशाही की यान्त्रिक व्यवस्था से बचा जा सके।[25] दोनों साम्यवादी दल योजनाबद्ध रूप में सार्वजनिक क्षेत्रों की अर्थव्यवस्था में अग्रणी स्थान दिलवाने और निजी क्षेत्र में भी प्रबन्ध व्यवस्था में श्रमिकों को भागीदार बनाने, लाभांश को नियन्त्रित करने और एकाधिकारवादी प्रवृत्तियों को पनपने न देने के प्रति आग्रहशील हैं।

कुटीर और लघु उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए सभी दलों का आग्रह रहा है। परन्तु इस दृष्टि से स्वतन्त्र और प्रसोपा विशेष संरक्षण देने की चर्चा करते हैं, तथा कच्चे माल, ऋण, बाजार आदि के सहज उपलब्ध करवाये जाने पर बल देते हैं। इससे कृषि पर जनभार कम हो

[25] देखिए प्रसोपा का 1962 का घोषणापत्र।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सकेगा। प्रसोपा का उद्देश्य कृषि और औद्योगिक विकास को ग्रामीण क्षेत्रों में भी परस्पर सम्बद्ध करना है।

उपर्युक्त वर्णन में हमने विभिन्न विषयों पर अलग-अलग राजनीतिक दलों की विचार-धारा का अवलोकन किया है। कतिपय विषयों पर राजनीतिक दलों में आम सहमति है अन्य पर असहमति। परन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि जनता को इन सब विषयों से कहाँ अवगत कराया जाता है, और जनता के समक्ष जो विषय प्रस्तुत किये जाते हैं, वे विचारधारात्मक स्थितियों से कहाँ तक संगत और कहाँ तक असंगत कहे जा सकते हैं। यह भी द्रष्टव्य है कि ये संगतियाँ और असंगतियाँ किन स्थलों पर अधिक पायी जाती हैं अर्थात् चुनावों के अवसर पर या चुनाव-अतिरिक्त अवसरों पर तथा विधानसभा में या किसी विधानसभा से बाहर।

इस सन्दर्भ में हम पिछला एक दशक ले रहे हैं। इसमें तीसरे आम चुनाव से वर्तमान की अवधि (जबकि पाँचवें विधान सभा चुनावों की तैयारी हो रही है) का समावेश हो जाता है। प्रथमतः 'मूल्यों के समाजीकरण' सम्बन्धी भूमिका का विवेचन किया जा रहा है, तत्पश्चात् 'माँग निरूपण' (सामाजिक व आर्थिक) भूमिका का।

संघात्मक स्वरूप की जनमानस में प्रतिष्ठा के सन्दर्भ में द्रष्टव्य है कि विभिन्न राज-नीतिक दल राष्ट्रीय (या अधिक स्पष्टतः केन्द्रीय) परिप्रेक्ष्य के प्रति अधिक सचेष्ट रहे हैं। इस कारण एकीकृत इकाई के रूप में राजस्थान के अपने 'तादात्म्य' के प्रस्तुतीकरण का प्रश्न राजनीतिक दलों की योजनाओं में स्थान नहीं पा सका है।[26] राजस्थानी भाषा को सांविधानिक मान्यता दिलवाये जाने के प्रश्न से यह स्पष्ट है। कांग्रेस का एक गुट विधानसभा एवं लोकसभा में एतदर्थ माँग प्रस्तुत करता रहा है। परन्तु प्रभुत्वशील गुट इस प्रश्न की उपेक्षा करता रहा है।[27] विरोधी पक्षों में किसी भी दल का इस प्रश्न को अधिकृत समर्थन नहीं मिल पाया है। स्वतन्त्र पार्टी एवं साम्यवादी पार्टियाँ जो प्रादेशिक विभिन्नताओं के प्रति अधिक संवेदनशील रही हैं, के लिए भी यह उतना ही सही है।[28]

---

[26] राजस्थान 22 देशी रियासतों के गठन का परिणाम हैं। कुछ रियासतों में पारस्परिक वैमनस्य रहा है। परिणामतः राजस्थान निर्माण के समय उन समान प्रतीकों का अभाव ही था जो राज्य के स्वतन्त्र तादात्म्य का बोध करवा सकें। बाद में भी इस पक्ष की उपेक्षा ही रही। आशय यह नहीं है कि राज्यों का 'तादात्म्य' बोध उन्हें केन्द्र का प्रतिस्पर्धी बनाये, अपितु यह है कि केन्द्र के साथ ही राज्यों के पृथक् व एकीकृत तादात्म्य का भी बोध होना चाहिए।

[27] इस प्रश्न पर मतभेद वैसे दलीय आधार पर कम और क्षेत्रीय आधार पर अधिक रहे हैं। राजस्थानी भाषा को सरकारी कामकाज की भाषा घोषित करवाने के लिए मुख्यतः जोधपुर और बीकानेर के कांग्रेसियों का आग्रह रहा है, जबकि उदयपुर-जयपुर क्षेत्रीय गुट जो कांग्रेस में प्रभुत्वशील है, इस माँग का विरोधी रहा है। अधिकतम छूट जो यह गुट देने के लिए तत्पर रहा है, वह अगस्त 1967 के राज्य मन्त्रिमण्डल के एक निर्णय से स्पष्ट है। तदनुसार केन्द्रीय सरकार से राजस्थानी को मैथिली की भाँति साहित्यिक भाषा का दर्जा प्रदान करने का अनुरोध किया गया था। 'राष्ट्रदूत', 14 अगस्त, 1967। अन्य प्रमुख कांग्रेसियों के विचारों के लिए देखिए वही, एवं 17 सितम्बर, 1967।

[28] उदाहरणार्थ उदयपुर में एक संवाददाता सम्मेलन में दल के नेता महारावल लक्ष्मणसिंह ने हिन्दी को राजस्थान की अधिकृत भाषा बतलाया था। वही, 13 दिसम्बर, 1967। इसी प्रकार प्रदेश स्वतन्त्र पार्टी की कार्य समिति ने अपने दल के राष्ट्रीय संगठन में से उत्तरी क्षेत्रों के लिए अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी का भी प्रयोग प्रारम्भ करने का अनुरोध किया था। वही, 16 मई, 1970।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अति-राष्ट्रपरकता के साथ ही अति उपक्षेत्रीयता के कारण भी राजस्थान का अपना तादात्म्य नहीं बन पाया है। उच्च न्यायालय के न्यायपीठ की जयपुर में स्थापना की माँग पर एक ओर जहाँ कांग्रेस, जनसंघ, स्वतन्त्र, प्रसोपा आदि दलों की जयपुर क्षेत्रीय शाखाएँ जयपुर में बेंच की स्थापना के लिए आन्दोलन एवं अन्य रूपों में मांग प्रस्तुत करती रही हैं, वहाँ इन्हीं दलों की जोधपुर क्षेत्रीय शाखाएँ एकीकृत न्याय व्यवस्था की पक्षधर रही हैं। विश्वविद्यालयों की स्थापना, सिंचाई एवं अन्य विकास परियोजनाओं की समारम्भ-सम्बन्धी माँगें भी उपक्षेत्रीयतावाद से निर्देशित रही हैं।[29]

केन्द्र एवं राज्य के अथवा अन्य अन्तर्राज्यीय विवादों के प्रस्तुतीकरण के सन्दर्भ में यह द्रष्टव्य है कि राजनीतिक दल विषयों के प्रस्तुत करने तक सीमित रहे हैं। राजस्थान नहर परियोजना का राष्ट्रीय परियोजना के रूप में संचालन, लूनकरणसर लिफ्ट सिंचाई योजना की स्वीकृति, भाखरा और चम्बल घाटी परियोजना, सतपुड़ा ताप बिजली घर परियोजना, आदि के प्रबन्ध व इनसे प्राप्त लाभों में राजस्थान के 'उचित' हिस्से सम्बन्धी विवाद में विभिन्न दलों ने जन-आन्दोलन की धमकियाँ भी दीं, परन्तु ये सब पत्रों के लिए विज्ञप्तियाँ ही अधिक रही हैं।[30] एक अपवाद कडाना बाँध की ऊँचाई में कमी किये जाने की माँग को लेकर दक्षिणी राजस्थान में हुआ आन्दोलन है। परन्तु यह आदिवासी भीलों में अन्य प्रश्नों को लेकर फैले असन्तोष की ही परिणति थी।[31] राजनीतिक दलों (मुख्यकर स्वतन्त्र व संसोपा) ने आदिवासियों के असन्तोष को ही अधिक प्रतिध्वनित किया है। इस सन्दर्भ में नवीनतम उदाहरण सवाई माधोपुर में तेल-शोधक कारखाने की माँग रही है। प्रारम्भिक समाचारों के अनुसार फरीदाबाद (हरियाणा) के इस हेतु चयन की अधिक सम्भावना थी, तब विभिन्न राजनीतिक दलों ने राजस्थान की पिछड़ी आर्थिक स्थिति की दृष्टि से ओझल किये जाने पर जन-आन्दोलन की चेतावनी दी थी, परन्तु हाल ही में आगरा के एतदर्थ चुने जाने की सम्भावना बढ़ जाने पर भी कहीं से कोई विशेष प्रतिक्रिया प्राप्त नहीं हुई। न्यूनाधिक रूप में विभिन्न दलों की

---

[29] इस दृष्टि से कांग्रेसी नेता अग्रणी रहे हैं। प्रारम्भ में विरोधी दलों के सदस्यों के विचारों से वे सहमति जाहिर करते रहे कि केवल उदयपुर क्षेत्र के विकास पर राज्य शासन का ध्यान है। परन्तु अब उपक्षेत्रीयतावाद सम्बन्धी दो गुट स्पष्ट हो गये हैं। एक गुट जहाँ पश्चिमी राजस्थान को उपेक्षा के आरोप लगाते हुए अलग राज्य की मांग तक उठाने की धमकी देता रहा है, वहाँ दूसरा गुट पूर्वी राजस्थान के विकास को उपेक्षा का आरोप लगाता रहा है। 'राष्ट्रदूत', 5 मई, 1970। हाल ही में बी० एन० जोशी के संयोजकत्व में इस क्षेत्र के कांग्रेसियों ने एक सम्मेलन के आयोजन का प्रस्ताव किया है जिसमें असमान विकास की समस्या पर विचार किया जाना है। 'राजस्थान पत्रिका', 30 अक्तूबर, 1970।

[30] उदाहरण के लिए लूनकरणसर (बीकानेर) लिफ्ट सिंचाई परियोजना पर केन्द्र द्वारा सहमति रोके जाने पर राजस्थान के कांग्रेस, जनसंघ व संसोपा के राज्य स्तरीय व स्थानीय नेताओं ने जन-आक्रोश के विस्फोट के रूप में गम्भीर परिणामों की चेतावनी दी थी। 'राष्ट्रदूत', 25 जून, 1969. जिसका कोई परिणाम सामने नहीं आया है।

[31] असंतोष के अन्य कारणों के लिए देखिए, 'लिंक' 12 अक्तूबर, 1969। बाँध की ऊँचाई के प्रश्न पर स्वतन्त्र पार्टी के नेता महारावल लक्ष्मण सिंह ने विधानसभा में बोलते हुए कहा था कि 'यदि कडाना बाँध का निर्माण (प्रस्तावित ऊँचाई तक) किया गया तो जनता के मनोबल से उसे तोड़ दिया जायेगा और गुजरात की अकल को ठीक कर दिया जायेगा।' 'राष्ट्रदूत', 28 फरवरी, 1969। अन्य क्षेत्रों की प्रक्रिया के लिए देखिए, वही, 1 जुलाई, 1969।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

राज्य-स्तरीय शाखाओं द्वारा सवाई माधोपुर की स्थानीय शाखाओं के लिए, जहाँ यह कारखाना लगाने के लिए राजस्थान की माँग थी, इस मसले पर जन-आक्रोश को प्रतिध्वनित करने का कार्य छोड़ दिया है।[32] जनसंघ इस ओर विशेष सक्रिय है।[33]

तात्पर्य यह नहीं है कि इस्पात कारखाने को लेकर आंध्र व मैसूर में अथवा तेल शोधक कारखानों की मांग पर असम में चले जैसे उग्र आन्दोलनों का राजनीतिक दल राजस्थान में भी आह्वान करें और शान्ति-व्यवस्था की समस्या उत्पन्न करें।[34] परन्तु राजनीतिक दलों से इतनी अपेक्षा अवश्य है कि यदि विकास-प्रक्रियाओं के दौरान उभरते हुए सरकारी संघ के अन्तर्गत सौदेबाजी एक वैध तकनीक मान ली जाती है तो इस क्रिया में जनता को भी भागीदार बनाया जाये अन्यथा उपेक्षित जनमानस में यदि ये विचार गहरे पैठने लगें कि राजस्थान की सतत उपेक्षा का कारण राज्य में क्षेत्रीय दलों का अभाव है, तो स्थिति अधिक भयावह होगी।[35] वर्तमान में स्वतन्त्र व साम्यवादी दल भी जो कि राज्यों को अधिक स्वायत्तता दिये जाने के पक्ष में हैं, राज्य के हितों के प्रश्न पर विशेष सचेष्ट नहीं रहे हैं। अपितु प्रादेशिक आकांक्षाओं को मुखरित करने में जनसंघ और वैयक्तिक रूप में कांग्रेस के एक वर्ग का अधिक योगदान रहा है।

प्रादेशिक आकांक्षाओं की अपेक्षा राष्ट्रीय महत्त्व के, विशेषकर सुरक्षा सम्बन्धी प्रश्नों के प्रति राजनीतिक दल अधिक संवेदनशील रहे हैं। सीमान्त राज्य होने के कारण सुरक्षा प्रयासों का यहाँ विशेष महत्त्व है। सभी दल राष्ट्र रक्षा के लिए जनता से सक्रिय सहयोग की अपील करते रहे हैं। परन्तु यहाँ भी दलों की प्रवृत्ति अपने दलीय हितों को दृष्टिगत रखते हुए दूसरे दलों की कमजोरियाँ प्रकट करने की रही है। कांग्रेस जनसंघ पर साम्प्रदायिकता के माध्यम से विघटनात्मक शक्तियों को बढ़ावा देने का आरोप लगाती रही है। भारतीय साम्यवादी पार्टी ने, विशेषकर कांग्रेस विभाजन के बाद, जनसंघ के प्रति इन्हीं आरोपों को दोहराया है। दूसरी ओर जनसंघ कांग्रेस पर राष्ट्र-विरोधी शक्तियों से साठ-गांठ रखने और साम्यवादी रवैये से अधिक प्रभावित नीति के कारण 1962 में धोखा खाने और साम्यवादियों पर विदेशियों के हाथों खेलने का आरोप लगाता रहा है।[36]

---

[32] राज्य शाखाओं ने अपनी भूमिका को या तो प्रस्ताव पारित करने तक सीमित रखा है (जैसे स्वतन्त्र पार्टी, वही, 16 मई, 1970) या विधानसभा में बहस आयोजित कर लेने तक। 'राजस्थान पत्रिका', 12 नवम्बर, 1971।

[33] नवीनतम समाचारों के अनुसार जनसंघ ने आगामी 24 नवम्बर को सर्वदलीय सम्मेलन बुलाया है। इस सम्मेलन में एतदर्थ चलाये जाने वाले आन्दोलन की भावी रूपरेखा पर विचार किया जायेगा। वही, 10 नवम्बर, 1971।

[34] इस्पात कारखाने को लेकर चले आन्दोलनों के लिए देखिए, 'द टाइम्स ऑफ इण्डिया', 1 से 7 नवम्बर, 1966 व 'लिंक', 6 नवम्बर, 1966 और असम में तेलशोधक कारखाने के प्रश्न पर चले आन्दोलन के लिए देखिए क्रान्ति सेन, 'असम रिफायनरी मूवमेंट', 'मेनस्ट्रीम', 11 अक्तूबर, 1969, पृ० 13–15।

[35] देखिए बीकानेर महाराजा करणीसिंह का बयान, 'राष्ट्रदूत', 8 फरवरी, 1968।

[36] अगस्त, 1963 में साम्यवादी दल द्वारा राज्य मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध रखे गए अविश्वास प्रस्ताव के प्रति भी जनसंघ की टिप्पणी थी कि यह राष्ट्र-रक्षा प्रयत्नों से ध्यान हटाने का एक प्रयास है। उपर्युक्त, 20 व 21 अगस्त, 1963।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

राजनीतिक दल संघात्मक प्रक्रियाओं के मध्य उठने वाले मसलों पर अपने विचार तो प्रस्तुत करते रहे हैं, परन्तु मुख्यतः विधानसभा या शहरों में सार्वजनिक सभाओं तक ये प्रयास सीमित रहे हैं। दूसरे, तात्कालिक दलीय हितों को प्रमुख स्थान देने के कारण असंगतियाँ स्वाभाविक रूप से आ जाती हैं, जैसे उच्च न्यायालय की बैंच के प्रश्न पर सभी दलों की जयपुर व जोधपुर शाखाओं की परस्पर विरोधी स्थितियाँ।

संघात्मक सम्बन्धों के स्वस्थ संचालन के समकक्ष या इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य जनतान्त्रिक पद्धति का अनुगमन और सात्मीकरण है। जनतन्त्रवाद का सात्मीकरण एक जागरूक प्रयास है। तथापि यह जनता की राजनीतिक, सामाजिक चेतना के स्तर पर पर्याप्ततः अवलम्बित है। अतएव सामान्य जन की जनतान्त्रिक व्यवस्था के प्रति जागरूक सहमति के लिए उसे स्वातन्त्र्य, सामाजिक न्याय आदि के साथ ही संस्थागत व्यवस्थाओं और जनतान्त्रिक प्रक्रियाओं से अवगत कराना भी वाँछनीय है।

कांग्रेसी जनता के समक्ष लोकतन्त्रीय ढाँचे को विकास और समाजवाद की प्राप्ति के साधन के रूप में अधिक प्रस्तुत करते रहे हैं। चूँकि राजस्थान में कांग्रेस का संघर्ष दक्षिणपंथी दलों से रहा है अतः उक्त नीति का अपनाया जाना अधिक आश्चर्यजनक नहीं है। कांग्रेस-विभाजन के बाद यह प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट हुई है। तब से प्रदेश कांग्रेस में नव-शक्ति संचारित करने के उपक्रम में आयोजित तत्कालीन मुख्यमन्त्री सुखाड़िया और अन्य प्रमुख नेताओं के भाषणों से यह स्पष्ट प्रतिध्वनित है। सामान्यतः विषय-वस्तु यह रही है कि समाजवाद की दिशा में देश में परिवर्तन नहीं आया तो खूनी क्रान्ति होगी।[37] साम्यवादी और समाजवादी दल इस चर्चा में विशेष नहीं पड़े हैं। अपनी क्षीणकाय स्थिति में वे कांग्रेस के विरोध में अधिक खोये रहे हैं।[38] दूसरी ओर दक्षिणपंथी दलों ने लोकतन्त्र को एक साध्य के रूप में अधिक प्रस्तुत किया है। स्वतन्त्र और जनसंघ दोनों ही दलों की ओर से कहा गया है कि कांग्रेस ने साम्यवादियों व मुस्लिम लीग से समझौता कर लोकतन्त्र के लिए खतरा उत्पन्न कर दिया है। मौलिक अधिकारों में संशोधन की कांग्रेस द्वारा चर्चा को इसका एक प्रमाण बताया गया है। परन्तु इस दृष्टि से इन दलों को प्रतिरक्षात्मक नीति भी अपनानी पड़ी है। बहुधा इनकी ओर से यह सफाई दी जाती रही कि ये लोकतन्त्र के ही समर्थक हैं, राजतन्त्र के नहीं।

जनतन्त्रवाद के अंगीकरण के बारे में कांग्रेस में एक अन्य प्रवृत्ति भी रही है। पार्टी में एक वर्ग प्रायः ऐसा रहा है जो प्रभुत्वशील वर्ग के अलोकतान्त्रिक कार्यों के प्रति जनता का ध्यान आकर्षित करता रहा है। 1960–62 के लगभग जयनारायण व्यास, एवं पश्चात्वर्ती अवधि में कुम्भाराम आर्य गुट की भूमिकाएँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।[39] जुलाई, 1963 में

---

[37] 'राजस्थान पत्रिका', 16 फरवरी, 1971। इसके अतिरिक्त प्रदेश कांग्रेस एवं जिला कांग्रेस कमेटियों की ओर से जो पर्चे 1971 के लोकसभा के चुनावों के अवसर पर प्रसारित किये गये, उनसे भी यह स्पष्ट है।

[38] इन दलों की प्रादेशिक इकाइयों द्वारा पारित प्रस्ताव। विधानसभा में या बाहर इनके सदस्यों के भाषणों से यह स्पष्ट है। साथ ही देखिये, आर० के० मिश्र, 'पोलिटिकल ट्रेंड्स इन राजस्थान', 'मेनस्ट्रीम', 3 अक्तूबर, 1970, पृ० 21–25।

[39] देखिये श्रेडर, 'राजस्थान'। इस लेख का समावेश मायरन वीनर सम्पादित 'स्टेट पोलिटिक्स इन इण्डिया', प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन न्यूजर्सी, 1968, में किया गया है, पृ० 321–98।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

कांग्रेसी विधायक जगनसिंह का प्रदेश कार्यालय में अनशन भी उल्लेखनीय घटना है।[40] स्थानीय स्तर पर ऐसी और भी घटनाएँ होती रहती हैं।

विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका जैसी संस्थाओं की कार्यविधि के बारे में जनता को सूचित रखने का कार्य राजनीतिक दलों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप में ही अधिक सम्पादित किया गया है। बहुत कम विधायक या उनके दलीय सहयोगी निर्वाचकों को सूचित करते हैं कि (और यह सभी दलों के लिए सही है) अमुक वर्ष क्या कानून पारित किये गये हैं एवं उनके क्या अनुकूल या प्रतिकूल परिणाम हो सकते हैं।[41] चतुर्थ चुनाव के बाद तत्कालीन राज्यपाल डा० सम्पूर्णानन्द द्वारा मोहनलाल सुखाड़िया को मन्त्रिमण्डल के गठन हेतु आमन्त्रित किये जाने के विरोध में प्रतिपक्षी दलों का आक्रोश जयपुर तक ही सीमित रहा था। कांग्रेस ने इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट नीति नहीं अपनाई थी। विधानसभा की राज्य में बहुधा अवहेलना होती रहती है।[42] न्यायपालिका को भी बहुधा उपहासास्पद स्थिति से गुजरना पड़ा है।[43] इस ओर शासकीय या प्रतिपक्षी दलों ने विधानसभा स्थल के अतिरिक्त सार्वजनिक मंच से कोई मसले नहीं रखे हैं।

राजनीतिक विकल्पों के प्रस्तुतीकरण के ढंग पर भी जनतन्त्रवाद के जनसामान्य द्वारा अंगीकृत किये जाने का प्रकार निर्भर रहता है। ये विकल्प नकारात्मक हैं अथवा सकारात्मक ? व्यक्तिपरक हैं अथवा दल परक ? राजस्थान में विभिन्न चुनावों के जो अध्ययन[44] प्रकाशित हुए हैं, उनके आधार पर कतिपय निष्कर्ष इस प्रकार निकाले जा सकते हैं :

---

[40] सीकर जिले में दल के संगठनात्मक चुनावों में अलोकतान्त्रिक तरीकों के प्रयोग के विरोध में यह अनशन किया गया था। 'राजस्थान पत्रिका', 5 जुलाई, 1963। कोटा, अलवर, नागौर आदि क्षेत्रों से भी ऐसी ही शिकायतें प्राप्त हुई हैं। उपर्युक्त, 7 जुलाई, 1963।

[41] इस सन्दर्भ में जो उल्लेख हुआ है वह संसदीय गतिविधियों का अधिक हुआ है। कांग्रेस द्वारा बैंक राष्ट्रीयकरण, प्रिवीपर्स उन्मूलन आदि सम्बन्धी विधियों का अधिक जिक्र किया जायेगा व विधानसभा द्वारा पारित कानूनों का कम। दूसरे, जबकि विधायकों का जन-सम्पर्क बहुत ही कम हो तब वे कैसे उक्त दायित्व का निर्वहन करते होंगे, कहना बड़ा मुश्किल है। राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित चौथे आम चुनाव के समय मतदान व्यवहार के अध्ययन से विदित होता है कि 70% उत्तरदाता अपने क्षेत्र के विधायकों व 72·8% उत्तरदाता अपने क्षेत्र के संसद-सदस्यों का नाम नहीं जानते हैं। एस० पी० वर्मा एण्ड एसोशिएट्स, उपर्युक्त, पृ० 190-94।

[42] उदाहरणार्थ, विधानसभा की अपेक्षाकृत कम बैठकों का आयोजन, मन्त्रियों का अगम्भीर मुद्रा में प्रश्नों व बहसों का जवाब देना, 2–3 या और अधिक वर्षों तक विभिन्न आयोगों व समितियों के प्रतिवेदनों को प्रस्तुत न करना, आदि की ओर इंगित किया जा सकता है।

[43] कांग्रेसी नेता गोलकनाथ मामले, बैंक राष्ट्रीयकरण एवं प्रिवीपर्स के मसलों के सन्दर्भ में न्यायपालिका पर बड़ी हल्की टिप्पणियाँ करते रहे हैं। जयपुर में एक सार्वजनिक सभा को सम्बोधित करते हुए रक्षामन्त्री जगजीवन राम ने कहा कि 'उच्चतम न्यायालय ने फैसला किया है, इनके (राजाओं के) विशेषाधिकार दे दो, प्रिवीपर्स दे दो। क्या पता उनके दिमाग में आ जाये कि किसी देशी रजवाड़ों के राज्य भी वापिस कर दो।' 'राजस्थान पत्रिका', 15 फरवरी, 1971।

गैर-कांग्रेसी दल सस्ती न्याय-व्यवस्था की माँग करते रहे हैं। चुनाव याचिकाओं के सन्दर्भ में विशेषकर जनसंघ और सं० सो० पा० ने न्याय-व्यवस्था के प्रति दबा हुआ असन्तोष भी जाहिर किया है। फिर भी जैसा बैरी आयोग व छमाणी आयोग के प्रतिवेदनों की यथारूप स्वीकृति के प्रति उनके आन्दोलन से स्पष्ट है, वे न्यायपालिका को और अधिक महत्त्व दिये जाने के प्रति आग्रहशील रहे हैं।

[44] कतिपय अध्ययन इस प्रकार हैं : एस० पी० वर्मा और सी० पी० भांभरी, 'इलेक्शन्स एण्ड पोलिटिकल कांशसनेस इन इण्डिया : ए स्टडी आफ 1962 इलेक्शन्स' (मीनाक्षी प्रकाशन, 1967); एस० पी० वर्मा एण्ड एसो-

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सारिणी 2 : दलीय प्राथमिकता (जिसे मत दिया है) एवं व्यक्ति-दलीय अभिमुखता का एक तुलनात्मक विवरण

व्यक्ति या दलीय अभिमुखता	तरंग*	कांग्रेस	स्वतन्त्र	साम्यवादी	जनसंघ	समाजवादी	अन्य	मालूम नहीं	योग
दल	प्रथम	18·6	6·3	18·7	15·1	—	7·7	29·3	15·2
	द्वितीय	22·6	11·3	12·9	16·0	—	2·8	28·6	16·2
प्रत्याशी	प्रथम	55·9	49·3	62·5	47·7	41·7	79·5	24·4	52·0
	द्वितीय	47·3	24·5	54·8	48·8	54·5	58·3	22·8	41·8
उभय	प्रथम	2·0	6·3	6·3	7·0	16·6	—	12.2	5·6
	द्वितीय	10·7	26·5	12·9	22·3	—	26·7	20·0	17·3
नहीं मालूम	प्रथम	23·5	38·1	12·5	30·0	41·7	12·7	43·1	27·2
	द्वितीय	19·4	37·8	19·4	21·0	45·5	22·2	28·6	24·7
योग	प्रतिशत	100·0	100·0	100·0	100·0	100·0	100·0	100·0	100·0
कुल उत्तरदाता (संख्या)	प्रथम	102	63	32	39	12	39	41	37·5
	द्वितीय	103	53	31	36	11	36	35	34·0

* प्रथम तरंग सर्वेक्षण चुनाव से लगभग एक मास पूर्व एवं द्वितीय तरंग सर्वेक्षण एक सप्ताह पूर्व आयोजित किया गया था।

स्रोत : एस० पी० वर्मा और एसोशिएट्स, उपर्युक्त पृ० 389।

(1) राजस्थान में चुनाव प्रचार मुख्यतः व्यक्ति अभिमुख होता रहा है। यह उग्र विचारधारा वाले दलों के लिए भी उतना ही सही है, जितना कि नरम विचारधारा वाले दलों के लिए। पृष्ठ 212 पर दी हुई सारिणी 2 से स्पष्ट है कि सर्वाधिक मतदाता विभिन्न दलों के प्रत्याशियों के व्यक्तित्व को देखकर मत देते हैं। दूसरी तरंग में समाजवादी दल के अतिरिक्त अन्य दलों के लिए इस प्रतिशत में कमी होती है। परन्तु यह विचलन दलपरक प्राथमिकताओं में कम और 'उभय' की ओर अधिक है। लगभग पंचमांश ऐसे मतदाता हैं जो यह नहीं जानते कि मतदान क्यों करते हैं। स्वतन्त्र और समाजवादी दलों के मामले में यह प्रतिशत कुछ अधिक ही हैं।

(2) प्रतिनिध्यात्मक शासन-प्रणाली की कार्यविधि की जानकारी बहुत कम लोगों को होनी चाहिए, क्योंकि 5 वर्ष की अवधि के उपरान्त भी आधे से अधिक मतदाता नहीं जानते कि उनके क्षेत्र से निवर्तमान विधायक और संसद-सदस्य कौन हैं।

(3) चुनावों के दौरान स्थानीय महत्त्व के मसले ही मुख्यतः उठाये जाते हैं। पाँचवें लोकसभा चुनावों के लिए भी यह सही है, हालांकि विश्रृङ्खलन के परिप्रेक्ष्य में अपेक्षा राष्ट्रीय महत्त्व के मसलों को उठाये जाने की थी। विशाल जनसभाएँ एक सीमा तक अपवाद हैं।

(4) राजनीतिक दलों का जन-सम्पर्क अपने कार्यक्रमों और कार्यकर्ताओं के माध्यम से कम तथा स्थानीय प्रभावशाली व्यक्तियों के माध्यम से अधिक होता है।

(5) दलीय अभिमुखता के स्थान पर व्यक्ति अभिमुखता का प्राधान्य इससे भी स्पष्ट है कि मतदाता एक ही बार में लोकसभा के लिए एक दल को और विधानसभा के लिए दूसरे दल को मत देते हैं।

अन्तिमतः विकेन्द्रीकृत जनतान्त्रिक व्यवस्था के बारे में जनजागृति की दिशा में किसी भी दल के विशेष प्रयास नहीं रहे हैं। प्रारम्भ के वर्षों में पंचायती राज्य को कांग्रेस ने 'विश्वास की वस्तु' कहा था। तभी उसने सरपंच सम्मेलनों और ग्राम सभाओं के माध्यम से पंचायती राज्य के बारे में जनमानस को अवगत कराने की ओर भी रुचि दिखाई। अन्य दल निम्नात् नियोजन की बात तो करते रहे, परन्तु इससे अधिक रुचि उन्होंने नहीं दिखाई है। परिणामतः जनसंघियों और साम्यवादियों द्वारा आदर्श के रूप में क्रमशः 'जनपद व्यवस्था' और 'जन न्यायालयों' की चर्चा विधानसभा की चहारदीवारी के अन्दर ही कर ली गयी। पंचायती राज्य संस्थाओं को क्षुधातुर, अशक्त और अलोकप्रिय रखने की नीति[45] पर बहस भी विधानसभा तक

शियेट्स, उपर्युक्त; बी० एल० महेश्वरी, 'कैम्पेन टेकनीक्स एण्ड आरगनाइजेशन', 'पोलिटिकल साइन्स रिव्यू', अंक 6, संख्या 3 व 4 तथा अंक 7, संख्या 1 व 2, पृ० 87–115; के० सी० पाण्डे, 'द पोल वर्डिक्ट इन राजस्थान', उपर्युक्त, पृ० 462–84; पी० सी० माथुर, 'डायनेमिक्स ऑफ रेंडम वोटिंग', 'इण्डियन जनरल इलेक्शन्स : द केस ऑफ अलवर लोकसभा कांस्टीट्यूएन्सी', उपर्युक्त (पृ० 553–84); आनन्द चतुर्वेदी, 'जनरल इलेक्शन्स ऑफ 1967, इन ए राजस्थान विलेज', 'इकॉनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली', अंक 6, संख्या 33, 14 अगस्त 1971; और इकबाल नारायण एवं मोहनलाल, 'इलेक्शन्स, पोलोटिक्स, सेक्यूलराइजेशन प्रोसेस एण्ड पोलिटिकल डेवलपमेंट, द स्टडी ऑफ फिफथ लोकसभा इलेक्शन्स इन राजस्थान', 'एशियन सर्वे', दिसम्बर, 1971, अंक 1।

[45] अफसरशाही यद्यपि प्रारम्भ से ही इन संस्थाओं को समाप्तप्राय करने के पक्ष में थी। 'लिंक', 27 मई, 1971। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने 1967 के चुनाव परिणामों के बाद ही इस नीति को अपनाया है। फलतः इनकी वित्तीय एवं विकास कार्य सम्बन्धी शक्तियाँ वापिस ले ली गयी हैं व 7 वर्षों से चुनाव नहीं करवाये गये हैं, जिससे कि ये संस्थायें अशक्त तथा अलोकप्रिय ही रहीं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

ही सीमित रही है। शासकीय दल की संगठनात्मक शाखाओं में भी जब कभी यह प्रश्न उठे, उन्हें दृष्टि से ओझल ही किया गया। अधिक-से-अधिक पंचायती राज्य की कार्य-प्रणाली के अध्ययन हेतु विशेष निकाय के गठन का आश्वासन दिया गया।

जनतन्त्रवाद का अंगीकरण एक सीमा तक स्वातन्त्र्य, सामाजिक न्याय और धर्म-निरपेक्षतावाद जैसे सह-मूल्यों के अंगीकरण पर निर्भर है। वस्तुतः प्रतिनिध्यात्मक, संस्थागत व्यवस्था व तत्सम्बन्धी जनतान्त्रिक प्रक्रियाएँ जनतन्त्रवाद के ढाँचे का ही निर्माण करती हैं। उसकी आत्मा तो ये सह-मूल्य ही हैं।

पिछली पृष्ठभूमि के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि विभिन्न राजनीतिक दलों ने जनतन्त्रवादी व्यवस्था के मुकाबले इन सह-मूल्यों पर अधिक ध्यान दिया है। कांग्रेस की ओर से 'स्वातन्त्र्य' की प्रतीति के प्रयास समाज के निम्न और मध्यम वर्ग की ओर अधिक उन्मुख रहे हैं। पार्टी की ओर से सार्वजनिक सभाओं एवं विधानसभा स्थल से यह कहा जाता रहा कि सामान्य जनता को व्यावसायिक स्वातन्त्र्य (खातेदारी की सुरक्षा सहित), और सामाजिक आचार-व्यवहार (श्लीलता की परिधि में) सम्बन्धी स्वातन्त्र्य और मताभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य (पत्रों व मत-पत्रों के माध्यम से) की उपलब्धि करवाने के लिए कांग्रेस प्रतिबद्ध और सक्रिय है। परन्तु पार्टी की स्थानीय शाखाओं ने इस दिशा में विशेष प्रयास नहीं किये हैं। निम्न वर्ग को अपने अधिकारों की प्रतीति करवाने से तो वे दूर रही हैं, परन्तु समय-समय पर आभूषण धारण करने, बारात सजाने, भूस्वामित्व वहन करने और मताधिकार का निर्भीक प्रयोग करने से निम्न वर्ग वालों को रोके जाने के प्रयासों के विरुद्ध भी वे शान्त रही हैं।[46] यत्र-तत्र स्थानीय नेता स्वयं इन प्रयासों में शरीक रहे हैं।[47]

गैर-कांग्रेसी पार्टियों की ओर से स्वातन्त्र्य सम्बन्धी अधिकांश मसले घटना-क्रम घटित हो जाने के उपरान्त उठाये गये हैं। कांग्रेस की तरह ही उनके भी इस दिशा में पूर्व आयोजित कार्यक्रम नगण्य रहे हैं।[48] दूसरे, जिस रूप में ये मसले उठाये गये हैं, उनसे यह स्पष्ट विदित नहीं होता कि वामपंथी एवं दक्षिणपंथी दलों में कोई अन्तर है। तीसरे, कुछ प्रकरणों के अतिरिक्त अधिकांश मसले विधानसभा स्थल पर ही उठाये गये हैं। एक प्रमुख अपवाद

---

[46] पुराने अनेकों वृत्तान्तों की ओर ध्यान न भी दें तो भी हाल ही में लोकसभा चुनावों में मतदान न करने देने के सम्बन्ध में बीकानेर जिले में हरिजनों की एक बारात को पीटे जाने की, जयपुर जिले की बस्ती तहसील के कई गाँवों में हरिजनों को पैतृक धन्धा न करने पर गाँव से निष्कासित करने आदि की घटनाएँ हुई हैं। इन सब पर स्थानीय कांग्रेसियों का दृष्टिकोण उपेक्षा या अधिक-से-अधिक समझौते करवाने का रहा है। देखिए 'द टाइम्स ऑफ इण्डिया', 21 सितम्बर, 1971 और 'राजस्थान पत्रिका', 13 अगस्त, 1971।

[47] राजस्थान विश्वविद्यालय के राजनीतिशास्त्र विभाग द्वारा संचालित 'रूरल एलीट स्टडी प्रोजेक्ट', जिसके साथ लेखक सम्बद्ध रहा है, के सर्वेक्षण के दौरान ऐसे कई उदाहरण देखने को मिले हैं। इनमें प्रमुख हरिजन भूमिहीनों को आवंटित भूमि पर काश्त न करने देने का है। इनके अतिरिक्त छोटी खाटू कांड अपने आप में एक ज्वलन्त उदाहरण है। नागौर जिले के इस गाँव में कुछ बावरी परिवारों को पीटे व निष्कासित किये जाने में स्थानीय कांग्रेसी नेताओं के सम्बद्ध होने का आरोप है। 'द टाइम्स ऑफ इण्डिया', 23, 24 व 25 मार्च, 1971।

[48] उदाहरणार्थ शासकीय विज्ञापन-नीति, 'राजस्थान पत्रिका' के कर्मचारियों की पिटाई, विभिन्न स्थलों पर विभिन्न रूपों में हरिजनों को पहुँची परेशानियों को लिया जा सकता है। विचार-अभिव्यक्ति या आचार-सम्बन्धी स्वतन्त्रता की जो चर्चा इन प्रसंगों पर देखने को मिलती है, उनके सैद्धान्तिक स्वरूप की चर्चा इन दलों द्वारा पूर्वापेक्षा में ही उठा ली जानी चाहिए। परन्तु ऐसा देखने को नहीं मिलता।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

पत्र-स्वातन्त्र्य को लेकर जयपुर में सर्वदलीय जन-सभा का आयोजन है।[49] इसका सन्दर्भ मेडिकल कालेज के छात्रों द्वारा 'राजस्थान पत्रिका' कार्यालय के कर्मचारियों की कथित पिटाई व दोषियों को पकड़े जाने में विलम्ब रहा था। परन्तु यह कार्यक्रम जयपुर तक सीमित रहा। पश्चात्वर्त्ती कदमों के बारे में किसी भी दल की ओर से कोई प्रयास नहीं किया गया। जोत की सीमा निर्धारण सम्बन्धी कानून को स्वतन्त्र पार्टी ने और सम्पत्ति के अधिकार में संशोधन को स्वतन्त्र और जनसंघ दोनों ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता के अधिकारों के हनन के रूप में प्रस्तुत किया है। परन्तु स्थानीय स्तर पर जिस रूप में यह मसला प्रस्तुत हुआ है वह भ्रमात्मक और अतिरंजित अधिक है तथा वस्तुस्थिति का परिचायक कम है।[50]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विभिन्न दलों ने 'स्वातन्त्र्य' के प्रश्न को न्यूनाधिक जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह काफी सीमा तक 'सामाजिक न्याय' के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। वस्तुतः सामाजिक आचरण, व्यावसायिक चयन एवं मताधिकार-प्रयोग स्वातन्त्र्य सम्बन्धी चर्चाएँ मुख्यतः निम्न वर्ग के सन्दर्भ में रही हैं और उनका आधार सामाजिक न्याय रहा है। राजस्थान में इन चर्चाओं का विशेष सन्दर्भ है। यहाँ सभी प्रमुख दलों पर उच्च वर्ग (सामाजिक व आर्थिक दोनों ही दृष्टियों से) का नियन्त्रण रहा है। परिणामतः प्रत्येक दल अपने को शीशे की ओट में रखकर अन्य दलों के 'प्रतिगामी' स्वरूप को उजागर करने में जुटा रहा है।

राजस्थान में कांग्रेस 'सामाजिक न्याय' के प्रश्न को जन-सभाओं के स्तर पर उठाती है।[51] परन्तु कार्यक्रम के स्तर पर दल की प्रवृत्ति विषय को स्पष्टतः प्रस्तुत करने के स्थान पर समझौतावादी रही है। भूमिहीनों एवं भूस्वामियों में अथवा पैतृक व्यवसाय के प्रश्न पर हरिजनों एवं शेष जनता में झगड़ा होने पर दल ने विपन्न वर्ग से ही अधिक 'त्याग' करवाया है। झुग्गी-झोंपड़ियों वालों के स्थायी आबंटन के प्रश्न पर जैसा कि देखने में आया, दल ने निम्न वर्ग की ओर से प्रदर्शन आदि का कदम तभी उठाया जबकि यह सम्भावना प्रतीत होने लगी कि शान्त रहने पर इस वर्ग की सहानुभूति दूसरे दल की ओर मुड़ सकती है।[52]

---

[49] उक्त सभा में विभिन्न दलों की ओर से बहुत ही तीखे और उत्तेजित विचार अभिव्यक्त किये गये थे। कांग्रेस के ज्वाला प्रसाद ने इसे नागरिक अधिकारों पर हमले की संज्ञा देते हुए चेतावनी दी कि जनता इसे कभी बर्दाश्त नहीं करेगी व इसका परिणाम विस्फोट होगा। वक्ता ने यह भी कहा कि 'जनता के टुकड़ेखोरों, जनता को उस रूप में आने के लिए मजबूर न करो। मैं नहीं समझता कि ऐसे टुकड़ेखोरों पर सात करोड़ रुपया क्यों खर्च किया जाये।' साम्यवादी दल के रामानन्द अग्रवाल ने इस घटना को लोकतन्त्र व्यवस्था पर और संसोपा के राम किशन ने समाज-व्यवस्था पर हमला बताया। अन्य दलों के वक्ताओं की भी लगभग यही ध्वनि रही है।

[50] यह मसला सार्वजनिक सभाओं, पोस्टरों, आदि के माध्यम से 1971 के चुनाव के दौरान विशेष रूप से उठाया गया है। माँग यह रही है कि जमीन और सम्पत्ति की रक्षा के लिए स्वतन्त्र या जनसंघ को मत दो। वैयक्तिक सम्पर्क के दौरान कुछ कार्यकर्ता यह भी कहेंगे कि कांग्रेस जीत गई तो 'कलयुगी' व्यवस्था आ जायेगी। चुनावों के बाद भी यह मसला उठाया गया है। उदाहरणार्थ, देखिये, प्रदेश जनसंघ अध्यक्ष, गुमानमल लोढ़ा का भाषण, 'राजस्थान पत्रिका', 6 अक्तूबर, 1971।

[51] कांग्रेसी नेता द्वारा सम्बोधित किसी भी सार्वजनिक सभा में यह मसला अवश्य उठा है। इस प्रकार श्री जगजीवन राम ने जयपुर में कहा कि कुछ माल-पूए खायें और कुछ को बाजरे की रोटियाँ भी नहीं मिले, यह कहाँ का न्याय है। वही, 15 फरवरी, 1971। श्री मोहनलाल सुखाड़िया व अन्य नेताओं के भाषणों की भी यही ध्वनि रही। वही 9 व 25 जनवरी एवं 2, 9, 10, 15 फरवरी, 1971 आदि।

[52] झुग्गी-झोंपड़ी वाले मामले में पहल जनसंघ की रही थी। जब जनसंघ ने भूख-हड़ताल, प्रदर्शन आदि

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

जनसंघ, स्वतन्त्र आदि दलों ने भी सामाजिक न्याय का प्रश्न उठाया है। संसोपा के सहयोग से स्वतन्त्र पार्टी ने आदिवासियों की समस्या को विधानसभा में प्रस्तुत किया है। हाल के वर्षों में इस दिशा में जनसंघ ने विशेष सक्रियता दिखाई है। इस दृष्टि से 1970 में विभिन्न जिलों के मुख्यालयों पर भूमिहीनों को भूमि के आवंटित करने के प्रश्न पर धरने एवं भूख हड़ताल का आयोजन, 1971 में सफाई-मजदूरों की समस्या को लेकर हड़ताल, झुग्गी-झोंपड़ी वालों की समस्या को लेकर प्रदर्शन एवं धरने तथा धोबियों की समस्या को लेकर प्रदर्शन के आयोजन विशेष उल्लेखनीय हैं। श्रमिकों की माँग प्रस्तुत करने में जनसघ वामपंथी दलों के साथ रहा है।

इस सन्दर्भ में साम्यवादियों और समाजवादियों की स्थिति कांग्रेस व जनसंघ से बहुत अधिक भिन्न प्रतीत नहीं होती है। सामान्यतः इनके कार्यक्रम भी विधानसभा में मसले उठाने या जिला मुख्यालयों पर धरने आदि तक सीमित रहे हैं। वस्तुतः इन कार्यक्रमों से प्रभावित होने वाले क्षेत्रों तक ये दल अपनी संगठनात्मक एवं कार्यक्रमात्मक योजनाओं सहित नहीं पहुँच पाये हैं।[53] सामाजिक न्याय की प्राप्ति हेतु जिन संयुक्त मोर्चों को (छोटे मजदूर, छोटे किसान, छोटे व्यापारी आदि समूहों से गठित) साम्यवादी चर्चा करते हैं, वह कहीं भी दृष्टिगत नहीं होते हैं।

धर्मनिरपेक्षता का प्रश्न राजस्थान में कांग्रेस और जनसंघ के बीच प्रमुख प्रश्न बनकर रह गया है। कांग्रेस की मुख्य विषय-वस्तु यह रही है कि जनसंघ हिन्दू और मुस्लिम तनाव का पोषक है। दो समुदायों में झगड़े करवाकर, 'भारतीयकरण' के नारे के रूप में एक समूचे समुदाय की निष्ठा में शंका व्यक्त कर यह राष्ट्रीय विघटन की समस्या को बढ़ावा दे रहा है। परन्तु स्थानीय स्तर पर यह विषय जन-सभाओं अथवा वैयक्तिक स्तर पर चुनावों के समय अल्पमत-बहुल क्षेत्रों में ही अधिक उठाया गया है। गोहत्या-निषेध आन्दोलन के समय प्रदेश कांग्रेस की नीति अस्पष्ट और सुरक्षात्मक रही है। समस्या के आर्थिक या अन्य पहलुओं के प्रस्तुतीकरण के बिना ही नेता एवं कार्यकर्ता कहते रहे हैं कि राजस्थान में गोवध पहले से ही निषिद्ध है, अतः यह समस्या यहाँ नहीं है। इसके अतिरिक्त जिन क्षेत्रों में साम्यवादियों का विरोध प्रबल रहा है, वहाँ पर कांग्रेस कार्यकर्ता, 'विधर्मियों' को समर्थन न देने के प्रति आग्रहशील रहे हैं।[54]

जनसंघ कांग्रेस पर साम्प्रदायिक और राष्ट्र-विरोधी शक्तियों से साठ-गांठ करने का

के आयोजन द्वारा यह मन्जूर करवा लिया कि ऐसे लोगों के 21 सितम्बर, 1971 से पूर्व के कब्जे नियमित कर दिये जायेंगे, तब कांग्रेन संगठन भी सचेत हुआ एवं उसने एक समान्तर प्रदर्शन का आयोजन कर माँग की कि ये नियमन केवल एक रुपया लेकर किये जायें। वही, 17 सितम्बर, 1971।

[53] इन दिशाओं में इन दलों की ओर से जो कुछ किया गया है, उनमें व्यापक स्तर पर आयोजित किये जाने वालों में गंगानगर आन्दोलन और भूमि हथियाओ आन्दोलन समाविष्ट किये जा सकते हैं। परन्तु पहले आन्दोलन में ये भू-स्वामियों पर अधिक निर्भर रहे थे और दूसरे का भी प्रतीकात्मक महत्त्व ही अधिक रहा है। 'लिंक', 30 अगस्त, 1970। लेखक का 'ग्रामीण नेतृत्व का अध्ययन' प्रोजेक्ट के दौरान गंगानगर जाना हुआ था। वहाँ भूमिहीन वर्ग में कइयों से साक्षात्कार में कहा गया कि साम्यवादियों को चन्दे से मतलब होता है, इसलिए वे आ जाते हैं अन्यथा उनकी दुर्दशा को देखने वाला कोई नहीं है।

[54] 1967 एवं 1971 में सीकर और झुंझुनु लोकसभा चुनाव क्षेत्रों के निजी अनुभवों एवं अन्य सूचनाओं पर आधारित।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

आरोप लगाता रहा है। केरल में साम्यवादी मन्त्रिमण्डल के पतन के बाद आयोजित मध्यावधि चुनावों में कांग्रेस-मुस्लिम लीग समझौते को जनसंघ ने 1962 के आम चुनावों में अपने प्रचार का अंग बनाया था। 1967 के आम चुनावों में गोवध को लेकर कांग्रेसियों को धर्म-विरोधी करार देने और 1971 के लोकसभा चुनावों में पुनः लीग जैसी साम्प्रदायिक और राष्ट्रद्रोही तथा द्र० मु० क० एवं साम्यवादियों जैसी अधर्मी शक्तियों से साठ-गांठ के आरोप जनसंघ ने कांग्रेस पर लगाये हैं।[55] लोकसभा चुनावों के बाद ये आरोप पुनः दोहराये गये हैं।[56]

जहाँ भारतीय साम्यवादी दल (विशेषकर कांग्रेस विभाजन के बाद) इस सन्दर्भ में कांग्रेस के निकट रहा है, स्वतन्त्र और समाजवादी पार्टियों ने कांग्रेस पर साम्प्रदायिकता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने एवं यदाकदा साम्प्रदायिक शक्तियों को बढ़ावा देने का आरोप लगाया है। उदाहरणार्थ, समाजवादी पार्टियों द्वारा साम्प्रदायिकता के मसले को दलगत हितों की पूर्ति में इस्तेमाल करने, मोहर्रम के समय मुसलमानों को अनावश्यक रूप में भ्रमित एवं उत्तेजित करने, गैर-कांग्रेसी प्रधान व सरपंचों को हटाने में जातिवाद का सहारा लेने, आदि के आरोप लगाये गये हैं।[57] स्वतन्त्र नेता महारानी गायत्री देवी ने एक ओर जहाँ अपने शासन-काल में मुस्लिमों को विशेष संरक्षण प्राप्त होने की स्थिति का स्मरण कराया है, जनसंघ को असाम्प्रदायिक सिद्ध किया है, वहीं कांग्रेस को मुस्लिमों में अलगाव की प्रवृत्ति बनाये रखने के लिए उत्तरदायी भी ठहराया है।[58]

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि विभिन्न दलों ने धर्मनिरपेक्षता को बहुत ही संकीर्ण अर्थ में प्रस्तुत किया है। इनका आशय चुनावों में समुदाय विशेष को अपने पक्ष में या प्रतिपक्षी के विरोध में करने से अधिक नहीं रहा है। यद्यपि वैचारिक स्तर पर सभी दल वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने पर बल देते रहे हैं, परन्तु इस ओर किसी भी दल का विशेष प्रयास नहीं रहा है। विभिन्न दलों की ओर से सामाजिक कुरीतियों एवं रूढ़ियों के त्याग, आदि से सम्बन्धित कार्यक्रमों का या प्रयासों का अभाव रहा है। इस स्थिति में केवल वे अवसर अपवाद कहे जा सकते हैं, जब कि किसी जाति विशेष या संगठन विशेष का कोई विशेष समारोह हो।

उक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि कुछ मसले ऐसे रहे हैं जिनका विधानसभा में उठाया जाना विभिन्न दलों के लिए सुविधाजनक रहा है। दूसरी ओर कुछ मसले ऐसे हैं जिनका

---

[55] द्रविड़ कषगम के नेता रामस्वामी नैकर द्वारा राम की प्रतिमा की पिटाई की घटना जनसंघ के लिए काफी उपयोगी सिद्ध हुई है। साम्यवाद के विरोध में ईश्वर उपासना का अधिकार न देना, परिवार, विवाह आदि संस्थाओं को अमान्य करना आदि मसले जनसंघ द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं।

[56] 4 व 5 सितम्बर, 1971 को जयपुर में आयोजित जनसंघ कार्य-समिति की दो-दिवसीय बैठक में पारित एक प्रस्ताव में आरोप लगाया गया कि नये मुख्यमन्त्री बरकतुल्ला खाँ के 'पदासीन होने के बाद सारे राजस्थान में पंचमांगियों को नया जीवन व प्रोत्साहन मिला है। साथ ही विधायक अब्दुल हादी एवं संसद-सदस्य अमृत नाहटा की गतिविधियों पर भी नजर रखने की बात कही गई क्योंकि वे उक्त तत्त्वों से सम्बद्ध हैं।' 'राजस्थान पत्रिका', 6 सितम्बर, 1971।

[57] देखिए, वही, 6 व 23 फरवरी, 1971 तथा नत्थी सिंह का वक्तव्य, राजस्थान विधानसभा की कार्य-वाही का वृत्तान्त, अंक 2, संख्या 1, 22 अक्तूबर, 1962, पृ० 2186–89 और मुरलीधर व्यास का वक्तव्य, वही, अंक 3, संख्या 3, 12 फरवरी, कालम 427–45।

[58] देखिए, बी० एल० महेश्वरी, उपर्युक्त। इसके अतिरिक्त देखिए, 'राजस्थान पत्रिका', 9 जनवरी, 1971 व 29 फरवरी, 1971 आदि।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सार्वजनिक मंच से उठाया जाना अधिक सुविधाजनक रहा है। प्रथम श्रेणी में समाज के निम्न (विशेषकर सामाजिक अभिप्राय में) वर्ग को विशेष सहायता पहुँचाने एवं उनके दुःख-दर्दों को प्रस्तुत करना सम्मिलित है। दूसरी श्रेणी के मसलों में मुख्य रूप से साम्प्रदायिकता का मसला ले सकते हैं। यह अन्तर इस बात पर निर्भर रहा है कि क्या बात जन-समूह को अधिक रुचिकर होगी। यह भी दृष्टव्य है कि सार्वजनिक मंच पर मसले अधिक संकुचित अभिप्राय में रखे गये हैं।

राजनीतिक दलों का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य यह होता है कि वे अपने दल के विधायकों, संसद-सदस्यों एवं संगठनात्मक निकायों के माध्यम से राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और स्थानीय समस्याओं और आवश्यकताओं के प्रकाश में उचित माँगों को निरूपित करें और एक ओर शासन को उनसे अवगत करायें तथा दूसरी ओर जनता को उनसे अवगत करायें व संगठित अभिव्यक्ति के अवसर दें। परन्तु जनतान्त्रिक व्यवस्था के जिस स्वरूप और जिन सह-मूल्यों के प्रति वे निष्ठा व्यक्त करते हैं, उनसे प्रतिकूल ये माँगें नहीं होनी चाहिएँ।

सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में माँगों का निरूपण अलग-अलग स्थलों पर अलग रूपों में देखने को मिलता है। विधानसभा स्तर पर राजनीतिक दल सार्वजनिक मंच की अपेक्षा अधिक मुक्त रूप में ये माँगें प्रस्तुत करते रहे हैं। सामान्यतः जो माँगें उठाई गयी हैं, उनमें हरिजनों के लिए आवास, पीने के पानी, रोजगार आदि की व्यवस्था, विभिन्न सेवाओं में उचित अनुपात, सामाजिक सुरक्षा आदि प्रमुख हैं। सभी दलों के विधायकों ने इन समस्याओं का विवेचन किया है। इस रूप में अन्तर्दलीय मत वैभिन्न्य विशेष देखने को नहीं मिलता। परन्तु अन्तर्दलीय वैभिन्न्य स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं। सवर्ण विधायकों ने प्रायः वे समस्याएँ अधिक उठाई हैं जो आम, सनसनीखेज या प्रचारात्मक महत्त्व की हैं।[59] परन्तु किसी क्षेत्र-विशेष में पारम्परिक व्यवसाय त्यागने, आबंटन में प्राप्त भूमि जोत सकने, शिक्षा व पानी की सुविधाओं के सह-उपभोग करने से हरिजनों को रोकने के लिए जिन प्रतिरोधों की दीवार खड़ी की जाती है, इस सम्बन्धी मसले मुख्यतः सुरक्षित स्थानों से लौटे विधायकों द्वारा ही उठाये गये हैं। ये विधायक बहुधा अपने क्षेत्र के ही नहीं अन्य सवर्ण विधायकों के क्षेत्र में घटित घटनाओं सम्बन्धी मसले भी उठाते हैं। मन्त्रियों के असंयत एवं अधूरे उत्तरों से निपटने में सहायतार्थ पूरक प्रश्न भी अधिकांशतः इसी वर्ग के विधायकों द्वारा पूछे जाते रहे हैं।[60]

विधानसभा में कुछ माँगें नाटकीयता के पुट के साथ भी रखी गयी हैं। इस दृष्टि से भी पार्टियों का व्यवहार समान है। संसोपा ने तत्कालीन राष्ट्रपति जाकिर हुसैन के धर्म-निरपेक्षता के प्रतीक होने के कारण विधानसभा भवन में उनके चित्र लगाये जाने की माँग ही नहीं की, बल्कि आरोप भी लगाया कि अल्पमत के प्रतिनिधि होने के कारण कांग्रेस उनकी

---

[59] इनमें वे सब समस्यायें ले सकते हैं जो सामान्यतः पूरे राजस्थान के लिए लागू हैं और क्षेत्र विशेष से जिनका कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। सनसनीखेज घटनाओं में उदयपुर जिले में मई, 1968 में हरिजन लड़के की बलि, छोटी खाटू-कांड (देखिए, पद क्रमांक 47) आदि समाविष्ट किये जा सकते हैं।

[60] विधानसभा ही नहीं, संसद के लिए भी एक सीमा तक यह बात कही जा सकती है। बीकानेर जिले के एक गाँव में बारात की पिटाई को लेकर पूछे गये प्रश्न के सन्दर्भ में संसद-सदस्य पन्नालाल बारूपाल को विशेष सहयोग, बी० पी० मौर्य और कार्तिक ओरो से प्राप्त हुआ जो राजस्थान से बाहर के हैं। पर राज्य के ही सुरक्षित स्थानों से लौटे संसद-सदस्यों से नहीं। 'राजस्थान पत्रिका', 13 अगस्त, 1971।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उपेक्षा करती रही है।[61] कुछ कांग्रेसियों ने साप्ताहिक 'ऑर्गनाइजर' पर प्रतिबन्ध की माँग रखी क्योंकि इसमें प्रकाशित एक लेख में 'नारी शासक विनाशकारी होती है' की चर्चा थी। संसोपा और साम्यवादी विधायकों ने भी उनका साथ दिया, हालांकि उन्होंने प्रतिबन्ध की माँग नहीं की।[62] विधानसभा में इस सन्दर्भ में रखी जाने वाली अन्य माँगें हिन्दी के अधिकाधिक प्रयोग, राजस्थानी भाषा को मान्यता देने आदि से सम्बन्धित रही हैं। पहली माँग जहाँ प्रायः सभी गैर-कांग्रेसी दलों ने उठाई, वहाँ दूसरी माँग कांग्रेसियों ने अधिक उठाई है।

सार्वजनिक मंच से किसी भी पार्टी द्वारा उठाई गयी माँगों में वे माँगें विशेष स्थान प्राप्त नहीं कर पाती हैं जो विधानसभाओं में उठाई जाती रही हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि जन-सभाओं में उक्त माँगें रखने पर सवर्णों के नाराज एवं विमुख होने का खतरा रहता है। फलतः सहजता से कांग्रेस वाले या तो 'हरिजनों' की विशिष्ट समस्याओं को 'गरीबी' की आम समस्याओं में बदल देते हैं या फिर जनसंघ की साम्प्रदायिकता एवं आर० एस० एस० जैसे फासिस्ट संगठनों पर प्रतिबन्ध की बात करते हैं। अनुसूचित जातियों या जनजातियों के विशेष सम्मेलनों में भाग लेने पर उनसे कुरीतियों के त्याग का अनुरोध किया जाता है, या शासन द्वारा उनके लिए किये गये कल्याणकारी कार्यों की चर्चा की जाती है।[63] ऐसे अवसरों पर जनसंघ को समाज-कल्याण विभाग या इससे सम्बन्धित संस्थाओं में घोटालों की चर्चा सुविधाजनक होती है।[64] (कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि ये माँगें अनुचित हैं या कि अप्रासंगिक हैं। आशय यह है कि यह समस्या का सम्पूर्ण स्वरूप नहीं है।)

वैयक्तिक सम्पर्क में भी विभिन्न दलों ने कार्यकर्ताओं द्वारा कतिपय माँगें विभिन्न वर्गों के समक्ष रखवाने की व्यवस्था की है। कांग्रेस शासन ऐच्छिक संस्थाओं को अनुदान देता है कि वे अस्पृश्यता आदि समस्याओं के निवारण के लिए प्रयास करें। परन्तु विभिन्न सूत्रों से प्राप्त सूचनाओं से स्पष्ट है इन संस्थाओं के कार्यकर्ता कुछ प्रमुख स्थानीय नेताओं या अन्य सवर्णों के घर तक पहुँच मात्र रह पाते हैं।[65]

संसोपा के कार्यकर्ता अपने प्रभाव-क्षेत्रों में समाज के पिछड़े वर्ग के सम्पर्क साधने का प्रयास करते हैं। परन्तु उच्च वर्ग के दबाव के समक्ष वे हरिजनों की विशेष मदद नहीं कर पाते हैं। परिणामतः बहुधा उन्हें अपना विश्वास खोना पड़ता है। यह समझा जाने लगता है कि इन कार्यकर्ताओं का निम्न वर्ग के कल्याण से नहीं, चन्दे से अधिक मतलब है। यही साम्यवादियों

---

[61] 'द स्टेट्समैन', 3 अप्रैल, 1968।

[62] 'द टाइम्स ऑफ इण्डिया', 20 अगस्त, 1969।

[63] देखिए, 'द स्टेट्समैन', 28 जुलाई, 1969, 'राष्ट्रदूत', 23 अगस्त, 1968 व 1 सितम्बर, 1970, आदि। 'राजस्थान पत्रिका', 26 नवम्बर, 1970; इस स्थिति के यदाकदा अपवाद देखने को मिल सकते हैं, जैसे कोई जिला स्तरीय संगठन या नेता और अधिक सुविधाओं की माँग कर सकते हैं, या जैसा कि कोटा डी० सी० पी० ने माँग की थी, किसी जाति विशेष को संरक्षण समाप्त करने की माँग कर सकते हैं। 'राष्ट्रदूत', 6 जून, 1970।

[64] वही, 1 जुलाई एवं 8 जुलाई, 1963।

[65] देखिए, 'अनटचेबिलिटी परसिस्ट्स इन राजस्थान' शीर्षक से 'द स्टेट्समैन', 1 जुलाई, 1968 द्वारा आयोजित एक सर्वेक्षण और टी० एन० कौल, 'प्लाइट ऑफ हरिजन्स इन राजस्थान', 'द टाइम्स ऑफ इण्डिया', 3 अक्तूबर, 1969।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

की स्थिति है।[66] स्वतन्त्र पार्टी यद्यपि सांस्कृतिक चेतना व सामाजिक एकीकरण के लिए प्रतिबद्ध है, परन्तु विधानसभा के बाहर इस पार्टी के इस सन्दर्भ में प्रयास नगण्य ही रहे हैं।

आर्थिक माँगों के प्रस्तुतीकरण में संगठन के स्तर पर कांग्रेस पार्टी ने मुख्यतः भू-प्रबन्ध एवं भू-विकास सम्बन्धी समस्याओं को लेकर कृषकों व भूमिहीनों की समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित किया है। इस दिशा में यह पार्टी 1967 के चुनावों के बाद विशेष सक्रिय हुई हैं। सिंचाई व बिजली की सुविधाओं, सहकारी समितियों की सेवाओं में विस्तार, छोटे किसानों को राहत पहुँचाने सम्बन्धी विशेष कार्यक्रमों का प्रारम्भ, भूमिहीनों को भूमि के वितरण में तीव्रता आदि इस श्रेणी में प्रमुख माँगें रही हैं, जो प्रदेश एवं जिला-स्तर पर पार्टी संगठन द्वारा उठाई गई हैं।

कुछ जिला कांग्रेस समितियाँ इससे भी आगे बढ़कर भू-राजस्व की समाप्ति एवं भूमि की अधिकतम सीमा कानून की तत्काल क्रियान्विति के लिए प्रबल आग्रह करेंगी तथा माँगें न मानी जाने पर धरने आदि की धमकियाँ भी देंगी,[67] परन्तु विशाल पैमाने पर प्रथम प्रयास इस दृष्टि से जयपुर जिला देहात कांग्रेस समिति का रहा था, जिसने किसानों की विभिन्न माँगों को लेकर जून, 1970 में जयपुर में विशाल जन-रैली का आयोजन किया था। अन्य जिला संगठनों से यह प्रयास इस रूप में भिन्न रहा था कि इस रैली में किसानों को उनकी माँगों से परिचित करवाकर भाग लेने को प्रेरित किया गया था।[68] इस रैली के बाद जयपुर जिले में ही विभिन्न किसान सम्मेलनों का आयोजन किया गया। दूसरी ओर गंगानगर जिला कांग्रेस समिति ने अपने अलगाव से बचने के लिए कृषकों की विभिन्न माँगों को लेकर 1970 के प्रारम्भ में चले स्थानीय आन्दोलन में भाग लिया।[69]

संगठनात्मक स्तर के अतिरिक्त विधानसभा में भी विभिन्न कांग्रेस विधायकों ने भू-प्रबन्ध एवं कृषि-विकास सम्बन्धी मुख्यतः ये ही माँगें रखी हैं। कांग्रेस विभाजन के बाद एक अन्तर जो दृष्टिगत होता है वह छोटे किसानों व भूमिहीनों की समस्याओं के प्रति विशेष आग्रह को लेकर है। किसानों को अपनी आवश्यक वस्तुओं के क्रय व उपज के विक्रय के लिए प्राप्त सुविधाओं (मुख्यतः सरकारी समितियों व खाद्य व्यापार निगम की एजेंसियों) की अपर्याप्तता व इनकी गलत तकनीकों के बारे में कांग्रेस के सभी वर्ग एकमत रहे हैं व इनके सुधार की माँग करते रहे हैं। पार्टी में प्रमुख मतभेद भूमि की अधिकतम सीमा कानून को लेकर रहा है। प्रभुत्वशील गुट राजा-महाराजाओं की जमीनों के अधिग्रहण की समस्या की ओर जनता का ध्यान केन्द्रित करता रहा है, जबकि अल्पमत गुट यह आरोप लगाता रहा है कि भूमि की अधिकतम सीमा कानून को निष्फल करने का षड्यन्त्र चल रहा है।[70]

औद्योगिक क्षेत्र में कांग्रेस के प्रयास महत्त्वपूर्ण नहीं रहे हैं। वैयक्तिक स्तर पर अवश्य विधायक, संसत्सदस्य या अन्य नेता अपने क्षेत्र में औद्योगिक इकाइयों की या तत्सम्बन्धी

---

[66] विभिन्न सर्वेक्षणों के दौरान प्राप्त निजी अनुभवों के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है।

[67] 'राष्ट्रदूत', 6 जून, 1967, 20 व 26 जनवरी, 1968।

[68] इस विशाल प्रयास के बावजूद पार्टी में एक वर्ग ऐसा था, जो इसे पसन्द नहीं करता था।

[69] देखिए, 'द टाइम्स ऑफ इण्डिया', 19 जनवरी, 1970, व 'राष्ट्रदूत', 6 मार्च, 1970।

[70] पिछले दशक में कुम्भाराम-साधुराम-मिर्धा गुट की ओर से ये आरोप लगाये गये हैं। उदाहरणार्थ, देखिये, 'लिंक', 22 जुलाई, 1962।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सुविधाओं की माँग करते रहे हैं। इसी में सड़क व रेल-यातायात, बिजली आदि के विस्तार की माँगें हैं। विधानसभा कार्यवाहियों के वृत्तान्त का अध्ययन करने से एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह देखने को मिलती है कि कांग्रेस विधायकों द्वारा बड़ी इकाइयों की चर्चा अधिक की गई है एवं कुटीर उद्योगों आदि की समस्याओं की कम चर्चा की गई है और यह तब है जबकि विभिन्न विधायकों ने ग्रामीण विकास की कीमत पर शहरी विकास के प्रति शासन के प्रयासों की शिकायतें की हैं। इस तरह की शिकायतों का मुख्य आधार शिक्षा और पीने के पानी की सुविधाओं का विस्तार एवं कहीं-कहीं सड़क यातायात मात्र रहे हैं।

गैर-कांग्रेसी दलों के प्रमुख विषय अलग-अलग समय पर अलग-अलग रहे हैं। चर्चित दशक के पूर्वार्द्ध में कर-भार में वृद्धि, महँगाई, दोषपूर्ण वितरण-व्यवस्था आदि व उत्तरार्द्ध में भू-राजस्व की समाप्ति व भू-विकास सम्बन्धी व्यवस्था प्रमुख विषय रहे हैं। स्वाभाविक तौर पर प्रथम विषय पर विभिन्न दलों में मतभेद नहीं होना चाहिए या न्यूनतम होना चाहिए, व दूसरी श्रेणी के विषय पर अधिक मतभेद होना चाहिए। विभिन्न दलों के घोषणा-पत्रों से भी यही आभास होता है। परन्तु व्यवहार में इनसे विपरीत स्थिति देखने को मिलती है। पहले प्रसंग में विभिन्न दलों ने वैयक्तिक स्तर पर आन्दोलन चलाने का अधिक प्रयास किया है, जबकि 1967 के बाद में सामान्य सहमति की ओर प्रयास अधिक रहे हैं।[71]

अगस्त, 1963 में सुखाड़िया मन्त्रिमण्डल के प्रति रखे गये दो अविश्वास प्रस्तावों के हाल[72] से यह स्पष्ट हो जाता है। पहला प्रस्ताव प्रसोपा के मुरलीधर व्यास की ओर से रखा गया था और कर-भार वृद्धि, महँगाई, प्रशासनिक अकुशलता व अपव्ययता के विरोध में था। दूसरा ग्यारह-सूत्री अविश्वास प्रस्ताव साम्यवादी पार्टी की ओर से रखा गया था जिनमें राजाओं प्रिवीपर्स एवं अन्य सुविधाओं को बन्द न करने, प्रमुख क्षेत्रों का राष्ट्रीयकरण न करने, भूमि की अधिकतम सीमा कानून के क्रियान्वयन में विलम्ब से भूस्वामियों द्वारा अभिलेखों में हेर-फेर किये जाने, राजनीतिक पक्षपात, भ्रष्टाचार की वृद्धि होने आदि सम्बन्धी प्रशासकीय असफलताओं की प्रमुख चर्चा की गई थी। पहले अविश्वास प्रस्ताव को जनसंघ व स्वतन्त्र पार्टी ने समर्थन दिया, परन्तु दूसरे को नहीं। कहा यह गया कि राष्ट्रीय संकट के समय साम्यवादी रक्षा प्रयत्नों से ध्यान हटाना चाहते हैं।

प्रस्तुत दशक के पूर्वार्द्ध में भू-प्रबन्ध के सन्दर्भ में स्वतन्त्र पार्टी की माँग कानून के विरोध पर अधिक केन्द्रित रही थी। अगस्त 1963 में स्वतन्त्र पार्टी ने उक्त उद्देश्य को लेकर एक विरोध-प्रदर्शन का आयोजन किया था। उसी दिन अविश्वास प्रस्ताव पर बोलते हुए विरोधी दल के नेता महारावल लक्ष्मणसिंह ने कहा कि बेकार पड़ी भूमि का वितरण पहले होना चाहिए और जोत की सीमा उसके बाद ही निर्धारित होनी चाहिए।[73] कृषक को खातेदारी हक न मिलने, गलत बन्दोबस्त होने, भू-राजस्व समाप्त न करने, आदि को लेकर साम्य-

---

[71] विभिन्न दलों की इस रणनीति के पीछे सम्भवतः यह एहसास रहा हो कि अकेले भी वे कांग्रेस का सामना कर सकेंगे। 1962 के आम चुनावों तक स्वतन्त्र पार्टी और जनसंघ भी अलग-अलग रहे थे। समाजवादी व साम्यवादी पार्टियाँ 1967 के चुनावों में अपेक्षा से कम सफलता मिलने के बाद ही प्रमुख दक्षिणपंथी दलों के नजदीक आ सकीं।

[72] 'राष्ट्रदूत', 20 अगस्त, 1963।

[73] वही

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

वादी दल अपना रोष जाहिर करता रहा है।[74] परन्तु संगठित रूप में व्यापक स्तर पर भू-प्रबन्ध सम्बन्धी माँगें 1967 के बाद ही रखी जाने लगीं। (इसे अखिल भारतीय समस्या की प्रतिच्छाया ही कहा जा सकता है, क्योंकि जन-भार व कृषि के आधुनिकीकरण को लेकर जो समस्याएँ केरल, तमिलनाडु, बंगाल, बिहार आदि में रही हैं, वे एक सीमा तक गंगानगर जिले को छोड़कर और कहीं भी नहीं रही हैं)।

इस सन्दर्भ में दो आन्दोलनों की प्रमुख रूप से चर्चा की जा सकती है। प्रथम आन्दोलन गंगानगर जिले में 1970 के प्रारम्भ में चलाया गया था। सिंचाई के लिए पर्याप्त पानी, खुशहाली कर की समाप्ति, राजस्थान नहर-क्षेत्र में नीलामी के स्थान पर भू-आवंटन आदि माँगों के कारण आन्दोलन का क्षेत्र इतना व्यापक हो गया था कि सभी दलों (कांग्रेस ने भी स्थानीय-स्तर पर इसमें भाग लिया था) ने इस आन्दोलन में भाग लिया। यद्यपि बाद में आबंटित भूमि की सीमा को लेकर साम्यवादियों एवं अन्य दलों में मतभेद पैदा हो गये, फिर भी दृष्टव्य यह है कि साम्यवादियों ने भी इस आन्दोलन को समर्थन दिया जिसका नेतृत्व सम्पन्न किसानों के हाथों में था एवं प्रमुख माँग खुशहाली कर की समाप्ति रही थी। दूसरा भूमि हथियाओ आन्दोलन 1970 के उत्तरार्द्ध में मुख्यतः संसोपा व कम्युनिस्ट पार्टियों द्वारा चलाया गया था। मुख्य ध्येय यह रहा था कि भूमिहीनों को भूमि बाँटने के अपने दायित्व निर्वहन में शासन शिथिल व असफल रहा है। अतः भूमिहीनों को स्वयं अपनी पहल पर भूमि प्राप्त करनी चाहिए। भारतीय साम्यवादी दल की यह भी माँग रही है कि भू-आबंटन सही अर्थ में भूमिहीन कृषकों को हो, काल्पनिक-कृषकों को नहीं, भूमि की अधिकतम सीमा कानून को तत्काल लागू किया जाये और छोटे कृषकों को विशेष सुविधाएँ दी जायें।[75]

ये दोनों आन्दोलन यद्यपि क्षेत्रीय रहे और प्रभावशीलता की दृष्टि से भी क्षणिक महत्त्व के अधिक रहे, परन्तु इनका महत्त्व फिर भी काफी रहा है। उक्त वामपंथी दलों की इस माँग को बाद में जनसंघ और कांग्रेस ने भी अपनाया तथा जिला कार्यालयों पर धरने, आदि के कार्यक्रम आयोजित किये। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि जिस रूप में इन दो दलों ने भूमिहीनों की माँगों को प्रस्तुत किया है उनमें बेकार पड़ी भूमि के आबंटन से उनका आशय अधिक रहा है, भूमि की अधिकतम सीमा कानून की क्रियान्विति के जरिये भूमि प्राप्त करना गौण लक्ष्य हो गया है।[76] फलतः निष्कर्ष में ये स्वतन्त्र पार्टी की सैद्धान्तिक स्थिति के अधिक निकट पहुँच जाते हैं कि पहले बेकार पड़ी भूमि का वितरण हो। जनसंघ ने एवं कांग्रेस के एक वर्ग ने भूमि के गलत आबंटन की जाँच और अतिक्रमण के मामलों के शीघ्र निपटारे की भी माँगें रखी हैं। परन्तु जिस रूप में ये माँगें रखी गयी हैं, उससे लगता है कि इसके पीछे प्रेरणा विचारधारात्मक न होकर प्रतिपक्षी को परेशान करने की अधिक रही है। उदाहरणार्थ, प्रदेश जनसंघ की ओर से जो ज्ञापन सितम्बर, 1970 में राज्यपाल को पेश किया गया था,

---

[74] उदाहरणार्थ, देखिये रामानन्द अग्रवाल द्वारा अलवर की तत्सम्बन्धी समस्याओं को लेकर रखे गये ध्यानाकर्षण प्रस्ताव पर बहस। 'राजस्थान पत्रिका', 27 सितम्बर, 1966।

[75] वही, 2 अगस्त, 1971, 8 व 23 सितम्बर, 1971।

[76] भूमि की अधिकतम सीमा कानून का जहाँ तक सम्बन्ध है, कांग्रेस के राजाओं की जमीन पर और जनसंघी मन्त्रियों की जमीन पर जनता की दृष्टि केन्द्रित करने के प्रयास तक सीमित रहे हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उसमें मन्त्रियों, अधिकारियों व उनके कृपा-पात्रों को भू-आवंटन किये जाने का अधिक जिक्र था।[77] सम्भव है कि वे अवास्तविक किसान हों। परन्तु गाँवों में जो खरीद-फरोख्त जमीन का चल रहा है, व व्यापारियों के पास जमींनें पहुँच रही हैं, उनका रूप भी यही है। परन्तु उस ओर पार्टी का ध्यान नहीं गया है।

व्यावसायिक एवं औद्योगिक क्षेत्रों में राजनीतिक दलों की भूमिका मजदूरों का पक्ष प्रस्तुत करने की ओर अधिक झुकी हुई है। इस सन्दर्भ में स्वतन्त्र पार्टी की अपेक्षा जनसंघ वामपंथी दलों के अधिक निकट है। ब्यावर, चित्तौड़, सवाई माधोपुर, कोटा आदि क्षेत्रों में वेतन, बोनस एवं अन्य सुविधाओं पर जनसंघ व संसोपा साम्यवादी दलों के साथ विधानसभा स्थल पर व बाहर भी सहयोग करते रहे हैं। स्वतन्त्र पार्टी ने यदा-कदा ही इन माँगों पर (विशेषकर पुलिस कार्यवाही के सन्दर्भ में) सहयोग दिया है। परन्तु राष्ट्रीयकरण किन क्षेत्रों में हो, व किस सीमा तक हो, इस दृष्टि से किसी दल ने मुख्यकर साम्यवादी व कांग्रेस पार्टियों ने कोई स्पष्ट नीति और सार्वजनिक रूप से स्पष्ट माँगें नहीं रखी हैं। सम्भवतः राजस्थान की स्थिति इसके अनुकूल भी न हो। परन्तु सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण के बारे में भी इन दलों की अस्पष्ट नीति रही है।

अन्य आर्थिक माँगें क्षेत्रीय या स्थानीय विकास से अधिक सम्बन्धित रही हैं। विधान-सभा में अथवा विधानसभा से बाहर राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि एवं संगठन इन माँगों को रखते रहे हैं। इनमें अपने-अपने क्षेत्रों में सड़क व रेल-यातायात के विस्तार, किराये भाड़े में कमी, झुग्गी-झोंपड़ी वालों को स्थायी आवंटन व कच्ची बस्तियों के सुधार सम्बन्धी माँगें प्रमुख रही हैं। इसके अतिरिक्त सभी गैर-कांग्रेसी दलों ने कांग्रेसी दल की भाँति शहरी विकास पर अधिक ध्यान दिये जाने व ग्रामीण क्षेत्रों की उपेक्षा की जाने की भी चर्चा की है।[78] परन्तु इस सन्दर्भ में दो बातें उल्लेखनीय हैं : प्रथमतः ये माँगें राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों से अलग-अलग तीव्रता से प्रस्तुत की गयी हैं और यह वहाँ के नेतृत्व की स्वयं की प्रबुद्धता पर निर्भर रहा है। जैसे साम्यवादी पार्टी की ओर से गंगानगर, अलवर व ब्यावर क्षेत्रों की चर्चा अधिक की गई है, क्योंकि उन क्षेत्रों में पार्टी का नेतृत्व अधिक सक्रिय है। कांग्रेस में जयपुर जिला देहात कांग्रेस कमेटी अधिक सक्रिय रही है आदि-आदि। दूसरे, यह कहना बड़ा मुश्किल है कि जिला-स्तर या विधानसभा-स्तर पर जो कुछ कहा जाता है, वह कहाँ तक जन-सामान्य तक पहुँच पाता है। अधिकांशतः यह समाचार-पत्रों में प्रकाशनार्थ अधिक प्रतीत होता है। अधिक-से-अधिक (जैसे गंगानगर में) दीवारों पर प्रस्तावों की प्रतिलिपियाँ चिपका दी जाती हैं। परन्तु अधिकांश जिलों में यह भी नहीं होता।

शिक्षा-सम्बन्धी माँगें प्रस्तुत करने की ओर भी विभिन्न दलों का यही दृष्टिकोण रहा है। प्रायः जो माँगें रखी गई हैं वे शिक्षा के विस्तार से अधिक सम्बन्धित हैं। अधिकाधिक शैक्षणिक संस्थाएँ खोले जाने, नये विषय खोले जाने, अध्यापकों का वेतन बढ़ाने या हाल के वर्षों में बेरोजगारी भत्ता देने सम्बन्धी माँगें मुख्य रूप से रखी गई हैं। परन्तु जिस आध्यात्मिक

---

[77] 'राष्ट्रदूत', 23 सितम्बर, 1970।

[78] इनमें पीने के पानी, शिक्षा, परिवहन आदि संबन्धी विषयों की चर्चा के अतिरिक्त चीनी की मात्रा पर बहस विशेष उल्लेखनीय है, जो 1967 के वर्षाकालीन अधिवेशन में हुई थी।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

एवं मानवीय अंश के शिक्षण की बात स्वतन्त्र व जनसंघ दल करते हैं या शिक्षा के आधुनिकीकरण एवं सामाजिक दायित्वों के बोझ सम्बन्धी कार्यक्रमों की बात साम्यवादी करते हैं, उनसे सम्बन्धित माँगें इन पार्टियों के कार्यक्रमों में देखने को नहीं मिलती हैं।

जन-प्रबोधन भूमिका का निर्वहन जन-समर्थन प्राप्त करने के लिए आवश्यक होता है। परन्तु यह प्रयास राजनीतिक दलों की उनकी अपनी विचारधाराओं के सन्दर्भ में ही होना चाहिए। इस दृष्टि से राजनीतिक दलों की भूमिका माँग-प्रस्तुतीकरण ही नहीं अपितु जन-शिक्षणात्मक भी हो जाती है। उक्त विवेचन के सन्दर्भ में देखें तो प्रतीत होता है कि राजनीतिक दल अपनी विचारधारा के स्थान पर जनता के 'मूड' से अधिक निर्देशित हुए हैं। फलतः राजस्थान राज्य की केन्द्र या अन्य राज्यों द्वारा विभिन्न स्थलों पर अवहेलना होने पर भी राज्यों को अधिक स्वायत्तता मिलने की पक्षधर साम्यवादी व स्वतन्त्र पार्टियाँ इसी कारण प्रायः उन मसलों पर निष्क्रिय रही हैं, क्योंकि सामान्य जनता इन विषयों के प्रति विशेष संवेदनशील नहीं हैं। इसी प्रकार स्वातन्त्र्य एवं सामाजिक न्याय के प्रश्न को जिस रूप में रखा गया है अथवा भूमिहीनों व छोटे किसानों की माँगों को जिस रूप में रखा गया है, उससे भी यह स्पष्ट है। दूसरे, विभिन्न दलों को विशेषकर कांग्रेस एवं जनसंघ को, अपने समर्थक विभिन्न हित-समूहों के हितों को ध्यान में रखकर ही जनता को प्रिय लगने वाले विषयों की चर्चा करनी पड़ी है। अधिकतम भूमि सीमा कानून की क्रियान्विति को गौण रखकर ये दल भूमिहीनों की समस्या की चर्चा प्रमुख रूप से करते रहे हैं। फिर, तीसरे, दल लोकरंजनकारी अपीलों की खोज में अपनी स्थिति से खुछ विचलित भी हुए हैं। अधिकांशतः ये वैचारिक स्थितियों के विपरीत नहीं गये हैं, परन्तु अप्रासंगकिता कई स्थलों पर देखी जा सकती है। कुछ स्थलों पर ये विचारधारात्मक स्थितियों से विपरीत भी चले गये हैं। साम्यवादी दल द्वारा गंगानगर आन्दोलन के सन्दर्भ में सर्वदलीय संघर्ष समिति द्वारा रखी गई माँगों, जैसे खुशहाली कर की समाप्ति, आदि का समर्थन इसका प्रमुख उदाहरण है। यह अप्रासंगिकता अन्तर्दलीय प्रतिद्वन्द्विता के कारण भी उपस्थित हो जाती है। चौथे, अधिकांश माँगों को ये दल विधानसभा स्थल एवं कभी-कभी प्रदेश-स्तरीय व जिला-स्तरीय सम्मेलनों में उठाकर रह गये हैं। भूमि-हथियाओ आन्दोलन ही ऐसा अवसर रहा है जबकि राज्यभर में कोई माँग रखी गई है (हालांकि तब भी यह प्रभावित सीमित क्षेत्रों तक ही रही)। अन्तिम बात यह है कि विभिन्न माँगों को उठाने के बाद पश्चात्वर्ती कदमों के बारे में ये दल विशेष आग्रहशील और सचेष्ट नहीं रहे हैं। यह एक प्रमुख कारण है कि राजस्थान में राजनीतिक जागरण निम्न स्तर का और अस्थायी रहा है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

RESEARCH PUBLICATIONS
PUBLISHERS & DISTRIBUTORS

2/44, Ansari Road, Daryaganj, DELHI-6

Phone : 275125

A Select List of Publications (1972)

(क) पत्रिकाएं (Journals)

1 लोकतन्त्र समीक्षा

"लोकतन्त्र समीक्षा" सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान का हिन्दी त्रैमासिक है। "लोकतन्त्र समीक्षा" विधि तथा राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में अपने ढंग का हिन्दी में, सम्भवतः समस्त भारतीय भाषाओं में एकमात्र पत्र है जो गत तीन वर्षों से राष्ट्र में लोकतन्त्रात्मक चेतना के प्रचार-प्रसार द्वारा भारतीय सभ्यता और संस्कृति के आधारभूत मूल्यों का पोषण कर रहा है।

वार्षिक मूल्य : 15 रु. *एक प्रति मूल्य : 4 रु.*

2. JOURNAL OF CONSTITUTIONAL AND PARLIAMENTARY STUDIES

The journal is intended to serve as an international forum of discussion on problems, processes and prospects of parliamentary democracy and legislative institutions in India and abroad and become a vehicle of advanced and specialized study of comparative Constitutional Law and Parliamentary Procedures.

Annual Subscription	Rs. 20 or $ 6.60 or 55 S
Single Copy	Rs. 5 or $ 1.70 or 15 S

RESEARCH PUBLICATIONS

Undertake the publication of *RESEARCH ARTICLES, THESIS & GENERAL BOOKS OF INTEREST* by the eminent authors of high repute.

If you have any manuscript wirh you or intend to prepare Please *contact immediately for a quality product.*

Publication Organizer
RESEARCH PUBLICATIONS
2/44, Ansari Road,
Daryaganj
DELHI-6

Phone : 275125

IF YOU HAVE ANY
RESEARCH ARTICLE
Please Contact for Publication
RESEARCH : DELHI
Ring : 275125

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

RESEARCH : DELHI
Phone : 275125
Please Contact for publication
RESEARCH : DELHI
Phone : 275125
FOR YOUR UNPUBLISHED
THESIS

(ख) पुस्तकें (Books)

1. भारतीय संविधान में राज्यनीति के निदेशक तत्त्व

लेखक : न्यायाधिपति के० सदानन्द हैगडे

भारतीय उच्चतम न्यायालय के न्यायाधिपति श्री के० सदानन्द हैगडे ने 26-27 फरवरी, 1972 को सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान के तत्वावधान में "भारतीय संविधान में राज्यनीति के निदेशक तत्त्व" विषय पर अंग्रेजी में जो द्वितीय बेनेगल नरसिंह राव स्मारक व्याख्यान दिए थे, उन्हीं को हिन्दी में पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किया गया है। राज्यनीति के निदेशक तत्त्व हमारे संविधान की जीवनी व्यवस्थाएं हैं। इन सिद्धांतों में हमारे संविधान का और इसके सामाजिक न्याय-दर्शन का वास्तविक तत्त्व निहित है। ये तत्त्व हमारे संविधान की प्रतिज्ञाओं और अभीप्साओं को वाणी प्रदान करते हैं। न्यायाधिपति हैगडे ने विशद रूप से राज्य नीति के निदेशक तत्त्वों के सन्दर्भ में मुख्य विषयों और अन्तर्वस्तु का विवेचन किया है।

मूल्य : 10 रु०

2 सांविधानिक विकास तथा स्वाधीनता संघर्ष

लेखक : डॉ० सुभाष काश्यप

भारत के सांविधानिक विकास के मुख्य अवस्थानों, स्वाधीनता आन्दोलन के मुख्य मोड़ों, संविधान के निर्माण तथा उसके क्रियान्वयन की प्रामाणिकता, जिसको लेखक ने अधिकांशतः अबतक अप्रकाशित दस्तावेजों के आधार पर पुनर्रचना करने का निर्भीक प्रयत्न किया हैं। पुस्तक में तीन खण्ड तथा 20 अध्याय हैं।

खण्ड एक—सांविधानिक विकास और स्वाधीनता संघर्ष (1600-1947)

खण्ड दो —संविधान का निर्माण और विकास (1946-1949)

खण्ड तीन—भारत का संविधान (1950-1972)

पृष्ठ संख्या : लगभग 400 मूल्य : राज संस्करण 45 रु.
छात्र संस्करण 15 रु.

3. भारतीय राजनीति और राजनीतिक दल : समस्याएं और सम्भावनाएं

सम्पादक : डॉ० सुभाष काश्यप

भारत के राजनीतिक दलों की मुख्य प्रवृत्तियों, समस्याओं और सम्भावनाओं का सम्बद्ध राजनीतिक दलों के प्रमुख नेताओं और विशिष्ट विद्वानो द्वारा भारतीय राजनीति के बदलते परिप्रेक्ष्य में अन्तग्राही विवेचना, देश के प्रतिष्ठित विद्वानों द्वारा आख्यान तथा विश्लेषण।

पृष्ठ संख्या : 262 मूल्य : 30 रु.

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

4. INDIAN POLITICAL PARTIES : PROMISE AND PERFORMANCE

Editor : **Dr. Subhash Kashyap**

A critical survey of the growth, organization, Policies and achievements of the leading Indian Political Parties by eminent leaders and academes of repute.

Pages : 370 Rs. 40.00

5. भारतीय निर्वाचन : समस्याएँ एवं सुधार

Edited By

Dr. Subhash C. Kashyap Director I. C. P. S, NEW DELHI.

An authentic and comprehensive volume presenting a complete picture of the Indian Electoral System. Deals with almost every aspect of the subject.

Contents & Contributors

Indian Electoral System—A Plea for Reform *(L.K, Advani)*, Election Practices and Machinery—Need for Reform *(B. Shiva Rao)*, Need for Change in Electoral System—Why and Where For *(Sushil Kumar)*, Towards A New Electoral-Law *(J. D. Sethi)*, Elections and Electoral Reforms in India *(K, Santhanam)*, Electoral Reforms and Party System in India—A Plea for Proportional Representation *(C.P, Bhambhri)*, Electoral Reforms in India—Compulsory Voting *(G.C. Kasliwal)*, Election Petitions —Expediting Disposal *(G.S.L. Srivastava)*, Electoral Laws and Procedures —Some Do's and Don'ts *(H. K. Ghazi)*, Lowering the Voting Age *(Subhash Kashyap)*, Electoral Systems in Democratic and Totalitarian States *(Iqbal Narain and H.A.S, Jafri)*, Electoral System and Political Development *(R. Chandidas)*, Elections and Democratic Stability *(A, K. Bahl)*, Election Commission Reports—A Current Analysis *(J.P. Sharma)*,

Parliamentary Elections in Australia
Parliamentary Elections in Britain
General Elections in Canada
Parliamentary Elections in France
Parliamentary Elections in Ireland
Electoral Reforms in Sweedon
Electoral Process in Thailand
Electoral Reforms in Uganda *(M.C, Shah)*
Electors, Election and the Elected in the Federal Republic of Germany *(Baron Franz Mentzingen)*
Parliamentary Elections in Yugoslavia
Electoral Reforms in India
Elections and Electoral Reforms—A Select Bibliography
Bibliography

Rs. 40.00

6. ESSAYS IN SOCIAL ADMINISTRATION

By **V.M. Kulkarni**
Project Specialist
Indian Institute of Public Administration, NEW DELHI.

It is an unusual book on a neglected aspect of a much talked about subject of social welfare written with courage and candidness. In this publication are offered 22 papers and articles presented and published by Shri Kulkarni on various occasions. The titles of some of these essays are interesting as well as indicative of the scope of the book.

Please Contact for Publication
RESEARCH : DELHI
Ring : 275125
IF YOU HAVE ANY MANUSCRIPT IN HINDI OR ENGLISH
TEXT BOOKS

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

IF YOU HAVE ANY MANUSCRIPT ON
GENERAL BOOKS
Please Contact for Publication
RESEARCH : DELHI
Phone : 275125

Contents

Social Policy; Agenda for Social Welfare Ministers; Role of a Minister; Fourth Five Year Plan: Neglect of Human Resources; Search for Legal Status for Central Social Welfare Board; Social Welfare and the Panchayati Raj; Municipal Government and Voluntary Associations; Citizen Participation in Democracy; Resources for Social Welfare; Research Smoke—Screen; Civil Service in India; Administrators and Tribal Problems; Chief Executive and Staff; Project Management by Social Welfare Objectives; Immediate needs of Indian Children; Welfare Programmes for Women, Children and Youth at the Municipal Level; Legal Aid and Juvenile Problems and National Service Corps for University Youth.

Rs. 25.00

7. READINGS IN PERFORMANCE BUDGETING

Edited By **Prof. M. J. K. Thavraj**
Professor of Financial Administration
& Head of Financial Management Unit
Indian Institute of Public Administration, NEW DELHI.
Shri K. B. Iyer
Training Associate in Financial Management Unit
I.I.P.A., NEW DELHI.

Traditionally, Government Budgeting was designed to achieve accountability, basically in terms of legality and regularity. Though these objectives are stiil relevant, they are not adequate in the context of developmental planning. The essence of planning lies in attainment of results economically and efficiently. As a tool of implementation, the conventional budgets do not properly relate the physical quantities of plan targets with outlays. It is to remove this lacuna that the parliamentary Committees in India and the Administrative Reforms Commission recommended the introduction of Performance Budgeting. As the premier institution in the country the Indian Institute of Public Administration undertook the responsibility of training, and research in Performance Budgeting. The Readings on Performance Budgeting is one of the by products of the efforts of the Financial Management Unit in the Institute.

Dr. M.J.K. THAVRAJ, Professor of Financial Administration and Head of the Financial Management Unit in the Indian Institute of Public Administration is the foremost authority in the subject in the country.

Rs. 25.00

8. STUDENT UNREST : WHERE IT BEGINS

Edited by **J.P. Vinayak**
Assistant Education Officer
University Grants Commission, NEW DELHI.

A scholarly and factual study of the problem, Very important from the view-point of 'A Remedial Course'.

An attempt has been made to make the public educationists and administrators aware of the basic problems of the students in campuses and the remedies thereof. The analysis of the incidence of student unrest from 1968-71 reveals interesting conclusions. The role of police in campuses, student movement in Delhi University are special features of the book.

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

Contents

1. Student Unrest—Where it begins
2. Should Students have Say in Varsity affairs
3. Student Movements in India
4. Student Services
5. Police & Public Agitations in India.
6. Students and Teaching Methods
7. Student Movement in Delhi University.

Rs. 16.00

9. राजनीति शास्त्र के आधार-स्तम्भ

(Fundamentals of Political Science)

By **Dr. Sukhveer Singh** *M.A., Ph.D.*
Head, Department of Political Science
B.R. College, AGRA
& **Prof. K.K. Kulshrestha**
B.R. College, AGRA

Provides in detail the traditional and contemporary views, Presents a new and balanced assessment of political concepts.

Contents

Definition, Scope, Nature and Methodology of Political Science; Political Science and other Social Sciences; State and its Elements, State and Govt., State and Associations, State, Nation and Nationality. Nature of the State, Origin of the State, Historical Evolution of the State, Sovereignty, The Ends and Functions of the State and the Concepts of the Welfare and Secular States, Constitution of the State, Classification of States, Classification of Govts.—Monarchy, Aristocracy, Bureaucracy, Democracy & Dictatorship, Parliamentary & Presidential, Unitary & Federal, The Theory of Separation of Powers, Organs of Govt.-Legislature, Executive, Judiciary, Local Govt., Electorate, and the Electoral Methods, Political Parties & Public Opinion, Rights & Duties, Law & Punishment, Liberty, Equality.

Price Rs. 40.00
Student Edn, Rs. 10.00

10 SCIENTIFIC HUMANISM

(Political and Social Ideas of M.N. Roy)

By; **Dr. R.K. Awasthi**
Head, Deptt. of Political Science
Vikram University, UJJAIN

Gives the evolution of the various phases of M.N. Roy's political views. Discusses his Scientific Humanism with remarkable objectivity. A significant contribution to Modern Indian Political and Social Thought.

Rs. 45.00

11. भारत में राज्यों की राजनीति

(State Politics in India)

By ; **H. C. Sharma**

This informative volume deals with the origin, growth and present position of State politics in India. It flashes light on the democratic processes in the states of the Indian Union.

Rs. 30.00

Please Contact for Publication
RESEARCH : DELHI
Ring : 275125
SCHOLARLY WORK
IF YOU HAVE ANY

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

TO INCLUDE YOUR ARTICLE IN
STUDIES IN POLITICAL SCIENCE
Please Contact
RESEARCH : DELHI
Phone : 275125

12. हमारे विधायक

By : **Dr. V. P. Singh**

An analytical study dealing with various aspects of the Indian legislators. Critically examines the politics of defection and suggests sound remedies.

Rs. 15.00

13. CONTEMPORARY WEST ASIA

By : **Dr. M.S. Agwani**

Professor and Chairman of West Asian Studies, School of International Studies, Jawaharlal Nehru University, New Delhi.

The frantic pace of political events in West Asia continues to baffle the world. The era of decolonization in West Asia has been attended by a deepening of the perennial conflict between pashes and peasants, tribal chiefs and urban oligarchs, outmoded monarchies and radical republics, revivalist Islam and revolutionary socialism, and charismatic coloneis and crafty princes. The resultant turmoil together with the phenomenal expansion of the oil industry, the Arab-Israeli conflict and the compulsions of the Cold War have drawn the Great Powers deeply into the vortex of Wesf Asian politics. Professor Agwani's book unraves the intricacies of contemporary West Asian politics with the help of select case studies concerning political systems, ideological strife, Arab-Israeli dilemma, and Great-Power rivalries. The last chapter illumines various facets of India's relations with West Asia since Independence.

Contents

(I) West Asian Political Systems and the Crisis of Legitimacy (II) Coalition Politics in Lebanon (III) Religion and Politics in Egypt (IV) Ideological Conflict in West Asia (V) Islam and Modernism in the Contemporary Arab East (VI) The Partition of Palestine (VII) Asia and Palestine (VIII) The Lebanese Crisis of 1958 in Retrospect (IX) The Soviet Union, China and West Asia (X) India and West Asia.

14. REGIONALISM IN INTERNATIONAL POLITICS

By ; **Dr. G. P. Garg**

Presents a deep study on the origin, growth and present position of regionalism in internationl politics and its impact on international relations. It asks for a better mutual undertaking between the whole mind of East & West.

Price Rs. 20.00

15. STUDIES IN POLITICAL SCIENCE

CONTRIBUTORS

1. Dr. Vishwanath Prasad Verma
2. Dr. M.A. Muttalib
3. Dr. K. Sheshadri
4. Dr. S. C. Singh
5. L. S. Rathore
6. Dr. M. G. Parekh
7. Dr. A. H. Doctor
8. Dr. D. N. Mallik
9. Dr. Benudhar Pradhan
10. Dr. R. T. Jangam

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

11. Anton Vratusa
12. Dr. Prabhu Dutt Sharma
13. Dr. R. C. Prasad
14. Dr. H. M. Jain
15. Dr. R. P. Bhalla
16. Dr. Leo Mates

This collection of research papers and essays serves as a guide to some of the major issues of contemporary political science, and national and international politics and administration. The book stimulates constructive thoughts and explores new frontiers in the field.

Rs. 35.00

16. FRENCH SCHOOL OF DIPLOMACY

By : **Dr. Girija K. Mookerjee**

Professor and Chairman, Centre for American & West European studies, Jawaharlal Nehru University, NEW DELHI

Rs. 20.00

17. THE POLITICS OF MODERN SOUTH-EAST ASIA

By : **Dr. Vishal Singh**

Associate Professor in South-East Asian Studies, School of International Studies of Jawaharlal Nehru University.

Located half way between the Indian sub-continent and East Asia, South-East Asia is an area of increasing importance which needs close watching by all those interested in the future of Asia. *The Politics of Modern South-East Asia* will be a study of recent trends in the internal and international aspects of the politics of South-East. Asian countries. The study will, in particular throw light on factors behind political instability in many South-East, Asian countries, while examining parallel trends which suggest regional cooperation and nation building. The role of the external powers, as far as the politics of the region is concerned, will be taken into account.

18. TRAINING IN ADMINISTRATION

By : **T. N. Chaturvedi**

Chief Secratary, Delhi Administration

19. POLICE IN DEMOCRATIC STATE

Edited by : **T. N. Chaturvedi**

20. FUTURE OF URBAN LOCAL GOVERNMENT

By : **Dr. Mohit Bhattacharya**

Reader, Indian Institute of Public Administration, New Delhi.

This book contains a bunch of analytical essays on different aspects of urban local government. Its major slant is on a futuristic look at our city governments on which depend so much of our health and happiness.

Rs. 15.00

21. DYNAMICS OF STATE ADMINISTRATION

By : **B. Mehta**

Farmerly Chief Secretary, Rajasthan.

Please Contact
RESEARCH : DELHI
Phone : 275125
TO INCLUDE YOUR ARTICLE IN
STUDIES IN HISTORY

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

FOR ALL REQUIREMENTS IN YOUR
LIBRARY
Please Contact
RESEARCH : DELHI
Ring : 275125

SOME NEW PUBLICATIONS FROM RESEARCH

Each Rs. 10.00

1. How Britain is Governed.
2. How Mangolia is Governed.
3. How Indonesia is Governed.
4. How Japan is Governed.
5. How Poland is Governed.
6. How Malaysia is Governed.
7. How Belgium is Governed.
8. How Iran is Governed.
9. How Nigeria is Governed.
10. How Bulgaria is Governed.
11. How Sweden is Governed.
12. How New Zealand is Governed.
13. How Ethiopia & Morocco is Governed.
14. How Australia is Governed.
15. How Netherlands is Governed.
16. How Chechoslovakia is Governed.
17. How Yugoslavia is Governed.
18. How Denmark is Governed.
19. The Constitutional System and Politics of Italy.
20. The Government & Politics of France.
21. The Constitutional System of The Soviet Union.
22. The Constitutional & Politics of German Democratic Republic.
23. Politics & Government of Cuba, Chile, Peru & Colombia.
24. European Countries declare their Foreign Policies.
25. Local Government & Municipal Administration in European Countries.
26. Political & Administrative System of Spain.
27. The United Nations at Work.
28. The United Nations & Disarmament.
29. The United Nations & Maintenance of Peace & Security.
30. Constitution of Yugoslavia.

Published by :

RESEARCH PUBLICATIONS

2/44, Ansari Road,
DARYAGANJ,
DELHI-6 (INDIA)

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

COLLEGE BOOK DEPOT

EDUCATIONAL PUBLISHERS

TRIPOLIA BAZAR, JAIPUR-2 (Raj.)

Phone : 7 5 8 2 7

Books on Political Science & Public Administration

1. गांधी-दर्शन

(The Socio-Political Philosophy of Mahatma Gandhi)

Edited by **Dr. P.K. Bhattacharya** *M.A., Ph. D.*

Head, Department of Political Science
Madhav College, UJJAIN

An eminent Gandhian scholar interprets Gandhiji's ideas as a political leader, as a social reformer and as an economist. Gives a new approach and a new insight.

Contents

Gandhi ; His Personality & Role, An Introduction to Gandhi's Philosophy, A Historical Sketch of 'Ahimsa', The Impact of Predecessors, Spritualism : The Code of Conduct, The Satyagrahi—Sanhita, The Technique of Satyagrah, Satyagrah : Dynamic-Constructive Force. The Swarajya ; The State : The Anarchy, Social and Economic Philosophy. Satyagrah Survey, Satyagrah : The way for Peace, The Gandhian Way, The Satyagrah Talk : Conclusion, the Concept of Sarvodaya. Neo-Gandhism, The Gandhian Philosophy : A Practical Study,

First Edition 1972 *Pages* 272 *Price* Rs. 21.00

2. राजनय के सिद्धान्त

(Diplomacy : Theory and Practice)

By **Harish Chandra Sharma**

A valuable presentation of Theory and Practice of Diplomacy. Reflects author's intimate study and deep insight.

Contents

The Nature and Evolution of Diplomacy, Means and Methods of Diplomacy, Types of Diplomacy, Particular Forms of Diplomacy, Propaganda in Modern Diplomacy, Diplomatic Agents—their Classes and Immunities, International Meetings and Transactions, Treaties and other International Compacts, Language of Diplomatic Intercourse and Forms, Advice to Diplomats, Changing Role of Diplomats, Foreign Policy and Diplomacy. Foreign Service and Foreign Office, Consuls : The Position and Functions

First Edition 1972 *Pages* 256 *Price* Rs. 21.00

3. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

(International Relations Since 1919 up-to-date)

By **Prof. Jeewan Mehta** *M.A.*

Department of Political Science
Government College, BHILWARA

An up-to-date study of major developments in international relations and foreign policies.

Contents

The Treaty of Versailles, The League of Nations, The Quest for Security, Rise of Mussolini and Hitler, Rome-Berlin-Tokyo Axis, The

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

Policy of Appeasement, Circumstances leading to the Second World War, The Second World War and its After-math, The United Nations: its Constitution and Working, Rise of the U.S.A. and U.S.S.R. as super powers. De-colonization & Emergence of New states in Asia and Africa. Rise of Africa in World Politics, Cold War, Non-alignment, Foreign Policies of the U.S.A., U.S.S.R., China and India.

First Edition 1972 *Pages* 316 *Price* Rs. 10.00

4. अन्तर्राष्ट्रीय संगठन

(International Organisation)

By **Dr. M.P. Roy** *M.A., Ph. D.*
Head, Department of Political Science
Government College, BEAWAR

A modern theoretical treatment of International Organization and a comprehensive survey and evaluation of the League and the UN.

Contents

The Concept of International Organization ; The Evolution of International Organization ; The Process of Change in International Organization, the League of Nations ; The League and UN—Continuities and discontinuities ; Origin and Membership ; The General Assembly ; The Security Council ; The Economic & Social Council ; The Trusteeship Council ; The International Court of Justice; The Secretariat and the Sec. General : Procedures for Peaceful Settlement, Procedures for Coercive Settlement, Sanctions, Peace-keeping and Police, UN Peace Forces; Disarmament & Arms Control ; The UN in the sphere of Peace and Security, the Collective Security System, Regionalism and Functionalism, Major Political Issues brought before the UN ; Promoting Economic Welfare I.L.O. I.M.F. World Bank, International Development Association etc. Measures for Social Justice-Social Development & Health, W.H.O. UNESCO Human & Group Rights, End of Colonialism etc, Proposals, & Actions to Strengthen UN.

First Edition 1972 *Pages* 384 *Price* Rs. 30.00

5. बदलती विदेश नीतियाँ

(The Changing Foreign Policies of Big Powers)

By **Dr. M.L. Sharma** *M.A., D. Litt.*
Sometime Vice Chancellor
University of Rajasthan, JAIPUR

Provides a new understanding of the theory and practice of oreign policies of big Nations, Presents an interesting and scholarly picture of the major developments that make up the complete world situation of today.

Revised Edition 1972-73 *Price* Rs. 20.00

6. CONSTITUTIONALISM : THEORY & PRACTICE

By **Dr. Prabhu Dutta Sharma**
M.A. (Pol. Science & History),
M. P. A. (Public Administration) (U. S. A.).
Ph. D.(U.S.A.) Gold Medalist,
Reader in Political Science Department
University of Rajasthan, JAIPUR

Very useful to those who are engaged in the study of Comparative Institutions as a specialised area in the discipline of Political Science.

Contents

Constitutionalism ; Ancient and Modern : Constitutions as Political Process.

First Edition 1972 *Price* Rs. 16.00

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

7. आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचार
(Modern Indian Social & Political Thought)

By **Dr. Laxman Singh** *M.A., LL. B., Ph. D., D. Litt.*
Head, Department of Political Science
Jodhpur University, JODHPUR,

A comprehensive survey and evaluation of the social and political thoughts of Modern India. Constitutes a valuable source-material on. Modern Indian Thinkers, Political leaders, philosophers & social reformers

Contents

1. Modern Indian Socio-economic and political thought in the making : impact of Western contact-the contribution of Socio-Religious Movement of the 19th century with special reference to the political ideas of Raja Ram Mohan Roy, Dayanand Saraswati. Vivekanand and Annie Besant.

2. The Liberal School with special reference to socio-economlc and political ideas of Mahadev Govind Ranade, Dadabhai Naroji, Pheroze Shah Mehta, Surendra Nath Banerjee,Gopal Krishna Gokhale and V.S. Srinivas Sastri.

3. Radical School with special reference to the socio-economic and political ideas of Bal Gangadhar Tilak, Lajpat Rai and Bipin Chandra Pal.

4. Communalist challenge and the socio-economic and politicai thought of V.D. Savarkar, Sir Syed Ahmed Khan, Mohammed Iqbal and M.A. Jinnah.

5. The era of synthesis in modern Indian socio-economic and political thought with special reference to the ideas of M.K. Gandhi, Aurobindo Ghosh, Rabindra Nath Tagore and Jawahar Lal Nehru.

6. Some Contemporary Trends—Humanism, Socialism and Sarvodaya with special reference to M.N. Roy, J.P. Narain and Vinoba Bhave.

7. Conceptual growth in modern Indian Political Thought with special reference to Nationalism, Swaraj, Trusteeship, Satyagrah. Socialism, and Decentralization.

Edition 1971-72 *Pages* 774 *Price Rs.* 45.00
Student Edn Rs. 21.00

8. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध (1919-1945)
(International Relations from 1919 to 1945)

By **Dr, M.L. Sharma,** *M.A., D. Litt.*
Sometime Vice-Chancellor
University of Rajasthan, JAIPUR.

An authentic and intimate study in international relations by an eminent scholar. A brilliant exposition of the subject. A very useful text and reference book.

Contents

Diplomatic background of the First World War ; Peace Settlement: The League of Nations, Reparation, War-debts and Economic Depression, The Quest for Security and Problems of Disarmament, Rise of Fascism in Italy, The Foreign Policy of Italy and the Spanish Civil War. Rise of Nazi Germany, The Foreign Policies of Germany, Great Britain, U.S.A. and Russia, The Middle East, (1914-45), The Far East, The Second World War and War-time International Conferences ; The Post-War World.

Revised Edition 1971-72 *Pages* 702 *Price* Rs. 35.00
Student Edn Rs. 15.00

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

9. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध (1945 से अब तक)

(International Relations from 1945 to the Present day)

By **Dr. M.L. Sharma,** *M.A., D. Litt,*

A highly valuable text and reference book on the subject. Traces the development of the most recent state of affairs.

Contents

The Post-war world, The Post-war Peace Settlement. The United Nations : Structure & Organization. The U.N. Its Role in world Peace, Disarmament, Regional Organizations & Pacts, The Commonwealth of Nations and India, Cold war. The Foreign Policies of U.S.A., U.K., France, U.S.S.R. and India, South and South East Asia, East Asia, Middle East. The Rise of Africa, Afro-Asian Nations Conferences.

Revised Edition 1970-71 *Pages* 928 *Price* Rs. 45.00
Student Edn 20.00

10. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विचारभूमि

(Theory of International Politics)

By **Dr. Prabhu Dutta Sharma,**
M.A. (Pol. Sc, & History), M.P.A. (U.S.A.),
Ph. D. (U.S.A.), Gold Medalist
Reader in Political Science
University of Rajasthan, JAIPUR.

An intimate and critical study of International Politics (Theory & Practice). Deals with the most recent concepts and burning problems and events. Panoramic account of all the aspects of world-politics.

Contents

Theories of International Politics, Realist Theory, Science of International Politics; a Survey of New Developments. The State System.

International Politics as a Struggle for Power : Concept of National Power; Essence and Elements of National Power; Geography, Natural resources, population, Technology, Ideology, Morale, Leadership; Evaluation of National Power.

Instruments for the promotion of national interest, Diplomacy, propaganda and political warfare; Economic Instruments for National Policy. Imperialism and Colonialism ; War as an instrument of national policy.

Limitations of National Power, Balance of Power, Collective Security and Pacific Settlement of International Disputes, International Law. World Government, Disarmament, International Morality and World Public Opinion.

Contemporary Emerging Trends : Resurgence of Asia, Africa and Latin America, Rise of the Soviet Union and its Foreign Policy; Rise of the U.S.A. and its Foreign Policy, Cold War, Rebuilding and Reorganization of Western Europe, Impact of Nuclear Weapons. Non–alignment : its Elements and Changing Patterns, Bipolarity and polycentrism, Sino-Soviet Conflict. U.N.'s Impact on International Politics. Problems of Vietnam and West Asia.

Revised Edition 1970-71 *Pages* 1062 *Price* Rs. 60.00
Student Edn Rs. 21.00

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

11. भारतीय राजनीति एवं शासन
(Indian Politics and Government)

By **Dr. M.P. Roy,** *M.A., Ph. D.*
Head, Deptt. of Political Science
S.D. Govt. P.G. College, BEAWAR.

Offers a panoramic account and critical evaluation of all the major aspects. Provides a deep study of the past and present state of affairs. Very rich in factual and up-to-date information.

Contents

(a) Historical Background :

(i) Constitutional development before 1858.

(ii) Landmarks in India's constitutional development from 1858 with special reference to the growth of the parliamentary tradition since 1909 :

(iii) Structure, approach and role of the Constituent Assembly in India.

(b) The Nature of Indian Political System :

(i) Sources of Indian Constitution.

(ii) Nature of the Indian Political System-the theory and practice of Indian federalism.

(iii) The Fundamental Rights and Directive Principles of State Policy.

(c) Structure of Government :

(i) At the Central Level—(a) The Indian President with special reference to its emerging nature in practice, (b) Indian Parliament with special reference to its working, (c) The Council of Ministers and the office of the Prime Minister ; their nature, role and functions, (d) the organization and role of the Supreme Court with special reference to the emerging nature of Judicial Review.

(ii) At the State Level—(a) The position and role of the Governor with illustrations, (b) The office of the Chief Minister and Council of Ministers, their nature, role and functions. (c) State legislature with special reference to its working.

(iii) The organization, powers, functions and role of the Union Public Service Commission.

(iv) Local Government in India with special reference to theory and practice of Panchayati Raj.

(d) Panorama of Indian Politics :

(i) Major Developments in National and State Politics since Independence.

(ii) Planning in India with special reference to the structure and role of Planning Commission and impact of Planning on federalism.

(iii) The Party System and Pressure Groups in India.

(iv) General Elections, Voting Behaviour and Political System.

(v) Foreign Policy of India : its basic features.

(vi) Nature and bases of Indian Politics with special reference to such aspects as Religion, Caste, Language and Regionalism.

(vii) The Problem of National Integration.

(viii) The strong and weak points of Indian democratic system ; Emerging nature of Indian Politics and the prospects of parliamentary democracy.

Revised Edition 1971-72 *Pages* 740 *Price* Rs. 30.00
Student Edn. Rs. 15.00

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

12. अन्तर्राष्ट्रीय कानून
(International Law)

By **Harish Chandra Sharma** *M.A.*
Department of Political Science
Lal Bahadur Shastri College, JAIPUR

The book is an intimate study of International law giving its historical narration and the present status. Inclusion of important cases of international law has added much to its usefulness.

Contents

The Nature of International Law, Development and Sources of International Law; Codification of International Law ; International Personality; Recognition of States & Government, Succession of States; Rights and Duties of States. Responsibility of States ; Jurisdiction of State ; Nationality and Extradition ; Territory of the State ; International Law and the Individual ; Agents of International Law, Treaties and International Agreements ; United Nations and International Courts ; Settlement of International Disputes ; War and its Effects ; The Laws of Land, Marine and Aerial Warfare Crimes under International Law ; The Termination of War & Posliminium ; Neutrality , Blockade and Contraband The Present Status of International Law ; Important Cases of International Law ; A list of important cases .

Edition 1971-72 *Pages* 808 *Price* Rs. 45.00
Student Edn. Rs. 20.00

13. THE SPAN OF CONTROL

By **Prof. Zea Uddin Khan**
Head, Deptt . of Public Administration
University of Rajasthan, JAIPUR

Contents

The Theory of Organization, the Theory of Span of Control, Factors influencing the Span of Control ; Working of Span of Control. Evaluation of the Span of Control.

Edition 1970 *Price*. Rs. 12.00

14. MUNICIPALITIES AND THEIR FINANCES

By **Dr. C.P. Bhambhri** *M.A., Ph. D.*
Reader in Political Science,
University of Rajasthan, JAIPUR

Edition 1970 *Price* Rs. 12.00

15. राजनीतिक विचारों का इतिहास (प्लेटो से बर्क तक)
(History of Political Thought from Plato to Burke)

By **Dr. Prabhu Dutta Sharma**

Foreword :
Prof. A.B. Lal, Vice Chancellor, University of Rajasthan

A comprehensive and scholarly study of the western political thought from Plato to Burke. Familiarizes more thoroughly with the outstanding political classics of world literature and philosophy.

Contents

Nature and importance of Political Thought; Greek Political Thought and the City–states; Political Thought before Plato, Plato : The Republic, The Statesman and the Laws; Aristotle; Political Thought after Aristotle; Epicureanism and Stoicism; Roman Political Thought;

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

Early Christianity and Christian Thinkers; The General Background of Medieval Political Thought; Controversy between the Church and the State; Some Medieval Thinkers; The Concilar Movement ; Machiavelli; Reformation Movement; Jean Bodin and Hugo Grotius; Thomas Hobbes; John Locke; Jean Jecques Rousseau; Montesquieu: Hume and Burke.

Revised Edition 1971-72 *Pages* 654 *Price* Rs. 35.00
Student Edn. Rs. 21.00

16. आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास

(History of Modern Political Thought from Bentham to the Present Day)

By **Dr. Prabhu Dutta Sharma**

Foreword :

Prof. A.B. Lal, Vice Chancellor, University of Rajasthan

A volumenous analytical study of political thought from Bentham to the present day. Provides valuable material and a new approach to the subject.

Contents

Jeremy Bentham; James Mill & John Austin; John Stuart Mill, Grote & Bain; Kant; Hegel; Green; Braedley & Bosanquet; Herbert Spencer and Huxley: Bagehot, Wallace & Mc Dougal, Karl Marx and his Predecessors:Progressive Socialism; Syndicalism & Guild Socialism; Communism; Lenin, Stalin & after Stalin; The Anarchist thinkers; William Godwin, Hodgskin, Prodhon, Michael Bakunin, Prince Kropotkin; Terroristic Anarchism; Political Ideas of Gandhi, Laski, Cole & Russell.

Revised Edition 1971-72 Pages 670 *Price* Rs. 35.00
Student Edn Rs. 24.00

17. राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त

(Principles of Political Science)

By **Dr. Laxman Singh,** *M.A,, LL.B., Ph. D., D. Litt.*

Head, Deptt. of Political Science
University of Jodhpur, JODHPUR.

The book is expected to contribute to the effective teaching and further research in the subject.

Contents

1. Definition, scope, nature and methods of study of Political Science.

2. Political Science and other Social Sciences.

3. Definition and nature of State—State as an Association—State in terms of Sovereignty—State in terms of Law—Organic Theory of the Nature of State. The Idealistic Theory of the Nature of State.

4, Theories of Origin of State and Historical Development of the Modern State.

5. The Concept of Sovereignty-Monistic and Pluralistic analysis of Sovereignty.

6. State and Society ; The Absolutist view of State and Nation ; Theory of National Self-determination, State and Religion. Theory of Secular State.

7. Functions of the State-Laissez Faire and Socialistic Theories. The Concept of Welfare State.

8. Forms of Government—Democracy and Dictatorship , Presidential and Parliamentary, Unitary and Federal.

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

9. Organisational framework of Democracy-Party System and Pressure Groups, Public Opinion, Local Self-Government, the Problem of Minority Representation.

10. Organs of Government and the Problem of their relationship-Legisiature : Bi-cameralism, Uni-cameralism , Functions of Legislature, Executive and its functions, Judiciary and its functions, Theory of Separatino of Powers.

11. Political Concepts. Rights and Theories of Rights. Particular Rights , Liberty, its meaning and kinds : Equality-its meaning and kinds; Law; its meaning and kinds-Liberty and Authority ; Liberty and Equality.

Revised Edition 1972 *Pages* 372 *Price* Rs. 11.00

18. लोक प्रशासन के नये क्षितिज

(Theory of Public Administration)

By **Dr. Prabhu Dutta Sharma & Harish Chandra Sharma**

A comprehensive text and reference book dealing with the theoretical and practical aspects of the subject. Presents an adequate literature and latest developments.

Contents

Public and Private Administration ; Nature of Public Administration and its role in the Modern State ; Politics and Administration ; Theory of Structure of Organisation. Origin of Governmental Organisations ; Principles of Large Scale Organisation, Departmental Organisation ; Human Behaviour and Organisation Decision-making. Main Concepts of the theory of Organisation ; Staff and Line ; Chief Executive, its Organisation and Functions ; Levels of Administration ; Hierarchy and Span of Control ; Nature of Authority ; Delegation of Authority ; Coordination and Control Leadership : Administrative Planning ; Public Administration and Legislature, Public Administration and Judiciary.

Problems of Control ; Special Problems of Public Corporation. Independent Regulatory Commissions.

Personnel Administration ; Principles and Problems of Recruitment and Training ; Position ; Classification ; Conditions of Service, Discipline and Morale ; Employee Association.

Bureaucracy in Public Administration.

Financial Administration with special reference to the Formulation of Budget ; the Execution of Budget ; Parliamentary Control over Finance Role of the Auditor-General. New trends in Public Administration.

Revised Edition 1972 *Pages* 800 (Approx) *Price* Rs. 60.00

Student Edition Rs. 18.00

19. प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक

(Representative Political Thinkers)

By **Dr. Laxman Singh**. *M. A., Ph. D., D. Litt.*

A brief but intimate study of great Political Thinkers

Contents

Plato, Aristotle, St. Thomas Aquinas ; Machiavelli ; Hobbes, Locke, Rousseau, Bentham, Mill, Green, Marx and Gandhi.

Revised Edition 1971–72 *Pages* 294 *Price* Rs. 7.00

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

20. तुलनात्मक राजनीतिक संस्थायें

(Comparative Political Institutions with illustrations from Great Britain, France, U. S. A., Switzerland, Russia and India)

By **Dr. Prabhu Dutta Sharma**

A deep and comparative study of the theory and practice of political Institutions, Provides an up-to-date information and evaluation.

Contents

(i) Comparative Politics—Nature and Approaches.
(ii) Constitutional and Political Processes-Democracy and Constitutionalism.
(iii) Parliamentary and Presidential Types of Governments.
(iv) Organs of Government—Theory of Separation of Powers.
(v) Federalism—its Theory and Practice.
(vi) Judicial Review—its Nature and Role.
(vii) Political Parties—Pressure and Interest Groups.
(viii) Theories of Representation—Electoral Systems.
(ix) Bureaucracy and Administrative Organization.

Revised Edition 1971-72 *Pages* 476 *Price* Rs. 40.00
Student Edn. 21.00

21. संविधानों की दुनिया

(World Constitutions : U. S. A., U. K., U. S. S. R., Swiss & Japan)

By **Dr. Prabhu Dutta Sharma**

An intimate study of important world constitutions incorporating the latest amendments.

Contents

England : Growth and Nature of the British Constitution, Conventions of the Constitution. The King and the Crown. The Privy Council and the Cabinet, The Prime Minister, the Civil Service, The Parliament. Political Parties, Law and Justice. Local Self-Government.

America: Growth and Nature of the Constitution of U. S. A., American Federal System. The Legislature ; the President, the American Judiciary; Political Parties, the State Government, Local Self,Government.

Russia : Growth and Salient Features of the Russian Constitution, Soviet Federalism, Fundamental Rights and Duties of Citizens, the Supreme Soviet of the U. S. S. R. the Presidium, The Council of Ministers, The Soviet Judiciary. Administration of Federating Units. The Soviet System. The Communist Party, The Democracy.

Switzerland ; Growth and Nature of the Swiss Constitution. The Swiss Federal System. The Legislative, the Executive, the Judiciary, Political Parties, Direct Democracy.

Japan ; Salient Features. Rights and Duties of the Citizens. The Emperor, The Cabinet. The Diet, The Local Government, Political Parties.

Revised Edition 1971-72 *Pages* 600 *Price* Rs. 14.00

22. संविधानों की दुनिया

(Constitutions of U. K, U. S. A., U. S. S. R. and Switzerland)

By **Dr. P. D. Sharma**

Revised Edition 1971-72 *Pages* 536 *Price* Rs. 12.00

23. इंग्लैण्ड का संविधान 12.00

डॉ० प्रभुदत्त शर्मा

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

24. अमेरिका का संविधान 9.00
डॉ० प्रभुदत्त शर्मा

25. जापान का संविधान 5.50
डॉ० प्रभुदत्त शर्मा

26. रूस का संविधान 7.00
डॉ० प्रभुदत्त शर्मा

27. स्विट्जरलैंड का संविधान 7.50
डॉ० प्रभुदत्त शर्मा

28. वित्तीय प्रशासन
(Financial Administration)
By **Dr. Prabhu Dutta Sharma**

Price Rs. 10.00

29. सेवीवर्ग प्रशासन
(Public Personnel Administration)
By **Dr. Prabhu Dutta Sharma**

Price Rs. 15 00

30. आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त
(Modern Political Theory)
By **Harish Chandra Sharma**

A rapid yet comprehensive and careful study in Modern political Theory. Powerful and pointed presentation.

Contents

1. Nature of Political Theory ; Role of Political Theory in Political Science ; Political Theory and Political Thought ; Nature and Scope of Political Science according to Traditional and Contemporary Schools with special reference to Lasswell and Easton.

2. Approaches to Political Theory ; Historical ; Sociological, Philosophical, Scientific, Behavioural etc ; Relevance of these approaches to contemporary political analysis.

3. Theories of State and Society ; Idealism ; Marxism ; Individualism ; Fascism. Nationalism and Internationalism ; Gandhism.

4. Basic Concepts ; Sovereignty ; Liberty and Equality, Obligation and Problem of Resistence, Power, Influence and Legitimacy ; Political Culture, Political Development, Political Socialization and Political Elite.

5. Democracy and other Institutions : Democracy, Dictatorship, Constitutionalism ; Party system ; Public opinion ; Communalism.

6. Issues and Problems in Contemporary Political Science; Politics and Value Problems ; Politics and Ideology ; Science of Politics and Nature of Modern Political Theory.

Revised Edition 1971-72 *Pages* 628 *Price* Rs. 45.00
Student Edition Rs. 21.00

31. प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थायें
(Ancient Indian Political Thought and Institutions)
By **Harish Chandra Sharma**

Deals exhaustively with the subject in a style appealing to the specialists and students alike. A scholarly presentation indeed.

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

Contents

Nomenclature; sources and importance of its study ; Evolution o Political Thought in India and its chief characteristics ;Limitations of the study.

Technical works on Hindu Polity.

Concept of Dharma and its relationship with Dandaniti.

Concept of Sovereignty.

State—Origin, evolution, aims, functions and its rationale ; Theories of State-structure.

Welfare State; Individual and the State; Civil Rights of the Community.

State and Citizenship.

• Institutions of Property and Punishment.

Theories of Government, its nature and activities.

Legislature—Sabha, Samiti, Paura and Janapada, Judiciary and Laws.

Public Administration and Local-self Government.
Republics.

Kingship; origin. function; and relationship with the Priest.

Coronation and its significance, Various Sacrifices.

Council of Ministers-Composition, Powers and Relations with the Sovereign.

Theories of Taxation.

Inter-state relations and Diplomacy,

Ancient India's Contribution to Political Thought.

Revised Edition 1972 *Pages* 608 *Price* Rs. 40.00
Student Edition Rs. 15.00

32. भारत में स्थानीय प्रशासन

(Local Government in India)

By **Harish Chandra Sharma**

A volume on local government in India that will prove. highly useful to students, teachers, politicians and local governments officials. Discusses with the rural and urban areas of local Government in India.

Contents

Importance of Local Government in Modern State; History of Local Govt. in India; Administrative Frame work; Community Development & Panchayati Raj

Functional Span; Local Authority; Personnel Management; Relationship with the State; Supervision and Control; Finance; Problems of Local Government, Future of Local Governments etc.

Revised Edition 1972 Rs. 45.00

33. इंग्लैंड में स्थानीय प्रशासन

(Local Government in England)

By **Harish Chandra Sharma**

Edition 1970 *Pages* 354 *Price* Rs. 20.00

34. अमेरिका में स्थानीय प्रशासन

(Local Government in America)

By **Harish Chandra Sharma**

Edition 1970 *Pages* 450 *Price* Rs. 20.00

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

35. फ्रांस में स्थानीय प्रशासन
(Local Government in France)

By **Harish Chandra Sharma**

Pages 268 *Price* Rs. 20.00

36. केन्द्रीय प्रशासन
(Central dministration)

By **Harish Chandra Sharma**

A very useful text and reference book dealing with the theoretical and practical aspects of the subject.

Contents

(i) Nature and scope of Public Administration; Forms of Govt. Parliamentary and Presidential; Federal and Unitary; The Concept of Democratic Welfare State; Development of Public Administration in India.

(ii) Organisation : Its Nature and Scope: Bases of Organisation; Role of Organisation.

(iii) Chief Executive: General Manager and Leader.

(iv) Organisation of the Administrative Branch as a whole.

(v) Internal Organisation of the Administrative Departments of Government of India: Home and Finance.

(vi) Tools of General Administration.

(vii) Administrative Structure of U.N.O. Security Council, General Assembly.

Secretariat-Organisation.

Secretary General: Functions and Powers.

Organisation and working of Specialised Agencies.

Edition 1969—70 *Pages* 236 *Price* Rs. 7.00

37. भारत का राजनीतिक एवं संवैधानिक विकास
(Political and Constitutional Development of India)

By **Harish Chandra Sharma**

A concise yet comprehensive book which gives a clear and connected account of different phases of the political and constitutional history of India. Incorporates the latest Developments.

Contents

(i) Nationalist Movement in India, 1885-1941

(ii) Constitutional Development in India since 1919.

(iii) Present Constitution of India and its working.

Revised Edition 1972 *Pages* 240 *Price* Rs. 12.00

38. भारत में लोक प्रशासन
(Public Administration in India)

By **Harish Chandra Sharma**

The book is a manual for students of Public Administration in India. Provides an up-to-date knowledge of the subject.

Thoroughly Revised Edition 1971-72 *Pages* 324 *Price* Rs. 45.00

Student Edition Rs. 15.00

For all kinds of Books, Please Write to

COLLEGE BOOK DEPOT

Authorised Agents : **University of Rajasthan,**
TRIPOLIA BAZAR,
JAIPUR-2 (Raj.)

Phone : 7 5 8 2 7

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

संस्थान के बारे में

सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान का उद्घाटन 10 दिसम्बर, 1965 भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति और संस्थान के प्रधान संरक्षक डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् किया था। जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संस्थान की स्थापना की गई, उनमें मुख्य हैं :

भारतीय संविधान के सभी पक्षों के विकास तथा क्रियान्वय को विशेष रूप से ध्यान रखते हुए सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन को प्रोत्साहन देना तथा उसकी व्यवस्था ना; विभिन्न देशों की सांविधानिक पद्धतियों और संसदीय संस्थाओं का तथा उनकी स्याओं और प्रक्रमों का तुलनात्मक अध्ययन करना; विचार-गोष्ठियों, व्याख्यानों, संवादों, परिचर्चाओं तथा सम्मेलनों का आयोजन करना; और सांविधानिक विधि की विधियों, परिपाटियों और प्रथाओं, संसदीय प्रक्रिया, न्यायिक व्याख्या की प्रवृत्तियों तथा सम्बद्ध विषयों के बारे में प्रबन्धों, अनुसंधान-लेखों तथा पुस्तक-पुस्तिकाओं का ाशन करना।

देश की विशिष्ट विभूतियों के अलावा, अमरीका, सोवियत संघ, ब्रिटेन, कोरिया, ल, मलेशिया, श्रीलंका, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, कनाडा और स्वीडन सहित विश्व के विभिन्न ों से विद्वानों, विधिवेत्ताओं और सांसदिकों ने संस्थान के तत्त्वावधान में आयोजित भन्न अवसरों पर व्याख्यान दिये और परिचर्चाओं में भाग लिया। संस्थान ने अनेक ल विचार-गोष्ठियों और परिसंवादों का आयोजन किया है, वह संसदीय अधिछात्रवृत्ति क्रम आरम्भ कर चुका है और संसद-सदस्यों तथा राज्य-विधायकों के लाभार्थ अध्ययन ार-गोष्ठियों का देश के विभिन्न भागों में आयोजन कर रहा है। वर्तमान समस्याओं उसकी अनेक पुस्तक-पुस्तिकाएं प्रकाशित हो चुकी हैं।

संस्थान के सभी सदस्यों को संस्थान की त्रैमासिक पत्रिका तथा कुछ अन्य प्रकाशन मित रूप से भेजे जाते हैं। सभी सदस्य संस्थान के विशिष्ट पुस्तकालय का उपयोग कर ते हैं तथा संस्थान के अन्य कार्यकलापों, जैसे विचार-गोष्ठियों, व्याख्यानों, परिचर्चाओं सम्मेलनों में आमन्त्रित रहते हैं तथा उनमें भाग ले सकते हैं।

सामान्य सदस्यता के लिए शुल्क 25 रु० वार्षिक है और आजीवन सदस्यता के लिए) रु०। विश्वविद्यालयों, विधायी संस्थाओं और अन्य निगमित निकायों को निगमित यता प्रदान की जा सकती है।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन-संस्थान

प्रधान संरक्षक
श्री वराहगिरि वेंकटगिरि
भारत के राष्ट्रपति

संरक्षक
श्री गोपाल स्वरूप पाठक
भारत के उपराष्ट्रपति

प्रधान
डॉ० गुरदयाल सिंह ढिल्लों
अध्यक्ष, लोकसभा

उप-प्रधान

श्री जगजीवन राम
रक्षा मंत्री, भारत सरकार
श्री एच० आर० गोखले
न्याय मंत्री, भारत सरकार
श्री पी० बी० गजेन्द्रगडकर
अध्यक्ष, विधि आयोग
न्यायाधिपति श्री के० सदानन्द हैगडे
न्यायाधीश, उच्चतम न्यायालय, भारत
श्री एम० सी० सीतलवाद
संसद सदस्य
आचार्य जे० बी० कृपलानी
भूतपूर्व संसद सदस्य

कार्याध्यक्ष
डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

कोषाध्यक्ष
श्री जयसुखलाल हाथी

कार्य समिति के सदस्य

श्री एल० के० आडवाणी
संसद सदस्य
श्री चन्द्र भानु अग्रवाल
वरिष्ठ अधिवक्ता, उच्चतम न्यायालय, भारत
श्री भवेन्द्र नाथ बैनर्जी
सचिव, राज्य सभा
श्री आर० एस० गाय
सचिव, विधि मंत्रालय
श्री एस० डी० कोठावले
अध्यक्ष, मैसूर विधान सभा
श्री देसराज महाजन
अध्यक्ष, हिमाचल प्रदेश विधान सभा
श्री आर० सी० एस० सरकार
अध्यक्ष, संघ लोक सेवा आयोग
श्री प्रकाश वीर शास्त्री
भूतपूर्व संसद सदस्य
न्यायाधिपति श्री जी० एस० एल० श्रीवास्तव
न्यायाधीश, उच्च न्यायालय, इलाहाबाद
श्री राम निवास मिर्धा
गृह राज्य मंत्री, भारत सरकार
डा० नगेन्द्र सिंह,
राष्ट्रपति के सचिव
श्री वी० जी० रामाचन्द्रन्
भूतपूर्व सदस्य,
राज भाषा आयोग (विधायी)
श्री एम० एन० कौल
संसद सदस्य
ब्रिगेडियर रणसिंह
अध्यक्ष, हरयाणा विधान सभा
श्री नित्तूर श्रीनिवास राव
मुख्य न्यायाधिपति,
मैसूर (सेवानिवृत्त)
श्री एस० एल० शकधर
सचिव, लोकसभा
श्री बी० के० पी० सिन्हा
भूतपूर्व संसद सदस्य

निदेशक
डॉ० सुभाष काश्यप

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

Compiled
1999-2000

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA